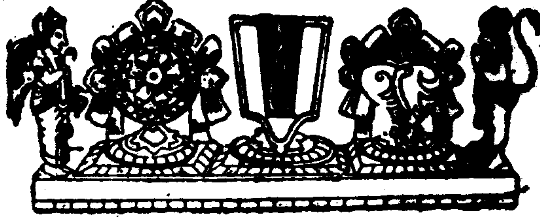
श्रीत्रिदण्डिदेवग्रन्थमालाया एकत्रिंशतमम् प्रसूनम्

।। श्रीः ।।



बृहदारण्यकोपनिषद्

श्री १००८ श्रीमद्वेदमार्गप्रतिष्ठापनाचार्य वेदान्तप्रवर्तकाचार्य
श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य सत्सम्प्रदायाचार्य
जगद्गुरुभगवदनन्तपादीय-
श्रीमद्विष्वक्सेनाचार्यस्वामिप्रणीतया
"गूढार्थदीपिका"
समाख्यया भाषाव्याख्ययासमन्विता।



श्रीपादसेवक श्रीसुदर्शनाचार्यब्रह्मचारिणः
रोहतासमण्डलान्तर्गत डेहरी श्रीविजयराघवमन्दिराध्यक्षस्य सत्प्रेरणया
वाराणसीमण्डलान्तर्गत गोपालापुरबर्थराकला
श्रीमहालक्ष्मीनारायण यज्ञ-समित्या प्रकाशिता।

सम्पादक :-
डा० सुदामा सिंह, एम. ए., पी. एच. डी.,
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, श्रम एवं समाज कल्याण विभाग,
म० वि० वि०—बोधगया

द्वितीयावृत्ति] कार्तिक-पूर्णिमा सं०-२०५४ [मूल्य—७५/- रु०

। श्रियै नमः ।

श्रीमतेरामानुजाय नमः । श्रीवादिभीकरमहागुरवे नमः

नम्र-निवेदन

रामानुजमुनेरूर्ध्वं भद्रंभ्राम्यतेध्वजम्।
मंगलं योगिवर्य्याय श्रीयुतानन्तसूरये॥
मंगलं रामकृष्णार्यकृपाप्तगुणराशये।
श्रीशाङ्घ्र्यब्जमधुव्राय विष्वक्सेनार्ययोगिने॥

जिनके कृपा-कटाक्ष-संचालन से अपौरुषेयी औपनिषत्की वेद-वाणी का निगूढ रहस्यार्थ यतिसार्वभौम के अधर-पुट पर स्वतः फड़फड़ाने लगता है, "ईशादिदशसंख्येयोपनिषद्- भाष्य-कारकः'-ऐसे भाष्यकर्त्ता परिव्राजकमूर्धन्यमहायोगी चलते-फिरते, बिना किसी महान् ग्रन्थालय में बैठे, बल्कि गंगा-सरयू-शोण की साधनहीन वालुकामयी निर्जनस्थली में ही अवस्थित हो करीब तीन हजार पृष्ठों में दस प्रमुख उपनिषदों की अनूठी अमृतमयी 'गूढार्थदीपिका भाषा-व्याख्या' का सृजन कर देते हैं, (जिसमें बृहदारण्यकोपनिषद् की गूढार्थदीपिकाभाषा-व्याख्या आकार में वृहत्तमा है)— वैसे दिव्यदेव कारुण्यरत्नाकर अमितफलप्रदाता भक्तार्तिहरण श्रीवैष्णव-कुलावतंस परमदेशिकेन्द्र अनन्तश्रीसमलङ्कृत श्रीकाञ्चीप्रतिवादिभयंकरपीठभूषामणि भगवदनन्तदेव की शीतलनख-चन्द्र-किरण का बारंबार ध्यान करते हुए इस महार्घ ग्रन्थ-(बृहदारण्यकोपनिषद् की गूढार्थदीपिका भाषा के द्वितीय संस्करण को) आर्य-संतति के सम्मुख उपस्थित करते हुए अमित हर्ष हो रहा है। पूज्यपाद अस्मदाचार्य श्रीस्वामीजी महाराज निगम-द्रष्टा हैं, वेदान्त-प्रवर्तकाचार्य हैं। अतः मानो भगवान् एवं पूर्वाचार्यों की यह उत्कट इच्छा रही है कि श्रीमान् के द्वारा ही उपनिषदों की भाष्यकार-शैली (सूत्राक्षराणि आदाय .....) में व्याख्या हो, यद्यपि कृपालु आचार्य ने इसका प्रकटकारण 'शिष्य-याञ्चा' को बताया है। उद्भट विद्वानों ने अभिनन्दन करते हुए भूरिशः श्रीमान् की निगमान्तर्वर्तिनी दृष्टि का उल्लेख किया है, जिनमें एक श्लोक उद्धृत है-

श्रीवेदान्तप्रवर्त्तको हि भगवान् सन्मार्गसञ्चालकः।
आचार्यो विविधागमादिनिगमद्रष्टा मुनिः शास्त्रवित्॥
श्रीरामानुजपादपद्ममधुपः श्रीवैष्णवोऽयं यतिः।
ब्रह्मर्षिर्हरिभक्तराजप्रवरो ज्ञानी त्रिदण्डीश्वरः॥

प्रतीत होता है, ऐसे हरिभक्तराज प्रवर से वेदान्त भी अपना अन्त वैसे ही खोल देता है जैसे कि पल्लव-पर्यङ्कशायी-पुष्पराज मलयानिल का संस्पर्श पा अपने मुकुलित दलों को खोलकर सुरभि बिखेर देता है। बृहदारण्यक के रम्य अरण्य में हर छन्द का मुकुलसमाधि-समधिष्ठित दिव्य-द्रष्टा के सम्मुख सारी पंखुड़ियों को फड़फड़ाते हुए खोल देता है और बड़े ही सरल सहज ढंग से सकलशास्त्र-पारंगत यतिशेखर आचार्यवर सम्पूर्ण अमूल्य गूढतम भावों को दीपिका में भर देते हैं। समाधिदृष्टि से साक्षात्कृत होने वाली ऐसी व्याख्या अन्यत्र कैसे उपलब्ध हो सकती है? 'वार्षभ-श्रुतिमार्त्तण्ड' ने 'बृहदारण्यक' के प्रसंग में अंधकार को कहीं टिकने नहीं दिया है।

ग्रन्थ के आदि में पश्चिमवाहिनी गंगा माता की लहरों से पावित गोपालापुर-बर्थरा कला (जि०-वाराणसी) के भूखण्ड पर आचार्यदेव के चातुर्मास्यव्रत की परिणतिवेला में श्रीमहालक्ष्मीनारायण-यज्ञावसर पर शतदल-दल तुल्य मृदुल-श्रीचरण-तल में समर्पित विविध भाषाओं में विरचित अभिनन्दन-पत्रों का प्रकाशन हुआ है। वस्तुतः श्रीमदाचार्यचरणों को बारंबार याद दिलानेवाले ये पत्र आरम्भ में ही श्रद्धालु पाठक की आँखों में— 'गुरु-पद-रज-मृदु-मञ्जुल-अञ्जन' यह दिव्यांजन लगाकर गूढार्थदीपिका में रखे गये भगवत्तत्त्वरूपी रत्नों की खान को देखने की शक्ति भर देते हैं।

इस कृति के सम्पादन के लिए मौद्रिक भार वहन कर एक महनीय ज्ञान-यज्ञ पूर्ण कराने का फलभागी है-श्रीमहालक्ष्मीनारायण-यज्ञ-समिति गोपालापुर-बर्थराकला (वाराणसी)। अतः गोपालापुर बर्थराकला एवं परिपार्श्ववर्त्ती भक्तगण के प्रति कोटिशः आभार व्यक्त करता हूँ। प्रकाशन के निमित्त सत्प्रेरणा के सहज स्रोत श्रीपाद-सेवक श्रीसुदर्शनाचार्य ब्रह्मचारी स्वामी जी अध्यक्ष, श्री विजयराघव मन्दिर-डेहरी (रोहतास) के श्रीचरणों में सतत् अवनत हूँ। त्रुटियों के लिए विद्वज्जनों के चरणों में सदैव क्षमा-प्रार्थी हूँ। मुद्रण-कार्य के लिए 'वातायन पब्लिकेशन' फ्रेजर रोड, पटना को साधुवाद!

अन्ततः वेद-स्वरूप प्रभु से यही याचना है कि कोटि जन्मों के पुण्य फलोदय के परिणामतः संप्राप्त श्रीमदाचार्य-चरणरेणु-सुधा से युग-युगान्तर तक हमारी आत्मा की प्यास मिटती रहे। श्रीचरणों के संस्पर्श से यह वसुन्धरा सचमुच वसुन्धरा बनी रहे।

श्रीचरणाश्रितः— सुदामा सिंह

॥ पूर्व-संस्करण की भूमिका ॥

हमारा यह पावन देश सन्तों, ऋषियों, दार्शनिकों, कवियों एवं कलाकारों की भूमि रहा है। यह तो इस उर्वरा भूमि की शक्ति है कि घोर कराल कलिकाल में भी यहाँ देश के प्रत्येक अञ्चल में उपर्युक्त सन्त और ऋषि प्रादुर्भूत होते ही रहते हैं। यह तो इन अतीन्द्रिय महात्मात्रों की प्रतिभा का ही प्रताप है कि भौतिक साधनों से वञ्चित रहने पर भी सारे संसार में भारत का नाम सम्मान के साथ लिया जाता है और विश्व की अजेय भौतिक शक्तियों के समक्ष भी भारत अपने पूर्वज ऋषि मुनियों का चरणानुसरण करते हुए गर्वोन्नत मस्तक हो वेदोक्त "पंचशील" का पाञ्चजन्य फूँक रहा है।

हमारे देश और प्रान्त के सौभाग्य से प्रातःस्मरणीय पूज्यपाद गुरुवर श्री १००८ श्री त्रिदण्डी स्वामीजी महाराज भी ऐसे ही तपस्वियों में अन्यतम हैं तथा मानवरूपधारी होते हुए भी अतिमानव और अतीन्द्रिय हैं।

तपस्तप्त आपके कान्तिमय बाह्यस्वरूप का ही दर्शन आपके आन्तरिक निर्मल दर्पणमय यथार्थ स्वरूप का प्रदर्शक है। योगियों के ब्रह्मानन्द की प्राप्ति लक्ष्य होते हुए भी लोक कल्याण की चिन्ता तनिक भी कम नहीं है। निष्काम योगी के रूप में अपने श्रौतव्रतरूपी तप का फल लोक में बाँट रहे हैं।

अमूल्य भावमय किन्तु सरल शब्दों में आपका प्रवचन जहाँ लोगों के विचार को सन्तुलित करता है वहीं यज्ञ-यजनादि सत्कर्मों में प्रवृत्त करा कर लोगों के धन जन का सदुपयोग कराने में प्रवृत्त हैं।

इस तरह श्रद्धा भक्ति की भावना जागृत कर ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यकोपनिषदादि जैसे शाश्वत शान्तिदायक ग्रन्थरत्नों की रश्मियों को "गूढार्थदीपिका नामक" सरल व्याख्या द्वारा विकीर्ण कर मानव को चिर कल्याण की ओर अग्रसर करते हैं।

अति स्वल्प शब्दों में आपका यह संक्षिप्त शब्द चित्र प्रस्तुत कर हमें तो महाकवि श्री "हर्ष" के शब्दों में यही प्रतिभान हो रहा है कि **"वचसामपि गोचरो न यः स तमानन्दमविन्दत द्विजः"।**

आचार्यचरण-सेवक—

रामदेव रामानुज श्रीवैष्णवदास
राजकीय संस्कृत उच्चविद्यालय, छपरा

"सम्मतिः पूर्व संस्करण से"

"उपनिषद्" जैसे गहन विषय पर कुछ भी कहना "**तितीर्षुर्दुस्तरां मोहादुडुपेनास्मि सागरम्**" वाली बात होगी। फिर भी "उपनिषद्"की सुन्दर सरस एवं रोचक कथाओं के आकर्षण से कौन आकृष्ट नहीं होगा? यही कारण है, मुझ जैसा अल्पज्ञ और सांसारिक व्यस्त कार्यों में लीन भी "**बृहदारण्यकोपनिषद्**" जैसे विशाल ग्रन्थ सागर की हिलोरें लेने का दुस्साहस कर सकता है।

विद्या, विनय और तप के साकार स्वरूप दर्शनवनकेसरी पूज्यपाद स्वामी श्री त्रिदण्डीजीमहाराज की गूढार्थदीपिका टीका ने मुझे इस ग्रन्थरत्न से परिचित होने का सौभाग्य प्रदान किया।

मेरे लिये यह परम सुयोग था कि यदा कदा मुद्रित होती हुई यह टीका मेरी नजरों से गुजरी तथा उसके प्रूफों को भी देखने का सुअवसर हुआ जब कि मेरे आदरणीय विद्वान् सहयोगी पं०श्री रामदेवशुक्ल जी मुद्रापण सम्बन्धी कामों को कर रहे थे। "ईशादिपञ्चोपनिषद्" से ही यह "गूढार्थदीपिका" मेरी रुचि को बर्धिष्णु बनाती आ रही है।

मेरे तुच्छ विचार से तो यह निश्चित मत है कि "बृहदारण्यक" के गहनतम "कुञ्जों" में प्रविष्ट होने के लिये यह "गूढार्थदीपिका" वस्तुतः प्रकाशपुञ्ज "दीपिका" ही है।

यह तो हमलोगों का अहोभाग्य है कि पूज्य स्वामीजी ने मानव कल्याणार्थ इस गूढ़ रहस्यमय सागर में अवतीर्ण होने के लिये यह सरल सोपान प्रस्तुत कर दिया है।

भावों की प्रवणता और भाषा की प्राञ्जलता के कारण यह टीका पूर्ववर्तिनी सारी टीकाओं को पीछे छोड़ जाती है।

सांसारिकता के चलते हुए चक्रों से जब भी सावकाश हो, इस चिर-शान्तिदायिनी उपनिषद् की गोद में विश्राम लें, यही मेरा साञ्जलि अनुरोध है।

"**स तु तत्र विशेषदुर्लभः सकृदुपन्यस्यति कृत्यवर्त्म यः**" महाकवि भारवि की यह अमूल्य पंक्ति पूज्यचरण स्वामीजी ने यहाँ चरितार्थ कर दिया है।

आद्याचरण झा
प्रधानाध्यापक
राजकीय भा०मा०संस्कृत उच्चविद्यालय तथा
अवै०प्रिंसिपल भा०मा० संस्कृत कालेज, छपरा

विषय-सूची

॥ श्रीमतेरामानुजाय नमः ॥

श्रियै नमः। श्रीधराय नमः।

ग्रथ ग्रभिनन्दनपत्राणि



श्रीमद्वेदमार्गप्रतिष्ठापनाचार्योभयवेदान्त - राद्धान्त - निर्धारण - सार्वभौम - श्रीमच्छठरिपु - परकाल - नाथ - यामुन - यतिवर - वरवर - मुनीन्द्रादिप्रणीतसुदिव्य-निबन्धन-निबद्ध - मानस - जनन - मरण - संसरण - महापथबभ्रम्यमाण-जनिमत्कदम्ब - विमुक्ति - धन्यपथोपदेशिक - शम - दम - दया - दाक्षिण्यसौशील्यवात्सल्यादिगुणगणविभू-षितानन्तश्रीसमलंकृतश्रीमज्जगद्गुरु - भगवदनन्तपादीयाना-मीशादि - दशोपनिषद्व्याख्यातृवर्य्याणांयोगचरमसोपानरूप-समाधिसमधिष्ठित - ब्रह्मसाक्षात्कृतवर्य्याणामष्टोतरसहस्त्रश्री-समलंकृतानांश्रीमद्विष्वक्सेनाचार्य - श्रीत्रिदण्डीस्वामिनां करकमलयोः वाराणसीमण्डलान्तगर्त गोपालापुर - बर्थराकलाग्रामे श्रीमहालक्ष्मीनारायण - यज्ञावसरे सादरसमर्पितानि अभिनन्दनपत्राणिः-

॥१॥

हे सिद्धाश्रमभूमिपावनमुने, सत्कीर्त्तिभास्वत्तनो।
हे ग्राहेन्द्रतरि प्रभावलसित प्रज्ञावतां रक्षक॥
वेदार्थोन्नतमार्गदाननिरत प्रेयस्तते वर्षक।
हे कल्याणनिधे विधेहि मयि च श्रेयो विधात्रीं दृशम् ॥१॥

हे सेनेश दयानिधे कुरुदयां, त्वन्मेऽवलम्बो महान्।
त्वय्येवार्तिकबुद्धिरश्मि न लभे, मार्गं गुरो कश्चन॥
संसारोऽयमहर्निशं व्यथयति श्रान्तोऽहमत्याहतः।
त्वत्पादस्यतरीं प्रगृह्य तरणं मे लक्ष्यभूतः क्रमः ॥२॥

आचार्य प्रभवामि देव भवतां, यज्ञेष्वशेषेष्वहम्।
विज्ञो नास्मि विधौ न चापि वचसि, क्वाप्यस्ति तेजस्विता।
किंत्वेका भवतां कृपा मम तरी, या माम् सदा रक्षति।
सा रक्षा प्रविधीयताम् न विरतिस्तत्रास्तु कुत्राप्यहो ॥३॥

नोभक्तिर्नच सेवने मम रति विद्या च नो तादृशी।
काँक्षा काञ्चनपुष्पमाप्तुमनिशं मे बाधतेजीवनम्।।
सौख्यं त्वत्कृपया किमप्यधिगतं शान्तिं लभेनो गुरो।
दृष्टिस्ते परिरक्षतान्मम गुरो सावृत्तिधाराधरा ।।४।।

नेत्रबाणनभोयुग्मे, चातुर्मास्याध्वरे वरे।
उपेन्द्राभिधदासोऽयं प्रणतौ निरतोहृदा।।५।।

श्रीमतां चरणाब्जरेणुरुषित:-
पं०उपेन्द्राचार्यः (उमेशप्रसाद उपाध्यायः)
कर्मकाण्डरत्नः, साहित्याचार्यः
संस्कृताध्यापकः उच्च विद्यालय-
बरिसवन (भोजपुर)

।।२।।

स्नेहाद् वात्सल्यभूमिः शिशुहितमननाज्जातुचित्कोपभूमिः।
सौलभ्यात्प्राप्यभूमिः श्रुतिचरणपरादाप्तभूमिर्मुनीशः।।
दानादौदार्यभूमिः ममसदृशजनैरन्विताच्छीलभूमिः।
विष्वक्सेनो यतीन्द्रो जयति जगति सद्भक्तकारुण्यभूमिः।।१।।

विद्वांसोऽत्रागता ये प्रणतिसुभरिताः ज्ञानविज्ञाननिष्ठाः।
ब्रह्मिष्ठास्तत्त्वनिष्ठाः प्रणयरसनया सर्वदा ये लघिष्ठाः।
तेभ्योज्ञेभ्यः सदयो वितरति नयनादच्छकीलालधाराम्।
विष्वक्सेनो यतीन्द्रो जयति जनगणैरर्थितो योगसिद्धः।।२।।

गोपालापुरवर्थरैतियुगले ग्रामे तपस्यास्थली
चातुर्मास्यनिबन्धनेन रचिता श्रीविष्वगार्येण या।
सा नित्यं सुखदाभवेज्जनिमतां भक्त्यैकधाम्नां सताम्
दासस्यापि मतिर्गतिर्भगवति स्वाचार्यदृष्ट्या भवेत्।।३।।

शरण्याय वरेण्याय ब्रह्मण्याय महात्मने।
योगनिष्ठाय दान्ताय विष्वगार्याय मङ्गलम्।।४।।

पूज्यश्रीविष्वगार्यस्य पदपङ्कजरेणव:
जयन्ति जगतामेन: कदलीनाङ्कुरेणव:।।५।।

श्रैमत्कपादपद्मपरागलिप्सु:-
ज०रा०स्वामिवासुदेवाचार्यो, विद्याभास्कर:
अध्यक्ष: अखिलभारतीयसन्तसमिते:
उपाध्याक्ष: श्रीरामजन्मभूमिमुक्तियज्ञसमिते:
प्रधानमन्त्री अ०भ०श्रीवैष्णवसम्मेलनस्य
अध्यक्ष:वास्तव्यश्च आयोध्यिककोसलेश-सदनस्य

।।३।।

वेदस्थापितमार्गरोधनवनोच्छेदैक हेवाग्नि,
उद्दामोत्कलिकालताण्डवकलाध्वंसायधूमध्वजान् !
पञ्चाशत् सहितं शतं सुमहितान् ग्रन्थान् प्रणीयोन्नतान्
विष्वक्सेनमुनि र्मनीषिनिवहे ख्यातिं परां गाहते ।।१।।

चातुर्मास्यतपश्च सप्तातितमं वाराणसीमण्डले,
गोपालापुरबर्थराभिधपुरो: सौख्येन सम्पादयन् ।
गोपालेषु समेधयन् भगवति प्रीतिंरतिञ्च श्रुतौ,
विष्वक्सेनयतिर्यमीन्द्रमहितो भद्राणि मे वर्षतात् ।।२।।

भ्रामं भ्राममनेकधा भरतभूतीर्थानि शिष्यव्रजै:,
साकं सम्परिशील्य वैष्णवमते श्रद्धा परा वर्द्धिता ।
त्रीण्यत्युन्नतदिव्यदेशभवनान्यौदार्यमर्यादया,
येनाकारिषतप्रभुर्दिशतु सो भद्राणि मे सर्वत: ।।३।।

शास्त्रार्थेषु पराजिता मतिमतां गण्या: श्रुतिद्वेषिण:,
व्याख्यानैर्हरिमार्गदर्शनपरै र्यज्ञैस्तमोध्वंसिभि: ।
वात्सल्यै: करुणापरै र्महिमद्दृगवीक्षणै र्योऽनिशं,
भक्तान् पातितमां मुनिर्दिशतु मे भद्राणि मे भूरिश: ।।४।।

स्वामिँस्ते महिमातिविस्मयमयो ग्रन्थेषु गीतोभृशं,
मान्यै: सत्कविभिर्विवेकनिपुणै: प्राज्ञैश्च सम्भाषितम् !

त्वं शेषोऽसि कलौ त्वदीयकीर्तिभि र्हे देवमूर्ते यते
विष्वक्सेनमुनीन्द्र ! पाहि परतस्त्वं मे गतिः केवलः ।।५।।

श्रीमतां विधेयतमः
डॉ कैलासपति त्रिपाठी
साहित्यव्याकरण-वेदान्ताचार्यः,
एम॰ ए॰ पी॰ एच॰ डी॰,
आचार्य एवं अध्यक्ष– साहित्य विभाग
संकायाध्यक्ष, साहित्य एवं संस्कृति संकाय,
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय– वाराणसी ।

।।४।।

श्री मद्भारतवर्षराष्ट्रसुभगे वाराणासीमण्डले,
यद् वामाङ्गविलासिनी त्रिपथगा भागीरथी शोभिता ।
गोपालापुरदिव्यभुमिसुतले गंगाजलैस्सिंचिते,
रम्ये पर्णकुटीरमध्यफलके राराजते सद्गुरुः ।।१।।

दिव्यादिव्यतमोतमांगरचनाभक्तादिसम्प्लावकः,
कर्णानन्दिसुतर्कशास्त्रवचनः फुल्लेन्दुशीतांगकः ।
आनन्दामृतसम्प्लवावृतजगत् शेषावतारः परः,
तं सेनेशमुनिं नमामि सततं योगक्रियाभास्करम् ।।२।।

नतोस्म्यनन्तार्यकृपाप्तराशये,
त्रिदण्डिदेवाय सुमंगलात्मने ।
विश्वस्य दारिद्र्यविनाशहेतवे,
स सर्वनामा भगवान् प्रसीदताम् ।।३।।

श्रीपादाब्जभृंगः –
ज॰ गु॰ रा॰ स्वामिराजनारायणाचार्यः,
भक्तिवाटिका, कसयाँ रोड,
देवरिया, उत्तर प्रदेश ।

।।ॐ।।

जाबालिदिव्याश्रमपावनाय,
बाल्मीकिमाहात्म्यसभाजनाय ।
उद्दालकश्रीपरिवर्धनाय,
गंगा प्रतीचीं दिशमेति यत्र ।।१।।

तस्मिन्पवित्रे नितरां वरेण्ये
स्थाने चतुर्मासे तपोऽनुतिष्ठन् ।
सम्पूरयन् भक्तजनस्य वाञ्छां,
रक्षेद्यतीन्द्रो मम चातिवंशम् ।।२।।

श्री वर्थराग्रामविभूषणाय
तथा च गोपालपुराभिवृद्ध्यै ।
यज्ञं विशिष्टं रचयन्यतीशः
भव्याय भूयात् सततं समन्तात् ।।३।।

पौत्रोभवन्मे भवतां कृपातो,
जातोऽधुना रुग्णतरोऽतिचिन्त्यः ।
स्वास्थ्यं तदीयं गुरुदेवहस्ते,
त्राणं विधाय परिरक्षतु सत्कुलं मे ।।४।।

स्वामिंस्त्वदीये पदपङ्कजे मे,
निर्व्याजभक्तिः प्रसरेदनन्ता ।
वाधो रतौ मास्तु हरिस्तुतौ मे,
श्रेयांसि सिद्धयन्त्वपुनर्भवाय ।।५।।

पादपद्मभृङ्गः –
दीनबन्धुदीनानाथ पाण्डेयः,
व्याकरणसाहित्यवेदान्ताचार्यः, शास्त्रार्थकेसरी,
शास्त्रार्थमहारथी, व्याख्यानवाचस्पतिः,
शास्त्रचूडामणिः, उपाचार्यवरः
सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालय– वाराणसी ।

।।६।।

घोरे वै कलिकाल–अन्धतमसाकुलयुगे व्याकुले
ते नूनं किल भाग्यभाजनजनाः ये ते सदा सेवने ।
प्रायः पावनसत्क्षणं सुमनसा प्राप्तुं समर्थाः सदा ।
यत्किञ्चित्कालमपिप्रलभ्य हृदयं ते सेवया मोदते ।।१।।

प्राचीरं हरितं कुटीरकगतं मोदास्पदं राजते ।
देवाः पक्षिवपुः प्रगृह्यभवतां वाचां सुधां सेवितुम ।।
कुट्यास्ते तरुमण्डलस्यसघनछायासु संशेरते ।
भूतप्रेतपिशाचराक्षसगणाः गोधादिरूपं गताः ।।२।।

सेवन्ते वहवोऽपि दुखिनोमलिना माङ्गल्यमाप्तुं हृदा ।
गजेन्द्रमोक्षस्य विशेषभूमौ दृष्टिस्तु भूयात् सदा ।।३।।

दासानुदासः –
लक्ष्मणाचार्यः
अध्यक्ष, श्रीगजेन्द्रमोक्षदेवस्थान,
साधुगाछी, हरिहरक्षेत्र ।

।।७।।

सद्भिर्महद्भिः परिगीयमानः, सदा ह्यमानी हि महानुभावः ।
लोके प्रभावः किल नेत्रगोचरः चारी सदा तीरपवित्रदेशे ।।१।।

त्रिदण्डधारी पीतदुग्धमात्रं, मात्रा भवेत्सैव विकारजानाम् ।
लोकाप्रसक्तिः कृतभक्तिदार्ढ्यः मुनित्वमत्रैव चकास्ति सर्वथा ।।२।।

वेदाविरुद्धमपि श्रूयतेऽत्र, सदाकृतान्तो न कृतान्तभीतिः ।
प्रीतिः परेशे कृतभूरितापसे, प्रशासनं चारु चकास्ति सर्वदा ।।३।।

तपः प्रभावान्निखिलोऽपिलोकः प्रणामभावैर्मन्त्रग्रहीता ।
तेनैव मार्गस्य सनातनस्य भवेत्सुरक्षा सहजेन वै पथा ।।४।।

अनन्तसूरेः शरणमवाप्य, समाप्य शास्त्राणि विविच्यमूलतः ।
संन्यासधर्मस्य कठोरमार्गं, सर्वं भवान् पाति पवित्रभावात् ।।५।।

श्रीविष्वक्सेन् स्वामिन् भवतः कृपा केवलमीष्यते ।
भवतो दीर्घमायुष्यं नैरोग्यञ्च सदैव हि ॥

सेवायां समर्पकः —
चरणचञ्चरीको देवस्वरूपमिश्रः,
आचार्य एवं अध्यक्ष, वेदान्त-विभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी ।

॥८॥

दुराच्छ्रुतापिभवदीययशोविभूतिः सत्यं पुनाति जनतापगणं हठेन ।
साक्षात्कृतो हि महिमा भवतस्तपोधे, साक्षात्कृतां निनिशतस्य व्यनक्ति पुण्यम् ॥१॥

को नाम जन्तुरवनौ समवाप्य संगं ह्यकृष्टकरणोऽनुगतां न यायात् ।
चिन्तामणिर्न वृणुते फलमात्मनोऽपि, सद्यो हि स्वाश्रितजनं नितरां बिभर्ति ॥२॥

रक्षोनिराकरणमानसदेववृन्दैः दुर्गाप्यपूजि वपुषो महसाऽचिरेण।
दीनं जगत् समवलोक्य विधिः प्रपन्नः देवांशभव्यमहसाऽजनयत् भवन्तम् ॥३॥

यज्ञेन सत्त्ववचसा चरणेन स्वेन, लोकान् स्वकर्मनिरतान् विधिना विधाय ।
धर्मप्रचारणमुखेन निहत्य खेदं, शान्तिर्व्यधायिभवता जनमानसेषु ॥४॥

स्वर्गश्रियं दिविगतां भवदीयमूर्तिं, त्यक्त्वा सुरेन्द्रमनसोन्न सुखं विरेजे ।
मलिप्रवाहविभवैः परिकृष्टचेताः नैच्छत् भवान् धरणिमानविवर्द्धनाय ॥५॥

अलौकिकाय नमः स्वामिन् ! लोकसन्तापहारिणे ।
विद्यविज्ञविकासाय तपःपूतात्मने सदा ॥६॥

श्रीचरणेषु समर्पकः —
प्रो॰ डा॰ रामयत्नशुक्लः, वेदान्तव्याकरणाचार्यः,
पी॰ एच॰ डी॰, निवर्तमान अध्यक्ष, व्याकरण विभाग,
सम्पूर्णानन्द सं॰ वि॰ वि॰ – वाराणसी

॥९॥

रामानुजाचार्यनवावतारं श्रीसम्प्रदायोदितभानुतुल्यम् ।
धर्मप्रचारेनिरतं च विष्वक्सेनार्यसूरिशरणं प्रपद्ये ॥१॥

न जाने कियद्भाग्यशीलोऽहमस्मि दयाब्धे त्वयाङ्गीकृतोयेन दीनः ।
सदा भक्तिभावाद्धि संचिन्तयामि ऋतेनुग्रहाद्वैन किञ्चित्स्मरामि ।।२।।

महामहिम्नो महिमा महीयान् न पारये तं समुदीरितुं ते ।
तथाप्यहं व्योमगपक्षितुल्यो गिरा स्वयं किञ्चिदुदीरयामि ।।३।।

दृष्ट्वा हि लक्ष्मीपतिजीर्णकोष्ठं विधित्सुरन्यद्भवनं च भव्यम् ।
निर्माप्य येनाधिगतायशः श्रीः यतीश्वरो मे शरणं सदास्तु ।।४।।

तत्रातिदूरे महनीयकीर्तिः विभ्राजते यस्य च दिव्यदेशः ।
वैकुण्ठनाथाधिकृताधिवासो योगीश्वरो मे शरणं सदास्तु ।।५।।

लक्ष्मीपतेस्त्रिः सवनाय नूनंमन्ये प्रभोरुत्तरितुं च नित्यम् ।
सोपानश्रेणी सुकृता च येन योगीश्वरो मे शरणं सदाऽस्तु ।।६।।

कृतं न किं यद् करणीयमासीद् वदात्रि किं किं न च पारयामि ।
तपश्च यस्योग्रतरं प्रभावं यतीश्वरो मे शरणं सदास्तु ।।७।।

श्रीमच्चरणचञ्चरीकः –
मदनमोहन द्विवेदी, व्याकरणाचार्यः काव्यतीर्थः,
साहित्यरत्नश्च, प्राप्तावकाशः उपाचार्यः
बलियाजनपदीयदलनछपरास्थमहात्मागाँधीविद्यालयीयः ।

।।१०।।

कुशकाशपलालकुटरीशुभम्, परितः तुलसीकुसुमैर्लसितम् ।
फलकोपरिध्यानरतं वरदं, प्रणमामिसदा यतिराजवरम् ।।१।।

त्रिदण्डी स्वामी वै मुनिकुलवरिष्ठस्तु परमः ।
हरेर्गीताख्यानं सरलमधुरं योरचितवान् ।।
मखानां सन्मूर्त्तिः हरिरुचिरमोदाय कुरुते ।
मखं नित्यं सोऽसौ **ममहृदयमध्ये** विलसतात् ।।२।।

महर्षे वेदानां गुरुतरविधानेन चकितः ।
भ्रमेण भ्रान्तो हि जडमतिरसूयः गतधियः ।।
सुचित्ते ध्यानंवा न च मम वचोऽप्यस्त्यविकलम् ।
संयाचे सान्निध्यात् यतिवर तवार्चां सुविमलाम् ।।३।।

गोपालापुरे रम्ये बर्थरासहिते तथा ।
लक्ष्मीनारायणाख्येऽस्मिन् यज्ञेवैदिकमञ्जुले ।
नेत्रबाणनभोयुग्मे वैक्रमे शुभवत्सरे ।
विष्वक्सेनमुनिं वन्दे लोकमंगलविग्रहम् ।।४।।

इषे मासे सिते पक्षे चतुर्दश्यां रविवासरे ।
राममिश्राख्यदासोऽयं कुरुते सदभिनन्दनम् ।।५।।

दासानुदासः –
रामसुरेश पाठकः, व्या० सा० धर्मशास्त्राचार्यः लब्धस्वर्णपदकः
छपरास्थसोहं विद्यामन्दिरस्य प्रधानाचार्यः ।

।।११।।

योगेन देहस्य पदेन भूमेः, यज्ञेन पर्यावरणस्य भूयः ।
संरक्षकं श्रेष्ठतमं मुनीनां, त्रिदण्डिदेवं शिरसा नमामः ।।१।।

योगेन यज्ञार्थवपुर्धराय यज्ञेन विश्वस्य हितंकराय ।
वाचा भवानां भवपारकाय, त्रिदण्डिदेवाय नमो नमो नमः ।।२।।

श्रीवत्सवंशांशविकासकाय श्रीसम्प्रदायस्य विवर्धकाय ।
श्रिया सहश्रीपतिसाधकाय त्रिदण्डिदेवाय नमो नमो नमः ।।३।।

कलावनन्नव्रतपालकाय लोकार्थ–लोकार्पितलोकपाय ।
लोकेन लोकाघविलोपकाय त्रिदण्डिदेवाय नमो नमो नमः ।।४।।

काषायिने प्रोल्लसदूर्ध्वपुण्ड्रिणे त्रिदण्डिने शुभ्रसुयज्ञसूत्रिणे ।
तपस्विने पावनदारुपात्रिणे त्रिदण्डिदेवाय नमो नमो नमः ।।५।।

अभिनन्दयति नागेशः एषो दासः समर्पितः ।
दयादृष्ट्यावलोक्यैनं पाहिपातकिनं प्रभो ।।६।।

श्रीमतामेव चरणरजलोलुपः –
डॉ० द्विवेदी नागेश शास्त्री, व्याकरणाचार्य,
एम० ए०, पी० एच० डी०, जी० ए० एम० एस०, एच० पी० ए०
भू० पू० विहार देशी चिकित्सा निदेशक, पटना ।

।।१२।।

ध्यायेन्नित्यं यतीशं उदयगिरिनिभं कञ्जनेत्रंदयालुम् ।
दक्षे हस्ते त्रिदण्डं निखिलभयहरं मानवानां सदा वै ।।
शुभ्रं यज्ञोपवीतं उरसि तु सततं तेजपुञ्जं दधानम् ।
काष्ठासीनं समन्तान्नरवरयतिभिः सेवितं सर्वकालम् ।।१।।

माता ते कमला पयोनिधिसुता या विष्णुसेवारता ।
शय्या ते फलकासनं च विमलं मौञ्जीकुटीरे सदा ।।
बालबृद्धयुवाकिशोरयतयः त्वच्छिष्यलक्षाधिका
विष्वक्सेन च नाम ते यतिपते विख्यातं लोकेऽधुना ।।२।।

गयाफल्गुतटे सुदिव्यसघने विष्णोः पदे पावने ।
त्वया नाथ ! चतुर्भुजस्य गतिदो वैकुण्ठ यागः कृतः ।।
श्रीरामेण तु जटायुविहगस्य मुक्त्यर्थं क्रिया कृता,
लोकेत्थं नहि सन्ति केऽपियतयः स्वामी समक्षेऽधुना ।।३।।

श्रीगोपालापुरः कलाबर्थरा धन्याजनाः ग्रामिणः ।
बालवृद्धयुवाकिशोरसुजनाः सेवन्ति ते स्वामिनम् ।।
श्रीगंगातटपावनं तु जगति दृष्ट्वा च सेवारतान् ।
पद्मामाधवयज्ञलोकशुभदं श्रीस्वामिना पूरितम् ।।४।।

श्रीस्वामिचरणचञ्चरीकः –
अम्बिका त्रिपाठी, साहित्यायुर्वेदाचार्यः,
भू॰ पू॰ प्रधानाध्यापकः, गोड़ारी (रोहतास)

।।१३।।

गोपालापुरबर्थरातित्रिमले ग्रामे महाशान्तिदम्,
श्रीकाश्याः परमाद्भुते सुरुचिरे राज्योत्तरे सप्ततिः ।
चातुर्मासपुनीतयज्ञविशदं पूर्णकृतं स्वामिना,
कृत्वा यज्ञमसंख्यकं यतिवरः साक्षान्मुकुन्दोऽभूत् ।।१।।

वहतिपश्चिमगासुरनिम्नगा, अतिपुनीतविचित्रमनोरमा ।
यतिपतेर्गुणगायनतत्परा, भवति धन्यतमा हि सपर्यया ।।२।।

निकटदक्षिणदिग् विमलाद्‌भुतम् मणिमयं विशदं शिवमन्दिरम् ।
त्रिपथगोत्तरभागमहामुनेः अवनिजापरिपालकराश्रमः ॥३॥

परमरम्यमहामखमण्डपे, त्रिहिततोरणकुण्डकलात्मके ।
निकटवामतटे विमले महा, कमलया सह केशव आगतः ॥४॥

द्विशरखाक्षिसरे शुचिअश्विने, सितदले बुधतः रवित्रासरम् ।
शिवतिथेः किलमासदिनान्तकम्, मखमिदं परिपूर्णमभूच्छुभम् ॥५॥

विष्वक्सेनयतीन्द्रस्य त्रिदण्डीशमुनेः प्रभोः ।
सेवायां पद्यपुष्पाणिअर्पयति भुवनेश्वरः ॥६॥

श्रीस्वामीपदपङ्कजालिः –
भुवनेश्वर त्रिपाठी, व्याकरणसाहित्याचार्यो विशारदश्च,
संस्कृताध्यापकः, राज्यसम्पो॰ श्रीरामनारायणसंस्कृतोच्चविद्यालयः,
बरडीहाँ (रोहतास)

॥१४॥

पश्चिमवाहिनी गंगा प्रवहति सदा भुवि ।
श्रीगोपालापुरे रम्ये वाराणस्यां समीपगे ॥१॥

श्रीस्वामिवर्य वैसूरिः, वैष्णवानां शिरोमणिः ।
लक्ष्मीनारायणाख्यं च क्रतुं चक्रे यतीश्वरः ॥२॥

सप्तत्यां चातुर्मास्ये हि आश्विनस्य सिते दले ।
पूर्णिमायां रवौवारे पूर्णं जातं मखं शुभम् ॥३॥

नमः परमहंसाय त्रिदण्डवरधारिणे ।
काषायाम्बरवासाय प्रणमामि मुहुर्मुहुः ॥४॥

वत्सवंशेसमुत्पन्नः तिवारीडीहवासकः ।
समर्प्यते सुरेशेन पद्यपुष्पाञ्जलिः शुभा ॥५॥

भवतां चरणोपासकः –
सुरेशत्रिपाठी, व्याकरणसाहित्याचार्यः
ग्रा॰– तिवारीडीह (रोहतास)

॥१५॥

हे भक्तवत्सल ! भक्तभर भवभीतिहर ! भवपारकर ।
श्रीविप्रवंशवरेण्य वः अभिनन्दनमभिनन्दनम् ॥१॥

हे पितृवर ! हे मातृवर ! गुरुवर ! सुहृद्वर ! पूज्यवर !
यतिराज हे फणिराज ! वः अभिनन्दनमभिनन्दनम् ॥२॥

अहिमोक्षकर ! प्रेतत्वहर ! बहुभाष्यकर ! भवदुःखहर !
हे ब्रह्मनिष्ठ मुनीन्द्र वः अभिनन्दनमभिनन्दनम् ॥३॥

हे पतितपावन ! भक्तभावन ! यज्ञकारण ! यज्ञकर !
हे ग्राहपृष्ठारोह ! वः अभिनन्दनमभिनन्दनम् ॥४॥

श्रीपादसेवक :–
हरिप्रसाद शुक्लः, वेदाचार्यः
धर्मसमाजसंस्कृतमहाविद्यालय, मुजफ्फरपुर ।

॥१६॥

नमः तस्मै यतीशाय, शास्त्रज्ञानप्रदायिने ।
कीर्त्तनगान्नशीलाय, नमः परमयोगिने ॥१॥

लोकानां सौख्यलाभाय क्रियतेऽहर्निशं कृपा ।
दीयते चोपदेशश्च, तत्त्वज्ञानमपि जायते ॥२॥

साधुता ते विशाला च, शक्या न तु वर्णने ।
मोक्षदा ते सुनिष्ठा हि कलौ विकले युगे ॥३॥

करबाणनभोनेत्रे, सर्वधारीसंवत्सरे ।
आश्विनस्यशुभे पक्षे, पद्याञ्जलिः समर्प्यते ॥४॥

श्रीमच्चरणचञ्चरीकः –
उपेन्द्राचार्यः (उपेन्द्रनारायणशुक्लः), साहित्याचार्यः
पौरोहित्याचार्यश्च, गढ़वामण्डलस्थजतपुराग्रामवास्तव्यः ॥

॥१७॥

गंगातटे देवनिवासभूमौ, काषायवस्त्रेणत्रिदण्डयुक्तम् ।
कमण्डलुं दक्षकरे दधानं, कल्याणकारं च गुरुं भजेऽहम् ॥१॥

वेदोक्तमार्गमनुनेतुकामः, तवावतारोऽप्यथ सर्वलोकम् ।
भक्तान् च शिष्यान् नितरां सदैव, मोक्षाय नूनं यतते च स्वामी ॥२॥

रम्ये यज्ञसुमण्डपे विलसति लक्ष्मीशनारायणः ।
विद्वद्भिर्निखिलैश्च वैदिकद्विजैः संकीर्त्यते वैश्रुतिः ॥
स्वाहाकारस्वरेणपूरितदिशः सर्वाः प्रसन्नाः शुभाः
पूजां प्राप्य जयेति घोषमतुलं कुर्वन्ति सर्वेसुराः ॥३॥

नमति त्वां कृष्णप्रपन्नोऽयं भूत्वाल्पज्ञसाधकः ।
क्षम्यतां मम अपराधंभोः ! व्याकुलोऽस्मि सदा प्रभो ॥४॥

भवदीय चरणसेवक :-
कृष्णमोहन त्रिपाठी, साहित्याचार्यः,
पोखराहाँ, (रोहतास)

॥१८॥

शुचिसुभगललाटे भ्राजते उर्ध्वपुण्ड्रम्,
करवरधृतदण्डं दारुपात्रं पवित्रम् ।
निखिलकुमतिमायामोचने यो समर्थः,
जगतिविदितकीर्तिः तं यतीन्द्रं नमामि ॥१॥

अमलधवलकीर्तिः भ्राजतेयस्य भूमौ,
श्रुतिपरमरहस्यं प्राप्यते यत्समीपे ।
कलिकलुषापहारीमन्त्रनारायणस्य
ददति भ्रमति नित्यं नव्यरामानुजार्यः ॥२॥

श्रीस्वामिचरणाश्रित :-
कृष्णपाठकः, साहित्याचार्यः, स्नातकः, बी॰ टी॰
ओराग्रामवास्तव्यः (जि॰ –औरगांबाद)

॥१९॥

काषायवेशधारिणं कृपासमुद्रसंनिभम् ।
जनौघभक्तिसंश्रितं मनुष्यलोकदैवतम् ॥
श्रुतिस्मृतिप्रचारकं सदध्वनां प्रबोधकम् ।
तपस्यया विभासितं नमाम्यहं त्रिदण्डिनम् ॥१॥

पयोव्रतं यतीश्वरं समीहितार्थदं मुनिम्,
जनौघवेष्टितोऽपि शान्तये कुटीरवासिनम् ।
अतीवनिर्भयं तथा च निस्पृहं यतीश्वरम्,
नमाम्यहं त्रिदण्डिनं सुमंगलस्य लब्धये ॥२॥

भवच्चरणचञ्चरीक :–
पद्मनाभ त्रिपाठी, साहित्याचार्यः, एम० ए० बी० ए०
ग्रा०– पेरहाप (भोजपुर)

॥२०॥

करमें त्रिदण्ड लिए, तन पर गेरुवस्त्र दिये,
शेष अवतारी आओहृदय में नित्य पयहारी ॥१॥

कृशकाय सुन्दर मनोहर भवहारी,
दीन दुःखियों की सुध क्यों विसारी ।
कहते वैष्णव लोग हैं, मन बेहाल है,
हे भाष्यकारी, आओहृदय में नित्य पयहारी ॥२॥

उर्ध्वपुण्ड्र ललाट की अद्भुत छटा है,
आपके षट्दिन समाधि लगाने से मन में हमारे रमा है
सत्तरचातुर्मास किये दो सौ से अधिक अन्ययज्ञ किये,
भारतवर्ष भ्रमणकारी ! आओहृदय में नित्य पयहारी ॥३॥

बाल्मीकि उद्दालक की भूमि निराली,
गंगा पश्चिम वाहिनी भाग सम्हाली।
वेद-विरोधी करते क्रन्दन सुनकर शास्त्रार्थ के छन्द,
छः दिन के यज्ञकारी, आओहृदय में नित्य पयहारी ॥४॥

तीन दिव्यदेश बनाने की इच्छा निराली,
उत्तर भारत में अष्ट दिग्गज के स्थापनाकारी
लक्षाधिकशिष्य किये, हे निश्चय शेष अवतारी,
आओहृदय में नित्य पयहारी ।।५।।

दासानुदास, चरण-चञ्चरीक–
लक्ष्मीप्रपन्न रामानुजश्रीवैष्णवदास
स्नातक, ब्रह्मचारी ।

।।२१।।

आपै शेष अवतार ......
वन्दौ तिनके पदकमल जो हैं शेष अवतार ।
अभिनव रामानुज जिन्हें, कहत सकल संसार ।।१।।
भारत भू पर प्रकट हो, किये विश्व उपकार ।
विश्वजयी तुझ संत को प्रणवऊँ बारम्बार ।।२।।

कलिकाल कराल में स्वमी मेरे, किये सत्तर चातुर्मास व्रत भाई ।
प्रतिवर्ष समाधि लगावत हैं, छः दिन तथा रात दृढाई ।।
नदीनद पर्णकुटीर में रह पयपान पै आपन उम्र बिताई ।
द्वादश ब्रह्मव्रती संग लिये, शास्त्रार्थ किये, बहुदिग् विजय पाई ।।३।।

जिन स्वामी ने ग्रंथ लिखे डेढ़ सौ, स्वयं शारद आकर युक्ति बताई ।
देखिके व्याख्या बड़-बड़े विज्ञों ने अचरज पा, मतिगई चकराई ।।
तप्तशंख त्रौ चक्र लगवाई के स्वामी से लाखों ही जन शरणागति पाई ।
श्रीवैष्णव धर्म-प्रचारण कारण, यज्ञकरा करी–विश्वभलाई ।।४।।

तीन महादिव्यदेश बनायके, उत्तर की गरिमा को बढ़ाई ।
इतनी ही नहीं करनी इनकी, अष्टदिग्गज स्थापित किये हरषाई
सुरभारती, हिन्दी अंग्रेजी वो उर्दू में लाखों प्रशस्ति की पत्रिका पाई ।
सिद्धेश्वर अब न संदेह रहा, श्रीशेष ही स्वामी के रूप बनाई ।
चमत्कारमय कार्य को देख चुका संसार ।
इससे ही सबजनकहैं, आपै शेष अवतार ।।

श्रीपादसवेक :–
सिद्धेश्वर पाठक, साहित्याचार्य, एम० ए०, बी० टी०
ग्राम बुधुआ (जि० पलामू)

॥२२॥

विष्णु-ज्योति श्रीविष्वक्सेनाचार्य रूप में आयी है,
भूमण्डल पर, भक्तजनों के उर मे सदा समायी है ॥१॥

शंख-चक्र अरु गदा-रूप में वर त्रिदण्ड, शुभ दक्षिण कर में,
सदा विलसता रहता, पद्‌म सजल कमण्डलु वाम सुकर में ।
कौस्तुभमणिमय सुमनमाल वक्षस्थल की शोभा अनुपम ।
पीताम्बर काषायवसन है, शान्ताकार उत्तम संयम ॥२॥
तापहारिणी घनमाला सी कान्ति चतुर्दिक् छायी है । विष्णु ज्यो .....

शेषनाग-तन दिव्य फलक ही, शयनासन आधारशिला
पर्ण-कुटी शेष-फण दर्शन से कट जाती भव-अर्गला ।
अष्ट सिद्धियों की लक्ष्मी, चरण-कमल की सेवा करती ।
मिटा निरन्तर भक्तों के उर-तम को रवि बनकर हरती ॥
दिव्य ज्योति ने रजनी में भी उषा-प्रभा फैलायी है । विष्णु ज्योति .....

पश्चिम-'लू' से भारत-संस्कृति कल्प-वल्लरी झुलस रही,
आप सरिस योगी के तप से बंची हुई है अभी मही ।
वैदिक-संस्कृति-वर्षा से मरु में सुमन उगाते रहते,
श्रुति-स्मृति-वेदान्त-सार को भक्तों की भाषा में कहते ॥
उर्ध्वपुण्ड्र ने भ्रमितों को शरणागति दृष्टि दिखायी है, विष्णु ज्योति ....

भवच्चरणचञ्चरीक :-
डॉ० बैजनाथ पाण्डेय, रीडर,
संस्कृत विभाग, के० वी० पो० ग्रे० कॉलेज, मिर्जापुर

॥२३॥

(श्रीपतिपीठाधीश-परिचयावली)

श्रीत्रिदण्डी देव के पद-पदमन का करि निज मन में ध्याना ।
श्रीपतिपीठाधीशन का, करहुँ सत्य गुण-गाना ॥१॥

सन्तश्रेष्ठ अनन्ताचार्य जेहिनामा । तासु शिष्य श्रीपतिगुणधामा ।
मण्डल शाहाबाद तेतड़हरग्रामा । रमा-नारायण मातु पितुनामा ।
द्वादश तिथि आश्विन मास पुनीता । भएप्रगट सं॰ अठारह सौ उन्नीसा ।
श्रीधर तेहिकर स्वप्न देखावा । सुरसरि महँ लक्ष्मी नारायणमूर्तिजेहिपावा ।
चरित्र-वनबक्सर में, श्रीलक्ष्मीनारायण का करि प्रतिष्ठान ।
१८९४ अगहन मास में मुनिवर गयो सुरधाम ॥२॥

श्रीअच्युतस्वामी भयोतेहि दासा । ग्राम करहँसी बक्सर पासा ।
मातु लक्ष्मी पिता वैकुण्ठनाथा । लीन्हजन्म १९०९ भादो मासा ।
१८९४ में भयऊ पीठाधीशा। बाबू कुँवर सिंह लीन्ह अशीशा।
१९१४ में त्यजो निज प्राणा । देइ गयो निजवचन प्रमाणा ॥
चतुर्थे पुरुषेऽतीते, शास्त्रज्ञो हि जितेन्द्रियः ।
मम सिंहासनाधीशो यतिः कश्चिद् भविष्यति ॥३॥

श्रीविष्णुचित्त स्वामी मुनीशा । १९१४ में भए ततीयपीठाधीशा ।
आजमगढ़ गजियापुर ग्रामा । पिता बसावन मातु सुभद्रानामा ।
सं॰ १८७४ में लीन्ह अवतारा । सं॰ १९२९ में त्यागो संसारा ।
तासु तनय साधुशरण मुनीशा । सं॰ १९२९ में भयउ चतुर्थ पीठाधीशा।
नौमि तिथि मधुमास पुनीता। सं० १८९२ में भयोप्रगटमुनीशा।
सं॰ १९५९ में बक्सर सुरसरि के तीर ।
भादो शुक्ला द्वादशी मुनिवर तज्योशरीर ॥४॥

तासुदास रामकृष्ण मुनीसा । १९५९ में भयो पंचम पीठाधीशा ।
डुमराँव समीपग्राम बहुआरा । १९३३ में लीन्ह अवतारा ॥
१९७९ में अयोध्या धामा । रचायो कोसलेश सदन अभिरामा ।
ज्येष्ठमास एकादशी बुधवारा । सं॰ १९९८ में तज्यो संसारा ।
श्रीत्रिदण्डिदेवयतिराज भए षष्ठम पीठाधीश ।
दास बालेश्वर निज ईश को पुनि पुनि नावैंशीश ॥५॥

श्रीमच्चरणचञ्चरीक :—
डॉ॰ बालेश्वर सिंह, बी॰ एम॰ बी॰ एस॰, आई॰ एच॰
एम॰ एम॰ एस॰, (एच॰ एम॰ एम॰) ग्राम — सहेपुर, (वाराणसी)



श्री १००८ श्रीमद्वेदमार्गप्रतिष्टापनाचार्योभयवेदान्तप्रवर्तकाचार्य
श्रीमत्परमहंस-परिव्राजकाचार्य-सत्संप्रदायाचार्य श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ट
जगद्गुरुभगवदनन्तपादीय श्रीमद्विष्वक्सेनाचार्य
श्रीत्रिदंडीस्वामी जी महाराज।

विषय-सूची

ओं लक्ष्मीनारायणाभ्यां नमः

शुक्लयजुर्वेदीया

* बृहदारण्यकोपनिषद् *

अथ प्रथमोऽध्यायः

॥ अथ प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः । सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणो व्यात्तमग्निर्वैश्वानरः संवत्सर आत्माऽश्वस्य मेध्यस्य। द्यौः पृष्ठमन्तरिक्षमुदरं पृथिवी पाजस्यम्। दिशः पार्श्वे अवान्तरदिशः पर्शव ऋतवोऽङ्गानि मासाश्चार्धमासाश्च पर्वाण्यहोरात्राणि प्रतिष्ठा नक्षत्राण्यस्थीनि नभो मांसानि। ऊवध्यं सिकताः सिन्धवोगुदाः । यकृच्च क्लोमानश्च पर्वताः। ओषधयश्च वनस्पतयश्च लोमानि । उद्यन्पूर्वार्धो निम्लोचन्नपरार्धो यद्विजृम्भते तद्विद्योतते यद्विधूनुते तत्स्तनयति यन्मेहति तद्वर्षति वागेवास्य वाक् ॥१॥

॥ गूढार्थदीपिका व्याख्या ॥

॥ मङ्गलाचरणम् ॥

शेषविभूषणमीडे शेषाशेषार्थलाभाय ।
दातुं सकलमभीष्टे फलमिष्टे यत्कृपादृष्टिः ॥१।
बृहदारण्यकव्याख्या श्रीभाष्याद्यनुसारिणी ।
गूढार्थदीपिका भाषा क्रियते शिष्ययाञ्चया ॥२।

अन्वयार्थ– (वै) निश्चय करके (मेध्यस्य) अच्छे प्रकार जानने योग्य यज्ञार्ह (अश्वस्य) पशु अश्व का (शिरः) सिर (उषाः) ब्रह्ममुहूर्त यानी प्रातः काल है और (चक्षुः) नेत्र (सूर्यः) सूर्य है तथा (प्राणः) प्राण (वातः) वायु है और (व्यात्तम्) खुला हुआ मुख (वैश्वानरः) वैश्वानर नाम की (अग्निः) अग्नि है और (मेध्यस्य) अश्वमेध यज्ञ संबन्धी (अश्वस्य) घोड़े का (आत्मा) शरीर (संवत्सरः) संवत्सर यानी वर्ष है (पृष्ठम्) यज्ञिय अश्व का पीठ (द्यौः) द्युलोक है तथा (उदरम्) पेट (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष है और (पाजस्यम्) पादासन स्थान (पृथिवी) भूमि है (पार्श्वे) तथा बगल के नीचे का दोनों पार्श्व भाग (दिशः) पूर्व पश्चिमादि दिशाएँ हैं और पार्श्वभाग की हड्डियाँ (अवान्तर दिशः) अग्निकोण आदिक अवान्तर दिशाएँ हैं तथा (अङ्गानि) यज्ञार्ह अश्व के शेष अङ्ग (ऋतवः) वसन्त ग्रीष्म आदि ऋतु हैं (च) और (पर्वाणि) अङ्गों की सधियाँ (मासाः) चैत्र आदि मास (च) तथा (अर्धामासाः) शुक्ल पक्ष आदि अर्धमास हैं और (प्रतिष्ठाः) दोनों पैर (अहोरात्राणि) दिन तथा रात्रि है (अस्थीनि) हड्डियाँ (नक्षत्राणि) अश्विनी भरणी आदि नक्षत्र हैं और (मांसानि) यज्ञार्ह अश्व का मांस (नभः) अस्थ्यात्मक नक्षत्र से संयुक्त होने से आकाश है तथा (ऊवध्यम्) अर्ध परिपक्व घास आदिक भोजन (सिकताः) बालू हैं (गुदाः) नाड़ियाँ (सिन्धवः) नदियाँ हैं (च) और (यकृत्) हृदय के नीचे पेट में दाहिनी ओर का मांस पिण्ड यानी यकृत (च) तथा (क्लोमानः) हृदय के नीचे पेट में बायीं ओर का मांसपिण्ड यानी क्लोमा (पर्वताः) हिमालय विन्ध्य पर्वत हैं (च) और (लोमानि) रोम (ओषधयः) यव आदि ओषधि हैं (च) तथा केश (वनस्पतयः) पीपल आदि वनस्पति हैं और (पूर्वार्धः) अश्व का पूर्वार्ध यानी नाभि से ऊपर का भाग (उद्यन्) उदय होता हुआ सूर्य है तथा (अपरार्धः) अश्व का जघनार्धयानी कटि से नीचे का भाग (निम्लोचन्) अस्त होता हुआ सूर्य है यज्ञार्ह अश्व (यद्) जो (विजृम्भते) मुख बाकर जमुहाई लेता है (तत्) वह (विद्योतते) बिजली का चमकना है और (यत्) जो (विधूनते) शरीर हिलाता है (तत्) वह (स्तनयति) मेघ का गर्जन है तथा (यद्) जो (मेहति) वह घोड़ा मूत्र त्याग करता है (तत्) वही (वर्षति) वर्षा होना है और (अस्य) इस यज्ञार्ह अश्व की (वाक्) वाणी (एव) ही (वाक्) वाणी है। यहाँ कोई कल्पना की अपेक्षा नहीं है॥१॥

विशेषार्थ– शुक्लयजुर्वेदीय काण्वसंहिता के काण्व शतपथ ब्राह्मण के सतरहवें काण्ड को "बृहदारण्यकोपनिषद्" कहते हैं। वाजसनेयि शतपथब्राह्मण के चौदहवें काण्ड में शब्दकृत अनेक भेद हैं। तथापि मौलिक अर्थ में प्रायः भेद नहीं है। यह छः अध्याय वाली उपनिषद् अरण्य–वनमें अध्ययन की जाने के कारण आरण्यक है

और अन्य उपनिषदों की अपेक्षा आकार में बृहत्--बड़ी होने के कारण ''बृहदारण्यक'' कही जाती है । क्योंकि लिखा है ''बृहत्त्वाद् ग्रन्थतो वै ह बृहदारण्यकं मतम्'' कलेवर की दृष्टि से यह समस्त उपनिषदों की अपेक्षा बृहत् है इससे निश्चय ''बृहदारण्यक'' नाम से प्रसिद्ध है । इस उपनिषद् के प्रथम अश्वमेध ब्राह्मण की पहली कण्डिका में अश्वमेध विज्ञान के लिये अश्वमेधी अश्व के शिर आदि अङ्गों में।। **आदित्यादिमतयश्चाङ्गउपपत्तेः** (शारीरकमी० अध्या० ४ पाद १ सू० ६) इस आदित्यादिमत्यधिकरण न्याय से "उषा" कालादि दृष्टि विधान किया गया है ।

शुक्ल यजुर्वेद के बाइसवें अध्याय से उन्तिसवें अध्याय तक अश्वमेध प्रकरण है । सब कामना की इच्छावाले चक्रवर्ती राजा को अश्वमेधयाग करना चाहिये । फाल्गुन शुक्ल अष्टमी से अश्वमेध यज्ञ प्रारंभ होता है । अश्वमेधयज्ञ के विषय में लिखा है । **राजसूयं वाजपेयम् अग्निष्टोमस्तदध्वरः । अर्काश्वमेधावुच्छिष्टे जीव-वर्हिर्मदिन्तमः ॥** (अथर्व वे० काण्ड ११ सू० ९ मं० ७) राजसूय १, वाजपेय २, अग्निष्टोम ३, अध्वर ४, अर्क ५, अश्वमेध ६, जीववर्हि ७, और मदिन्तम ८ इत्यादि यज्ञ उच्छिष्ट परब्रह्मनारायण में आश्रित हैं ।।७।। **अश्वमेधेन यजते** (आश्वलायनश्रौ० द० ६ सू० १) चक्रवर्ती राजा अश्वमेध यज्ञ से यजन करता है ।।१।। और अश्वमेधविज्ञान के विषय में मुमुक्षुओं के प्रति माता पिता से भी अधिक कल्याण चाहनेवाली श्रुति आदेश देती है कि– **"योऽश्वमेधेन यजते य उ चैनमेवं वेद" (श्रुति)** जो अश्वमेध से यजन करता है अथवा जो इसे इस प्रकार निश्चय जानता है, वह सब पापों को पार कर जाता है । अतः परमावश्यक अश्वमेधविज्ञान प्रतिपादन किया जाता है ।

निश्चय ही अश्वमेध यज्ञ संबन्धी अश्व का शिर "उषा" काल है । इसलिए कर्माङ्गभूत अश्व के मस्तक में ब्राह्ममुहूर्त यानी प्रभात बुद्धि करनी चाहिये । क्योंकि उषाकाल दिन के शिर होने से यज्ञार्ह अश्व के उत्तमाङ्ग में प्रातःकाल दृष्टि उत्पन्न होती है । प्रकृत श्रुति में "वै" शब्द निश्चय वाचक है क्योंकि लिखा है **(स्युरेवं तु पुनर्वै वेत्यवधारणवाचकाः)** (अमरको० काण्ड-३ वर्ग ४ श्लो० १५) एवम् १, तु २, पुनर् ३, वै ४, वा ५ ये निश्चय वाचक हैं ।।१५।। मेध्य– शब्द "मेधृ संगमे च".इस धातु से निष्पन्न होता है । संगम अर्थ में मेधृ धातु है यहाँ "च" शब्द से पूर्व पठित मेधा और हिंसन ये दोनों अर्थ भी गृहीत होते हैं । इस प्रकार मेधृ धातु का मेधा १, हिंसन २, और संगम ३ ये तीन अर्थ होते हैं । यहाँ "अश्व" शब्द घोड़ा का वाचक है क्योंकि लिखा है **अश्वस्यात्र जनिमा** (ऋग्वे० मण्डल २ सू० ३५ मं० ६) इस परब्रह्म नारायण में घोड़ा का जन्म है ।।६।। **(तस्मादश्वा अजायन्त)** ऋग्वे० मण्डल १० सू० ९० मं० १०) शुक्लयजु० अध्या०

३१ मं० ८) (अथर्ववे० काण्ड-१९ सूक्त ६ मं० १२) उस चतुर्मुख ब्रह्मा से घोड़े उत्पन्न हुए ।।१०।।८।।१२।। **यस्यां हिरण्यं विन्देयं गामश्वं पुरुषानहम्** (श्रीसूक्त० मं० २) मैं जिस श्री देवी के प्राप्त होने पर सुवर्ण आदिक धन को तथा गौ अथवा पृथ्वी या वाणी अथवा इन्द्रियादिक को और तुरङ्ग को तथा भगवत्, भागवत आचार्यों को अथवा मनुष्य अर्थात् पुत्र, पौत्र, मित्र, सेवक आदि को प्राप्त कर लूँ ।।२।। **प्रजापतिर्वै देवानां वीर्यवत्तमो वीर्यमेवास्मिन्द- धाति तस्मादश्वः पशूनां वीर्यवत्तमः** (शतपथ १३।१।२।५) निश्चय प्रजापति देवताओं में अत्यन्त वीर्यवाला है। वह इस अश्व में वीर्य को ही धारण करता है इससे घोड़ा पशुओं में अत्यन्त वीर्यवाला है ।।५।। **इन्द्राग्नी वै देवानामोजस्वितमा ओज एवास्मिन्दधाति तस्मादश्वः पशूनामोजस्वितमः** (शतप० ब्रा० १३।२।६) निश्चय इन्द्रदेव और अग्निदेव देवताओं में अत्यन्त ओज वाले हैं वे दोनों देव इस अश्व में ओज को ही धारणा करते हैं इससे तुरङ्ग पशुओं में अत्यन्त ओज वाला है ।।६।। **वायुर्वै देवानामाशिष्ठो जवमेवास्मिन्दधाति तस्मादश्वपशूनामाशिष्ठः** (शतप० ब्रा० १३।१।२।७) निश्चय वायुदेव देवताओं में अत्यन्त आशुगामी है वह वायु के इस अश्व में वेग को ही धारण करता है इससे तुरङ्ग पशुओं में अत्यन्त वेग वाला आशुगामी है ।।७।। **विश्वे वै देवा देवानां यशश्वितमा यश एवास्मिन्दधाति तस्मादश्वः पशूनां यशश्वितमः** (शतप०१३।१।२।८) निश्चय करके विश्वे देव देवताओं में अत्यन्त यश वाले हैं वे विश्वेदेव इस अश्व में यश को ही धारण करते हैं इससे अश्व पशुओं में अत्यन्त यश वाला है ।।८।। **उच्चैः श्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्** (भगवद्गी० अ० १० श्लो० २७) घोड़ों में अमृत मंथन के समय उत्पन्न उच्चैः श्रवा तू मुझको जान ।।२७।। **गौरजः पुरुषो मेषश्चाश्वाश्वतर गर्दभाः। एतान्ग्राम्यान्पशूनाहुरारण्यांश्च निबोध मे** (विष्णुपु० अं० १ अध्याय ५ श्लो० ५१) गौ १, बकरा २, पुरुष ३, भेंड़ा ४, घोड़ा ५, खच्चर ६और गदहा ७ इन सात को ग्राम्य पशु महर्षि सब कहते हैं और अब आरण्य सात पशुओं को तुम मुझसे जानलो ।।५१।। **घोटके वीतितुरगाश्वतुरङ्गमाः । वाजिवाहार्वगन्धर्व इयसैन्धवसप्तयः** (अमरको० कां० २ व० ८ श्लो० ४३) घोटके १, वीति २, तुरग ३, तुरङ्ग ४, अश्व ५, तुरङ्गम ६, वाजि ७, वाह ८, अर्वन् ९, गन्धर्व १०, हय ११, सैन्धव १२ और सप्ति १३ ये घोड़े के नाम हैं ।।४३।। **अश्वः पुँजातिभेदे च तुरङ्गे च पुमानयम्** (मेदिनीकोश) पुलिङ्ग जाति भेद में और तुरङ्ग में पुलिङ्ग अश्व शब्द का प्रयोग होता है ।। **अश्वः पुँभेदवाजिनोः** (विश्वकोश) पुंभेद में और वाजि में "**अशू व्याप्तौ संघाते च**" इस धातु से कन् प्रत्यय होकर "अश्व" शब्द निष्पन्न होता है । पशुओं में प्रायः अपने गुणों से घोड़ा व्यापक है इस हेतु से घोड़े को अश्व कहते हैं। अथवा क्र्यादि पठित

''अश भोजने'' धातु से ''अश्व'' शब्द निष्पन्न होता है। इस कारण पशुओं में अधिक भोजन करने से घोड़े को अश्व कहते हैं। प्रकृत कण्डिका में ''शिरस्'' शब्द मस्तक वाचक है क्योंकि लिखा है- **उत्तमाङ्ग शिरः शीर्षं मूर्द्धन् मस्तकोऽस्त्रियाम्॥** (अमरको० कां० २ वर्ग ६ श्लो० ९५) उत्तमाङ्ग १, शिरस् २, शीर्ष ३, मूर्द्धन् ४ और मस्तक ५ ये शिर के नाम हैं ॥९५॥ ''उषा'' के विषय में लिखा है ॥ **जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्रेव निरिणीते अप्सः॥** (ऋग्वे० मण्डल १ सू० १२४ मं० ७) जैसे पतिव्रता स्त्री इच्छा करती हुई सुन्दर वस्त्रों से सुभूषित हो और किञ्चित् मन्द मुस्कुराती पति के निकट अपने स्वरूप को अच्छे प्रकार प्रकाशित करती है वैसे ही उषा देवी अपने सुन्दर समय को प्रकाशित करती है ॥७॥ **उषाः कस्मादुच्छतीति सत्या रात्रेरपरःकालः (२।१८।४) उषा वष्टेःकान्तिकर्मण उच्छतेरितरा माध्यमिका,** (निरुक्त १२) ५॥ यास्काचार्य कहते हैं कि– रात्रि के अपर काल का नाम उषा है अन्धकार को दूर करने से यह नाम हुआ है ॥५॥ निरुक्तकार "उषा" शब्द को दो धातुओं से निष्पन्न मानते हैं । "वश कान्तौ" "उच्छी विवासे" विवासः समाप्तिः। इच्छार्थक 'वश' और समाप्त्यर्थक 'उच्छ' इन धातुओं से "उषा" शब्द बनता है । जिसकी कामना सब कोई करें या जो अन्धकार को समाप्त करदे उसे उषा कहते हैं । प्रायः सब जीव प्रभात की कामना करते हैं इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है ॥

पञ्चपञ्च उषः कालः सप्तपञ्चारुणोदयः ।
अष्टपञ्च भवेत्प्रातस्ततः सूर्योदयः स्मृतः ॥
रात्रेः पश्चिमयामस्य मुहूर्तो यस्तृतीयकः ।
स ब्राह्म इति विज्ञेयो विहितः स प्रबोधने (विष्णुपुरा०)

सूर्योदय से पहले पचपन घड़ी उषा काल होता है और सूर्योदय से पहले सन्तावन घड़ी अरुणोदय काल होता है तथा सूर्योदय से पहले अण्ठावन घड़ी प्रातः काल होता है इसके बाद सूर्योदय समझा जाता है । रात्रि के पिछले पहर का जो तीसरा मुहूर्त यानी हिस्सा है वही ब्राह्म मुहूर्त कहा गया है वही काल जागने व लिये शास्त्र में कहा गया है इसलिए ब्राह्म मुहूर्त में अवश्य निद्राभंग करना चाहिये ॥ **प्रत्यूषोऽहर्मुखं कल्यमुषः प्रत्युषसी अपि** (अमरको० कां० १ वर्ग ४ श्लो० २) प्रभात ॥३॥ प्रत्यूष १, अहर्मुख २, कल्य ३, उषस ४, प्रत्यूषस् ५॥२॥ और प्रभात ६ ये ... ल के नाम हैं ॥३॥ अश्वमेध यज्ञ संबन्धी घोड़े का नेत्र सूर्य है । इसलिये अश्व कर्माङ्गभूत अश्व के नयन में सूर्यदृष्टि करनी चाहिये । क्योंकि सूर्य नेत्र के अधिष्ठा ॥ देवता है और जिस प्रकार उषा के अनन्तर सूर्य दिखायी देता है उसी प्रकार शिर के अनन्तर नेत्र है । सूर्य के विषय में लिखा है ॥ **चक्षोः सूर्यो अजायत** (यजुर्वे० अ०

३१ मं० १२) नेत्र से सूर्य प्रकट हुआ॥१२॥ **चक्षुष आदित्यः** (ऐतरेयो० अ० १ खं० १ श्रु० ४) नेत्र से नयन के अधिष्ठाता लोकपाल सूर्य देवता प्रकट हुआ॥४॥ **आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशत्** (ऐत० उ० अ० १ खं० २ श्रु० ४॥ सूर्यदेवता ने नेत्र इन्द्रिय होकर आंखों के गोलकों में प्रवेश किया॥४॥ **दिग्वातार्क प्रचेतोऽश्विवह्नीन्द्रोपेन्द्रमृत्युकाः। तथा चन्द्रश्चतुर्वक्त्रो रुद्रः क्षेत्रज्ञ ईश्वरः ।** (वरा० उप० अध्याय १ श्रु० १४) श्रोत्र इन्द्रिय के देवता दिशा १, प्राण के वायु देवता २, नेत्र इन्द्रिय के देवता सूर्य ३, जिह्वा इन्द्रिय के देवता वरुण ४, घ्राण इन्द्रिय के देवता अश्विनी कुमार ५, वाक् इन्द्रिय के देवता अग्नि ६, पाणि इन्द्रिय के देवता इन्द्र ७, पाद इन्द्रिय के देवता उपेन्द्र ८, पायु इन्द्रिय के देवता मृत्यु ९, मन के चन्द्रमा देवता १०, उपस्थ इन्द्रिय के देवता प्रजापति ११, बुद्धि के देवता ब्रह्मा १२, अहङ्कार के रुद्रदेवता १३ और चित्त के क्षेत्रज्ञ देवता १४ ये सब देवता हैं ॥१४॥ **लोचनं नयनं नेत्रमीक्षणं चक्षुरक्षिणी । दृग्दृष्टी च** (अमरको० कां० २ व० ६ श्लो० ९३) लोचन १, नयन २, नेत्र ३, ईक्षण ४, चक्षुस् ५, अक्षि ६, दृश् ७ और दृष्टि ८ ये आँख के नाम हैं ॥९३॥ अश्वमेधयज्ञ संबन्धी तुरङ्ग का प्राण वायु है । इसलिये अश्वमेध कर्माङ्गभूत अश्व के प्राण में वायु बुद्धि करनी चाहियें । क्योंकि प्राण वायु के समान स्वभाववाला है । और वायु प्राण के अधिष्ठाता देवता है । वायु के विषय में लिखा है– **प्राणाद्वायुः** (ऐत० उ० अ० १ खं० १ श्रु० ४) प्राण से लोकपाल वायु देवता उत्पन्न हुआ ॥४॥ **वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्** (ऐत० उ० अ० १ खं० २ श्रु० ४) वायु देवता ने प्राण होकर नासिका के दोनों छिद्रों में प्रवेश किया॥४॥ अश्वमेधयज्ञसम्बन्धी घोड़े का खुला हुआ मुख वैश्वानर अग्नि है । इसलिये अश्वमेध कर्माङ्गभूत अश्व के विवृत मुख में वैश्वानर अग्नि बुद्धि करनी चाहिये । क्योंकि मुख के अधिष्ठातृदेव अग्नि हैं। क्रव्याद् अग्नि कि व्यावृत्ति के लिये यहाँ वैश्वानर शब्द प्रयुक्त हुआ है। वैश्वानर शब्द अग्नि का विशेषण है। **विश्वान् नरान् नयति विश्व एनं नरा नयन्तीति वा** (निरुक्त० ७।२१) यास्काचार्य कहते हैं–जो समस्त नरों को प्राप्त करता है अथवा सब नर इसको प्राप्त करते हैं इससे वैश्वानर कहा जाता है।। **अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः। प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्** (गी० अ० १५ श्लो० १४) मैं प्राणियों के देह में रहनेवाला वैश्वानर होकर और प्राण अपान के साथ युक्त होकर खाये हुए खाद्य, चोष्य, लेह्य और पेयरूप चार प्रकार के अन्न को पचाता हूँ ॥१४॥ अग्नि के विषय में लिखा है– **मुखादग्निरजायत** (यजुर्वे० अ० ३१ मं० १२) मुख से अग्नि उत्पन्न हुई ॥१२॥ **अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्** (ऐत० उ० अ० १ खं० २ श्रु० ४) अग्नि देवता ने वाक् इन्द्रिय होकर मुख

में प्रवेश किया॥४॥ और अश्वमेधयज्ञ सम्बन्धी अश्व का शरीर संवत्सर है। इसलिये अश्वमेध कर्माङ्गभूत अश्व के मध्यभाग शरीर में बारह महीने का संवत्सर बुद्धि करनी चाहिये । इस श्रुति में "आत्मा" शब्द शरीर के मध्य भाग का वाचक है क्योंकि लिखा है— **मध्यं ह्येषामङ्गानामात्मा** (श्रुति) इन सब अङ्गों का मध्यभाग आत्मा है ओर यहाँ **"अश्वस्य मेध्यस्य"** इसकी पुनरुक्ति इसका सबके साथ सम्बन्ध प्रदर्शित करने के लिये है । अश्वमेध यज्ञ सम्बन्धी घोड़े का पृष्ठ भाग द्युलोक है । इसलिए अश्वमेध कर्माङ्गभूत अश्व के पीठ में द्युलोक बुद्धि करनी चाहिये। क्योंकि ऊर्ध्वत्व में पृष्ठ भाग तथा द्युलोक सामान्य हैं । द्युलोक के विषय में लिखा है—**स इमांल्लोकानसृजत। अम्भो मरीचीर्मरमापोऽदोऽम्भः परेण दिवं द्यौः प्रतिष्ठान्तरिक्षं मरीचयः पृथिवी मरो या अधस्तात्ता आपः** (ऐत० उ० अ० १ खं० २ श्रु० २) उस परब्रह्म परमात्मा ने अम्भ यानी द्युलोक तथा उसके ऊपर के लोक मरीची यानी अन्तरिक्ष मर यानी मृर्त्युलोक और पृथ्वी के नीचे का जल लोक इन सब लोकों की रचना की । स्वर्गलोक से पर ऊपर के लोक तथा उनका आधारभूत द्युलोक यह सब अम्भलोक है और अन्तरिक्ष लोक ही मरीचि लोक है तथा यह पृथ्वी ही मर यानी मृत्युलोक है और जो पृथ्वी के नीचे पातालादि लोक है वे आप यानी जल लोक हैं ॥२॥ **भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् (योगद० अ० १ पा० ३ सू० २४) तस्य प्रस्तारः सप्तलोकास्तत्रावीचेः प्रभृतिमेरुपृष्ठं यावदित्येवं भूर्लोको मेरुपृष्ठादारभ्याध्रुवात् ग्रहनक्षत्रताराविचित्रोऽन्तरिक्षलोकस्ततः परः स्वर्लोकः पञ्चविधो माहेन्द्रस्तृतीयलोकश्चतुर्थः प्राजापत्यो महर्लोकस्त्रिविधो ब्राह्मः, तद्यथा जनलोकस्तपोलोकः सत्यलोक इति । ब्राह्मस्त्रिभूमिको लोकः प्राजापत्यस्ततो महान्। माहेन्द्रश्च स्वरित्युक्तो दिवि तारा भुवि प्रजाः॥** (व्यासभाष्य) सूर्य में संयम करने से भुवन का ज्ञान होता है ॥२४॥ इस भुवन का विस्तार सात लोक हैं । अवीचि नाम के स्थल से लेकर सुमेरु पर्वत के पीठ तक भूलोक है १, और सुमेरु की पीठ से लेकर ध्रुवपर्यन्त नक्षत्र तारा आदिकों से सुशोभित अन्तरिक्षलोक है २, तथा उससे परे पाँच प्रकार का स्वर्गलोक है ३, और तृतीय माहेन्द्रलोक है तथा प्रजापति का चौथा महर्लोक है ४, और तीन प्रकार का ब्रह्मलोक है । जनलोक ५, तपलोक ६, और सत्यलोक ७, क्योंकि लिखा है कि— जन १, तप २, सत्य ३ ये तीनें भूमिवाला ब्रह्मलोक है । प्रजापति का चौथा महर्लोक है और तृतीय माहेन्द्र स्वर्लोक कहा गया है । द्युलोक में तारागण और भूलोक में प्रजागण रहते हैं । ॥२४॥ अश्वमेधयज्ञ सम्बन्धी अश्व का पेट अन्तरिक्ष है। इसलिये अश्वमेध कर्माङ्गभूत अश्व के उदर में अन्तरिक्ष बुद्धि करनी चाहिये। क्योंकि अवकाशत्व में उदर तथा अन्तरिक्ष सामान्य हैं। पृथ्वी और द्युलोक के मध्य स्थान का नाम अन्तरिक्ष

है। और अश्वमेध यज्ञ सम्बन्धी घोड़े के पैर रखने का स्थान भूमि है। इसलिये अश्वमेध कर्माङ्गभूत अश्व के पादासन स्थान में भूमि बुद्धि करनी चाहिये । यहां **"पादा अस्यन्ते स्थाप्यन्तेऽस्मिन्निति पादस्यम्"** इस व्युत्पत्ति के अनुसार **"पादस्यम्"** पद होता है परन्तु व्यत्ययो बहुलम् (पाणि० व्या० अ० ३ पा० १ सू० ८५) इस सूत्र से दकार को जकार होकर "पाजस्यम्" हुआ है । अश्वमेध यज्ञसम्बन्धी अश्व के बगल के नीचे के दोनों पार्श्व भाग पूर्व दक्षिण पश्चिम उत्तर चारो दिशाएँ हैं । इसलिये अश्वमेध कर्माङ्गभूत अश्व के दोनों पार्श्वों में पूर्वादि बुद्धि करनी चाहिये । क्योंकि पार्श्व से दिशाओं का सम्बन्ध है । पार्श्व के विषय में लिखा है– **बाहुमूले उभे कक्षौ पार्श्वमस्त्री तयोरधः** (अमर० कां० २ वर्ग० ६ श्लो० ७९) दोनों बगलों का नाम कक्ष है और बगल का नीचे का नाम पार्श्व है ॥७९॥ और अश्वमेधयज्ञ सम्बन्धी घोड़े के पार्श्व भाग की अस्थियाँ अग्निकोण, निर्ऋतिकोण, वायुकोण और ईशानकोण चारो अवान्तर दिशाएँ हैं । इसलिए अश्वमेध कर्माङ्गभूत अश्व के पार्श्व भाग की हड्डियों में अग्निकोण आदि अवान्तर दिशा बुद्धि करनी चाहिये । पर्शु के विषय में लिखा है– **पार्श्वास्थिनि तु पर्शुका** (अमरको० कां० २ व० ६ श्लो० ६९) पार्श्व की हड्डियों का नाम पर्शुक है । यहाँ पर्शु शब्द से स्वार्थ में क प्रत्यय होकर पर्शुक शब्द निष्पन्न होता है ॥६९॥ यथा अश्वमेध सम्बन्धी घोड़े का जो अङ्ग पहले कह चुके हैं उनको छोड़कर अन्यान्य अङ्ग हेमन्त, शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद् छः ऋतुएँ हैं । इस लिये अश्वमेध कर्माङ्गभूत अश्व के शेष अङ्गों में हेमन्त आदिक ऋतु में बुद्धि करनी चाहिये । क्योंकि संवत्सर के अवयव होने के कारण अङ्गों से उनकी समानता है । ऋतु के विषय में लिखा है– **हेमन्तः शिशिरोऽस्त्रियाम् । वसन्ते पुष्पसमयः सुरभिः ग्रीष्म ऊष्मकः** (अमर० कां० १ व० ४ श्लो० १८) **निदाघ उष्णोपगम उष्ण ऊष्मागमस्तपः । स्त्रियां प्रावृट् स्त्रियां भूम्नि वर्षाः अथ शरत् स्त्रियाम् ॥१९॥ षडमी ऋतवःपुंसि मार्गादीनां युगैः क्रमात् ॥२०॥** अगहन, पूस मास से सिद्ध हुई ऋतु का नाम हेमन्त है और माघ, फाल्गुन से सिद्ध हुई ऋतु का नाम शिशिर है । तथा चैत्र, वैशाख से सिद्ध ऋतु के वसन्त १, पुष्पसमय २, सुरभि ३, ये तीन नाम हैं और ज्येष्ठ, आषाढ़ से सिद्ध हुई ऋतु के ग्रीष्म १, ऊष्मक २, ॥१८॥ निदाघ ३, उष्णोपगम ४, उष्ण ५, ऊष्मागम ६, तप ७ ये सात नाम हैं । सावन, भादो से सिद्ध ऋतु के प्रावृट् १, वर्षा २ ये दो नाम हैं और क्वार कार्तिक से सिद्ध हुई ऋतु का नाम शरद् है ॥१९॥ मार्गशीर्ष आदि दो दो महीनों की ये छः ऋतुएँ होती हैं॥२०॥ और अश्वमेधयज्ञ सम्बन्धी अश्व के अङ्गों की सन्धियाँ, अगहन आदि बारह मास हैं तथा शुक्ल, कृष्णपक्ष अर्धमास हैं। इसलिये अश्वमेध कर्माङ्गभूत अश्व के अङ्गों की सन्धि से उनकी समानता है।

पक्ष और मास के विषय में लिखा है–

ते तु त्रिंशदहोरात्रः पक्षस्ते दश पञ्च च ।

पक्षौ पूर्वापरौ शुक्लकृष्णौ मासस्तु तावुभौ । (अमर० कां० १ व० १४ श्लो० १२) तीस मुहूर्तों का नाम अहोरात्र है और पन्द्रह दिन रात का नाम पक्ष है तथा पूर्व पक्ष का नाम शुक्ल और अपर पक्ष का नाम कृष्ण है तथा दो पक्षों का नाम मास है ॥१२॥ अश्वमेध यज्ञ सम्बन्धी अश्व के पैर दिन और रात्रि हैं । इसलिए अश्वमेध कर्माङ्गभूत अश्व के पैरों में दिन और रात्रि बुद्धि करनी चाहिये । "अहोरात्राणि" इस पद में बहुवचन होने के कारण मनुष्य पितृगण देवता और ब्रह्मा सभी के दिन रात प्रतिष्ठा अर्थात् पाद हैं । क्योंकि लिखा है– **निमेषा दश चाष्टौ च काष्ठा त्रिंशत्तु ताः कलाः । त्रिंशत्कला मुहूर्तःस्यादहोरात्रं तु तावतः** (मनु० अ० १ श्लो० ६४) पलक मारने का नाम निमेष है और अठरह निमेषों का नाम काष्ठा है तथा तीस काष्ठाओं का नाम कला है और तीस कलाओं का नाम मुहूर्त है तथा तीस मुहूर्तों का नाम अहोरात्र है ॥६४॥ **अहोरात्रे विभजते सूर्यो मानुषदैविके । रात्रिः स्वप्नाय भूतानां चेष्टायै कर्मणामहः** (मनु० अ० १ श्लो० ६५) सूर्य मनुष्य और देवता के दिन और रात्रि का विभाग करता है । प्राणियों के शयन करने के लिये रात्रि होती है और कर्मानुष्ठान करने के लिये दिन होता है ॥६५॥ **पित्र्ये रात्र्यहनी मासः प्रविभागस्तु पक्षयोः । कर्मचेष्टास्वहः कृष्णः शुक्लः स्वप्नाय शर्वरी** (मनु० अ० १ श्लो० ६६) मनुष्यों के एकमास का पितृगणों का दिन रात होता है । पितरों के दिन और रात्रि का विभाग दोनों पक्षों से होता है । पितृगणों के कर्मानुष्ठान करने के लिये कृष्णपक्ष दिन है और स्वापार्थ शुक्लपक्ष रात्रि है ॥६६॥

दैवे रात्र्यहनी वर्षं प्रविभागस्तयोः पुनः ।

अहस्तत्रोदगयनं रात्रिःस्याद्दक्षिणायनम् ॥ (मनु० १।६७)

मनुष्यों के एक वर्ष का देवताओं का एक दिन रात होता है । देवताओं के दिन और रात्रि का विभाग दोनों अयनों से होता है । देवताओं के कर्मानुष्ठान करने के लिये मनुष्यों के उत्तरायण ही देवताओं का दिन है और दक्षिणायण रात्रि है ॥६७॥

तद्वै युगसहस्रान्तं ब्राह्मं पुण्यमहर्विदुः ।

रात्रिं च तावतीमेव तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥

(मनु० अ० १ श्लो० ७३)

वे दिन और रात्रि को जाननेवाले लोग चारो युग हजार वार बीत जाने पर तो

ब्रह्मा का पवित्र एक दिन जानते हैं और वैसे ही चारो युग हजार बार बीत जाने पर तो रात्रि जानते हैं ।।७३।।

सहस्त्रयुगपर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥
(गी० अ० ८ श्लो० १७)

ब्रह्मा का जो दिन है उसे सहस्र युगतक रहनेवाला और रात्रि को भी सहस्र युग रहने वाली जो जानते हैं वे लोग दिन और रात्रि के जानने वाले हैं ।।१७।। काल दिन रात्रि के द्वारा प्रतिष्ठित होता हे और अश्व पैरों के द्वारा । यहाँ प्रतिष्ठितत्व सामान्य है और अश्वमेधयज्ञ सम्बन्धी घोड़े की हड्डियाँ अश्विनी १, भरणी २, कृत्तिका ३, रोहिणी ४, मृगशिरा ५, आर्द्रा ६, पुनर्वसु ७, पुष्य ८, श्लेषा ९, मघा १०, पूर्वाफाल्गुनी ११, उत्तरा फाल्गुनी १२, हस्त १३, चित्रा १४, स्वाति १५, विशाखा १६, अनुराधा १७, ज्येष्ठा १८, मूल १९, पूर्वाषाढ़ २०, उत्तराषाढ़ २१, श्रवण २२, धनिष्ठा २३, शतभिषा २४, पूर्वा भाद्रपद २५, उत्तरा भाद्रपद २६ और रेवती २७ नक्षत्र हैं । । इसलिये अश्वमेध कर्माङ्गभूत अश्व की अस्थियों में अश्विन्यादि नक्षत्र बुद्धि करनी चाहिये । क्योंकि अस्थि और नक्षत्र ये दोनों शुक्लत्व में साम्य हैं । अस्थि के विषय में लिखा है– **कीकसं कुल्यमस्थि च** (अमर० कां० २ व० ६ श्लो० ६८) कीकस १, कुल्य २, अस्थि ३ ये हड्डी के नाम हैं ।।६८।। अश्वमेधयज्ञ सम्बन्धी अश्व का मांस आकाश है । इसलिये अश्वमेध कर्माङ्गभूत अश्व के मांस में आकाश बुद्धि करनी चाहिये । क्योंकि अस्थ्यात्मक नक्षत्र से आकाश संयुक्त है। मांस के विषय में लिखा है–**पिशितं तरसं मांसं पललं क्रव्यमामिषम्** (अमर० कां० २ व० ६ श्लो० ६८) पिशित १, तरस २, मांस ३, पलल ४, क्रव्य ५ और आमिष ६ ये मांस के नाम हैं ।।६३।। और अश्वमेध यज्ञ सम्बन्धी अश्व के उदर स्थित अर्धजीर्ण घास आदिक भोजन बालू है । इसलिये अश्वमेध कर्माङ्गभूत अश्व के पेट में स्थित अर्ध परिपक्वतृणादि भोजन में बालू बुद्धि करनी चाहिये । क्योंकि अवयवों के बिलग बिलग रहने में समानता है । सिकता के विषय में लिखा है– **सिकताःस्युर्बालुकापि** (अमर० कां० ३ व० ३ श्लो० ७३) सिकता बालू और सिकटी को कहते हैं ।।७३।। तथा अश्वमेध यज्ञ सम्बन्धी अश्व की नाड़ियाँ गङ्गा, यमुना आदि नदियाँ हैं । इसलिये अश्वमेध कर्माङ्गभूत अश्व की नाड़ियों में गंगा आदि नदियाँ बुद्धि करनी चाहिये । क्योंकि बहने में समानता है । यहाँ "गुदा" और "सिन्धवः" दोनों ही पद बहुवचनान्त हैं । इससे "गुदा" शब्द यहाँ लोक प्रसिद्ध पायु इन्द्रिय का बोधक नहीं हो सकता । सिन्धु के विषय में लिखा है–**देशे**

नदविशेषेऽब्धौ सिन्धुर्ना सरिति स्त्रियाम् (अमर० कां० ३ व० ३ श्लो० १०१) सिन्धु शब्द समुद्र में एक नद में सिन्धु देश में और नदी में प्रयुक्त होता है । ।।१०१।। और अश्वमेधयज्ञ सम्बन्धी अश्व में यकृत् तथा क्लोमा हिमालय विन्ध्य पर्वत हैं। इसलिये अश्वमेध कर्माङ्गभूत अश्व के यकृत और क्लोमा में हिमालय विन्ध्य पर्वत बुद्धि करनी चाहिये। क्योंकि कठिन और ऊंचे उठे हुए होने के कारण यकृत तथा क्लोमा पर्वत हैं। हृदय के नीचे दक्षिण भाग में जो मांस पिण्ड है उसे यकृत (LIVER) कहते हैं। क्योंकि लिखा है—**कालखण्डयकृती तु समे इमे** (अमर० कां० २ व० ६ श्लो० ६६) पेट में जो दाहिनी ओर बटिया हो उसका नाम काल खण्ड १ और यकृत २ है।।६६।। तथा हृदय के नीचे उत्तर भाग में जो मांस पिण्ड है उसे क्लोमा (PANCREAS) कहते हैं । अथवा **तिलकं क्लोम** (अमर० कां० २ व० ६ श्लो० ६५) शरीर के तिल का नाम तिलक १ और क्लोमन् २ है । ।।६५।। तथा अश्वमेधयज्ञ सम्बन्धी घोड़े के रोम ओषधियाँ हैं और चकार से केश वनस्पतियाँ हैं । इसलिये अश्वमेध कर्माङ्गभूत अश्व के रोम में ओषधि बुद्धि करनी चाहिये, क्योंकि सूक्ष्मत्व साम्य है। ओषधि और वनस्पति के विषय में लिखा है—**लोमभ्य ओषधिवनस्पतयः** (ऐत० उ० अ० १ खं० १ , श्रु० ४) रोमों से औषधि और वनस्पतियाँ उत्पन्न हुईं। ओषधिवनस्पतयो लोमानिभूत्वात्वचं प्राविशन् (ऐत०उ० अ०१ श्रु०४) ओषधि तथा वनस्पतियों के अभिमानी देवता रोएं होकर चमड़े में प्रवेश किये ।।४।। **ओषध्यः फलपाकान्ता बहुपुष्पफलोपगाः** (मनु० अ० १ श्लो० ४६) **अपुष्पाः फलवन्तो ये तेवनस्पतयः स्मृताः**।।४७।। बहुत फूल फल से युक्त और फल के पकने से नष्ट होनेवाले व्रीहि यव आदिक ओषधि हैं।।४६।। और जो फूल से रहित हों और फलवाले हों ऐसे गूलर, पीपल आदि को वनस्पति कहते हैं।।४७।। और अश्वमेध यज्ञसम्बन्धी अश्व की नाभि से ऊपर का भाग उदय होता हुआ सूर्य है। इसलिये अश्वमेध कर्माङ्गभूत अश्व के पूर्वार्ध भाग में उदय होता हुआ सूर्य बुद्धि करनी चाहिये। क्योंकि पूर्वत्व साम्य है। तथा अश्वमेध यज्ञसम्बन्धी घोड़े की कटि से नीचे का भाग अस्त होता हुआ सूर्य है। इसलिये अश्वमेध कर्माङ्गभूत अश्व के अपरार्ध भाग में अस्त होता हुआ सूर्य बुद्धि करनी चाहिये। क्योंकि अपरत्व साम्य है। और अश्वमेध यज्ञसम्बन्धी अश्व मुख खोलकर जो जमुहाई लेता है वह बिजली का चमकना है। इसलिये अश्वमेध कर्माङ्गभूत अश्व के मुख बाकर जमुहाई लेने में बिजली चमकने की बुद्धि करनी चाहिये। क्योंकि विद्योतन एवं मुख तथा मेघ के विदारण में समानता है। तथा अश्वमेध यज्ञसम्बन्धी अश्व जो शरीर हिलाता है वह मेघ का गर्जन है। इसलिये अश्वमेध कर्माङ्गभूत अश्व के शरीर विधूनन में मेघ गर्जन बुद्धि करनी चाहिये। क्योंकि दोनों में गर्जन शब्द होने से समानता

है। और अश्वमेध यज्ञसम्बन्धी अश्व जो मूत्र त्याग करता है वही वर्षा होना है। इसलिये अश्वमेध कर्माङ्गभूत अश्व के मूत्र त्याग में वृष्टि होना बुद्धि करनी चाहिये क्योंकि भिगोने में इन दोनों की समानता है। और अश्वमेध यज्ञसम्बन्धी अश्व का हिनहिनाना शब्द ही वाणी है। तात्पर्य यह है कि–यहाँ कोई कल्पना नहीं है॥१॥

अहर्वा अश्वं पुरस्तान्महिमाऽन्वजायत। तस्य पूर्वे समुद्रे योनिः। रात्रिरेनं पश्चान्महिमाऽन्वजायत। तस्यापरे समुद्रे योनिः। एतौ वै महिमानावश्वमभितः संबभूवतुः। हयो भूत्वा देवानवहद्वाजी गन्धर्वानर्वाऽसुरानश्वो मनुष्यान्। समुद्र एवास्य बन्धुः। समुद्रो योनिः ॥२॥

॥ इति प्रथमाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

अन्वयार्थ– (वै) निश्चय करके (अश्वम्) यज्ञार्ह पशु अश्व के (पुरस्तात्) आगे (अनु) पीछे से (महिमा) महिमा नाम के पात्र विशेष (अहः) दिन (अजायत) प्रकट हुआ (तस्य) उस ग्रह विशेष पात्र का (पूर्वे) पूर्व (समुद्रे) समुद्र (योनिः) कारण यानी आसादन स्थान है (एनम्) इस यज्ञार्ह अश्व के (पश्चात्) पीछे (अनु) तदनन्तर (महिमा) महिमा नाम का पात्र विशेष (रात्रिः) रात्रि (अजायत) प्रकट हुई (तस्य) उस ग्रह विशेष पात्र का (अपरे) पश्चिम (समुद्रे) समुद्र (योनिः) करण यानी आसादन स्थान है (वै) निश्चय करके (एतौ) ये दोनों अहोरात्र (महिमानौ) महिमा नाम के पात्र विशेष (अश्वम्) यज्ञार्ह अश्व के (अभितः) आगे और पीछे दोनों तरफ (संबभूवतुः) प्रतिष्ठित हुए (हयः) इसने हय जाति विशेष (भूत्वा) होकर (देवान्) इन्द्रादि देवताओं को (गन्धर्वान्) चित्ररथ आदि गन्धर्वों को वहन किया है तथा (अर्वा) अर्वा जाति विशेष होकर (असुरान्)प्रह्लाद आदिक असुरों को वहन किया है और (अश्वः) अश्व जाति विशेष होकर (मनुष्यान्) इक्ष्वाकु आदिक मनुष्यों को वहन किया है (अस्य) इस अश्व का (समुद्रः) समुद्र (एव) ही (बन्धुः) स्वजन है और (समुद्रः) सागर (योनिः) उत्पत्ति में कारण है ॥२॥

विशेषार्थ– अश्वमेध ब्राह्मण की द्वितीय कण्डिका में अश्वमेध सम्बन्धी महिमा संज्ञक ग्रहादि में अहरादि दृष्टि विधान किया गया है। अश्वमेध यज्ञसम्बन्धी घोड़े के आगे महिमा नाम के सोने का ग्रह यज्ञीय पात्र विशेष रखा जाता है। और घोड़े के पीछे महिमा नाम के चान्दी का एक यज्ञीय पात्र रखा जाता है। उन्हीं से सम्बन्ध रखनेवाली यह श्रुति है। अश्वमेध यज्ञसम्बन्धी घोड़े के आगे

निश्चय करके सोने का महिमा संज्ञक ग्रह-यज्ञीय पात्र दिन प्रादुर्भाव हुआ। इसलिये अश्वमेध कर्माङ्गभूत अश्व के आगे रखा हुआ सुवर्णमय महिमा संज्ञक यज्ञीय पात्र विशेष में दिन बुद्धि करनी चाहिये। क्योंकि दिन और सोने का पात्र दीप्ति में समान हैं। प्रकृत श्रुति में "पुरस्तात्" पद आगे का वाचक है क्योंकि लिखा है– **प्राच्यां पुरस्तात्प्रथमे पुरार्थेऽग्रत इत्यपि** (अमर॰ कां॰ ३ व॰ ३ श्लो॰ २४६) पूर्व दिशा में, प्रथम में, पूर्वकाल में तथा आगे में पुरस्तात् शब्द प्रयुक्त होता है ॥२४६॥ दिन के विषय में लिखा है– **घस्रो दिनाहनी वा तु क्लीबे दिवसवासरौ** (अमर॰ १ कां॰ १ व॰ ४ श्लो॰ २) घस्र १, दिन २, अहन् ३, दिवस ४ और वासर ५ ये दिन के नाम हैं॥२॥ उस महिमा संज्ञक सुवर्णमय यज्ञीयपात्र ग्रहासादन स्थान में पूर्व समुद्र बुद्धि करनी चाहिये । "पूर्वे समुद्रे" इन दोनों पदों में सप्तमी के एक बचन का प्रयोग है परन्तु अर्थ करने समय में वैदिक प्रक्रिया के अनुसार प्रथमा विभक्ति मानी गई है। क्योंकि लिखा है– **व्यत्ययेनावबोद्धव्या प्रथमार्थे च सप्तमी** यहाँ व्यत्यय से प्रथमा विभक्ति में सप्तमी विभक्ति जानना चाहिये। यहाँ "समुद्र" शब्द का अर्थ प्रसिद्ध जल समूहस्थान ही है क्योंकि लिखा है– **यथेमा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छन्ति** (प्रश्नोप॰ प्रश्न॰ ६ श्रु॰ ५) जिस प्रकार ये बहती हुई समुद्र की ओर जानेवाली गंगा आदि नदियाँ समुद्र को पाकर अदर्शन हो जाती हैं ॥५॥ **समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्** (गी॰ अ॰ २ श्लो॰ ७०) जैसे समुद्र में नदियों के जल समा जाते हैं ॥७०॥ **यथा नदीनां वहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति** (गी॰ अ॰ ११ श्लो॰ २८) जैसे नदियों के बहुत से जल प्रवाह समुद्र की ओर मुख किए दौड़े जाते हैं ॥२८॥ **समुद्रोऽब्धिरकूपारः पारावारः सरित्पतिः। उदन्वानुदधिः सिन्धुः सरस्वान्सागरोऽर्णवः** (अमर॰ कां॰ १ व॰ १० श्लो॰ १) **रत्नाकरो जलनिधिर्यादःपतिरपांपतिः** ॥२॥ समुद्र १, अब्धि २, अकूपार ३, पारावार ४, सरित्पति ५, उदन्वान् ६, उदधि ७, सिन्धु ८, सरस्वान् ९, सागर १०, अर्णव ११ ॥११॥ रत्नाकर १२, जलनिधि १३, यादःपतिः १४ और अपाम्पति १५ ये समुद्र के नाम हैं ॥२॥ **समुत्पद्य जलानि द्रवन्ति लयं गच्छन्त्यस्मिन्निति समुद्रः** यास्काचार्य ने "समुद्र" शब्द की अनेक ब्युत्पत्तियाँ दिखाई हैं । उत्पन्न होकर जल लय को प्राप्त हो जिसमें उसे समुद्र कहते हैं। और अश्वमेध यज्ञसम्बन्धी घोड़े के पीछे निश्चय करके चान्दी का महिमा संज्ञक ग्रह–यज्ञीयपात्र रात्रि प्रकट हुई। इसलिये अश्वमेध कर्माङ्गभूत अश्व के पीछे रखे हुए रजत के महिमा संज्ञक यज्ञीय पात्रविशेष में रात्रि बुद्धि करनी चाहिये । क्योंकि रात्रि और चान्दी का पात्र वर्ण में और निकृष्टता में समान हैं। प्रकृत श्रुति में "पश्चात्" पद पीछे का वाचक है क्योंकि लिखा है– **प्रतीच्यां चरमे पश्चात्**

(अमर० कां० ३ व० ३ श्लो० २४३) पश्चिम दिशा में, पिछले में पीछे में, पश्चात् पद प्रयुक्त होता है।।२४३।। रात्रि के विषय में लिखा है– अथ शर्वरी (अमर० कां० १ व० ४ श्लो० ३) **निशा निशीथिनी रात्रिस्त्रियामा क्षणदा क्षपा । विभावरी तमस्विन्यौ रजनी यामिनी तमी**।।४।। अनन्तर शर्वरी १।।३।। निशा २, निशीथिनी ३, रात्रि ४, त्रियामा ५, क्षणदा ६, क्षपा ७, विभावरी ८, तमस्विनी ९, रजनी १०, यामिनी ११ और तमी १२ ये रात्रि के नाम हैं ।।४।। उस महिमा संज्ञक रजतमय यज्ञीय पात्र का पश्चिम समुद्र आसादन स्थान यानी प्राप्ति स्थान है। इसलिये चान्दी के पात्र ग्रहासादन स्थान में पश्चिम समुद्र बुद्धि करनी चाहिये । "अपरे+समुद्रे" इन दोनों पदों में सप्तमी के एक वचन का प्रयोग है परन्तु अर्थ करने के समय में वैदिक प्रक्रिया के अनुसार प्रथमा विभक्ति का एक वचन माना गया है। ये दोनों दिन और रात्रि अश्वमेध यज्ञसम्बन्धी अश्व के आगे तथा पीछे सुवर्ण और चान्दी के महिमा संज्ञक पात्र विशेष प्रतिष्ठित हुए हैं। इस प्रकार यज्ञार्ह अश्व महत्त्व युक्त है। यह पुनरुक्ति अश्वमेध कर्माङ्गभूत अश्व की स्तुति के लिये है। इस प्रकार सर्वथा महिमाशाली अश्व की स्तुति करके पुनः **"हयो भूत्वा"** इत्यादि वाक्य से अश्व का ही वैभव प्रतिपादन किया जाता है। "हय" विशिष्ट गतिवाला अश्व की जाति विशेष है। अश्वमेध कर्माङ्गभूत अश्व ने हय जाति विशेष होकर इन्द्र आदिक देवताओं को वहन किया है और वाजी जाति विशेष होकर चित्ररथ आदिक गन्धर्वों को वहन किया है। गन्धर्व के विषय में लिखा है– **स्त्रीकामा वै गन्धर्वाः** (श्रुति) स्त्री की कामना करनेवाले निश्चय करके गन्धर्व होते हैं । **गन्धर्वाणां चित्ररथः** (गी० अ० १० श्लो० २६) **गन्धर्वाणां देवगायकानां मध्ये चित्ररथः अस्मि** (रामानुजभाष्य० २६) गन्धर्वों में यानी देवगायकों में चित्ररथ मैं हूँ।।२६।। तथा अर्वा जातिविशेष होकर प्रह्लाद आदि असुरों को वहन किया है और अश्व जाति विशेष होकर इक्ष्वाकु आदिक मनुष्यों को वहन किया है । हय १, वाजी २, अर्वा ३ और अश्व ४ ये चारो घोड़े की जाति है । अश्वमेध यज्ञसम्बन्धी इस अश्व का समुद्र ही बन्धु है । इसलिये समुद्र में बन्धु बुद्धि करनी चाहिये। बन्धु के विषय में लिखा है– **सगोत्रबान्धवज्ञातिबन्धुस्वस्वजनाःसमाः** (अमर० कां० २ व० ६ श्लो० ३४) सगोत्र १, बान्धव २, ज्ञाति २, बन्धु ४, स्व ५ और स्वजन ६ ये एक गोत्रवालों के नाम हैं ।।३४।। और समुद्र ही अश्व की उत्पति में कारण है । क्योंकि लिखा है– **अप्सु योनिर्वा अश्वः** (श्रुति) अथवा अश्व जल में योनिवाला है । क्योंकि उच्चैःश्रवा संज्ञक अश्व समुद्र से ही उत्पन्न हुआ है, यह श्रीमद्भागवत में लिखा हुआ है– **पीते गरे वृषाङ्केण प्रीतास्तेऽमरदानवाः। ममन्थुस्तरसा सिन्धुम्** (श्रीमद्भा० स्कं० ८ अ० ८ श्लो० १) **तत उच्चैःश्रवा नाम हयोऽभूच्चन्द्रपाण्डुरः**।।३।। शिव जी के

विष पान करने पर प्रसन्न वे देवता और असुर समुद्र को वेग से मथे।।१।। उसके बाद उच्चैःश्रवा नामक थोड़ा पीत मिश्रित चंद्रमा के समान शुक्ल घोड़ा उत्पन्न हुआ।।३।। **उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्** (गी० अ० १० श्लो० २९) समस्त घोड़ों में अमृत मन्थन के समय उत्पन्न उच्चैः श्रवा मुझको तू जान ।।२७।। इसके अनुसार प्रसिद्ध समुद्र ही अश्व की योनि है । इससे समुद्र को अश्व की उत्पत्ति में कारण समझ कर ध्यान करना चाहिये। यहाँ पर "बृहदारण्यकोपनिषद्" के प्रथम अध्याय का प्रथम अश्वमेध ब्राह्मण समाप्त हो गया ।।२।।

।। अथ द्वितीयं ब्राह्मणम् ।।

नैवेह किञ्चनाग्र आसीत्। मृत्युनैवेदमावृतमासीदशनायया। अशनाया हि मृत्युः। तन्मनोऽकुरुताऽऽत्मन्वी स्यामिति ।सोऽर्चन्नचरत् ।तस्यार्चत आपोऽजायन्त ।अर्चते वै मे कमभूदिति ।तदेवार्कस्यार्कत्वम् ।कं ह वा स्मै भवति य एवमेतदर्कस्यार्कत्वं वेद ।।१।।

अन्वयार्थ— (अग्रे) सृष्टि के पहले (इह) इस जगत् में (किञ्चन) कुछ भी परिदृश्यमान स्थूलावस्थापन्न वस्तु (न) नहीं (एव) निश्चय करके (आसीत्) थी (अशनायया) बुभुक्षा स्वरूप संजिहीर्षु (मृत्युना) मृत्युसंज्ञक अचित् शरीरवाले परब्रह्म नारायण से (एव) ही (इदम्) यह परिदृश्यमान स्थूलावस्थापन्न जगत् (आवृतम्) तिरोहित (आसीत्) था (हि) क्योंकि (अशनाया) बुभुक्षा (मृत्युः) मृत्यु है (तत्) उस तमः शरीरक परब्रह्म नारायण ने (आत्मन्वी) चेतनाचेतन शरीरी (स्याम्) मैं होऊँ (इति) ऐसा संकल्प करके (मनः) महत्तत्त्व को (अकुरुत) किया (सः) उस परमात्मा ने (अर्चन्) जगद् व्यापार लीला से स्वात्मा को प्रीणन करता हुआ (अचरत्) आचरण किया (अर्चतः) स्वात्माको प्रीणन के लिये प्रवृत (तस्य) उस परमात्मा से (आपः) जल (अजायन्त) उत्पन्न हुआ (वै) निश्चय करके (अर्चते) अर्चन प्रवृत (मे) मेरे लिये (कम्) जल (अभूत्) हुआ (इति) इस प्रकार वह परमात्मा माना (तत्) वह एतादृश मनन (एव) ही (अर्कस्य) अर्क शब्दित पर ब्रह्म नारायण का (अर्कत्वम्) अर्कत्व है (यः) जो विज्ञानी (एवम्) इस प्रकार (अर्कस्य) अर्क शब्द वाच्य परमात्मा के (एतत्) इस (अर्कत्वम्) अर्कत्व को (वेद) जानता है (अस्मै) विज्ञानी महात्मा के लिये (ह) सुप्रसिद्ध (कम्) सुख (वै) ही (भवति) होता है ।।१।।

विशेषार्थ— अश्वमेध कर्माङ्गभूत चित्याग्नि में और तदङ्गभूत संवत्सर काल में

ब्रह्म दृष्टि विधान करने की इच्छा से प्रथम अश्वमेध यज्ञसम्बन्धी अग्नि की उत्पत्ति का प्रतिपादन किया जाता है– सृष्टि के पहले इस संसार में कुछ भी परिदृश्यमान स्थूलावस्थापन्न स्थावर जंगम वस्तु निश्चय करके नहीं थी । बुभुक्षास्वरूप संजिहीर्षु मृत्युसंज्ञक अचित् शरीरवाले परब्रह्म नारायण से ही यह परिदृश्यमान स्थूलावस्थापन्न स्थावर जंगमात्मक संसार आच्छादित था । कारण वाक्य होने से इस श्रुति में "मृत्यु" शब्द मृत्यु–संज्ञक अचित् शरीरक परब्रह्म नारायण का वाचक है । क्योंकि लिखा है– **यस्य मृत्युःशरीरं यो मृत्युमन्तरे संचरन् यं मृत्युर्न वेद । स एष सर्वभूतान्तरात्मापहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः ।** (सुबालोप० खण्ड ७) जिसका मृत्यु शरीर है जो मृत्यु के भीतर रहता है जिसको मृत्यु नहीं जानती है वह इन सब जीवों की अन्तरात्मा पाप रहित दिव्यदेव एक नारायण हैं ।।७।। इस सुबालोपनिषद् की श्रुति में मृत्यु शब्द का तम में प्रयोग किया गया है । क्योंकि श्रुत्यर्थ को स्पष्ट कहने वाली मनुस्मृति में लिखा है– **आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् । अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः** (मनु० अ० १ श्लो० ५) यह जगत् तम में लीन था अतएव अप्रत्यक्ष और नहीं अनुमान करने योग्य तथा तर्क के अशक्य और शब्द से भी अगम्य तथा प्रसुप्त के समान सब स्वकार्याक्षम था ।।५।। **तम आसीत्तमसा गूढमग्रे प्रकेतम्** (यजु० आर० अष्ट० २ प्रपा० ८ अनुवा० ९) सृष्टि के पहले तमः शरीरवाले परब्रह्म नारायण थे उनसे ही स्थूलावस्थापन्न स्थान तिरोहित था ।।९।। अथवा मृत्यु शब्द यहाँ साक्षात् परब्रह्म नारायण का वाचक है क्योंकि लिखा है– **मृत्युःसर्वहरश्चाहम्** (गी० अ० १० श्लो० ३४) सबका हरण करनेवाली मृत्यु मैं हूँ ।।३४।। "अशनाया" शब्द **अशनायोदन्यधनाया बुभुक्षापिपासागर्धेषु** (पा० व्या० अ० ७ पा० ४ सू० ३४) इस सूत्र से बुभुक्षाअर्थ में होता है । अशनाया मृत्यु है सो बतलाया जाता हैं । बुभुक्षा ही मृत्यु है । क्योंकि जो कोई भोजन करना चाहता है वही भोजन की इच्छा होने के पीछे जीवों को मारता है । उसतमः शरीरक परब्रह्म नारायण ने चेतनाचेतन शरीरी मैं होऊँ इस प्रकार संकल्प करके अपने सत्य संकल्प से महत्तत्त्व को उत्पन्न किया । इस कण्डिका में "तत्" नारायण का वाचक है क्योंकि लिखा है– **अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते** (ऋग्वे० अष्टक० ७ अ० ३ व० ८ मण्ड० ९ अनु० ४ सू० ८४ मं० १) चक्र से अदग्धबाहुमूल अपरिपक्व जन उस परब्रह्म को नहीं प्राप्त करता है।।१।। यह श्रुति सामवेद (पूर्वार्चिक प्रपाठक० ६ द्वितीयार्ध० मं० १२) में और कृष्णयजुर्वेद (तैत्तिरीयारण्यक० प्रपाठक० १ अनुवाक० ११ मं० २) में भी है । इसमें "तत्" परब्रह्म वाचक है **तदेजति** (ईशोप० श्रु० ५) वह परब्रह्म नारायण काँपता है ।।५।। **तद्ध तद्वनं नाम** (केनो० खं० ४ श्रु० ६) वह परब्रह्म नारायण प्रसिद्ध है कि व्यापक होने से तत् और भजनीय होने से वन नाम वाला है ।।६।। **ओं तत्**

सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः (गी॰ अ॰ १७ श्लो॰ २३) ओम् तत् सत् यह तीन प्रकार का ब्रह्म का नाम कहा है।।२३।। **किं यत्तत्पदमनुत्तमम्** (विष्णु सहस्रना॰ श्लो॰ २१) किम् १, यत् २, तत् ३, पद ४ और अनुतम ५ ये परब्रह्म नारायण के नाम हैं ।।२१।। पूर्वोक्त श्रुति स्मृति इतिहास से सिद्ध है कि परब्रह्म का "तत्" नाम है । आत्मन् शब्द से **आत्मा अस्यास्त्यस्मिन्** इस व्युत्पत्ति में छान्दस विनि प्रत्यय होकर "आत्मन्वी" बनता है । यहाँ आत्मन् शब्द का शरीर अर्थ है क्योंकि लिखा है– **आत्मा यत्नो धृतिर्बुद्धिः स्वभावो ब्रह्म वर्ष्म च** (अमर॰ कां॰ ३ व॰ ३ श्लो॰ १०९) यत्न, धृति, बुद्धि, स्वभाव ब्रह्म और शरीर अर्थ में आत्मा शब्द का प्रयोग होता है ।।१०९।। इस श्रुति में "मनः" पद का अर्थ महत्तत्त्व है क्योंकि लिखा है– **मनो मतिर्महान् ब्रह्म** मन १, मति २, महान् ३, ब्रह्म ४ ये महत्तत्त्व के नाम हैं । उस परब्रह्म नारायण ने जगद्व्यापार लीला से अपनी आत्मा को प्रीणन करते हुए आचरण किया । स्वात्मा को प्रीणन करने के लिए प्रवृत्त उस परब्रह्म नारायण से जल उत्पन्न हुआ । क्योंकि लिखा है– **अथ पुनरेव नारायणः सोऽन्यत्कामो मनसाध्यायत । तस्य ध्यानान्तःस्थस्य ललाटात्स्वेदोऽपतत् ता इमाः प्रतता आपः** ।। (महोप॰ अ॰ १ श्रु॰ १) पश्चात् पुनः नारायण ने अन्य कामना से मन में ध्यान किया । उन अन्तःस्थ ध्यानी के ललाट से स्वेद गिरा वह पसीना फैल कर जल बन गया ।।१।। **अप एव ससर्जादौ** (मनु॰ अ॰ १ श्लो॰ ८) उस परमात्मा ने ब्रह्माण्ड की सृष्टि से पहले जल को बनाया ।।८।। निश्चय करके अर्चन प्रवृत्त मेरे लिये जल उत्पन्न हुआ है इस प्रकार के परब्रह्म नारायण ने समझा । वह एतादृश्यमनन ही अर्क शब्दित परब्रह्म नारायण का अर्कत्व है। क्योंकि लिखा है– **अर्को वाजसनः शृङ्गी** (विष्णु सहस्रना॰ श्लो॰ ९८) अर्क १, वाजसन २ और शृङ्गी ३ ये परब्रह्म नारायण के नाम हैं।।९८।। इस श्रुति में "क" शब्द का जल अर्थ है क्योंकि लिखा है– **मारुते वेधसि ब्रध्ने पुंसि कः कं शिरोम्बुनोः** (अमर॰ कां॰ ३ व॰ ३ श्लो॰ ५) वायु, ब्रह्मा और सूर्य में पुल्लिङ्ग शब्द का प्रयोग होता है तथा शिर और जल में नपुंसक क शब्द का प्रयोग होता हैं।।५।। आगे अर्क नाम की निरुक्ति ज्ञान का फल कहा जाता है कि– जो उपासक इस प्रकार अर्क शब्द वाच्य परब्रह्म नारायण के अर्कत्व के जानता है उस उपासक महात्मा के लिये सुप्रसिद्ध सुख निश्चय करके प्राप्त होता है । यहाँ "क" शब्द का अर्थ सुख है क्योंकि यास्काचार्य कहते हैं– **कः कमनो व क्रमणो वा सुखो वा** (निरुक्त॰ दैवतकाण्ड ४।२२) कमन, क्रमण, और सुख "क" का अर्थ है।।२२।। प्रकृत कण्डिका में **तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः** (यजुर्वे॰ अ॰ ३२ मं॰ १) निश्चय करके वह परब्रह्म नारायण ही अग्नि, सूर्य, वायु और चन्द्रमा है ।।१।। इस मंत्रानुसार "अर्क"

लिखा है– **यस्य ज्ञानमयं तपः** (मुं० १ खं० १ श्रु० १०) जिस परब्रह्म नारायण का ज्ञानमय तप है॥१०॥ अग्नि के विषय में लिखा है– **यस्याग्निः शरीरम्** (बृ० उ० अ० ३ ब्रा० ७ कं० ५) जिस परमात्मा का अग्नि शरीर है ॥५॥ **यस्य तेजः शरीरम्** (सुबालो० खं० ७) जिस नारायण का अग्नि शरीर है ॥७॥ **रूपस्पर्शवत्** (वैशेषिक० अ० २ आह्नि० १ सू० ३) अरुण रूपवाला और उष्ण स्पर्शवाला जो हो वही अग्नि है ॥३॥ **शब्दः स्पर्शश्च रूपञ्चतेजसोऽथ गुणास्त्रयः** (महाभा० वनप० उत्तर खं० अ० २११ श्लो० ७) शब्द १, स्पर्श २, और रूप ३ ये गुण अग्नि के हैं ॥७॥ प्रकृत श्रुति में अग्नि की उत्पत्ति का प्रतिपादन किया गया है ॥२॥

सत्रेधाऽऽत्मानं व्यकुरुत । आदित्यं तृतीयं वायुं तृतीयम् । स एष प्राणस्त्रेधा विहितः । तस्य प्राची दिक् शिरः । असौ चासौ चेर्मौ । अथास्य प्रतीची दिक्पुच्छम् । असौ चासौ च सक्थ्यौ । दक्षिणा चोदीची च पार्श्वे । द्यौः पृष्ठमन्तरिक्षमुदरमियमुरः । स एषोऽप्सु प्रतिष्ठितः । यत्र क्वचैति तदेव प्रतितिष्ठति य एवं विद्वान् ॥३॥

अन्वयार्थ– (सः) उत्पन्न हुए उस अग्नि ने (आत्मानम्) अपने को स्वयं ही (त्रेधा) तीन प्रकार से (व्यकुरुत) विभक्त किया (आदित्यम्) उसने आदित्य को (तृतीयम्) तीसरा भाग किया और (वायुम्) वायु को (तृतीयम्) तीसरा बनाया (त्रेधा) जो अग्नि, वायु आदित्य रूप से तीन प्रकार की (विहितः) बनायी गयी है । (सः) वह (एषः) यह (प्राणः) परमात्मा है (तस्य) उस उत्पन्न चित्याग्नि का (शिरः) शिर (प्राची) पूर्व (दिक्) दिशा है (च) और (ईर्मौ) दोनों भुजाएँ (असौ) यह ईशान कोण (च) और (असौ) यह आग्नेय कोण है (अथ) अनन्तर (अस्य) इस अग्निका (पुच्छम्) पुच्छ यानी जघन्य भाग (प्रतीची) पश्चिम (दिक्) दिशा है (च) और (सक्थ्यौ) इस अग्नि की दोनो जङ्घाएँ (असौ) यह वायव्यकोण (च) और (असौ) यह नैर्ऋत्य कोण है (च) और (पार्श्वे) इस अग्नि के दोनों पार्श्व भाग (दक्षिण) दक्षिण दिशा (च) और (उदीची) उत्तर दिशा है और (पृष्ठम्) अग्नि का पीठ (द्यौः) द्युलोक है और (उदरम्) पेट (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष लोक है तथा (उरः) हृदय (इयम्) यह पृथ्वी लोक है (सः) वह (एषः) यह अग्नि (अप्सु) जल में (प्रतिष्ठितः) प्रतिष्ठित है (यः) जो उपासक (एवम्) इस प्रकार (विद्वान्) अग्नितत्त्व को जानता है वह

लिखा है– **यस्य ज्ञानमयं तपः** (मुं० १ खं० १ श्रु० १०) जिस परब्रह्म नारायण का ज्ञानमय तप है॥१०॥ अग्नि के विषय में लिखा है– **यस्याग्निः शरीरम्** (बृ० उ० अ० ३ ब्रा० ७ कं० ५) जिस परमात्मा का अग्नि शरीर है ॥५॥ **यस्य तेजः शरीरम्** (सुबालो० खं० ७) जिस नारायण का अग्नि शरीर है ॥७॥ **रूपस्पर्शवत्** (वैशेषिक० अ० २ आह्नि० १ सू० ३) अरुण रूपवाला और उष्ण स्पर्शवाला जो हो वही अग्नि है ॥३॥ **शब्दः स्पर्शश्च रूपञ्चतेजसोऽथ गुणास्त्रयः** (महाभा० वनप० उत्तर खं० अ० २११ श्लो० ७) शब्द १, स्पर्श २, और रूप ३ ये गुण अग्नि के हैं ॥७॥ प्रकृत श्रुति में अग्नि की उत्पत्ति का प्रतिपादन किया गया है ॥२॥

सत्रेधाऽऽत्मानं व्यकुरुत । आदित्यं तृतीयं वायुं तृतीयम् । स एष प्राणस्त्रेधा विहितः । तस्य प्राची दिक् शिरः । असौ चासौ चेर्मौ । अथास्य प्रतीची दिक्पुच्छम् । असौ चासौ च सक्थ्यौ । दक्षिणा चोदीची च पार्श्वे । द्यौः पृष्ठमन्तरिक्षमुदरमियमुरः । स एषोऽप्सु प्रतिष्ठितः । यत्र क्वचैति तदेव प्रतितिष्ठति य एवं विद्वान् ॥३॥

अन्वयार्थ– (सः) उत्पन्न हुए उस अग्नि ने (आत्मानम्) अपने को स्वयं ही (त्रेधा) तीन प्रकार से (व्यकुरुत) विभक्त किया (आदित्यम्) उसने आदित्य को (तृतीयम्) तीसरा भाग किया और (वायुम्) वायु को (तृतीयम्) तीसरा बनाया (त्रेधा) जो अग्नि, वायु आदित्य रूप से तीन प्रकार की (विहितः) बनायी गयी है । (सः) वह (एषः) यह (प्राणः) परमात्मा है (तस्य) उस उत्पन्न चित्याग्नि का (शिरः) शिर (प्राची) पूर्व (दिक्) दिशा है (च) और (ईर्मौ) दोनों भुजाएँ (असौ) यह ईशान कोण (च) और (असौ) यह आग्नेय कोण है (अथ) अनन्तर (अस्य) इस अग्निका (पुच्छम्) पुच्छ यानी जघन्य भाग (प्रतीची) पश्चिम (दिक्) दिशा है (च) और (सक्थ्यौ) इस अग्नि की दोनो जङ्घाएँ (असौ) यह वायव्यकोण (च) और (असौ) यह नैर्ऋत्य कोण है (च) और (पार्श्वे) इस अग्नि के दोनों पार्श्व भाग (दक्षिण) दक्षिण दिशा (च) और (उदीची) उत्तर दिशा है और (पृष्ठम्) अग्नि का पीठ (द्यौः) द्युलोक है और (उदरम्) पेट (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष लोक है तथा (उरः) हृदय (इयम्) यह पृथ्वी लोक है (सः) वह (एषः) यह अग्नि (अप्सु) जल में (प्रतिष्ठितः) प्रतिष्ठित है (यः) जो उपासक (एवम्) इस प्रकार (विद्वान्) अग्नितत्त्व को जानता है वह

(यत्र) जहाँ (क्व) कहीं (च) भी (एति) जाता है (तद्) वहां (एव) ही (प्रतितिष्ठति) प्रतिष्ठित होता है ॥३॥

विशेषार्थ– अग्नि ब्राह्मण की तृतीय कण्डिका में अग्नि के अवयवों में प्राची दिगादिदृष्टि विधान किया जाता है– उत्पन्न हुई उस अग्नि ने अपने को स्वयं ही तीन भागों में विभक्त किया । कैसे विभाग किया सो आगे कहते हैं । उसने अग्नि और वायु की अपेक्षा आदित्य को तीसरा बनाया तथा अग्नि और आदित्य की अपेक्षा वायु को तीसरा बनाया । और वायु तथा आदित्य की अपेक्षा अग्नि को तृतीय बनाया । तीनों के मध्य में चित्याग्नि अंशी है और वायु तथा आदित्य अंश हैं । वायु के विषय में लिखा है– **यस्य वायुः शरीरम्** (बृ० उ० अ० ३ ब्रा० ७ कं० ७) (सुबालोप० खं० ७)जिस नारायण का वायु शरीर है ॥७॥ (स्पर्शवान्) (वैशेषि० अ० २ आह्नि० १ सू० ४) रूप न हो और स्पर्शवाला हो वही वायु है ॥४॥ **शब्दः स्पर्शश्च वायौ तु** (महाभा० वनप० अ० २११ श्लो० ७) शब्द और स्पर्श ये दो गुण वायु में कहे गये हैं ॥७॥ और आदित्य के विषय में लिखा है– **यस्यादित्यः शरीरम्** (बृ० उ० अ० ३ ब्रा० ७ कं० ९) जिस नारायण का आदित्य शरीर है ॥९॥ जो अग्नि वायु आदित्य रूप से तीन प्रकार का बनाया गया है वह यह प्राण शब्द वाच्य परब्रह्म नारायण हैं । यहाँ "प्राण" शब्द का अर्थ परमात्मा है क्योंकि लिखा है– **सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति । प्राणमभ्युज्जिहते ॥** (छान्दो० उ० प्र० १ खं० ११ श्रु० ५) निश्चय करके सब ये स्थावर जंगम प्राणी समूह प्राण यानी परमात्मा में ही भलीभाँति प्रवेश करते हैं यह बात लोक तथा वेद में प्रसिद्ध है कि परब्रह्म नारायण को लक्ष्य करके उत्पत्ति काल में सब प्राणी उत्पन्न होते हैं ॥५॥ **वैकुण्ठः पुरुषः प्राणः प्राणदः प्रणवः पृथुः** (विष्णुसहस्र० श्लो० ५७) वैकुण्ठ १, पुरुष २, प्राण ३, प्राणद ४, प्रभव ५ और पृथु ६ ये परब्रह्म नारायण के नाम हैं ॥५७॥ उस अश्वमेध यज्ञसम्बन्धी अग्नि का शिर पूर्व दिशा है । इसलिये अग्नि के शिर में पूर्वदिशा बुद्धि करनी चाहिये । क्योंकि विशिष्टिता में समान है । दिशा के विषय में लिखा है– **यस्य दिशः शरीरम्** (बृ० उ० अ० ३ ब्रा० ७ कं० १०) जिस नारायण का दिशा शरीर है ॥१०॥ **इत इदमिति यतस्तद् (दिश्यं लिङ्गम्)** (वैशेषि० अ० २ आह्नि० २ सू० १०) **आदित्यसंयोगाद्भूतपूर्वाद्भविष्यतो भूताच्च (प्राची)** (वै० अ० २ आ० २ सू० १४) तथा (दक्षिणा) **(प्रतीची) (उदीची) च** (वै० अ० २ आ० २ सू० १५) **एतेन दिगन्तरालानि व्याख्यातानि** (वै० अ० २ आ० २ सू० १६) यहाँ से यह है इस प्रकार के जो प्राच्यादिव्यवहार का हेतु उसको दिशा कहते हैं ॥१०॥ आदित्य के प्रथम संयोग से युक्त उदयाचल के जो सन्निहित हो उसको पूर्व दिशा कहते हैं अर्थात् भारत

में सूर्योदय जिस दिशा में होता है उसको पूर्व दिशा कहते हैं ।।१४।। सूर्योदयकाल में सूर्याभिमुख खड़ा होने से जिधर दक्षिण भुजा हो उसको दक्षिण दिशा कहते हैं और जिधर पीठ हो उसको पश्चिम दिशा कहते हैं तथा जिधर बाम भुजा हो उसको उत्तर दिशा कहते हैं ।।१५।। इससे कोणों की व्याख्या हो गयी अर्थात् उत्तर दिशा और पूर्व दिशा के मध्य को ईशानकोण कहते हैं और पूर्व दिशा तथा दक्षिण दिशा के मध्य को अग्निकोण कहते हैं और दक्षिण दिश तथा पश्चिम दिशा के मध्य को नैऋत्य कोण कहते हैं और पश्चिम दिशा तथा उत्तर दिशा के मध्य को वायव्यकोण कहते हैं ।।१६।। **दिशस्तुककुभः काष्ठा आशाश्च हरितश्च ताः** (अमर० कां० १ व० ३ श्लो० १) दिश् १, ककुभ् २, काष्ठा ३, आशा ४, और हरित् ५ ये दिशाओं के नाम हैं ।।१।। **प्राच्यवाचीप्रतीच्यस्ताः पूर्वदक्षिणपश्चिमाः** (अमर० कां० १ व० ३ श्लो०१) **उत्तरा दिगुदीची स्यात्** ।।२।। पूर्वदिशा का नाम प्राची है और दक्षिण दिशा का नाम अवाची है तथा पश्चिम दिशा का नाम प्रतीची है ।।१।। और उत्तरदिशा का नाम उदीची है ।।२।। और अश्वमेध सम्बन्धी अग्नि के दोनों बाहु ईशानकोण और आग्नेयकोण है । इसलिये अग्नि की दोनों भुजाओं में ईशानी और आग्नेयी विदिशा बुद्धि करनी चाहिये । गत्यर्थक "ईर्" धातु से "ईर्म" शब्द सिद्ध होता है । यहाँ "ईर्म" भुजावाचक है। तथा इस अश्वमेध यज्ञ सम्बन्धी अग्नि के पुच्छ–निम्नभाग पश्चिम दिशा है । इसलिये अग्नि के जघन्यभाग में पश्चिमदिशा बुद्धि करनी चाहिये । क्योंकि पूर्व की ओर मुखवाला होने से पश्चिम दिशा से पुच्छ का सम्बन्ध है । और अश्वमेध सम्बन्धी अग्नि के दोनो ऊरू वायव्य और नैऋत्यकोण हैं इसलिए अग्नि की दोनों जंघाओं में वायव्य और नैऋत्य कोण बुद्धि करनी चाहिये। सक्थि के विषय में लिखा है । **सक्थि क्लीबे पुमानूरुः** (अमर० कां० २ व० ६ श्लो० ७३) सक्थि १, ऊरु २ ये निरोह के नाम हैं ।।७३।। और इस चित्याग्नि के दोनों पार्श्वभाग दक्षिण और उत्तर दिशाएँ हैं । इसलिए आग के दोनों पार्श्व भाग में दक्षिण और उत्तर दिशा बुद्धि करनी चाहिए। क्योंकि इन दोनो दिशाओं से सम्बन्ध होने से पार्श्वोंकी समानता है। पार्श्व के विषय में लिखा है– "**बाहूमूले उभेकक्षौ पार्श्वमस्त्री तयोरधः** (अमर कां० २ व० ६ श्लो० ७९) बगलों का नाम कक्ष है और बगल के नीचे का नाम पार्श्व है । ।।७९।। और अश्वमेध यज्ञ सम्बन्धी अग्नि का पृष्ठ द्युलोक है । इसलिये अग्नि के पृष्ठ भाग में द्युलोक बुद्धि करनी चाहिये। पृष्ठ के विषय में लिखा है– **पृष्ठं तु चरमं तनोः** (अमर० कां० २ व० ६ श्लो० ७८) शरीर के चरमभाग को पीठ कहते हैं ।।७८।। और चित्याग्नि का पेट अन्तरिक्ष लोक है। इसलिये अग्नि के उदर में अन्तरिक्ष लोक बुद्धि करनी चाहिये । उदर के विषय में लिखा है– **पिचण्डकुक्षी जठरोदरं**

तुन्दम् (अमर० कां० २ व० ६ श्लो० ७७) पिचण्ड १, कुक्षि २, जठर ३, उदर ४ और तुन्द ५ ये पेट के नाम हैं।।७७।। और अश्वमेध यज्ञसम्बन्धी अग्नि का वक्षःस्थल यह पृथ्वी लोक है । इसलिए चित्याग्नि के हृदय में भूलोक बुद्धि करनी चाहिये । क्योंकि अधोभाग में दोनों का साम्य है । उरःस्थल के विषय में लिखा है– **उरो वत्सं च वक्षश्च** (अमर० कां० २ व० ६ श्लो० ७८) उरस् १, वत्स २ और वक्षस् ३ ये हृदय के नाम हैं ।।७८।। वह पूर्वोक्त यह चित्याग्नि जल में प्रतिष्ठित है । और अन्यत्र भी लिखा है– **एवमिमे लोका अप्स्वन्तः** (श्रुति) इस प्रकार ये लोक जल के भीतर हैं । आगे इस उपासना का फल कहा जाता है– जो उपासक इस प्रकार जल में स्थित अग्नि तत्व को जानता है वह महात्मा जिस किसी देश में जाता है तो वहाँ ही अर्थात् उसी स्थान पर प्रतिष्ठा प्राप्त करता है।।३।।

सोऽकामयत द्वितीयो म आत्मा जायतेति स मनसा वाचं मिथुनं समभवदशनाया मृत्युः। तद्यद्रेत आसीत्स संवत्सरोऽभवत्। न ह पुरा ततः संवत्सर आस । तमेतावन्तं कालमविभर्यावान्संवत्सरः । तमेतावतः कालस्य परस्ताद-सृजत । तं जातमभिव्याददात् । स भाणमकरोत् । सैव वागभवत्।।४।।

अन्वयार्थ– (सः) उस पूर्वोक्त मृत्युनामधारी परमात्मा ने (अकामयत) कामना की कि (मे) मेरा (द्वितीयः) पूर्वसृष्ट अग्निरूप की अपेक्षा दूसरा (आत्मा) शरीर (जायेत) उत्पन्न होवे (इति) इस प्रकार संकल्प कर (सः) उस (अशनाया) बुभुक्षा स्वरूप संजिहीर्षु (मृत्युः) मृत्यु संज्ञक परब्रह्म नारायण ने स्रक्ष्यमाणप्रपञ्च परिज्ञान के लिये (वाचम्) त्रयीलक्षण वाणी को (मनसा) मनसे (मिथुनम्) द्वन्द्वभाव (समभवत्) संभावना किया (तत्) उस मन से त्रयीपर्यालोचन लक्षण संभोग में (यत्) जो (रेतः) बीज कण (आसीत्) हुआ (सः) वही (संवत्सरः) संवत्सर लक्षण प्रजापति (अभवत्) द्वितीय आत्मा हुआ (ह) यह बात सुप्रसिद्ध है कि (ततः) इदम् इत्थं कर्तव्य के निश्चय रूप रेतः शब्दित इस कारण से (पुरा) प्रथम (संवत्सरः) संवत्सर रूप आत्मा (न) नहीं (आस) थी (यावान्) जितने काल से (तम्) उसको (अबिभः) रेतः शाब्दित कारणकार से धारण पोषण किया (एतावतः) इतने (कालस्य) काल के अर्थात् बारह महीना पूर्ण होने के (पश्चात्) पीछे (तम्) उस संवत्सररूप द्वितीय आत्मा को (असृजत) उत्पन्न किया (जातम्) उत्पन्न हुए (तम्) उस संवत्सर रूप

बालक को (अभि) अभिमुख करके (व्याददात्) परब्रह्म नारायण ने विशेष रूप से पुत्र करके ग्रहण किया (सः) वह संवत्सररूप द्वितीय आत्मा (भाणम्) बाल स्वभाव के कारण शब्द को (अकरोत्) किया (सा) वही शब्द (एव) निश्चय करके (वाक्) भूः आदिक व्याहृति रूप वाणी (अभवत्) हो गयी ॥४॥

विशेषार्थ– अश्वमेधाङ्गभूत चित्याग्नि की उत्पत्ति का प्रकार वर्णन करके अब संवत्सर और वाणी की उत्पत्ति का प्रतिपादन किया जाता है– उस पूर्वोक्त मृत्यु नामधारी परब्रह्म नारायण ने कामना की । क्या कामना की–वह कहा जाता है । मेरा पूर्व सृष्ट अग्नि रूप की अपेक्षा दूसरा शरीर उत्पन्न होवे । मृत्यु परब्रह्म नारायण हैं क्योंकि लिखा है– **मृत्युः सर्वहरश्चाहम्** (गी० अ० १ श्लो० ३४) सबका हरण करने वाला मृत्यु मैं हूँ॥३४॥ मैं द्वितीय शरीर धारी होऊँ इस प्रकार संकल्प करके बुभुक्षा स्वरूप संजिहीर्षु मृत्युसंज्ञक परब्रह्म नारायण ने स्रक्ष्यमाण प्रपञ्चविज्ञान के लिये वेदत्रयीरूपा वाणी को मन से द्वन्द्वभाव करके संयोजित किया । अर्थात् मन के द्वारा वेदत्रयी कीपर्यालोचना की क्योंकि यह लिखा है–

सर्वेषां तु सनामानि कर्माणि च पृथक् पृथक् ।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ॥ (मनु० अ० १ श्लो० २१)

परमात्मा ने सृष्टि के आदि में सबका नाम और कर्म तथा संस्था को अलग वेद के शब्दों से ही जानकर अलग अलग निर्माण किया ॥२१॥ मिथुन के विषय में लिखा है– **स्त्रीपुंसौ मिथुनं द्वन्द्वम्** (अमर० कां० २ व० ५ श्लो० ३८) स्त्रीपुंस १, मिथुन २ और द्वन्द्व ३ ये स्त्री पुरुष के जोड़े का नाम हैं ॥३८॥ मन के द्वारा त्रयी पर्यालोचन लक्षण संभोग में जो रेत बीज कारण उत्पन्न अर्थात् यह इस प्रकार करने योग्य है ऐसा निश्चयात्मक हुआ वही संवत्सर लक्षण प्रजापति द्वितीय आत्मा उत्पन्न हुआ । बारह नाम का संवत्सर यानी वर्ष होता है । यह बात अत्यन्त प्रसिद्ध है कि– यह इस प्रकार करने योग्य है ऐसा निश्चायात्मक रेतः शब्दित कारण से पहले तुरन्त ही संवत्सररूप आत्मा नहीं हुआ । क्योंकि बारह मास परिमाणवाला संवत्सर होता है । संवत्सर के विषय में लिखा है– **संवत्सरो वत्सरोऽब्दो हायनोऽस्त्री शरत्समाः** (अमर० कां० १ व० ४ श्लो० २०) संवत्सर १, वत्सर २, अब्द ३, हायन ४, शरद् ५ और समा ६ ये वर्ष के नाम हैं ॥२०॥ **द्वौ द्वौ मार्गादिमासौ स्यादृतुस्तैरयनं त्रिभिः । अयने द्वे गतिरुदग्दक्षिणार्कस्य वत्सरः** (अमर० कां० १ व० ४ श्लो० १३) मार्गशीर्षादि दो दो मासों का नाम ऋतु होता है और तीन ऋतुओं का नाम अयन होता है तथा उत्तरायण और दक्षिणायन ये दो अयनों के भेद हैं और दो अयनों का नाम

वत्सर है ।।१३।। उस संवत्सर को जितना संवत्सर का समय होता है उतने समय तक अर्थात् बारह मास पर्यन्त रेतः शब्दित कारणकार से परब्रह्म नारायण ने धारण पोषण किया । बारह मास पूर्ण होने के अनन्तर उस संवत्सररूप द्वितीय आत्मा को परब्रह्म नारायण ने उत्पन्न किया । **संवत्सरो वै प्रजापतिः** (श्रुति) संवत्सर ही प्रजापति यानी ब्रह्मा है। ऐसा श्रुति कहती है। उस उत्पन्न संवत्सररूप कुमार को अभिमुख करके परब्रह्म नारायण ने पुत्र मानकर विशेषरूप से ग्रहण किया । उस संवत्सररूप द्वितीय शरीरधारी कुमार ने बाल स्वभाव के कारण स्वाभाविक शब्द किया । वही कुमार का शब्द "भूः" आदिक व्याहृतिरूप वाणी हो गया। महोपनिषद् में लिखा है– **एको ह वै नारायण आसीन्न ब्रह्मा नेशानः । अथ पुनरेव नारायणः सोऽन्यत्कामो मनसाध्यायत । तस्य ध्यानान्तःस्थस्य ललाटात्स्वेदोऽपतत् । ता इमाः प्रतता आपः । ततस्तेजो हिरण्मयमण्डम् । तत्र ब्रह्मा चतुर्मुखोऽजायत । सोऽध्यायत । पूर्वाभिमुखो भूत्वा भूरिति व्याहृतिर्गायत्रं छन्द ऋग्वेदोऽग्निर्देवता । पश्चिमाभिमुखो भूत्वा भुवरिति व्याहृतिस्त्रैष्टुभं छन्दो यजुर्वेदो वायुर्देवता । उत्तराभिमुखो भूत्वा स्वरिति व्याहृतिर्जागतं छन्दः सामवेदः सूर्यो देवता । दक्षिणाभिमुखो भूत्वा महरिति व्याहृतिरानुष्टुभं छन्दोऽथर्ववेदः सोमो देवता ॥** (महोप० अ० १) यह प्रसिद्ध है कि पहले एक नारायण ही थे न ब्रह्मा थे न रुद्र थे । पश्चात् पुनः उन प्रसिद्ध नारायण ने अन्य कामना से मन में ध्यान किया । उनं अन्तःस्थ ध्यानी के ललाट से स्वेद गिरा वह पसीना फैलकर जल बन गया । उस जल से हिरण्मय तेज के रूप में अण्ड उत्पन्न हुआ । उससे चतुर्मुख ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई । उन्होंने ध्यान किया। पूर्व दिशा की ओर मुख करके भूः व्याहृति, गायत्री छन्द, ऋग्वेद एवं अग्नि देवता का ध्यान किया। पश्चिम की ओर मुख करके भुवः व्याहृति, त्रिष्टुप् छन्द, यजुर्वेद एवं वायु देवता का ध्यान किया। उत्तर की ओर मुख करके स्वः व्याहृति जगती छन्द सामवेद एवं सूर्यदेवता का ध्यान किया । दक्षिण की ओर मुह करके महः व्याहृति, अनष्टुप् छन्द, अथर्ववेद तथा सोम देवता का ध्यान किया ।।१।। प्रकृत चतुर्थ कण्डिका में संवत्सर से "भूः" आदिक व्याहृतियों की उत्पत्ति का स्पष्ट उपासना के लिये प्रतिपादन किया गया है।।४।।

स ऐक्षत । यदि वा इममभिमंस्ये कनीयोऽन्नं करिष्य इति । स तया वाचा तेनात्मनेदं सर्वमसृजत यदिदं किं च । ऋचो यजूँषि सामानि च्छन्दांसि यज्ञान्प्रजाः पशून् । स यद्यदेवासृजत तत्तदत्तुमध्रियत । सर्वं वा अत्तीति

तददितेरदितित्वम् । सर्वस्यैतस्यात्ता भवति । सर्वमस्यान्नं भवति । य एवमेतददितेरदितित्वं वेद ॥५॥

अन्वयार्थ– (सः) उस मृत्युसंज्ञक परमात्मा ने (ऐक्षत) विचार किया (वै) निश्चय करके (यदि) यदि (इमम्) इस संवत्सर नाम के पुत्र को उत्पन्न किया (अभिमंस्ये) मैं अपने को कृतकृत्य मानलूँ तो (अन्नम्) अन्न (कनीयः) बहुत थोड़ा (करिष्ये) मैं करूँगा (इति) इस प्रकार विचार कर (सः) उस मृत्यु वाच्य परमेश्वर ने (तया) उस संवत्सरात्मा से निष्पादित (वाचा) भूः आदिक व्याहतिरूप वाणी से और (तेन) उस संवत्सररूप (आत्मना) द्वितीय आत्मा के द्वारा (यत्) जो (किम्) कुछ (च) भी (इदम्) यह स्थावर जंगम जगत् है (इदम्) इस (सर्वम्) सारे संसार को (असृजत) उत्पन्न किया (ऋचः) ऋग्वेद को (यजूंषि) यजुर्वेद को (सामानि) समावेद को (छन्दांसि) गायत्री आदि छन्दों को तथा (यज्ञान्) राजसूय आदि यज्ञों को (प्रजाः) मनुष्यों को और (पशून्) ग्राम्य वन्य पशुओं को उत्पन्न किया (सः) उस मृत्यु नामधारी परमात्मा ने (यत्) जिसको (यत्) जिसको (एव) निश्चय करके (असृजत) उत्पन्न किया (तत्) उसको (तत्) उसको (अत्तुम्) संहार करने के लिये (अध्रियत) विचार किया वह मृत्युसंज्ञक परमात्मा (वै) निश्चय करके (सर्वम्) सबको (अत्ति) खाता है यानी संहार करता है (इति) इस कारण से अदिति कहलाता है (तत्) वही (अदितेः) अदिति का (अदितित्वम्) अदितित्व है (यः) जो कोई उपासक (एवम्) इस प्रकार (एतत्) इस (अदितेः) अदिति के (अदितित्वम्) अदितित्व को (वेद) जानता है वह (एतस्य) इन (सर्वस्य) सब वस्तुओं का (अत्ता) भोक्ता (भवति) होता है और (अस्य) इस उपासक पुरुष का (सर्वम्) सब ही(अन्नम्) अन्न यानी अनुभाव्य (भवति) हो जात है।।५।।

विशेषार्थ– संजिहीर्षु पूर्वोक्त मृत्युनामधारी उस परब्रह्म नारायण ने ऐसा विचार किया कि–यदि संवत्सर नाम के कुमार को उत्पन्न कर मैं अपने को कृतकृत्य भलीभाँति समझ लूँ तो निश्चय करके मैं बहुत थोड़ा ही अन्न भोजन करूँगा । अन्न के विषय में लिखा है– **अद्यते अत्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यत इति** (तैत्ति० उ० वल्ली० २ अनुवा० २ श्रु० १) वह जीवन दशा में प्राणियों करके भक्षण किया जाता है और सब प्राणियों को स्वयं भी नाश दशा में खाता है उससे अन्न इस नाम से कहा जाता है ॥१॥ इस प्रकार विचार कर संवत्सर नाम के कुमार को मृत्यु ने संहार नहीं किया । तब क्या किया सो आगे कहा जाता है । उस मृत्युसंज्ञक परब्रह्म नारायण ने उस संवत्सरात्मा से निष्पादित भूः आदिक व्याहतिरूप प्रशस्त वाणी से और उस

संवत्सररूप द्वितीय आत्मा के द्वारा यह जो कुछ संसार है उस स्थावर तथा जंगम जगत् की रचना की। क्योंकि लिखा है-- **चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक् । भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात्प्रसिध्यति** (मनु० अ० १२ श्लो० ९७) चारवर्ण तीन लोक और चार आश्रम तथा भूत वर्तमान भविष्य वस्तु पृथक् पृथक् वेद से ही प्रसिद्ध होता है ।।९७।। विशेष वस्तुओं का नाम कहा जाता है । सबसे पहले द्विजातियों के लिये ऋग्वेद को उत्पन्न किया । ऋग्वेद के विषय में लिखा है— **तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था** (पूर्वमी० अ० २ पा० १ सू ३५) जिसमें अर्थवश से पाद की व्यवस्था होती है उसको ऋग्वेद कहते हैं ।।३५।। **एकविंशतिशाखायामृग्वेदः परिकीर्तितः** (सीतोप०) इक्कीस शाखाओं में ऋग्वेद कहा गया है । **ऋग्वेदस्य तु शाखाः स्युरेकविंशतिसंख्यकाः** (मुक्तिको० अ० १ श्रु० १२) ऋग्वेद की ईक्कीस शाखाएँ हैं।।१२।। **एकविंशतिभेदेन ऋग्वेदं कृतवान् पुरा** (कूर्मपु० अ० ४९ श्लो० ५१) सृष्टि के आदि में ईक्कीस शाखा के भेद से ऋग्वेद को किया ।।५१।। **एकविंशतिधा बह्वृच्यः** (महाभाष्य० अ० १ पा० १ आह्नि० १) ईक्कीस शाखाएँ ऋग्वेद की हैं ।।१।। तदनन्तर यजुर्वेद को उत्पन्न किया । यजुर्वेद के विषय में लिखा है— **शेषे यजुः शब्दः** (पूर्वमी० अ० २ पा० १ सू० ३७) शेष में यजुर्वेद कहा जाता है ।।३७।। **शतं च नव शाखासु यजुषामेव जन्मानाम्** (सीतोप०) एक सौ नौ शाखाएँ यजुर्वेद की हैं । **नवाधिकशतं शाखा यजुषो मारुतात्मज** (मुक्तिको० अ० १ श्रु० १२) हे पवन पुत्र महावीर यजुर्वेद की एक सौ नौ शाखाएँ हैं ।।१२।। **शाखानां तु शतेनाथ यजुर्वेदमथाकरोत्** (कूर्मपु० अ० ४९ श्लो० ५१) सौ शाखा के भेद से यजुर्वेद को किया ।।४९।। **एकशतमध्वर्युशाखा** (महाभाष्य० अ० १ पा० १ आह्नि० १) एक सौ एक शाखाएँ यजुर्वेद की हैं।।१।। और श्रीमद्भागवत में लिखा है— **वैशम्पायनशिष्या वै चरकाध्वर्यवोऽभवन् । यच्चेरुर्ब्रह्महत्यांहः क्षपणं स्वगुरोर्व्रतम्** (श्रीमद्भा० पु० स्कं० १२ अ० ६ श्लो० ६१) **याज्ञवल्क्यश्च तच्छिष्य अहाहो भगवन् कियत् । चरितेनाल्पसाराणां चरिष्येऽहं सुदुश्चरम् ।।६२।। इत्युक्तो गुरुरप्याह कुपितो याह्यलं त्वया । विप्रावमन्त्रा शिष्येण मदधीतं त्यजाश्विति ।।६३।। देवरातसुतः सोऽपिच्छर्दित्वा यजुषां गणम् । ततो गतोऽथ मुनयो ददृशुस्तान् यजुर्गणान् ।।६४।। यजूंषि तित्तिरा भूत्वा तल्लोलुपतयाऽऽददुः । तैत्तिरीया इति यजुः शाखा आसन् सुपेशलाः ।।६५।। याज्ञवल्क्यस्ततो ब्रह्मन् छन्दांस्यधिगवेषयन् । गुरोरविद्यमानानि सूपतस्थेऽर्कमीश्वरम् ।।६६।।** निश्चय करके वैशम्पायन महर्षि के शिष्य चरक अध्वर्यु आदि ऋषि थे जो लोग अपने गुरुकी ब्रह्महत्या के दोष दूर करने के लिये कठिन व्रतानुष्ठान किये ।।६१।। और वैशम्पायन के ही शिष्य याज्ञवल्क्य ने अपने गुरुदेव से कहा कि हे भगवन् आश्चर्य की बात

है कि अल्प शक्तिवाले ये हमारे भ्रातृगण कठिन व्रत कर रहे हैं, अतः श्रीमान् की आज्ञा हो तो उनलोगों के बदले में मैं अकेला ही अत्यन्त कठिन व्रतानुष्ठान करूँ।।६२।। इस बात को सुनकर क्रोधित होकर गुरु वैशम्पायन ने कहा कि यहाँ से चला जा विप्रों का अपमान करनेवाला शिष्य तुझसे कोई प्रयोजन नहीं है और मुझसे अध्ययन किए हुए वेद को जल्दी से तुरन्त परित्याग कर दो।।६३।। इस बात को सुनकर देवरात महर्षि के पुत्र उस याज्ञवल्क्य ने यजुर्वेद को वमन कर दिया और वहां से चला गया तदनन्तर मुनियों ने उस यजुर्गण को देखा ।।६४।। उस यजुर्गण के लोभ से मुनियों ने तित्तिर बनकर यजुर्वेद को ग्रहण किया इस कारण से अत्यन्त मनोहर तैत्तिरीय शाखा यजुर्वेद की हुई ।।६५।। हे ब्रह्मन् उसके बाद याज्ञवल्क्य ऋषि ने गुरु के पास अविद्यमान छन्दों को अन्वेषण करते हुए सूर्य नारायण भगवान् का उपस्थान किया ।।६६।। **एवं स्तुतः स भगवान् वाजिरूपधरो हरिः । यजूंष्ययातयामानि मुनयेऽदात् प्रसादितः** (श्रीमद्भा॰ स्कं॰ १२ अ॰ ६ श्लो॰ ७३) **यजुर्भिरकरोच्छाखा दश पञ्चशतैर्विभुः । जगृहुर्वाजसन्यस्ताः काण्वमाध्यन्दिनादयः** ।।७४।। इस प्रकार की स्तुति से प्रसन्न सूर्य नारायण भगवान् ने अश्व का रूप धारण करके शुद्ध अपरिपक्व यजुर्वेद को याज्ञवल्क्य मुनि के लिये दिया।।७३।। यजुर्वेद की एक सौ पन्द्रह शाखाएं विभु वेदने की उनमें से वाजसनेयी शाखा को काण्व और माध्यन्दिन आदिक को ग्रहण किया ।।७४।। और अन्यत्र लिखा है–

यजुर्वेदमहाकल्पतरोरेकोत्तरं शतम् ।

शाखास्तत्र शिखाकारा दशपञ्चाथ शुक्लगाः ॥

तत्रापि मुख्यं विज्ञेयं माध्यन्दिनी यजुः ॥ (बृहन्नारदी॰)

यजुर्वेद महाकल्पतरु की एक सौ एक शाखाएँ हैं उनमें शुक्ल यजुर्वेद के शिखाकर "जबाल १, बौधेय २, काण्व ३, माध्यन्दिन ४, शापेय ५, स्थापायनीय ६, कपोल ७, पाण्डरवत्स ८, आवटिक ९, परमावटिक, १०, पाराशर ११, वैणेय १२, वैधेय १३, वैनतेय १४ और वैजवस् १५" ये पन्द्रह शाखाएँ हैं इनमें से भी मुख्य माध्यन्दिनी शाखा यजुर्वेद की है । यह बृहन्नारदीय में स्पष्ट लिखा है । और सामवेद को उत्पन्न किया । सामवेद के विषय में लिखा है– **वेदानां सामवेदोऽस्मि** (भगवद्गी॰ अ॰ १० श्लो॰ २२) चारो वेदों में श्रेष्ठ सामवेद मैं हूँ ।।२२।। **गीतिषु सामाख्या साम्नः सहस्रशाखाः स्युः (सीतोप॰) सामवेद की हजार शाखाएँ हैं । सहस्रसंख्यया जाताः शाखाः साम्नः परन्तप** (मुक्तिकोप॰ अ॰ १ श्रु॰ १३) हे शत्रुसूदन सामवेद से सहस्र शाखाएँ निकली हैं ।।१३।। **सामवेदं सहस्रेण शाखानां च विभेदतः** (कूर्मपु॰

अ० ४९ श्लो० ५२) शाखाओं के भेद से सहस्र शाखावाले सामवेद को किया ।।५२।। **सहस्त्रवर्त्मा सामवेदः** (महाभाष्य० अ० १ पा० १ आह्नि० १) हजार शाखाएँ सामवेद की हैं ।।१।। तथा छन्द को प्रकट किया अर्थात् अथर्ववेद को तथा ब्राह्मणभाग को और गायत्री आदिक छन्द को उत्पन्न किया । क्योंकि **"छन्दश्च छन्दश्च छन्दश्च"** इस विग्रह में **चार्थेद्वन्द्वः** (पा० व्या० अ० २ सू० २९) इस सूत्र से द्वन्द्व समास होने पर **सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ** (पा० १।२।६४) इस सूत्र से एक शेष तथा **जश्शसोः शिः** (पा० ७।१।२०) इससे शि और शि **सर्वनामस्थानम्** (पा० १।१।४२) इस सूत्र से सर्वनाम स्थान संज्ञा तथा **नपुंसकस्य झलचः** (पा० १।१।७२) इससे **नुम्** और **सान्तमहत संयोगस्य** (पा० ६।४।१०) इस सूत्र से दीर्घ होकर निष्पन्न "छन्दांसि" पद होता है उसमें पहले "छन्द" का अर्थ अथर्ववेद है तथा दूसरे का अर्थ ब्राह्मणभागवेद है और तीसरे का अर्थ गायत्र्यादिक है यद्यपि "छन्दांसि" यहाँ पर एक ही शेष है तौ भी ।। **शिष्यमाणः लुप्यमानार्थाभिधायी** इस न्याय से पूर्वोक्त तीनों अर्थ एक ही से ज्ञात होता है । छन्द के विषय में लिखा है– **गायत्री प्रमुखं छन्दः** (अमर० कां० २ व० ७ श्लो० २२) गायत्री उष्णिक् अनुष्टुप् इत्यादि का नाम छन्दस् है ।।२२।। **गायत्री छन्दसामहम्** (गी० अ० १० श्लो० ३४) छन्दों में गायत्री मैं हूँ ।।३५।। **छन्दः पद्येऽभिलाषे च** (अमर० कां० ३ व० ३ श्लो० २३२) पद्य में तथा अभिलाषा में और वेद में छन्दस् शब्द का प्रयोग होता है ।।२३२।। **कार्यसिद्धेन चतुर्धा परिकीर्तिता । ऋचो यजूंषि सामानि अथर्वाङ्गिरसस्तथा** (सीतोप०) कार्य के सिद्ध होने से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद ये चार प्रकार के वेद कहे गये हैं।। **ऋग्वेदादिविभागेन वेदाश्चत्वार ईरिताः** (मुक्तिको० अ० १ श्रु० ११) ऋक्, यजुःसाम, और अथर्व के विभाग से वेद चार ठो कहा गया है।।११।। **चत्वारो वेदाः** (महाभाष्य० अ० १ पा० १ आह्नि १) चार वेद हैं ।।११।। अथर्ववेद के विषय में लिखा है– **निगदो वा चतुर्थं स्याद्धर्मविशेषात्** (पूर्वमी० अ० २ पा० १ सू० ३८) विशेष धर्म होने से निगद ही चतुर्थ अथर्ववेद है अर्थात् निगद को अथर्ववेद कहते हैं ।।३८।। **पञ्चशाखा अथर्वणः** (सीतोप०) अथर्ववेद की पाँच शाखाएँ हैं । **अथर्वणस्य शाखाः स्युः पञ्चाशद्भेदतो हरे** (मुक्तिको० अ० १ श्रु० १३) हे मारुते अथर्ववेद की पचास शाखाएँ हैं ।।१३।। **आथर्वणमथो वेदं विभेद नवकेन तु** (कूर्मपु० अ० ४९ श्लो० ५२) और अथर्ववेद को नौ शाखा के भेद से विभाग किया।।५२।। **नवधा अथर्वणः** (महाभाष्य० अ० १ पा० १ आह्नि० १) नौ शाखाएँ अथर्ववेद की हैं।।१।। जिस काल में जिस वेद की जितनी शाखा उपलब्ध होती थी उतना ही ग्रन्थ में लिखा पाया जाता है इससे मतभेद सा ज्ञात होता है। ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण को तथा यजुर्वेद के शतपथ ब्राह्मण को उत्पन्न किया। और वेद से

संपन्न होनेवाले यज्ञों को उत्पन्न किया। यज्ञ के विषय में लिखा है—**यज्ञः फलाभिसन्धिरहितभगवदाराधनरूपमहायज्ञाद्यनुष्ठानम्** (भगवद्गीतारामानुजभाष्य॰ अ॰ १६ श्लो॰ १) फलाभिसन्धि रहित भगवदाराधन के रूप में किये जानेवाले महायज्ञादि के अनुष्ठान का नाम "यज्ञ" है ।।१।। **देवतोद्देशेनद्रव्यत्यागः यागः** देवता के उद्देश्य से जो द्रव्य त्याग होता है उसको याग कहते हैं। **राजसूयं वाजपेयमग्निष्टोमस्तदध्वरः। अर्काश्वमेधावुच्छिष्टे जीवबर्हिर्मदिन्तमः** (अथर्ववे॰ कां॰ ११ सू॰ ९ मं॰ ७) राजसूय १, वाजपेय २, अग्निष्टोम ३, अध्वर ४, अर्क ५, अश्वमेध ६, जीववर्हि ७, और मदिन्तम ८, इत्यादि यज्ञ उच्छिष्ट परब्रह्म नारायण में आश्रित हैं।।७।। **यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि** (गी॰ अ॰ १० श्लो॰ २५) यज्ञों में जपयज्ञ मैं हूँ ।।७।। तथा यज्ञों के करनेवाले मनुष्यों को प्रकट किया । प्रजा के विषय में लिखा है— **प्रजा स्यात्संततौ जने** (अमर॰ कां॰ ३ व॰ ३ श्लो॰ ३२) सन्तान में और जनसमूह में प्रजा शब्द का प्रयोग होता है ।।३२।। तथा मनुष्यों के कर्म के साधनभूत ग्राम्य, वन्य पशुओं को बनाया । पशु के विषय में लिखा है— **सप्त ग्राम्याः पशवः सप्तारण्याः** (श्रुति) सात ग्राम्य में रहनेवाले और सात वन में रहनेवाले पशु प्रसिद्ध हैं उनका नाम विष्णु पुराण में स्पष्ट लिखा गया है । **गौरजः पुरुषो मेषश्चाश्वतरगर्दभाः । एतान्ग्राम्यान्पशूनाहुराण्यांश्च निबोध मे ॥** (विष्णुपु॰ अंश॰ १ अ॰ ५ श्लो॰ ५२) **श्वापदा द्विखुरा हस्ती वानराः पक्षिपन्नगाः। औदकाः पशवः षष्ठाः सप्तमाश्च सरीसृपाः** ।।५३। गौ १, बकरा २, मनुष्य ३, भेंड़ा ४, घोड़ा ५, खच्चर ६, और गदहा ७ इन सात को ग्राम्य पशु महर्षि सब कहते हैं और अब वन्य सात पशुओं को तुम मुझसे जान लो ।।५१।। कुक्कुर १, दो खुरवाले हरिण आदिक २, हाथी ३, वानर ४, पक्षी ५, जलचरजीव ६ और सरीसृप ७ ये सात वन में होनेवाले पशु हैं ।।५२।। उस मृत्यु नामधारी नारायण ने जिस जिस वस्तु को उत्पन्न किया उस सब वस्तु को खाने के लिये अर्थात् संहार करने के लिये विचार किया । इसी हेतु से परब्रह्म नारायण का एक नाम "अदिति" है । जो सबको भक्षण करे उसे अदिति कहते हैं । वह परब्रह्म नारायण सबको खाता है इस कारण से वह "अदिति" कहलाता है वही अदिति का "अदितित्व" है। इस विषय में यह मंत्र प्रमाण है। **अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता** (यजु॰ अ॰ २५ मं॰ २३) अदिति द्युलोक है अदिति अन्तरिक्ष है अदिति माता है और वही पिता है।।२३।। अदिति शब्द की यद्यपि अनेक व्युत्पत्तियाँ हैं। तथापि यहाँ केवल "अद् भक्षणे" धातु से इस शब्द की सिद्धि मानी गई है। अब आगे इस उपासना का फल कहा जाता है । जो कोई उपासक महात्मा इस प्रकार से अदिति के इस अदितित्व को जानता है वह इन सब वस्तुओं का भोक्ता होता है। और उस उपासक पुरुष का सब ही अन्न अनुभाव्य हो

जाता है। इस कण्डिका में ऋगादि की उत्पत्ति और मृत्यु शब्द वाच्य नारायण के अत्तृत्व का प्रतिपादन किया गया है।।५।।

सोऽकामयत । भूयसा यज्ञेन भूयो यजेयेति । सोऽश्राम्यत् । स तपोऽतप्यत । तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य यशोवीर्यमुदक्रामत् । प्राणा वै यशोवीर्यम् । तत्प्राणेषूत्क्रान्तेषु शरीरं श्वयितुमध्रियत । तस्य शरीर एवमन आसीत् ।।६।।

अन्वयार्थ– (सः) उस प्रजापति शरीरक परमात्मा ने (अकामयत) कामना की कि (भूयसा) बड़े भारी (यज्ञेन) यज्ञ से (भूयः) फिर भी (यजेय) मैं यज्ञ करूँ (इति) ऐसी इच्छा करके (सः) वह प्रजापति शरीरवाला परमात्मा (अश्राम्यत्) महायज्ञसामग्र्य संपत्ति से श्रमित हो गया (सः) उसने (तपः) नारायण का उद्देश्य करके तपस्या को (अतप्यत्) किया (तस्य) उस (श्रान्तस्य) श्रमित और (तप्तस्य) तपस्या किये हुए प्रजापति का (यशोवीर्यम) यश और वीर्य (उदक्रामत्) निकल गया (प्राणाः) प्राण (वै) ही निश्चय करके (यशोवीर्यम्) यश और वीर्य हैं (प्राणेषु) प्राणों के (उत्क्रान्तेषु) शरीरं से निकल जाने पर (तत्) वह (शरीरम्) प्रजापति का शरीर (श्वयितुम्) फूलने के लिये (अध्रियत) प्रारम्भ हुआ (तस्य) उस प्रजापति का (मनः) मन (शरीरे) शरीर में (एव) ही (आसीत्) रहा ।।६।।

विशेषार्थ– इस कण्डिका में प्रजापति की यज्ञ कामना और प्राण का निष्क्रमण प्रतिपादन किया जाता है– उस प्रजापति शरीरवाले परब्रह्म नारायण ने यह कामना की कि मैं पुनः बड़े भारी यज्ञ से प्रभु का यजन करूँ। यज्ञ के विषय में लिखा है–

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः । (गी० अ० १७ श्लो० ११)

फल कामना से रहित पुरुषों के द्वारा यज्ञ करना ही कर्तव्य हैइस भाव से मन का समाधान करके जो शास्त्र विधि के अनुसार यज्ञ किया जाता है वह सात्त्विक होता है।।११।।

अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यः ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विधि राजसम् ॥ (गी० अ० १७ श्लो० १२)

परन्तु हे भरत श्रेष्ठ जो फल का लक्ष्य बनाकर ओर दम्भ के लिये भी किया जाता है उस यज्ञ को तू राजस जान।।१२।।

विधिहीनमसृष्टान्नं मंत्रहीनमदक्षिणम् ।

श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥ (गी० अ० १७ श्लो० १३)

विधिहीन, शास्त्रविहित, अन्न से रहित, मंत्रहीन, दक्षिणाहीन और श्रद्धारहित यज्ञ को तामस कहते हैं ।।१३।। वह प्रजापति शरीरवाला परब्रह्म नारायण महायज्ञ की सामग्र्य संपत्ति से श्रान्त के समान हो गया । इसके बाद प्रभु का उद्देश्य करके प्रजापति ने तप किया । तप के विषय में लिखा है– **तपसा देवा देवताग्र आयन्तपसार्षयः सुवरन्वविन्दन् । तपसा सपलान्प्रणुदामारातीस्तपसि सर्वं प्रतिष्ठितं तस्मात्तपः परमं वदन्ति ॥** (तैत्ति० आरण्य० प्रपा० १० अनुवा० ६३) देवगण तप से पहले देवत्व को प्राप्त किये हैं ऋषि लोग तप से स्वर्गलोक को प्राप्त किये हैं तप से बड़े बड़े शत्रुओं को सज्जन लोग मारे हैं तप से सब प्रतिष्ठित है इससे सब लोग तप को सब से श्रेष्ट कहते हैं।।६३।। **वेदोक्तेन प्रकारेण कृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः। शरीरशोषणं यत्तत्तप इत्युच्यते बुधैः ॥** (जबालद० उ० खं० २ श्रु० ३) वेदोक्त प्रकार से और कृच्छ्रचान्द्रायणादिक से जो शरीर को सुखाना है उसी को बुधजन तप कहते हैं।।६३।।

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।

ब्रह्मयर्चमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥ (गी० अ० १७ श्लो० १४)

देवता, ब्रह्माण, गुरु, और ज्ञानियों का पूजन शौच, आर्जव, ब्रह्मचर्य और प्राणियों को पीड़ा न पहुंचाना यह शरीर सम्बन्धी तप कहलाता है ।।१४।। **अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् । स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥** (गी० अ० १७ श्लो० १५) जो दूसरे को उद्वेग न पहुँचानेवाला सच्चा प्रिय और हितकर वचन है तथा स्वाध्याय का अभ्यास है यह वाणी सम्बन्धी तप कहलाता है ।।१५।। **मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रिहः । भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥** (गी० अ० १७ श्लो० १६) मन की प्रसन्नता, सौम्यता, मौन, आत्मविनिग्रह और भाव संशुद्धि यह मन सम्बन्धी तप कहलाता है ।।१६।।

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत् त्रिविधं नरैः ।

अफलाकांक्षिभिर्युक्तै : सात्त्विकं परिचक्षते ॥ (गी० अ० १७ श्लो० १७)

फल की आकाँक्षा न रखनेवाले युक्त पुरुषों के द्वारा परम श्रद्धा से तपा हुआ तीन प्रकार का तप सात्त्विक कहलाता है।।१७।।

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।

क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥ (गी० अ० १७ श्लो० १८)

जो तप सत्कार मान और पूजा के लिये तथा दम्भ के साथ किया जाता है वह चञ्चल और अस्थिर तप यहाँ राजस कहलाता है।।१८।।

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।

परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥ (गी अ० १७ श्लो० १९)

जो तप मूढ आग्रह से आत्मा को पीड़ा देकर अथवा दूसरे का अनिष्ट करने के लिये किया जाता है वह तामस कहा गया है ।।१९।। **कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ॥** (योग० अ० १ पा० २ सू० ४३) तप से अशुद्धि के नाश के द्वारा शरीर और इन्द्रियों की सिद्धि होती है।।४३।। उस श्रान्त और तपस्या किये हुए प्रजापति का यश और वीर्य निकल गया। अब परम करुणामयी श्रुति स्वयं ही यश और वीर्य शब्दों का अर्थ बतलाती है। निश्चय प्राण ही यश और वीर्य हैं। क्योंकि प्राण के रहने पर ही ख्याति होती है। तथा प्राण के रहने पर ही शरीर में वीर्य यानी बल है । जिसके प्राण निकल गये हैं वह पुरुष यशस्वी या बलवान् नहीं होता । इस प्रकार यश और वीर्यभूत प्राण के शरीर से निकल जाने पर उस प्रजापति का शरीर फूलने के लिये प्रारम्भ हो गया । परन्तु जैसे किसी प्रिय वस्तु के दूर हो जाने पर भी उसी में मन रहता है वैसे ही प्राणों के निकल जाने पर भी उस प्रजापति का मन शरीर में ही रहा। अर्थात् मुझसे त्यागा हुआ शरीर अमेध्य हो गया। इस प्रकार की चिन्ता सर्वदा शरीर विषयक रह गयी।।६।।

सोऽकामयत । मेध्यं म इदं स्यादात्मन्व्यनेन स्यामिति । ततोऽश्वः समभवत् । यदश्वत्तन्मेध्यमभूदिति तदेवाश्वमेधस्याश्वमेधत्वम् । एष ह वा अश्वमेधं वेद य एनमेवं वेद । तमनवरुध्यैवामन्यत । तं संवत्सरस्य परस्तादात्मन आलभत । पशून्देवताभ्यः प्रत्यौहत् । तस्मात्सार्वदैवत्यं प्रोक्षितं प्राजापत्यमालभन्ते । एष ह वा अश्वमेधो य एष तपति । तस्य संवत्सर आत्मा । अयमग्निरर्कः । तस्येमे लोका आत्मानः । तावेतावर्काश्वमेधौ । सा पुनरेकैव देवता भवति । मृत्युरेव । अपपुनर्मृत्युं जयति । नैनं मृत्युराप्नोति । मृत्युरात्मा भवति । एतासां देवतानामेको भवति ॥७॥

अन्वयार्थ--(सः) उस प्रजापति ने (अकामयत) कामना की (मे) मेरा (इदम्) यह प्राणरहित शरीर (मेध्यम्) पवित्र यज्ञार्ह (स्यात्) हो जाय तथा (अनेन) इस शरीर से (आत्मन्वी) शरीरवाला (स्याम्) मैं हो जाऊं (इति) ऐसा विचार कर प्रजापतिने पुनः उस शरीर में प्रवेश किया (ततः) इसके बाद प्रजापति से अनुप्रविष्ट उस स्थूल शरीर से (अश्वः) प्रजापति अश्व रूप होकर (समभवत्) उत्पन्न हुआ (यत्) क्योंकि वह प्रजापति का शरीर प्राण के वियोग से यशोवीर्य हीन होकर (अश्वत्) फूल गया था और अमेध्य हो गया था (तत्) वही पुनः प्रजापति के प्रवेश करने पर अश्व हो गया और (मेध्यम्) यज्ञार्ह पवित्र (अभूत्) हो गया (इति) इस प्रकार के अश्व नाम का साक्षात् प्रजापति ही है (एव) निश्चय करके (तत्) वही (अश्वमेधस्य) अश्वमेध नामक यज्ञ का (अश्वमेधत्वम्) अश्वमेधत्व है (ह) यह प्रसिद्ध है कि (यः) जो कोई उपासक (एनम्) इस पशु अश्व को (एवम्) यथोक्त प्रकार (वेद) जानता है (तम्) उस अश्वरूप पशु को (अनवरुध्य) संवत्सरमात्र बन्धन हीन करके (एव) निश्चय करके (अमन्यत) इस अश्व से परमात्मा का यजन करूँगा ऐसा माना (तम्) उस अश्व को (संवत्सरस्य) पूरे एक वर्ष के (परस्तात्) पीछे (आत्मने) स्वान्तर्यामी परमात्मा के लिये प्रजापति ने (आलभत) आलभन किया और (पशून्) अन्यान्य ग्राम्य तथा वन्य पशुओं को (देवताभ्यः) अग्नि इन्द्र आदिक देवताओं के लिये (प्रत्यौहत्) समर्पण किया (तस्मात्) इसी हेतु से आजकल भी याज्ञिक लोग (सार्वदैवत्यम्) सब देवताओं के समष्टिभूत प्रजापतिरूप परमात्मा देवता के लिये (प्रोक्षितम्) मंत्रों द्वारा प्रोक्षण आदिक संस्कार किए हुए (प्राजापत्यम्) प्रजापति देवता सम्बन्धी अश्व को (आलभन्ते) आलभन करते हैं (वै) निश्चय करके (ह) प्रसिद्ध (एषः) यही (अश्वमेधः) अश्वमेध यज्ञ है (यः) जो (एषः) यह सूर्य (तपति) तपता है इसलिये अश्वमेध में सूर्य दृष्टि करनी चाहिये (तस्य) उस अश्वमेध शब्दित अश्व के (संवत्सरः) संवत्सर (आत्मा) शरीर है और (अयम्) यह (अग्निः) चित्याग्नि (अर्कः) अर्क शब्द निर्दिष्ट परमात्मा है तथा (तस्य) उस अध्यस्यमान परमात्मा के (इमे) ये (लोकाः) स्वर्गादिलोक (आत्मानः) शरीर हैं (तौ) वे (एतौ) ये दोनों (अर्काश्वमेधौ) अर्क यानी चित्याग्नि और अश्वमेध हैं (पुनः) फिर (उ) निश्चय करके (सा) वही (एका) एक (एव) ही (देवता) उपास्य देवता (भवति) है (मृत्युः) मृत्युशब्द वाच्य परमात्मा (एव) ही है जो उपासक इसप्रकार चित्याग्नि और अश्वमेध को जानता है, वह उपासक (पुनः) फिर (अपमृत्युम्) अपमृत्यु को (जयति) जीत लेता है (मृत्युः) मृत्युरूप संसार (एनम्) इस उपासक महात्मा को (न) नहीं (आप्नोति) प्राप्त होता है (मृत्युः) मृत्यु शब्द वाच्य परमात्मा (अस्य) इस अश्वमेध अनुष्ठाता की (आत्मा) आत्मा

(भवति) हो जात है (एतासाम्) इस अग्नि, इन्द्र आदिक (देवतानाम्) देवताओं में से (एकः) एक प्रधान (भवति) हो जाता है।।७।।

विशेषार्थ– इस कण्डिका में अश्वमेधोपासना और उसका फल कहा जाता है– उस प्रजापति ने कामना की। कौनसी कामना की सो आगे कहा जाता है। मेरा यह प्राण रहित शरीर मेध्य यज्ञार्ह हो जाय। मेध्य के विषय में लिखा है– **पूतं पवित्रं मेध्यं च** (अमर० कां० ३ व० १ श्लो० ५५) पूत १ पवित्र और मेध्य ३ ये पवित्र के नाम हैं। और इस शरीर से शरीरवाला मैं हो जाऊँ ऐसा विचारकर प्रजापति ने पुनः उस प्राण रहित शरीर में प्रवेश किया। तदनन्तर प्रजापति से अनुप्रविष्ट उस स्थूल शरीर से प्रजापति अश्वरूप होकर उत्पन्न हुआ। क्योंकि वह प्रजापति का शरीर प्राण के वियोग से यशोवीर्यहीन होकर फूल गया था। और अमेध्य हो गया था। वही पुनः प्रजापति के प्राण प्रवेश करने पर अश्व हो गया और यज्ञार्ह पवित्र हो गया। इसी से अश्व नाम का साक्षात् प्रजापति ही है। निश्चय करके वही अश्वमेध नामक यज्ञ का अश्वमेधत्व है। अब इस उपासना का फल कहा जाता है। जो कोई उपासक इस पशु अश्व को पूर्वोक्त प्रकार जानता है वही महात्मा निश्चय करके सुप्रसिद्ध अश्वमेध को जानता है दूसरा कोई नहीं। प्रजापति ने उस अश्व को एक वर्ष बन्धन हीन करके अर्थात् उसे रोक टोक न करते हुए अवश्य ही इस अश्व से मैं परब्रह्म नारायण का यजन करूँगा ऐसा माना। फिर पूरे एक संवत्सर के पीछे प्रजापति ने इस अश्व को स्वान्तर्यामी परब्रह्म नारायण के लिये आलभन किया। और अन्य, अग्नि इन्द्र आदिक देवताओं के लिये तत्तद्देव सम्बन्धी अन्यान्य ग्राम्य एवं वन्य पशुओं को समर्पण किया। इसलिये आजकल भी यज्ञकर्त्ता लोग सब देवताओं के समष्टिभूत प्रजापतिरूप परब्रह्मनारायणदेव के लिये मंत्रों द्वारा प्रोक्षण आदिक संस्कार किया हुआ प्रजापति देवता सम्बन्धी अश्व को आलभन करते हैं। प्रोक्षितम्–प्र+उक्षितम् "उक्ष सेचने" उक्ष सींचना। जो अच्छे प्रकार सिक्त हो उसे "प्रोक्षित" कहते हैं। निश्चय करके सुप्रसिद्ध यही अश्वमेध यज्ञ है जो कि सूर्य तपता है। इसलिये अश्वमेध में तपता हुआ सूर्य बुद्धि करनी चाहिये। उस अश्वमेधशब्दित अश्व संवत्सर कालविशेष आत्मा यानी शरीर है। क्योंकि लिखा है– **मध्यं ह्येषामङ्गानामात्मा** (श्रुति) इन सब अंगों का मध्यभाग आत्मा है। और यह चित्याग्नि अर्क शब्द निर्दिष्ट परब्रह्म नारायण है। क्योंकि लिखा है– **अर्को वाजसनःशृङ्गी** (विष्णु सहस्रना० श्लो० ९८) अर्क १, वाजसन २ और शृङ्गी ३ ये परब्रह्म नारायण के नाम हैं ।।९८।। तथा उस अध्यस्यमान परब्रह्म नारायण के ये स्वर्गादि लोक शरीर हैं। क्योंकि लिखा है– **द्यौः पृष्ठमन्तरिक्षमुदरमियमुरः** (बृ० उ० अ० १ ब्रा० २ कं० ३) पीठ द्युलोक है तथा पेट अन्तरिक्ष लोक है और वक्षःस्थल

यह पृथ्वी लोक है ॥३॥ वे दोनों चित्याग्नि और अश्वमेध पूर्व कथित प्रकार की महिमा वाले हैं । निश्चय करके चित्याग्नि और अश्वमेध करके उपास्य देवता एक ही है । वह एक देव कौन है ? इसको साक्षात् श्रुति ही कहती है कि– मृत्यु शब्द वाच्य परब्रह्मनारायाण है। क्योंकि लिखा है– **मृत्युः सर्वहरश्चाहम्** (गी॰ अ॰ १० श्लोक ३४) सबके हरण करने वाला मृत्यु मैं हूँ ॥३४॥ दिव्यो देव एको नारायण (सुबालोप॰ खं॰ ६) दिव्य देव एक नारायण हैं ॥ ६॥ **शुद्धो देव एको नारायणो न द्वितीयोऽस्ति कश्चित्** (नारायणोप॰ श्रु॰ २) शुद्ध देव एक नारायण हैं दूसरा कोई भी नहीं है ॥२॥ **एको ह वै नारायण आसीत्** (महोप॰ अध्या १ श्रु॰ १) निश्चय करके एक नारायण ही थे ॥१॥ आगे इस उपासना का फल कहा जाता है। जो उपासक इस प्रकार चित्याग्नि और अश्वमेध को जानता है वह महात्मा अपनी मृत्यु को जीत लेता है अर्थात् एक बार मर कर वह पुनः मरने के लिये नहीं उत्पन्न होता । मृत्यु रूप संसार इस उपासक मुमुक्षु को नहीं प्राप्त होता है । मृत्युशब्दवाच्य परब्रह्म नारायण इस अश्वमेध अनुष्ठाता की आत्मा हो जाता है । और इन अग्नि इन्द्र आदिक देवताओं में से कोई एक हो जाता है। यहाँ पर "बृहदारण्यकोपनिषद्" के प्रथम अध्याय का द्वितीय अग्नि ब्राह्मण समाप्त हो गया॥७॥

॥ अथ तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

द्वया ह वै प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च । ततः कानीयसा एव देवा ज्यायसा असुराः । त एषु लोकेष्वस्पर्धन्त । ते ह देवा ऊचुः । हन्तासुरान् यज्ञ उद्गीथेनात्ययामेति ॥१॥

अन्वयार्थ– (वै) निश्चय करके (ह) प्रसिद्ध यह आख्यायिका है कि (प्राजापत्याः) प्रजापति के पुत्र (द्वयाः) दो प्रकार के थे (देवाः) एक दिव्य गुणवाले देव (च) और दूसरे (असुराः) दुष्ट गुणवाले असुर (च) ही हैं (ततः) उन देव असुरों में (देवाः) दिव्य गुणवाले देव (एव) ही (कानीयसाः) थोड़े थे और (असुराः) दुष्ट गुणवाले (ज्यायसाः) अधिक थे (ते) वे दोनों देव और असुर (एषु) इन (लोकेषु) लोकों में (अस्पर्धन्त) परस्पर विजय करने की इच्छा से स्पर्धा डाह करने लगे (ह) प्रसिद्ध (ते) वे (देवाः) देवगण (ऊचुः) बोले (हन्त) हर्ष की बात है यदि सबकी अनुमति हो तो (यज्ञे) ज्योतिष्टोम नाम के यज्ञ में (उद्गीथेन) उद्गाता से गीयमान उद्गीथ के द्वारा (असुरान्) असुरों को (अत्ययाम) हम सब आक्रमण करें (इति) ऐसा विचार किये॥१॥

विशेषार्थ– निश्चय करके यह देवासुर संग्राम की आख्यायिका श्रुति इतिहास और पुराणों में सुप्रसिद्ध है– प्रजापति के दो प्रकार के पुत्र थे । एक दिव्य गुण वाले देव और दूसरे दुष्ट गुण वाले असुर हैं । उन देव और असुरों में देव थोड़े ही थे और असुर अधिक थे । वे दोनों देव और असुर इन लोकों में परस्पर विजिगीषा करते हुए अर्थात् एक दूसरे को विजय करने की इच्छा से परस्पर स्पर्धा डाह करने लगे । तत्पश्चात् देवों ने एक अपनी सभा स्थापित की और उसमें वे सुप्रसिद्ध देवगण परस्पर मीमांसा करके बोले कि हर्ष की बात है यदि सबकी अनुमति हो तो अग्निष्टोमयज्ञ में उद्गाता ऋत्विक् से गीयमान उद्गीथ के द्वारा असुरों को हम सब अतिक्रमण करें । इस प्रकार विचार किये । श्रुति में "हन्त" पद हर्ष वाचक है । क्योंकि लिखा है– **हन्त हर्षेऽनुकम्पायां वाक्यारम्भविषादयोः** (अमर० कां० ३ व० ३ श्लो० २४४) हर्ष में दया में वाक्यारंभ में और विषाद में हन्त शब्द का प्रयोग होता है । और यहाँ "उद्गीथ" शब्द उद्गाता वाचक है । क्योंकि आगे की कण्डिकाओं में **त्वं न उद्गाय** (वृ० उ० अ० १ ब्रा० ३ कं० ३) तुम हमारे लिये उद्गाता बनकर उद्गान करो ।।३।। ऐसा वाक्य बारंबार सुना जाता है । छान्दोग्योपनिषद् में लिखा है– **देवासुरा ह वै यत्र संयेतिर उभये प्राजापत्याः । तद्ध देवा उद्गीथमाजह्रुरनेनैनानभिभविष्याम इति** (छां० उ० प्रपा० १ खं० २ श्रु० १) निश्चय करके प्रसिद्ध है कि प्रजापति के पुत्र देव और असुर दोनों जब परस्पर युद्ध करने के लिये प्रवृत हुये । तब प्रसिद्ध देवों ने उद्गीथ के अवयव ओंकार की उपासना करने के लिय भली भाँति ग्रहण किया कि इस उद्गीथ के अवयव ओंकार की उपासना से इन असुरों को हमलोग जीत लेंगे इस प्रकार का विचार किये।।१।। देवता के विषय में लिखा है– **अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवतावसवो देवता रुद्रा देवतादित्या देवता मरुतो देवता विश्वे देवा देवता वृहस्पतिर्देवतेन्द्रो देवता वरुणो देवता** (यजु० अ० १४ मं० २०) अग्निदेव, वायुदेव, सूर्यदेव, चन्द्रदेव, आठ वसुदेव, ग्यारह रुद्रदेव, बारह आदित्यदेव, उन्चास मरुत्देव, विश्वेदेवदेव, बृहस्पतिदेव, इन्द्रदेव और वरुणदेव हैं ।।२०।। **त्रयो देवा एकादश त्रयस्त्रिंशाः सुराधसः। वृहस्पतिपुरोहितो देवस्य सवितुः सर्वे देवा देवैरवन्तु मा ॥** (यजु० अ० २ मं० ११) श्रेष्ठ धनवाले ब्रह्मादिक तीन देव, ग्यारह रुद्रदेव, तैंतीस देव, पुरोहित बृहस्पतिदेव प्रभृति सब देव परब्रह्म नारायण की आज्ञा में वर्तमान होते हुए सत्य आदि देवों के साथ मेरी रक्षा करें ।।११।। **त्रीणि शता त्री सहस्राण्यग्निं त्रिंऽशच्च देवा नव चासपर्यन् । औक्षन्घृतैरस्तृणन्बर्हिरस्मा आदिद्धोतारं न्यसादयन्त ॥** (यजु० अ० ३३ मं० ७) तीन हजार तीन सौ उन्तालीस देवता अग्नि की परिचर्या करते हैं उन्होंने घृत से अग्नि को सींचा और इस अग्नि के लिये कुशा का आच्छादन

करते हुए होता को होतृकर्म में नियुक्त किया ॥७॥ अथवा "त्रीणि शतानि" ३०० तीन सौ "त्रीणि सहस्राणि" ३००० तीन सहस्र गुणित अर्थात् ९०००० "त्रिंशत् नव च" और उन्तालीस ९०००३९ नौ लाख उन्तालीस देव अग्नि की परिचर्या करते हैं।॥७॥ अथवा **नवैवाङ्कास्त्रिवृद्धाः स्युर्देवानां दशकैर्गणैः । ते ब्रह्मविष्णुरुद्राणां शक्तीनां वर्णभेदत : ॥** इस आगम प्रमाण से ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र की शक्ति रूप से ३३३३३३३३३ तैंतीस करोड़ तैंतीस लाख तैंतीस हजार तीन सौ तैंतीस देवता होते हैं ॥७॥ **ऋचः सामानि च्छन्दांसि पुराणं यजुषा सह । उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रिताः ॥** (अथर्व० कां० ११ प्रपा० २५ अनु० १ मं० २४) सबके अन्त में शेष रहनेवाले श्रीमन्नारायण भगवान् से ऋक्, साम, छन्द, और यजुः के साथ पुराण तथा दिवलोक में रहनेवाले दिविश्रित समस्त देवगण उत्पन्न हुए ॥२४॥ **मध्याहुतयो ह वा एता देवानां यदनुशासनानि ॥** (शतपथ० अ० ११ प्र० ३ ब्रा० ८ कं० ८) शास्त्र देवताओं की मध्यम आहुति है ॥८॥ **नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् ॥** (ईशो० श्रु० ४) ब्रह्मा आदिक देवता पहले प्राप्त हुए इस परब्रह्म नारायण को नहीं प्राप्त कर सके ॥४॥ **ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये अथ तस्य ह ब्रह्मणो विजये देवा अमहीयन्त ॥** (केनो० खं० ३ श्रु० १) परब्रह्म नारायण ने निश्चित है कि देवताओं में प्रवेश कर देवताओं के लिये असुरों को विजित किया । विजय होने के बाद निश्चय करके उसदेवाविष्ट परब्रह्म नारायण की विजय में इन्द्रादिक देवताओं ने पूजा या गौरव अथवा अपने में महत्त्व का अभिमान कर लिया ॥१॥ **ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव ॥** (मुण्डको० मुं० १ खं० १ श्रु० १) इन्द्रादि सब देवताओं में पहले चतुर्मुख ब्रह्मा देव उत्पन्न हुआ ॥१॥ **ते ये शतं पितृणां चिरलोकलोकानामानन्दाः । स एक आजानजानां देवानामानन्दः ॥** (तैत्ति० उ० व० २ अनुवा० ८ श्रु० २) **श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतमाजानजानां देवानामानन्दाः । स एकः कर्मदेवानां देवानामानन्दः । ये कर्मणा देवानपि यन्ति । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं कर्मदेवानां देवानामानन्दाः । स एको देवानामानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं देवानामानन्दाः । स एक इन्द्रस्यानन्दः ॥३॥** चिरस्थायी पितृलोक में रहनेवाले पितरों के जो एक सौ आनन्द हैं वह स्मार्त्त कर्म विशेष से देवलोक में उत्पन्न होने वाले आजानज नामक देवताओं का एक आनन्द है ॥२॥ विषय भोग की कामना से रहित वेदवेत्ता पुरुष का भी वह स्वाभाविक आनन्द है । वे पूर्वोक्त जो स्मार्तकर्म विशेष से देवलोक में उत्पन्न होनेवाले आजानज नामक देवताओं का एक सौ आनन्द हैं वह अग्निहोत्रादि वैदिक कर्म से अग्नि, इन्द्र आदिक के सायुज्य प्राप्त हुये कर्म देव नामक देवताओं का एक आनन्द है । जो वेदोक्त अग्निहोत्रादि कर्मों

से देवताओं को भी प्राप्त होते हैं । और विषय भोग की कामना से रहित श्रोत्रिय वेदवेत्ता पुरुष को तो वह स्वाभाविक आनन्द है । वे पूर्वोक्त जो अग्निहोत्रादि वैदिक कर्म से अग्नि, इन्द्र आदिक के सायुज्य प्राप्त हुये कर्मदेव नामक देवताओं के एक सौ आनन्द है। वह यज्ञ में हविर्भाग लेने वाले वसु, रुद्र आदिक देवताओं का एक आनन्द है । और विषय भोग की कामना से रहित श्रोत्रिय वेदवेत्ता पुरुष को तो वह आनन्द स्वभाव से ही प्राप्त है । वे पूर्वोक्त जो वसु, रुद्रादिक देवताओं के एक सौ आनन्द हैं वह देवराज इन्द्र का एक आनन्द है ।।३।। **परोक्षप्रिया इव हि देवाः ॥** (ऐतरे० उ० अ० १ खं० ३ श्रु० १४) निश्चय करके देवता लोग परोक्ष से प्रेम करने वाले के समान होते हैं ।।१४।। **देवा यज्ञोपवीतिनो भूत्वा दक्षिणं जान्वाच्योपासी-दंस्तानब्रवीद्यज्ञो वोन्नममृतत्वं व ऊर्ग्वः सूर्यो वो ज्योतिः ॥** (शतपथ २।४।२।१) देवता यज्ञोपवीती होकर दक्षिण जांघ झुका कर बैठे तब प्रजापति ने कहा यज्ञ तुम्हारा अन्न अमृत तेज और सूर्य ज्योति होगी ।।१।। **पूर्वाह्णो वै देवानम् ॥** (शतपथ २।४।२८) पूर्वाह्ण काल देवताओं के भोजन का है ।।२८।। **कर्मात्मनां च देवानां सोऽसृजत्प्राणिनां प्रभुः । साध्यानां च गणं सूक्ष्मं यज्ञं चैव सनातम् ॥** (मनु० अ० १ श्लो० २२) सब प्राणियों के प्रभु ब्रह्मा ने कर्मात्मा इन्द्रादि देवगण को और सूक्ष्म साध्यगण को तथा सनातन यज्ञ को बनाया ।।२२।। **यान्ति देवव्रता देवान् ॥** (भ० गी० अ० ९ श्लो० २५) इन्द्रादि देवताओं के पूजन विषयक सङ्कल्प वाले इन्द्रादि देवताओं को प्राप्त होते हैं।।२५।। **आत्मैवैषां रथो भवत्यात्माश्वः आत्मायुध आत्मैष व आत्मा सर्वं देवस्य देवस्य॥** (निरुक्त० दैवत कां० अ० ७ खं० ४) देवताओं का आत्मा ही घोड़ा, हथियार, रथ, बाण होती है और सब ही उपकरण देवता की आत्मा ही है ।।४।। **तिस्र एव देवता इति नैरुक्ता अग्निः पृथिवीस्थानो वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः सूर्यो द्युस्थानस्तासां महाभाग्यादेकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति॥** (निरुक्त० दैवत कां० अ० ७ खं० ५) ये तीन देवता हैं अग्नि देवता पृथ्वी स्थान में और वायु तथा इन्द्र देवता अन्तरिक्ष स्थान में और सूर्य देवता द्युस्थान में इन देवताओं के महाभाग्य होने से एक एक के बहुत से नाम होते हैं ।।५।। **इतीमा देवता अनुक्रान्ताः सूक्तभाजो हविर्भाज ऋग्भाजश्च भूयिष्ठाः ॥** (निरुक्त० दैवत कां० अ० ७ खं० १३) यह जो देवता कहे हैं इनमें कोई सूक्तों को सेवन करते हैं कोई हविष्य को कोई ऋचा को कोई दोनों को सेवन करते हैं ।।१३।। व्याकरण में लिखा है कि– **सूर्याद्देवतायां चाप् वाच्यः ॥** (वार्तिक०) सूर्यस्य स्त्री देवता सूर्या ।। देवता जाति में उत्पन्न हुई जो सूर्य की स्त्री है कात्यायन महर्षि कहते हैं कि वहाँ पर सूर्य शब्द से आप् प्रत्यय होकर स्त्री प्रत्ययान्त पद सूर्या ऐसा बनेगा । और यदि सूर्य की स्त्री मनुष्य जाति में पैदा हुई

हो तो "सूर्या" ऐसा पद नहीं बनेगा किन्तु सूर्य शब्द से **पुंयोगादाख्यायाम्** ॥ (पा॰ व्या॰ अ॰ ४ पा॰ १ सू॰ ४८) इस सूत्र से ङीष् प्रत्यय होकर **सूर्यतिष्यागस्त्यमत्स्यानां य उपधायाः** ॥ (पा॰ व्या॰ अ॰ ६ पा॰ ४ सू॰ १४९) इस सूत्र से **सूर्यागस्त्ययोश्छे च ङ्यां च** ॥ (वार्तिक) इस वार्तिक के नियम द्वारा य लोप होने से "सूरी" ऐसा स्त्री प्रत्ययान्त पद बनेगा **देवादिवदपि लोके** ॥ (शारी॰ मी॰ अ॰ २ पा॰ १ सू॰ २५) जैसे ब्रह्मादिक देवता अपने अपने लोक में सङ्कल्पमात्र से अपनी अपेक्षित वस्तुओं को बनाते हैं वैसे ही परब्रह्म नारायण समस्त जगत् को सङ्कल्पमात्र से बनाते हैं ।।२५।। असुर योनि के विषय में लिखा है– **इन्द्रो दधीचो अस्थिभिर्वृत्राण्यप्रतिष्कुतः जघान नवतीर्नव** ॥ (सामवेद प्रपा॰ २ अ॰ १ खं॰ ७ मं॰ ५) दूसरों से प्रतिकूल शब्द रहित इन्द्रदेव ने अथर्वण दधीच की पार्श्वशिरः सम्बन्धी हड्डियों से आठ सौ दस वृत असुरों को मारा ।।५।। **अपाम्फेनेन नमुचेः शिर इन्द्रोदवर्तयः। विश्वायदजयः स्पृधः** ॥ (समावेद आर्चिक॰ अ॰ २ खं॰ १० मं॰ ८) हे इन्द्रदेव जलों के फेन से नमुची असुर का शिर शरीर से पृथक् किया जब तब स्पर्धा करती हुई असुर सेना को जीता ।।८।। **न तद्रक्षांऽसि न पिशाचाश्चरन्ति देवानामोजः प्रथमज ँ ह्येतद् यो बिभर्ति । दाक्षयण हिरण्य स देवेषु कृणुते दीर्घमायुः स मनुष्येषु कृणुते दीर्घमायुः** ॥ (यजु॰ अ॰ ३४ मं॰ ५१) जो सुवर्ण को धारणा करता है उसको राक्षस, असुर और पिशाच अतिक्रमण नहीं कर सकते हैं। यह देवगण का प्रथम उत्पन्न तेज है। यह दाक्षायण तेज जो धारण करता है वह देवता और मनुष्यलोक में सर्वत्र ही दीर्घ आयु को प्राप्त करता है।।५१।। **नैनं घ्नन्ति अप्सरसो न गन्धर्वा न मर्त्याः । सर्वा दिशो विराजन्ति यो बिभर्तीमं मणिम्**।। (अथर्व॰ काण्ड ८ सूक्त॰ ५ मं॰ १३) जो इस मणि को धारण करता है उसको अप्सरा, असुर, गन्धर्व और मनुष्य बाधा नहीं पहुँचा सकते हैं, और उसके लिये सब दिशाएँ प्रकाशित रहती हैं।।१३।। **येषां पश्चात्प्रपदनानि पुरः पार्ष्णी पुरोमुखाः खलजाः शकधूमजा उरुण्डा ये च मटमटाः कुम्भमुष्का अयाशवः तानस्या ब्रह्मणस्पते प्रतिबोधेन नाशय** ॥ (अथर्व॰ कां॰ ८ सू॰ ६ मं॰ १५) हे वेद के अधिपते जिन भूत, पिशाच और असुर आदिकों को पीछे की ओर पंजे और आगे की ओर एँड़ी और मुँह होता है और ये खलिहान में तथा शक के धूम से उत्पन्न होनेवाले हैं तथा कुम्हारों की आवाओं से मटमट करते रहते हैं और जिनके कुम्भ के समान अण्डकोश होते हैं और जो सबसे अधिक चल सकते हैं उन मनुष्यों से भिन्न आकृति वाले भूत आदिक असुरों को मन्त्र के प्रभाव से नाश कर दीजिये ।।१५।। **ये रूपाणि प्रतिमुञ्चमाना असुराः सन्तः स्वधया चरन्ति । परापुरो निपुरो ये भरन्त्यग्निष्टांल्लोकात्प्रणुदात्यस्मात्** ॥ (यजु॰ अ॰ २ मं॰ ३०) पितरों का अन्न श्राद्ध

में भक्षण करने की इच्छा से अपने रूपों को पितरों के समान करते हुए जो असुर पितृस्थान में विचरते हैं तथा जो असुर स्थूल और सूक्ष्म देहों को अपना अपना असुरत्व छिपाने के लिये धारण करते हैं उल्मुक रूप अग्नि उन असुरों को इस पितृयज्ञ से हटा दे॥३०॥ **अग्निर्हि रक्षसामपहन्ता॥** (शतपथ ॥ २।४।२।१५) निश्चय करके अग्नि राक्षसों का नाश करनेवाली है ॥१५॥ **असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ॥** (ईशो० श्रु० ३) असुरों का निवासभूत अतिदारुण शास्त्र प्रसिद्ध अति गाढ अन्धकार से ढके हुए वे लोक हैं॥३॥ **यक्षरक्षः पिशाचांश्च गन्धर्वाप्सरसोऽसुरान्। नागान्सर्पान्सुपर्णांश्च पितृणां च पृथग्गणान्॥** (मनु० अ० १ श्लोक ३७) यक्ष, राक्षस, पिशाच, गन्धर्व, अप्सरा, असुर, नाग, सर्प, गरुड़, और पितृगणों को भी प्रजापति ने उत्पन्न किया ॥३७॥ **तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् । क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥** (भगवद्गी० अ० १६ श्लो १९) **आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि । मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥२०॥** उन मुझसे द्वेष करने वाले क्रूर अशुभ नराधमों को मैं संसार में निरन्तर असुर सम्बन्धी योनियों में डालता हूँ ॥१९॥ हे अर्जुन असुर योनि को प्राप्त होकर वे मूढ़ लोग मुझको न पाकर जन्म जन्म में और भी नीच गति को ही प्राप्त होते हैं ॥२०॥ **राक्षसानां पिशाचानां रौद्राणां क्रूरकर्मणाम् । क्रव्यादानां च सर्वेषां माभूत पुत्रक ते भयम् ॥** (वाल्मी० रा० अयो० २ स० २५ श्लो० १८) हे पुत्र रौद्र क्रूर कर्म करने वाले असुर, राक्षसों से और पिशाचों से तथा समस्त क्रव्यादों से तुझको भय न हो ॥१८॥ भूतविद्या नाम **देवासुरगन्धर्वयक्षरक्षः पितृपिशाचनागग्रहाद्युपसृष्टचेतसां शान्तिकर्मबलिहरणादि ग्रहोपशमनार्थम् ॥** (सुश्रुत० सूत्रस्थान ११) भूत विद्या माने देव, असुर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पितर, पिशाच और नाग तथा ग्रह आदि करके व्याप्त चित्त वाले पुरुषों के आनन्द के लिये शान्ति कर्म करना बलि देना और ग्रह को शमन करना आदि है ॥११॥ इन पूर्वोक्त प्रमाणों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि मनुष्य योनि से अलग देव योनि और असुर योनि है। उद्गीथ ब्राह्मण में कर्मांगभूत उद्गाता में मुख्य प्राण दृष्टि विधान करने के लिये देवासुर संग्राम की आख्यायिका कही गयी है । उद्गीथ ब्राह्मण की प्रथम कण्डिका में देव और असुरों की स्पर्धा तथा देवताओं का उद्गीथ सम्बन्धी विचार प्रतिपादन किया गया है । श्री शेषावतार भगवद्रामनुजाचार्य ने **अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्नाविशेषात्** । (शारी० मी० अ० ३ पा० ३ सू० ६) **न वा प्रकरण भेदात्परोवरीयस्त्वादिवत्** । (शा० मी० अ० ३ पा० ३ सू० ७) इन दोनों सूत्रों के श्रीभाष्य में **"बृहदारण्यकोपनिषद्"** के प्रथम अध्याय के तृतीय ब्राह्मण की पहली कण्डिका को उद्धृत किया है॥१॥

ते ह वाचमूचुस्त्वं न उद्गायेति । तथेति तेभ्यो वागुद-गायत । यो वाचि भोगस्तं देवेभ्य आगायद्यत्कल्याणं वदति तदात्मने । ते विदुरनेन वै उद्गात्राऽत्येष्यन्तीति । तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन् । स यःस पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपं वदति स एव स पाप्मा ॥२॥

अन्वयार्थ– (ह) प्रसिद्ध (ते) वे देवगण (वाचम्) वागभिमानी देवता से (इति) इस प्रकार प्रार्थना करके (ऊचुः) बोले कि (त्वम्) तुम (नः) हम सबके कल्याण के लिये (उद्गाय) उद्गातृ बन कर उद्गान करो (वाक्) वागभिमानिनी देवता ने (तथा) बहुत अच्छा (इति) ऐसा कह कर (तेभ्यः) उन देवताओं के लिये (उदगयात्) उद्गान किया (वाचि) वाग्देवता में (यः) जो (भोगः) सुखानुभव है (तम्) उस गानादिजन्यसुखानुभव को (देवेभ्यः) देवताओं के लिय (आगायत्) अच्छे प्रकार गान किया और स्वयं वाग्देवता (यत्) जो (कल्याणम्) मंगलविधायक शुभ वचन (वदति) बोलता है (तत्) उस कल्याण को (आत्मने) अपने लिये गाया तब (ते) वे असुर (इति) इस बात को (विदुः) जान गये कि (वै) निश्चय करके (अनेन) इस वाणीरूप (उद्गात्रा) उद्गाता से (नः) हम लोगों को (अत्येष्यन्ति) देवगण जीत लेंगे इस हेतु (तम्) उस वाणी रूप उद्गाता के (अभिद्रुत्य) पास शीघ्र जाकर (पाप्मना) पापसे (अविध्यन्) विद्ध कर दिये यानी संयुक्त कर दिये (सः) वही (यः) जो पाप असुरों से वाणी में संयुक्त किया गया (सः) वह (पाप्मा) पाप अनुमान से प्रतीत होता है (यत्) जो (एव) ही (इदम्) यह (अप्रतिरूपम्) अनुचित अश्लील अनृत पैशुन्यादि (वदति) भाषण करती है (सः) वही (एव) निश्चय करके (सः) वह (पाप्मा) पाप है ॥२॥

विशेषार्थ– वे देवगण वागभिमानिनी देवी से प्रार्थना करके बोले कि हे वाग्देवते आपसे बढ़ कर उद्गीथ गायक कौन है इस हेतु हम सब के कल्याण और असुरों की पराजय के लिये इस ज्योतिष्टोमयज्ञ में उद्गात्री बन कर आप उद्गीथ विधि को पूर्ण करें । देवों की इस प्रार्थना को सुन कर वाग्देवी ने कहा कि एवमस्तु आप लोगों का कार्य करूँगी । तदनन्तर वाग्देवता देवों की प्रार्थन सुनकर उनके हित कि लिये उद्गीथ का गान करने लगी । अब आगे वाणी की स्वार्थता और उससे हानि कही जाती है । वाग्देवता में जो भोग यानी सुखानुभव है उस गानादिजन्यसुखानुभव को देवों के हित के लिये अच्छे प्रकार गान किया । और स्वयं वाग्देवता ने जो मंगल

विधायक शुभ वचन बोलती है उस कल्याण को अपने लिये गाया । इसके पश्चात् क्या हुआ वह कहा जाता है । उन असुरों ने जान लिया कि ये देव ज्योतिष्टोमयज्ञ रचकर और इसमें वाग्देवता को उद्गात्री बना कर हम लोगों की पराजय का उपाय सोच रहे हैं । हे भाई असुरों निश्चय करके इस वाणी रूप उद्गाता से ये देवगण हम लोगों को जीत लेंगे । अब इसमें क्या करना चाहिये । स्थिर हुआ कि उद्गाता को रागद्वेष से संयुक्त कर देना ही अच्छा है । इस हेतु उस वाणीरूप उद्गाता के पास शीघ्र जाकर असुरों ने रागद्वेष रूप पाप से संयुक्त कर दिया । इस हेतु वह वाग्देवता देवों के कार्य को सिद्ध न कर सकी । यह अनुमान से प्रतीत होता है सो आगे कहा जाता है । असुरों से जो रागद्वेषरूपवाणी में संयुक्त किया गया मानो सो यह पाप अनुमान से प्रतीत होता है । यह कौन पाप है सो कहा जाता है । जिस राग द्वेष पाप से युक्त होकर वाग्देवता जो निश्चय करके यह अनुचित अनृत पैशुन्यादि भाषण करती हैं वही निश्चय वह पाप है । यदि ऐसा न होता तो वाग्देवता अनुचित भाषण क्यों करती । इस कण्डिका में– **आदित्यादिमतयश्चाङ्ग उपपत्तेः ॥** (शा॰ मी॰ अ॰ ४ पा॰ १ सू॰ ६) इस आदित्यादिमत्यधिकरण न्याय से क्रत्वङ्गभूत उद्गाता में वाग्दृष्टि और उसका पाप विद्ध होना प्रतिपादन किया गया है । छान्दोग्योपनिषद् में लिखा है– **अथ ह वाचमुद्गीथमुपासा ञ्चक्रिरे । तां हासुराः पाप्मना विविधुः । तस्मात्तयोभयं वदति सत्यं चानृतं च पाप्मना ह्येषा विद्धा ॥** (छा॰ उ॰ प्रपा॰ १ खं॰ २ श्रु॰ ३) अनन्तर प्रसिद्ध है कि वाणी का अधिष्ठान करके उद्गीथ के अवयव प्रणव की वे देव उपासना करने लगे उस वाणी को प्रसिद्ध असुरों ने राग द्वेष रूप पाप से संयुक्त कर दिया जिस पास के संसर्ग होने के कारण उस वाणी से मनुष्य सत्य और झूठ दोनों को भी बोलता है क्योंकि राग द्वेष रूप पाप से यह वाणी संयुक्त है ॥३॥ इस प्रकार का स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है ॥२॥

अथ ह प्राणमूचुस्त्वं न उद्गायेति । तथेति तेभ्यः प्राण उदगायद्यः प्राणे भोगस्तं देवेभ्य आगायद्यत्कल्याणं जिघ्रति तदात्मने । ते विदुरनेन वै न उद्गात्रात्येष्यन्तीति। तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन्स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपं जिघ्रति स एव स पाप्मा ॥३॥

अन्वयार्थ– (अथ) वाग्देवता को पाप से विद्ध होने के अनन्तर (ह) प्रसिद्ध वे देवगण (प्राणम्) घ्राणेन्द्रिय रूप प्राण से (इति) इस प्रकार प्रार्थना करके (ऊचुः)

बोले कि (त्वम्) तुम (नः) हम सब के कल्याण के लिय (उद्गाय) उद्गातृ बन कर उद्गान करो (प्राणः) घ्राणेन्द्रिय रूप प्राण ने (तथा) बहुत अच्छा (इति) ऐसा कहकर (तेभ्यः) उन देवताओं के लिए (उदगायत्) उद्गान किया (प्राणे) घ्राणेन्द्रियरूपप्राण में (यः) जो (भोगः) सुखानुभव है (तम्) उस सुखानुभव को (देवेभ्यः) देवताओं के लिये (आगायत्) अच्छे प्रकार गान किया और स्वयं प्राणदेव (यत्) जो (कल्याणम्) मंगलविधायक शुभ वस्तु (जिघ्रति) सूंघता है (तत्) उस कल्याण को (आत्मने) अपने लिये गाया तब (ते) वे असुर (इति) इस बात को (विदुः) जान गये कि (वै) निश्चय करके (अनेन) इस घ्राण रूप (उद्गात्रा) उद्गाता से (नः) हमलोगों को (अत्येष्यन्ति) देवगण जीत लेंगे इस हेतु (तम्) उस प्राण रूप उद्गाता के (अभिद्रुत्य) पास शीघ्र जाकर (पाप्मना) रागद्वेषरूप पाप से (अविध्यन्) विद्ध कर दिये यानी संयुक्त कर दिये (सः) वही (यः) जो पाप असुरों से प्राण में संयुक्त किया गया (सः) वह (पाप्मा) पाप अनमान से प्रतीत होता है (यत्) जो (एव) ही (इदम्) यह (अप्रतिरूपम्) अनुचित दुर्गन्धि (जिघ्रति) सूँघता है (सः) वही (एव) निश्चय करके (सः) वह असुरसंसर्गजनित (पाप्मा) पाप है।।३।।

विशेषार्थ-- वाग्देवता को पाप से विद्ध होने के बाद वे देवगण प्राण देव से प्रार्थना करके बोले कि हे प्राणदेव हम सबों के कल्याण और असुरों की पराजय के लिये इस ज्योतिष्टोमयज्ञ में आप उद्गाता बन कर उद्गीथ का गान करें। देवों की इस प्रार्थना को सुन कर प्राणदेव ने कहा कि बहुत अच्छा आपलोगों का कार्य करूँगा। तदनन्तर प्राणदेव देवताओं की प्रार्थना सुनकर उनके हित के लिये उद्गीथ का गान करने लगा। अब आगे प्राणदेव की स्वार्थता और उससे हानि कही जाती है। प्राणदेव में जो भोग यानी सुखानुभव है उस सुखानुभव को देवों के हित के लिये अच्छे प्रकार गाया। और स्वयं प्राणदेव जो मंगल विधायक शुभ वस्तु सूँघता है उस कल्याण को अपने लिये गाया। इसके पश्चात् क्या हुआ वह कहा जाता है। उन असुरों ने जान लिया कि देवगण प्राणदेव को इस ज्योतिष्टोमयज्ञ में उद्गाता बनाकर हम लोगों की पराजय का उपाय सोच रहे हैं। हे भाई असुरों निश्चय करके इस प्राणरूप उद्गाता से ये देवगण हमलोगों को जीत लेंगे। अब इसमें क्या करना चाहिये। स्थिर हुआ कि उद्गाता को रागद्वेष से संयुक्त कर देना ही अच्छा है। इस हेतु उस प्राणरूप उद्गाता के पास शीघ्र जाकर असुरों ने राग द्वेषरूप पाप से संयुक्त कर दिया। इस कारण से वह प्राणदेव देवताओं के कार्य को सिद्ध न कर सका। यह अनुमान से प्रतीत होता है वह आगे कहा जाता है। असुरों से जो राग द्वेषरूप पाप से युक्त होकर घ्राणेन्द्रियदेव जो निश्चय करके यह अनुचित दुर्गन्धि सूँघता

है वही निश्चय वह असुर संसर्ग जनित पाप है । यदि ऐसा न होता तो प्राणदेव अनुचित दुर्गन्धि को क्यों सूंघता । इस कण्डिका में आदित्यादि मत्यधिकरण न्याय से क्रत्वङ्गभूत उद्गाता में घ्राणदृष्टि और उसका पाप विद्ध होना प्रतिपादन किया गया है। छान्दोग्योपनिषद् में लिखा है—**ते ह नासिक्यं प्राणमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे। तं हासुराः पाप्मना विविधुः। तस्मात्तेनोभयं जिघ्रति सुरभि च दुर्गन्धि च पाप्मना ह्येष विद्धः** (छा० उ० प्रपा० १ खं० २ श्रु० २) प्रसिद्ध वे देव नासिका में रहने वाले घ्राणेन्द्रियरूप प्राण को अधिष्ठान करके उद्गीथ के अवयव ओम् की उपासना करने लगे। उस घ्राणेन्द्रिय को प्रसिद्ध असुरों ने रागद्वेषरूप पाप से संयुक्त कर दिया । उस पाप के संसर्ग होने के कारण उस घ्राणेन्द्रिय से पुरुष सुगन्धि और दुर्गन्धि दोनों को भी सूँघता है क्योंकि रागद्वेष रूप पाप से घ्राणेन्द्रिय नामक यह प्राण विद्ध है।।२।। इस प्रकार का स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है।।३।।

अथ ह चक्षुरूचुस्त्वं न उद्गायेति । तथेति तेभ्यश्चक्षुरुदगायत् । यश्चक्षुषि भोगस्तं देवेभ्य आगायद्यत्कल्याणं पश्यति तदात्मने । ते विदुरनेन वै न उद्गात्रात्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन्स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपं पश्यति स एव स पाप्मा ।।४।।

अन्वयार्थ– (अथ) प्राणदेवता को पाप से विद्ध होने के अनन्तर (ह) प्रसिद्ध वे देवगण (चक्षुः) चक्षुःदेव से (इति) इस प्रकार प्रार्थना करके (ऊचुः) बोले कि (त्वम्) तुम (नः) हम सबके कल्याण के लिये (उद्गाय) उद्गातृ बन कर उद्गान करो (चक्षुः) चक्षुदेवने (तथा) बहुत अच्छा (इति) ऐसा कह कर (तेभ्यः) उन देवताओं के लिये (उदगायत्) उद्गान किया (चक्षुषि) चक्षुदेव में (यः) जो (भोगः) सुखानुभव है (तम्) उस सुखानुभव को (देवेभ्यः) देवताओं के लिये (अगायत्) अच्छे प्रकार गान किया और स्वयं चक्षुदेव (यत्) जो (कल्याणम्) मंगलविधायक शुभ वस्तु (पश्यति) देखता है (तत्) उस कल्याण को (आत्मने) अपने लिये गाया तब (ते) वे असुर (इति) इस बात को (विदुः) जान गये कि (वै) निश्चय कर के (अनेन) इस नेत्ररूप (उद्गात्रा) उद्गाता से (नः) हमलोगों को (अत्येष्यन्ति) देवगण जीत लेंगे इस हेतु (तम्) उसनेत्र रूप उद्गाता को (अभिद्रुत्य) पास शीघ्र जाकर (पाप्मना) रागद्वेष रूप पाप से (अविध्यन्) विद्ध कर दिये यानी संयुक्त कर दिये (सः) वह (पाप्मा) पाप अनुमान से प्रतीत होता है (यत्) जो (एव) ही (इदम्) यह (अप्रतिरूपम्)

अनुचित वस्तु (पश्यति) देखता है (सः) वही (एव) निश्चय करके (सः) वह असुर संसर्गजनित (पाप्मा) पाप है ।।४।।

विशेषार्थ– घ्राण देवता को पाप से विद्ध होने के बाद वे देवगण चक्षुदेव से प्रार्थना करके बोले कि हे चक्षुदेव हम सबों के कल्याण और असुरों की पराजय के लिये इस ज्योतिष्टोमयज्ञ में आप उद्गाता बनकर उद्गीथ का गान करें । देवों की इस प्रार्थना को सुनकर चक्षुदेव ने कहा कि बहुत अच्छा आप लोगों का कार्य करूँगा । तदनन्तर चक्षुदेव देवताओं की प्रार्थना सुनकर उनके हित के लिये उद्गीथ का गान करने लगा । अब आगे चक्षुदेव की स्वार्थता और उससे हानि कही गयी है । चक्षुदेव में जो भोग यानी सुखानुभव है उस सुखानुभव को देवों के हित के लिये अच्छे प्रकार गाया और स्वयं चक्षुदेव ने जो मंगलविधायक शुभ वस्तु देखता है उस कल्याण को अपने लिये गाया । इसके पश्चात् क्या हुआ सो कहा जाता है । उन असुरों ने जान लिया कि ये देवगण चक्षुदेव को इस ज्योतिष्टोमयज्ञ में उद्गाता बनाकर हमलोगों की पराजय के उपाय सोच रहे हैं । हे भाई असुरों निश्चय करके इस चक्षुरूप उद्गाता से ये देवगण हम लोगों को जीत लेंगे । अब इसमें क्या करना चाहिये । स्थिर हुआ कि उद्गाता को राग द्वेष से संयुक्त कर देना ही अच्छा है । इस हेतु उस चक्षुरूप उद्गाता के पास शीघ्र जाकर असुरों ने उसे रागद्वेष पाप से संयुक्त कर दिया । इस कारण से वह चक्षुदेव देवताओं के कार्य को सिद्ध न कर सका । यह अनुमान से प्रतीत होता है सो आगे कहा जाता है । असुरों से जो रागद्वेष रूप चक्षुदेव में संयुक्त किया गया मानो सो यह पाप अनुमान से प्रतीत होता है । यह कौन पाप है सो अब कहा जाता है । जिस रागद्वेष रूप पाप से युक्त होकर चक्षुदेव जो निश्चय करके यह अनुचित वस्तु देखता है वही निश्चय वह असुर संसर्ग जनित पाप है । यदि ऐसा न होता तो चक्षुदेव अनुचित वस्तु को क्यों देखता । इस कण्डिका में आदित्यादिमत्यधिकरणन्याय से क्रत्वङ्गभूत उद्गाता में चक्षुदृष्टि और उसका पाप विद्ध होना प्रतिपादन किया गया है । "ज्योतिष् स्तोम" इन दो शब्दों से "ज्योतिष्टोम" शब्द बनता है । यहाँ ज्योतिष् का अर्थ प्रकाश है और स्तोम का अर्थ स्तोत्र है क्योंकि लिखा है– **ज्योतिर्भद्योतदृष्टिषु** (अमर॰ कां॰ ३ व॰ ३ श्लो॰ २३०) ज्योतिर्विद्या में, तारा में, प्रकाश में तथा दृष्टि में ज्योतिष् शब्द का प्रयोग होता है ।।२३०।। **स्तोमः स्तोत्रेऽध्वरे वृन्दे** (अमर॰ कां॰ ३ व॰ ३ श्लो॰ १४१) स्तोत्र अध्वर और समूह में स्तोम शब्द का प्रयोग होता है ।।१४१।। छान्दोग्योपनिषद् में लिखा है– **अथ ह चक्षुरुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे । तद्धासुराः पाप्मना विविधुः । तस्मात्तेनोभयं पश्यति दर्शनीयं च पाप्मना ह्येतद्विद्धम्** (छा॰ उ॰ प्रपा॰ १ खं॰ २ श्रु॰ ४) अनन्तर प्रसिद्ध

है कि आँख को अधिष्ठान करके उद्गीथ के अवयव ओंकार की उपासना करने लगे। प्रसिद्ध है कि उस नेत्र को असुरों ने रागद्वेष रूप पाप से संयुक्त कर दिया उस पाप के संसर्ग होने के कारण उस आँख से मनुष्य देखने योग्य और नहीं देखने-योग्य अमेध्यादिक दोनों को भी देखता है, क्योंकि यह नेत्र रागद्वेष रूप पाप से संयुक्त है ॥४॥ इस प्रकार से स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है ॥४॥

अथ ह श्रोत्रमूचुस्त्वं न उद्गायेति । तथेति तेभ्यः श्रोत्रमुदगायत् । यः श्रोत्रे भोगस्तं देवेभ्य आगायद्यत्कल्याणं शृणोति तदात्मने । ते विदुरनेन वै उद्गात्राऽत्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन्स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपं शृणोति स एव स पाप्मा ॥५॥

अन्वयार्थ– (अथ) चक्षुदेवता को पाप से विद्ध होने के अनन्तर (ह) प्रसिद्ध वे देवगण (श्रोत्रम्) श्रोत्रदेव से (इति) इस प्रकार प्रार्थना करके (ऊचुः) बोले कि (त्वम्) तुम (नः) हम सबके कल्याण के लिये (उद्गाय) उद्गातृ बन कर उद्गान करो (श्रोत्रम्) श्रोत्रदेव ने (तथा) बहुत अच्छा (इति) ऐसा कह कर (तेभ्यः) उन देवताओं के लिये (उदगायत्) उद्गान किया (श्रोत्रे) श्रोत्रदेव में (यः) जो (भोगः) सुखानुभव है (तम्) उस सुखानुभव को (देवेभ्यः) देवताओं के लिये (आगायत्) अच्छे प्रकार गान किया। और स्वयं श्रोत्रदेव (यत्) जो (कल्याणम्) मंगलविधायक शुभ वस्तु (शृणोति) सुनता है (तत्) उस को (आत्मने) अपने लिये गाया तब (ते). वे असुर (इति) इस बात को (विदुः) जान गये कि (वै) निश्चय करके (अनेन) इस श्रोत्ररूप (उद्गात्रा) उद्गाता से (नः) हम लोगों को (अत्येष्यन्ति) देवगण जीत लेंगे इस हेतु (तम्) उस श्रोत्ररूप उद्गाता के (अभिद्रुत्य) पास शीघ्र जाकर (पाप्मना) रागद्वेष रूप पाप से (अविध्यन्) विद्ध कर दिये यानी संयुक्त कर दिये (सः) वही (यः) जो पाप असुरों से श्रोत्रदेव में संयुक्त किया गया (सः) वह (पाप्मा) पाप अनुमान से प्रतीत होता है (यत्) जो (एव) ही (इदम्) यह (अप्रतिरूपम्) अनुचित पदार्थ को (शृणोति) सुनता है (सः) वही (एव) निश्चय करके (सः) वह असुर संसर्गजनित (पाप्मा) पाप है ॥५॥

विशेषार्थ– चक्षुदेवता को पाप से विद्ध होने के बाद वे देवगण श्रोत्रदेव से प्रार्थना करके बोले कि हे श्रोत्रदेव हम सबों के कल्याण और असुरों की पराजय के लिये इस ज्योतिष्टोमयज्ञ में आप उद्गाता बन कर उद्गीथ का गान करें। देवों की इस

प्रार्थना को सुन कर श्रोत्रदेव ने कहा कि बहुत अच्छा आप लोगों का कार्य करूँगा। तदनन्तर श्रोत्रदेव देवताओं की प्रार्थना सुन कर उनके हित के लिये उद्गीथ का गान करने लगा। अब आगे श्रोत्रदेव की स्वार्थता और उससे हानि कही गयी है। श्रोत्रेदव में जो भोग यानी सुखानुभव है उस सुखानुभव को देवों के हित के लिये अच्छे प्रकार गाया। और स्वयं श्रोत्रदेव जो मंगल विधायक शुभ वस्तु सुनता है उस कल्याण को अपने लिये गाया। इसके पश्चात् क्या हुआ सो कहा जाता है। उन असुरो नें ने जान लिया कि ये देवगण श्रोत्रदेव को इस ज्योतिष्टेमयज्ञ में उद्गाता बनाकर हम लोगों की पराजय का उपाय सोच रहे हैं। हे भाई असुरों निश्चय करके इस श्रोत्ररूप उद्गाता से ये देवगण हम लोगों को जीत लेंगे। अब इसमें क्या करना चाहिये। स्थिर हुआ कि उद्गाता को रागद्वेष से संयुक्त कर देना ही अच्छा है। इस हेतु श्रोत्ररूप उद्गाता के पास शीघ्र जाकर असुरों ने राग द्वेष रूप पाप से संयुक्त कर दिया। इस करण से वह श्रोत्रदेव देवताओं के कार्य को सिद्ध न कर सका। यह अनुमान से प्रतीत होता है सो आगे कहा जाता है। असुरों से जो रागद्वेष रूप श्रोत्रदेव में संयुक्त किया गया मानो सो यह पाप अनुमान से प्रतीत होता है। यह कौन पाप है सो अब कहा जाता है। जिस रागद्वेष रूप पाप से युक्त होकर श्रोत्रदेव जो निश्चय करके यह अनुचित वस्तु सुनता है वही निश्चय वह असुर संसर्ग जनित पाप है। यदि ऐसा न होता तो श्रोत्रदेव अनुचित शब्द को क्यों सुनता। इस कण्डिका में आदित्यादिमत्यधिकरणन्याय से क्रत्वङ्गभूत उद्गाता में श्रोत्र दृष्टि और उसका पापविद्ध होना प्रतिपादन किया गया है। वैदिक यज्ञ में होता १, अध्वर्यु २, ब्रह्मा ३, उद्गाता ४, प्रशास्ता ५, प्रतिप्रस्थाता ६, ब्राह्मणाच्छंसी ७, प्रस्तोता ८, अच्छावाक ९; नेष्टा १०, आग्नीध्र ११, प्रतिहर्ता १२, ग्रावस्तुत् १३, नेता १४, होता १५, और सुब्रह्मण्य १६, ये सोलह ऋत्विज होते हैं। छान्दोग्योपनिषद् में लिखा है– **अथ ह श्रोत्रमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे। तद्धासुराः पाप्मना विविधुः। तस्मात्तेनोभयं शृणोति श्रवणीयं चाश्रवणीयं च पाप्मना ह्येतद्विद्धम्** (छा० उ० प्रपा० १ खं० २ श्रु० ५) अनन्तर प्रसिद्ध है कि कान को अधिष्ठान करके उद्गीथ के अवयव ओंकार की उपासना करके लगे, प्रसिद्ध है कि उस कान को असुरों ने रागद्वेष रूप पाप से संयुक्त कर दिया उस पाप के संसर्ग होने के कारण उस कान से मनुष्य सुनने योग्य और नहीं सुनने योग्य पाप वचन दोनों को भी सुनता है क्योंकि यह कान रागद्वेष रूप पाप से संयुक्त है ॥५॥ इस प्रकार का स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है॥५४॥

अथ ह मन उचुस्त्वं न उद्गायेति। तथेति तेभ्यो मन उदगायत्। यो मनसिभोगस्तं देवेभ्य आगायद्यत्कल्याणं

संकल्पयति तदात्मने । ते विदुरनेन वै न उद्गात्राऽत्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन्स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपं संकल्पयति स एव स पाप्मा । एवमुखल्वेता देवताः पाप्मभिरूपासृजन् । एवमेताः पाप्मनाऽविध्यन् ॥६॥

अन्वयार्थ– (अथ) श्रोत्र देवता को पाप से विद्ध होने के अनन्तर (ह) प्रसिद्ध वे देवगण (मनः) मनोदेव से (इति) इस प्रकार प्रार्थना करके (ऊचुः) बोले कि (त्वम्) तुम (नः) हम सबके कल्याण के लिये (उद्गाय) उद्गातृ बन कर उद्गान करो (मनः) मनोदेव ने (तथा) बहुत अच्छा (इति) ऐसा कह कर (तेभ्यः) उन देवताओं के लिये (उदगायत्) उद्गान किया (मनसि) मनोदेव में (यः) जो (भोगः) सुखानुभव है (तम्) उस सुखानुभव को (देवेभ्यः) देवताओं के लिये (आगायत्) अच्छे प्रकार गान किया और स्वयं मनोदेव (यत्) जो (कल्याणम्) मंङ्गलविधायक शुभ वस्तु (सङ्कल्पयति) सङ्कल्प करता है (तत्) उस को (आत्मने) अपने लिये गाया तब (ते) वे असुर (इति) इस बात को (विदुः) जान गये कि (वै) निश्चय करके (अनेन) इस मनोदेव रूप (उद्गात्रा) उद्गाता से (नः) हम लोगों को (अत्येष्यन्ति) देवगण जीत लेंगे इस हेतु (तम्) उस मनोदेव रूप उद्गाता के (अभिद्रुत्य) पास शीघ्र जाकर (पाप्मना) रागद्वेष रूप पाप से (अविध्यन्) विद्ध कर दिये यानी संयुक्त कर दिये (सः) वही (यः) जो पाप असुरों से मनोदेव में संयुक्त किया गया (सः) वह (पाप्मा) पाप अनुमान से प्रतीत होता है (यत्) जो (एव) ही (इदम्) यह (अप्रतिरूपम्) अनुचि पदार्थ को (सङ्कल्पयति) सङ्कल्प करता है (सः) वही (एव) निश्चय करके (सः) वह असुर संसर्गजनित (पाप्मा) पाप है (एवम्) इस प्रकार (उ) निश्चय (खलु) ही उक्त रीति से (एताः) ये वागादिक (देवताः) देवता (पाप्मभिः) अनृत वचनादि लक्षण पापों से (उपासृजन्) छूए गये (एवम्) इस प्रकार उक्त रीति से असुर सब (एताः) इन वागादि देवताओं को (पाप्मना) रागद्वेष रूप पाप से (अविध्यन्) वेधन किये यानी संयुक्त किये॥६॥

विशेषार्थ– श्रोत्रदेवता को पाप से विद्ध होने के अनन्तर यहाँ "अथ" शब्द का अर्थ अनन्तर है। क्योंकि लिखा है– **मंगलानन्तरारम्भप्रश्नकात्स्न्येंष्वथो अथ॥** (अमर० कां० ३ व० ३श्लोक २४७) मङ्गल में, अनन्तर में, आरम्भ में, प्रश्न में तथा सम्पूर्णता में अथो और अथ शब्द का प्रयोग होता है ॥२४७॥ प्रसिद्ध वे देवगण मनोदेव से प्रार्थना करके बोले कि– हे मनोदेव हम सबों के कल्याण और शत्रुओं की पराजय के लिये इस ज्योतिष्टोम यज्ञ में आप उद्गाता बन कर उद्गीथ का गान

करें। देवों की इस प्रार्थना को सुनकर मनोदेव ने कहा कि बहुत अच्छा आप लोगों का कार्य करूँगा। तदनन्तर मनोदेव देवताओं की प्रार्थना सुनकर उनके हित के लिये उद्गीथ का गान करने लगे। अब आगे मनोदेव की स्वार्थता और उससे हानि कही गयी है। मनोदेव में जो भोग यानी सुखानुभव है उस सुखानुभाव को देवों के हित के लिये अच्छे प्रकार से गाया। और स्वयं मनोदेव जो मङ्गल विधायक शुभ वस्तु सङ्कल्प करता है उस कल्याण को अपने लिये गाया। इसके पश्चात् क्या हुआ सो कहा जाता है। उन असुरों ने जान लिया कि ये देवगण मनोदेव को इस ज्योतिष्टोम यज्ञ में उद्गाता बना कर हमलोगों की पराजय का उपाय सोच रहे हैं। हे भाई असुरों निश्चय करके इस मनोदेव रूप उद्गाता से ये देवगण हमलोगों को जीत लेंगे। अब इसमें क्या करना चाहिये। स्थिर हुआ कि उद्गाता को रागद्वेष से संयुक्त कर देना ही अच्छा है। इस हेतु उस मनोदेवरूप उद्गाता के पास शीघ्र जाकर असुरों ने रागद्वेष रूप पाप से संयुक्त कर दिया। इस कारण से वह मनोदेव देवताओं के कार्य को सिद्ध न कर सका। यह अनुमान से प्रतीत होता है सो आगे कहा जाता है। असुरों से जो रागद्वेष रूप मनोदेव में संयुक्त किया गया मानो सो यह पाप अनुमान से प्रतीत होता है। यह कौन पाप है सो अब कहा जाता है। जिस रागद्वेष रूप पाप से युक्त होकर मनोदेव जो निश्चय करके यह अनुचित वस्तु सङ्कल्प करता है वही निश्चय वह असुर संसर्गजनित पाप है। इस प्रकार निश्चय ही पूर्व कथित रीति से ये वागादिक देवता अनृत भाषण रूप पाप से वेधन किये यानी संयुक्त किये। इस कण्डिका में आदित्यादिमत्यधिकरणन्याय से क्रत्वङ्गभूत उद्गाता में मनोदृष्टि और उसका पापविद्ध होना प्रतिपादन किया गया है और छान्दोग्योपनिषद् में लिखा है– **अथ ह मन उद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे। तद्धासुराः पाप्मना विविधुः। तस्मात्तेनोभयं सङ्कल्पनीयं चासंकल्पनीयं च पाप्मना ह्येतद्विद्धम्॥** (छा० उ० प्रपा० १ खं० २ श्रु० ६) अनन्तर प्रसिद्ध है कि मन को अधिष्ठान करके उद्गीथ के अवयव प्रणव को देवता उपासना करने लगे तब प्रसिद्ध असुरों ने उस मन को रागद्वेष रूप पाप से संयुक्त कर दिया उप पाप के संसर्ग होने के कारण उस मन से मनुष्य सङ्कल्प करने योग्य और नहीं सङ्कल्प करने योग्य पाप दोनों को भी सङ्कल्प करता है क्योंकि यह मन रागद्वेष रूप पाप से संयुक्त है ॥६॥ कल्याण के विषय में लिखा है– **श्वःश्रेयसं शिवं भद्रं कल्याणं मङ्गलं शुभम् ॥** (अमर० कां० १ व० ४ श्लो० २५) भावुकं भविकं भव्यं कुशलं क्षेममस्त्रियाम्। शस्तं च ॥२६॥ श्वःश्रेयस १, शिव २, भद्र ३, कल्याण ४, मङ्गल ५, शुभ ६॥२५॥ भावुक ७, भविक ८, भव्य ९, कुशल १०, और शस्त १२ ये कल्याण के नाम हैं ॥२६॥ इसी प्रकार नहीं कहे जाने पर भी शुभ और अशुभ दोनों प्रकार

के कार्य देखे जाने से त्वगादि अन्य देवगण भी वागादि के समान ही हैं। इन्हें भी असुरों ने रागद्वेष रूप पाप से संयुक्त कर दिया है ॥६॥

अथ हेममासन्यं प्राणमूचुस्त्वं उद्गायेति । तेभ्य एष प्राण उदगायत् । ते विदुरनेन वै न उद्गात्राऽत्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविव्यत्सन् । स यथाऽश्मानमृत्वा लोष्टो विध्वंसेतैवं हैते विध्वंसमाना विष्वञ्चो विनेशुः । ततो देवा अभवन्पराऽसुराः । भवत्यात्मना पराऽस्य द्विषन्। भ्रातृव्यो भवति य एवं वेद ॥७॥

अन्वयार्थ– (अथ) मनोदेव को पाप से संयुक्त होने के अनन्तर (ह) प्रसिद्ध वे देवगण (इमम्) इस (आसन्यम्) मुख में रहने वाले (प्राणम्) प्राण से (इति) इस प्रकार प्रार्थना करके (ऊचुः) बोले कि (त्वम्) तुम (नः) हम सब के कल्याण के लिये (उद्गाय) उद्गातृ बन कर उद्गान करो (एषः) यह (प्राणः) मुख्य प्राणदेव ने (तथा) बहुत अच्छा (इति) ऐसा कहकर (तेभ्यः) उन देवताओं के लिये (उदगायत्)उच्चस्वर से गान किया (ते) तब वे असुर (इति) इस बात को (विदुः) जान गये कि (वै) निश्चय करके (अनेन) इस मुख्य प्राण रूप (उद्गात्रा) उद्गाता के आश्रय से (नः) हमलोगों को (अत्येष्यन्ति) देवगण जीत लेंगे इस हेतु (तम्) उस मुख्य प्राणदेव रूप उद्गाता को (अभिद्रुत्य) पास शीघ्र जाकर (पाप्मना) रागद्वेष रूप पाप से (अविव्यत्सन्) ताड़न करना चाहे परन्तु (यथा) जैसे (सः) उस दृष्टान्त के समान अर्थात् (लोष्टः) मिट्टी का ढेला (अश्मानम्) पत्थर को (ऋत्वा) पाकर (विध्वंसेत) चूर्ण–चूर्ण हो जाय (एवम्) वैसे ही (ह) प्रसिद्ध (एते) वे असुर जब मुख्य प्राणदेव के पास गये तब (विष्वञ्चः) नाना गति वाले (विध्वंसमानाः) चूर चूर होते हुए (विनेशुः) विनष्ट हो गये (ततः) उसके बाद (देवाः) देवगण (अभवन्) विजयी हो गये और (असुराः) असुरगण (पराऽभवन्) परास्त हो गये (यः) जो उपासक (एवम्) ऐसा (वेद) जानता है (अस्य) इस उपासक के प्रति (द्विषन्) द्वेष करने वाला (भ्रातृव्यः) शत्रु (भवति) होता है तो (आत्मना) अपने से स्वतः (परा) परास्त (भवति) हो जाता है ॥७॥

विशेषार्थ– मनोदेव को पाप से संयुक्त होने के बाद प्रसिद्ध वे देव गण इस मुख में रहने वाले प्राण से प्रार्थना करके बोले– आस्य शब्द से "आसन्य" बनता है अर्थात् मुख में जो होवे उसे "आसन्य" कहते हैं। और आस्य के विषय में लिखा

है– **वक्त्रास्ये वदनं तुण्डमाननं लपनं मुखम् ॥** (अमर० कां० २ व० ६श्लोक ८९) वक्त्र १, आस्य २, वदन ३, तुण्ड ४, आनन ५, लपन ६, मुख ७ ये मुँह के नाम हैं ।।८९।। हे मुख्य प्राणदेव हमलोगों के कल्याण और शत्रुओं की पराजय के लिये इस ज्योतिष्टोम यज्ञ में आप उद्गाता बन कर उद्गीथ का गान करें । देवों की इस प्रार्थना को सुन कर मुख्य प्राणदेव ने कहा कि बहुत अच्छा आपलोगों का कार्य करूँगा । तदनन्तर मुख्य प्राणदेव देवताओं की प्रार्थना सुन कर उनके हित के लिये उद्गीथ का गान करने लगे । इसके पश्चात् क्या हुआ सो आगे कहा जाता है । उन असुरों ने जान लिया कि ये देवगण मुख्य प्राणदेव को इस ज्योतिष्टोम यज्ञ में उद्गाता बना कर हमलोगों की पराजय का उपाय सोच रहे हैं । हे भाई असुरों निश्चय करके इस मुख्य प्राण रूप उद्गाता के आश्रय से ये देवगण हमलोगों को जीत लेंगे । अब इसमें क्या करना चाहिये । स्थिर हुआ कि मुख्य प्राण रूप उद्गाता को रागद्वेष से संयुक्त कर देना ही अच्छा है । इस हेतु उन असुरों ने पूर्व अभ्यास के कारण उस मुख्य प्राणदेव रूप उद्गाता के पास शीघ्र जाकर रागद्वेष रूप पाप से ताड़न करना चाहा परन्तु जैसे मिट्टी का ढेला सुदृढ़ पत्थर से टकरा कर चूर चूर हो जाता है । वैसे ही असुर जब मुख्य प्राणदेव के समीप गये तब ही नाना गति वाले तितर वितर और चूर चूर होते हुये विनष्ट हो गये । अश्मन् के विषय में लिखा है– **पाषाणप्रस्तरग्रावोपलाश्मानः शिला दृषत् ॥** (अमर० कां० २ व० ४ श्लोक ४) पाषाण १, प्रस्तर २, ग्रावन् ३, उपल ४, अश्मन् ५, शिला ६, और दृषत् ७ ये पत्थर के नाम हैं ।।४।। तदनन्तर वे देव गण विजयी हुये और उनके प्रतिपक्षी वे असुर गण परास्त हुए । यहाँ "अभवन्" क्रिया की अनुवृत्ति होती है । अब आगे इस उपासना का फल कहा जाता है । जो कोई उपासक इस विज्ञान को इस प्रकार से जानता है उस उपासक के प्रति द्वेष करने वाला शत्रु होता है तो वह अपने से स्वतः परास्त हो जाता है । यहाँ "द्विषन्" और "भ्रातृव्य" ये दोनों शब्द शत्रु वाचक हैं क्योंकि लिखा है– **रिपौ वैरि सपत्नारि द्विषद्द्वेषणदुर्हृदः** (अमर० कां० २ व० ८श्लोक १०) **द्विड्विपक्षाहितामित्रदस्युशात्रवशत्रवः। अभिघाति परारातिप्रत्यर्थिपरिपन्थिनः ॥११॥** रिपु १, वैरिन् २, सपत्न ३, अरि ४, द्विषत् ५, द्वेषण ६, दुर्हृद् ७ ।।१०।। द्विष ८, विपक्ष ९, अहित १०, अमित्र ११, दस्यु १२, शात्रव १३, शत्रु १४, अभिघतिन् १५, पर १६, अराति १७, प्रत्यर्थिन १८, और परिपन्थिन १९, ये दुश्मन के नाम हैं ।।१।। इसमें प्रमाण पाणिनिसूत्र भी है– **द्विषोऽमित्रे** (व्या० अ० ३ पा० २ सू० १३१) **द्विषन् शत्रुःव्यन् सपत्ने** (व्या० अ० ४ पा० १ सू० १४५) **भ्रातुर्व्यन् स्यादपत्ये प्रकृतिप्रत्ययसमुदायेन शत्रौ वाच्ये । भ्रातृव्यः शत्रुः ।** इत्यादि प्रमाण से सिद्ध है कि ये दोनों शब्द "शत्रु" अर्थ में आते हैं । अथवा

"भ्रातृव्य" शब्द का भतीजा अर्थ है क्योंकि लिखा है– **भ्रातुर्व्यच्च** (पा० व्या० अ० ४ पा० १ सू० १४४) इस सूत्र के अनुसार भाई के पुत्र के अर्थ में भी "भ्रातृव्य" शब्द प्रयुक्त होता है। इस कण्डिका में शत्रु पराजय के लिये आदित्यादिमत्यधिकरणन्याय से क्रत्वङ्गभूत उद्गाता में मुख्य प्राणदृष्टि विधान किया गया है। छान्दोग्योपनिषद् में लिखा है– **अथ ह य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे। तं हासुरा ऋत्वा विदध्वंसुः। यथाश्मानमाखणमृत्वा विध्वंसेतैवम्** (छा० उ० अ० १ खं० २ श्रु० ७) अनन्तर प्रसिद्ध जो निश्चय करके यह मुख में होने वाला श्रेष्ठ प्राण है उस श्रेष्ठ प्राण को अधिष्ठान करके उद्गीथ के अवयव ओंकार की वे देव लोग उपासना करने लगे। प्रसिद्ध उस मुख्य प्राण को पाकर असुर गण छिन्न भिन्न हो गये जैसे मिट्टी का ढेला पत्थर को पाकर चूरचूर हो जाता है इसी प्रकार हो जाता है ॥७॥ **यथा श्मानमाखणमृत्वा विध्वंसत एवं स विध्वंसते य एवं विदि पापं कामयते यश्चैनमभिदासति। स एषोऽश्माखणः** (छा० उ० प्र० १ खं० २ श्रु० ८) जैसे मिट्टी का ढेला पत्थर को पाकर चूरचूर हो जाता है वैसे ही वह मनुष्य नष्ट हो जाता है जो इस प्रकार इस उद्गीथ विद्या को जनने वाले में पाप करना चाहता है और जो इस उद्गीथ विद्यानिष्ठ को सताता है। वह यह पाप काम पत्थर से प्राप्त मिट्टी का ढेला है ॥८॥ श्रौतमार्गप्रतिष्ठापनाचार्य भगवद्रामानुजाचार्य ने– **अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्नाविशेषात्** (शा० मी० अ० ३ पा० ३ सू० ६) **न वा प्रकरणभेदात्परोवरीयस्त्वादिवत्** (शा० मी० अ० ३ पा० ३ सू० ७) इन दोनों सूत्रों के श्रीभाष्य में **"बृहदारण्यकोपनिषद्"** के प्रथम अध्याय के तृतीय ब्राह्मण की सातवीं कण्डिका को उद्धृत किया है ॥७॥

ते होचुःक्व नु सो ऽ भूद्यो न इत्थमसक्तेति । अयमा-स्येऽन्तरिति सोऽयास्यः । आङ्गिरसोऽङ्गानांहिरसः ॥८॥

अन्वयार्थ– (ह) प्रसद्धि (ते) वे विजयी देव (ऊचुः) परस्पर बोले कि (यः) जो मुख्यप्राणदेव (नः) हमलोगों को (इत्थम्) इस प्रकार शत्रुपराजय को (असक्त) संयोग कराया (सः) वह मुख्य प्राणदेव (नु) निश्चय करके (क्व) किस स्थान में (अभूत्) प्रतिष्ठित हुआ है (इति) इस प्रकार से विचार कर देखें कि (अयम्) यह प्रत्यक्ष दृष्ट प्राण (आस्ये) मुखमें (अन्तः) भीतर निवास करता है (इति) इस हेतु (सः) वह मुख्य प्राण (अयास्यः) अयास्य कहलाता है और (हि) निश्चय करके (अङ्गानाम्) संपूर्ण अवयवों का मुख्य प्राण (रसः) रस है इससे (आङ्गिरसः) आङ्गिरसः कहलाता है॥८॥

विशेषार्थ– जब असुर हार गये तब प्रसिद्ध वे विजयी देव परस्पर बोले कि

किस स्थान में वे मुख्य प्राण थे जिन्होंने इस प्रकार हम लोगों की रक्षा की अथवा देवत्व को प्राप्त करवाया । जिसकी सहायता से हम लोग विजयी हुए हैं । वे हम लोगों के हितकारी और कल्याण गायक कहाँ रहते हैं । इतने में विचार करके देखे कि– ये प्रत्यक्षदृष्ट प्राण मुख के अभ्यन्तर निवास करते हैं । जिस हेतु देवों ने कहा कि ये मुखाभ्यनतर में संपूर्ण अवयवों का रस है इस हेतु वे मुख्य प्राण "आङ्गिरस" कहलाते हैं । अङ्ग के विषय में लिखा है– **अङ्ग प्रतीकोऽवयवोपघनः** (अमर० कां० २ क० ६ श्लो० ७०) अङ्ग १, प्रतीक २, अवयव ३, और अपघन ४, ये अङ्ग के नाम हैं ॥७०॥ "अयम् + आस्य" ये दोनों शब्द मिलकर "अयास्य" हो गया है । यह वैदिक प्रयोग है । अङ्गिरा ऋषि के पुत्र को भी "आङ्गिरस" कहते हैं । परन्तु यहाँ अङ्गों के रस होने के कारण मुख्य प्राण का ही नाम "आङ्गिरस" है ॥८॥

सा वा एषा देवता दूर्नाम दूरं ह्यस्या मृत्युः । दूरं ह वा अस्मान्मृत्युर्भवति य एवं वेद ॥९॥

अन्वयार्थ– (वै) निश्चय करके (सा) वह (एषा) यह मुख्य प्राण रूप (देवता) देवता (दूर्नाम) दूर नामक (हि) क्योंकि (अस्याः) इस उपासक मुख्य प्राण देवता से (मृत्युः) मृत्यु (दूरम्) दूर रहती है (यः) जो कोई उपासक मुख्य प्राण देवता को (एवम्) इस प्रकार (वेद) जानता है (वै) निश्चय करके (ह) प्रसिद्ध यह बात है कि (अस्मात्) उस उपासक से (मृत्युः) मृत्यु (दुरम्) दूर (भवति) रहती है ॥९॥

विशेषार्थ– यद्यपि मुख्य प्राण स्वतः शुद्ध और पाप से अविद्ध है तौभी **संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति ॥** संसर्ग से उत्पन्न दोष और गुण होते हैं ॥ इस नियम के अनुसार पापविद्ध इन्द्रियों के संसर्ग से कदाचित् मुख्य प्राण भी वैसा हो जाय इस शङ्का के निवारणार्थ स्वतः करुणामयी श्रुति आदेश देती है कि– निश्चय करके जिसके निकट जाकर असुर विध्वस्त हो गये और जो मुख में रहता है सो यह मुख्य प्राण स्वरूप देवता "दूर" नामक है अर्थात् उसका नाम "दूर" है । यहाँ नाम शब्द ख्याति का पर्याय है । जिस हेतु इस मुख्य प्राण रूप देवता से मृत्यु दूर रहती है इस हेतु इसका यौगिक नाम ही "दूर" हो गया । इस तरह मुख्य प्राण की विशुद्धि बतलायी गयी । मृत्यु के विषय में लिखा है– **स्यात्प ञ्चता कालधर्मो दिष्टान्तः प्रलयोऽत्ययः । अन्तो नाशो द्वयोर्मृत्युर्मरणं निधनोऽस्त्रियाम्** (अमर० कां० २ क० ९ श्लो० ११६) पञ्चता १, कालधर्म २, दिष्टान्त ३, प्रलय ४, अत्यय ५, अन्त ६, नाश ७, मृत्यु ८, मरण ९, और निधन १० ये मृत्यु के नाम हैं ॥१६॥ अब आगे इसके उपासक का फल बतलाया जाता है । जो कोई उपासक मुख्य प्राण देवता को इस प्रकार जानता है तो

निश्चय करके यह बात प्रसिद्ध है कि– उस मुख्य प्रायोपासक से मृत्यु दूर रहती है ॥९॥

सा वा एषा देवतैतासां पाप्मानं मृत्युमपहत्य यत्राऽऽसां दिशामन्तस्तद्गमयाञ्चकार । तदासां पाप्मनो विन्यदधात्। तस्मान्न जनमियान्नान्तमियात् । नेत्पाप्मानं मृत्युमन्ववायानीति ॥१०॥

अन्वयार्थ– (वै) निश्चय करके (सा) वह दूर नामक (एषा) यह मुख्य प्राण रूपा (देवता) देवता (एतासाम्) पूर्व में असुरों से अनृत आदिक पाप से संयोजित इन वागादि (देवतानाम्) देवताओं के (पाप्मानम्) पापस्वरूप (मृत्युम्) मृत्यु को (अपहत्य) वागादिदेवताओं से हटाकर (यत्र) जहाँ (आसाम्) इन (दिशाम्) दिशाओं का (अन्तः) अन्त है (तत्) वहाँ (गमयाञ्चकार) ले गई और (तत्) वहाँ ही दिगन्तप्रदेश में (आसाम्) इन वागादि देवताओं के (पाप्मनः) पापों को (विन्यदधात्) विशेषरूप से स्थापित कर दिया (तस्मात्) उस कारण से दिगन्त म्लेच्छदेश में (जनम्) उत्पत्तिको (न) नहीं (इयात्) भक्त प्राप्त करे और दिगन्तम्लेच्छदेश में (अन्तम्) मरण को (न) नहीं (इयात्) भक्त प्राप्त करे (नेत्) नहीं ही (पाप्मानम्) पापस्वरूप (मृत्युम्) मृत्यु को (अन्ववायानि) मैं पालूँगा (इति) इस भय से दिगन्त में न जाय ॥१०॥

विशेषार्थ– निश्चय करके वह दूरनामक इस मुख्य प्राण देवता ने पहले असुरों से अनृत आदिक पाप द्वारा संयोजित इन वागादि देवतओं के पाप स्वरूप मृत्यु को वागादि देवताओं से अलग कर जहाँ यानी जिस स्थान पर इन पूर्वादि दिशाओं का अन्त अर्थात् अवसान है वहाँ दिगन्त प्रदेश में पहुँचा दिया । यदि यह कहा जाय कि दिशाअें का तो अन्त ही नहीं है फिर पाप को दिशान्त में कैसे पहुँचा दिया । इस पर हमारा कथन यह है कि दिशाओं की कल्पना श्रौत विज्ञानवान् पुरुषों की सीमापर्यन्त ही की गयी है, अतः उनसे विरुद्ध आचरण वाले लोगों से बसा हुआ देश ही दिशाओं का अन्त है । वागादि देवताओं के पापों को वहाँ वर्णाश्रमधर्म रहित म्लेच्छदेश में विविध प्रकार से निश्चय कर के प्राण देवता ने स्थापित कर दिया । उस कारण से पाप रूप मृत्यु को मैं प्राप्त न हो जाऊँ इस प्रकार से डरता हुआ उपासक दिगन्तम्लेच्छ देश से जन्म को न प्राप्त करे और दिगन्तदेश में मरण को भी न प्राप्त करे । अर्थात् श्रौत कर्म से रहित स्थान पर जन्म और मरण शोभन नहीं है क्योंकि वहाँ ही इन्द्रियों का पाप सर्वदा रहता है ॥१०॥

सा वा एषा देवतैतासां देवतानां पाप्मानं मृत्युमपहत्याथैना मृत्युमत्यवहत् ॥११॥

अन्वयार्थ– (वै) निश्चय करके (सा) वह दूर नामक (एषा) इस मुख्य प्राण रूप (देवता) देवता ने (एतासाम्) इन वागादि (देवतानाम्) देवताओं के (पाप्मानम्) पाप स्वरूप (मृत्युम्) मृत्यु को (अपहत्य) विनष्ट करके (अथ) तदनन्तर (एनाः) इन वागादि देवताओं को प्राण देवताने (मृत्युम्) प्रकृत पाप रूप मृत्यु को (अति) अतिक्रमण कर (अवहत्) स्वरूप को प्राप्त करा दिया ॥११॥

विशेषार्थ– निश्चय करके उस दूर नामक इस मुख्य प्राण रूप देवता ने इन वागादि देवताओं के पाप स्वरूप मृत्यु को वागादि देवताओं से दूर कर पश्चात् इन वागादि देवताओं को प्रकृत पाप रूप मृत्यु से पारकर स्वरूप को प्राप्त करा दिया॥११॥

सा वै वाचमेव प्रथमामत्यवहत् । सा यदा मृत्युमत्यमुच्यत । सोऽग्निरभवत् । सोऽयमग्निः परेण मृत्युमतिक्रान्तो दीप्यते ॥१२॥

अन्वयार्थ– (वै) निश्चय करके (सा) वे मुख्य प्राणदेव (प्रथमाम्) सब देवताओं में श्रेष्ठ प्रधान (वाचम्) वाग्देवी को (एव) ही (अत्यवहत्) मृत्यु से परे ले गये (सा) वह वाग्देवी (यदा) जब (मृत्युम्) मृत्यु को (अत्यमुच्यत) अतिक्रमण करके स्वयं मुक्त हो गई तब (सः) वही वाणी (अग्निः) अग्नि (अभवत्) हो गई (सः) वह (अयम्) यह (अग्निः) अग्नि (अतिक्रान्तः) पाप से निकल कर (मृत्युम्) मृत्यु से (परेण) परे (दीप्यते) देदीप्यमान हो रही है ॥१२॥

विशेषार्थ– अब वाग्देवी की शुद्धि को कहते हैं कि– निश्चय करके उस मुख्य प्राणदेव ने सब देवताओं में श्रेष्ठ प्रधान भूत वाग्देवी को मृत्यु के पार पहुँचाया । वह वाग्देवी जिस समय मृत्यु से पार हुई उसी समय वह अग्नि हो गई । सो यह अग्नि पाप से निकल कर मृत्यु से परे होकर देदीप्यमान हो रही है ॥१२॥

अथ ह प्राणमत्यवहत् । स यदा मृत्युमत्यमुच्यत । स वायुरभवत् । सोऽयं वायुः परेण मृत्युमतिक्रान्तः पवते ॥१३॥

अन्वयार्थ– (अथ) वाग्देवता के मृत्यु के अतिक्रमण करने के अनन्तर (ह) प्रसिद्ध वह मुख्य प्राणदेव (प्राणम्) प्राण शब्द वाच्य घ्राणेन्द्रिय देव को (अत्यवहत्)

मृत्यु से परे ले गये (सः) वह प्राणदेव (यदा) जब (मृत्युम्) मृत्यु को (अत्यमुच्यत) अतिक्रमण करके मुक्त हो गया तब (सः) वही घ्राणेन्द्रिय देव (वायुः) वायु (अभवत्) हो गया (सः) वह (अयं) यह (वायुः) वायु (अतिक्रान्तः) पाप से निकल कर (मृत्युम्) मृत्यु से (परेण) पर (पवते) बह रही है ॥१३॥

विशेषार्थ– वाग्देवता के मृत्यु के अतिक्रमण करने के बाद उस सुप्रसिद्ध प्राणदेव ने प्राण शब्दवाच्य घ्राणेन्द्रिय देव को मृत्यु के पार पहुँचाया। वह घ्राणदेव जिस समय मृत्यु से पार हुआ उसी समय वह पवन हो गया। सो यह वायु पाप से निकल कर मृत्यु से परे होकर बह रही है ॥१३॥

अथ चक्षुरत्यवहत्। तद्यदा मृत्युमत्यमुच्यत। स आदित्योऽभवत्। सोऽसावादित्यः परेण मृत्युमतिक्रान्तस्तपति ॥१४॥

अन्वयार्थ– (अथ) घ्राण देवता के मृत्यु के अतिक्रमण करने के अनन्तर वह मुख्य प्राण देव (चक्षुः) नेत्रेन्द्रिय देव को (अत्यवहत्) मृत्यु से परे ले गये (तत्) वह नेत्रेन्द्रिय देव (यदा) जब (मृत्युम्) मृत्यु को (अत्यमुच्यत) अतिक्रमण करके मुक्त हो गया तब (सः) वही नेत्रेन्द्रिय देव (आदित्यः) सूर्य (अभवत्) हो गया (सः) वह (असौ) यह (आदित्यः) सूर्य देव (अतिक्रान्तः) पाप से निकल कर (मृत्युम्) मृत्यु से (परेण) परे (तपति) तपता है ॥१४॥

विशेषार्थ– घ्राणेन्द्रिय देव के मृत्यु के अतिक्रमण करने के बाद उस सुप्रसिद्ध मुख्य प्राण देव ने नेत्रेन्द्रिय देव को मृत्यु के पार पहुँचाया। वह नेत्रेन्द्रिय देव जिस समय मृत्यु से पार हुआ उसी समय वह सूर्य देव हो गया। सो यह सूर्य देव पाप से विनिर्मुक्त होकर मृत्यु से परे तपता है ॥१४॥

अथ श्रोत्रमत्यवहत्। तद्यता मृत्युमत्यमुच्यत। ता दिशोऽभवन्। ता इमा दिशः परेण मृत्युमतिक्रान्ताः ॥१५॥

अन्वयार्थ– (अथ) नेत्रेन्द्रिय देवता के मृत्यु के अतिक्रमण करने के अनन्तर वह मुख्य प्राणदेव (श्रोत्रम्) कर्णेन्द्रिय देवता को (अत्यवहत्) मृत्यु से पार ले गये (तत्) वह कर्णेन्द्रिय देव (यदा) जब (मृत्युम्) मृत्यु को (अत्यमुच्यत) अतिक्रमण करके मुक्त हो गया तब (ताः) वे (दिशः) दिग्देवताएं (अभवन्) हुईं (ताः) वे (इमाः) ये (दिशः) दिग्देवता (मृत्युम्) मृत्यु से (परेण) परे (अतिक्रान्ताः) पाप से विनिर्मुक्त हो गईं॥१५॥

विशेषार्थ– नेत्रेन्द्रिय देव के मृत्यु के अतिक्रमण करने के बाद उस सुप्रसिद्ध मुख्य प्राण देव ने श्रोत्रेन्द्रिय देव को मृत्यु के पार पहुँचाया। वह श्रोत्रेन्द्रिय देव जिस समय मृत्यु को अतिक्रमण करके मुक्त हो गया उसी समय वे दिग्देवतायें हुईं। सो ये दिग्देवतायें मृत्यु से परे पाप से विनिर्मुक्त हो गईं। और ये दिशायें पूर्वादि के विभाग से स्थित हैं॥१५॥

अथ मनोऽत्यवहत्। तद्यदा मृत्युमत्यमुच्यत। स चन्द्रमा अभवत्। सोऽसौ चन्द्रः परेण मृत्युमतिक्रान्तोभात्येवं ह वा एनमेषा देवता मृत्युमतिवहति य एवं वेद ॥१६॥

अन्वयार्थ– (अथ) श्रोत्रेन्द्रिय देव के मृत्यु के अतिक्रमण करने के अनन्तर वह मुख्य प्राण देव (मनः) मनोदेव को (अत्यवहत्) मृत्यु से पर ले गये (तत्) वह मनोदेव (यदा) जब (मृत्युम्) मृत्यु को (अत्यमुच्यत) अतिक्रमण करके मुक्त हो गया तब (सः) वह (चन्द्रमाः) चन्द्रदेव (अभवत्) हो गया (सः) वह (असौ) यह (चन्द्रः) चन्द्रदेव (अतिक्रान्तः) पाप से निकल कर (मृत्युम्) मृत्यु से (परेण) परे (भाति) शोभित हो रहा है (यः) जो उपासक (एवम्) इस प्रकार वागादि अभिमनी अग्नि आदि देवताओं के अत्यवहन क्रम को (वेद) जानता है तो (वै) निश्चय करके (ह) सुप्रसिद्ध (एषा) यह (देवता) प्राणस्वरूप देवता (एनम्) इस उपासक पुरुष को (एवम्) इस पूर्वोक्त प्रकार से (मृत्युम्) मृत्यु को (अतिवहति) अतिक्रमण करके पार पहुँचाती है॥१६॥

विशेषार्थ– श्रोत्रेन्द्रिय देव के मृत्यु के अतिक्रमण करने के बाद उस सुप्रसिद्ध मुख्य प्राण देव ने मनोदेव को मृत्यु के पार पहुँचाया। वह मनोदेव जिस समय मृत्यु को अतिक्रमण करके मुक्त हो गया उसी समय वह चन्द्रमा हो गया। सो यह चन्द्रदेव पाप से निकल कर मृत्यु से परे प्रकाशित होता है। अब आगे इसउपासना का फल कहा जाता है। जो कोई उपासक इस प्रकार वागादि अभिमानी अग्नि आदिदेवताओं के अत्यवहन क्रम को जानता है। उस उपासक महात्मा को निश्चय करके सुप्रसिद्ध यह प्राण देवता पूर्वोक्त प्रकार से ही मृत्यु के अतिक्रमण करके पार पहँचाती है। मन के विषय में लिखा है– चित्तंतु चेतो हृदयं स्वान्तं हृन्मानसं मनः॥ (अमर० कां० १ क० ४ श्लोक ३१) चित्त १, चेतस् २, हृदय ३, स्वान्त ४, हृद् ५, मानस ६ और मनस् ७ ये मन के नाम हैं ॥३१॥ इस प्रकार का स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है॥१६॥

अथात्मनेऽन्नाद्यमागायत् । यद्धि किञ्चान्नमद्यतेऽनेनैव तदद्यते । इह प्रतितिष्ठति ॥१७॥

अन्वयार्थ– (अथ) मनोदेव के मृत्यु के अतिक्रमण करने के अनन्तर उस मुख्य प्राण देव ने (आत्मने) अपने लिये (अन्नाद्यम्) भक्षण करने योग्य अन्न को (आगायत्) अच्छे प्रकार गाया (हि) क्योंकि (यत्) जो (किं+च) कुछ भी (अन्नम्) अन्न (अद्यते) खाया जाता है (तत्) वह (अनेन) प्राण से (एव) ही (अद्यते) खाया जाता है (इह) इस अन्न में (प्रतितिष्ठति) प्राण प्रतिष्ठित होता है ॥१७॥

विशेषार्थ– मनोदेव के मृत्यु के अतिक्रमण करने के अनन्तर जिस प्रकार वागादि देवताओं ने अपने लिये कल्याण को अच्छे प्रकार गाया था उसी प्रकार मुख्य प्राणदेव ने भी अपने लिये अन्नाद्य का अच्छे प्रकार गान किया अर्थात् गान के सामर्थ्य से भक्षण करने योग्य अन्न को सम्पादन किया । "अन्नं च तदाद्यं च अन्नाद्यम्" इस व्युत्पत्ति के द्वारा जो अन्न हो और आद्य यानी भक्ष्य भी हो उसको "अन्नाद्य" कहते हैं । "हि" यह अव्यय हेत्वर्थ में है । अर्थात् क्योंकि लोक में प्राणियों द्वारा जो कुछ भी अन्न भक्षण किया जाता है वह अन्न यानी प्राण के द्वारा ही भोजन किया जाता है । "अन्न" यह प्राण का नाम प्रसिद्ध है क्योंकि "अन प्राणने" इस धातु से "अन्न" शब्द निष्पन्न होता है और इस अन्न में प्राण प्रतिष्ठित रहता है । अन्न के विषय में लिखा है– अद्यते अत्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यत इति ॥ (तैत्ति० उ० व० २ अनु० २ श्रु० १) वह जीवन दशा में प्राणियों करके भक्षण किया जाता है और सब प्राणियों को स्वयं भी नाश दशा में खाता है उससे अन्न इस नाम से कहा जाता है ॥१॥ प्रकृत कण्डिका में प्राण का अन्नाद्यागान प्रतिपादन किया गया है ॥१७॥

ते देवा अब्रुवन् । एतावद्वा इदं सर्वं यदन्नं तदात्मन आगासीरनु नोऽस्मिनन्न आभजस्वेति । ते वै माऽभिसंविशतेति । तथेति तं समन्तं परिण्यविशन्त । तस्माद्यदनेनान्नमत्ति तेनैतास्तृप्यन्ति । एवं ह वा एनं स्वा अभिसंविशन्ति भर्ता स्वानां श्रेष्ठः पुर एता भवत्यन्नादोऽधिपतिर्य एवं वेद । य उ हैवंविदं स्वेषु प्रति प्रतिर्बुभूषति न हैवालं भार्येभ्यो भवति । अथ य एवैतमनुभवति यो वैतमनुभार्यान् बुभूर्षति स एवालं भार्येभ्यो भवति ॥१८॥

अन्वयार्थ– (ते) वे वागदिक (देवाः) देवगण (अब्रुवन्) प्राणदेव से बोले कि (यत्) जो (इदम्) यह (अन्नम्) अन्न है (वै) निश्चय करके (सर्वम्) सब अन्न (एतावत्) इतना ही है (तत्) उस समस्त अन्न को (आत्मने) अपने लिये (आगसीः) तुमने आगान कर लिया है अब हम लोग क्या खाकर जीवेंगे इस हेतु (अनु) अपने भोग के पश्चात् (अस्मिन्) इस उपार्जित (अन्ने) अन्न में (नः) हमलोगों को भी (आभजस्व) थोड़ा भाग दीजिये (इति) इस वचन को सुन कर प्राणदेव बोले कि (ते) वे अन्नार्थी आप सब (वै) निश्चय करके (मा) मुझ में (अभि) चारों तरफ से (संविशत) अच्छे प्रकार पैठ जायें उसी से आप सब को भाग मिल जायेगा (इति) इस बात को सुनकर वे वागादि देव (तथा) बहुत अच्छा (इति) ऐसा कह कर (तम्) उस प्राण में (समन्तम्) भलीभाँति (परिण्यविशंन्त) चारो तरफ से निश्चय करके पैठ गये (तस्मात्) उसी कारण से सब प्राणी (यत्) जिस (अन्नम्) अन्न को (अनेन) इस प्राण के द्वारा (अत्ति) खाता है (तेन) उसी प्राणभक्षित अन्न से (एताः) ये वागादिदेवता (तृप्यन्ति) तृप्त रहते हैं (यः) जो उपासक पुरुष (एवम्) इस प्रकार प्राणदेव को (वेद) जानता है (ह) प्रसिद्ध वह उपासक (वै) निश्चय करके निम्नलिखित फल को पाता है (एवम्) जैसे कि मुख्य प्राण के आश्रय से सब इन्द्रियाँ जीवित रहती हैं वैसे ही (एनम्) इसप्राण वेत्ता पुरुष में भी (स्वाः) उसकी ज्ञातियाँ (अभिसंविशन्ति) सब ओर से आश्रय ग्रहण करती हैं और वह उपासक (स्वानाम्) अपनी ज्ञातियों को (भर्ता) भरण पोषण करने वाला होता है तथा ज्ञातियों में (श्रेष्ठः) श्रेष्ठ पूज्य होता है और (पुरः+एता) अग्रेसर होता है तथा (अन्नादः) अभिमत अन्न का भोक्ता व्याधि रहित नीरोग सदा रहता है और (अधिपतिः) सब के ऊपर पालन करने वाला अधिपति (भवति) होता है (ह) प्रसिद्ध (उ) आश्चर्य की बात है कि (स्वेषु) अपने सम्बन्धी ज्ञाति बन्धु बान्धवों में से (यः) जो कोई पुरुष (एवंविदम्) इस प्रकार के जानने वाले प्राणविद्यानिष्ठ उपासक के (प्रति) प्रति (प्रतिः) प्रतिकूल हो कर (बुभूषति) उसका शत्रु बनना चाहता है तो वह (भार्येभ्यः) उपने भरण पोषण करने योग्य पुत्र कलत्रादि के भरणार्थ (एव) निश्चय करके (अलम्) समर्थ (न) नहीं (भवति) होता है (ह) यह बात प्रसिद्ध है (अथ) और (यः) जो कोई (एव) निश्चय करके (एतम्) इस प्राणवेत्ता पुरुष के (अनु) अनुकूल (भवति) होता है (वा) अथवा (यः) जो कोई (एतम्) इस प्राण वेत्ता पुरुष के (अनु) अनुसरण करता हुआ (भार्यान्) अपने भरण-पोषण करने योग्य पुत्र कलत्र आदिकों को (बुभूर्षति) भरण करने की इच्छा करता है (सः) वह (एव) निश्चय करके (भार्येभ्यः) अपने भरण-पोषण करने योग्य पुत्र कलत्रादि के भरणार्थ (अलम्) समर्थ (भवति) होता है ॥१८॥

विशेषार्थ–पुनः प्राण के गुणों को दिखलाने के लिये आगे का प्रकरण कहा जात है । जब मुख्य प्राणदेव ने अपने लिये भोज्यान्न गान किया तब वे वागादिक देवगण प्रांण देव से सविनय बोले कि– हे प्राणदेव जो अन्न प्राणिमात्र के जीवन का कारण है यह सब अन्न इतना ही है । इसमें संदेह नहीं अर्थात् जितना अन्न अपने गान से उपार्जित किया है उससे अधिक संसार में अन्न नहीं है । हे प्राण देव परन्तु उस अन्न को आपने अपने लिये गाया है । अब हमलोग क्या खाकर जीवेंगे । इसहेतु अपने भोग के पश्चात्– यहां "अनु" शब्द का अर्थ पश्चात् है क्योंकि लिखा है– **पश्चात्सादृश्ययोरनु** ॥ (अमर० कां० ६ व० ३ श्लो० २४८) पीछे तथा सदृशता में अनु शब्द का प्रयोग होता है ।।२४८।। इस उपार्जित अन्न में हमलोगों को भी थोड़ा भाग दीजिये । "आभजस्व" यहाँ पर ईषदर्थ में आङ् प्रयुक्त हुआ है क्योंकि लिखा है– **आङीषदर्थेऽभिव्याप्तौ सीमार्थे धातुयोगजे** ॥ (अमर० कां० ३ व० ३श्लोक २३९) आङ्, ईषत्, अभिव्याप्ति, सीमार्थ और धातुयोगज में प्रयुक्त होता है ।।२३९।। इस प्रकार सब वागादि देवों का वचन सुन कर प्राण बोले कि– वे भाग लेने वाले आप सब निश्चय करके मुझमें चारो तरफ से अच्छे प्रकार पैठ जायं उसी से आप सबको भाग मिल जायगा । यह सुन वे वागादि देव बहुत अच्छा ऐसा कहकर उस मुख्य प्राण में पैठ गये । जिस हेतु सब वागादि देव प्राण में पैठ गये उस कारण सब प्राणी जिस अन्न को भक्षण करते हैं उसी प्राणभक्षित अन्न से ये वागादि देवता तृप्त रहते हैं। आगे इस उपासना का फल कहा जाता है । निश्चय ही इसी प्रकार जैसे कि मुख्य प्राण के आश्रय से सब इन्द्रियाँ जीवित रहती हैं वैसे ही इस प्राणवेत्ता पुरुष में भी उसकी ज्ञाति सब ओर से आश्रयण ग्रहण करके जीती है। और वह प्राणवित् उपासक अपनी ज्ञातियों का भरण पोषण करने वाला होता है तथा ज्ञातियों में श्रेष्ठ पूज्य होता है। और अग्रगामी होता है तथा अभिमत अन्न का भोक्ता व्याधि रहित नीरोग सदा रहता है और सबके ऊपर पालन करने वाला अधिपति होता है । किसका यह पूर्वोक्त फल कहा गया है सो आगे कहा जाता है । जो कोई उपासक पुरुष प्राणदेव को पुर्वोक्तरूप से भलीभाँति जानता है। अब आगे प्राणवेत्ता महात्मा के विद्वेषी का दोष कहा जाता हैं । आश्चर्य की बात है कि अपने संबन्धी ज्ञाति बन्धु बान्धवों में से जो कोई इस प्रकार से जानने वाले उपासक के प्रति प्रतिकूल प्रतिभट होकर उसका शत्रु बनना चाहता है तो वह पुरुष अपने भरण पोषण करने योग्य माता पिता आदिक ज्ञातियों के भरणार्थ निश्चय करके कदापि भी नहीं समर्थ होता है । यहाँ "अलम्" शब्द का अर्थ पर्याप्त है क्योंकि लिखा है– **अलं भूषण-पर्याप्तिशक्तिवारणवाचकम्** ॥ (अमर० कां० ३ व० ३ श्लोक २५२) भूषण, परिपूर्णता, सामर्थ्य और मना

करने में अलम् शब्द का प्रयोग होता है ।।२५२।। अब आगे प्राणवेत्ता महात्मा के अनुकूल होता है अथवा जो कोई इस प्राणवेत्ता पुरुष का अनुसरण करता हुआ अपने भरण पोषण करने की इच्छा करता है वह निश्चय करके अपने भरण पोषण करने योग्य माता पिता आदि ज्ञातियों के भरणार्थ समर्थ होता है। इस कण्डिका में प्राण का सर्वपोषकत्व और उसकी उपासना का फल प्रतिपादन किया गया है।।१८।।

सोऽयास्य आङ्गिरसाऽङ्गानां हि रसः प्राणो वा अङ्गानां रसः । प्राणो हि वा अङ्गानां रसस्तस्माद्यस्मात्कस्माच्चाङ्गात्प्राण उत्क्रामति तदेव तच्छुष्यत्येष हि वा अङ्गानां रसः ।। १९।।

अन्वयार्थ— (सः) वह मुख्य प्राणदेव (अयास्यः) मुखाभ्यन्तर में रहने से अयास्य कहलाता है और (आङ्गिरसः) सम्पूर्ण अवयवों का रस होने से आङ्गिरस कहलाता है (हि) क्योंकि वह प्राण (अङ्गानाम्) सम्पूर्ण अवयवों का (रसः) रस है (वै) निश्चय करके (प्राणः) मुख्य प्राण (अङ्गानाम्) सब अवयवों का (रसः) रस है (हि) क्योंकि (प्राणः) मुख्य प्राण (वै) निश्चय करके (अङ्गानाम्) अङ्गों का (रसः) है (तस्मात्) उसी कारण से (यस्मात्) जिस (कस्मात्) किसी (च) भी (अङ्गात्) शरीर के अवयव से (प्राणः) मुख्य प्राण (उत्क्रामति) निकल जाता है (तत्) वहाँ (एव) ही (तत्) वह अङ्ग (शुष्यति) सूख जाता है नीरस होने से (हि) क्योंकि (वै) निश्चय करके (एषः) यह प्राण (अङ्गानाम्) सम्पूर्ण अवयवों का (रसः) रस है ।।१९।।

विशेषार्थ— पूर्वोक्त अयास्यत्व को और आङ्गिरसत्व को विद्या भेद भ्रम दूर करने के लिये फिर से श्रुति प्राण का ही वर्णन करती है कि— वह मुख्य प्राण ही मुख में निवास करने से "अयास्य" कहलाता है और शरीर के सम्पूर्ण अवयवों के रस होने से "आङ्गिरस" भी कहलाता है। यह बात तृतीय उद्गीथ ब्राह्मण की आठवीं कण्डिका में भी स्पष्ट कही गयी है। आङ्गिरस क्यों प्राण कहलाता है इसका कारण आगे कहा जाता है क्योंकि वह मुख्य प्राण शरीर के सम्पूर्ण अवयवों का रस है । निश्चय कर के मुख्य प्राण शरीर के सब अङ्गों का रस है इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है । मुख्य प्राण शरीर के अवयवों का रस है उसी कारण से जिस किसी भी शरीर के अङ्ग से मुख्य प्राण निकल जाता है वह अङ्ग वहाँ ही नीरस होने से सुख जाता है । इसलिये वागादि का त्याग कर मुख्य प्राणदेव ही उपासनीय है ।।१९।।

एष उ एव बृहस्पतिर्वाग्वै बृहती तस्या एषः पतिस्तस्माद्

बृहस्पतिः ॥२०॥

अन्वयार्थ – (एव) निश्चय करके (एषः) यह मुख्य प्राण (बृहस्पतिः) बृहस्पति (उ) भी कहलाता है क्योंकि (वै) निश्चय करके (वाक्) वाणी (बृहती) बृहती कहलाती है (तस्याः) उस वाणी का (एषः) यह मुख्य प्राण (पतिः) पालक पति है (तस्मात्) उसी कारण से (उ) निश्चय करके (वृहस्पतिः) वृहस्पति कहलाता है ॥२०॥

विशेषर्थ – यह मुख्य प्राण ही बृहस्पति भी कहलाता है। किस प्रकार बृहस्पति कहलाता है सो आगे बतलाया जाता है। वाणी ही बृहती कहलाती है अर्थात् वाणी का नाम बृहती है। छत्तीस अक्षरें वाली बृहती छन्द है। उस वाणी का यह मुख्य प्राण पति है उसी कारण से निश्चय करके बृहस्पति कहलाता है। उस श्रुति में प्रथम "उ" पद अपि के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और द्वितीय निर्धारणार्थक एव के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है क्योंकि लिखा है– **तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥** (श्वे० श्रु० ५) वह परब्रह्म नारायण निश्चय करके इस स्थावर, जंगम स्वरूप समस्त जगत् के बाहर भी है ॥५॥ इस श्रुति में "उ" निर्धारणार्थक एव के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और भी लिखा है– **तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ॥** (श्वे० उ० अ० ४ श्रु० २) वह निश्चय करके अग्नि है, वह सूर्य है, वह वायु है और वही चन्द्रमा है ॥२॥ इस श्रुति में निर्धारणार्थ एव के अर्थ में "उ" का प्रयोग हुआ है। यहाँ पर मुख्य प्राण का बृहस्पतित्व कथन किया गया है ॥२०॥

एष उ एव ब्रह्मणस्पतिर्वाग्वै ब्रह्म तस्या एष पतिस्तस्मादु ब्रह्मणस्पतिः ॥२१॥

अन्वयार्थ – (एव) निश्चय करके (एषः) यह मुख्य प्राण (ब्रह्मणस्पतिः) ब्रह्मणस्पति (उ) भी कहलाता है क्योंकि (वै) निश्चय करके (वाक्) वाणी (ब्रह्म) ब्रह्म यानी वेद है (तस्याः) उस वाणी का (एषः) यह मुख्य प्राण (पतिः) रक्षक पति है (तस्मात्) उसी कारण से (उ) निश्चय करके (ब्रह्मणस्पतिः) ब्रह्मणस्पति कहलाता है ॥२१॥

विशेषार्थ – यह मुख्य प्राण ही ब्रह्मणस्पति भी कहलाता है। किस प्रकार ब्रह्मणस्पति कहलाता है सो आगे बतलाया जाता है। वाणी ही ब्रह्म कहलाती है अर्थात् वाणी का नाम ब्रह्म है। यहाँ ब्रह्म माने वेद होता है क्योंकि लिखा है – **तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये ॥** (श्रीमम्द्रा० पु० स्कं० १ अ० १ श्लोक १) जिस पर ब्रह्मनारायण

ने हृदय से आदि कवि ब्रह्मा के लिये ब्रह्म यानी वेद का विस्तार किया ।।१।। उस वाणी का यह मुख्य प्राण रक्षक पति है उसी कारण से निश्चय करके ब्रह्मणस्पति कहलाता है । इस श्रुति में ब्रह्म का अर्थ वेद होता है । यहाँ पर मुख्य प्राण का ब्रह्मणस्पतित्व प्रतिपादन किया गया है ।।२१।।

एष उ एव साम वाग्वै सामैष सा चामश्चेति तत्साम्नः सामत्वम् । यद्वेव समः प्लुषिणा समो मशकेन समो नागेन सम एभिस्त्रिभिर्लोकैः समोऽनेन सर्वेण तस्माद्वेव साम । अश्नुते साम्नः सायुज्यं सलोकतां जयति य एवमेतत्साम वेद ।।२२।।

अन्वयार्थ – (एव) निश्चय करके (एषः) यह वाग्विशिष्ट मुख्य प्राण (साम) (उ) भी कहलाता है क्योंकि (वै) निश्चय करके (वाक्) वाणी (सा) सा है और (एषः) यह मुख्य प्राण (अमः) अम है (सा) सा (च) और (अमः + च) अम भी (इति) ये दोनों मिल कर साम बनता है (तत्) वही (साम्नः) साम का (सामत्वम्) सामत्व है अब अन्य प्रकार से साम शब्द का निर्वचन कहा जाता है (उ) अथवा (यत्) जिस कारण से (एव) निश्चय करके (प्लुषिणा) छोटी मक्खी के शरीर के (समः) तुल्य यह प्राण है (मशकेन) मच्छर के शरीर के (समः) समान यह प्राण है (नागेन) हाथी के शरीर के (समः) तुल्य यह प्राण है (एभिः) इन (त्रिभिः) तीनों (लोकैः) लोकों के अर्थात् समष्टि जीव भूत त्रैलोक्य शरीरक प्रजापति के शरीर के (समः) समान यह प्राण है और (अनेन) इस (सर्वेण) सब देव मनुष्यादि के शरीर के (समः) तुल्य यह प्राण है (तस्मात्) उसी कारण से (एव) निश्चय (उ) ही यह प्राण (साम) साम है (यः) जो उपासक (एवम्) इस प्रकार (एतत्) इस (साम) साम शब्द की निरुक्ति को (वेद) सर्वदा अनुसंधान करता है वह उपासक (साम्नः) सामशब्दित प्राण के (सायुज्यम्) प्राण देवता के समान लोकता को (अश्नुते) प्राप्त करता है और (सलोकताम्) सालोक्य को (जयति) प्राप्त करता है ।।२२।।

विशेषार्थ – यह वाग्विशिष्ट मुख्य प्राण ही साम भी कहलाता है । किस प्रकार साम कहलाता है सो आगे बतलाया जाता है । "सा + अम" इन दो शब्दों से "साम" बनता है । "तत्" शब्द के स्त्रीलिंग में "सा" होता है । और गत्यर्थक "अम" धातु से "अ" प्रत्यय होकर "अमः" पुलिंग में निष्पन्न होता है । इस कारण से वाणी ही "सा" है । क्योंकि "अमः" तथा "प्राणः" ये दोनों शब्द पुलिंग हैं ।

सा+च+अमः+च इस व्युत्पति के अनुसार "साम" होता है । "सा" और "अम" इन दोनों को मिल कर "साम" होता है । "सा" माने वाणी और "अम" माने प्राण होता है । और "साम" शब्द वाक् तथा प्राण का अभिधान भूत है । यहाँ यही साम का सामत्व है । साम का लक्षण अन्यत्र भी लिखा है— **गीतिषु सामाख्या ॥** (पूर्वमी० अ० २ पा० १ सू० ३६) गान में सामवेद नाम होता है ॥३६॥ गान भी वाग्विशिष्ट प्राणं की ही सहायता से होता है । इससे वाणी और प्राण के सिवा "साम" नाम की कोई वस्तु नहीं है । अब अन्य प्रकार से भी साम शब्द का निर्वचन कहा जाता है । अथवा निश्चय करके जिस कारण से ये मुख्य प्राण छोटी मक्खी के शरीर के समान है । क्योंकि उस शरीर में भी प्राण है । अनु कीट का नाम "प्लुषि" है । और यह मुख्य प्राण मशक के शरीर के समान है । तथा यह प्राण हाथी के शरीर के समान है । हाथी का नाम नाग है क्योंकि लिखा है— **दन्ती दन्तावलो हस्ती द्विरदोऽनेकपो द्विपः । मतङ्गजो गजो नागः कुञ्जरो वारणः करी ॥** (अमर० कां० २ व० ८ श्लोक ३४) **इभः स्तम्बेरमः पद्मी ॥३५॥** दन्तिन् १,दन्तावल २, हस्तिन् ३, द्विरद ४, अनेकप ५, द्विप ६, मतङ्गज ७, गज ८, नाग ९, कुञ्जर १०, वारण ११, और करिन् १२ ॥३४॥ इभ १३, स्तम्बेरम १४ और पद्मिन् १५ ये हाथी के नाम हैं ॥३५॥ और यह मुख्य प्राण समष्टि जीव भूत त्रैलोक्य शरीरक प्रजापति के शरीर के समान है । तथा यह मुख्य प्राण इस सम्पूर्ण देव मनुष्य आदिक के शरीर के समान है । क्योंकि ब्रह्मादि पिपीलिकान्त सब शरीर में प्राण है । उसी कारण से निश्चय करके यह प्राण "साम" कहलाता है । यहाँ इतना और जान लेना चाहिये कि "साम" और "सम" ये दोनों समान हैं क्योंकि लिखा है— **ह्रस्वस्य ग्रहणे दीर्घस्यापि ग्रहणम् ॥** ह्रस्व के ग्रहण होने पर दीर्घ का भी ग्रहण हो जाता है ॥ इस न्याय से "सम" शब्द से ही "साम" का ग्रहण होता है । एकार्थ मानने पर ही पूर्वोक्त व्यवस्था होगी । अब आगे साम शब्द की निरुक्ति के ज्ञान का फल कहा जाता है । जो कोई उपासक इस प्रकार इस साम शब्द की निरुक्ति को सर्वदा भलीभांति अनुसन्धान करता है वह उपासक साम शब्दित प्राण के प्राणदेवता के समान लोकता को प्राप्त करता है और सालोक्य को प्राप्त कर लेता है । यहाँ प्राण का सामत्व प्रतिपादन किया गया है । **यतिसार्वभौम भगवद्रामानुजाचार्य ने अणुश्च ॥** (शा० मी० अ० २ पा० ४ सू० १२) के श्रीभाष्य में "बृहदारण्यकोपनिषद्" के प्रथम अध्याय के तृतीय ब्राह्मण की बाईसवीं कण्डिका के "सम एभिस्त्रिभिर्लोकैः समोऽनेन सर्वेण" इस खण्ड को उद्धृत किया है ॥२२॥

एष उ वा उद्गीथः प्राणो वा उत्प्राणेन हीदं सर्वमुत्तब्धं वागेव

गीथोच्च गीथा चेति स उद्गीथः ॥२३॥

अन्वयार्थ– (वै) निश्चय करके (एषः) यह वाक् प्राण समुदाय (उद्गीथः) उद्गीथ नामक सामभक्ति (उ) भी कहलाता है (वै) निश्चय करके (प्राणः) मुख्य प्राण (उत्) उत् है (हि) क्योंकि (प्राणेन) मुख्य प्राण से (इदम्) यह (सर्वम्) सब वस्तु मात्र (उत्तब्धम्) धारण किया हुआ है (वाक्) वाणी (एव) ही (गीथा) गीथा है और (उत्) उत् (च) और (गीथा) गीथा (च) भी (इति) ये दोनों मिलकर (सः) वह (उद्गीथः) उद्गीथ शब्द बनता है ॥२३॥

विशेषार्थ– यह वाक् प्राण समुदाय ही उद्गीथ नाम का साम भक्ति भी कहलाता है। क़िस प्रकार उद्गीथ कहलाता है सो आगे बतलाया जाता है। निश्चय करके प्राण ही "उत्" है क्योंकि प्राण से ही यह सब जगत् ऊपर की ओर ठहरा हुआ है अर्थात् धारण किया हुआ है। और वाणी ही "गीथा" है क्योंकि उद्गीथ भक्ति शब्द करना है अतः वाक् ही गीथा है। "उत्+च+गीथा+च" इस व्युत्पत्ति के अनुसार "उत्" और "गीथा" ये दोनों शब्द मिल कर "उद्गीथ" शब्द बनता है। "उत्" माने प्राण और "गीथा" माने प्राणतन्त्रा वाणी है अतः इन दोनों का एक ही शब्द से कथन होता है वह शब्द "उद्गीथ" है। यहाँ वाग्विशिष्ट प्राण की उद्गीथता का वर्णन किया गया है॥२३॥

तद्धापि ब्रह्मदत्तश्चैकितायनेयो राजानं भक्षयन्नुवाच। अन्यस्यायं राजा मूर्धानं विपातयात् । यदितोऽयास्याङ्गिरसोऽन्येनोदगायदिति । वाचा चैव स प्राणेन चोदगायत् ॥२४॥

अन्वयार्थ– (तत्) वाग्विशिष्ट प्राण के विषय में (ह) सुप्रसिद्ध यह एक आख्यायिका (अपि) भी है (चैकितायनेयः) चैकितायन ऋषि के पुत्र (ब्रह्मदत्तः) ब्रह्मदत्त नाम वाला ऋषि (राजानम्) सोम राजा को (भक्षयन्) सोमयज्ञ में भक्षणकरता हुआ कहा कि (अयम्) यह भक्ष्यमाण (राजा) सोम राजा (अन्यस्य) दूसरे के (मूर्धानम्) शिर को (विपातयात्) गिरा देवे (यत्) जिस कारण से (इतः) इस (अयास्याङ्गिरसः) मुख में रहने वाला सब अंगों के रस स्वरूप मुख्य प्राण से (अन्येन) अन्य यानी देवतान्तर के द्वारा (उदगायत्) उद्गीथ का उद्गान किया है (इति) ऐसा शपथ ऋषि ने किया (सः) उस ब्रह्मदत्त नाम वाले ऋषि ने (एव) निश्चय करके (वाचा) वाणी से (च) ही (च) और (प्राणेन) मुख्य प्राण से (उदगायत्) उद्गीथ

का उद्गान किया है अर्थात् वाक्सहित प्राणवेदन करके उद्गान किया ॥ २४॥

विशेषार्थ– वाग्विशिष्ट प्राण ही उद्गीथ है । इसको पहले कह आये हैं । इसी विषय में सुप्रसिद्ध वक्ष्यमाण यह एक आख्यायिका भी कही जाती है कि– चैकितायन महर्षि के पुत्र ब्रह्मदत्त नाम वाला ऋषि एक समय सोमयज्ञ में सोमरस पान करता हुआ इस प्रकार बोला कि– यह भक्ष्यमाण सोम राजा दूसरे मिथ्यावादी के मस्तक को अच्छे प्रकार गिरा देवे । आगे अपराध बतलाया जाता है । जिस कारण से इस मुख में निवास करनेवाले और शरीर के सब अवयवों के रस स्वरूप प्राण से अन्य देवतान्तर की सहायता से उद्गीथ का उद्गान किया है। अर्थात् मुख्य प्राण वेदन के बिना देवतान्तर दृष्टि करके जो उद्गीथ का उद्गान करता है उस सोमपान करने वाले का मस्तक गर्दन से टूट कर गिर जाय । इस प्रकार सोम भक्षण करते हुए ब्रह्मदत्त महर्षि ने शपथ किया । निश्चय करके उस ब्रह्मदत्त नाम वाले ऋषि ने अयास्याङ्गिरस-शब्दित वाक् सहित प्राणदेव का वेदन करके उद्गीथ का उद्गान किया इससे उसका शिर गर्दन से टूट कर नहीं गिरा । चिकित के गोत्रापत्य को "चैकिति" कहते हैं । यहाँ पर – **अत इञ्** ॥ (पा० व्या० अ० ४ पा० १ सू० ९५) इस सूत्र से इञ् प्रत्यय होता है । और चैकिति के युवा अपत्य को "चैकितायन" कहते हैं । यहाँ **यञिञोश्च** ॥ (पा० व्या० अ० ४ सू० १०१) इस सूत्र से फक् प्रत्यय होता है । तदनन्तर आयनादेश होता है । सोम के विषय में लिखा है– **सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा** ॥ (श्रुति) ब्रह्मवेत्ता हम सब ब्राह्मणों का सोम राजा है ॥ **अरुणया पिङ्गाक्ष्यैकहायन्या सोमं क्रीणाति** ॥ (श्रुति) पिङ्गल वर्ण के नेत्रवाली, ईषत् रक्त वर्ण वाली एक वर्ष की गौ से सोमलता को खरीदता है॥ सोमामृत का वर्णन सुश्रुत में है कि– **ब्रह्मदयोऽसृजन्पूर्वममृतं सोमसंज्ञितम् । जरामृत्युविनाशाय विधानं तस्य वक्ष्यते** ॥ (सुश्रुत चिकित्सास्था० अध्या० २९ श्लोक ३) **एक एव खलु भगवान्सोमः स्थाननामाकृतिवीर्यविशेषैश्चतुर्विंशतिधा भिद्यते ॥४॥ तद्यथा = अंशुमान् मुञ्जवांश्चैव चन्द्रमा रजतप्रभः । दूर्वासोमः कनीयांश्च श्वेताक्षः कनकप्रभः ॥५॥ प्रतनवांस्तालवृन्तः करवीरोंशवानपि । स्वयंप्रभो महासोमो यश्चापि गरुडाहृतः ॥६॥ गायत्र्यस्त्रैष्टुभः पाङ्क्तो जागतः शाङ्करस्तथा । अग्निष्टोमो रैवतश्च यथोक्त इति संज्ञितः ॥७॥ गायत्र्या त्रिपदा युक्तो यश्चोडुपतिरुच्यते । एते सोमाः समाख्याता वेदोक्तैर्नामभिः शुभैः ॥८॥ सर्वेषामेव चैतेषामेको विधिरुपासने । सर्वे तुल्यगुणाश्चैव विधानं तेषु वक्ष्यते ॥९॥** ब्रह्मादिक देवताओं ने पहले सोम नाम वाले अमृत को बनाया, जरा मरण के विनाश के लिये उस सोम का विधान मैं कहूँगा॥३॥ एक ही सोम भगवान स्थान नाम आकृति और वीर्य विशेष से चौबीस प्रकार के भेद

से युक्त हैं ।।४।। वे जैसे आगे वर्णन किये जाते हैं । अंशुमान् १, मुञ्जवान् २, चन्द्रमा ३, रजतप्रभ ४, दूर्वासोम ५, कनीयान् ६, श्वेताक्ष ७, और कनकप्रभ ८, ।।५।। प्रतानवान् ९, तालवृन्त १०, करवीर ११, अंशवान् १२, स्वयंप्रभ १३, महासोम १४ और गरुडाहृत १५ ।।६।। गायत्र्य १६, त्रैष्टुभ १७, पाङ्क्त १८, जागत १९, शाङ्कर २०, अग्निष्टोम २१, रैवत २२ और यथोक्तसंज्ञक २३ ।।७।। तथा त्रिपदा गायत्रीयुक्त उडुपति २४ ये चौबीस प्रकार के सोम वेद विहित शुभ नाम वाले हैं । ।।८।। इन सब सोमों की उपासना में एक ही विधि कही गयी है और सब सोम तुल्य गुण वाले हैं उन सोमों के विधान मैं आगे कहूँगा ।।९।। **अंशवन्तं सौवर्णे पात्रेऽभिषुणुयात् चन्द्रमसं राजते चोपयुज्याष्टगुणमैश्वर्यमवाप्येशानं देवमनुप्रविशति शेषांस्तु ताम्रमये मृण्मये वा रोहिते वा चर्मणि वितते शूद्रवर्जं त्रिभिर्वर्णैः सोमा उपयोक्तव्याः । ततश्चतुर्थे मासे पौर्णमास्यां शुचौ देशे ब्राह्मणानर्चयित्वा कृतमङ्गलो निष्क्रम्य यथोक्तं व्रजेदिति ॥** (सुश्रुत चिकित्सास्था० अध्या० २९ श्लोक १३) अंशवान् सोम को सुवर्ण के पात्र में कूट कर निकाले और चन्द्र सोम को चान्दी के पात्र में निकाल कर पिये तो आठ गुना ऐश्वर्य हो तथा महादेव का दर्शन हो शेष सोमों को ताम्बे और मिट्टी के पात्रमें तथा रोहित चर्म को फैला कर शूद्र के बिना तीनों वर्णों को सोम रस पीना उचित है, फिर आगे लिखे प्रयोग के करने के उपरान्त चौथे महीने में पूर्णिमा के दिन पवित्र भूमि में ब्राह्मणें को पूजकर बाहर निकाले और जैसा शास्त्र में कहा गया है वैसा ही व्यवहार करे।।१३।। **ओषधीनां पतिं सोममुपयुज्य विचक्षणः । दशवर्षसहस्राणि नवां धारयते तनुम् ॥** (सुश्रुत चिकित्सास्था० अध्याय २९ श्लोक १४) **नाग्निर्न तोयं न विषं न शास्त्रं नास्त्रमेव च । तस्यालमायुः क्षपणे समर्थाश्च भवन्ति हि ॥१५॥ भद्राणां षष्ठिवर्षाणां प्रसूतानामनेकधा ।कुञ्जराणां सहस्रस्य बलंसमधिगच्छति ॥१६॥ क्षीरोदं शक्रसदनमुत्तरांश्च कुरूनपि। यत्रेच्छति स गन्तुं वा तत्राप्रतिहता गतिः ॥१७॥ कन्दर्प इव रूपेण कान्त्या चन्द्र इवापरः । प्रह्लादयति भूतानां मनांसि स महाद्युतिः ॥१८॥ साङ्गोपाङ्गांश्च निखिलान्वेदान् विन्दति तत्त्वतः । चरत्यमोघसङ्कल्पो देववच्चाखिलं जगत् ॥१९॥** जो बुद्धिमान् मनुष्य ओषधि पति सोम का सेवन करता है वह दस हजार वर्ष तक नवीन देह को धारण किये रहता है ।।१३।। और अग्नि, जल, विष और शस्त्र अस्त्र उसकी आयु का नाश करने में समर्थ नहीं हो सकते हैं ।।१५।। मदमत्त साठ वर्ष के हाथी में जो बल होता है ऐसे हजार हाथियों का बल उस सोम पान करने वाले में आ जाता है ।।१६।। क्षीर, समुद्र, इन्द्रपुरी, उत्तर कुरु आदि सब स्थानों में जहाँ इच्छा करता है वहाँ जा सकता है कोई भी उसकी गति नहीं रोक सकता है ।।१७।। रूप में कामदेव के तुल्य और कान्ति में चन्द्रमा के समान महाकान्तिमान्

होकर वह सोमपान करने वाला मनुष्यों के मन को प्रसन्न करता है ।।१८।। तथा साङ्गोपाङ्ग वेदों के तत्त्व का ज्ञाता होकर देवताओं के समान सम्पूर्ण जगत् में विचरता है तथा उसके सङ्कल्प अनिवार्य होते हैं ।।१९।। **सर्वेषामेव सोमानां पत्राणि दश पञ्चच । तानि शुक्लेच कृष्णे च जायन्ते निपतन्ति च ॥** (सुश्रुत चिकित्सा० अ० २९श्लोक २०) **एकैकं जायते पत्रं सोमस्याहरहस्तदा । शुक्लस्य पौर्णमास्यां तु भवेत्पञ्चदशच्छदः ॥२१॥ शीर्यते पत्रमेकैकं दिवसे दिवसे पुनः । कृष्णपक्षक्षयेऽत्रापि लता भवति केवला ॥२२॥** सब प्रकार की सोमलता में पन्द्रह पत्ते होते हैं वे शुक्ल पक्ष में उत्पन्न होते हैं और कृष्ण पक्ष में गिर जाते हैं ।।२०।। शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से नित्य प्रति चन्द्र की कला के साथ एक एक पत्ता निकलने लगता है इस प्रकार पूर्णिमा के दिन पन्द्रह पत्ते हो जाते हैं ।।२१।। और कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा से चन्द्र कला क्षीण होने के साथ एक एक पत्ता नित्य गिरता है तथा अमावस्या को लता मात्र शेष रह जाती है इसीसे इसको सोमलता कहते हैं ।।२२।। **अंशुमानाज्यगन्धस्तु कन्दवान्रजतप्रभः कदल्याकारकन्दस्तु मुञ्जवाँल्लशुनच्छदः ॥** (सुश्रु० चिकित्सा० अ० २९ श्लोक २३) **चन्द्रमाः कनकाभासो जले चरति सर्वदा । गरुडाहृतनामा च श्वेताक्षश्चापि पाण्डुरौ ॥२४॥ सर्पनिर्मोकसदृशौ तौ वृक्षाग्रावलम्बिनौ । तथान्यैर्मण्डलैश्चित्रैश्चित्रिता इव भान्ति ते ॥२५॥ सर्व एव तु विज्ञेयाः सोमाः पञ्चदशच्छदाः । क्षीरकन्दलतावन्तः पत्रैर्नानाविधैः स्मृताः ॥२६॥** अंशुमान् सोम में घी के समान सुगन्धि होती है रजतप्रभ सोम में कन्द होता है तथा मुञ्जवान् सोम में कदली के आकार का कन्द और लहसुन के समान पत्ते होते हैं ।।२३।। सुवर्ण के समान कान्तिमान् और जल में प्रकट होनेवाला सोम चन्द्रसंज्ञक है और गरुडाहृत सोम तथाश्वेताक्ष सोम पाण्डु वर्ण के होते हैं ।।२४।। सर्प के कैंचुल के समान वृक्ष के अग्र भाग में लटके रहते हैं और भी अनेक प्रकार के चित्र विचित्र मण्डल उसमें प्रकाशित रहते हैं।।२५।। सब ही प्रकार के सोमों में पन्द्रह पत्ते हैं और इनमें दूधकन्द तथा लता होती है परन्तु पत्ते भाँति भाँति के होते हैं ।।२६।। **हिमवत्यर्बुदे सह्ये महेन्द्रे मलये तथा । श्रीपर्वते देवगिरौ गिरौ देवसहे तथा ॥** (सुश्रुत चिकित्सास्था० अ० २९ श्लोक २७) **पारिपात्रे च विन्ध्ये च देवसुन्दे ह्रदे तथा । उत्तरेण वितस्तायाः प्रवृद्धा ये महीधराः ॥२८॥ पञ्च तेषामधो मध्ये सिन्धुनामा महानदः । हठवत् प्लवते तत्र चन्द्रमाः सोमसत्तमः ॥२९॥ तस्योद्देशेषु वाप्यस्ति मुञ्जवानंशुमानपि । काश्मीरेषु सरो दिव्यं नाम्ना क्षुद्रकमानसम् ॥३०॥ गायत्र्यस्त्रैष्टुभः पाङ्क्तो जागतः शाङ्करस्तथा । अत्र सन्त्यपरे चापि सोमाः सोमसमप्रभाः ॥३१॥ न तान्पश्यन्त्यधर्मिष्ठाः कृतघ्नाश्चापि मानवाः । भेषजद्वेषिणश्चापि ब्राह्मणद्वेषिणस्तथा ॥३२॥** हिमालय

में, अर्बुद में, सह्याद्रि में, महेन्द्राचल में, मलय गिरि में और श्रीपर्वत में देवगिरि में तथा देवसहपर्वत में सोम उत्पन्न होता है ।।२७।। और पारिपात्र में विन्ध्याचल में देवसुन्द में तथा सरोवर में सोमलता होती है तथा वितस्ता नदी के उत्तर जो बड़े बड़े पर्वत हैं उनमें सोम उत्पन्न होता है ।।२८।। और पंजाब की पाचों नदियाँ जहाँ सिन्धु में मिलती हैं वहाँ चन्द्रमा नामक श्रेष्ठ सोम उत्पन्न होता है ।।२९।। उन्हीं के समीप में अंशुमान् सोम और मुञ्जवान् सोम भी उत्पन्न होता है। और काश्मीर में दिव्य क्षुद्रक नामक मानसरोवर है ।।३०।। इस उत्तर मानसरोवर में गायत्र्य सोम, त्रैष्टुभ सोम, पाङ्क्त सोम, जागत सोम और शाङ्कर सोम उत्पन्न होते हैं तथा अन्य अग्निष्टोम आदिक चन्द्रमा के समान कान्ति वाले सोम प्रकट होते हैं।।३१।। अधर्मी, कृतघ्न वैद्यद्वेषी अथवा ओषधियों के द्वेषी और ब्राह्मणद्रोही पुरुष सोमलता को नहीं देखते हैं।।३२।। इस प्रकार के सोम का वर्णन किया गया है ।।२४।।

तस्य हैतस्य साम्नो यः स्वं वेद भवति हास्य स्वम् । तस्य वै स्वर एव स्वम् । तस्मादार्त्विज्यं करिष्यन्वाचि स्वरमिच्छेत । स तया वाचा स्वरसंपन्नयाऽऽर्त्विज्यं कुर्यात्तस्माद्यज्ञे स्वरवन्तं दिदृक्षन्त एव । अथो यस्य स्वं भवति । भवति हास्य स्वं य एवमेतत्साम्नः स्वं वेद ।।२५।।

अन्वयार्थ– (यः) जो उपासक (तस्य) उस (एतस्य) इस प्रकृत (ह) सुप्रसिद्ध (साम्नः) सामशब्द वाच्य प्राण के (स्वम्) धन को (वेद) जानता है (ह) प्रसिद्ध (अस्य) इस विज्ञानी पुरुष को (स्वम्) धन (भवति) होता है (वै) निश्चय करके (तस्य) उसकी (स्वरः) कण्ठध्वनि (एव) ही (स्वम्) धन है (तस्मात्) उस हेतु से (आर्त्विज्यम्) ऋत्विज् के कर्म को (करिष्यन्) करने की इच्छा वाला उद्गाता (वाचि) वाणी में (स्वरम्) कण्ठध्वनि की (इच्छेत) इच्छा करे (सः) वह उद्गाता (तया) उस (स्वरसंपन्नया) मधुर कण्ठध्वनि संयुक्त (वाचा) वाणी से (आर्त्विज्यम्) ऋत्विज् के कर्म को (कुर्यात्) करे (तस्मात्) उसी कारण से (यज्ञे) यज्ञ में (एव) निश्चय करके (स्वरवन्तम्) अच्छे मधुरस्वर वाले स्तोता को (दिदृक्षन्ते) सब जन देखने की इच्छा करते हैं (अथो) लोक में यह प्रसिद्ध है कि (यस्य) जिसके पास (स्वम्) धन (भवति) होता है उस धनी को लोग देखना चाहते हैं (यः) जो उपासक (एवम्) इस प्रकार (साम्नः) सामवाच्य प्राण के (एतत्) इस (स्वम्) धन को (वेद) जानता है (ह) प्रसिद्ध (अस्य) इस महात्मा के पास (स्वम्) धन (भवति) प्राप्त होता है।।२५।।

विशेषार्थ– जो कोई उपासक उस इस प्रकृत सुप्रसिद्ध साम शब्द वाच्य मुख्य प्राण के स्व यानी धन को जानता है इस विज्ञानी पुरुष को भी धन प्राप्त होता है। यहाँ पर "स्व" शब्द का धन अर्थ है क्योंकि लिखा है– **स्वो ज्ञातावात्मनि स्वं त्रिष्वात्मीये स्वोऽस्त्रियां धने** (अमर० कां० ३ व० ३ श्लो० २११) ज्ञाति में आत्मा में आत्मीय में और धन में स्व शबद का प्रयोग होता है ॥२११॥ निश्चय करके उसकी कण्ठध्वनि ही अर्थात् कण्ठ की मधुरता ही धन है। इसलिये ऋत्विज के कर्म को करने की इच्छा वाला उद्गाता वाणी में मधुर कण्ठध्वनि की इच्छा करे। अर्थात् मधुर कण्ठध्वनि होने के लिये स्तोता मधु और पिप्पली सेवन करे तथा थोड़ा गर्म गोघृत नित्य प्रातः काल सेवन करे। ऋत्विक् का लक्षण लिखा है– **अग्न्याधेयं पाकयज्ञानग्निष्टोमादिकान्मखान्। यः करोति वृतो यस्य स तस्यर्त्विगिहोच्यते** (मनु० अ० २ श्लो० १४३) वरण किया हुआ जो ब्राह्मण जिसके आहवनीयादि अग्नि उत्पादक कर्म को और अष्टकादिपाकयज्ञों को तथा अग्निष्टोमादियज्ञों को करता है वही उसका ऋत्विक् है यह इस मानव धर्म शास्त्र में कहा जाता है ॥१४३॥ अपनी वाणी को प्रथम मधुर बनावे तदनन्तर उत्तम स्वर संयुक्त वाणी से ऋत्विक् का कर्म करे लोक में यह बात प्रसिद्ध है कि लौकिक पुरुष जिस प्रकार धनी को देखना चाहते हैं उसी प्रकार यज्ञ में मधुर स्वर संपन्न उद्गाता को ही देखने की इच्छा सब लोग करते हैं। अब आगे सोम स्वर में स्वत्व वेदन का फल कहा जाता है। जो कोई उपासक इस प्रकार साम शब्द वाच्य मुख्य प्राण के इस धन को जानता है उस इस विज्ञानी महात्मा को धन प्राप्त होता है। "सामन्" शब्द दिवादि पठित "षोऽन्तकर्मणि" इस धातु से– **सातिभ्यामनिन्मनिणौ** (उणादि० पा० ४) इस सूत्र से निष्पन्न होता है। और मेदिनी कोश में लिखा है– **साम क्लीबमुपायस्य भेदे वेदान्तरेऽपिच** (मेदिनीको०) उपाय के भेद में और वेदान्तर में नपुंसक साम शब्द का प्रयोग होता है॥२५॥

तस्य हैतस्य साम्नोयः सुवर्णं वेद भवति हास्य सुवर्णम्। तस्य वै स्वर एव सुवर्णम्। भवति हास्य सुवर्णं य एवमेतत्साम्नः सुवर्णं वेद ॥२६॥

अन्वयार्थ– (यः) जो उपासक (तस्य) उस (एतस्य) इस प्रकृत (ह) सुप्रसिद्ध (साम्नः) सामशब्दवाच्य प्राण के (सुवर्णम्) सुवर्ण को अर्थात् प्रत्येक वर्ण के यथावत् उच्चारण को (वेद) जानता है तो (ह) प्रसिद्ध (अस्य) इस विज्ञानी पुरुष को (सुवर्णम्) सोना (भवति) प्राप्त होता है (वै) निश्चय करके (तस्य) उसका (स्वरः) कृष्टप्रथमादिलक्षण स्वर (एव) ही (सुवर्णम्) सुवर्ण यानी भूषण है (यः) जो उपासक

(एवम्) इस प्रकार (साम्नः) सामाभिधेय प्राण के (एतत्) इस (सुवर्णम्) सुवर्ण को (वेद) जानता है (ह) प्रसिद्ध (अस्य) इस उपासक के पास (सुवर्णम्) सोना (भवति) प्राप्त होता है ॥२६॥

विशेषार्थ– साम शब्द वाच्य प्राण के "स्वत्व" को कहकर अब "सुवर्ण" गुण को कहा जात है । जो कोई उपासक उस इस सुप्रसिद्ध साम शब्द वाच्य मुख्य प्राण के सुवर्ण को अर्थात् प्रत्येक वर्ण के यथावत् उच्चारण को जानता है उस विज्ञानी पुरुष को सोना प्राप्त होता है । सुवर्ण के विषय में लिखा है– **स्वर्णं सुवर्णं कनकं हिरण्यं हेम हाटकम् । तपनीयं शातकुम्भं गाङ्गेयं भर्म कर्बुरम्** (अमर० कां० २ व० ७ श्लो० ९४) **चामीकरं जातरूपं महारजतकाञ्चने । रुक्मं कार्तस्वरं जाम्बूनदमष्टापदोऽस्त्रियाम् ॥९५॥** स्वर्ण १, सुवर्ण २, कनक ३, हिरण्य ४, हेमन् ५, हाटक ६, तपनीय ७, शातकुम्भ ८, गाङ्गेय ९, भर्मन् १०, कर्बुर ११, ॥९४॥ चामीकर १२, जातरूप १३, महारजत १४, काञ्चन १५, रुक्म १६, कार्तस्वर १७, जाम्बूनद १८, और अष्टापद १९ ये सोना के नाम हैं ॥९५॥ पूर्वोक्त प्रकार से फल प्रदर्शन द्वारा शुश्रूषा को उत्पन्न करा कर कहा जाता है कि– निश्चय करके उसका कृष्ट प्रथमादिलक्षण स्वर ही सुवर्ण यानी भूषण है । अब आगे सामस्वर में सुवर्णत्व ज्ञान का फल कहा जाता है । जो कोई उपासक इस प्रकार साम शब्द वाच्य मुख्य प्राण के इस सुवर्ण को जानता है उस इस सुप्रसिद्ध उपासक को सोना प्राप्त होता है । यहाँ "सुवर्ण" का सोना अर्थ है क्योंकि लिखा है– सुवर्णरजतस्रजाम् (श्रीसूक्त० मं० १) सोना और चान्दी की माला धारण करने वाली श्रीदेवी को ॥१॥ इस कण्डिका में स्वर और सुवर्ण इन दोनों के लिये "सुवर्ण" शब्द का प्रयोग समान रूप से हुआ है ॥२६॥

तस्य है तस्य साम्नो यः प्रतिष्ठां वेद प्रति ह तिष्ठति। तस्य वै वागेव प्रतिष्ठा । वाचि हि खल्वेष एतत्प्राणः प्रतिष्ठितो गीयतेऽन्न इत्यु हैक आहुः ॥२७॥

अन्वयार्थ– (यः) जो उपासक (तस्य) उस (एतस्य) इस प्रकृत (ह) सुप्रसिद्ध (साम्नः) सामशब्द वाच्य प्राण की (प्रतिष्ठाम्) प्रतिष्ठा को (वेद) जानता है वह (ह) सुप्रसिद्ध उपासक (प्रति तिष्ठति) प्रतिष्ठित होता है (वै) निश्चय करके (तस्य) उसकी (वाक्) वाणी (एव) ही (प्रतिष्ठा) प्रतिष्ठा है (हि) क्योंकि (एषः) यह (प्राणः) मुख्य प्राण (वाचि) वागिन्द्रिय स्थानभूतजिह्वामूलादिस्थानों में (प्रतिष्ठितः) प्रतिष्ठित होता हुआ (खलु) निश्चय करके (एतत्) यह साम (गीयते) गाया जाता है अथवा (उ) निश्चय करके (ह) सुप्रसिद्ध (एके) एक कोई आचार्य (अन्ने) अन्न में प्रतिष्ठित गाया

जाता है (इति) ऐसा (आहुः) कहते हैं ॥२७॥

विशेषार्थ– साम शब्द वाच्य प्राण के "सुवर्णत्व" को कह कर अब "प्रतिष्ठा" को कहा जाता है । जो कोई उपासक उस इस प्रकृत सुप्रसिद्ध साम शब्द वाच्य प्राण की प्रतिष्ठा को जानता है वह सुप्रसिद्ध उपासक प्रतिष्ठित हो जाता है । क्योंकि लिखा है– **तं यथा यथोपासते** (श्रुति) उसे जो जैसे उपासना करता है वह वैसे ही हो जाता है। निश्चय करके उसकी वाणी ही प्रतिष्ठा है। क्योंकि यह मुख्य प्राण वागिन्द्रियस्थानभूतजिह्वामूलादिस्थानों में प्रतिष्ठित होता हुआ निश्चय करके यह साम गाया है। अथवा निश्चय करके सुप्रसिद्ध एक कोई आचार्य ऐसा कहते हैं कि अन्न में प्रतिष्ठित गाया जाता है अर्थात् अन्न को खाकर बलिष्ठ हो अच्छे प्रकार से गा सकता है। स्वर अच्छा रहने पर भी निर्बल उद्गाता अच्छे प्रकार गा नहीं सकता है। अतः सबल बनाने वाला अन्न ही इसकी प्रतिष्ठा है॥२७॥

अथातः पवमानानामेवाभ्यारोहः । स वै खलु प्रस्तोता साम प्रस्तौति । स यत्र प्रस्तुयात्तदेतानि जपेत् । "असतो मा सद्गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्माऽमृतं गमयेति" स यदाहासतो मा सद्गमयेति मृत्युर्वा असत्सदमृतं मृत्योर्माऽमृतं गमयामृतं मा कुर्वित्येवैतदाह । तमसो मा ज्योतिर्गमयेति मृत्युर्वै तमो ज्योतिरमृतं मृत्योर्माऽमृतं गमयामृतं मा कुर्वित्येवैतदाह मृत्योर्माऽमृतं गमयेति नात्र तिरोहितमिवास्ति । अथ यानीतराणि स्तोत्राणि तेष्वात्मनेऽन्नाद्यमागायेत् । तस्मादु तेषु वरं वृणीत यं कामं कामयेत तम् । स एष एवंविदुद्गाताऽऽत्मने वा यजमानाय वा यं कामं कामयते तमागायति । तद्धैतल्लोकजिदेव । न हैवालोक्यताया आशास्ति य एवमेतत्साम वेद ॥२८॥

॥ इति प्रथमाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

अन्वयार्थ– (अथ) उद्गाता के प्राणविद्या के उपदेश के अनन्तर (अतः) यहाँ से (पवमानानाम्) वहिष्पवमान, माध्यन्दिनपवमान और आर्भवपवमान इन तीन पवमान नाम के स्तोत्रों का (एव) निश्चय करके (अभ्यारोहः) ब्रह्मलोक के अभ्यारोह के

हेतु जपविधि कही जाती है (वै) निश्चय करके (सः) वह (प्रस्तोता) प्रस्तोता नाम का ऋत्विक् (खलु) ही (साम) सामगान का (प्रस्तौति) प्रस्ताव करता है (सः) वह प्रस्तोता (यत्र) जिस समय (प्रस्तुयात्) प्रस्ताव करे (तदा) उस समय यजमान (एतानि) इन तीन यजुर्वेद के मंत्रों को (जपेत्) जपे (असतः) असत् से (मा) मुझको (सद्) सत् की ओर (गमय) ले चलो (तमसः) अन्धकार से (मा) मुझको (ज्योतिः) प्रकाश की ओर (गमय) ले चलो (मृत्योः) मृत्युरूपसंसार से (मा) मुझको (अमृतम्) अमृत की ओर (गमय) ले चलो (इति) ये ही तीन यजुर्वेद के मंत्र हैं (सः) वह यजुर्वेद का मंत्र (यत्) जो (इति) यह (आह) कहता है कि (मा) मुझको (असतः) असत् से (सत्) सत् की ओर (गमय) ले चलो यहाँ (मृत्युः) मृत्यु (वै) ही (असत्) असत् है और (अमृतम्) अमृत (सत्) सत् है तब इस मंत्र का यह अर्थ हुआ कि (मृत्योः) मृत्युरूप संसार से (मा) मुझको (अमृतम्) अमृत की ओर (गमय) ले चलो अर्थात् (मा) मुझको (अमृतम्) मरण रहित अमर (कुरु) तुम करो (इति) इस प्रकार से (एव) निश्चय करके (एतत्) यह प्रथम वाक्य (आह) कहता है और (मा) मुझको (तमसः) अन्धकार से (ज्योतिः) ज्योति की ओर (गमय) ले चलो (इति) इसमें (मृत्युः) मृत्यु (वै) ही (तमः) तम है और (अमृतम्) अमृत (ज्योतिः) ज्योति है तब इस मंत्र का यह अर्थ हुआ कि (मृत्योः) मृत्युरूप संसार से (मा) मुझको (अमृतम्) अमृत की ओर (गमय) ले चलो अर्थात् (मा) मुझको (अमृतम्) जन्म मरण रहित अमर (कुरु) तुम करो (इति) इस प्रकार से (एव) निश्चय करके (एतत्) यह द्वितीय वाक्य (आह)कहता है और (मा) मुझको (मृत्योः) मृत्युरूप संसार से (अमृतम्) अमृत की ओर (गमय) ले चलो (इति) यह जो तृतीय वाक्य है (अत्र) इसमें (तिरोहितम्) कोई अर्थ छिपा हुआ के (इव) समान (न) नहीं (अस्ति) है (अथ) इसके बाद (यानि) जो (इतराणि) पूर्वोक्त तीनों पवमानों से अन्य (स्तोत्राणि) आज्यादि नव स्तोत्र हैं (तेषु) उन आज्यादि नव स्तोत्रों में उद्गाता ऋत्विक् (आत्मने)अपने लिये (अन्नाद्यम्) खाने योग्य अन्न को उद्देश्य करके (आगायेत्) अच्छे प्रकार गावे (तस्मात्) इस कारण से (उ) निश्चय करके (तेषु) पवमानव्यतिरिक्त उन आज्यादि नव स्तोत्रों में (यम्) जिस (कामम्) कामना को (कामयेत) उद्गाता चाहे (तम्) उस (वरम्) वर को (वृणीत) मांगे (सः) वह (एषः) यह (एवम्) इस प्रकार (वित्) जानने वाला (उद्गाता) उद्गाता नाम का ऋत्विक् (आत्मने) अपने लिये (वा) अथवा (यजमानाय) यजमान के लिये (वा) निश्चय (यम्) जिस (कामम्) कामना को (कामयते) चाहता है (तम्) उस कामना को (आगायति) उद्गान से पूर्ण करता है (ह) प्रसिद्ध (तत्) वह पूर्वोक्त (एतत्) यह विज्ञान (एव) निश्चय करके (लोकजित्)

ब्रह्मलोक का साधन है (यः) जो उपासक (एवम्) इस प्रकार (एतत्) इस आङ्गिरसादिगुण विशिष्ट (साम) सामशब्दनिर्दिष्ट जानता है यानी उपसना करता है वह (ह) प्रसिद्ध उपासक (अलोक्यतायाः) प्राण को (वेद) ब्रह्मलोकार्हत्वाभाव के भय से (न) नहीं (एव) ही (आशा) साधनान्तर की अभिलाषा वाला (अस्ति) होता है क्योंकि प्राणोपासक कृतार्थ हो जाता है।।२८।।

विशेषार्थ– उद्गाता के प्राण विद्या के उपदेश के अनन्तर अब अभ्यारोहमंत्रों का प्रयोग काल और मंत्रार्थ प्राणोपासक के लिये आगे कहा जाता है। अब यहाँ से वहिष्पवमान १, माध्यंदिनपवमान २, आर्भपवमान ३, इन तीन पवमान नाम के स्तोत्रों की ही ब्रह्मलोक के अभ्यारोह के कारण जपविधि कही जाती है । "अभितः आसमन्तात् रोहति अनेन जपकर्मणा एवंवित् ब्रह्मलोकमित्यभ्यारोहः" "सब ओर से अच्छे प्रकार इस जपकर्म के द्वारा इस प्रकार प्राण की उपासना करने वाला पुरुष ब्रह्मलोक को प्राप्त हो जाता है इसलिये यह अभ्यारोह" अभि+आ+रोह" इन तीन से "अभ्यारोह" शब्द निष्पन्न होता है । निश्चय इसमें सन्देह नहीं कि प्रस्तोता नाम का ऋत्विक् सामगान का प्रारम्भ करता है । वह प्रस्तोता ऋत्विक् जिस समय में सामगान की प्रस्ताव-विधि का आरंभ करे उसी समय में यजमान इन वक्ष्यमाण तीन यजुर्वेद के मंत्रों को जपे । जप के विषय में लिखा है– **गुरुणाचोपदिष्टोऽपि यत्र सम्बन्धवर्जितः । वेदोक्तेनैव मार्गेण मंत्राभ्यासो जपः स्मृतः ॥** (जाबालदर्श० उ० खं० २ श्रु० ११) **कल्पसूत्रे तथा वेदे धर्मशास्त्रे पुराणके । इतिहासे च वृत्तिर्या स जपः प्रोच्यते मया ॥१२॥ जपस्तु द्विविधः प्रोक्तो वाचिको मानसस्तथा ॥१३॥ वाचिकोपांशुरुच्चैश्च द्विविधः परिकीर्तितः। मानसो मननध्यानभेदाद् द्वैविध्यमाश्रितः ॥१४॥ उच्चैर्जपादुपांशुश्च सहस्त्रगुणमुच्यते । मानसश्च तथोपांशोः सहस्त्रगुणमुच्यते ॥१५॥ उच्चैर्जपश्च सर्वेषां यथोक्तफलदो भवेत् । नीचैः श्रोत्रेण चेन्मंत्रः श्रुतश्चेन्निष्फलं भवेत् ॥१६॥** गुरुजनों के कहने पर भी वेदविरुद्धमार्ग से सम्बन्ध न रखते हुए वेदोक्त रीति से ही मंत्रों की बार बार आवृत्ति को जप कहते हैं ।।११।। इसके अतिरिक्त वेदों की ही भाँति कल्पसूत्र, धर्मशास्त्र, पुराण और इतिहास में मन की वृत्तियों को जो निरन्तर लगाये रखना है उसी को मैं जप कहता हूँ ।।१२।। जप दो प्रकार का बताया गया है– वाचिक और मानसिक ।।१३।। वाचिक जप "उच्चैः" और "उपांशु" दो प्रकार का माना गया है, इसी प्रकार मानसिक जप भी मनन और ध्यान के भेद से दो प्रकार का है।।१४।। उच्चस्वर से किये जाने वाले जप की अपेक्षा उपांशु जप यानी अत्यन्त मन्दस्वर से किया गया जप हजार गुना उत्तम बताया गया है इसी प्रकार उपांशु की अपेक्षा मानसिक जप सहस्त्र गुना श्रेष्ठ कहा गया है ।।१५।। उच्चस्वर से किया

गया जप सब लोगों को यथावत् फल देने वाला होता है परन्तु यदि उस मंत्र को नीच पुरुषों ने अपने कानों से सुन लिया तो वह निष्फल हो जाता है ॥१६॥ **यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि** (गी० अ० १० लो० २५) यज्ञों में श्रेष्ठ जपयज्ञ मैं हूँ ॥२५॥ **विधियज्ञाज्जापयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः । उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः** (मनु० अ० २ श्लो० ८५) **ये पाकयज्ञाश्चत्वारो विधियज्ञसमन्विताः । सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥८६॥** विधि यज्ञ दर्शपौर्णमासादि से जपयज्ञ दस गुना श्रेष्ठ बताया गया है और उपांशु जप सौ गुना तथा मानस जप हजार गुना श्रेष्ठ कहा गया है ॥८५॥ विधि यज्ञ दर्शपौर्णमासादि से समन्वित जो चार वैश्वदेवहोम १, बलिकर्म २, नित्य श्राद्ध ३, और अतिथि भोजन ४ रूप पाक यज्ञ हैं वे सब यज्ञ जप यज्ञ की सोलहवीं कला को नहीं पा सकते हैं ॥८६॥ **त्रिविधो जपयज्ञः स्यात्तस्य तत्त्वं निबोधत ॥** (हारी० स्मृ० अ० ४ श्लो० ४०) **वाचिकश्चाप्युपांशुश्च मानसश्च त्रिधाकृतिः । त्रयाणामपि यज्ञानां श्रेष्ठः स्यादुत्तरोत्तरः ॥४१॥ यदुच्चनीचोच्चारितैः शब्दैः स्पष्टपदाक्षरैः मंत्रमुच्चारयन्वाचा जपयज्ञस्तु वाचिकः ॥४२॥ शनैरुच्चारयन्मंत्र किञ्चिदोष्ठौ प्रचालयेत् । किंचिच्छ्रवणयोग्यः स्यात्स उपांशुर्जपः स्मृतः ॥४३॥ धिया पदाक्षरश्रेण्या अवर्णमपदाक्षरम् । शब्दार्थचिन्तनाभ्यां तु तदुक्तं मानसं स्मृतम् ॥४४॥** तीन प्रकार का जप यज्ञ होता है उसके तत्त्व को तुम सब जानो ॥४०॥ वाचिक १, तथा उपांशु २, और मानस ३ के भेद से तीन प्रकार का जप यज्ञ कहा गया है, उन तीनों में उत्तरोत्तर श्रेष्ठ है अर्थात् वाचिक से उपांशु श्रेष्ठ है और उपांशु से भी मानस जप श्रेष्ठ है ॥४१॥ वाणी से स्पष्ट पदों का अक्षर उच्च और नीच जो उच्चारण होता हुआ मंत्र जप किया जाता है उसको वाचिक जप यज्ञ कहते हैं ॥४२॥ धीरे से मन्त्र को उच्चारण करता हुआ जो किंचित् दोनों होठ चलाया जाता है और कुछ दूसरे के सुनने योग्य होता है वह उपांशु जप कहलाता है ॥४३॥ वर्ण और पद के अक्षरों को नहीं उच्चारण करता हुआ पदाक्षर श्रेणी की बुद्धि से जो मन्त्र के शब्दार्थ का चिन्तन किया जाता है उसको मानस जप कहा गया है ॥४४॥ **जपकाले न भाषेत नान्यानि प्रेक्षयेद् बुधः । न कम्पयेच्छिरो ग्रीवं दन्तान्नैव प्रकाशयेत् ॥** (कूर्मपुरा०) बुध जन जप काल में कुछ भाषण न करे और दूसरे को न देखे तथा सिर और गर्दन को न कंपावे और दाँतों को प्रकाशित न करे॥ यजमान के जप करने योग्य ये तीन यजुर्वेद के मन्त्र है "असतो मा सद्गमय" मुझे असत् से सत् की ओर ले जाओ" यह प्रथम मंत्र है "तमसो मा ज्योतिर्गमय" "मुझे अंधकार से प्रकाश की ओर ले जाओ" यह द्वितीय मन्त्र है "मृत्योर्माऽमृतं गमय" "मुझे मृत्यु से अमरत्व की ओर ले जाओ" । यह तृतीय मन्त्र है । मन्त्रों का अर्थ गूढ़ होता है इसलिये माता पिता से सहस्र गुण अधिक करुणामयी श्रुति स्वयं ही इन मन्त्रों का अर्थ कहती है कि-- वह

यजुर्वेद का मन्त्र जो यह कहता है कि "असतो मा सद्गमय" इसमें "असत्" शब्द का अर्थ मृत्यु है और "सत्" शब्द का अर्थ अमृत है । तब इस मन्त्र का यह अर्थ हुआ कि "मृत्यु रूप संसार से मुझको अमृत की ओर ले चलो अर्थात् मुझको मरणरहित अमर तुम करो" इस प्रकार से निश्चय करके प्रथम वाक्य कहता है । और "तमसो मा ज्योतिर्गमय" इस मन्त्र में "तमस्" शब्द का अर्थ मृत्यु है "ज्योतिष्" शब्द का अर्थ अमृत है तब इस मन्त्र का यह अर्थ हुआ कि "मृत्यु रूप संसार से मुझको अमृत की ओर ले चलो अर्थात् मुझको मरण रहित अमर तुम करो" इस प्रकार निश्चय करके द्वितीय वाक्य कहता है । और "मृत्यु रूप संसार से मुझको अमृत की ओर ले चलो अर्थात् मुझको मरण रहित अमर तुम करो" इस प्रकार निश्चय करके तृतीय वाक्य भी कहता है। इन तीन मन्त्रों के अर्थ समाप्त हो गये। अब इसके बाद जो पूर्वोक्त तीनों पवमानों से अन्यान्य आज्यादि नव स्तोत्र हैं उन स्तोत्रों में उद्गाता ऋत्विक् अपने लिये खाने योग्य अन्न को उद्देश्य करके अच्छे प्रकार गावे । इस कारण से निश्चय करके पवमान व्यतिरिक्त उन आज्यादि नव स्तोत्रों में जिस जिस कामना को उद्गाता ऋत्विक् चाहे उस उसको उद्गान के द्वारा वर माँगे । सो यह ऐसा जानने वाला उद्गाता नामक ऋत्विक् अपने लिये अथवा यजमान के लिये जो जो कामना चाहता है उस उस कामना को उद्गान से पूर्ण कराता है । प्रसिद्ध वह पूर्वोक्त यह प्राणवेदन निश्चय करके ब्रह्मलोक का साधन है । आगे अब प्राणोपासना का फल कहा जाता है । जो उपासक इस प्रकार इस आङ्गिरसादि प्रागुक्त गुण विशिष्ट साम शब्द निर्दिष्ट प्राण की उपासना करता है वह प्रसिद्ध प्राणोपासक ब्रह्मलोकार्हत्वाभाव के भय से नहीं ही साधनान्तर की अभिलाषा वाला होता है क्योंकि प्राणोपासक कृतार्थ हो जाता है । अथवा "अलोक्यतायै" ऐसा चतुर्थ्यन्त पद है तो यह अर्थ होता है कि— अलोक्यता के लिये आशा कदापि भी नहीं है किन्तु ब्रह्मलोक्यता ही की आशा है । स्तोत्र के विषय में लिखा है – स्तवः स्तोत्रं स्तुतिनुतिः ।। (अमर० कां० १ व० ६ श्लोक ११) स्तव १, स्तोत्र २, स्तुति ३, और नुति ४ ये स्तुति के नाम हैं ।।११।। यहाँ पर "बृहदारण्यकोपनिषद्" के प्रथम अध्याय का तृतीय उद्गीथ ब्राह्मण समाप्त हो गया ।।२८।।

।। अथ चतुर्थं ब्राह्मणम् ।।

आत्मैवेदमग्र आसीत्पुरुषविधः । सोऽन्वीक्ष्यनान्यदात्मानोऽपश्यत। सोऽहमस्मीत्यग्रे व्याहरत्ततोऽहं नामाऽभवत्। तस्मादप्येतर्ह्यामंत्रितोऽहमयमित्येवाग्र उक्त्वाऽथायन्नाम प्रब्रूत

यदस्य भवति । स यत्पूर्वोऽस्मात्सर्वस्मात्सर्वान्पाप्मन औषत्तस्मात्पुरुषः । ओषति ह वै स तं योऽस्मात्पूर्वो बुभूषति य एवं वेद ॥१॥

अन्वयार्थ – (इदम्) यह स्थावर जङ्गम स्वरूप जगत् (अग्रे) सृष्टि से पहले (पुरुषविधः) पुरुषाकार (आत्मा) सम्पूर्ण हेय गुणों से रहित एकतान कल्याणमय परमात्मा (एव) ही (आसीत्) था (सः) उस सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परब्रह्म नारायण ने (अन्वीक्ष्य) अपने चारो तरफ देख कर (आत्मनः) अपने से (अन्यत्) दूसरा विभक्त कुछ भी (न) नहीं (अपश्यत्) देखा तब (सः) वह परब्रह्मनारायण (अहम्) अहङ्कार यानी चतुर्मुख ब्रह्मा (अस्मि) हो जाऊँ (इति) इस प्रकार के सङ्कल्प से (अहम्) हिरण्यगर्भ (नामा) नाम वाला चतुर्मुख (अभवत्) उत्पन्न हुआ (तस्मात्) इसी कारण से (एतर्हि) आजकल (अपि) भी (आमन्त्रितः) पुकारे जाने पर (अयम्) हिरण्यगर्भ (नामा) नाम वाला चतुर्मुख (अभवत्) उत्पन्न हुआ (तस्मात्) इसी कारण से (एतर्हि) आजकल (अपि) भी (आमन्त्रितः) पुकारे जाने पर (अयम्) यह जन (अहम्) मैं हूँ (इति) ऐसा (एव) ही (अग्रे) प्रथम (उक्त्वा) कह कर (अथ) उसके पश्चात् (यत्) जो (अन्यत्) दूसरा (अस्य) इसके पिता से धरा हुआ (नाम) नाम (भवति) होता है उस नाम को (प्रब्रूते) वह बतलाता है (सः) वह परब्रह्म नारायण (यत्) जिस कारण से (अस्मात्) इस (सर्वस्मात्) सबसे (पूर्वः) पूर्व (सर्वान्) समस्त (पाप्मनः) पापों को (औषत्) दग्ध कर दिया है (तस्मात्) इस कारण से (पुरुषः) वेद में पुरुष कहा जाता है (यः) जो कोई उपासक (एवम्) इस प्रकार पुरुषत्व के निरुक्ति-क्रम को (वेद) निरन्तर अनुसन्धान करता है (ह) सुप्रसिद्ध (सः) वह उपासक (वै) निश्चय करके (तम्) उसको (ओषति) भस्म कर देता है (यः) जो कोई (अस्मात्) इस पुरुषवेत्ता महात्मा से (पूर्वः) श्रेष्ठ (बुभूषति) होना चाहता है ॥१॥

विशेषार्थ – यह जड़ चेतन स्वरूप दृश्यमान जगत् सृष्टि से पहले पुरुषकार सम्पूर्ण हेय गुणों से रहित एकतान गुणगणमय सर्वश्रेष्ठ सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परमात्मा परब्रह्म नारायण ही था । क्योंकि लिखा है– **आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्** ॥ (ऐतरेयो० अ० १ खं० १ श्रु० १) यह ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त स्थावर जंगम स्वरूप जगत्त सृष्टि से पहले एकमात्रप्रसिद्ध सम्पूर्णहेयगुणों से रहित एकतान कल्याणमय परमात्मा ही था ॥१॥ **नैवेह किञ्चनाग्र आसीत् । दिव्यो देव एको नारायणः** ॥ (सुबालोप० खं० ६) सृष्टि से पहले यहाँ कुछ भी नही था दिव्य देव एक नारायण ही थे ॥६॥ **एको ह वै नारायण आसीन्न ब्रह्म नेशानः** ॥ (महोप० अ० १ श्रु० १) सृष्टि के आदि

समय निश्चय करके एक नारायण ही थे न ब्रह्मा थे न रुद्र थे।।१।। **शुद्धो देव एको नारायणो न द्वितीयोऽस्ति कश्चित् ॥** (नारायणोप० श्रु० २) शुद्धदेव एक नारायण हैं दूसरा कोई भी नहीं है ।।२।। **आत्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः ॥** (श्वेताश्वतर उ० अ० ३ श्रु० २०) परमात्मा इस जीव के हृदय रूप गुफा में छिपा हुआ है।।२०।। **आत्मा हि जनयत्येषां कर्मयोगं शरीरिणाम् ॥** (मनु० अ० १२ श्लोक ११९) परमात्मा ही इन समस्त जीवों के कर्म सम्बन्ध को उत्पन्न करता है ।।११९।। **अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ॥** (गी० अ० १० श्लोक २०) हे अर्जुन सब भूतों के हृदय में स्थित आत्मा मैं हूँ ।।२०।। **यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह । यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति कीर्त्यते ॥** (लिङ्गपु० १।७०।९६) जो यह सबको व्याप्त करता है तथा ग्रहण करता है और इस लोक में विषयों को भोगता है तथा इसका सर्वदा सद्भाव है इसलिये यह आत्मा कहलाता है ।।९६।। जगत्कारण वादिनी श्रुतियों का यथार्थ विवेचन करने से तथा पूर्वोक्त श्रुति स्मृति पुराणों के प्रमाणों से और व्याप्ति बोधक "आप्" भक्षणार्थक "अद्" सतत गमन बोधक 'अत" धातु से "आत्मा" पद निष्पन्न होने से "आत्मा" का अर्थ परब्रह्मनारायण होता है । प्रकृत कण्डिका में "पुरुषविध" शब्द नारायण का वाचक है क्योंकि लिखा है– **स यो हैतमग्निं वैश्वानरं पुरुषविधंपुरुषेऽन्तः प्रतिष्ठितं वेद । अन्वयं पुरुषविधः ॥** (श्रुति) वह जो प्रसिद्ध पुरुष के भीतर प्रतिष्ठित पुरुषाकार हो जाता है । उस सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परब्रह्म नारायण ने अपने चारो तरफ साक्षात्कार करके अपने से दूसरा विभक्त कुछ भी नहीं देखा । क्योंकि चिदचित्प्रपञ्च परमात्मा से उस समय अविभक्त था । अन्यत्र भी लिखा है– **नान्यत्किञ्चन मिषत् ॥** (ऐत० उ० अ० १ खं० १ श्रु० १) परमात्मा के सिवा दूसरा कुछ भी व्यापारवाला नहीं था ।।१।। तब उस परब्रह्म नारायण ने अहङ्कार नाम वाला चतुर्मुख ब्रह्मा मैं हो जाऊँ ऐसे संकल्प वाक्य को सृष्टि से पहले कहा । परमात्मा के उस सत्य संकल्प से हिरण्यगर्भ नाम वाला चतुर्मुख ब्रह्मा उत्पन्न हुआ । अहङ्कार ब्रह्मा का नाम है क्योंकि शान्ति पर्व के मोक्षधर्म में लिखा है – **तस्मात्पद्मात्समभवद् ब्रह्मा वेदमयो निधिः । अहंकार इति ख्यातः सर्वभूतात्मभूतकृत् ॥** (महाभारत० शान्तिप० मोक्षध०) उस हैम कमल से सब भूतों का आत्मभूत विश्व का कर्ता वेदमय ज्ञान निधि अहङ्कार नाम वाला ब्रह्मा उत्पन्न हुआ । और भी लिखा है – **भूतानां ब्रह्मा प्रथमो ह जज्ञे ॥** (अथर्व कां० १९ सूक्त २३ मं० ३०) सब प्राणियों से ब्रह्मा सबसे पहले उत्पन्न हुआ ।।३०।। **ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव ॥** (मुण्डको० मुं० १ खं० १ श्रु० १) इन्द्रादि सब देवताओं में सबसे पहले चतुर्मुख ब्रह्मा उत्पन्न हुआ ।।१।। **यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम् ॥** (श्वे० उ० अ० ३ श्रु० ४) जो परब्रह्म नारायण सृष्टि के आदि में ब्रह्मा को बनाता है ।।४।। **हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वम् ॥** (श्वे० उ० अ०

६ श्रु० १८) जिस परब्रह्म नारायण ने सबसे पहले ब्रह्मा को उत्पन्न किया ॥१८॥ **ततस्तेजो हिरण्मयमण्डम् । तत्र ब्रह्मा चतुर्मखोऽजायत् ॥** (महोप० अ० १ श्रु० १) उससे हिरण्मय तेज के रूप में अण्ड उत्पन्न हुआ । उस अण्ड में चतुर्मुख ब्रह्मा उत्पन्न हुआ ॥१॥ जिस कारण से परमात्मा ने सृष्टि के आदि में पहले चतुर्मुख ब्रह्मा में अहं शब्द का प्रयोग किया है इसी कारण से आजकल भी "तू कौन है" ऐसा किसी को पुकारे जाने पर तो वह जन सबसे प्रथम "मैं हूँ" इस प्रकार अपने को बतलाता है । इसके पश्चात् फिर जब कोई विशेष जानना चाहता है तो जो दूसरा पिता से धरा हुआ "देवदत्त" इत्यादि नाम होता है उस नाम को वह बतलाता है । बालक का नाम पिता धरता है क्योंकि लिखा है— **दशम्यामुत्थाप्य ब्राह्मणान्भोजयित्वा पिता नाम करोति ॥** (पारस्कर० कां० १ कण्डि० १७ सू० १) सूतक के अन्तिम दिन सूतिका गृह का संशोधन कर बालक का पिता ब्राह्मणों को भोजन करा कर नामकरण संस्कार करे ॥१॥ **द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा घोषवदाद्यन्तरन्तस्थं दीर्घाभिनिष्ठानङ्कृतं कुर्यान्न तद्धितम् ॥** (पार० कां० १ कं० १७ सू० २) नाम दो अक्षर का अथवा चार अक्षर का रखना चाहिए। नाम के आदि में ह, य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ़, ध, ज, ब, ग, ड, द इन अक्षरों में से कोई एक अक्षर होना चाहिये । और य, व, र, ल, इन अक्षरों में से कोई एक अक्षर नाम के अन्तर होना चाहिये । और नाम के अन्त पद द्विमात्रिक कृत् प्रत्यान्त होना चाहिये । तथा पुरुष का नाम तद्धित प्रत्ययान्त नहीं होना चाहिये ॥२॥ **अयुजाक्षरमाकारान्तं स्त्रियै तद्धितम्** (पार० कां० १ कं० १७ सू० ३) स्त्री के नाम में विषम अक्षर और अन्त में आकार तथा तद्धित प्रत्ययान्त रखना चाहिये ॥३॥ **शर्म ब्राह्मणस्य वर्म क्षत्रियस्य गुप्तेति वैश्यस्य** (पा० कां० १ कं० १७ सू० ४) ब्राह्मण के नाम के अन्त में शर्मा, क्षत्रिय के वर्मा और वैश्य के गुप्त लगाना चाहिये ॥४॥ **शमान्तं ब्राह्मणस्योक्तं वर्मान्तं क्षत्रियस्य तु । धनान्तं चैव वैश्यस्य दासान्तं चान्त्यजन्मनः** (शंखस्मृ० अ० २ श्लो० ४) ब्राह्मण के नाम के अन्त में शर्मा शब्द कहा गया है और क्षत्रिय के नाम के अन्त में वर्मा शब्द कहा गया है तथा वैश्य के नाम के अन्त में धन यानी गुप्त शब्द कहा गया है और शूद्र के नाम के अन्त में दास शब्द कहा गया है ॥४॥ उस परब्रह्म नारायण ने जिस कारण से इस सम्पूर्ण समुदाय से पूर्व ही अज्ञानादि समस्त पापों को भस्म कर दिया है इस कारण से वेद में पुरुष कहा जाता है । "पुरुष" शब्द की व्युत्पत्तियाँ कई एक हैं । यहाँ "पुर+उष" इन दो शब्दों से पुरुष शब्द बना है । "पुर" माने प्रथम । और "उष दाहे" धातु से जलाने अर्थ में "उष" शब्द निष्पन्न होता है इसका अर्थ दग्ध करना है जो सबसे पहले पापों को भस्म कर देता है वही पुरुष है । यहाँ पुरुष शब्द परब्रह्म नारायण

का वाचक है क्योंकि लिखा है— **सहस्त्रशीर्षा पुरुषः** (ऋग्वे० अष्ट० ८ मण्ड० १० अध्या० ४ अनु० ७ सू० ९० मं० १) (सामवे० पूर्वार्चि० प्रपा० ६ अर्धप्रपा० ३ सू० ५३ मं० ३) (यजुर्वे० अ० ३१ मं० १) अनन्त शिर वाले परब्रह्म नारायण हैं ।।१।। सहस्त्रबाहुः पुरुषः (अथर्व० कां० १९ सूक्त० ६ मं० १) अनन्त भुजा वाले परब्रह्म नारायण हैं ।।१।। **पुरुषान्न परं किञ्चित्** (कठो० अ० १ व० ३ श्रु० ११) परब्रह्म नारायण से श्रेष्ठ कोई नहीं है ।।११।। **इमाः षोडशकलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति** (प्रश्नो० प्र० ६ श्रु० ५) परब्रह्म नारायण की ओर जाने वाली ये सोलह कलाएँ नारायण को प्राप्त हो कर विलीन हो जाती हैं ।।५।। **येनाक्षरं पुरुषं वेद** (मुण्डको० मुं० १ खं० २ श्रु० १३) जिससे अविनाशी परब्रह्म नारायण को जानता है ।।१३।। **स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततमपश्यत्** (ऐ० उ० अ० १ खं० ३ श्रु० १३) उस मनुष्य देहधारी आदि पुरुष ने इस अन्तर्यामी परम पुरुष नारायण को ही सर्वव्यापक परब्रह्म परमात्मा देखा ।।१३।। **य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते** (छा० उ० प्रपाठ० १ खं० ६ श्रु० ६) जो यह सूर्यमण्डल में हिरण्मय परब्रह्म नारायण देखा जाता है ।।६।। **योसावसौ पुरुषः** (बृह० उ० अ० ५ ब्रा० १५ श्रु० १) जो यह सूर्यमण्डल में वह परब्रह्म नारायण है ।।१।। **तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्** (श्वे० उ० अ० ३ श्रु० ९) उस परब्रह्म नारायण से यह समस्त जगत् पूर्ण है ।।९।। **पुरुषो ह वै नारायणोऽकामयत** (नारय० उ० श्रु० १) निश्चय करके परब्रह्म नारायण ने कामना की ।।१।। **ऋतं सत्यं परं ब्रह्म पुरुषम्** (तैत्ति० आर० प्रपा० १० अनुवा० १२) ऋत सत्य परब्रह्म नारायण को ।।१२।। **इमे वै लोकाः पूरयमेव पुरुषो योऽयं पवते योऽस्यां पुरि शेते तस्मात्पुरुषः** (शतप० १३।६।२।१) इन सब लोकों में पूर्ण होने से और सब शरीर में शयन करने से यह परब्रह्म नारायण पुरुष कहा जाता है ।।१।। **अनेन विधिना कृत्वास्नपनं पुरुषस्यतु । दत्वा पायसमन्नं च शेषं परिसमापयेत् ॥ बोधायन सूत्र विष्ण्वाराधनप्रकरण ॥** इस विधि से परब्रह्म नारायण का स्नपन करके और पायसान्न को निवेदन करके शेषक्रिया को समाप्त करे— **स्वहृदयपद्मस्यावाङ्मुखस्य मध्ये दीपवत्पुरुषं ध्यायेत्** (विष्णुस्मृ० अध्या० ९८) अवाङ्मुख अपने हृदय कमल के मध्य में दीपक के समान प्रकाशयुक्त परब्रह्म नारायण का ध्यान करे ।।९८।। **एष वै पुरुषो विष्णुर्व्यक्त्याव्यक्तः सनातनः** (शङ्खस्मृ० अ० ७) यह परब्रह्म नारायण निश्चय ही व्यक्ति से अव्यक्त सनातन परमात्मा है ।।७।। **प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि । रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम्** (मनुस्मृ० अ० १२ श्लो० १२२) ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त सबके नियन्ता और अणुजीव से भी अत्यन्त अणीयान् तथा शुद्ध सुवर्णाभ और स्वप्नधी सदृशज्ञान ग्राह्य उस परब्रह्म नारायण को जाने ।।१२२।। **सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे** (गी० अ० ११ श्लो० १८)

आप सनातन परब्रह्म नारायण हैं ऐसा मेरा मत है ।।१८।। **अव्ययः पुरुषः साक्षी** (महाभार० अनुशा० विष्णुसहस्त्र० श्लो० २) अव्यय १, पुरुष २ और साक्षी ३ ये परब्रह्म नारायण के नाम हैं ।।२।। **महतस्तमसः पारे पुरुषं ह्यतितेजसम्** (महाभार० शान्तिप० भीष्मस्तवरा० श्लो० ४३) महान् अन्धकार से परे अति तेजस्वी परब्रह्म नारायण हैं ।।४३।। **युगान्तशेषं पुरुषं पुराणं तं वासुदेवं शरणं प्रपद्ये** (महाभार० शान्तिप० गजेन्द्रमो० श्लो० ७५) युगान्त में रहने वाले सनातन सर्वव्यापी उस वासुदेव परब्रह्म नारायण की शरण प्राप्त करता हूँ ।।७५।। **प्राणायामेन पुरुषं ध्यायमाना जनार्दनम्** (वाल्मीकिराम०) प्राणायाम से जनार्दन परब्रह्म नारायण का ध्यान करती हुई **पुरुषस्यांशसंभूतं त्वां वयं निरणैष्महि** (हरिवंश०) हम परब्रह्म नारायण के अंश से उत्पन्न आपको निर्णय करते हैं **तत्र गत्वा जगन्नाथं वासुदेवं वृषाकपिम् । पुरुषं पुरुषसूक्तेन उपतस्थे समाहितः** (श्रीमद्भागवतपु०) वहाँ पर जाकर वृषाकपि अखिल ब्रह्माण्डनायक सर्वव्यापक परब्रह्म नारायण को समाहित होकर पुरुष सूक्त से उपस्थान किये । अथवा **पुरुषसूक्तेन पुरुषं नित्यमर्चयेत्** । (अग्निपु०) अथवा पुरुषसूक्त से नित्य प्रति परब्रह्म नारायण की पूजा करे– **सर्वलोकपतिः साक्षात्पुरुषः प्रोच्यते हरिः । तं विना पुण्डरीकाक्षं कोऽन्यः पुरुषशब्दभाक्** (नरसिंह पु०) सब लोक के पति परब्रह्म नारायण साक्षात् पुरुष शब्द से कहे जाते हैं, उस कमल नयन भगवान् के विना दूसरा कौन पुरुष शब्द से कहा जा सकता है– **पुंसंज्ञे तु शरीरेऽस्मिन् शयनात्पुरुषो हरिः । शकारस्य षकारोऽयं व्यत्ययेन प्रयुज्यते** (पद्मपुरा०) **यद्वा पुरे शरीरेऽस्मिन्नास्ते स पुरुषो हरिः । यदि वा पुरुवासीति पुरुषः प्रोच्यते हरिः ॥ यदि वा पूर्वमेवासमिहेति पुरुषं विदुः । यदि वा बहुदानाद्वै विष्णुः पुरुष उच्यते ॥ पूर्णत्वात्पुरुषो विष्णुः पुराणत्वाच्च शार्ङ्गिणः । पुराणभजनाच्चापि विष्णुः पुरुष ईर्यते । यद्वा पुरुषशब्दोऽयं रूढ्या वक्ति जनार्दनम् ॥** पुम् नाम इस शरीर में सोने से नारायण भगवान् पुरुष हैं । शकार का पुरुष शब्द में व्यत्यय से षकार प्रयोग किया जाता है ।। अथवा इस शरीर में नारायण भगवान् रहते हैं इससे पुरुष कहे जाते हैं । या शरीर में वास करते हैं इससे परब्रह्म नारायण पुरुष कहे जाते हैं ।। अथवा इस संसार में पहले से नारायण भगवान् थे इससे महर्षिलोग उनको पुरुष कहते हैं । या बहुत दान देने से ही विष्णु भगवान् पुरुष शब्द से कहे जाते हैं । सर्वत्र पूर्ण होने से परब्रह्म नरायण वे विष्णु भगवान् पुरुष कहे जाते हैं अथवा सबसे पुराने होने से परब्रह्म नारायण पुरुष कहे जाते हैं । या पुराण के सेवन करने से परब्रह्म नारायण पुरुष कहे जाते हैं । अथवा यह पुरुष शब्द रूढ़ि से ही परब्रह्म नारायण को कहता है– **पुराणपुरुषो यज्ञः पुरुषः पुरुषोत्तमः** (अभिधानको०) पुराणपुरुष १, यज्ञ २, पुरुष ३, और पुरुषोत्तम ४ ये परब्रह्म

नारायण के नाम हैं। इन श्रुति स्मृति इतिहास पुराण और कोश के प्रमाणों से "पुरुष" का अर्थ परब्रह्म नारायण होता है। अब आगे इस उपासना का फल कहा जाता है। जो कोई उपासक इस प्रकार पुरुषत्व के निरुक्ति-क्रम को सर्वदा अनुसन्धान करता है वह सुप्रसिद्ध पुरुषोपासक निश्चय करके जो कोई इस पुरुषवेत्ता महात्मा से श्रेष्ठ होना चाहता है उसको वह दग्धकर देता है। यहाँ "पूर्व" का पहला अर्थ है क्योंकि- **पूर्वोऽन्यलिङ्गः प्रागाह पुंबहुत्वेऽपि पूर्वजान्** (अमर० कां० ३ व० ३ श्लो० १३४) पूर्व शब्द पूर्व पुरुष में पुरुखा में ब्रह्मा में पूर्वदिशा में तथा पहले में प्रयोग किया जाता है ॥१३४॥ अर्थात् विजिगीषु को पुरुषोपासक तिरस्कार कर देता है ॥१॥

सोऽबिभेत्। तस्मादेकाकी बिभेति। स हायमीक्षांचक्रे। यन्मदन्यन्नास्ति कस्मान्नु बिभेमीति। तत एवास्य भयं वीयाय। कस्माद्ध्यभेष्यद् द्वितीयाद्वै भयं भवति ॥२॥

अन्वयार्थ- (सः) वह अहंकार नाम वाला चतुर्मुख (अबिभेत्) अपने को अकेला देखकर भयभीत हो गया (तस्मात्) इसी हेतु से आज कल भी (एकाकी) असहाय अकेला रहने पर आदमी (बिभेति) डरता है (ह) प्रसिद्ध (सः) वह (अयम्) इस चतुर्मुख ने (ईक्षांचक्रे) इस प्रकार चिन्तवन किया कि (यत्) यदि (मत्) मुझसे (अन्यत्) अन्य दूसरा कोई प्रतिद्वन्द्वी (न) यहाँ नहीं (अस्ति) है (नु) तो (कस्मात्) किससे (बिभेमि) मैं डरता हूँ (इति) इस प्रकार जब चतुर्मुख ने विचारा (ततः) उसी विवेकरूप ज्ञान से (एव) ही (अस्य) इस प्रजापति का (भयम्) डर (वीयाय) निवृत्त हो गया (वै) निश्चय करके (द्वितीयात्) दूसरे प्रतिद्वन्द्वी से (भयम्) भय (भवति) होता है परन्तु दूसरा वहाँ कोई नहीं था तब (हि) निश्चय करके (कस्मात्) किससे (अभेष्यत्) उसने भय प्राप्त किया ॥२॥

विशेषार्थ- वह अहंकार नामवाला चतुर्मुख ब्रह्मा अपने को अकेला देखकर डरने लगा। इसी करण से आजकल भी अकेले रहने से आदमी डर जाया करता है। जब वह ब्रह्मा इस प्रकार डरने लगा तब वह सुप्रसिद्ध भयभीत चतुर्मुख ने इस प्रकार स्वतः विचार किया कि- यदि मुझ से अन्य दूसरा कोई प्रतिद्वन्द्वी यहाँ नहीं है तो फिर किससे मै भयभीत हो रहा हूँ क्योंकि लिखा है- **तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः** (ईशो० श्रु० ७) उस समय में एकत्व को निरन्तर देखने वाले भक्त के स्वतंत्रादि लक्षण मोह कौन सा होता है और पुत्रादि मरण में शोक कौन सा होता है ॥७॥ इस प्रकार जब चतुर्मुख ने विचारा तब उसी विवेक रूप ज्ञान से ब्रह्मा का भय भलीभाँति निवृत्त हो गया। उक्त अर्थ को आगे स्वयं श्रुति अनुमोदन करती

है कि- निश्चय करके दूसरे आदमी प्रतिद्वन्द्वी रहने पर भी भय होता है परन्तु वहाँ पर दूसरा कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं था तब किससे वह डरता होगा। इस कण्डिका में चतुर्मुख का भय और विचार द्वारा उसकी निवृत्ति का प्रतिपादन किया गया है ॥२॥

स वै नैव रेमे। तस्मादेकाकी न रमते। स द्वितीयमैच्छत। स हैतावानास यथा स्त्रीपुमांसौ संपरिष्वक्तौ। स इममेवाऽऽत्मानं द्वेधाऽपातयत्। ततः पतिश्च पत्नी चाभवताम्। तस्मादिदमर्धबृगलमिव स्व इति ह स्माऽऽह याज्ञवल्क्यः। तस्मादयमाकाशः स्त्रिया पूर्यत एव। तां समभवत्। ततो मनुष्या अजायन्त ॥३॥

अन्वयार्थ- (वै) निश्चय करके (सः) वह चतुर्मुख (एव) अवश्य ही (न) नहीं (रेमे) आनन्दित हुआ अर्थात् इष्टार्थसंयोगजा प्रीति को नहीं प्राप्त किया (तस्मात्) इसी हेतु से आजकल भी (एकाकी) एकाकी असहाय पुरुष (न) नहीं (रमते) रति प्राप्त करता है (सः) वह ब्रह्म (द्वितीयम्) रति करने के लिये दूसरे की (ऐच्छत्) इच्छा की (यथा) जैसे (स्त्रीपुमांसौ) लोक में स्त्री और पुरुष दोनों रति के लिये (संपरिष्वक्तौ) परस्पर आलिङ्गित होकर जितना परिमाण वाले होते हैं (ह) प्रसिद्ध (सः) वह चतुर्मुख (एतावान्) इतना परिमाण वाला (आस) बढ़ कर हो गया (सः) वह ब्रह्मा (इमम्) इस विवृद्ध (आत्मानम्) अपने शरीर को (एव) ही (द्वेधा) दो प्रकार से (अपातयत्) गिराया (ततः) उस पतन से (च) ही (पतिः) पति (च) और (पत्नी) धर्मपत्नी (अभवताम्) दो हुए (तस्मात्) इसी कारण से (स्वः) आत्मा का (इदम्) यह शरीर विवाह से पहले (अर्धबृगलम्) अर्धविदल के (इव) समान है (इति) ऐसा (ह) प्रसिद्ध (याज्ञवल्क्यः) याज्ञवल्क्यऋषि ने (आह+स्म) कहा है (तस्मात्) इस कारण से (अयम्) यह पुरुष का देहरूप (आकाशः) रिक्तस्थान विवाह करने पर (स्त्रिया) स्त्री से (एव) ही (पूर्यते) पूर्ण होता है (ताम्) उस अपनी शतरूपा नाम की कन्या को (समभवत्) उस प्रजापति ने मैथुन करने के लिये प्राप्त किया (ततः) उस मैथुन की प्रवृत्ति से (मनुष्याः) बहुत से मनुष्य (अजायन्त) उत्पन्न हुए ॥३॥

विशेषार्थ- उस चतुर्मुख ब्रह्मा ने निश्चय ही इष्टार्थ संयोगजा प्रीतिरूप रति को नहीं प्राप्त किया। क्योंकि उस समय वह अकेला था अतः उसे रति प्राप्त नहीं हुई। रति के विषय में लिखा है- **रतिर्नामेष्टार्थसंयोगजा क्रीडा ॥** इष्ट विषय के संयोग से होने वाली क्रीडा का नाम रति है। अकेला चतुर्मुख को रति नहीं प्राप्त

हुई । इसलिये आजकल भी एकाकी पुरुष नहीं रति प्राप्त करता है । अतएव उस चतुर्मुख ने रति करने के लिये दूसरी वस्तु स्त्री की इच्छा यानी अभिलाषा की । जिस प्रकार लोक में स्त्री और पुरुष रति के लिये परस्पर आलिङ्गित होते हैं और वे जिस परिमाण वाले होते हैं उसी परिमाण वाला वह ब्रह्मा हो गया । तब उस चतुर्मुख ब्रह्मा ने उस विवृद्ध अपनी देह को ही दो प्रकार से पतित किया अर्थात् दो भागों में विभक्त किया । उस द्विधा पातन से पति और पत्नी दो हुए । इसी कारण से विष्णु पुराण में लिखा है— **ब्रह्मणोऽभून्महाक्रोधस्त्रैलोक्यदहनक्षमः । भ्रूकुटिलात्तस्य ललाटात्क्रोधदीपितात् ॥ समुत्पन्नस्तदा रुद्रो मध्याह्नार्कसमप्रभः । अर्धनारी-नरवपुःप्रचण्डोऽतिशरीरवान् ॥ विभजात्मानमित्युक्त्वा तत्रैवान्तर्दधे ततः । तथोक्तोऽसौ द्विधा स्त्रीत्वं पुरुषत्वं तथाऽकरोत् ॥** एक समय तीनों लोकों को भस्म करने में समर्थ बड़ा क्रोध ब्रह्म देव को उत्पन्न हुआ तब उस ब्रह्म देव के क्रोध से प्रज्वलित कुटिल भृकुटी वाले ललाट से ॥ मध्याह्न कालीन सूर्य के समान प्रभाव वाला और आधा स्त्री तथा आधा पुरुष के देह वाला और प्रचण्ड तथा अतिकाय वाला रुद्र देव उत्पन्न हुआ ॥ और अपने शरीर को विभाग करो ऐसा कह कर वहाँ ही अन्तर्धान हो गया । इसके बाद उस बात को सुन कर ब्रह्म देव ने स्त्री और पुरुष के भेद से अपने शरीर को दो प्रकार से विभक्त किया ॥ और श्रीमद्भागवत मे लिखा है— **कस्य रूपमभूद्द्वेधा यत्कायमभिचक्षते । ताभ्यां रूपविभागाभ्यां यत्कायमभि-चक्षते ॥** (श्रीमद्भागवत) वैदिक लोग ब्रह्मदेव के जिस शरीर को कहते हैं वही स्त्री और पुरुष रूप दो प्रकार के विभाग से विभक्त हुआ, उन दोनों स्त्री तथा पुरुष रूप विभागों से जो युक्त शरीर है वही पूर्ण शरीर है ऐसा वैदिक जन कहते हैं । इसलिये अपना यह शरीर विवाह से पहले अर्धबृगल सा है । जो अर्ध यानी आधा हो और बृगल यानी विदल हो उसे अर्धबृगल अर्थात् दो दलों में से एक दल कहते हैं । इस प्रकार से निश्चय करके प्रसिद्ध महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा है । यज्ञ का वल्क यानी वक्ता यज्ञवल्क कहलाता है और उस यज्ञवल्क का जो पुत्र हो उसको याज्ञवल्क्य कहते हैं । देवरात का नाम यज्ञवल्क है क्योंकि लिखा है—**देवरातसुतः सोऽपि च्छर्दित्वा यजुषां गणम् । ततो गतोऽथ मुनयो ददृशुस्तान् यजुर्गणान्** ॥ (श्रीमद्भाग० स्कं० १२ अ० ६ श्लो० ६४) देवरात महर्षि का पुत्र याज्ञवल्क्य ऋषि भी यजुर्गण को वमन करके उस वैशम्पायन महर्षि के स्थान से चला गया तदनन्तर मुनियों ने च्छर्दित उस यजुर्गण को देखा ॥६४॥ जिस हेतु यह पुरुष का शरीर आधा ही है अतएव पुरुष का देह रूप रिक्त स्थान विवाह करने पर स्त्री से ही पूर्ण होता है । क्योंकि लिखा है— **अर्धो वा एष आत्मनो यत्पत्नीति** ॥ (श्रुति) जो पत्नी है सो निश्चय पुरुष का

यह आधा देह है ।। इसी से स्त्री अर्धाङ्गिनी कही जाती है । स्त्री के विषय में लिखा है– **स्तनकेशवती स्त्रीस्याल्लोमशः पुरुषः स्मृतः ॥** (महाभाष्य) स्तन और केश वाली को स्त्री कहते हैं और रोंवा वाला पुरुष कहा गया है । वह प्रजापति अपनी शतरूपा नाम की कन्या को मैथुन करने के लिये प्राप्त किया । क्योंकि लिखा है – **शतरूपां च तां नारीं तपो निर्धूतकल्मषाम् । स्वायंभुवो मनुर्देवः पत्नीत्वे जगृहे प्रभुः ॥** (विष्णुपु०) स्वयंभू मनु देव ने तपस्या से निर्धूत पाप वाली शतरूपा नाम वाली उस नारी को पत्नी भाव से ग्रहण किया ।। तदनन्तर उस मैथुन की प्रवृत्ति से बहुत से मनुष्य उत्पन्न हुए ।।३।।

सो हेयमीक्षांचक्रे । कथं नु माऽऽत्मन एव जनयित्वा संभवति । हन्त तिरोऽसानीति । सा गौरभवत् । वृषभ इतरः । समभवदेव । ततो गावोऽजायन्त । वडवेतराऽभवत् । अश्ववृष इतरः गर्दभीतरा गर्दभ इतरस्तां समेवाभवत्तत एकशफमजायत । अजेतराऽभवद्वस्त इतरः । अविरितरा मेष इतरस्तां तां समेवाभवत् । ततोऽजावयोपजायन्तैवमेव यदिदं किंच मिथुनमापिपीलिकाभ्यस्तत्सर्वमसृजत ।।४।।

अन्वयार्थ– (उ) निश्चय करके (ह) प्रसिद्ध (सा) वह (इयम्) यह शतरूपा नाम की कन्या (इक्षांचक्रे) इस प्रकार से चिन्तवन करने लगी (नु) कि (मा) मुझको (आत्मनः) अपने से (एव) ही (जनयित्वा) उत्पन्न करके (कथम्) कैसे (संभवति) मेरे साथ संभोग करता है (हन्त) विषाद है अब (तिरोऽसानि) मैं जात्यन्तर रूप से छिप जाती हूँ (इति) ऐसा विचार कर (सा) वह शतरूपा (गौः) गाय (अभवत्) हो गई और (इतरः) दूसरा मनु (वृषभः) सांड हो गया (एव) निश्चय करके (समभवत्) फिर वह उसी गौ के साथ संभोग करने लगा (ततः) उस संभेग से (गावः) गाय, बैल (अजायन्त) उत्पन्न हुए पुनः (इतरा) वह शतरूपा (वडवा) घोड़ी (अभवत्) हो गई और (इतरः) दूसरा मनु (अश्ववृषः) रेतः सेक्ता श्रेष्ठ घोड़ा हो गया तदनन्तर (इतरा) वह शतरूपा (गर्दभी) गदही हो गई और (इतरः) दूसरा मनु (गर्दभः) गदहा हो गया (एव) निश्चय करके फिर वह (ताम्) उसी के साथ (सम्+अभवत्) संभोग करने लगा (ततः) उस संभोग से (एकशफम्) एक खुर वाले घोड़ा, खच्चर और गदहा ये तीन पशु (अजायत) उत्पन्न हुए (इतरा) वह शतरूपा (अजा) बकरी (अभवत्) हो गई और (इतरः) दूसरा मनु (वस्तः) बकरा हो गया तथा (इतरा)

वह शतरूपा (अविः) भेड़ी बन गई और (इतरः) दूसरा मनु (मेषः) भेड़ बन गया (ताम्) फिर वह उसी बकरी के साथ और (ताम्) उसी भेड़ी के साथ (एव) निश्चय करके (सम्+अभवत्) संभोग करने लगा। (ततः) उस संभोग से (अजावयः) बकरा और भेड़ (अजायन्त) उत्पन्न हुए (एवम्) इसी प्रकार (एव) निश्चय करके (आ+पिपीलिकाभ्यः) चींटी से लेकर (इदम्) यह (यत्) जो (किं+च) कुछ भी (मिथुनम्) स्त्री पुरुष जोड़े हैं उसने इसी न्याय से (तत्) उन (सर्वम्) सब संसार को (असृजत) उत्पन्न किया है ।।४।।

विशेषार्थ- मिथुन के द्वारा गवादि प्रपञ्च की सृष्टि प्रतिपादन किया जाता है। सुप्रसिद्ध वह यह शतरूपा नाम की कन्या इस प्रकार विचार करने लगी कि यह मनु संज्ञक प्रजापति अपने ही से मुझको उत्पन्न करके कैसे मेरे साथ संभोग करता है। क्योंकि धर्मशास्त्र में लिखा है— **असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः । सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने ॥** (मनु० अ० ३ श्लोक ५) जो कन्या माता की छः पीढ़ियों में न हो और और विवाह करने वाले के पिता के गोत्र की न हो उससे ही द्विजातियों को विवाह करना चाहिये और वही स्त्री मैथुन में प्रशस्त है ।।५।। इसके अनुसार यद्यपि यह मनुदेव प्रतिषेध कर्म में प्रवृत्त हुआ है तथापि यह विषाद की बात है इस कारण से अब मै जात्यन्तर रूप से अपने को छिपा लेती हूँ। यहाँ "हन्त" शब्द का विषाद अर्थ है। क्योंकि लिखा है— **हन्त हर्षेऽनुकम्पायां वाक्यारम्भविषादयोः ॥** (अमर० का० ३ व० ३ श्लोक २४४) हर्ष में, दया में वाक्यारम्भ में तथा विषाद में हन्त शब्द का प्रयोग होता है ।।२४४।। इस प्रकार से छिपने का विचार कर वह शतरूपा गौ हो गयी और दूसरा मनु सांड हो गया। तब फिर भी वह पूर्ववत् उसी गौ के साथ संभोग करने लगा। उसी संभोग से गाय और बैल उत्पन्न हुए। भ्वादि पठित "गमलृ गतौ" धातु से **गमेर्डोः ॥** (उणा० पा० २) इस सूत्र से डो प्रत्यय होकर "गो" शब्द निष्पन्न होता है। गो शब्द के विषय में लिखा है— **गौर्नादित्ये बलीवर्दे किरणक्रतुभेदयोः । स्त्री तु स्याद्दिशि भारत्यां भूमौ च सुरभावपि । नृस्त्रियोः स्वर्गवज्राम्बुरश्मिदृग्वाणलोमसु ॥** (सिद्धान्तकौ० उणा० पा० २) आदित्य में १, बलीवर्द में २, किरण में ३ और क्रतुभेद में ४ पुलिङ्ग गो शब्द का प्रयोग होता है। और दिशा में १, वाणी में २, भूमि में ३ और सुरभि में ४ स्त्रीलिंग गो शब्द का प्रयोग होता है। तथा स्वर्ग में १, वज्र में २, जल में ३, रश्मि में ४, नेत्र में ५, वाण में ६ और रोम में ७ पुलिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग दोनों गो शब्द का प्रयोग होता है ।।२।। **गौः स्वर्गे वृषभे रश्मौ वज्रे चन्द्रे पुमान् भवेत् । अर्जुने नेत्रदिग्वाणभूवाग्वारिषु गौर्मता ॥** (तत्त्वबोधिनी) स्वर्ग १, बैल २, किरण ३, वज्र

४ और चन्द्रमा में ५ पुलिङ्ग गो शब्द का प्रयोग होता है । और अर्जुन १, नेत्र २, दिशा ३, वाण ४, भूमि ५, वाणी ६ और वारि ७ में स्त्रीलिङ्ग गो शब्द का प्रयोग होता है ।। **माहेयी सौरभेयी गौरुस्रा माता च श्रृङ्गिणी ।। अर्जुन्यघ्न्या रोहिणी स्यात् ।।** (अमर० कां० २ व० ९ श्लोक ६६।६७) माहेयी १, सौरभेयी २, गौ ३, उस्रा ४, माता ५ और श्रृङ्गिणी ६ ।।६६।। अर्जुनी ७, अघ्न्या ८ और रोहिणी ९ ये गौ के नाम हैं ।।६७।। **विषाणी ककुद्मान्प्रान्ते वालधिः सास्नावानिति । (गोत्वेदृष्टं लिङ्गम्) ।।** (वैशेषि० अध्याय २ आह्नि० १ सू० ८) सींग डील प्रान्त में वालधि और गर्दन में ललरी जिसको हो उसके गौ कहते हैं ।।८।। फिर वह शतरूपा घोड़ी हो गई और मनुश्रेष्ठ घोड़ा हो गया तब पुनः वह पूर्ववत् उसी घोड़ी के साथ संभोग करने लगा तब उसी संभोग से एक खुर वाले घोड़ा और खच्चर पशु उत्पन्न हुए। स्वादिपठित 'अशू व्याप्तौ संघाते च'' धातु से **अशूप्रुषिलटिकणिखटिविशिभ्यः क्वन् ।।** (उणा० पा० १) इस सूत्र से क्वन् प्रत्यय होकर ''अश्व'' शब्द निष्पन्न होता है । अश्व शब्द के विषय में लिखा है– **अश्वः पुंजातिभेदे च तुरङ्गे च पुमानयम् ।।** (मेदिनीको०) पुलिङ्ग जाति भेद में और तुरङ्ग में पुलिङ्ग अश्व शब्द का प्रयोग होता है ।। **अश्वः पुंभेदवाजिनोः** (विश्वको०) पुंभेद में तथा वाजि में पुंलिंग अश्व शब्दका प्रयोग होता है ।। **घोटके वीतितुरगस्तुरङ्गाश्वतुरङ्गमाः । वाजिवाहार्वगन्धर्वहयसैन्धवसप्तयः** (अमर० कां० २ व० ८ श्लो० ४३) घोटक १, वीति २, तुरग ३, तुरङ्ग ४, अश्व ५, वाजि ७, वाह ८, अर्वन् ९, गन्धर्व १० हय ११, सैन्धव १२, सप्ति १३, ये घोड़े के नाम हैं ।।१३।। और घोड़ी के विषय में लिखा है– **वाम्यश्वा वडवा** (अमर० कां० २ व० ८ श्लो० ४६) वामी १, अश्वा २ और वडवा ३ ये घोड़ी के नाम हैं ।।४६।। पुनः वह शतरूपा गदही हो गयी और मनु गदहा हो गया तब फिर वह पूर्ववत् उसी गदहीके साथ संभोग करने लगा तब उसी संभोग से एक खुरवाला गदहा पशु उत्पन्न हुआ । इस प्रकार घोड़ा खच्चर और गदहा ये तीन एक खुर वाले पशु उत्पन्न हुए । गर्दभ के विषय में लिखा है– **चक्रीवन्तस्तु बालेया रासभा गर्दभाः खराः** (अमर० कां० २ व० ९ श्लो० ७७) चक्रीवत् १, बालेय २, रासभ ३, गर्दभ ४ और खर ५ ये गदहे के नाम हैं ।।७७।। उसी प्रकार वह शतरूपा बकरी हो गयी और मनु बकरा हो गया तब पुनः वह पहले के समान उसी बकरी के साथ संभोग करने लगा तदनन्तर उसी संभोग से बकरी बकरा उत्पन्न हुए । अजा के विषय में लिखा है– **अजा छागी शुभच्छागवस्तच्छगलका अजे** (अमर० कां० २ व० ९ श्लो० ७६) अजा १, छागी २, ये बकरी के नाम हैं और शुभ १, छाग २, वस्त ३, छगलक ४ और अज ५ ये बकरे के नाम हैं ।।७६।। तदनन्तर वह शतरूपा भेड़ी हो गयी और मनु

एवान्नमग्निरन्नादः । सैषाब्रह्मणोऽतिसृष्टिः । यच्छ्रेयसो दवानसृजत । अथ यन्मर्त्यः सन्नमृतानसृजत । तस्माद- तिसृष्टिरतिसृष्ट्यां हास्यैतस्यां भवति य एवं वेद ॥६॥

अन्वयार्थ –(अथ) मङ्गलशब्दोच्चारण पूर्वक (इति) इस प्रकार (अभ्यमन्थत्) भलीभाँति मन्थन किया (सः) वह प्रजापति (मुखात्) फूत्कार साधन मुख रूपी (योनेः) योनि से (च) और (हस्ताभ्याम्) निर्मथन साधन हाथ रूपी (च) योनि से (अग्निम्) अग्निदेव को (असृजत) उत्पन्न किया (तस्मात्) इस कारण से (एतत्) यह मुख और हाथ (उभयम्) दोनों (अन्तरतः) मध्य में (अलोमकम्) रोम रहित हैं (हि) क्योंकि (योनिः) स्त्रियों की योनि (अन्तरतः) मध्य में (अलोमका) लोम शून्य ही होती है (तत्) इस कारण से यज्ञ में याज्ञिक लोग अग्नि इन्द्र आदि को (एकैकम्) एक एक (दैवम्) देवता (इति) ऐसे मानते हुए (यत्) जो (इदम्) यह (आहुः) कहते हैं कि (अमुम्) इस अग्निदेव को (यज) यजन करो (अमुम्) इस इन्द्रदेव को (यज) यजन करो (सा) वह तो (एतस्य) इस प्रजापति देव की (एव) ही (विसृष्टिः) विविध सृष्टि है (हि) क्योंकि कार्य और कारण में अभेदोपचार होने से (उ) निश्चय करके (सर्वे) संपूर्ण (देवाः) देवता (एषः) यह प्रजापति (एव) ही है (अथ) इसके बाद (यत्) जो (किं+च) कुछ भी (इदम्) यह कार्य (आर्द्रम्) द्रव रूप देखा जाता है (तत्) उस द्रव को (रेतसः) वीर्य से (असृजत) प्रजापति ने उत्पन्न किया (तत्) वह द्रव रूप (उ) ही (सोमः) सोमरस है (च) और (वै) निश्चय करके (इदम्) यह (सर्वम्) समस्त कार्य जात (एतावत्) इतना ही है (अन्नम्) खाद्य वस्तु अन्न है (च) और (एव) निश्चय करके (अन्नादः) अन्नभोक्ता अन्नाद है (सोमः) सोम के भक्ष्यमाण होने से सोम (एव) ही (अन्नम्) अन्न है और अग्नि के अन्न दाहक होने से (अग्निः) अग्नि ही (अन्नादः) अन्नाद है इससे यह जगत् अग्निषोमात्मक है (यत्) जिस कारण से (श्रेयसः) श्रेष्ठ ऊर्ध्वरेता सनन्दादिक (देवान्) देवों को (असृजत) प्रजापति ने उत्पन्न किया (सा) वही (एषा) यह (ब्रह्मणः) प्रजापति ब्रह्मा की (अतिसृष्टिः) अति सृष्टि यानी अपने से भी बढ़ी हुई सृष्टि है (अथ) और (यत्) जिस कारण से (मर्त्यः) प्रजापति स्वयं मरणधर्मा (सन्) होता हुआ भी (अमृतान्) मुक्ति योग ज्ञान वैराग्यादि सम्पन्न मुमुक्षु सनन्दादि देवों को (असृजत) उत्पन्न किया (तस्मात्) इस कारण से (अतिसृष्टिः) प्रजापति की यह अतिशयिता सृष्टि है (यः) जो उपासक (एवम्) इस प्रकार इस प्रकरण को (वेद) जानता है वह (ह) प्रसिद्ध (अस्य) इस प्रजापति की (एतस्याम्) इस (अतिसृष्ट्याम्) अति सृष्टि में

४ और चन्द्रमा में ५ पुलिङ्ग गो शब्द का प्रयोग होता है । और अर्जुन १, नेत्र २, दिशा ३, वाण ४, भूमि ५, वाणी ६ और वारि ७ में स्त्रीलिङ्ग गो शब्द का प्रयोग होता है ।। **माहेयी सौरभेयी गौरुस्रा माता च शृङ्गिणी ।। अर्जुन्यघ्न्या रोहिणी स्यात् ।।** (अमर० कां० २ व० ९ श्लोक ६६।६७) माहेयी १, सौरभेयी २, गौ ३, उस्रा ४, माता ५ और शृङ्गिणी ६ ।।६६।। अर्जुनी ७, अघ्न्या ८ और रोहिणी ९ ये गौ के नाम हैं ।।६७।। **विषाणी ककुद्मान्प्रान्ते वालधिः सास्नावानिति । (गोत्वेदृष्टं लिङ्गम्) ।।** (वैशेषि० अध्याय २ आह्नि० १ सू० ८) सींग डील प्रान्त में वालधि और गर्दन में ललरी जिसको हो उसके गौ कहते हैं ।।८।। फिर वह शतरूपा घोड़ी हो गई और मनुश्रेष्ठ घोड़ा हो गया तब पुनः वह पूर्ववत् उसी घोड़ी के साथ संभोग करने लगा तब उसी संभोग से एक खुर वाले घोड़ा और खच्चर पशु उत्पन्न हुए । स्वादिपठित 'अशू व्याप्तौ संघाते च" धातु से **अशूप्रुषिलटिकणिखटिविशिभ्यः क्वन् ।।** (उणा० पा० १) इस सूत्र से क्वन् प्रत्यय होकर "अश्व" शब्द निष्पन्न होता है । अश्व शब्द के विषय में लिखा है– **अश्वः पुंजातिभेदे च तुरङ्गे च पुमानयम् ।।** (मेदिनीको०) पुलिङ्ग जाति भेद में और तुरङ्ग में पुलिङ्ग अश्व शब्द का प्रयोग होता है ।। **अश्वः पुंभेदवाजिनोः** (विश्वको०) पुंभेद में तथा वाजि में पुंलिंग अश्व शब्दका प्रयोग होता है ।। **घोटके वीतितुरगस्तुरङ्गाश्वतुरङ्गमाः । वाजिवाहार्वगन्धर्वहयसैन्धवसप्तयः** (अमर० कां० २ व० ८ श्लो० ४३) घोटक १, वीति २, तुरग ३, तुरङ्ग ४, अश्व ५, वाजि ७, वाह ८, अर्वन् ९, गन्धर्व १० हय ११, सैन्धव १२, सप्ति १३, ये घोड़े के नाम हैं ।।१३।। और घोड़ी के विषय में लिखा है– **वाम्यश्वा वडवा** (अमर० कां० २ व० ८ श्लो० ४६) वामी १, अश्वा २ और वडवा ३ ये घोड़ी के नाम हैं ।।४६।। पुनः वह शतरूपा गदही हो गयी और मनु गदहा हो गया तब फिर वह पूर्ववत् उसी गदहीके साथ संभोग करने लगा तब उसी संभोग से एक खुरवाला गदहा पशु उत्पन्न हुआ । इस प्रकार घोड़ा खच्चर और गदहा ये तीन एक खुर वाले पशु उत्पन्न हुए । गर्दभ के विषय में लिखा है– **चक्रीवन्तस्तु बालेया रासभा गर्दभाः खराः** (अमर० कां० २ व० ९ श्लो० ७७) चक्रीवत् १, बालेय २, रासभ ३, गर्दभ ४ और खर ५ ये गदहे के नाम हैं ।।७७।। उसी प्रकार वह शतरूपा बकरी हो गयी और मनु बकरा हो गया तब पुनः वह पहले के समान उसी बकरी के साथ संभोग करने लगा तदनन्तर उसी संभोग से बकरी बकरा उत्पन्न हुए । अजा के विषय में लिखा है– **अजा छागी शुभच्छागवस्तच्छगलका अजे** (अमर० कां० २ व० ९ श्लो० ७६) अजा १, छागी २, ये बकरी के नाम हैं और शुभ १, छाग २, वस्त ३, छगलक ४ और अज ५ ये बकरे के नाम हैं ।।७६।। तदनन्तर वह शतरूपा भेड़ी हो गयी और मनु

(भवति) मुख्य होता है ॥६॥

विशेषार्थ– इस कण्डिका में प्रजापति की अतिसृष्टि का प्रतिपादन किया जाता है कि– उस प्रजापति ने माङ्गलिक अथ शब्द को उच्चारण करके इस प्रकार भलीभाँति मन्थन किया। यहाँ "अथ" शब्द मङ्गल वाचक है क्योंकि लिखा है– **मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकात्स्न्येष्वथो अथ ॥** (अमर० कां० ३ व० ३ श्लोक २४७) मङ्गल १, अनन्तर २, आरम्भ ३, प्रश्न ४ तथा सम्पूर्णता ५ अर्थ में अथो और अथ शब्द का प्रयोग होता है ॥२४७॥ **ओंकारश्चाथ शब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा । कण्ठं निर्भिद्य निर्यातौ तेन माङ्गलिकावुभौ ॥** (नारदपु०) ओऽम् और अथ ये दोनों शब्द पहले ब्रह्मा के कण्ठ को भेदन करके निकले हुये हैं इससे ये दोनों शब्द माङ्गलिक हैं। उस प्रजाति फूत्कार साधन मुख रूप योनि से और निर्मंथन साधन हाथ रूप योनियों से अग्नि देव को उत्पन्न किया। इस कारण से ये हाथ और मुख दोनों ही भीतर से या मध्य में लोम शून्य हैं। क्योकि स्त्रियों की योनि मध्य में लोम शून्य ही होती है। योनि के विषय में लिखा है– **भगं योनिर्द्वयोः ॥** (अमर० कां० २ व० ६ श्लोक ७६) भग १, और योनि २ ये दोनों स्त्री के मूत्रेन्द्रिय का नाम है ॥७६॥ इसी कारण से यज्ञ में याज्ञिक लोग अग्नि इन्द्र आदि को एक एक भिन्न भिन्न देवता मानते हुए जो यह कहते हैं कि– इस अग्निदेव का यजन करो, इस इन्द्रदेव का यजन करो सो तो यह इस प्रजापति देव की ही नाना प्रकर की सृष्टि है। क्योंकि कार्य और कारण में अभेदोपचार होने से निश्चय करके समस्त देव यही एक प्रजापति ही है। क्योंकि लिखा है – **इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् । एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥** (ऋगवे० मंडल १ सूक्त १६ मं० ४६) इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य, गरुड, गरुत्मान्, दीप्तिमान्, यम, एक, वायु, सत् इत्यादि अनेक प्रकार से विप्रगण कहते हैं ॥४६॥ **एष ब्रह्मैष इन्द्र एष प्रजापतिरेते सर्वे देवाः ॥** (ऐत० उ० अ० ३ खं० १श्रु० ३) यह ब्रह्मा है, यह इन्द्र है, यह प्रजापति है और यह सम्पूर्ण देवगण हैं ॥३॥ **स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोक्षरः परमः स्वराट् । स एव विष्णुः स प्राणः स कालेऽग्निः स चन्द्रमा ॥** (कैवल्योप० ख० १ श्रु० ८) वही ब्रह्मा है वही शिव है, वही इन्द्र है, वही अविनाशी परम स्वतन्त्र परमात्मा है, वही विष्णु है, वही प्राण है वही अग्नि है, वही काल है और वही चन्द्रमा है ॥८॥ **एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम् । इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ।** (मनु० अ० १२ श्लोक १२३) कुछ लोग इसको अग्नि कहते हैं, कुछ लोग मनु कहते हैं, और लोग प्रजापति कहते हैं, कोई इन्द्र कहते हैं, कोई प्राण कहते हैं और लोग शाश्वत ब्रह्म कहते हैं ॥१२३॥ तदनन्तर यह जो कुछ लोक में द्रव रूप

कार्य देखा जाता है उसको प्रजापति ने अपने वीर्य से उत्पन्न किया। क्योंकि यह लिखा है– **शिश्नाद्रेतो रेतस आपः॥** (ऐत० उ० अ० १ खं० १ श्रु० ४) लिङ्ग से वीर्य उत्पन्न हुआ और वीर्य से जल उत्पन्न हुआ ॥४॥ रेतस् के विषय में लिखा है– **शुक्रं तेजोरेतसी च बीजवीर्येन्द्रियाणि च ॥** (अमर० कां० २ व० ६ श्लोक ६२) शुक्र १, तेजस् २, रेतस् ३, बीज ४, वीर्य ५ और इन्द्रिय ६ ये वीर्य के नाम हैं ॥६२॥ वह द्रव रूप ही सोम रस है। निश्चय करके यह सम्पूर्ण कार्य जात अन्न अन्नादात्मक है अर्थात् खाद्य वस्तु अन्न है और निश्चय करके अन्नभोक्ता अन्नाद है इससे यह सिद्ध हुआ कि समस्त जगत् अग्निषोमात्मक है। भक्षण किया जाता है इससे सोम अन्न है और भक्षण करने वाला है इससे अग्नि ही अन्नाद है। जिस कारण से श्रेष्ठ ऊर्ध्वरेता सनकादिक देवों को प्रजापति ने उत्पन्न किया है वही यह प्रजापति ब्रह्मा की अतिसृष्टि यानी अपने से भी बढ़ी हुई सृष्टि है। क्योंकि ब्रह्मा ने स्वयं मरण धर्मा होने पर भी अमृत यानी मुक्तियोग्य ज्ञान वैराग्यादि संपन्न मुमुक्षु सनकादिक देवों को उत्पन्न किया है। इस कारण से प्रजापति ब्रह्मा की यह अतिशयिता सृष्टि है। ब्रह्मा ने सनकादिक को उत्पन्न किया है यह स्पष्ट लिखा है– **भगवद्ध्यानपूतेन मनसान्यां ततोऽसृजत्॥** (श्रीमद्भा० पु० स्कं० ३ अ० १२ श्लोक ३) **सनकं च सनन्दं च सनातनमथात्मभूः। सनत्कुमारं च मुनीन्निश्क्रियानूर्ध्वरेतसः ॥४॥** इसके बाद स्वयंभू ब्रह्मा ने भगवान के ध्यान से पवित्र हुए मन से अन्य महानुभावों को उत्पन्न किया ॥३॥ सनक १, सनन्द २, सनातन ३ और सनत्कुमार ४ इन निष्क्रिय ऊर्ध्वरेता मुमुक्षु ज्ञान वैराग्य सम्पन्न मुनियों को उत्पन्न किया ॥४॥ प्रकृत कण्डिका में "देव" शब्द का अर्थ है कि– भगवान् के आज्ञानुसार बर्तने का स्वभाव वाला। क्योंकि लिखा है– **देवा भगवदाज्ञानुवृत्तिशीलाः ॥** (रामानुज-भाष्य गी० अ० १६ श्लोक ३) भगवान् के आज्ञानुसार बर्तने के स्वभाव वालों का नाम देव है ॥३॥ सनकादिक महानुभाव चक्राङ्कित हैं। क्योंकि लिखा है– **यमः शिवः कुमाराश्च भक्ता ये भूतभाविनः। पाञ्चजन्य मया प्रोक्तः प्रद्यु म्नांशसमुद्भवः ॥** (बृहद् ब्रह्म सं० अ० २ पा० १ श्लोक १०७) **वामे भुजे मुमुक्षूणां स्थित्वा मन्मार्गदो भव। चक्राङ्किता भविष्यन्ति याता यास्यन्ति चापरे ॥१०८॥** यमराज, शिव, सनत्कुमारादिक जितने भक्त हुए हैं वे चक्राङ्कित हैं और जो भक्त होंगे वे सब भी तप्तचक्र धारण करेंगे। हे पाञ्चजन्य शङ्ख मुझसे प्रद्युम्नांश समुद्भव तू कहा गया है ॥१०७॥ मुमुक्षुओं के वाम भुज मूल में अङ्कन द्वारा स्थित होकर मेरे मार्ग को देने वाला बनो। चक्राङ्कित परब्रह्म को प्राप्त किये हैं और परब्रह्म को प्राप्त करने वाले होंगे ॥१०८॥ इससे सिद्ध हो गया कि अति प्राचीन सनकादिक चक्राङ्कित थे। और प्रजापति ब्रह्मा भी चक्राङ्कित हैं। क्योंकि लिखा है कि– **एवमुक्त्वा विधातारं**

देवदेवो हरिः पिता । स्वचक्रेणाङ्कयित्वा तु तस्मै मंत्रं ददौ स्वयम् ॥ (पद्मपु० उत्तरखं० ६ अ० २२३ श्लोक ६८) इस प्रकार कह कर परम पिता श्रीमन्नारायण देव ने चतुर्मुख ब्रह्मा को अपने चक्र से अङ्कित कर उस प्रजापति ब्रह्मा के लिये मन्त्र रत्न को स्वयं निर्हेतुक दया से दिया ॥६८॥ इससे सिद्ध हो गया कि चतुर्मुख ब्रह्मा चक्राङ्कित हैं । अब आगे इस विज्ञान का फल कहा जाता है कि– जो कोई उपासक इस प्रकार इस प्रकरण को जनता है वह महात्मा सुप्रसिद्ध इस प्रजापति ब्रह्मा की इस अतिसृष्टि में मुख्य हो जाता है ॥६॥

तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत । असौ नामाऽयमिदं रूप इति । स एष इह प्रविष्टः । आनखाग्रेभ्यः । यथा क्षुरः क्षुरधानेऽवहितः । स्याद्विश्वम्भरो वा विश्वम्भरकुलाये । तं न पश्यति अकृत्स्नो हि सः । प्राणन्नेव प्राणो नाम भवति । वदन्वाक् पश्यँश्चक्षुः श‍ृण्वञ्श्रोत्रं मन्वानो मनस्तान्यस्यैतानि कर्मनामान्येव । स योऽत एकैकमुपास्ते न स वेद । अकृत्स्नो ह्येषोऽत एकैकेन भवत्यात्मेत्येवोपासीत । अत्र ह्येते सर्व एकं भवन्ति । तदेतत्पदनीयमस्य सर्वस्य यदयमात्मा । अनेन ह्येतत्सर्वं वेद । यथा ह वै पदेना नुविन्देदेवं कीर्तिं श्लोकं विन्दते य एवं वेद ॥७॥

अन्वयार्थ– (ह) प्रसिद्ध (तत्) वह (इदम्) यह मिथुनादि लक्षण जगत् (तर्हि) उस समय सृष्टि से पहले (अव्याकृतम्) अव्यक्त शरीर ब्रह्म (आसीत्) था (तत्) वह अव्याकृत शरीरक ब्रह्म (एव) निश्चय करके (नामरूपाभ्याम्) नाम और रूप के द्वारा (व्याक्रियत) विचार कर भलीभाँति स्वयं किया (असौ) अमुक देव मनुष्य आदिक (नामा) नाम वाला (अयम्) यह है और (इदम्) यह दृश्यमान (रूपः) कर चरणादि रूप वाला यह है (इति) इस प्रकार के स्वयं परम ब्रह्म ने व्याकृत किया (सः) वह (एषः) यह व्याकर्ता (इह) इस शरीर में अन्तर्यामी रूप से (प्रविष्टः) प्रवेश किया है (आनखाग्रेभ्यः) नखों के अग्र भाग से लेकर शिर के केश तक (यथा) जिस प्रकार (क्षुरः) क्षुरा (क्षुरधाने) क्षुरा के कोश में (अवहितः) छिपा हुआ प्रविष्ट (स्यात्) रहता है (वा) अथवा जिस प्रकार (विश्वम्भरः) विश्व का भरण करने वाली अग्नि

(विश्वम्भरकुलाये) अग्नि के कुलाय यानी नीड-काष्ठादि में छिपी रहती है (तम्) उस सर्व स्वरूप व्याप्त परमात्मा को जो (न) नहीं (पश्यति) देखता है (सः) वह (हि) निश्चय करके (अकृत्स्नः) अपूर्ण स्वरूप यानी असत्कल्प है (एव) निश्चय करके (प्राणन्) प्राणन क्रिया करने से वह परमात्मा (प्राणः) प्राण (नाम) नाम वाला (भवति) होता है और (वदन्) वदन क्रिया करने से वह परमात्मा (वाक्) वाक् नाम वाला होता है तथा (पश्यन्) दर्शन क्रिया करने से वह परमात्मा (चक्षुः) चक्षु नाम वाला होता है और (शृण्वन्) श्रवण करने से वह परमात्मा (श्रोत्रम्) श्रोत्र नाम वाला होता है तथा (मन्वानः) मनन क्रिया करने से वह परमात्मा (मनः) मन नाम वाला है (एव) निश्चय करके (तानि) वे (एतानि) ये प्राणादिक नाम (अस्य) इस अन्तर्यामी नारायण के (कर्मनामानि) कर्म जनित नाम हैं जिस कारण से (सः) वह नाम रूपात्मक प्रपञ्च विशिष्ट परब्रह्म है (अतः) इस कारण मे जो कोई (एकैकम्) एक विशेषणांश को अथवा एक विशेष्यांश को पृथक् सिद्धत्वेन (उपास्ते) उपासना करता है (सः) वह अज्ञानी (न) नहीं (वेद) चिदचिद्विशिष्ट परब्रह्म को जानता है (हि) क्योंकि (एषः) यह परमात्मा चेतनाचेतन विशिष्ट पदार्थ है (एकैकेन) एक विशेष्याणांश से अथवा एक विशेष्यांश से (अकृत्स्नः) अपूर्ण (भवति) रहता है (अतः) इस कारण से (आत्मा) नाम रूपात्मक चिदचित्प्रपञ्च से अपृथक् सिद्ध परब्रह्म नारायण है (इति) ऐसा मान कर (एव) ही (उपासीत) प्रभु की उपासना करनी चाहिये (हि) निश्चय करके (अत्र) इस विशिष्ट तत्त्व में (एते) ये (सर्वे) सब पदार्थ (एकम्) एक (भवन्ति) हो जाते हैं (तत्) सो (एतत्) यह आत्म स्वरूप (अस्य) इस (सर्वस्य) समस्त नाम रूपात्मक प्रपञ्च के (पदनीयम्) प्राप्त करने योग्य है (यत्) जिस कारण से (अयम्) यह परमात्मा (आत्मा) इस सम्पूर्ण स्थावर जङ्गम की आत्मा है (हि) निश्चय करके (अनेन) इस आत्मा के भलीभाँति ज्ञात होने से (एतत्) इस (सर्वम्) सब जगत् को (वेद) जान लेता है (ह) प्रसिद्ध (वै) निश्चय करके यह है कि (यथा) जिस प्रकार लोक में (पदेन) गौ आदि के खुर से अङ्कित प्रतिपद से (अनुविन्देत्) खोजने वाला पुरुष चोर आदिक से अपहृत पशु को पा लेता है (एवम्) इसी प्रकार पदनीयत्वेन प्राक् निर्दिष्ट सबके पदभूत परब्रह्म नारायण से सबको पा लेता है या जान लेता है (यः) जो कोई उपासक (एवम्) इस प्रकार (वेद) इस प्रकरण को जानता है वह (कीर्तिम्) ख्याति सामान्य को और (श्लोकम्) पुण्य श्लोकता को (विन्दते) प्राप्त करता है ॥७॥

विशेषार्थ– प्रसिद्ध वह यह दृश्यमान मिथुनादि लक्षण जगत् उस समय सृष्टि से पहले अव्यक्त शरीरक परब्रह्म नारायण था। अव्यक्त यानी नाम रूप विशिष्टतया

अनभिव्यक्त अर्थात् नाम और रूप से नहीं व्याकृत था। वह अव्याकृत शरीरक परब्रह्म नारायण नाम और रूपवत्ता के द्वारा स्वयं व्याकृत हुआ। अर्थात् अमुक देव, मनुष्य, पशु आदिक नाम वाला और यह दृश्यमान करचरणादिक रूप वाला स्वयं परब्रह्म नारायण व्याकृत हुआ। क्योंकि लिखा है– **तदात्मानं स्वयमकुरुत॥** (तैत्ति० उ० व० २ अनु० ७ श्रु० १) उस परब्रह्म नारायण ने अपने को ही उपादान स्वीकार करके आप ही स्वयं निमित्त हो इस रूप में प्रकट किया ॥१॥ प्रकृत श्रुत्यर्थ यह हुआ कि– वही अविभक्त नाम रूप वाला स्वयं ही व्याकृत हुआ। इससे कार्यावस्थ और कारणावस्थ स्थूल सूक्ष्म चिदचिद्वस्तुशरीरक परब्रह्म नारायण ही प्रतिपादन किया गया है। उस परब्रह्म नारायण ने नखों के अग्र भाग से लेकर शिर के केश तक इस देव मनुष्यादि शरीर में अन्तर्यामी रूप से प्रवेश किया है। क्योंकि लिखा है– **अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा॥** (तै० आर० ३।११।३) वह समस्त जीवों का शासक सबकी आत्मा अन्तर में प्रविष्ट है ॥३॥ **य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृतः॥** (शतप० ब्रा० १४।५।३०) जो आत्मा में रहता हुआ आत्मा की अपेक्षा अन्तरतम है जिसको आत्मा नहीं जानती जीवात्मा जिसका शरीर है जो जीवात्मा के अन्दर रह कर उसका नियमन करता है वह तेरा अन्तर्यामी अमृत रूप आत्मा है ॥३०॥ **एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा॥** (श्वे० उ० अ० ६ श्रु० ११) सब भूतों में निहित एक देव है वह सबमें व्याप्त और समस्त भूतों की अन्तरात्मा है ॥११॥ **सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः॥** (गी० अ० १५ श्लोक १५) मैं सबके हृदय में सन्निविष्ट हूँ ॥१५॥ **ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति॥** (गी० अ० १८ श्लोक ६१) हे अर्जुन ईश्वर सभी प्राणियों के हृदय देश में स्थित है ॥६१॥ इस विषय में दृष्टान्त दिखलाया जाता है कि– जैसे क्षुरा क्षुरा के कोश में यानी क्षुरधान में छिपा हुआ प्रविष्ट रहता है और जैसे विश्व का भरण करने वाली अग्नि अपनी नीड काष्ठादि में छिपी हुई प्रविष्ट रहती है वैसे ही सब शरीर में परब्रह्म नारायण छिपा हुआ प्रविष्ट रहता है। जिसमें क्षुरा रखा जाय उसको क्षुरधान कहते हैं। अर्थात् नापित के मुण्डन सामग्री रखने के सन्दूक में। विश्वम्भर कुलाय शब्द में "कुलाय" का अर्थ नीड-काष्ठादि होता है क्योंकि लिखा है **कुलायो नीडमस्त्रियाम्॥** (अमर० कां० २ व० ५ श्लोक ३७) कुलाय १, नीड २, ये पक्षियों के घर के नाम हैं ॥३७॥ यहाँ पर विश्वम्भर यानी अग्निरूप खग के नीड घर काष्ठादिक है। इससे पूर्वोक्त अर्थ किया गया है। जो पुरुष तिल में तैल के समान सर्वस्वरूप में व्याप्त उस परब्रह्म नारायण को नहीं देखता है वह निश्चय करके अपूर्ण स्वरूप है यानी असत्कल्प है। नारायण सबमें व्याप्त है। क्योंकि लिखा

है– **ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ॥** (ईशो० श्रु० १) अखिल ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी स्थावर जङ्गम रूप संसार है ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त यह भोक्तृभोग्य रूप सब जगत् सर्वेश्वर परब्रह्म नारायण से व्याप्त है ॥१॥ **तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिरापः स्रोतः स्वरणीषु चाग्निः ॥** (श्वे० उ० अ० १ श्रु० १५) तिल में तेल, दही में घी, स्रोतों में जल और अरणियों में अग्नि जैसे रहते हैं ॥१५॥ तैसे ही चराचर में व्याप्त परमात्मा है ॥ **यच्च किञ्चिज्जगत्सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा । अन्तर्बहिश्चतत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः ॥** (नारा० उ० श्रु० १३) जो कुछ देखने सुनने में जड़ चेतन स्वरूप जगत् है उसके भीतर और बाहर व्याप्त होकर परब्रह्म नारायण स्थित हैं ॥१३॥ प्रकृत कण्डिका में "कृत्स्न" शब्द का अर्थ पूर्ण है । क्योंकि लिखा है– **विश्वमशेषं कृत्स्नं समस्तनिखिलाखिलानि निःशेषम् । समग्रं सकलं पूर्णमखण्डं स्यादनूनके ॥** (अमर० कां० ३ व० १ श्लोक ६५) विश्व १, अशेष २, कृत्स्न ३, समस्त ४, निखिल ५, अखिल ६, निःशेष ७, समग्र ८, सकल ९, पूर्ण १०, अखण्ड ११ और अनूनक १२ ये पूर्ण के नाम हैं ॥६५॥ अब आगे परमात्मा का ही सर्वनामरूपवत्त्व प्रतिपादन किया जाता है । प्राणन क्रिया करने से वह परब्रह्म नारायण प्राण नाम वाला होता है । क्योंकि लिखा है– **अच्युतः प्रथितः प्राणः ॥** (माहभारत अनुशा० प० विष्णु सह० श्लो० ४८) अच्युत १, प्रथित २, प्राण ३ ये परब्रह्म नारायण के नाम हैं ॥४८॥ और "वक्तीति वाक्" इस व्युत्पत्ति से बोलने के द्वारा यानी भाषण क्रिया करने से वह परब्रह्म नारायण वाक् नाम वाला होता है क्योंकि लिखा है– **सर्ववागीश्वरेश्वरः ॥** (विष्णुस० श्लोक ९९) सर्ववाक् १, ईश्वरेश्वर २ ये परमात्मा के नाम हैं ॥९९॥ तथा "चष्टे इति चक्षुः" इस व्युत्पत्ति से देखने से यानी दर्शन क्रिया करने से वह परब्रह्म नारायण चक्षु नाम वाला होता है । और "शृणोतीति श्रोत्रम्" इस व्युत्पत्ति से सुनने के द्वारा यानी श्रवण क्रिया करने से वह परब्रह्म नारायण श्रोत्र नाम वाला होता है । तथा "मनुते इति मनः" इस व्युत्पत्ति से मनन करने के द्वारा यानी मनन क्रिया करने से वह परब्रह्म नारायण मन नाम वाला होता है । निश्चय करके इस अन्तर्यामी परब्रह्म नारायण के वे ये प्राण, वाक्, चक्षु आदिक नाम पाचक लावक आदि के समान कर्म नाम हैं अर्थात् क्रिया के कारण ये प्राणादिक नाम होते हैं । इससे सर्वनामरूपाश्रयत्व परमात्मा का सिद्ध होता है । क्योंकि लिखा है– **सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥** (गी० अ० ११ श्लो० ४०) आप सबको व्याप्त कर रहे हैं अतएव आप सर्वरूप हैं ॥४०॥ जिस कारण से वह नाम रूपात्मक प्रपञ्च विशिष्ट परब्रह्म नारायण है इस कारण से जो कोई उपासक एक विशेषणांश को अथवा एक विशेष्यांश को पृथक् सिद्धत्वेन उपासना करता है वह अज्ञानी चिदचिद्विशिष्ट परब्रह्म नारायण को नहीं जानता है अर्थात्

उसकी उपासना ही नहीं होती है । क्योंकि यह परब्रह्म नारायण चेतनाचेतन विशिष्ट पदार्थ है, इससे एक विशेषणांश से अथवा एक विशेष्यांश से अपूर्ण ही रहता है । क्योंकि केवल विशेषणांश में भी पूर्णता नहीं है । इस कारण से नाम रूपात्मक चिदचित्प्रपञ्च से अपृथक् सिद्ध परब्रह्म नारायण है ऐसा जान कर ही परब्रह्म नारायण की उपासना करनी चाहिये । क्योंकि निश्चय करके इस चिदचिद्विशिष्ट परब्रह्म नारायण में सब पदार्थ अन्तर्भाव हो जाते हैं । सो यह आत्मस्वरूप इस सम्पूर्ण नाम रूपात्मक प्रपञ्च को प्राप्त करने योग्य है अथवा जानने योग्य है जिस कारण से यह परब्रह्म नारायण समस्त चराचर की आत्मा है। इसी से लिखा है– **आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः ॥** (बृह० उ० अ० २ ब्रा० ४ कं० ५) अयि मैत्रेयि यह आत्मा देखने योग्य है तथा श्रवण मनन और निदिध्यासन करने योग्य है ॥५॥ निश्चय करके इस परब्रह्म नारयण के अभिज्ञात हो जाने से इस समस्त जगत् को उपासक जान लेता है । किस प्रकार जान लेता है सो आगे बतलाया जाता है । जिस प्रकार लोक में गौ आदि की खुर से अङ्कित प्रतिपद से अन्वेषण करने वाला पुरुष चोर आदि से अपहृत अपने अभीष्ट पशु को प्राप्त कर लेता है इसी प्रकार पदनीयत्वेन प्राक् निर्दिष्ट सबके पदभूत परब्रह्म नारायण से सब को प्राप्त कर लेता है अथवा समस्त जगत् को जान लेता है । अब आगे इस विज्ञान का फल कहा जाता है कि– जो कोई उपासक इस प्रकार इस प्रकरण को जानता है वह महात्मा ख्याति सामान्य को और पुण्यश्लोकताको प्राप्त करता है । श्रीविष्णु दर्शनस्थापनाचार्य भगवद्रामानुजाचार्यने **अथातो ब्रह्मजिज्ञासा** (शारी० मी० अ० १ पा० १ सू० १) **तत्तु समन्वयात्** (शा० मी० १।१।४) **कारणत्वेन चाकाशादिषु यथा व्यपदिष्टोक्तेः** (शा० मी० अ० १ पा० १ सू० १४) **समाकर्षात्** (शा० मी० १।४।१५) **असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषाद्युक्तेः शब्दान्तराच्च** (शा० मी० अ० २ पा० १ सू० १८) **तत्पूर्वकत्वाद्वाचः** (शा० मी० २।४।३) **सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात्** (शा० मी० अ० ३ पा० ३ सू० १) **आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च** (शा० मी० अ० ४ पा० १ सू० ३) इन आठ सूत्रों के श्रीभाष्य में ''बृहदारण्यकोपनिषद्'' के प्रथम अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण की सातवीं कण्डिका के खण्डों को उद्धृत किया है ॥७॥

तदेतत्प्रेयः पुत्रात्प्रेयो मित्रात्प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा । स योऽन्यमात्मनः प्रियं ब्रु वाणं ब्रूयात्प्रियं रोत्स्यतीतीश्वरो ह तथैव स्यात् । आत्मानमेव प्रियमुपा-सीत । स य आत्मानमेव प्रियमुपास्ते न हास्य प्रियं प्रमायुकं

भवति ॥८॥

अन्वयार्थ– (तत्) वह (एतत्) यह आत्मतत्त्व (पुत्रात्) पुत्रसे अधिक (प्रेयः) प्रिय है और (मित्रात्) मित्रसे अधिक (प्रेयः) प्रिय है तथा (अन्यस्मात्) अन्य (सर्वस्मात्) सब वस्तु से अधिक (प्रेयः) प्रिय है (यत्) जिस कारण से (अयम्) यह (आत्मा) आत्मा (अन्तरतरम्) सब के अभ्यन्तर आप्त मुख्य है (सः) वह (यः) जो इस प्रकार जानने वाला पुरुष (आत्मनः) आत्मा की अपेक्षा से भी (अन्यम्) अधिक अन्यवस्तु (प्रियम्) प्रिय है (ब्रुवाणम्) ऐसा कहने वाले के प्रति (ह) सुप्रसिद्ध (ईश्वरः) परमेश्वर (प्रियम्) तेरे प्रिय को (रोत्स्यति) निरोध करेगा (इति) ऐसा यदि (ब्रूयात्) कहे तो (तथा) वैसा (एव) ही (स्यात्) हो जायगा इस कारण से (एव) निश्चय करके (प्रियम्) निरतिशय प्रिय (आत्मानम्) परमात्मा को (उपासीत) उपासना करे (सः) वह (यः) जो कोई उपासक (एव) निश्चय करके (प्रियम्) निरतिशयप्रिय (आत्मानम्) परमात्मा को (उपास्ते) उपासना करता है (ह) प्रसिद्ध (अस्य) इस उपासक का (प्रियम्) प्रियपदार्थ (प्रमायुकम्) अत्यन्त मरणशील (न) नहीं (भवति) होता है ॥८॥

विशेषार्थ– लोक में प्रियरूप से प्रसिद्ध जो पुत्र है उससे भी अधिक निरतिशयप्रिय यह आत्मतत्त्व है । पुत्रके विषय में लिखा है– **पुं नाम्नो नरकाद्यस्मात्त्रायते पितरं सुतः । तस्मात्पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयं भुवा** (मनु० अ० ९ श्लो० १३८) पुम् नाम नरक का है जिस कारण से सुत नरक से पिता की रक्षा करता है इस कारण से स्वयं ही ब्रह्मा ने पुत्र ऐसा कहा है ॥१३८॥ पुत्र बारह प्रकार के हैरण्यगर्भ मनुने कहा है– **औरसः क्षेत्रजश्चैव दत्तः कृत्रिम एव च । गूढोत्पन्नोपविद्धश्च दायादा बान्धवाश्च षट्** (मनु० अ० ९ श्लो० १५९) औरस १, क्षेत्रज २, दत्त ३, कृत्रिम ४, गूढोत्पन्न ५और अपविद्ध ६ ये छः गोत्रधनभागी दायाद और बन्धुकार्य उदकादि क्रिया करने वाले बान्धव होते हैं ॥१५९॥ **कानीनश्च सहोढश्च क्रीतः पौनर्भवस्तथा । स्वयं दत्तश्च शौद्रश्च षडदायादबान्धवाः** (मनु० अ० ९ श्लो० १६०) कानीन १, सहोढ २, क्रीत ३, पौनर्भव ४, स्वयंदत्त ५ और शौद्र ६ ये छः गोत्रधन भागी नहीं हैं परन्तु बन्धु कार्य करने बाले बान्धव हैं ॥१६०॥ **स्वक्षेत्रे संस्कृतायां तु स्वयमुत्पादयेद्धि यम् । तमौरसं विजानीयात्पुत्रं प्रथमकल्पितम् ॥** (मनु० अ० ९ श्लोक १६६) सवर्णा विवाह संस्कार से संयुक्त अपनी स्त्री में स्वयं पिता जिस पुत्र को उत्पन्न करता है उस पुत्र को मुख्य औरस १ पुत्र जाने ॥१६६॥ **यस्तल्पजः प्रमीतस्य क्लीबस्य व्याधितस्य वा । स्वधर्मेण नियुक्तायां स पुत्रः क्षेत्रजः**

स्मृतः ॥१६७॥ जो मरे हुए के या नपुंसक के या प्रसव विरोधी व्याधि से युक्त किसी स्त्री में अपने नियोग धर्म से नियुक्ता में सुत उत्पन्न होता है वह क्षेत्रज पुत्र २ मन्वादि से कहा गया है ॥१६७॥ **पिता माता वा दद्यातां यमद्भिः पुत्रमापदि । सदृशं प्रीतिसंयुक्तं स ज्ञेयो दत्त्रिमः सुतः ॥१६८॥** माता और पिता आपत्ति काल में प्रीति से युक्त होकर ग्रहण करने वाले के समान जाति वाला सुत को जल से दान देते हैं वह दत्त्रिम यानी दत्त पुत्र ३ जानने योग्य है ॥१६८॥ **सदृशं तु प्रकुर्याद्यं गुणदोषविचक्षणम् । पुत्रं पुत्रगुणैर्युक्तं स विज्ञेयश्च कृत्रिमः ॥१६९॥** समान जाति वाला गुण दोष विचक्षण पुत्र के गुणों से युक्त जिस बालक को पुत्र बनाता है वह कृत्रिमपुत्र ४ विशेषरूप से जानने योग्य है ॥१६९॥ **उत्पद्यते गृहे यस्य न च ज्ञायेत कस्य सः । स गृहे गूढ उत्पन्नस्तस्य स्याद्यस्य तल्पजः ॥१७०॥** जिसके गृह में उत्पन्न होता है परन्तु यह ज्ञात नहीं होता कि यह बालक किसका है वह घर में छिपा हुआ उत्पन्न हुआ जिसकी स्त्री में जन्म लिया है उसका ही गूढ़पुत्र ५ होगा ॥१७०॥ **मातृपितृभ्यामुत्सृष्टं तयोरन्यतरेण वा । यं पुत्रं परिगृह्णीयादपविद्धः स उच्यते ॥१७१॥** माता और पिता से त्यागा हुआ अथवा दोनों माँ बाप के मरणादि से त्यागा हुआ जिस सुत को जो ग्रहण करता है उसका वह अपविद्ध पुत्र ६ कहा जाता है ॥१७१॥ **पितृवेश्मनि कन्या तु यं पुत्रं जनयेद्रहः । तं कानीनं वदेन्नाम्ना वोढुः कन्यासमुद्भवं ॥१७२॥** पिता के घर में विना विवाह की स्त्री जो पुत्र एकान्त में छिप कर उत्पन्न करती है उसको कानीन पुत्र ७ कहे, वह पुत्र कन्या से विवाह करने वाले का ही कहा गया है ॥१७२॥ **या गर्भिणी संस्क्रियते ज्ञाताज्ञातापि वा सती । वोढुः सा गर्भोभवति सहोढ इति चोच्यते ॥१७३॥** जो गर्भवती ज्ञातगर्भ या अज्ञात गर्भ विवाही जाती है उसका उस गर्भ से उत्पन्न सुत विवाह करने वाले का होता है और वह सहोढ पुत्र ८ कहा जाता है ॥१७३॥ **क्रीणीयाद्यस्त्वपत्यार्थं मातापित्रोर्यमन्तिकात् । स क्रीतकः सुतस्तस्य सदृशोऽसदृशोऽपि वा ॥१७४॥** जो पुत्र के लिये माता पिता के पास से जिस सुत को खरीदता है वह सुत खरीदने वाले के गुण के समान हो या न हो क्रीतक पुत्र ९ उस खरीदने वाले का होता है ॥१७४॥ **या पत्या वा परित्यक्ता विधवा वा स्वयेच्छया । उत्पादयेत्पुनर्भूत्वा स पौनर्भव उच्यते ॥१७५॥** जो पति से परित्याग की हुई अथवा मृत पति वाली विधवा अपनी इच्छा के अनुसार अन्य की पुनः भार्या बन कर सुत उत्पन्न करती है वह उत्पादक का पौनर्भव पुत्र १० कहा जाता है ॥१७५॥ **मातापितृविहीनो यस्त्यक्तो वा स्यादकारणात् । आत्मनं स्पर्शयेद्यस्मै स्वयंदत्तस्तु स स्मृतः ॥** (मनु० अ० ९ श्लोक १७७) जो माता पिता से विहीन अथवा त्यागोचित कारण के बिना माता और पिता से त्याग किया गया

हो वह जिसके लिये अपने को दे देता है वह सुत उसका स्वयं दत्त पुत्र ११ मनुआदिक से कहा गया है ॥१७७॥ **यं ब्राह्मणस्तु शूद्रायां कामादुत्पादयेत्सुतम् । स पारयन्नेव शवस्तस्मात्पारशवः स्मृतः ॥१७८॥** ब्राह्मण शूद्रा स्त्री में कामार्थ जिस सुत को उत्पन्न करता है वह जीता हुआ मृतक के तुल्य है इससे यह पारशव-शौद्र पुत्र १२ कहा गया है ॥१७८॥ इस प्रकार पुत्र के विषय में वर्णन किया गया है । और लोक में प्रिय रूप से प्रसिद्ध जो मित्र है उससे भी अधिक निरतिशय प्रिय यह आत्म तत्त्व है । मित्र के विषय में लिखा है— **सवयसो हितैषिणो मित्राणि** ॥ (रामानुजभाष्यगी० अ० ६ श्लोक ९) जो समान आयु वाले हितैषी हैं वे मित्र हैं ॥९॥ **औरसं कृतसम्बन्धं तथा वंशक्रमागतम् । रक्षितं व्यसनेभ्यश्च मित्रं ज्ञेयं चतुर्विधम् ॥** (हितोप०) औरस १, कृत सम्बन्ध २, वंशक्रमागत ३ और व्यसन से रक्षित ४ यह मित्र चार प्रकार के जानने योग्य हैं । तथा लोक में प्रिय रूप से प्रसिद्ध जो अन्य सब सुवर्ण रत्न आदि धन तथा स्त्री आदि वस्तुएँ हैं उनसे भी अधिक निरतिशय प्रिय यह आत्म-तत्त्व है । क्योंकि यह आत्मा परब्रह्म नारायण सबके अभ्यन्तर आप्त मुख्य है । नारायण आत्मा हैं । क्योंकि लिखा है— **नारायणपरो ज्योतिरात्मा नारायणः परः । नारायण परं ब्रह्म तत्त्वं नारायणः परः ॥** (नारायणो० श्रु० १३) नारायण पर ज्योति हैं, नारायण पर आत्मा हैं, नारायण पर तत्त्व हैं ॥१३॥ जो इस प्रकार जानने वाला आत्मवेत्ता पुरुष है वह महात्मा परब्रह्म नारायण की अपेक्षा से भी अधिक अन्य वस्तु प्रिय है इस प्रकार कहने वाले अज्ञानी पुरुष के प्रति यदि ऐसा कह दे कि— परमेश्वर नारायण तेरा प्रिय पुत्र मित्रादि अभिमत पदार्थ का निरोध करेंगे तो यह बात अवश्य हो जायेगी । इस कारण से निश्चय करके परब्रह्म नारायण की उपासना करनी चाहिये । ईश्वर के विषय में लिखा है — **क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥** (योग० अ० १ पा० १ सू० २४) अविद्या १, अस्मिता २, राग ३, द्वेष ४, अभिनिवेश ५ यह पाँच क्लेश तथा कर्म-धर्म-अधर्म उनके फल फलानुकूल संस्कार आशय जो मन में रहते हैं उनके सम्बन्ध से रहित पुरुष विशेष ईश्वर है ॥२४॥ अब आगे इस आत्मोपासना का फल कहा जाता है कि— जो कोई उपासक निश्चय करके निरतिशय प्रिय परब्रह्म नारायण की उपासना करता है तो सुप्रसिद्ध उस उपासक का प्रिय पदार्थ अत्यन्त मरणशील नहीं होता है । इस कण्डिका में निरतिशय प्रिय रूप से परब्रह्म नारायण की उपासना कही गयी है ॥८॥

तदाहुः । यद्ब्रह्मविद्यया सर्वं भविष्यन्तो मनुष्या मन्यन्ते । किमु तद् ब्रह्मावेद्यस्मात्तत्सर्वमभवदिति ॥९॥

अन्वयार्थ— ब्रह्म को जानने की इच्छा वाले (तत्) आगे कहे जाने वाले उस वाक्य को (आहुः) पूछे कि (यत्) जिस (ब्रह्मविद्यया) ब्रह्मविद्या से (सर्वम्) सर्वशब्दवाच्य परमात्मा पर्यन्त (भविष्यन्तः) आविर्भाव होने की कामना वाले (मनुष्याः) मनुष्य (मन्यन्ते) मानते हैं (उ) निश्चय करके (तत्) उस (ब्रह्म) परब्रह्म को (किम्) क्या कोई वेद्य वस्त्वन्तर (अवेत्) जाना (यस्मात्) जिस वेदन से (तत्) वह (सर्वम्) सर्वशब्दवाच्य परमात्मपर्यन्त (अभवत्) हो गया (इति) इस प्रकार के परब्रह्म से भी पर वह उपास्य वस्तु है या नहीं यह प्रश्न किया गया ॥९॥

विशेषार्थ— परब्रह्म नारायण को जानने की इच्छा वाले महात्मा सबों ने आगे तुरन्त ही कही जाने वाली उस बात को कहा कि— जिस ब्रह्म-विद्या से सर्वशब्दवाच्य परमात्मपर्यन्त आविर्भाव की कामना वाले मनुष्य मानते हैं। निश्चय करके उस परब्रह्म नारायण को क्या कोई वेद्य वस्त्वन्तर जाना अर्थात् परब्रह्म नारायण से क्या कोई उपास्य वस्तु अन्य है ? जिस ज्ञान से वह उपासक सर्वशब्दवाच्य परमात्मपर्यन्त हो गया। इस प्रकार के परब्रह्मनारायण से भी पर वह उपास्य वस्तु है अथवा परमात्मा से अन्य उपास्य नहीं है इसका बोध होने की इच्छा से यहाँ प्रश्न का उत्थान किया गया है। ब्रह्म परमात्मा को कहते हैं, वह जिससे जाना जाता है वह ब्रह्म-विद्या है। प्रकृत श्रुति में "सर्व" शब्द परब्रह्म नारायण का वाचक है। क्योंकि लिखा है— **सर्वः शर्वः शिवः स्थाणुः ॥** (महाभारत० अनुशा० प० विष्णुसह० श्लोक १७) सर्व १, शर्व २, शिव ३ और स्थाणु ४ ये परब्रह्म नारायण के नाम हैं ॥१७॥ **सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥** (गी० अ० ११ श्लोक ४०) आप सबको व्याप्त कर रहे हैं, अतः आपही सर्व शब्द के वाच्य हैं यहाँ परम करुणामयी श्रुति आदेश देती है कि— जिज्ञासु भाव से प्रश्न करने से तत्त्व ज्ञान प्राप्त होता है। क्योंकि लिखा है— **तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया। उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥** (गी० अ० ४ श्लोक ३४) उस ज्ञान को तू तत्त्व दर्शी ज्ञानियों से सीखो, वे तत्त्वदर्शी ज्ञानी साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम करने से तथा जिज्ञासु भाव से प्रश्न करने और सेवा करने से तुझे उसका उपदेश करेंगे ॥३४॥ इस प्रकार का प्रतिपादन किया गया है ॥९॥

ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्तदात्मानमेवावेत्। अहं ब्रह्मास्मीति। तस्मात्तत्सर्वमभवत्। तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम्। तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्चेति। तदिदमप्येतर्हि य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति। तस्य ह न देवाश्चना-

भूत्या ईशते । आत्मा ह्येषां स भवति । अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवं स देवानाम् । यथा ह वै बहवः पशवो मनुष्यं भुञ्ज्युरेवमेवैकैकः पुरुषो देवान्भुनक्ति । एकस्मिन्नेव पशावादीयमानेऽप्रियं भवति किमु बहुषु तस्मादेषां तन्न प्रियं यदेतन्मनुष्या विद्युः ॥१०॥

अन्वयार्थ– (वै) निश्चय करके (अग्रे) सृष्टि से पहले (इदम्) यह दृश्यमान जगत् (ब्रह्म) परब्रह्म नारायण ही (आसीत्) था (तत्) उसने (आत्मानम्) अपने को (एव) ही (अवेत्) जाना कि (अहम्) मैं (ब्रह्म) ब्रह्म (अस्मि) हूँ (इति) ऐसा (तस्मात्) उससे (तत्) वह (सर्वम्) सब (अभवत्) हो गया अर्थात् उपास्यान्तर शून्य परब्रह्म नारायण है (तत्) इस कारण से उस परब्रह्म को (देवानाम्) देवों के मध्य में (यः) जो (प्रत्यबुध्यत) भलीभाँति जाना (एव) निश्चय करके (सः) वह (तत्) तत् शब्दवाच्य परमात्मपर्यन्ताविर्भाव वाला (अभवत्) हो गया (तथा) इसी प्रकार (ऋषीणाम्) मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के मध्य में जिस जिस ने उस परब्रह्म को जाना वह तत् शब्दवाच्य परमात्मपर्यन्त आविर्भाव वाला हो गया और (तथा) इसी प्रकार (मनुष्याणाम्) मनुष्यों के मध्य में जो जो उस परब्रह्म को जाना वह तत् शब्दवाच्य परमात्मपर्यन्त आविर्भाव वाला हो गया (तत्) सो (एतत्) इस परब्रह्म को (पश्यन्) उपासना के द्वारा देखते हुए (ह) सुप्रसिद्ध (वामदेवः) वामदेव नामक (ऋषिः) मन्त्रद्रष्टा ऋषि ने (अहम्) मैं (मनुः) मनु (अभवम्) हुआ (च) और (सूर्यः) मैं सूर्य हुआ (इति) इस प्रकार के मेरी आत्मा ही मन्वादिकों की आत्मा हुई (प्रतिपेदे) मन्वादिक के साथ अपने ऐकात्म्य साक्षात्कार को प्राप्त किया (एतर्हि) आजकल (अपि) भी (तत्) उस (इदम्) इस परब्रह्म को (अहम्) मैं (ब्रह्म) ब्रह्म (अस्मि) हूँ (इति) इस वाक्य को (यः) जो उपासक (एवम्) इस प्रकार से (वेद) जानता है (सः) वह उपासक (इदम्) यह (सर्वम्) सर्वैकात्म्य (भवति) हो जाता है (तस्य) उस ब्रह्मवेत्ता के (ह) सुप्रसिद्ध (अभूत्यै) मुक्तैश्वर्यविघात के लिये (देवाः+चन) देवता भी (न) नहीं (ईशते) समर्थ होते हैं (ह) क्योंकि (सः) वह ब्रह्मवेत्ता (एषाम्) इन देवताओं के भी (आत्मा) ब्रह्म विद्या के प्रभाव से नियन्ता आत्मा (भवति) हो जाता है (अथ) और (यः) जो पुरुष (अन्याम्) धारकत्व नियन्तृत्व आदि द्वारा अपनी आत्मा से अन्य परमात्मरूपा (देवताम्) देवता को (असौ) यह परमात्मा देवतारूप (अन्यः)

धारकत्व नियन्तृत्व आदि द्वारा आत्म भूत से अन्य है और (अहम्) मैं (अन्यः) धार्यत्व नियाम्यत्वादि प्रयुक्ततच्छरीरत्व से भिन्न (अस्मि) हूँ (इति) ऐसा जान कर (उपास्ते) उपासना करता है (सः) वह अज्ञानी (न) नहीं (वेद) जानता है (यथा) जैसे (पशुः) लोक में पशु है (एवम्) वैसे ही (सः) वह अज्ञानी (देवानाम्) देवताओं का पशु है अर्थात् देवताओं के किंकरत्वेन शेषभूत है (वै) निश्चय करके (ह) लोक में यह प्रसिद्ध है कि (यथा) जैसे (बहवः) बहुत से (पशवः) गौ, भैंस, घोड़ा, हाथी आदिक पशु (मनुष्यम्) एक मनुष्य को (भुञ्ज्युः) दोहवाहादि क्रियाओं से पालन करते हैं (एवम्) इसी प्रकार (एव) निश्चय करके (एकैकः) एक एक (पुरुषः) अज्ञानी पुरुष (देवान्) अग्नि, इन्द्र आदिक देवताओं को (भुनक्ति) शुश्रूषा आदि क्रियाओं से पालन करता है (एकस्मिन्) लोक में एक (एव) ही (पशौ) पशु के (आदीयमाने) चोर आदिक से हरण किये जाने पर तो (अप्रियम्) पशु स्वामी का बड़ा अप्रिय (भवति) होता है तो (उ) निश्चय करके (बहुषु) बहुत पशुओं का हरण होने पर (किम्) दुःख की क्या दशा कही जाय (तस्मात्) इस कारण से (एषाम्) इन देवताओं को (तत्) यह (प्रियम्) प्रिय अच्छा (न) नहीं लगता है (यत्) कि (मनुष्याः) मनुष्य (एतत्) इस परब्रह्म को (विद्युः) जानें ॥१०॥

विशेषार्थ– नवमी कण्डिका में ब्रह्म जिज्ञासुओं का प्रश्न जो था कि परब्रह्म नारायण से क्या कोई उपास्य वस्तु दूसरा है या नहीं ? इसी प्रश्न का उत्तर साक्षात श्रुति कहती है कि– उपास्यान्तर शून्य है । निश्चय सृष्टि के प्रारम्भ समय में यह परब्रह्म नारायण ही था । क्योंकि लिखा है– **नैवेह किञ्चनाग्र आसीत । दिव्योदेव एको नारायणः ॥** (सुबलोप० खं० ६) सृष्टि से पहले यहाँ कुछ भी नहीं था, दिव्य देव एक नारायण ही थे ॥६॥ **एको ह वै नारयण आसीन्न ब्रह्मा नेशानो नाग्नीषोमौ नेमे द्यावापृथ्वी न नक्षत्राणि न सूर्यो न चन्द्रमाः ॥** (महोप० अ० १ श्रु० १) सृष्टि के आदि समय निश्चय करके एक नारयण ही थे न ब्रह्मा थे न रुद्र थे न अग्नि थी न सोम था न ये द्युलोक और भूलोक थे न नक्षत्र थे और न सूर्य थे न चंद्रमा ही थे ॥१॥ **शुद्धो देव एको नारयणो न द्वितीयोऽस्ति कश्चित् ॥** (नारायणो० श्रु० २) शुद्ध देव एक नारायण हैं दूसरा कोई भी नहीं है ॥२॥ उस परब्रह्म नारायण ने अपनी आत्मा को जाना कि मैं ब्रह्म हूँ । अन्य उपास्य वस्तु को नहीं । उस कारण से वह सब हो गया अर्थात् उपास्यान्तर शून्य परब्रह्म नारायण है । वही सबका परम कारण है । क्योंकि लिखा है– **स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः ॥** (श्वे० उ० अ० ६ श्रु० ९) वह नरायण सबका परम कारण और समस्त अन्तःकरण तथा इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देवताओं का भी अधिपति है । कोई भी न तो

इसका जनक है और न स्वामी ही है ।।९। इस प्रकार यहाँ तक प्रश्न का उत्तर उपायान्तर शून्य परब्रह्म नारायण प्रतिपादन किया गया । श्रीभूतपुरीश भगवद्रामानुजाचार्यने— **तत्तु समन्वयात्**।। (शा० मी० अ० १ पा० १ सू० ४) **तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः** ।। (शा० मी० अ० २ पा० १ सू० १५) **जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च** ।। (शा० मी० अ० ४ पा० ४ सू० १७) इन तीनों सूत्रों के श्रीभाष्य में "बृहदारण्यकोपनिषद" के प्रथम अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण की दशवीं कण्डिका के "ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्" इस वाक्य को उद्धृत किया है। अब आगे उपास्यान्तरशून्य परब्रह्म नारायण को जानने वाले का फल कहा जाता है । ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र आदिक देवताओं के मध्य में जो देवता उस परब्रह्म नारायण को भलीभाँति जाना वह वह तत् शब्द वाच्य परमात्मपर्यन्ताविर्भाव वाला हो गया । इसी प्रकार कश्यप आदिक मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के मध्य में जिस जिस ने उस परब्रह्म नारायण को भलीभाँति जाना वह तत् शब्दवाच्य परमात्मपर्यन्ताविर्भाव वाला हो गया । इसी प्रकार इक्ष्वाकु आदिक मनुष्यों के मध्य में जिस जिसने उस परब्रह्म नारायण को जाना वह तत् शब्द वाच्य परमात्मपर्यन्ताविर्भाव वाला हो गया। अर्थात् सर्वात्मभूत परमात्मक हो गया । यानी सबके साथ ऐकांत्म्य को प्राप्त कर लिया। ऋषियों के विषय में लिखा है— **ऋषीत्येष गतौ धातुः श्रुतौ सत्ये तपस्यथ। एतत्सन्नियतं यस्मिन् ब्रह्मणा स ऋषिः स्मृतः** ।। (वायुपु० अ० ५९ श्लो० ७९) **गत्यर्थादृषतेर्धातोर्नाम निर्वृत्तिरादितः । यस्मादेष स्वयं भूतस्तस्माच्च ऋषिता स्मृताः** ।।८१।। ऋष्, धातु, गमन, श्रवण, सत्य और तप इन अर्थों में प्रयुक्त होता है। ये सब बातें जिसके अन्दर एक साथ निश्चित रूप से हों उसी का नाम ब्रह्मा ने ऋषि रखा है ।।७९।। गत्यर्थक ऋष धातु से ही ऋषि शब्द की निष्पत्ति हुई है और आदि काल में यह ऋषि वर्ग स्वयं उत्पन्न होता है इसीलिये इसकी ऋषि संज्ञा है ।।८१।। **ऋषयः सत्यवचसः** ।। (अमर० कां० २ व० ७ श्लोक ४३) ऋषि १, सत्यवचस् २ ये ऋषि के नाम हैं ।।४३।। तुदादि पठित "ऋषि गतौ" इस धातु से ऋषि शब्द निष्पन्न होता है । प्रकृत श्रुति में "तत्" पद परब्रह्म नारायण का वाचक है । क्योंकि लिखा है— **तदेजति** ।। (ईशो० श्रु० ५) वह परब्रह्म नारायण काँपता है ।।५।। **तद्ध तद्वनं नाम** ।। (केनो० खं० ४ श्रु० ६) वह परब्रह्म नारायण प्रसिद्ध है कि व्यापक होने से तत् और भजनीय होने से वन नाम वाला है ।।६।। **ओं तत् सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः** ।। (गी० अ० १७ श्लोक २३) ओम् तत् सत् यह तीन प्रकार का परब्रह्म नारायण का नाम कहा है ।।२३।। **किं यत्तत्पदमनुत्तमम्** ।। (विष्णुसह० श्लोक ९१) किम् १, यत् २, तत् ३, पद ४, अनुत्तम ५ ये परब्रह्म नारायण के नाम हैं ।।९१।। पूर्वोक्त श्रुति स्मृति तथा इतिहास से सिद्ध है कि परब्रह्म का "तत्" नाम है । सो इस परब्रह्म

नारायण को उपासना के द्वारा देखते हुए सुप्रसिद्ध वामदेव ऋषि ने मैं मनु हुआ और मैं सूर्य हुआ इस प्रकार की मेरी आत्मा हुई, अर्थात् मन्वादिकों के साथ अपना ऐकात्म्य साक्षात्कार को प्राप्त कर लिया । मेषार्द्रसंभूतभगवद्रामानुजाचार्यने– **शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्॥** (शा० मी० अ० १ पा० १ सू० ३१) **प्रकाशादिवच्चावैशेष्यं प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात् ॥** (शा० मी० अ० ३ पा० २ सू० २४) इन दोनों सूत्रों के श्रीभाष्य में "बृहदारण्यकोपनिषद्" के प्रथम अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण की दशवीं कण्डिका के "तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्चेति" इस वाक्य को उद्धृत किया है। हा! कराल कलि काल के प्रभाव से आज कल कुछ लोग कहते हैं कि –" स्त्रियों को पर पुरुष को गुरु नहीं बनाना चाहिये" परन्तु यह कथन निगम, आगम, इतिहास, पुराण, शिष्ट सदाचार से विरुद्ध होने से अनादरणीय है । क्योंकि परम वैदिक वामदेव महर्षि ने श्रीमती महेशमुख चन्द्रचकोरी पार्वती देवी को दीक्षा दी है यह पद्मपुराण में स्पष्ट लिखा है– **साधु साधु महादेवि साधु साधु वरानने। अर्चयस्व हृषीकेशं लक्ष्मीभर्तारमच्युतम् ॥** (पद्मपु० उत्तरखं० ६ अ० २८१ श्लोक ५) **कृतकृत्योऽस्म्यहं भद्रे वैष्णव्या भार्यया त्वया । गुरुणा तवं चार्वङ्गि वामदेवेन धीमता ॥६॥ अनुज्ञाताऽर्चयस्वेशं पुराणं पुरुषोत्तमम् । गुरूपदेशमार्गेण पूजयित्वैव केशवम् । प्राप्नोति वाञ्छितसर्वं नान्यथा भूधरात्मजे ॥७॥** रुद्रदेव ने कहा कि– हे महादेवि अच्छा ! वहुत अच्छा !! हे वरानने प्रिये अच्छा, बहुत अच्छा !!! हृषीकेश लक्ष्मीपति अच्युत भगवान की पूजा तुम करो ॥५॥ हे भद्रे वैष्णवी भार्या तुमसे मैं कृतकृत्य हूँ ! हे चार्वङ्गि अपने बुद्धिमान गुरु श्रीवामदेव ऋषि से ॥६॥ आज्ञा लेकर पुराण पुरुषोत्तम जगदीश भगवान् की पूजा तुम करो । गुरु से उपदेश दिये हुए मार्ग से केशव भगवान् की पूजा करके ही हे गिरिराज कुमारी सब वाञ्छित फल को जीव पाता है, अन्यथा नहीं ॥७॥ **एवमुक्ता तदा देवी वमदेवान्तिकं नृप। जगाम सहसा हृष्टा विष्णुपूजनलालसा ॥** (पद्मपु० उत्तरखं० ६ अ० २८१ श्लोक ८) **समेत्य तं गुरुं देवी पूजयित्वा प्रणम्य च । विनता प्राञ्जलिर्भूत्वा उवाच मुनिसत्तमम् ॥९॥** वशिष्ठ ऋषि ने कहा कि – हे नराधिप इस प्रकार कही हुई पार्वती देवी तब विष्णु भगवान् की पूजा की लालसा वाली प्रसन्न हो शीघ्र ही गुरु वामदेव ऋषि कि पास में चली गयी ॥८॥ उस मुनीश्वर गुरुदेव के निकट पार्वती देवी जाकर तथा प्रणाम कर और पूजन करके अत्यन्त विनम्र हाथ जोड़ कर गुरुदेव से बोली ॥९॥ **भगवँस्त्वत्प्रसादेन सम्यगाराधनं हरेः । करिष्यामि द्विजश्रेष्ठ त्वमनुज्ञातुमर्हसि ॥** (पद्मपु० उत्तरखं० ६ अ० २८१ श्लोक १०) पार्वती देवी ने कहा कि– हे षडैश्वर्य सम्पन्न भगवन् आपके प्रसाद से श्रीमन्नारायण भगवान् का सम्यक् आराधन मैं

करुँगी। हे द्विजोत्तम तुम अनुज्ञा देने के लिये योग्य हो ॥१०॥ **इत्युक्तस्तु तया देव्या वामदेवो महामुनिः । तस्यै मंत्रवरश्रेष्ठं ददौ स विधिना गुरुः ॥** (पद्मपु० खं० ६ अ० २८१ श्लोक ११) **नाम्नां सहस्रं विष्णोश्च प्रोक्तवान्मुनिसत्तमः । निवेदयित्वा पूजाया विधानमपिदेशिकः । उवाच परमप्रीत्या पार्वतीं संशितव्रताम् ॥१२॥** वशिष्ठ ऋषि ने कहा कि– इस प्रकार उस पार्वती से महामुनि वामदेव ऋषि कहा गया तब उस गुरुदेव वामदेव ऋषि ने शास्त्र विधि से उस पार्वती देवी के लिये श्रेष्ठ मन्त्र रत्न को दिया ॥११॥ और मुनि सत्तम वामदेव ऋषि ने विष्णुसहस्र नाम को कहा तथा आचार्य देव ने श्री विष्णु भगवान् की पूजा के विधान को निवेदन करके परम प्रीति से संशितव्रता पार्वती देवी को कहा ॥१२॥ **अर्चयित्वा हृषीकेशं प्रातर्नित्यं वरानने । सहस्रनामपठनं कुरुष्व तदनन्तरम् ॥** (पद्मपु० खं० ६ अ० २८१ श्लोक १३) वामदेव ऋषि ने कहा कि– हे वरानने नित्य प्रतःकाल हृषीकेश भगवान् की पूजा करके तदनन्तर विष्णुसहस्र नाम का पाठ तुम करो ॥१३॥ **इत्युक्ता तेन गुरुणा प्रहृष्टेनान्तरात्मना । पूजयित्वा नमस्कृत्य पुनरायात्स्वमालयम् । शिक्षिता गुरुणा तेन वामदेवेन पार्वती ॥१४॥** उस प्रहृष्ट अन्तरात्मा गुरुदेव से इंस प्रकार उपदेश दी हुई पार्वती देवी गुरुदेव की पूजा करके और नमस्कार करके फिर अपने घर पर चली आयी इस प्रकार उस गुरुदेव वामदेव ऋषि से पार्वती देवी ने उपदेश प्राप्त किया ॥१४॥ इससे सिद्ध हो गया कि पति से अन्य पुरुष वामदेव महर्षि को पतिव्रता पार्वती देवी ने गुरु बनाया है । और आगम में भी लिखा है– **मातङ्गं शवरीं चैव पृथुं भागवतोत्तमम् । सुशीलां त्रिजटां गौरीं शुभां विद्यावलीं तथा ॥** (बृहद्ब्रह्मसं० पा० ४ अ० ५ श्लोक ९६) **अनसूयां द्रौपदीं च यशोदां देवकीं तथा । सुभद्रां चैव गोपीश्च शुभा नन्दव्रजे स्थिताः ॥९७॥ नन्दं च वसुदेवं च दिलीपं च विशेषतः । सभर्तृकां च कौशल्यां जनकं वसुसंज्ञकम् ॥९८॥ भूतभव्यभविष्यांश्च महाभागवतानिमान् ॥९९॥** मातङ्ग ऋषि तथा शवरी देवी और भागतवोत्तम पृथु राजा और सुशीला देवी, त्रिजटा देवी, गौरी देवी, शुभा देवी और विद्यावली देवी ॥९६॥ तथा अनसूया देवी, द्रौपदी देवी, यशोदा देवी, देवकी देवी, सुभद्रा देवी और नन्द व्रज में रहने वाली शुभ राधिका, विशाखा, ललिता आदिक गोपियाँ ॥९७॥ और नन्द गोप, वसु देवराजा, दिलीप राजा तथा दशरथ राजा के साथ कौशल्या देवी और जनक राजा वथा वसु संज्ञक राजा ॥९८॥ इन पूर्वोक्त सबों को तथा जितने भक्त हो चुके हैं और होने वाले हैं तथा वर्तमान हैं इन सबों को महाभागवत ऋषिगण कहते हैं ॥९९॥ ये श्लोक (वृद्धहारीतस्मृ० अ० १०२ श्लोक २१२, २१३, २१४, २१५) में भी स्पष्ट लिखे हुए हैं । पूर्वोक्त श्लोकों में "शवरी" आदि बहुत सी स्त्रियों का नाम महाभागवत कोटि में आया है । और

महाभागवत का लक्षण लिखा है– **अर्थपञ्चकतत्त्वज्ञाः पञ्चसंस्कारसंस्कृताः । आकारत्रयसंपन्ना महाभागवता स्मृताः ॥** (पराशरीय धर्म शा० उत्तरखं० अ० १० श्लोक ९) स्वस्वरूप १, परस्वरूप २, पुरुषार्थस्वरूप ३, उपाय स्वरूप ४, विरोधी स्वरूप ५ इन पाँच अर्थों के तत्व को जा जानने वाले हों और ताप १ पुण्ड्र २, नाम ३, मन्त्र ४ याग ५ इन पाँच संस्कारों से जो संस्कृत हों तथा अनन्यार्हत्व १, अनन्य भोग्यत्व २, अनन्यशरणत्व ३, रूप तीन आकारों से जो सम्पन्न हों उनको महाभागवत कहते हैं ।।९।। **पञ्चसंस्कारसम्पन्नो नवेज्याकर्मकारकः ।आकारत्रयसम्पन्नो महाभागवतोत्तमः ॥** (वृद्धहारी० स्मृ० अ० ९ श्लोक० १४९) पाँच संस्कारों से जो युक्त हो तथा नवेज्या कर्म को जो करने वाला और तीन आकारों से जो सम्पन्न हो वही उत्तम महाभागवत कहा जाता है ।।१४९।। **तापादिपञ्चसंस्कारी नवेज्याकर्मकारकः । अर्थपञ्चकविद्विप्रो महाभागवतः स्मृतः ॥** (पद्मपु० उत्तरखं० ६ अ० २५३ श्लोक २७) तापादिक पाँच संस्कार वाले तथा नवेज्या कर्म को करने वाले और अर्थपञ्चक को जानने वाले विप्र को महाभागवत कहते हैं ।।२७।। और पञ्चसंस्कार के विषय में लिखा है– **आद्यं तु शङ्खचक्रादिधारणं वैष्णवं स्मृतम् । पुण्ड्रं नामक्रिया चैव मंत्रश्चैवार्चनं हरेः । संस्काराः पञ्च कर्तव्याः परमैकान्तहेतवे ॥** (पराशरीय धर्मशा० उत्तरखं० अ० १ श्लोक ३) पहला शङ्खचक्रादि धारण वैष्णव संस्कार कहा गया है तथा दूसरा पुण्ड्रसंस्कार और तीसरा नाम संस्कार तथा चौथा मन्त्रसंस्कार और पाँचवा श्रीहरि का पूजन याग संस्कार कहा गया है । परम एकान्त हेतु के लिये पाँच संस्कार अवश्य करने योग्य हैं ।।३।। इन पांच संस्कारों में सर्व प्रथम ताप संस्कार का विधान है वह संस्कार गुरु ही करता है । क्योंकि लिखा है– **अङ्कयेच्चक्रराजेन ह्यूर्ध्वभागे गुरूत्तमः ॥** (श्रीप्रश्न संहि० अ० ३६ श्लोक १२०) श्रेष्ठ गुरु शिष्या और शिष्य की दक्षिण भुजा के ऊर्ध्व भाग भुज मूल में निश्चय करके चक्रराज से अङ्कित करे ।।१२०।। इससे सिद्ध हो गया कि पूर्वोक्त "शवरी" प्रभृति स्त्रियों ने पति से अन्य पुरुष को गुरु शास्त्रानुसार बनाया है । स्त्रियों के लिये भी तप्तचक्राङ्कन का विधान शास्त्र में स्पष्ट लिखा है । सज्जन मनोरञ्जन के लिये कतिपय प्रमाणों को यहाँ मैं उद्धृत करता हूँ कृपया भक्त जन अवलोकन करें ।। **ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रो नारी तथेतरः । चक्राद्यैरङ्कयेद्गात्रमात्मीयस्याखिलस्य च ॥** (भारद्वाजसंहि० अ० ३ श्लोक ६०) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, स्त्री और अन्य वर्णसंकर आदि समस्त आत्मीयों के शरीर को शङ्ख चक्र से अङ्कित करावे ।।६०।। **चमसोलूखलेपीठे पक्वान्ने चक्रमुद्रयेत् । पशुपुत्रकलत्रेषु यानवाहनभूमिषु ॥** (बृहद्ब्रह्मसं० पा० १ अ० २ श्लोक ८५) चमस में, ओखल में, पीठ में, पक्वान्न में, पशु में, स्त्री में, विमान में, वाहन में और भूमि

में चक्र का उल्लेख करे ॥८५॥ **ओमित्युवाच सा देवी चक्रशङ्खौ भुजद्वये। प्रयोजनान्तरं हित्वा मंत्रराजमथो दधौ ॥** (बृहद्ब्रह्मसं० पा० १ अ० २ श्लोक १२३) ओम् ऐसा उस श्री देवी ने कहा और प्रयोजनान्तर को त्याग कर दक्षिण भुज मूल में चक्र को और वाम भुज मूल में शङ्ख को धारण किया और मन्त्र राज को भी गुरुदेव से ग्रहण किया ॥१२३॥ **दासी दासाश्च भृत्याश्च चिह्निताश्चक्रवह्निना । शुद्धा भवन्ति विप्राणां परिचर्यादिकर्मसु ॥** (बृहद्ब्रह्मसं० पा० १ अ० ५ श्लोक १०२) चक्राग्नि से चिह्नित दासी, दास और भृत्य सब ब्राह्मणों के परिचर्यादिक कर्मों में शुद्ध होते हैं ॥१०२॥ **शुक्लाम्बरा गुरोर्लब्धदीक्षा निजगृहेहरेः । सपर्यां पूर्वविधिना सुतादीनां प्रपोषणम्॥** (शाण्डिल्यसंहि० अं० २) शुक्ल वस्त्र धारण की हुई विधवा स्त्री गुरु से दीक्षा लाभ करके अपने घर में पूर्व कही हुई विधि से श्रीहरि की सेवा करती हुई पुत्र आदिक का भलीभाँति पोषण करे ॥२॥ **शङ्खचक्राङ्किताः शुद्धा हरेः पूजादिकर्मणि । ते वैष्णवाः सदा मान्याः पूज्याः तीर्थेषु भूसुराः । बालानां चैव दाराणां धार्याण्याह पराशरः ॥** (शाण्डिल्यसं० अ० ५ अ० ३ श्लोक ६) शङ्खचक्राङ्कित श्रीहरि की पूजा आदिक कर्म में शुद्ध होते हैं । कुमारी और युवती स्त्रियों के भी शङ्ख चक्र धारण करने योग्य हैं ऐसा पराशर ऋषि ने कहा है ॥६॥ **दम्पत्योरेकगुरुता शास्त्रे लोके च दृश्यते ॥** (शाण्डिल्यसंहि० अं० ४ अ० ३ श्लोक ४७) स्त्री पुरुष की एक गुरुता लोक और शास्त्र में देखी जाती है ॥४७॥ **नास्ति येषां गुरुर्नृणां नारीणां वापि मंत्रदः । न तेषां वदनं वीक्ष्यं गतिश्चैषां न विद्यते ॥** (शाण्डिल्यसंहि० अं० ४ अ० ४ श्लोक ६७) जिस नर नारी को मन्त्र देने वाला गुरु नहीं है उस स्त्री पुरुष का वदन नहीं देखने योग्य है और उस नर नारी को अन्त में सद्गति नहीं होती है ॥६७॥ **उद्वाहसमये स्त्रीणां पुंसा चैवोपनायने । चक्रादिधारणं प्रोक्तं मंत्रैः पञ्चायुधस्य च ॥** (पराशरीय-धर्मशा० उत्तरखं० अ० १ श्लोक २३) विवाह के समय में स्त्रियों का और उपनयन के समय में पुरुषों का पञ्चसंस्कार करना चाहिये । मन्त्रों से पञ्चायुध धारण या शङ्खचक्र धारण ऋषियों ने कहा है ॥२३॥ **पशुपुत्रादिकं सर्वं गृहोपकरणानि च अङ्कयेच्छङ्खचक्राभ्यां नाम कुर्याच्च वैष्णवम् ॥** (शाण्डिल्यस्मृ० अ० ३ श्लोक ७७) समस्त पशु, पुत्र स्त्री आदिक को और सब गृहों के उपकरणों को शङ्ख चक्र से गुरु अङ्कित करे तथा विष्णु सम्बन्धी नाम करे ॥७७॥ **मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः । स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥** (भगवद्गी० अ० ९ श्लोक ३२) हे अर्जुन मेरा आश्रय लेकर स्त्रियाँ, वैश्य, शूद्र और पाप योनि वाले जीव भी परम गति को प्राप्त हो जाते हैं ॥३२॥ **तस्माच्चक्रं विधानेन तप्तं वै धारयेद्द्विजः । सर्वाश्रमेषु वसतां स्त्रीणां च श्रुतिचोदनात् ॥** (वृद्धहारीतस्मृ० अ०

२ श्लोक ३३) इस कारण से ब्राह्मण वेद की प्रेरणा से सब आश्रमों में रहनेवाले नर नारियों को शास्त्र के विधान से तप्त चक्र को अवश्य धारणकरावे ।।३३।। **ब्राह्मणः क्षत्रिया वैश्याः स्त्रियः शूद्रास्तथेतराः । तस्याधिकारिणः सर्वे ......॥** (वृद्धहा॰ स्मृ॰ अ॰ ६ श्लोक ६) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैष्य, शूद्र और स्त्रियाँ तथा वर्णसंकर आदिक सब लोग उस तप्त चक्र लेने के अधिकारी हैं ।।६।। **वैष्णवाच्च गुरोः पञ्चसंस्कारविधिपूर्वकम् । अधीत्य मंत्रं विधिना पश्चादेवं जपेद्बुधः ॥** (वृद्धहा॰ स्मृ॰ अ॰ ६ श्लोक ५५) **ब्राह्मणः क्षत्रिया वैश्याः स्त्रियः शूद्रास्तथा नरा मंत्राधिकारिणः सर्वे ......॥५७॥** श्रीवैष्णव गुरु से पञ्चसंस्कार विधि पूर्वक शास्त्रविधि से मन्त्र को पढ़ कर पश्चात् बुध जन इस प्रकार के मन्त्र जपे ।।५५।। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और स्त्रियाँ तथा अन्य वर्णसंकर मनुष्य ये सब लोग मन्त्र के अधिकारी हैं ।।५७।। **आश्रमाणां चतुर्णां च स्त्रीणां च श्रुतिचोदनात् । अङ्कयेच्छङ्खचक्राभ्यां प्रतप्ताभ्यां विधानतः ॥** (वृद्धहा॰ स्मृ॰ अ॰ ८ श्लोक ४३) चारो आश्रम वाले पुरुषों को और स्त्रियों को वेद की प्रेरणा से विधिपूर्वक तप्त शङ्ख चक्र से अङ्कित करे ।।४३।। **अङ्कयेत्तप्तचक्राद्यैरात्मनो बाहुमूलयोः । कलत्रापत्यभृत्येषु पश्वादिषु समङ्कयेत् ॥** (पद्मपु॰ उत्तरखं॰ ६ अ॰ २२४ श्लोक ७५) अपने दोनों बाहु के मूल में तप्त शङ्ख चक्र से अङ्कित करावे और स्त्री, पुत्र, भृत्य, पशु आदि को शङ्ख चक्र से अङ्कित करावे ।।७५।। इन पूर्वोक्त प्रमाणों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि कि स्त्रियाँ आचार्य वरण करके अवश्य पञ्चसंस्कार करावें । और श्रेष्ठ कलि की निम्नलिखित स्त्रियों ने भी गुरूपसदन के द्वारा श्रीमन्नारायण की शरणागति के मन्त्र को लेकर अपनी आत्मा का उद्धार किया है । जैसे श्री गोदादेवी १, अतुलायीदेवी २, चेलाञ्चलाम्बादेवी ३, त्रैलोक्यादेवी ४, रङ्गनायकीदेवी ५, आण्डालादेवी ६ और हेमाम्बादेवी ७ प्रभृति। अब आगे प्रकृत श्रुति का अर्थ कहा जाता है । आजकल भी उस इस परब्रह्म को मैं ब्रह्म हूँ अर्थात् मैं ब्रह्मात्मक हूँ इस वाक्य को जो उपासक इस प्रकार से जानता है वह उपासक इस सर्वैकात्म्यभाव को प्राप्त कर लेता है। उस सुप्रसिद्ध ब्रह्मवेत्ता के मुक्तैश्वर्य विघात के लिये कोई देवता भी नहीं समर्थ हो सकता है। क्योंकि वह ब्रह्मवेत्ता उपासक ब्रह्मविद्या के प्रभाव से सब देवताओं का भी नियन्ता आत्मा हो जाता है । इस प्रकार ब्रह्मात्मत्ववेत्ताओं की कृतार्थता को कहकर उनसे अन्य अज्ञानियों के अनर्थ को दिखलाया जाता है । जो पुरुष धारकत्व नियन्तृत्व आदिद्वारा अपनी आत्मा से अन्य परमात्मारूपा देवता को यह परमात्मा देवतारूप धारकत्व नियन्तृत्वआदि द्वारा आत्मभूत से अन्य है और मैं धार्यत्व नियाम्यत्वादिप्रयुक्त तच्छरीरत्व से भिन्न हूँ ऐसा जान कर उपासना करता है वह अज्ञानी यथार्थ नहीं जानता है । जैसे लोक में गौ आदिक पशु

हैं वैसे ही वह अज्ञानी पुरुष अग्नि इन्द्र आदि देवताओं का पशु है अर्थात् देवताओं का किंकरत्वेन शेषभूत है । निश्चय करके यह लोक में प्रसिद्ध है कि— जिस प्रकार गौ, भैंस, भेड़, बकरी, घोड़ा, हाथी, इत्यादि बहुत से पशु एक मनुष्य को दोहन और वाहनादि क्रियाओं से पालन करते हैं उसी प्रकार निश्चय करके एक एक अज्ञानी पुरुष अग्नि इन्द्र आदिक देवताओं को शुश्रूषा आदि क्रियाओं से अर्थात् यज्ञादि अनेकों उपकारों से परि पालन करता है। परन्तु इतना विशेष है कि— बहुत से पशु एक मनुष्य के किंकर होते हैं । लेकिन अज्ञानी एक ही मनुष्य सब देवताओं का किंकर हो जाता है। जिस प्रकार लोक में बहुत से पशुवाले पुरुष के एक पशु के चोर व्याघ्र आदिक से हरण कर लिये जाने पर उस पशु के स्वामी को बहुत अप्रिय मालूम होता है तो निश्चय करके बहुत से पशुओं का हरण होने पर दुःख की क्या दशा कही जाय। इस कारण से इन देवताओं को यह प्रिय यानी अच्छा नहीं लगता है कि मनुष्य इसपरब्रह्म नारायण को किसी प्रकार भी जानें । ऐसा ही अनुगीता में भी लिखा है— **कियावद्भिर्हिकौन्तेय देवलोकः समावृतः । न चैतदिष्टं देवानां मर्त्यैरुपरि वर्तनम् ॥** (महाभारत अनुगी॰) हे कौन्तेय देवलोक क्रियावाले कर्मपरायण पुरुषों से सम्यक् भरा हुआ है। देवताओं का यह इष्ट नहीं है कि मनुष्य उनसे ऊपर ब्रह्मलोक में रहे। इस कारण से कि ब्रह्मविद्या को पाकर मनुष्य पशु भाव से छूट जायेंगे ऐसा समझ कर देवता सब यथा शक्ति विघ्न करते हैं । अतः मुमुक्षुओं को चाहिये कि भगवद्भागवताचार्य का कैंकर्य करता हुआ अवहित होक श्रद्धाभक्तिपरायण ब्रह्मविद्या में सर्वदा प्रयत्न करे। श्रीकान्तिमती सुकुमार कुमार भगद्रामानुजाचार्यने— **अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॥** (शा॰ मी॰ अ॰ १ पा॰ १ सू॰ १) **आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च ॥** (शा॰ मी॰ अ॰ ४ पा॰ १ सू॰ ३) इन दोनों सूत्रों के श्रीभाष्य में "बृहदारण्यकोपनिषद्" के प्रथम अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण की दशवीं कण्डिका के "अथ योऽन्यां देवतामुपास्ते अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद" इस वाक्य को उद्धृत किया है। और— **भाक्तं वानात्मवित्त्वात्तथाहि दर्शयति ॥** (शा॰ मी॰ अ॰ ३ पा॰ १ सू॰ ७) के श्रीभाष्य में— "यथा पशुरेवं स देवानाम्" इस खण्ड को उद्धृत किया है ॥१०॥

ब्रह्म वा इदमग्र आसीदेकमेव । तदेकं सन्न व्यभवत्। तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत क्षत्त्रम् । यान्येतानि देवत्रा क्षत्त्राणीन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रः पर्जन्यो यमो मृत्युरीशान इति । तस्मात्क्षत्त्रात्परं नास्ति । तस्माद्ब्राह्मणः क्षत्त्रियमधस्तादुपास्ते

राजसूये । क्षत्त्र एव तद्यशो दधाति । सैषा क्षत्त्रस्य योनिर्यद ब्रह्म । तस्माद्यद्यपि राजा परमतां गच्छति ब्रह्मैवान्तत उपनिश्रयति स्वां योनिम् । य उ एनं हिनस्ति स्वां स योनिमृच्छति । स पापीयान्भवति यथा श्रेयांसं हिंसित्वा ॥११॥

अन्वयार्थ– (वै) निश्चय करके (अग्रे) सृष्टि से पहले (इदम्) यह समस्त दृश्यमान जगत् (एकम्) एक (ब्रह्म) परब्रह्म नारायण (एव) ही (आसीत्) था (तत्) उस परब्रह्म ने (एकम्) एक (सत्) होने के कारण (न) नहीं (व्यभवत्) वैभव को प्राप्त किया तब (तत्) उस परब्रह्म ने (क्षत्रम्) क्षत्रिय नाम से सुप्रसिद्ध (श्रेयः) श्रेष्ठ (रूपम्) शरीर को (अत्यसृजत) अतिशय बुद्धिमत्ता के साथ बनाया (देवत्रा) देवताओं में (यानि) जो (एतानि) ये (इन्द्रः) इन्द्र (वरुणः) वरुण (सोमः) सोम (रुद्रः) रुद्र (पर्जन्यः) मेघ (यमः) यमराज (मृत्युः) मृत्यु (ईशानः) ईशान (इति) इस नाम वाला (क्षत्राणि) क्षत्रिय को बनाया जिस कारण से (क्षत्रात्) क्षत्रिय से (परम्) श्रेष्ठ (न) कोई नहीं (अस्ति) है (तस्मात्) इसी कारण से (ब्राह्मणः) ब्राह्मण (राजसूये) राजसूय यज्ञ में (क्षत्रियम्) क्षत्रिय के (अधस्तात्) नीचे (उपास्ते) पास में बैठता है ब्राह्मण राजसूय यज्ञ में (तत्) उस प्रसिद्ध (यशः) अपने यश को (क्षत्रे) क्षत्रिय में (एव) ही (दधाति) स्थापित करता है (यत्) जो यह (ब्रह्म) ब्राह्मण है (सा) सो (एषा) यह (क्षत्रस्य) क्षत्रिय का (योनिः) उत्पत्ति स्थान है (तस्मात्) इस कारण से (यद्यपि) यद्यपि (राजा) क्षत्रिय राजा (परमताम्) राजसूय यज्ञ के अभिषेक-दशा में श्रेष्ठता को (गच्छति) प्राप्त होता है परन्तु (अन्ततः) राजसूय यज्ञ के अन्त में (स्वाम्) अपनी (योनिम्) उत्पत्ति स्थान (ब्रह्म) ब्राह्मण को (एव) ही (उपनिश्रयति) याजनादि कार्य के लिये समीप में जाकर नीचे बैठ कर आश्रय लेता है (उ) निश्चय करके (यः) जो कोई क्षत्रिय (एनम्) इस ब्राह्मण को (हिनस्ति) मारता है (सः) वह क्षत्रिय (स्वाम्) अपनी (योनिम्) उत्पत्ति के स्थान को (ऋच्छति) नाश करता है (यथा) जिस प्रकार (श्रेयांसम्) अपने श्रेष्ठपिता आदिक को (हिंसित्वा) मार कर मनुष्य अतिशय पापी होता है उसी प्रकार (सः) वह ब्राह्मण हिंसक क्षत्रिय (पापीयान्) अधिक पापी (भवति) होता है ॥११॥

विशेषार्थ– निश्चय करके सृष्टि के प्रारम्भ समय में यह दृश्यमान स्थावर जङ्गम जगत् एक परब्रह्म नारायण ही था । क्योंकि लिखा है– **आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् । नान्यत्किञ्चन मिषत् ॥** (ऐत० उ० अ० १ खं० १ श्रु० १) यह ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त स्थावर जङ्गम जगत् सृष्टि से पहले एकमात्र प्रसिद्ध सम्पूर्ण हेय गुणों से रहित एकतान

कल्याणमय परमात्मा ही था। उसके सिवा दूसरा कुछ भी व्यापार वाला नहीं था ॥१॥ **सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ॥** (छां० उ० प्रपा० ६ खं० २ श्रु० १) हे सोमार्ह प्रिय दर्शन पुत्र श्वेतकेतो यह विभक्त नामरूप वाला बहुत्वावस्थ जगत् आगे सृष्टि के पूर्वकाल में अविभक्त नामरूप होने से एकत्वावस्थापन्न ही अधिष्ठात्रन्तरशून्य प्रकृति पुरुष काल शरीरक परब्रह्म नारायण ही था ॥१॥ **नैवेह किञ्चनाग्रआसीत् दिव्यो देव एकोनारायणः ॥** (सुबालोप० खं० ६) सृष्टि से पहले यहाँ कुछ भी नहीं था दिव्य देव एक नारायण ही थे ॥६॥ **एको ह वै नारायण आसीन्न ब्रह्मा नेशानः ॥** (महोप० अ० १ श्रु० १) सृष्टि के आदि समय निश्चय करके एक नारायण ही थे न ब्रह्मा थे न रुद्र थे ॥१॥ **शुद्ध देव एको नारायणो न द्वितीयोऽस्ति कश्चित् ॥** (नारायणो० श्रु० २) शुद्धदेव एक नारायण हैं दूसरा कोई भी नहीं है ॥२॥ जगत्कारणवादिनी श्रुतियों के यथार्थ विवेचन करने से यहाँ "ब्रह्म" शब्द का अर्थ परमात्मा नारायण है। ब्रह्मशब्द भ्वादि पठित "बृहि वृद्धौ" इस धातु से **बृंहेर्नोच्च ॥** (उणादि० पा० ४) इस सूत्र से मनिन् प्रत्यय तथा नकार के अकार और यणादेश होकर निष्पन्न होता है। जो स्वरूप और गुणों से सबसे बड़ा होने के कारण ब्रह्म कहलाता है। ब्रह्म के विषय में लिखा है– **यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्मेति ॥** (तैत्ति० उ० व० ३ अनुवा० १ श्रु० १) निश्चय करके ये ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त सब प्राणी जिससे उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न हुए सब प्राणी जिसके आश्रय से जीवित रहते हैं तथा अन्त में इस लोक से प्रयाण करते हुए जिसमें भलीभाँति तादात्म्य भाव से प्रवेश करते हैं उसको विशेष रूप से जानने की इच्छा कर वही परब्रह्म है ॥१॥ **जन्माद्यस्य यतः ॥** (शा० मी० अ० १ पा० १ सू० २) इस समस्त ब्रह्मादि स्वम्बपर्यन्त क्षेत्रज्ञमिश्र जगत् का जिससे उत्पत्ति, पालन, प्रलय आदिक होता है वही ब्रह्म है ॥२॥ **ब्रह्मण्यो ब्रह्मकृद्ब्रह्मा ब्रह्म ब्रह्मविवर्धनः ॥** (महाभारत अनुशा० विष्णुसह० श्लोक ८४) ब्रह्मण्य १, ब्रह्मकृत् २, ब्रह्मा ३, ब्रह्म ४ और ब्रह्मविवर्धन ५ ये परब्रह्म नारायण के नाम हैं ॥८४॥ **ब्रह्मशब्देन च स्वभावतो निरस्तनिखिलदोषोऽनवधिकातिशया-संख्येयकल्याणगुणगणः पुरुषोत्तमोऽभिधीयते ॥** (श्रीभाष्य० जिज्ञासाधिक० १) ब्रह्म शब्द से स्वाभाविक समस्त दोषों से रहित और सीमा रहित अतिशय असंख्य कल्याण गुणगण सम्पन्न पुरुषोत्तम नारायण कहे जाते हैं ॥१॥ वह परब्रह्म नारायण अकेले होने के कारण विशेष वैभव को नहीं प्राप्त कर सका। तब उस परब्रह्म नारायण ने अपने सत्य सङ्कल्प से जगत् में क्षत्रिय नाम से सुप्रसिद्ध श्रेष्ठ रूप को अति बुद्धिमत्ता के साथ बनाया। देवताओं में जो ये निम्नलिखित इन्द्र आदिक आठ क्षत्रिय जाति हैं उन

सबों की रचना की । वे कौन हैं सो श्रुति बतलाती है । देवताओं का राजा इन्द्र १ । इन्द्र के विषय में लिखा है– **इन्द्रो देवता ॥** (यजु० अ० १४ मं० २०) इन्द्र देवता है ॥२०॥ **देवानामस्मि वासवः ॥** (गी० अ० १० श्लोक २२) देवों में देवराज इन्द्र मैं हूँ ॥२२॥ जलचरों का अधिपति वरुण २ । वरुण के विषय में लिखा है–**वरुणो देवता॥** (यजु० अ० १४ मं० २०) वरुण देवता है॥२०॥ **वरुणो यादसामहम् ॥** (गी० अ० १० श्लोक २९) जलचरों का राजा वरुण मैं हूँ॥२९॥ और नक्षत्रों का पति सोम या चन्द्रमा ३ । चन्द्रमा के विषय में लिखा है– **चन्द्रमा देवता ॥** (यजु० अ० १४ मं० २०) चन्द्रमा देवता है ॥२०॥ **नक्षत्राणामहं शशी ॥** (गी० अ० १०श्लोक २१) नक्षत्रों का पति चन्द्रमा मैं हूँ ॥२१॥ पशुओं का अधिपति रुद्र ४ । रुद्र के विषय में लिखा है– **रुद्रो देवता ॥** (यजु० अ० १४ मं० २०) रुद्र देवता है ॥२०॥ विद्युदादि का नायक मेघ ५ और दण्ड देने वालों का अधिपति यम ६ । यम के विषय में लिखा है– **यमः संयमतामहम् ॥** (गी० अ० १० श्लोक २९) दण्ड देने वालों में यमराज मैं हूँ ॥२९॥ रोग आदि का स्वामी मृत्यु ७ । मृत्यु के विषय में लिखा है– **मृत्युः सर्वहरश्चाहम् ॥** (गी० अ० १० श्लोक ३४) सबके प्राणों का हरण करने वाला मृत्यु देव भी मैं हूँ ॥ ३४॥ और प्रकाशों का स्वामी ईशान ८ ये आठ देवता क्षत्रिय हैं। देवताओं में भी ब्राह्मणादि भेद होता है । क्योंकि स्पष्ट लिखा है– **ब्रह्म बृहस्पतिः क्षत्त्रमिन्द्रो मरुतो वै देवानां विशः ।** (श्रुति) बृहस्पति देव ब्राह्मण है तथा इन्द्रदेव क्षत्रिय है और निश्चय करके उञ्चास मरुत् देव देवताओं में वैश्य हैं ॥ जिस कारण से देवताओं में श्रेष्ठ इन्द्र, वरुण आदिक क्षत्रिय जाति के हैं इसी कारण से राजसूय यज्ञ में ब्राह्मण क्षत्रिय राजा के नीचे बैठता है । उस समय वह ब्राह्मण क्षत्रिय में ही अपने "ब्रह्म" इस नाम रूप यश को स्थापित करता है । अर्थात् राजसूय यज्ञ में अभिषिक्त सिंहासनस्थ राजा के द्वारा "ब्रह्मन्" इस प्रकार पुकारे जाने पर ऋत्विक् उस राजा से कहता है "त्वं राजन् ब्रह्मासि" हे राजन् तुम ब्रह्म हो । इसी से यह कहा जाता है कि वह क्षत्रियों में ही अपना ब्रह्म यानी ब्राह्मण नाम रूपी यश को स्थापित करता है । ब्राह्मण के विषय में– **तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः ॥** (पाणि० व्या० अ० ५ पा० १ सू० ११२) के श्रीभाष्य में लिखा है– **सर्वे एते शब्दाः गुणसमुदायेषु वर्तन्ते ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्र इति ॥ तपः श्रुतं च योनिश्च ह्येतद्ब्राह्मणकारकम् । तपःश्रुताभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव सः । तथा गौरः शुच्याचारः पिङ्गलः कपिलकेश इति ॥** (महाभाष्य) ये सब शब्द गुण समुदायों में वर्तते हैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र । तप करना, वेद पढ़ना, श्रेष्ठ ब्राह्मण कुल में जन्म होना यह ब्राह्मण का लक्षण है। जो ब्राह्मण इन तपस्या और वेदाध्ययन से हीन है केवल ब्राह्मण कुल

में जन्म मात्र है वह जाति से ब्राह्मण है। गौरवर्ण पवित्राचरण पिङ्गलकेश ये भी ब्राह्मण के लक्षण हैं॥ **अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा। दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्॥** (मनु० अ० १ श्लोक ८८) वेद पढ़ना पढ़ाना, यज्ञ करना कराना, दान देना, दान लेना, यह कर्म ब्राह्मण के लिये प्रभु ने कल्पना किया॥८८॥ **शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च। ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्मस्वभावजम्॥** (गी० अ० १८ श्लोक ४२) शम १, दम २, तप ३, शौच ४, क्षमा ५, आर्जव ६, ज्ञान ७, विज्ञान ८ और आस्तिकता ९ ये सब ब्राह्मण के स्वभावज कर्म हैं॥४२॥ यह जो ब्राह्मण है, वह क्षत्रिय का उत्पत्ति स्थान है। इस कारण से यद्यपि क्षत्रिय राजा राजसूय यज्ञ के अभिषेक समय में उत्कृष्टता को प्राप्त होता है तौ भी अन्त में राजसूय यज्ञ की समाप्ति होने पर अपनी योनि ब्राह्मण जाति को ही याजनादि कार्य के लिये समीप में जाकर तथा नीचे बैठ कर आश्रय लेता है। अब आगे ब्राह्मण के निरादर का निषेध किया जाता है। जो कोई क्षत्रिय बल के अभिमान से अपनी योनि ब्राह्मण जाति की हिंसा करता है वह निश्चय करके अपनी ही उत्पत्ति स्थान का नाश करता है। जिस प्रकार लोक में अपने श्रेष्ठ माँ बाप आदि को मार कर पुरुष बड़ा पापी होता है उसी प्रकार वह ब्राह्मण हिंसक क्षत्रिय बड़ा भारी पापी हो जाता है। इस श्रुति में अन्तिम "ब्रह्म" पद ब्राह्मण वाचक है। क्योंकि लिखा है— **वेदस्तत्त्वं तपो ब्रह्म ब्रह्मा विप्रः प्रजापतिः॥** (अमर० ३।३।११४) वेद १, तत्त्व २, तप ३, ब्रह्मा ४, ब्राह्मण ५ और प्रजापति ६ का वाचक ब्रह्म पद है॥११४॥ क्षत्रिय के विषय में लिखा है— **प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च। विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः॥** (मनु० अ० १ श्लोक ८९) प्रजा की रक्षा, दान, यज्ञ, वेद पाठ, विषयों में अनासक्ति ये कर्म संक्षेप से क्षत्रियों के निमित्त हैं॥८९॥ **शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्। दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥** (गी० अ० १८ श्लोक ४३) शूरता १, तेज २, धृति ३, दक्षता ४, युद्ध से न भागना ५, दान ६ और ईश्वर भाव ७ ये सब क्षत्रिय के स्वभावज कर्म हैं॥४३॥ श्रीकेशवयज्वात्मजभगवद्रामानुजाचार्यने— **तत्तु समन्वयात्॥** (शा० मी० अ० १ पा० १ सू० ४) **तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः॥** (शा० मी० अ० २ पा० १ सू० १५) **जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च॥** (शा० मी० अ० ४ पा० ४ सू० १७) इन तीनों सूत्रों के श्रीभाष्य में "बृहदारण्यकोपनिषद्" के प्रथम अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण की ग्यारहवीं कण्डिका के पूर्व खण्ड को उद्धृत किया है॥११॥

स नैव व्यभवत्स विशमसृजत। यान्येतानि देवजातानि गणश आख्यायन्ते वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत

इति ॥१२॥

अन्वयार्थ— (सः) उस परमात्मा ने क्षत्रिय की सृष्टि करने पर भी (एव) निश्चय करके (न) नहीं (व्यभवत्) विभुत्व को प्राप्त किया तब (सः) उसने (विशम्) वैश्य को (असृजत) बनाया (यानि) जो (एतानि) ये (देवजातानि) देव समूह (गणशः) गण रूप से (आख्यायन्ते) भलीभाँति कहे जाते हैं (वसवः) वसु गण (रुद्राः) रुद्रगण (आदित्याः) आदित्य गण (विश्वेदेवाः) विश्वेदेव गण (मरुतः) मरुद्गण (इति) इस प्रकार से जाने ॥१२॥

विशेषार्थ— वह परब्रह्म नारायण क्षत्रियों के बनाने पर भी धनोपार्जन करने वाले का अभाव होने के कारण विभुत्व को नहीं प्राप्त कर सका। तब धन का उपार्जन करने के लिये वैश्य को बनाया। वे वैश्य कौन हैं यह साक्षात् श्रुति कहती है। ये जो देव समूह गण करके कहे जाते हैं, वे ही वैश्य हैं। क्योंकि वैश्य लोग प्रायः अनेकों मिल कर ही धनोपार्जन करते हैं, एक एक करके नहीं। आठ संख्या का वसुगण वैश्य है। वसु देवता के विषय में लिखा है— **वसवो देवताः ॥** (यजु० अ० १४ मं० २०) आठ वसु देवता हैं ॥२०॥ **धरो ध्रुवश्चसोमश्च अहश्चैवानिलोऽनलः। प्रत्यूषश्च प्रभासश्च वसवोऽष्टाविति स्मृताः ॥** (महाभार० आदिप० १ अ० ६६श्लो० १८) धर १, ध्रुव २, सोम ३, अहः ४, अनिल ५, अनल ६, प्रत्यूष ७ और प्रभास ८ इन आठों को वसु देवता कहते हैं ॥१८॥ और ग्यारह संख्या का रुद्रगण वैश्य है। रुद्र देवता के विषय में लिखा है— **रुद्रो देवता ॥** यजु० अ० १४ मं० २०) ग्यारह रुद्र देवता हैं ॥२०॥ **मृगव्याधश्च सर्पश्च निर्ऋतिश्च महायशाः। अजैकपादहिर्बुध्न्यः पिनाकी च परन्तपः ॥** (महाभारत आदिप० १ अ० ६६ श्लोक २) **दहनोऽथेश्वरश्चैव कपाली च महाद्युतिः। स्थाणुर्भगश्च भगवान् रुद्रा एकादश स्मृताः ॥३॥** मृगव्याध १, सर्प २ और महायशस्वी निर्ऋति ३, अजैकपाद ४, अहिर्बुध्न्य ५ और परन्तप पिनाकी ६ ॥२॥ दहन ७, ईश्वर ८ और महाद्युति कपाली ९, स्थाणु १० और भगवान् भग ११ इन ग्यारहों को रुद्र देवता कहते हैं ॥३॥ तथा बारह संख्या का आदित्यगण वैश्य है। आदित्य देवता के विषय में लिखा है— **आदित्या देवताः ॥** (यजु० अ० १४ मं० २०) बारह आदित्य देवता हैं ॥२०॥ **धाता मित्रोऽर्यमा शक्रो वरुणस्त्वंश एव च। भगो विवस्वान् पूषा च सविता दशमस्तथा ॥** (महाभारत आदिप० १ अ० ६५ श्लोक १५) **एकादशस्तथा त्वष्टा द्वादशो विष्णुरुच्यते। जघन्यजस्तु सर्वेषामादित्यानां गुणाधिकः ॥१६॥** धाता १, मित्र २, अर्यमा ३, शक्र ४, वरुण ५ और अंश ६ भग ७, विवस्वान् ८, पूषा ९ और दशवाँ सविता

१० ।।१५।। तथा ग्यारहवाँ त्वष्टा ११ और बारहवाँ विष्णु यानी वामन १२ कहे जाते हैं । इन समस्त बारह आदित्यों में सबसे अधिक गुण होने के कारण छोटा वामन भगवान् सबसे श्रेष्ठ हैं ।।१६।। और दस संख्या का विश्वे देवगण वैश्य है । विश्वेदेव देवता के विषय में लिखा है– **विश्वदेवास्तु विश्वाया जज्ञिरे दश विश्रुताः ॥** (वायुपुराण अ॰ ६६ श्लोक ३१) **क्रतुर्दक्षः श्रवः सत्यः कालः कामो धुनिस्तथा । कुरुवान् प्रभवांश्चैव रोचमानश्च ते दश ॥३२॥** धर्म की पत्नी दक्ष कन्या विश्वा से निम्नलिखित इन दस विश्वेदेव देवताओं की उत्पत्ति हुई थी वे विश्रुत हैं ।।३१।। क्रतु १, दक्ष २, श्रव ३, सत्य ४, काल ५, काम ६ तथा धुनि ७, कुरुवान् ८, प्रभवान् ९ और रोचमान १० नाम के ये दस विश्वेदेव देवता हैं ।।३२।। और उन्चास संख्या का मरुद्गण वैश्य है । मरुद्गण देवता के विषय में लिखा है– **मरुतो देवताः ॥** (यजु॰ अध्याय १४ मं॰ २०) उन्चास मरुत् देवता हैं ।।२०।। उनके नाम ये अधोलिखित हैं– सत्त्वज्योति १, आदित्य २, सत्यज्योति ३, तिर्यग्ज्योति ४, सज्योति ५, ज्योतिष्मान् ६, हरित ७, ऋतजित् ८, सत्यजित् ९, सुषेण १०, सेनजित् ११, सत्यमित्र १२, अभिमित्र १३, अरिमित्र १४, कृतं १५, सत्य १६, ध्रुव १७, धर्ता १८, विधर्ता १९, विधारय २०, ध्वान्त २१, धुनि २२, उग्र २३, भीम २४, अभियु २५, साक्षिप २६, ईदृक् २७, अन्यादृक् २८, यादृक् २९, प्रतिकृत् ३०, ऋक् ३१, समिति ३२, संरम्भ ३३, इदृक्ष ३४, पुरुष ३५, अन्यादृक्ष ३६, चेतस ३७, समिता ३८, समिदृक्ष ३९, मरुति ४०, सरत ४१, देव ४२, दिश ४३, यजुः ४४, अनुदृक् ४५, साम ४६, प्रतिदृक्ष ४७, मानुष ४८, विश् ४९ ।। (वायुपुराण अ॰ ६७ श्लोक १२३ से १३० पर्यन्त) वैश्य के विषय में लिखा है– **पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च। वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ॥** (मनु॰ अ॰ १ श्लोक ९०) पशुओं की रक्षा, दान, यज्ञ, वेद पढ़ना, व्यापार करना, व्याज लेना और खेती करना यह कर्म वैश्य के निमित्त कल्पना किया है ।।९०।। **कृषिगोरक्ष्य वाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ॥** (गी॰ अ॰ १८ श्लोक ४४) खेती करना १, गोरक्षा करना २ और व्यापार करना ३ ये वैश्य के स्वभावज कर्म हैं ।।४४।। इस प्रकार से जानना चाहिये ।।१२।।

स नैव व्यभवत्स शौद्रं वर्णमसृजत । पूषणमियं वै पूषेयं हीदं सर्वं पुष्यति यदिदं किञ्च ।।१३।।

अन्वयार्थ– (सः) वह परमात्मा वैश्य की सृष्टि करने पर भी (एव) निश्चय करके (न) नहीं (व्यभवत्) विशेष रूप से वृद्धि को प्राप्त हुआ तब (सः) उसने (शौद्रम्) शूद्र (वर्णम्) वर्ण को (असृजत) बनाया (पूषणम्) पूषण शूद्र है (हि)

क्योंकि (यत्) जो (इदम्) यह (किं+च) कुछ भी वस्तु जात है (इदम्) इस (सर्वम्) समस्त चराचर को (पुष्यति) यह पृथ्वी पोषण करती है ॥१३॥

विशेषार्थ – वह परब्रह्म नारायण वैश्यों की सृष्टि करने पर भी सेवक का अभाव होने के कारण फिर भी विशेष रूप से वृद्धि को नहीं प्राप्त कर सका। तब उसने सेवा करने वाले शूद्र वर्ण की सृष्टि रची। किन्तु यह जो उत्पन्न किया गया वह शूद्रवर्ण कौन है यह साक्षात् श्रुति ही कहती है कि पूषण शूद्रवर्ण है। जो पोषण करे उसे "पूषण" कहते हैं। पूषण कौन है यह आगे श्रुति विशेष रूप से निर्देश करती है– यह पृथ्वी ही पूषा यानी पूषण है। क्योंकि इस पृथ्वी पर यह जो कुछ स्थावर जङ्गम वस्तु है उन सबों का यह पृथ्वी ही पोषण करती है। शूद्र के विषय में लिखा है– **एक मेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्। एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया॥** (मनु० अ० १ श्लोक ९१) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीन वर्णों की असूया रहित सेवा करना यही एक शूद्र का कर्म प्रभु ने कल्पना किया है ॥९१॥ **परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥** (गी० अ० १८ श्लोक ४४) सब वर्णों की सेवा रूप कर्म शूद्र का भी स्वभावज है ॥४४। इस प्रकार से कहा गया है ॥१३॥

स नैव व्यभवत्तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत धर्मम्। तदेतत्क्षत्त्रस्य क्षत्त्रं यद्धर्मात्परं नास्ति। अथो अबलीयान्बलीयांसमाशंसते धर्मेण यथा राज्ञैवम्। यो वै सधर्मः सत्यं वै तत्। तस्मात्सत्यं वदन्तमाहुर्धर्मं वदतीति धर्मं वा वदन्तं सत्यं वदतीति। एतद्ध्येवैतदुभयं भवति ॥१४॥

अन्वयार्थ– (सः) वह परमात्मा चारो वर्णों को रच कर भी (एव) निश्चय करके (न) नहीं (व्यभवत्) आत्म विभूति को प्राप्त हुआ तब उसने (तत्) उस क्षत्रिय जाति के (श्रेयः) श्रेष्ठ (रूपम्) शरीर भूत (धर्मम्) धर्म को (अत्यसृजत) अतिशय बुद्धिमत्ता के साथ बनाया (तत्) वह (एतत्) यह रचा हुआ धर्म (क्षत्रस्य) शासन करने वाले क्षत्रिय का भी (क्षत्रम्) क्षत्र यानी नियन्ता है (यत्) जो यह धर्म है इस कारण से (धर्मात्) सर्व नियन्ता धर्म से (परम्) अधिक उत्कृष्ट कोई भी वस्तु (न) नहीं (अस्ति) है (अबलीयान्) अधिक दुर्बल पुरुष (अथो) भी (बलीयांसम्) अपने से अधिक बल वाले पुरुष को (धर्मेण) धर्म रूपी बल के द्वारा (आशंसते) जीतने की इच्छा करता है (यथा) जैसे (राज्ञा) लोक में राजा की सहायता से साधारण दुर्बल कुटुम्बी पुरुष अपने से अधिक बलवान् दारादि अपहर्ता पुरुष का पराभव करना चाहता

है (एवम्) वैसे ही (वै) निश्चय करके (यः) जो (सः) वह क्षत्रिय से भी श्रेयोभूत (धर्मः) धर्म है (तत्) वह (सत्यम्) सत्य भाषण ही है (वै) इसमें सन्देह नहीं है (तस्मात्) इसी कारण से (सत्यम्) सत्य (वदन्तम्) बोलने वाले पुरुष को (धर्मम्) यह धर्म (वदति) कह रहा है (इति) ऐसा (आहुः) सत्य और धर्म के रहस्य जानने वाले लोग कहते हैं (वा) अथवा (धर्मम्) धर्म को (वदन्तम्) कहते हुए पुरुष को (सत्यम्) यह सत्य (वदति) कहता है (इति) ऐसा सत्य और धर्म के तत्त्ववित् पुरुष कहते हैं (हि) क्योंकि (एतत्) यह सत्य भाषण (एव) ही (एतत्) यह सत्य और धर्म (उभयोः) दोनों रूप (भवति) होता है ।।१४।।

विशेषार्थ– वह परब्रह्म नारायण चारो वर्णों को रच कर भी क्षत्रियों को नियम में रखने वाले के आभाव होने से फिर भी विशेष रूप से आत्मविभूति को नहीं प्राप्त कर सका । तब उसने उस क्षत्रिय जाति के श्रेष्ठ शरीर भूत कल्याण स्वरूप धर्म को अत्यन्त बुद्धिमत्ता के साथ उत्पन्न किया । धर्म के विषय में लिखा है– **धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति । धर्मेण पापमपंनुदन्ति धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितं तस्माद्धर्मं परमं वदन्ति ।।** (तैत्ति० आरण्य० प्रपा० १० अनुवा० ६३) धर्म समस्त संसार की प्रतिष्ठा है । लोक में सब जन धर्मिष्ठ के समीप जाते हैं । धर्म से सब लोग पाप को दूर करते हैं धर्म में सब प्रतिष्ठित है, इससे सब लोग धर्म को सबसे श्रेष्ठ कहते हैं ।।६३।। **चोदना लाक्षणोऽर्थो धर्मः ।।** (पूर्वमी० अ० १ पा० १ सू० २) चोदना लक्षण अर्थ धर्म है ।।२।। **यतोऽभ्युदयनिश्श्रेयससिद्धिस्सः धर्मः ।।** (वैशेषि० अ० १ आह्नि० १ सू० २) जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस सिद्धि हो वह धर्म है ।।२।। उस धर्म का स्वरूप दस प्रकार का लिखा है– **धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः । धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ।।** (नारदपरिव्राजकोप० उपदे० ३ श्रु० २४) (मनु० अ० ६ श्लोक ९२) धीरता १, क्षमा २, मन रोकना ३, अन्याय से दूसरे का धन न लेना ४, पवित्रता ५, इन्द्रियों को रोकना ६, बुद्धि ७, आत्म-ज्ञान ८, सच्चा बोलना ९ और क्रोध नहीं करना १० ये दस धर्म के लक्षण हैं ।।२४।।९२।। **धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः । तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत् ।।** (मनु० अ० ८ श्लोक १५) **एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः । शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यद्धि गच्छति ।।१७।।** नष्ट किया हुआ धर्म ही नाश कर देता है और रक्षा किया हुआ धर्म ही रक्षा करता है । इससे धर्म का त्याग नहीं करना चाहिये । नाश किया हुआ धर्म हम सबों का वध न करे ।।१५।। धर्म ही एक मित्र है जो मरने पर भी अभीष्ट फल देने क लिये साथ जाता है और अन्य स्त्री पुत्र आदिक सब शरीर के साथ ही नाश को प्राप्त कर लेते हैं ।।१७।। **ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष**

न च कश्चिच्छृणोति मे । धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते ॥ (महाभारत स्वर्गारोहणप० अ० ५ श्लोक ६२) **न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः ॥६३॥** ऊपर भुजा उठा कर जोर सोर से मैं चिल्लाता हूँ परन्तु कोई भी मेरे वाक्य को नहीं सुनता है । मेरा कहना यह है कि धर्म से अर्थ और काम प्राप्त होता है, इससे धर्म क्यों नहीं सेवन करते हो ।।६२।। यह याद रखना कभी भी काम से या भय से या लोभ से या जीने की इच्छा से धर्म का नहीं परित्याग करे ।।६३।। वह यह श्रीमन्नारायण से रचा हुआ श्रेयोरूप धर्म शासन करे वाले क्षत्रिय का भी क्षत्र यानी नियन्ता है । और उग्र क्षत्रिय जाति से भी उग्र यह धर्म है । इस कारण से सर्व नियन्ता धर्म से बढ़ कर कोई भी वस्तु उत्कृष्ट नहीं है । क्योंकि उसी के द्वारा सबका नियमन होता है । सो किस प्रकार यह आगे बतलाया जाता है । जिस प्रकार लोक में सबसे बलवान् राजा की सहायता से बहुत दुर्बल मनुष्य भी अपने से अधिक बलवान् सुत वित नारी के अपहरण करने वाले पुरुष का पराभव करना चाहता है उसी प्रकार वह उपासक धर्म रूपी बल से सबको जीतना चाहता है । अतः सबकी अपेक्षा बलवत्तर होने के कारण धर्म सबका नियन्ता है– यह सिद्ध होता है । निश्चय करके क्षत्रिय से भी श्रेय भूत धर्म सत्य बोलना ही है इसमें सन्देह नहीं है अर्थात् सत्य ही धर्म है । सत्य के विषय में लिखा है– **सत्येन वायुरावाति सत्येनादित्यो रोचते दिवि । सत्यं वाचः प्रतिष्ठा सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितं तस्मात्सत्यं परमं वदन्ति ॥** (तैत्ति० आरण्य० प्रपा० १० अनुवा० ६३) वायु सत्य से चलती है, सूर्य सत्य से द्युलोक में प्रकाशित होता है, वाणी में प्रतिष्ठा सत्य ही है, सत्य में सब प्रतिष्ठित हैं इससे सब लोग सत्य को सबसे श्रेष्ठ कहते हैं ।।६३।। **चक्षुरादीन्द्रियैर्दृष्टं श्रुतं घ्रातं मुनीश्वर । तस्यैवोक्तिर्भवेत्सत्यं विप्र तन्नान्यथा भवेत् ॥** (जाबालदर्श० उ० खं० १ श्रु० ९) हे विप्र नेत्र आदिक इन्द्रियों से जो जैसा देखा गया तथा सुना गया और सूँघा गया उसको ठीक जैसे के तैसे जो कहना है उसी को सत्य कहते हैं ।।९।। **अश्वमेधसहस्रस्य सत्यं च तुलया धृतम् । अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेकं विशिष्यते ॥** (विष्णु स्मृ० अ० ८) हजार अश्वमेध यज्ञ और सत्य तराजू में रखे जाने पर हजार अश्वमेध यज्ञ की अपेक्षा अकेला सत्य ही विशेष ठहरता है ।।८।। **सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ॥** (योग० अ० १ पा० २ सू० ३६) सत्य की प्रतिष्ठा होने पर क्रियाओं का फल अधीन हो जाता है ।।३६।। सत्य और धर्म में कोई भी भेद नहीं, इसमें लोक ही प्रमाण है सो आगे दिखलाते हैं । जिस हेतु सत्य और धर्म एक वस्तु है इसी कारण से सत्य को कहते हुए पुरुष को देख कर सत्य और धर्मके रहस्य जानने वाले लोग कहते हैं कि यह धर्म कह रहा है और धर्म को कहते हुए पुरुष को देख कर कहते

हैं कि यह सत्य कहता है । अर्थात् लोक में यह प्रसिद्ध है कि सत्य वक्ता को धर्म वक्ता और धर्म वक्ता को सत्य वक्ता कहते हैं । क्योंकि निश्चय करके सत्य भाषण ही यह सत्य और धर्म दोनों रूप हो जाता है । इस हेतु से सत्य भाषण सर्वशेषिभूत है ॥१४॥

तदेतद्ब्रह्म क्षत्त्रं विट्शूद्रः । तदग्निनैव देवेषु ब्रह्माभवत् । ब्राह्मणो मनुष्येषु क्षत्त्रियेण क्षत्त्रियो वैश्येन वैश्यः शूद्रेण शूद्रः । तस्मादग्नावेव देवेषु लोकमिच्छन्ते ब्राह्मणे मनुष्येषु । एताभ्यां हि रूपाभ्यां ब्रह्माभवत् । अथ यो ह वा अस्माल्लोकात्स्वं लोकमदृष्ट्वा प्रैति स एनमविदितो न भुनक्ति तथा वेदो वाऽननूक्तोऽन्यद्वा कर्माकृतम् । यदि ह वा अप्यनेवंविन्महत्पुण्यं कर्म करोति तद्धास्यान्ततः क्षीयत एव । आत्मानमेव लोकमुपासीत । स य आत्मानमेव लोकमुपास्ते न हास्य कर्म क्षीयते । तस्माद्ध्येवाऽऽत्मनो यद्यत्कामयते तत्तत्सृजते ॥१५॥

अन्वयार्थ– (तत्) उस कारण से (एतत्) यह (ब्रह्म) ब्राह्मण (क्षत्रम्) क्षत्रिय (विट्) वैश्य (शूद्रः) शूद्रात्मक हुआ (तत्) वह परब्रह्म (अग्निना) अग्नि रूप से विशिष्ट (एव) ही (देवेषु) देवताओं में (ब्रह्म) ब्राह्मण हुआ और (मनुष्येषु) मनुष्यों में ब्राह्मण द्वारा (ब्राह्मणः) ब्राह्मणत्व जाति वाला हुआ (क्षत्रियेण) क्षत्रिय द्वारा (क्षत्रियः) क्षत्रियत्व जाति वाला हुआ (वैश्येन) वैश्य द्वारा (वैश्यः) वैश्यत्व जाति वाला हुआ और (शूद्रेण) शूद्र द्वारा (शूद्रः) शूद्रत्व जाति वाला हुआ (तस्मात्) इस कारण से (देवेषु) देवताओं के मध्य में (अग्नौ) अग्नि में (एव) ही हवनादि कर्म करके (लोकम्) स्वर्गादि लोक की (इच्छन्ते) इच्छा करते हैं और (मनुष्येषु) मनुष्यों के मध्य में (ब्राह्मणे) ब्राह्मणवर्ण में ही दानादि कर्म करके स्वर्गादि लोक की इच्छा करते हैं (हि) क्योंकि (एताभ्याम्) इन अग्नि और ब्राह्मण दोंनों (रूपाभ्याम्) रूपों से विशिष्ट पहले (ब्रह्म) परब्रह्म (अभवत्) हुआ था (अथ) अब (वै) निश्चय करके (ह) प्रसिद्ध यह है कि (यः) जो अज्ञानी पुरुष (स्वम्) अपनी (लोकम्) आत्मा को (अदृष्ट्वा) नहीं जान कर (अस्मात्) इस (लोकात्) लोक से शरीर को त्याग कर शरीरान्तर ग्रहण करने के लिए (प्रैति) चला जाता है तो (एनम्) इस अज्ञानी

पुरुष को (अविदितः) अविज्ञात यानी अनुपासित (सः) वह परमात्मा (न) नहीं (भुनक्ति) पालन करता है (यथा) जैसे (अननूक्तः) बिना अध्यन किया हुआ (वेदः) मन्त्र ब्राह्मणात्मक वेद नहीं रक्षा करता है (वा) अथवा (अकृतम्) बिना अनुष्ठान किया हुआ (अन्यत्) अन्य ज्योतिष्टोमादिक (कर्म) वैदिक कर्म (वा) भी जैसे उपकार नहीं करता है वैसे ही (अनेवंवित्) इस प्रकार परब्रह्म को नहीं जानने वाला पुरुष (वै) निश्चय करके (यदि) यदि इस लोक में (ह) सुप्रसिद्ध (महत्) बड़े अश्वमेधादिक (पुण्यम्) पुण्य (कर्म) कर्म को (अपि) भी (करोति) करे तौ भी (अन्ततः) अन्त में (अस्य) इस अज्ञानी के (ह) सुप्रसिद्ध (तत्) वह बड़ा पुण्यकर्म (एव) निश्चय करके (क्षीयते) क्षीण हो ही जाता है इस हेतु से अन्य वस्तु का परित्याग करके (लोकम्) सर्वदा नित्य सूरियों से दृश्यमान (आत्मानम्) परमात्मा की (उपासीत) उपासना करे (एव) निश्चय करके (यः) जो कोई उपासक (एव) निश्चय करके (लोकम्) दिव्य सूरियों से सर्वदा दृश्यमान (आत्मानम्) परमात्मा को (उपास्ते) उपासना करता है (सः) सो (अस्य) इस उपासक के (ह) सुप्रसिद्ध (कर्म) उपासनाङ्गभूत कर्म (न) नहीं (क्षीयते) क्षीण होता है (हि) क्योंकि (तस्मात्) उस ब्रह्मवेदन से (एव) ही ब्रह्मोपासक (यत्) जो (यत्) जो वस्तु (कामयते) कामना करता है (तत्) उस (तत्) उस अभिलषित पदार्थ को (आत्मनः) आत्मा से ही (सृजते) उत्पन्न कर लेता है ॥१५॥

विशेषार्थ– अब चातुर्वर्ण्यसृष्टि का निगमन किया जाता है। जिस कारण से सृष्टि के आदि में एक परब्रह्म नारायण ही था उसी कारण से यह परब्रह्म नारायण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रात्मक हुआ है। वह परब्रह्म नारायण स्रष्टृत्व से पहले कहा हुआ अग्नि रूप से विशिष्ट देवताओं में ब्राह्मण हुआ है। क्योंकि लिखा है– **स मुखाच्च योनेर्हस्ताभ्यां चाग्निमसृजत ॥** (बृह० उ० अ० १ ब्रा० ४ कं० ६) उसने फूत्कार साधन मुख रूप योनि से और निर्मन्थन साधन दोनों हाथ रूप योनि से अग्नि को बनाया ॥६॥ और वह परब्रह्म नारायण इन्द्रादि रूप से विशिष्ट ही देवताओं में क्षत्रिय हुआ है। तथा वह नारायण वसु रुद्रादि रूप से विशिष्ट ही देवताओं में वैश्य हुआ है। और वह परब्रह्म नारायण पृथ्वी रूपसे विशिष्ट ही देवताओं में शूद्र हुआ है। इस प्रकार देवताओं में ब्राह्मणत्वादि जातिमत्त्व अग्नि इन्द्रादि द्वारा कह कर अब मनुष्यों में ब्राह्मणत्वादि जातिमत्त्व प्रकार नारायण का कहा जाता है। मनुष्यों में वह परब्रह्म नारायण ब्राह्मण द्वारा ब्राह्मणत्व जाति वाला हुआ। ब्राह्मण के विषय में लिखा है– **जप्येनैव तु संसिध्येद्ब्राह्मणो नात्र संशयः। कुर्यादन्यन्नवा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ॥** (मनु० अ० २ श्लोक ८७) ब्राह्मण जप से ही पूर्ण सिद्धि प्राप्त कर लेता है, इसमें सन्देह नहीं है। अन्य कर्म करे अथवा न करे। संपूर्ण भूतों को मित्र की भाँति अभय देने

वाला होने से ब्राह्मण मैत्र कहलाता है ॥८७॥ और मनुष्यों में वह परब्रह्म नारायण क्षत्रिय द्वारा क्षत्रियत्व जाति वाला हुआ । तथा मनुष्यों में वह परब्रह्म नारायण वैश्य द्वारा वैश्यत्व जाति वाला हुआ । और मनुष्यों में वह परब्रह्मा नारायरा शुद्र द्वारा शूद्रत्व जाति वाला हुआ । अब प्रसङ्ग से अग्नि और ब्राह्मण की प्रशंसा कही जाती है । इस कारण से देवताओं के मध्य में भक्त लोग अग्नि में ही हवनादि कर्म करके स्वर्गादि लोक की इच्छा करते हैं । क्योंकि लिखा है– **अग्निर्देवता ॥** (यजु॰ अ॰ १४ मं॰ २०) अग्नि देवता है ॥२०॥ और मनुष्यों के मध्य में भक्त लोग ब्राह्मण में ही दानादि कर्म करके स्वर्गादि लोक की इच्छा करते हैं । अब प्राशस्त्य में कारण कहा जाता है । क्योंकि अग्नि और ब्राह्मण दोनों रूपों से विशिष्ट पहले परब्रह्म नारायण था । इस प्रकार आत्मस्वरूप को कह कर अब आगे आत्मवेदन की आवश्यकता को बतलाया जाता है । निश्चय करके यह बात प्रसिद्ध है कि जो अज्ञानी पुरुष अपनी आत्मा को दर्शन समानाकार ज्ञान से नहीं जानकर इस आश्रित लोक से शरीर त्याग कर देहान्तर ग्रहण करने के लिये चला जाता है तो इस अज्ञानी पुरुष को अविज्ञात या अनुपासित वह परब्रह्म नारायण संसार सागर से नहीं रक्षा करता है । यहाँ दृष्टान्त कहते हैं कि– जिस प्रकार कि बिना अध्ययन किया हुआ वेद सर्वोपकारार्थ प्रवृत्त होने पर भी सर्वसाधारण मूर्ख की रक्षा नहीं करता है । और जिस प्रकार बिना अनुष्ठान किया हुआ कोई अन्य ज्योतिष्टोमादि वैदिक कर्म उपकार नहीं करता है इस प्रकार ही जो अपनी आत्मा को जानता है उसकी ही आत्मा रक्षा करती है । अज्ञानी की रक्षा नहीं करती है । वेद के विषय में लिखा है– **मंत्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम् ॥** (आपस्तम्ब॰ श्रौतसू॰ २४।१।३१) मंत्र और ब्राह्मण इन दोनों का नाम वेद है ॥३१॥ **मंत्रब्राह्मणमित्याहुः ॥** (बौधायनगृह्यसू॰ २।६।२) मन्त्र और ब्राह्मण इन दोनों को वेद कहते हैं ॥२॥ **आम्नायः पुनर्मन्त्राश्च ब्राह्मणानि च ॥** (कौशिक सू॰ १।३।३) मन्त्र और ब्राह्मण को वेद कहते है ॥३॥ **तच्चोदकेषु मन्त्राख्या ॥** (पूर्वमी॰ अ॰ २ पा॰ १ सू॰ ३२) **शेषे ब्राह्मणशब्दः ॥** (पूर्वमी॰ २।१।३३) प्रेरणा लक्षण श्रुति का ही नाम मन्त्र है ॥३२॥ मन्त्र से जो शेष वेद है वह ब्राह्मण शब्द से कहा जाता है ॥३३॥ **चत्वारो वेदाः ॥** (महाभाष्य॰ अ॰ १ पा॰ १ आह्नि॰ १) ऋक् १, यजुः २, साम ३ और अथर्व ४ ये चार वेद हैं ॥१॥ **तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था ॥** (पूर्वमी॰ अ॰ २ पा॰ १ सू॰ ३५) **गीतिषु सामाख्या ॥** (पूर्वमी॰ २।१।३६) **शेषे यजुः शब्दः ॥** (पूर्वमी॰ २।१।३७) **निगदो वा चतुर्थं स्याद्धर्मविशेषात् ।** (पूर्वमी॰ २।१।३८) जिसमें अर्थ वश से पाद की व्यवस्था होती है उसी को ऋग्वेद कहते हैं ॥३५॥ गान में सामवेद नाम होता है ॥३६॥ शेष में यजुर्वेद कहा जाता है ॥३७॥ विशेष धर्म होने से निगद ही चतुर्थ अथर्ववेद है ॥३८॥

ऋग्वेदस्य तु शाखाः स्युरेकविंशतिसंख्यकाः । नवाधिकशतं शाखा यजुषो मारुतात्मज ॥ (मुक्तिको० अ० १ श्रु० १२) **सहस्रसंख्यया जाताः शाखाः साम्नः परन्तप । अथर्वणस्य शाखाः स्युः पञ्चाशद्भेदतो हरे** (१३) हे महावीर ऋग्वेद की इक्कीस शाखायें हैं और यजुर्वेद की एक सौ नव शाखायें हैं ।।१२।। हे परन्तप सामवेद की हजार शाखायें हैं और अथर्ववेद की पचास शाखायें हैं ।।१३।। इस प्रकार परब्रह्म नारायण को नहीं जानने वाला पुरुष निश्चय करके इस लोक में सुप्रसिद्ध महान् अश्वमेधादिक पवित्र कर्म को भी करे तो भी अन्त में इस अज्ञानी का सुप्रसिद्ध वह बड़ा पुण्य कर्म क्षीण ही हो जाता है इस कारण से अन्य वस्तु को छोड़ करके सर्वदा नित्यसूरि से दृश्यमान परब्रह्म नारायण की ही उपासना करे । क्योंकि लिखा है– **यो ह वा एतदक्षरं गार्ग्य विदित्वास्मिँल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते बहूनि वर्षसहस्राण्यन्तवदेवास्य तद्भवति ॥** (बृह० उ० अ० ३ खं० ८ कं० १०) हे गार्गि जो कोई इस लोक में इस अक्षर को न जानकर हवन करता है तथा यज्ञ करता है और बहुत अनेकों सहस्र वर्ष पर्यन्त तप करता है उसका वह सब कर्म नाश होने वाला ही होता है ।।१०।। सो जो कोई उपासक निश्चय करके दिव्य सूरियों से सर्वदा दृश्यमान परब्रह्म नारायण की उपासना करता है सुप्रसिद्ध इस उपासक का उपासनाङ्गभूत कर्म क्षीण नहीं होता है । क्योंकि उस परब्रह्म नारायण की उपासना से ही ब्रह्मोपासक पुरुष जिस जिस वस्तु की कामना करता है उस उस अभिलषित पदार्थ को आत्मा से ही उत्पन्न कर लेता है । क्योंकि लिखा है– **स यदि पितृलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति ॥** (छां० उ० प्रपा० ८ खं० २ श्रु० १) वह जीव यदि प्राचीन अनेक जन्म सम्बन्धी पितरों के दर्शन की कामना वाला अथवा पितृलोक की कामना वाला होता है तो उस जीव के सङ्कल्प मात्र से निश्चय करके प्राचीन अनेक जन्म सम्बन्धी पितर सम्यक् उपस्थित होते हैं ।।१।। **सङ्कल्पादेव तच्छ्रुतेः ॥** (शा० मी० अ० ४ पा० ४ सू० ८) मुक्त जीव के सङ्कल्प मात्र से ही सब अभिलषित वस्तुएँ प्राप्त हो जाती हैं इसको साक्षात् छान्दोग्योपनिषद् के आठवें प्रपाठक के द्वितीय खण्ड की पहली श्रुति प्रतिपादन करती है । श्री हारीतगोत्रोत्पन्नभगवद्रामानुजाचार्य ने – **अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॥** (शा० मी० अ० १ पा० १ सू० १) **तत्तु समन्वयात् ॥** (शा० मी० अ० १ पा० १ सू० ४) इन दोनों सूत्रों के श्रीभाष्य में "बृहदारण्यकोपनिषद्" के प्रथम अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण की पन्द्रहवीं कण्डिका के "आत्मानमेव लोकमुपासीत" इस वाक्य को उद्धृत किया है ।।१५।।

अथो अयं वा आत्मा सर्वेषां भूतानां लोकः । स यज्जुहोति

यद्यजते तेन देवानां लोकः । अथ यदनुब्रूते तेन ऋषीणाम् । अथ यत्पितृभ्यो निमृणाति । यत्प्रजामिच्छते तेन पितृणाम् । अथ यन्मनुष्यान्वासयते यदेभ्योऽशनं ददाति तेन मनुष्याणाम् । अथ यत्पशुभ्यस्तृणोदकं विन्दति तेन पशूनाम् । यदस्य गृहेषु श्वापदा वयांस्यापिपीलिकाभ्य उपजीवन्ति तेन तेषां लोकः । यथा ह वै स्वाय लोकायारिष्टमिच्छदेवं हैवंविदे सर्वाणि भूतान्यरिष्टमिच्छन्ति । तद्वा एतद्विदितं मीमांसितम् ॥१६॥

अन्वयार्थ– (अथो) अब वाक्यान्तर प्रारम्भ किया जाता है (वै) निश्चय करके (अयम्) यह प्रत्यक्ष सिद्ध (आत्मा) जीवात्मा (सर्वेषाम्) समस्त देवताओं से लेकर चींटी पर्यन्त (भूतानाम्) प्राणियों का (लोकः) लोक है (सः) वह मनुष्य देहधारी जीवात्मा (यत्) जो (जुहोति) अग्नि में होम करता है और (यत्) जो (यजते) प्रतिदिन याग करता है (तेन) उस होम यागरूप कर्म से (देवानाम्) देवताओं के उपकार के द्वारा (लोकः) लोक है (अथ) और (यत्) जो (अनुब्रूते) यह नित्य प्रति स्वाध्याय करता है (तेन) उस अध्ययनाध्यापन रूप कर्म से (ऋषीणाम्) ऋषियों के उपकार के द्वारा लोक है (अथ) और (यत्) जो (पितृभ्यः) मरे हुए पितरों के लिए (निमृणाति) निश्चय करके औध्वर्दैहिक पिण्डोदकादि प्रदान करता है और (यत्) जो (प्रजाम्) सन्तानोत्पत्ति की (इच्छते) इच्छा करता है (तेन) उस कर्म से (पितृणाम्) पितरों के उपकार के द्वारा लोक है (अथ) और (यत्) जो (मनुष्यान्) अतिथि मनुष्यों को (वासयते) स्थान और जल आदि देकर घर में ठहराता है तथा (एभ्यः) ठहरे हुए इन मनुष्यों के लिए (यत्) जो (अशनम्) भोजन प्रदान रूप कर्म से (मनुष्याणाम्) मनुष्यों के उपकार के द्वारा लोक है (अथ) और (पशुभ्यः) गौ आदि पशुओं के लिये (यत्) जो (तृणोदकम्) घास और जल (विन्दति) प्राप्त कराता है (तेन) उस कर्म से (पशूनाम्) पशुओं के उपकार के द्वारा लोक है और (अस्य) इस कर्म करने वाले गृहस्थ के (गृहेषु) घरों में (यत्) जो (आपिपीलिकाभ्यः) चींटी से लेकर (श्वापदाः) कुत्ता, मार्जार आदि और (वयांसि) काक आदि पक्षी पर्यन्त जन्तु (उपजीवन्ति) बलि तथा पात्रों के धोने से उपजीव होते हैं (तेन) उस कर्म से (तेषाम्) उन पिपीलिका, कुत्ता, काक आदिक जीवों के उपकार के द्वारा (लोकः) लोक है (वै) निश्चय करे (ह) यह प्रसिद्ध है कि (यथा) जैसे लोक में जन (स्वाय) अपने

(लोकाय) भोग स्थान के लिए (अरिष्टम्) अविनाश (इच्छेत्) चाहता है (एतम्) वैसे (ह) ही (एवंविदे) इस तरह आत्मा में सर्वभूतलोकत्व जानने वाले के लिये (सर्वाणि) सब (भूतानि) प्राणी (अरिष्टम्) क्षेम (इच्छन्ति) चाहते हैं (तत्) वह (वै) निश्चय करके (एतत्) यह परमात्मा का लोक (विदितम्) ज्ञात है केवल विदित ही नहीं है किन्तु (मीमांसितम्) बहुत प्रकार से इस पर विचार करके स्थिर किया गया है अर्थात् कैमुतिकन्यायतर्कानुगृहीत है ।।१६।।

विशेषार्थ– परब्रह्म नारायण के लोक को दिखाने के लिये यहाँ जीवात्मा के ही सब प्राणियों का लोक श्रुति प्रतिपादन करती हुई पञ्चमहायज्ञों का वर्णन करती है। अब निश्चय करके वाक्यान्तर प्रारम्भ हुआ है। मूल में "अथो" शब्द वाक्यान्तर के उपक्रम में प्रयुक्त हुआ है। और "वै" शब्द अवधारणार्थ है। यह प्रत्यक्ष सिद्ध मनुष्य देहधारी जीवात्मा देवताओं से लोकर चींटी पर्यन्त सम्पूर्ण प्राणियों का लोक है। १ प्रथम देवयज्ञ– वह मनुष्य शरीधारी प्राणी जो अग्नि में हवन करता है और जो प्रतिदिन याग करता है उस होम और याग रूप कर्म से जीवात्मा इन्द्रादिक देवताओं के उपकार के द्वारा लोक है। देवता के उद्देश्य से स्वत्व परित्याग करना याग है। २ द्वितीय ब्रह्मयज्ञ– और जो वह मनुष्य देहधारी जीवात्मा नित्य प्रति स्वाध्याय का पठन पाठन करती है उस अध्ययन अध्यापन रूप कर्म से जीवात्मा ऋषियों के उपकार के द्वारा लोक है। ३ तृतीय पितृयज्ञ– और जो वह मनुष्य शरीरधारी जीवात्मा मरे हुए पितरों के लिये निश्चय करके और्ध्वदैहिक पिण्डोदकादि प्रदान करती है और जो सन्तानोत्पत्ति की इच्छा करती है उस कर्म से जीवात्मा पितृगणों के उपकार के द्वारा लोक है। पितरों क विषय में लिखा है– **आयन्तु नः पितरः सोम्यासोऽग्निष्वात्ताः पथिभिर्देवयानैः। अस्मिन्यज्ञे स्वधया मदन्तोऽधिब्रु वन्तु तेऽवन्त्वस्मान् ॥** (यजु० अ० १९ मं० ५८) सोम के योग्य अग्नि द्वारा स्वादित हमारे पितर देवताओं के गमन योग्य मार्गों से आवें। इस यज्ञ में स्वधा के अन्न से प्रसन्न होते मानसिक उपदेश दें तथा वे हमारी रक्षा करें ।।५८।। **ये अग्निष्वात्ता ये अनग्निष्वात्ता मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते। तेभ्यः स्वराडसुनीतिमेता यथा वशन्तन्वङ्कल्पयाति ॥** (यजु० अ० १९ मं० ६०) जो पितर विधिपूर्वक अग्निदाह से और्ध्वदेहिक कर्म को प्राप्त हुए हैं जो पितर श्मशान कर्म को प्राप्त न हुए और द्युलोक के मध्य में स्वधा के अन्न से प्रसन्न रहते हैं राजा यम उन पितरों के निमित्त इच्छानुसार इस मनुष्य सम्बन्ध वाले प्राणयुक्त शरीर को देता है ।।६०।। **आच्या जानुदक्षिणतो निषद्येमं यज्ञमभिगगृणीत विश्वे। मा हिंषसिष्ठ पितरः केनचिन्नोयद्व आगः पुरुषता कराम ॥** (यजु० अ० १९ मं० ६२) हे पितरों तुम सब वाम जाँघ को सब प्रकार झुका कर दक्षिणाभिमुख

बैठ कर इस यज्ञ का अभिनन्दन करो। किसी अपराध होने से हम पर मत क्रोध करो कारण कि चलचित्त होने से तुम्हारा अपराध हम भूल से कर जाते हैं ॥६२॥ **आसिनासो अरुणीनामुपस्थे रयिन्धत्त दाशुषेमर्त्याय । पुत्रेभ्यः पितरस्तस्य वस्वः प्रयच्छत त इहोर्जन्दधात ॥६३॥** हे पितरों अरुणवर्ण उनके आसनों अथवा सूर्य की किरणों के ऊपर या गोद में बैठे हुए तुम हवि के दाता यजमान में धन को धारण करो उसके पुत्रों के लिये धन दो वे तुम इस यज्ञ में रस को स्थापन करो ॥६३॥ **ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धिताः । सर्वांस्तानग्न आवह पितृन्हविषे अत्तवे ॥** (अथर्ववे० कां० १८ अ० २ मं० ३४) जो गाड़े गये, जो जल में छोड़ दिये गये, जो जला दिये गये और जो स्वर्ग में चले गये हैं, अग्निदेव उन सबको हवि भोजन करने के लिये पितृ कर्म में बुलाओ ॥३४॥ **ये न पितुः पितरो ये पितामहा य आविविशुरुर्वन्तरिक्षम् । य आक्षियन्ति पृथ्वीमुत द्यां तेभ्यः पितृभ्यो नमसा विधेम ॥** (अथर्व कां० १८ अ० २ मं० ४९) जो हमारे पिता के पितर हैं, जो हमारे पितामह हैं, जो बड़े पितृलोक में प्रवेश कर गये हैं, जो पृथ्वी को और द्युलोक को व्याप्त कर रहे हैं उन पितरों के लिये नमस्कार विधान करते हैं ॥४९॥ **यो ममार प्रथमो मर्त्यानां यः प्रेयाय प्रथमो लोकमेतम् । वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा सपर्यत ॥** (अथर्व० कां० १८ अ० ३ मं० १) जो मनुष्यों में पहले मरा है, जो इस लोक को पहले ले जाता है उस सुख के लिये जनों के संगमन करने वाले सूर्य पुत्र यमराज को हविष्य से सत्कार किया जाता है ॥१॥ **ये च जीवा ये च मृता ये जाता ये च यज्ञियाः । तेभ्यो घृतस्य कुल्यै तु मधु धारा व्युन्दती ॥** (अथर्व० कां० १८ अ० ४ मं० ५७) और जो जीवित हैं तथा जो मर गये जो जन्मे हैं और जो यज्ञ के कराने वाले हैं उन सबके निमित्त घी की टपकती हुई मधुर धार की नदी प्राप्त हो ॥५७॥ **तृतीया ह प्रद्यौरिति यस्यां पितर आसते ॥** (अथर्व० कां० १८ अ० २ मं० ४८) सबसे ऊपर अन्तरिक्ष का तीसरा भाग सूर्यादि के प्रखर प्रकाश वाला होने से प्रद्यौ कहलाता है । यहाँ पितरों का लोक है जिसमें पितर रहते हैं ॥४८॥ **तिर इव हि पितरो मनुष्येभ्यः ॥** (शतप० २।३।४।२।१) पितर निश्चय करके मनुष्यों से अलग हैं ॥१॥ **अथैनं पितरः प्राचीनावीतिनः सव्यं जान्वाच्योपासीदंस्तानब्रवीन्मासि मासि वोऽशनं स्वधा वो मनोजवश्चन्द्रमा वो ज्योतिः ॥** (शतप० २।४।२।२) पितर अपसव्य हो बाँयी जाँघ झुका कर बैठे, प्रजापति ने कहा महीने महीने यज्ञ तुम्हारा अन्न मन के समान वेग और चन्द्रमा ज्योति होगा ॥२॥ **अपराह्णः पितृणां तस्मादपराह्णे ददाति ॥** (शतप० २।४।२।८) तीसरा पहर पितरों के भोजन का है इसलिये पितरों के लिए तीसरे पहर में देता है ॥८॥ **अपसव्येन हस्तेन निर्वपेदुदकं भुवि ॥** (मनु०

अ० ३ श्लोक २१४) दक्षिण हाथ से पृथ्वी पर पानी डाले ॥२१४॥ **प्राचीनावीतिना सम्यगपसव्यमतन्द्रिणा । पित्र्यमानिधनात्कार्यं विधिवद्दर्भपाणिना ॥** (मनु० अ० ३ श्लोक २७९) दहिने कंधे पर यज्ञोपवीत रख के आलस्य रहित होकर दर्भ हाथ में ले अपसव्य हो कर यथाशस्त्र मरण से लेकर सब कर्म पितृसम्बन्धी समाप्ति पर्यन्त करे ॥२७९॥ **पितृ णामर्यमा चास्मि ॥** (गी० अ० १० श्लोक २९) पितरों में अर्यमा नामक पितर मैं हूँ ॥२९॥ और पितृगण के विषय में लिखा है– **कव्यवाहोऽनलः सोमो यमश्चैवार्यमा तथा । अग्निष्वात्ता वर्हिषदस्त्रयश्चान्त्या ह्यमूर्तयः ॥** (शिव पु० धर्म० अ० ६३ श्लोक २) कव्यवाह १, अनल २, सोम ३, यम ४, अर्यमा ५, अग्निष्वात्त ६ और बर्हिषद् ७ ये सात पितृगण हैं इनके अन्त के तीन अमूर्ति है ॥२॥ मृतक श्राद्ध के विषय में जिसको अधिका जानने की इच्छा हो वह मेरे बनाये हुए "वैदिक श्राद्ध दर्पण" ग्रन्थ का अवलोकन करे। प्रकृत श्रुति में "प्रजा" शब्द सन्तान वाचक है। क्योंकि लिखा है–. **प्रजा स्यात्संततौ जने ॥** (अमर० कां० ३ व० ३ श्लो० ३२) सन्तान और जन समूह में प्रजा शब्द का प्रयोग होता है ॥३२॥ ४ चतुर्थ नृयज्ञ– और वह मनुष्य देहधारी जीव अपने गृह पर संप्राप्त अतिथि विद्वान् आये हुए मनुष्यों को ठहराता है और ठहरे हुए इन मनुष्यों के लिये जो भोजन देता है उस वास और भोजन प्रदान रूप कर्म से जीवात्मा सब मनुष्यों के उपकार के द्वारा लोक है। ५ पञ्चम भूतयज्ञ– और वह मनुष्य शरीरधारी जीवात्मा गौ आदि पशुओं के लिये जो तृण और जल प्राप्त कराता है उस कर्म से पशुओं के उपकार के द्वारा लोक है। और इस कर्म करने वाले यजमान के गृहों में जो चींटी से लेकर कुत्ता मार्जार आदिक और काक आदि पक्षी पर्यन्त जीव-जन्तु बलि तथा भाण्ड प्रक्षालन आदिक से उपजीविका प्राप्त करते हैं उस कर्म से जीवात्मा उन सब चींटी, कुत्ता, काक आदिक जीवों के उपकार के द्वारा लोक है। प्रकृत श्रुति में "वयांसि" पद का पक्षी अर्थ है। क्योंकि लिखा है– **खगवाल्यादिनोर्वयः ॥** (अमर० कां० ३ व० ३ श्लोक २३०) पक्षी में और बाल्य आदि अवस्था में वयस् शब्द का प्रयोग होता है ॥२३०॥ अब आगे इस प्रकार अपनी आत्मा के सर्वलोकभूतलोकत्व परिज्ञान का फल कहा जाता है। निश्चय करके यह प्रसिद्ध है कि– जिस प्रकार लोक में सब प्राणी अपने भोग स्थान का अविनाश चाहते हैं उसी प्रकार इस तरह आत्मा में सर्वभूत लोकत्व जानने वाले का सब जीव क्षेम चाहते हैं। अब परब्रह्मनारायण का लोकत्व उपसंहार किया जाता है। वह निश्चय करके यह परब्रह्म नारायण का लोक विदित है। केवल विदित ही नहीं है किन्तु बहुत प्रकार से इस पर विचार करके स्थिर किया गया है अर्थात् कैमुतिकन्यायतर्कानुगृहीत है। पञ्चमहायज्ञ के विषय में लिखा है– **अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः**

पितृयज्ञस्तु तर्पणम् । होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥ (मनु॰ अ॰ ३ श्लोक ७०) अध्ययन और अध्यापन ब्रह्मयज्ञ है १, और मृतक पितरों का तर्पण पितृयज्ञ २, अग्नि में होम करना देवयज्ञ है ३, तथा बलि प्रदान भूतयज्ञ है ४ और अतिथि पूजन मनुष्य यज्ञ है ५ ॥७०॥ **स्वाध्यायेनार्चयेतर्षीन्होमैर्देवान्यथाविधि । पितॄन्श्राद्धैश्चनॄनन्नैर्भूतानि बलिकर्मणा ॥** (मनु॰ अ॰ ३ श्लोक ८१) स्वाध्याय वेदाध्ययन से शास्त्रानुसार ऋषियों की पूजा करे और हवन से देवताओं की पूजा करे तथा श्राद्ध से यथाविधि पितरों की पूजा करे और अन्न से मनुष्यों की पूजा करे तथा बलि कर्म से शास्त्रानुसार सब जीव-जन्तुओं की पूजा करे ॥८१॥ इस प्रकार से प्रतिपादन किया गया है ॥१६॥

आत्मैवेदमग्र आसीदेक एव । सोऽकामयत जाया मे स्यादथ प्रजायेयाथ वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीयेति । एतावान्वै कामः । नेच्छँश्चनातो भूयो विन्देत् । तस्मादप्येतर्ह्येकाकी कामयते जाया मे स्यादथ प्रजायेयाथ वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीयेति । स यावदप्येतेषामेकैकं न प्राप्नोत्यकृत्स्न एव तावन्मन्यते । तस्यो कृत्स्नता । मन एवास्यात्मा । वाग्जाया । प्राणःप्रजा । चक्षुर्मानसं वित्तं चक्षुषा हि तद्विन्दते श्रोत्रं दैवं श्रोत्रेण हि तच्छृणोति । आत्मैवास्य कर्मात्मना हि कर्म करोति । स एष पाङ्क्तो यज्ञः । पाङ्क्तः पशुः । पाङ्क्तः पुरुषः । पाङ्क्तमिदं सर्वं यदिदं किञ्च । तदिदं सर्वमाप्नोति य एवं वेद ॥१७॥

॥ इति प्रथमाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

अन्वयार्थ– (अग्रे) स्त्री सम्बन्ध से पहले (इदम्) यह दृश्यमान् दारादिक (एकः) एक (एव) ही (आत्मा) पुरुष रूप (एव) निश्चय करके (आसीत्) था (सः) उस मनुष्यदेहधारी पुरुष ने (इति) इस प्रकारसे (अकामयत) इच्छा की (मे) मुझे (जाया) पत्नी-स्त्री (स्यात्) प्राप्त होवे (अथ) तदनन्तर (प्रजायेय) उस जाया में प्रजारूप से मैं उत्पन्न होऊँ और (अथ) तत्पश्चात् (मे) मुझे (वित्तम्) धन (स्यात्) प्राप्त होवे (अथ) धन होने के पश्चात् (कर्म) विविध यज्ञादि कर्म को (कुर्वीय) मैं करूँ (वै) निश्चय करके संसारी मनुष्यों के (एतावान्) जाया पुत्र वित्त कर्म इतनी

ही (कामः) कामना करने योग्य विषय है (इच्छन्) इच्छा करता हुआ (चन) भी पुरुष (अतः) इस सुत वित्त नारी और कर्म से (भूयः) अधिक पदार्थ (न) नहीं (विन्देत्) पा सकता है (तस्मात्) इस कारण से (एतर्हि) आजकल (अपि) भी (एकाकी) अकेला पुरुष (इति) इस प्रकार से (कामयते) कामना करता है कि (जाया) पत्नी (मे) मुझे (स्यात्) होवे (अथ) स्त्री प्राप्त होने के पश्चात् (प्रजायेय) उस स्त्री में सन्तान रूप से मैं उत्पन्न होऊँ और (अथ) पश्चात् (मे) मुझे (वित्तम्) धन (स्यात्) प्राप्त होवे (अथ) धन प्राप्त होने के बाद (कर्म) अनेक प्रकार के यज्ञादि कर्म को (कुर्वीय) मैं करूँ (सः) वह पुरुष (यावत्) जब तक (एतेषाम्) इन सुत वित्त नारी कर्म चारो के मध्य में (एकैकम्) एक एक को (अपि) भी (न) नहीं (प्राप्नोति) पा लेता है (तावत्) तब तक वह अपने को (अकृत्स्नः) अपूर्ण एकांशहीन (एव) ही (मन्यते) मानता है (उ) निश्चय करके (तस्य) उस वैराग्ययुक्त पुरुष की (कृत्स्नता) पूर्णता इस प्रकार हो सकती है (अस्य) इसका (मनः) मन (एव) ही (आत्मा) आत्मा के समान आत्मा है और (वाक्) वाणी (जाया) पत्नी है तथा (प्राणः) प्राण (प्रजा) सन्तान है और (चक्षुः) दर्शन क्रियावाला नेत्र ही (मानुषम्) पशु हिरण्य आदि मनुष्य सम्बन्धी (वित्तम्) धन है (हि) क्योंकि (चक्षुषा) नेत्र से (तत्) उस मानुष वित्त को (विन्दते) पाता है और (श्रोत्रम्) श्रवण क्रिया युक्त श्रोत्र ही (दैवम्) दैव धन है (हि) क्योंकि (श्रोत्रेण) श्रोत्र से ही पुरुष (तत्) उस दैव वित्त विज्ञान को (शृणोति) सुनता है (अस्य) इस उपासक पुरुष का (आत्मा) शरीर (एव) ही (कर्म) यज्ञादि कर्म है (हि) क्योंकि (आत्मना) शरीर से ही (कर्म) यज्ञादि कर्म को (करोति) पुरुष करता है (सः) वह (एषः) यह (यज्ञः) यज्ञ (पाङ्क्तः) आत्मा, जाया, पुत्र, वित्त और कर्म इन पाँच पदार्थों से करने योग्य है इससे पाङ्क्त है और (पशुः) गौ आदि पशु (पाङ्क्तः) पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश इन पाँच महाभूतों से बनाये गये हैं इससे पाङ्क्त हैं (पुरुषः) पुरुष (पाङ्क्तः) मन, वाणी, प्राण, नेत्र, श्रोत्र इन पाँच वस्तुओं से युक्त है इससे पाङ्क्त है (इदम्) यह स्थावर जङ्गम (यत्) जो (किं+च) कुछ भी संसार है वह (सर्वम्) सम्पूर्ण (इदम्) यह ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त जगत् (पाङ्क्तम्) पाँच भौतिक होने से पाङ्क्त है (यः) जो उपासक (एवम्) इस प्रकार मन, वाणी, प्राण, नेत्र श्रोत्र शरीर लक्षण समुदाय को आत्मा जाया पुत्र वित्त कर्म रूप से पाङ्क्त यज्ञत्व पशुत्वादि रूप करके (वेद) जानता है यानी उपासना करता है (तत्) वह उपासक (इदम्) इस (सर्वम्) सम्पूर्ण पाङ्क्तशब्दित वस्तु को (आप्नोति) प्राप्त कर लेता है ॥१७॥

विशेषार्थ— विवाह आदि विधि प्रचारके पहले यह दृश्यमान जगत् स्त्री पुत्र

वित्तादि विभाग शून्य होने से अकेला मनुष्य देहधारी पुरुष ही था । उस मनुष्य शरीरधारी पुरुष ने इच्छा की कि मुझे पत्नी प्राप्त हो । और फिर स्त्री प्राप्त होने पर सन्तान रूप से मैं स्वयं ही उत्पन्न होऊँ । और पुत्र होने पर मुझे धन प्रात हो । तथा धन होने के बाद मैं अनेक प्रकार के यज्ञादि कर्म करने में समर्थ होऊँ । जाया के विषय में लिखा है– **पतिर्भार्यां संप्रविश्य गर्भो भूत्वेह जायते । जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः ॥** (मनु० अ० ९ श्लोक ८) पति शुक्र रूप से भार्या में प्रवेश करके गर्भ होकर उसी भार्या में पुत्र रूप से यहाँ उत्पन्न होता है । निश्चय करके जाया का वही जायात्व है जो कि पति पुनः उसी भार्या में उत्पन्न होता है ॥८॥ **पतिर्जायां प्रविशति गर्भो भूत्वेह मातरम् । तस्यां पुनर्नवो भूत्वा दशमे मासि जायते ॥ तज्जाया जाया भवति यदस्यां जायते पुनः ॥** (बह्वृचब्राह्म०) पति पत्नी में वीर्य रूप से प्रवेश करता है और माँ के पेट में गर्भ होकर फिर उसी स्त्री में नूतन शिशु होकर दसवें मास में उत्पन्न होता है जो कि पति फिर से उसी भार्या में उत्पन्न स्वयं होता है इसी कारण से वह जाया जाया होती है ॥ और पुत्र के विषय में लिखा है– **आत्मा वै पुत्रनामासि ॥** (श्रुति) आत्मा ही पुत्र नाम वाली होती है ॥ तथा कर्म के विषय में लिखा है– **भूतभावोद्भवकरोविसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥** (गी० अ० ८ श्लोक ३) जो मनुष्यादि रूप सम्पादक विसर्ग है उसका नाम कर्म है ॥३॥ **नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् । अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥** (गी० अ० १८ श्लोक २३) जो शास्त्र नियत कर्म कर्तापन के सम्बन्ध से रहित बिना राग द्वेष के और फल न चाहने वाले पुरुष के द्वारा किया जाता है वह सात्त्विक कहलाता है ॥२३॥ **यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः । क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥२४॥** परन्तु जो कर्म फलाकाँक्षी पुरुष के द्वारा अहङ्कार के साथ और बहुत प्रयास से किया जाता है वह राजस कहलाता है ॥२४॥ **अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् । मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥२५॥** अनुबन्ध, क्षय, हिंसा और पौरुष को न देख कर जो कर्म मोह से आरम्भ किया जाता है वह तामस कहलाता है ॥२५॥ **परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसानिष्टचिन्तनम् । वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्म मानसम् ॥** (मनु० अ० १२ श्लोक ५) पराये धन को अन्याय से ले लें इस भाँति सोचना और मन से ब्रह्म बध आदिक निषिद्ध का चिन्तन करना और लोक नहीं है देह ही आत्मा है इस प्रकार का अशुभ फल देने वाला मानस कर्म तीन प्रकार का होता है और इससे विपरीत शुभ फल देने वाला भी तीन प्रकार का होता है ॥५॥ **पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यं चापि सर्वशः । असम्बद्धप्रलापश्च वाङ्मयंस्याच्चतुर्विधम् ॥** (मनु० अ० १२ श्लोक ६) अप्रिय कहना, झूठ बोलना, पीछे पराये

दूषणों को कहना, और असम्बद्ध भाषण करना ये चार प्रकार के अशुभ फल देने वाले वाचिक कर्म होते हैं तथा इससे विपरीत शुभ फल देने वाले भी चार प्रकार के होते हैं ।।६।। **अदत्तानामुपादानं हिंसा चैव विधानतः । परदारोपसेवा च शारीरं त्रिविधं स्मृतम् ॥** (मनु० अ० १२ श्लोक ७) नहीं दिए हुए को हरण कर लेना और वेदादि निषिद्ध हिंसा को करना तथा परायी स्त्री के साथ सम्भोग करना ये तीन प्रकार के अशुभ फल देनेवाले शारीर कर्म होते हैं और इससे विपरीत शुभ फल देने वाले भी चार प्रकार के होते हैं ।।७।। **प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम् ॥** (मनु० अ० १२ श्लोक ८८) **इह चामुत्र वा काम्यं प्रवृत्तं कर्म कीर्त्यते । निष्कामं ज्ञानपूर्वं तु निवृत्तमुपदिश्यते ॥८९॥** प्रवृत्त और निवृत्त दो प्रकार का वैदिक कर्म जानना चाहिये ।।८८।। इस लोक में या परलोक में जो कामना से कर्म किया जाता है उसको प्रवृत्त कर्म कहते हैं और जो फल की कामना रहित ज्ञान पूर्वक किया जाता है उसको निवृत्त कर्म कहते हैं ।।८९।। निश्चय करके संसारी मनुष्यों के स्त्री पुत्र धन और कर्म इतना ही कामना करे योग्य विषय हैं । इतना ही क्यों ? अभिलाषा तो अनन्त है इस पर साक्षात् श्रुति कहती है कि– अन्य काम्यान्तर की चिन्ता करता हुआ भी मनुष्य इस सुत वित्त नारी और कर्म से अधिक पदार्थ कुछ भी नहीं प्राप्त कर सकता है । इस हेतु वे ही कामनायें प्रधान हैं । इस कारण से आजकल भी जो अकेला रहता है वह कामना करता है कि मुझे पत्नी प्राप्त हो और जाया प्राप्त होने पर मैं पुत्र को उत्पन्न करने में समर्थ होऊं तथा पुत्र प्राप्त होने पर मुझे धन प्राप्त हो और धन प्राप्त होने के बाद मैं विविध यज्ञादि कर्म कर सकूँ । इस प्रकार से कामना करके स्त्री आदि का सम्पादन करने वाला वह पुरुष जब तक स्त्री, पुत्र, धन और कर्म इन चारों में से एक को भी प्राप्त नहीं कर लेता है तब तक वह अपने को "मैं एकांशहीन असम्पूर्ण हूँ" ऐसा मानता है । जब वह स्त्री आदि का सम्पादन कर लेता है तभी उसकी पूर्णता होती है । अब आगे यह बतलाया जाता है कि जिसको जाया और पुत्रादिक वैराग्य से अथवा किसी कारण से नहीं प्राप्त हो सकता है तो उसके लिये पूर्णता किस प्रकार से प्राप्त होगी । निश्चय करके उस स्त्री आदिक रहित पुरुष की पूर्णता इस निम्नलिखित प्रकारसे हो सकती है । इस पुरुष का मन ही आत्मा के समान आत्मा है क्योंकि दोनों की प्रधानता समान है । और वाणी ही स्त्री है क्योंकि जैसे पति के अनुकूल स्त्री रहती है वैसे ही वाणी भी पुरुष के अधीन रहती है । तथा प्राण ही पुत्र है क्योंकि जैसे जाया और पति के संयोग से पुत्र होता है वैसे ही वाणी और मन के संयोग से ही प्राण की उत्पत्ति होती है । अब वित्त दैव और मानुष भेद से दो प्रकार का होता है उनमें पहले मानुष वित्त बतलाया जाता है । दर्शन क्रिया

वाला नेत्र ही गौ हिरण्य आदिक मनुष्य सम्बन्धी धन है क्योंकि नेत्र से ही पुरुष वित्त को यानी गौ हिरण्य आदिक को देखता है। और श्रवण क्रिया युक्त श्रोत्र ही दैव धन है क्योंकि श्रोत्र से ही पुरुष उस दैव शब्दित अदृष्ट प्रतिपादक श्रुति स्मृति विज्ञान को सुनता है। इस उपासक पुरुष का शरीर ही यज्ञादि कर्म है क्योंकि शरीर से ही पुरुष यज्ञादि कर्म को करता है। "आत्मा" शब्द से यहाँ शरीर का कथन होता है क्योंकि लिखा है– **आत्मा यत्नो धृतिर्बुद्धिः स्वभावो ब्रह्म वर्ष्म च ॥** (अमर० कां० ३ व० ३ श्लोक १०९) आत्मन् शब्द उपाय १, धीरता २, बुद्धि ३, स्वभाव ४, परब्रह्म ५ तथा शरीर ६ का वाचक है ॥१०९॥ सो यह यज्ञ पाङ्क्त है यानी आत्मा १, जाया २, पुत्र ३, वित्त ४ और कर्म ५ इन पाँच पदार्थों से करने योग्य है। और गौ आदि पशु पाङ्क्त है यानी पृथ्वी १, जल २, तेज ३, वायु ४ और आकाश ५ इन पाँच महाभूतों से पशु बनाये गये हैं। और पुरुष पाङ्क्त है यानी मन १, वाणी २, प्राण ३, नेत्र ४ और श्रोत्र ५ इन पाँच वस्तुओं से युक्त है। यह स्थावर जङ्गम जो कुछ भी जगत् है वह समस्त यह ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त जगत् पञ्च भौतिक होने से पाङ्क्त है। अर्थात् यह जो कुछ भी है सभी पाङ्क्त है। इससे सबमें पाङ्क्तत्व, यज्ञत्व, पुरुषत्व, पशुत्व आदिक दृष्टि करनी चाहिये। अब आगे इस उपासना का फल कहा जाता है कि– जो कोई उपासक इस प्रकार मन १, वाणी २, प्राण ३, नेत्र ४, श्रोत्र ५ शरीर लक्षण समुदाय को आत्मा १, जाया २, पुत्र ३, वित्त ४, कर्म ५ रूप से पाङ्क्तत्व, यज्ञत्व, पशुत्वादि रूप करके जानता है यानी उपासना करता है वह उपासक इस पाङ्क्त शब्दित वस्तु को प्राप्त कर लेता है। यहाँ पर "बृहदारण्यकोपनिषद्" के प्रथम अध्याय का चतुर्थ सृष्ट्यादि सर्वात्मा ब्राह्मण समाप्त हो गया ॥१७॥

॥ अथ पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥

यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाऽजनयैत्पिता । एकमस्यसाधारणं द्वे देवानभाजयत् । त्रीण्यात्मनेऽकुरुत पशुभ्य एकं प्रायच्छत् । तस्मिन्सर्वं प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति यच्च न । कस्मात्तानि न क्षीयन्तेऽद्य मानानि सर्वदा । योवैतामक्षितिं वेद सोऽन्नमत्ति प्रतीकेन । स देवानपि गच्छति स ऊर्जमुपजीवतीति श्लोकाः ॥१॥

अन्वयार्थ– (पिता) पिता ने (मेधया) मेधा से और (तपसा) तप से (यत्) जो (सप्त) सात (अन्नानि) अन्न (अजनयत्) उत्पन्न किया (अस्य) इस पिता के

(एकम्) एक अन्न (साधारणम्) साधारण है और (देवान्) देवों को (द्वे) दो अन्न (अभाजयत्) बांट दिये और (त्रीणि) तीन अन्न (आत्मने) अपने लिये (अकुरुत) स्वयं किये तथा (एकम्) एक अन्न (पशुभ्यः) पशुओं को (प्रायच्छत्) दिया (तस्मिन्) उसमें (सर्वम्) सब ही (प्रतिष्ठितम्) प्रतिष्ठित है (यत्) जो (प्राणिति) साँस लेता है (च) और (यत्) जो (न) नहीं (च) भी साँस लोता है (सर्वदा) सर्वदा (अद्यमानानि) खाये जाने पर भी (तानि) वे अन्न (कस्मात्) किस कारण से (न) नहीं (क्षीयन्ते) क्षीण होते हैं (यः) जो अज्ञानी पुरुष (वै) निश्चय करके (ताम्) उस अन्न के (अक्षितिम्) अक्षय भाव को (वेद) जानता है (सः) वह उपासक (प्रतीकेन) मुख रूप प्रतीक से (अन्नम्) अन्न को (अत्ति) भक्षण करता है (सः) वह उपासक (देवान्) देवताओं को (अपि) भी (गच्छति) प्राप्त कर लेता है और (सः) वह उपासक (ऊर्जम्) अमृत रस का (उपजीवति) उपभोग करता है इस विषय में (इति) ये (श्लोकाः) श्लोक रूप मन्त्र हैं ॥१॥

विशेषार्थ– परब्रह्म नारायण पिता ने मेधा से और तप से जो सात अन्न उत्पन्न किये। इस श्रुति में "पिता" शब्द परब्रह्म नारायण का वाचक है। क्योंकि लिखा है– **पितासि लोकस्य चराचरस्य ॥** (गीता अ० ११ श्लोक ४३) आप इस चराचर लोक के पिता हैं ॥४३॥ उन सात अन्नों में से इस परम पिता परब्रह्म नारायण का एक अन्न साधारण है और दो अन्न को परम पिता ने देवताओं को बाँट दिया। तथा तीन अन्न स्वयं अपने ही लिये रखा। और एक अन्न पशुओं को पिता ने दिया। उसमें जो प्राणन क्रिया करते हैं अथवा जो नहीं करते हैं वे सभी प्रतिष्ठित हैं। ये अन्न सर्वदा खाये जाने पर भी क्षीण क्यों नहीं होते। जो ज्ञानी पुरुष इस अन्न के अक्षयपन को जानता है वह उपासक मुख रूपप्रतीक के द्वारा अन्न खाता है। और वह उपासक देवताओं को भी प्राप्त कर लेता है। तथा वह उपासक अमृत रस का उपभोग करता है। इस विषय में ये श्लोक रूप मन्त्र हैं। परम करुणामयी श्रुति इस कण्डिका के अर्थ को स्वयं आगे बतलायी है, इससे यहाँ पर विशेष व्याख्या नहीं लिखता हूँ ॥१॥

यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाऽजनयत्पितेति मेधया हि तपसाऽजनयत्पिता। एकमस्य साधारणमिति। इदमेवास्य तत्साधारणमन्नं यदिदमद्यते। स य एतदुपास्ते न स पाप्मनो व्यावर्तते मिश्रं ह्येतत्। द्वे देवानभाजयदिति। हुतं च प्रहुतं च तस्माद्देवेभ्यो जुह्वति च प्रजुह्वति। अथो आहुर्दर्शपूर्णमासाविति। तस्मान्नेष्टियाजकः स्यात्। पशुभ्य एकं

प्रायच्छदिति तत्पयः । पयोह्येवाग्रे मनुष्याः पशवश्चोपजीवन्ति तस्मात्कुमारं जातं घृतं वैवाग्रे प्रलिलेहयन्ति स्तनं वा नु धापयन्त्यथ वत्सं जातमाहुरतृणाद इति । तस्मिन्सर्वं प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति यच्च नेति । पयसि हीदं सर्वं प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति यच्च न । तद्यदिदमाहुः संवत्सरं पयसा जुह्वदपपुनर्मृत्युं जयतीति न तथा विद्यात् । यदहरेव जुहोति तदहः पुनर्मृत्युमपजयति । य एवं विद्वान्सर्वं हि देवेभ्यो-ऽन्नाद्यं प्रयच्छति । कस्मात्तानि न क्षीयन्तेऽद्यमानानि सर्व-देति । पुरुषो वा अक्षितिः स हीदमन्नं पुनः पुनर्जनयते । यो वै तामक्षितिं वेदेति । पुरुषो वा अक्षितिः सहीदमन्नं धिया धिया जनयते कर्मभिर्यद्धैतन्न कुर्यात्क्षीयेत ह । सोऽन्नमत्ति प्रतीकेनेति मुखं प्रतीकं मुखेनेत्येतत् । स देवानपि गच्छति स ऊर्जमुपजीवतीति प्रशंसा ॥२॥

अन्वयार्थ– (पिता) पिता ने (मेधया) मेधा से और (तपसा) तप से (यत्) जो (सप्त) सात (अन्नानि) अन्न (अजनयत्) उत्पन्न किया (इति) इस प्रथम मन्त्र का यह अर्थ है कि (हि) निश्चय करके (पिता) पिता परमात्मा (मेधया) ज्ञान रूप (तपसा) तप से (अजनयत्) अन्न उत्पन्न किया और (अस्य) इस पिता के (एकम्) एक अन्न (साधारणम्) साधारण है (इति) इस प्रथम मन्त्र के प्रतीक का यह अर्थ है कि (यत्) जो (इदम्) यह अन्न (एव) निश्चय करके (अस्य) इसके (साधारणम्) देवता पितृ आदिक के साधारण (अन्नम्) अन्न है (सः) सो (यः) जो कोई (एतत्) इस साधारण अन्न को देवता पितरों के समर्पण किये बिना ही (उपास्ते) खाता है (सः) वह पुरुष (पाप्मनः) पाप से (न) नहीं (व्यावर्तते) विमुक्त होता है (हि) क्योंकि (एतत्) यह अन्न (मिश्रम्) देवादि भोग मिश्रित यानी साझ है और (द्वे) दो अन्न (देवान्) देवताओं को (अभाजयत्) बाँट दिया (इति) इस प्रथम मन्त्र के प्रतीक का यह अर्थ है कि (हुतम्) औपासन (च) और (प्रहुतम्) अग्निहोत्रादिक (च) भी (तस्मात्) इसी कारण से (देवेभ्यः) देवताओं के उद्देश्य से ज्ञानी पुरुष (जुह्वति) उपासना करते हैं (च) और (प्रजुह्वति) अग्निहोत्रादिक कर्म करते हैं (अथो) अथवा कोई आचार्य (इति) ऐसा (आहुः) कहते हैं कि देवों के अन्न (दर्शपूर्णमासौ) दर्श

और पूर्णमास है (तस्मात्) इस कारण से (इष्टियाजकः) काम्य इष्टियों के यजनशील (न) नहीं (स्यात्) होवे और (पशुभ्यः) पशुओं के लिये (एकम्) एक अन्न को (प्रायच्छत्) परमात्मा ने दिया (इति) इस प्रथम मन्त्र के प्रतीक का यह अर्थ है कि (तत्) वह एक अन्न (पयः) दूध है (हि) क्योंकि (अग्रे) पहले (पयः) दूध को (एव) ही (मनुष्याः) मनुष्य (च) और (पशवः) पशुगण (उपजीवन्ति) ग्रहण करते हैं (तस्मात्) इस कारण से (जातम्) नवजात (कुमारम्) कुमार को (अग्रे) पहले जात कर्म संस्कार में (एव) निश्चय करके (घृतम्) घृत (प्रलिलेहयन्ति) चटाते हैं (वा) अथवा (नु) निश्चय (स्तनम्) स्तन (धापयन्ति) पिलाते हैं (अथ) और पशुओं में (जातम्) उत्पन्न (वत्सम्) बछड़े को (अतृणादः) घास नहीं खाने वाला यानी केवल दूध पीकर रहता है (इति) ऐसा (आहुः) गोपाल सब कहते हैं (च) और (तस्मिन्) उस दूध रूप अन्न में (सर्वम्) सब ही (प्रतिष्ठितम्) प्रतिष्ठित है (यत्) जो (प्राणिति) साँस लेता है (च) और (यत्) जो साँस (न) नहीं लेता है (इति) इस प्रथम मन्त्र के प्रतीक का यह अर्थ है कि (यत्) जो मनुष्य पश्वादिक (प्राणिति) साँस लोता है (च) और (यत्) जो वृक्षादिक (न) नहीं (च) भी सांस लेता है (इदम्) यह (सर्वम्) सब स्थावर जङ्गम (हि) निश्चय करके (पयसि) दूध में (प्रतिष्ठितम्) प्रतिष्ठित है (पुनः) फिर (तत्) सो (यत्) जो (इदम्) यह (आहुः) कोई आचार्य कहते हैं कि (संवत्सरम्) एक साल तक (पयसा) दूध से (जुह्वत्) हवन करने वाला पुरुष (अपमृत्युम्) अपमृत्यु को (जयति) जीत लेता है (इति) यह कथन (तथा) ऐसा (न) नहीं (विद्यात्) समझना चाहिये क्योंकि वह उपासक (यत्) जिस (अहः) दिन (एव) निश्चय करके (जुहोति) हवन करता है (तत्) उसी (अहः) दिन (पुनः) पुनः (अपमृत्युम्) अपमृत्यु को (जयति) जीत लेता है (यः) जो उपासक (एतम्) इस प्रकार (विद्वान्) जाननेवाला (देवेभ्यः) देवताओं के लिये (हि) निश्चय करके (सर्वम्) सम्पूर्ण (अन्नाद्यम्) भोज्य अन्न, दूध, घृत आदिक (प्रयच्छति) देता है (सर्वदा) सर्वदा (अद्यमानानि) खाये जाने पर भी (तानि) वे अन्न (कस्मात्) किस कारण से (न) नहीं (क्षीयन्ते) क्षीण होते हैं (इति) इस प्रथम मंत्र के प्रतीक का यह अर्थ है कि (वै) निश्चय करके (पुरुषः) पुरुष (अक्षितिः) अविनाशी है (सः) वही (हि) निश्चय करके (पुनः+पुनः) बारंबार (इदम्) इस (अन्नम्) अन्न को (जनयते) उत्पन्न कर देता है इससे अन्न का क्षय नहीं होता है (यः) जो ज्ञानी पुरुष (वै) निश्चय करके (ताम्) उस अन्न के (अक्षितिम्) अक्षयभाव को (वेद) जानता है (इति) इस प्रथम मन्त्र के प्रतीक का यह अर्थ है कि (वै) निश्चय करके (अक्षितिः) अविनाशी (पुरुषः) पुरुष है (सः) वही (हि) निश्चय करके (इदम्) इस (अन्नम्) अन्न को (धिया) सङ्कल्प से या (धिया) बुद्धि से और (कर्मभिः) प्राणियों के कर्मों से (जनयते) उत्पन्न

करता है (यत्) यदि (ह) प्रसिद्ध वह पुरुष (एतत्) इस अन्न को (न) नहीं (कुर्यात्) उत्पन्न करे तो (ह) प्रसिद्ध अन्न (क्षीयेत) क्षीण हो जाता (सः) वह उपासक (प्रतीकेन) प्रतीक से (अन्नम्) अन्न को (अत्ति) खाता है (इति) इस प्रथम मन्त्र के प्रतीक का यह अर्थ है कि (प्रतीकम्) प्रतीक (मुखम्) मुख को कहते हैं (मुखेन) मुख से ही (एतत्) इस अन्न को खाता है (इति) यह कहा गया है और प्रथम मन्त्र में (सः) वह उपासक (देवान्) देवताओं को (अपि) भी (गच्छति) प्राप्त कर लेता है तथा (सः) वह उपासक (ऊर्जम्) अन्न को (उपजीवति) भोगता है (इति) यह फल श्रुति (प्रशंसा) प्रशंसा है ॥२॥

विशेषार्थ– प्रथम मन्त्र में कहा गया कि "परब्रह्म नारायण पिता ने मेधा या तप से जो सात अन्न उत्पन्न किये" इसका यह भाव है कि– परमपिता परमात्मा ने मेधा यानी ज्ञानरूप तप से ही सात अन्न उत्पन्न किया । क्योंकि लिखा है– **तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते ॥** (मुण्डको॰ मुं॰ १ खं॰ १ श्रु॰ ९) **यस्य ज्ञानमयं तपः। तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते ॥१०॥** परब्रह्म परमात्मा ज्ञानमय तप से उपचय को प्राप्त होता है अर्थात् सृष्टि के उन्मुख होता है। उसके बाद उस परब्रह्म नारायण से अन्न यानी भोग्य भोक्तृरूप चेतनाचेतन संघात लक्षण अव्याकृत ब्रह्म साक्षात् उत्पन्न होता है ॥९॥ जिस परमात्मा का ज्ञानमय तप है उस सृष्टि के उन्मुख परब्रह्म नारायण से यह भोग्य भोक्तृरूप चेनताचेतन संघात लक्षण अव्याकृत ब्रह्म साक्षात् उत्पन्न होता है और तद् द्वारा हरि नारायणादि नाम तथा श्याम गौर इत्यादि रूप उत्पन्न होता है और नाम रूप के समान अन्न यानी भोग्य भोक्तृरूप उत्पन्न होता है ॥१०॥ **अद्यते अत्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यते ॥** (तै॰ उ॰ व॰ २ अनु॰ २ श्रु॰ १) प्राणियों करके जो खाया जाता है और प्राणियों को जो खाता है जिससे वह अन्न कहा जाता है ॥१॥ मेधा के विषय में लिखा है– **धीर्धारणावती मेधा ॥** (अमर॰ कां॰ १ व॰ ५ श्लोक २) कही हुई वार्त्ता को धारण करने वाली बुद्धि का नाम मेधा है ॥२॥ और प्रथम मन्त्र में जो यह कहा गया है कि "इस परमपिता नारायण का एक अन्न साधारण है" इसका यह भाव है कि– जो यह व्रीहि यवादि अन्न सब प्राणियों के द्वारा खाया जाता है वही यह अन्न निश्चय करके इस पुरुष का देवता आदिक का साधारण एक अन्न है । सो जो कोई मनुष्य इस साधारण यानी देवता पितरों के साझ अन्न को देवता पितरों के समर्पण किये बिना ही भोजन करता है वह पुरुष पाप से निवृत्त नहीं होता है क्योंकि यह अन्न देवादि भोग मिश्रित साधारण है यानी सब देवताओं के साझ है । क्योंकि यह लिखा है– **इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः । तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेनएव सः ॥** (गी॰ अ॰ ३ श्लोक १२) **यज्ञशिष्टाशिनः**

सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः । भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥१३॥ यज्ञ के द्वारा आराधित देवता तुम्हें अवश्य ही इच्छित भोग देंगे उनके दिये हुए भोगों को जो पुरुष उन्हें बिना समर्पण किये भोगता है वह निश्चय ही चोर है ॥१२॥ यज्ञ से बचे हुए पदार्थों को खाने वाले सत्पुरुष सब पापों से छूट जाते हैं परन्तु जो केवल अपने लिये ही पकाते हैं वे पापी तो पाप ही खाते हैं ॥१३॥ **केवलाघो भवति केवलादी ॥** (श्रुति) अकेला खाने वाला केवल पाप वाला होता है । इस कारण से देवता और पितरों के लिए निवेदन किया हुआ अन्न को ही भोजन करना चाहिये । तथा प्रथम मन्त्र में यह कहा गया है कि "परमपिता नारायण ने दो अन्न देवताओं को बांट दिया" इसका यह भाव है कि– हुत यानी औपासन तथा प्रहुत यानी अग्निहोत्रादिक ये दोनों अन्न देवताओं के लिये रच कर परमात्मा ने दे दिया है इसी कारण से महात्मा लोग देवताओं के उद्देश्य से उपासना करते हैं और अग्निहोत्रादिक कर्म करते हैं । अथवा "हुत""प्रहुत" के विषय में लिखा है– **चत्वारः पाकयज्ञा हुतोऽहुतः प्रहुतः प्राशित इति ॥** (पारस्कर० कां० १ कं० ४ सू० १) पाकयज्ञ चार प्रकार के होते हैं, होम १, वेद पाठ २, वैश्वदेव बलि ३ और पितरों का तर्पण ४ ये चार प्रकार हैं ॥१॥ **अहुतं च हुतं चैव तथा प्रहुतमेव च । ब्राह्म्यं हुतं प्राशितं च पञ्चयज्ञान्प्रचक्षते ॥** (मनु० अ० ३ श्लोक ७३) **जपोऽहुतो हुतो होमः प्रहुतो भौतिको बलिः । ब्राह्म्यं हुतं द्विजाग्र्यार्चा प्राशितं पितृतर्पणम् ॥७४॥** अहुत १, हुत २, प्रहुत ३, ब्राह्म्यहुत ४ और प्राशित ५ इनको पञ्चमहायज्ञ कहते हैं ॥७३॥ अहुत जप यानी ब्रह्मयज्ञ है १, हुत होम यानी देवयज्ञ है २, प्रहुत भूतबलि यानी भूतयज्ञ है ३, ब्राह्म्यहुत श्रेष्ठ ब्राह्मण की पूजा यानी मनुष्ययज्ञ ४ और प्राशित नित्य श्राद्ध पितृयज्ञ है ५ ॥७४॥ इससे सिद्ध हो गया कि– देवयज्ञ का नाम हुत है और भूतयज्ञ का नाम प्रहुत है । और कोई आचार्य कहते हैं कि– देवताओं के "हुत" "प्रहुत" ये दो अन्न नही हैं हैं किन्तु दर्श और पूर्णमास है । इस कारण से किसी कामना की इच्छा से यज्ञ न करे । और प्रथम मन्त्र में यह कहा गया है कि– "परब्रह्म नारायण ने पशुओं को एक अन्न दिया" इसका यह भाव है कि वह एक अन्न दूध है । यहाँ पर पशु शब्द से दो पैर वाले मनुष्य भी कहे जाते हैं । क्योंकि लिखा है– **सप्त ग्राम्याः पशवः ॥** (श्रुति) सात ठो ग्राम में रहने वाले पशु हैं ॥ **गौरजः पुरुषो मेषश्चाश्वाश्वतरगर्दभाः । एतान्ग्राम्यान्पशूनाहुः ॥** (विष्णु पु० अंश० १ अ० ५ श्लोक ५१) गौ १, बकरा २, मनुष्य ३, भेड़ा ४, घोड़ा ५, खच्चर ६ और गदहा ७ इन सात को ग्राम्य पशु महर्षि सब कहते हैं ॥५१॥ क्योंकि मनुष्य और पशु पहले यानी आरम्भ में दूध के आश्रय से ही जीवन धारण करते हैं । इस कारण से नवजात कुमार को पहले जात कर्म

संस्कार में निश्चय करके घृत चटाते हैं। क्योंकि लिखा है– **जातस्य कुमारस्याच्छिन्नायां नाड्यां मेधाजननायुष्ये करोति ॥** (पारस्क० कां० १ कं० १६ सू० ३) बालक के उत्पन्न हो जाने पर नाल बिना काटे मेधाजनन यानी घृत चटाना और आयुष्य कर्मों को करें ॥३॥ **अनामिकयासुवर्णान्तर्हितया मधुघृते प्राशयति घृतं वा भूस्त्वयि दधामि भुवस्त्वयि दधामि स्वस्त्वयि दधामि भूर्भुवः स्वः सर्वं त्वयि दधामि ॥** (पारस्क० कां० १ कं० १६ सू० ४) पिता दहिने हाथ की सोना से ढकी हुई अनामिका अंगुली से मधु और घृत अथवा केवल घृत को "ओं भूस्त्वयि दधामि" ऐसा कह कर द्वितीय बार चटावे और "ओं भुवस्त्वयि दधामि" ऐसा कहकर प्रथम बार चटावे तथा "ओं स्वस्त्वयि दधामि" ऐसाकर तृतीय बार चटावे और "ओं भुर्भुवः स्वः सर्वं त्वयि दधामि" ऐसा कह कर चतुर्थ बार चटावे इस कर्म को मेधाजनन कहते हैं ॥४॥ **प्राङ्नाभिवर्धनात्पुंसो जातकर्म विधीयते । मंत्रवत्प्राशनं चास्य हिरण्यमधुसर्पिषम् ॥** (मनु० अ० २ श्लोक २९) नाल काटने से पहले नवजात बालक का जातकर्मसंस्कार किया जाता है तब इस बालक को अपने गृह्योक्त मन्त्र से सोना तथा मधु और घृत चटावे ॥२९॥ अथवा उत्पन्न हुए बालक को एवं पशुओं के बछड़ो को पहले स्तन ही पिलाते हैं । और जब बछड़ा उत्पन्न होता है तो उसके विषय में यह पूछे जाने पर कि बछड़ा कितना बड़ा है, यही गोपाल कहते हैं कि– "अभी घास खाने वाला नहीं हुआ" तात्पर्य यह है कि अभी तक घास नहीं खाता बहुत ही छोटा है केवल दूध पीकर ही रहता है । इस प्रकार के दूध रूप अन्न में सबही प्रतिष्ठत हैं । जो साँस लेता है और जो साँस नहीं लेता है । यह जो प्रथम मन्त्र में कहा गया है, इसका भाव यह है कि– जो मनुष्य पश्वादिक प्राणी साँस लेता है और जो वृक्षादिक नहीं साँस लेता है यह सब स्थावर जङ्गम प्राणी निश्चय करके दूध में ही प्रतिष्ठित हैं । "पयस्" शब्द के विषय में लिखा है– **पयः क्षीरं पयोऽम्बु च ॥** (अमर० कां० ३ व० ३ श्लोक २३३) पयस् शब्द दूध और जल का वाचक है ॥२३३॥ अब आगे दूध से हवन करने की प्रशंसा की जाती है । इस विषय में कोई आचार्य जो यह कहते हैं कि एक वर्ष पर्यन्त दूध से हवन करने वाला उपासक अपमृत्यु को जीत लेता है । जो इस प्रकार जानने वाला उपासक देवताओं के लिये निश्चय करके समस्त भोज्य अन्न, दूध, घृत आदिक देता है वह उपासक उस दान से जो फल प्राप्त होता है उस अपूर्व फल को प्राप्त कर लेता है । और प्रथम मन्त्र में जो यह कहा गया है कि– "किस कारण से अन्न सर्वदा खाये जाने पर भी नहीं क्षीण होते हैं" इसका भाव यह है कि निश्चय करके भोक्ता पुरुष अविनाशी है। वही पुनः पुनः इस अन्न को उत्पन्न करता रहता है । इस कारण से अद्यमान होने पर भी अन्न का क्षय नहीं होता है । तथा प्रथम मन्त्र में जो

यह कहा गया है कि– "जो पुरुष इस अन्न के अक्षय भाव को जानता है" इसका भाव यह है कि– भोक्ता पुरुष ही अविनाशी है क्योंकि वही इस अन्न को सङ्कल्प से या बुद्धि से और प्राणियों के कर्मों से उत्पन्न करता रहता है। यदि वह पुरुष प्रतिदिन इस अन्न को उत्पन्न न करे तब यह अन्न अवश्य ही क्षीण हो जाय। और प्रथम मन्त्र में जो यह कहा गया है कि– "वह उपासक प्रतीक से अन्न खाता है" इसका भाव यह है कि– प्रतीक मुख को कहते हैं। तो मुख से ही इस अन्न को खाता है। तथा प्रथम मन्त्र में जो यह कहा गया है कि– "वह उपासक देवताओं को भी प्राप्त कर लेता है और वह उपासक अन्न को भोगता है" यह उसकी फलश्रुति प्रशंसा है। इसका कोई दूसरा अपूर्व अर्थ नहीं है ॥२॥

त्रीण्यात्मनेऽकुरुतेति। मनो वाचं प्राणं तान्यात्मनेऽकुरुत। अन्यत्रमना अभूवं नादर्शमन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषमिति। मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति। कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव। तस्मादपि पृष्ठत उपस्पृष्टो मनसा विजानाति। यः कश्चन शब्दो वागेव। सैषा ह्यन्तमायत्ता। एषा हि न। प्राणोऽपानो व्यान उदानः समानोऽन इत्येतत्सर्वं प्राण एव। एतन्मयो वा अयमात्मा। वाङ्मयो मनोमयः प्राणमयः ॥३॥

अन्वयार्थ– (आत्मने) आत्मा के लिये (त्रीणि) तीन अन्न को (अकुरुत) परमात्मा ने उत्पन्न किया (इति) इस प्रथम मंत्र के प्रतीक का यह अर्थ है कि (मनः) मन (वाचम्) वाणी (प्राणम्) प्राण (तानि) इन तीनों को (आत्मने) सब जीव वर्ग के लिये (अकुरुत) परमात्मा ने किया (अन्यत्रमनाः) अन्यत्र मन वाला (अभूवम्) मैं हुआ इससे (न) नहीं (अदर्शम्) देखा (अन्यत्रमनाः) अन्यत्र मन वाला (अभूवम्) मैं हुआ इससे (न) नहीं (ही) (अश्रौषम्) मैंने सुना (इति) ऐसा मनुष्य कहता है इससे (मनसा) मन से (ही) निश्चय करके (पश्यति) देखता है और (मनसा) मन से (एव) ही (शृणोति) सुनता है (कामः) विषयों की अभिलाषा (संकल्पः) अध्यवसाय (विचिकित्सा) सन्देह (श्रद्धा) कर्मों में आस्तिक्य बुद्धि (अश्रद्धा) नास्तिक्य बुद्धि (धृतिः) धृति (अधृतिः) अधृति (ह्रीः) लज्जा (धीः) बुद्धि (भीः) भय (इति) इस प्रकार से (एतत्) यह (सर्वम्) सब (मनः) मन (एव) ही है (पृष्ठतः)

नेत्र के अगोचर प्रदेश पीठ में (उपस्पृष्टः) वृश्चिकादिक से स्पर्श किये जाने पर तो (मनसा) मन से (विजानाति) मनुष्य जान लेता है (तस्मात्) उस कारण से (अपि) भी मन ही ज्ञानकरण है और (यः) जो (कश्चन) कुछ भी (शब्दः) शब्द है वह सब (वाक्) वाणी (एव) ही है (हि) क्योंकि (सा) वह (एषा) यह वाणी (अन्तम्) सबके अन्त यानी इयत्ता को (आयत्ता) प्रकाश करने के लिये समर्थ है (एषा) यह वाणी स्वयं (हि) निश्चय करके (न) नहीं इयत्ता को प्राप्त होती है (प्राणः) प्राण (अपानः) अपान (व्यानः) व्यान (उदानः) उदान (समानः) समान (इति) ये (अनः) प्राण हैं (एतत्) यह (सर्वम्) सब (प्राणः) प्राण (एव) ही है (वै) निश्चय करके (अयम्) यह (आत्मा) आत्मा (एतन्मयः) एतन्मय है अर्थात् (वाङ्मयः) वाङ्मय है तथा (मनोमयः) मनोमय है और (प्राणमयः) प्राणमय है ॥३॥

विशेषार्थ– प्रथम मन्त्र में जो यह कहा गया है कि– "परमपिता नारायण ने आत्मा के लिये तीन अन्नों को उत्पन्न किया" इसका भाव यह है कि– मन, वाणी और प्राण रूप तीन अन्नों को सम्पूर्ण जीव वर्ग के लिये परब्रह्म नारायण ने किया । अब आगे मन, वाणी तथा प्राण के सब जीवों की साधारण उपकारकता क्रम से बतलायी जाती है कि– मेरा मन अन्यत्र था इसलिये मैंने नहीं देखा, मेरा मन अन्यत्र था इसलिये मैंने नहीं सुना । ऐसा मनुष्य कहता है । इससे मन से ही मनुष्य देखता है और मन से ही सुनता है । अर्थात् मन की व्यासङ्ग दशा में दर्शन और श्रवण का अभाव रहता है, इससे मनःकरणक दर्शन श्रवण सिद्ध होता है । अब आगे कामादिक को भी मनःकरणक प्रतिपादन किया जाता है । काम यानी स्त्री आदिक विषयों की अभिलाषा । सङ्कल्प यानी अध्यवसाय अर्थात् सम्मुखस्थ वस्तु की विशेष कल्पना करना । विचिकित्सा यानी संशय । और श्रद्धा यानी कर्मों में आस्तिक्य बुद्धि रखना । श्रद्धा के विषय के लिखा है– **त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा । सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥** (गी० अ० १७ श्लोक २) प्राणियों की यह स्वभावजन्य श्रद्धा सात्त्विकी, राजसी और तामसी ऐसे तीन प्रकार की होती है उसको तू सून ॥२॥ श्रद्धा हि **स्वाभिमतं साध्यति एतत् । इति विश्वासपूर्विका साधनेत्वरा ॥** (रामानुजभाष्य० गी० अ० १७श्लोक २) क्योंकि "अमुक साधन अपने अभिमत कार्य को सिद्ध कर सकेगा" इस विश्वास के साथ जो साधन में शीघ्रता होती है उसका नाम श्रद्धा है ॥२॥ **सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत । श्रद्धामयोऽयंपुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥** (गी० अ० १७ श्लोक ३) हे भारत अन्तःकरण के अनुरूप सबकी श्रद्धा हुआ करती है, यह पुरुष श्रद्धामय है जो जिस श्रद्धा वाला है वह वही होता है ॥३॥ **यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि**

राजसाः । प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥४॥ सात्त्विकी श्रद्धा से युक्त पुरुष देवताओं को पूजते हैं तथा राजसी श्रद्धा से युक्त पुरुष यक्ष और राक्षसों को और तामसी श्रद्धा से युक्त लोग प्रेतों और भूतों के समुदायों को पूजते हैं ॥४॥ अश्रद्धा यानी पूर्वोक्त से विपरीत बुद्धि रखना । और धृति रखना । धृति के विषय में लिखा है– **वेदादेव विनिर्मोक्षः संसारस्य न चान्यथा । इति विज्ञाननिष्पत्तिर्धृतिः प्रोक्ता हि वैदिकैः ॥** (जाबालदर्श० उ० खं० १ श्रु० १८) वेद से ही यानी वैदिक आज्ञाओं के पालन से ही संसार को मोक्ष-प्राप्ति होती है अन्यथा नहीं – इस प्रकार का जो दृढ़ निश्चय है उसी को वैदिकों ने धृति कहा है ॥१८॥ **धृति आरब्धे कर्मणि विघ्नोपनिपाते अपि तत्समापनसामर्थ्यम् ॥** (रामानुजभाष्य० गी० अ० १८ श्लोक ४३) आरम्भ किये हुए कर्म में विघ्न उपस्थित होने पर भी उसे पूर्ण करने के सामर्थ्य का नाम "धृति" है ॥४३॥ **धृत्या यया धारयते मनः प्राणेन्द्रियक्रियाः । योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥** (गी० अ० १८ श्लोक ३४) जिस अव्यभिचारिणी धृति से पुरुष योग के उद्देश्य से मन, प्राण तथा इन्द्रियों की क्रियाओं को धारण करता है हे पार्थ वह धृति सात्त्विकी है ॥३३॥ **यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन । प्रसङ्गेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥** (गी० अ० १८ श्लोक ३४) अर्जुन फलाकाँक्षी पुरुष जिस धृति से अत्यन्त आसक्तिपूर्वक धर्म, काम और अर्थ को धारण करता है हे पार्थ वह धृति राजसी है ॥३४॥ **यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च । न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥** (गी० अ० १८ श्लोक ३५) जिस धृति से दुर्बुद्धि मनुष्य स्वप्न , भय, शोक, विषाद और मद को नहीं त्यागता है हे पार्थ वह धृति तामसी है ॥३५॥ तथाअधृति यानी पूर्वोक्त धृति के विपरीत बुद्धि करना । और ह्री यानी लज्जा । ह्री के विषय में लिखा है – **वेदलौकिकमार्गेषु कुत्सितं कर्म यद्भवेत् तस्मिन्भवति या लज्जा ह्रीः सैवेति प्रकीर्तिता ॥** (जाबाल दर्श० उ० खं० २ श्रु० १०) वैदिक तथा लौकिक मार्गों में जो निन्दित कर्म माना गयाहै उसको करने में जो स्वाभाविक संकोच होता है उसे ही लज्जा कहा गया है ॥१०॥ और धी यानी बुद्धि । यहाँ "धी" शब्द का अर्थ बुद्धि है । क्योंकि लिखा है– **बुद्धिर्मनीषा धिषणा धीः प्रज्ञा शेमुषी मतिः ॥** (अमर० कां० १ व० ५ श्लोक १) बुद्धि १, मनीषा २, धिषणा ३, धी ४, प्रज्ञा ५, शेमुषी ६, मति ७ ये बुद्धि के नाम हैं ॥१॥ बुद्धि के विषय में लिखा है– **वैदिकेषु च सर्वेषु श्रद्धा या सा मतिर्भवेत् । गुरुणा चोपदिष्टेऽपि तत्र सम्बन्धवर्जितः ॥** (जाबालद० उ० खं० २ श्रु० ११) गुरुजनों के कहने पर भी वेद विरुद्ध मार्ग से सम्बन्ध न रखते हुए संपूर्ण वैदिक उपदेशों में जो पूर्णतः श्रद्धा होती है उसी का नाम मति यानी बुद्धि है ॥११॥ **बुद्धिः विवेकपूर्वकं निश्चयरूपं**

ज्ञानम् ॥ (रामानुजभाष्य० गी० अ० १८ श्लोक २९) विवेक पूर्वक होने वाले निश्चय रूप ज्ञान का नाम बुद्धि है ॥२९॥ **प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये । बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी** ॥ (गी० अ० १८ श्लोक ३०) प्रवृत्ति और निवृत्ति कार्य और अकार्य भय और अभय तथा बन्ध और मोक्ष इन सबको जो बुद्धि जानती है हे पार्थ वह बुद्धि सात्त्विकी है ॥३०॥ **यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च । अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी** ॥ (गी० अ० १८ श्लोक ३१) जिस बुद्धि से मनुष्य धर्म और अधर्म को तथा कार्य और अकार्य को यथार्थ नहीं जानता है हे पार्थ वह बुद्धि राजसी है ॥३१॥ **अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसा-वृता । सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी** ॥ (गी० अ० १८श्लोक ३२) अन्धकार से ढकी हुई जो बुद्धि अधर्म को धर्म ऐसा मानती है तथा सब बातों को विपरीत मानती है हे पार्थ वह बुद्धि तामसी है ॥३२॥ और भी यानी आगामी दुःख शङ्का यह सब मनःकरणक ही है । और नेत्र के अगोचर प्रदेश पीठ में वृश्चिकादि से स्पर्श किये जाने पर मन से मनुष्य जान लेता है, इस कारण से भी मन ही ज्ञानकरण है । इस प्रकार के मन का आत्मभोगार्थत्व कह कर अब वाणी का आत्मभोगार्थत्व कहा जाता है । लोक में प्राणियों द्वारा तालु आदि से व्यक्त होने वाला जितना भी वर्णादि रूप शब्द है तथा बाजे या मेघादि के कारण होने वाला और भी जो कोई शब्द है वह सब वाणी ही है। अर्थात् वागिन्द्रियाधीनोच्चारण कर्म है। क्योंकि वह यह वाणी सबके अन्त यानी इयत्ता को प्रकाश करने के लिये समर्थ है अर्थात् वाणी सबकी प्रकाशिका है । यह वाणी स्वयं किसी के द्वारा प्रकाश्या नहीं है । अर्थात् वाणी स्वयं अन्यापरिच्छेद्या होती हुई इतरों की परिच्छेदिका है । इस प्रकार वाणी के आत्मभोगार्थत्व को कह कर अबप्राण के आत्मोपकारकत्व प्रकार को कहा जाता है । प्राण १, अपान २, व्यान ३, उदान ४ और समान ५ ये सब "अन" यानी प्राण यह सब प्राण ही है क्योंकि लिखा है – **अहमेवैतत्पञ्चधात्मानं विभज्यैतद्बाणमवष्टभ्य धारयामि** ॥ (प्रश्नोप० प्र० २ श्रु० ३) मैं निश्चय करके इस अपने स्वरूप को प्राण १, अपान २, व्यान ३, समान ४ और उदान ५ रूप से पांच भागों में विभक्त करके बाण के समान संचारशील इस पुरावर्ती शरीर को व्याप्त कर धारण करता हूँ ॥३॥ प्राणादिक के विषय में लिखा है– **आस्यनासिकयो र्मध्ये नाभिमध्ये तथा हृदि । प्राणसंज्ञोऽनिलोनित्यं वर्तते मुनिसत्तम** ॥ (जाबालद० उ० खं० ४ श्रु० २६) **अपानो वर्तते नित्यं गुदमध्योरुजानुषु । उदरे सकले कट्यां नाभौ जङ्घे च सुव्रत ॥२७॥ व्यानः श्रोत्राक्षिमध्ये च ककुद्भ्यां गुल्फयोरपि । प्राणस्थाने गले चैव वर्तते मुनिपुङ्गव ॥२८॥ उदानसंज्ञो विज्ञेयः पादयो र्हस्तयोरपि । समानः सर्वदेहेषु व्याप्य तिष्ठत्यसंशयः ॥२९॥ निःश्वासोच्छ्वासकासाश्च प्राणकर्म हि साङ्कृते ॥३०॥**

अपानाख्यस्य वायोस्तु विण्मूत्रादिविसर्जनम् । समानः सर्वसामीप्यं करोति मुनिपुङ्गव ॥३१॥ उदान ऊर्ध्वगमनं करोत्येव न संशयः । व्यानो विवादकृत्प्रोक्तो मुने वेदान्तवेदिभिः ॥३२॥ हे मुनि सत्तम प्राणवायु, मुख और नासिका के मध्य भाग में तथा नाभि के मध्य भाग में और हृदय में नित्य निवास करती है ।।२६।। अपानवायु, गुदा, लिङ्ग, जांघों, घुटनों सम्पूर्ण उदर, कटि, नाभि तथा पिण्डलियों में भी सदा हे सुव्रत वर्तमान रहती है ।।२७।। हे मुनिपुङ्गव व्यानवायु दोनों कानों, दोनों नेत्रों, दोनों कन्धों, दोनों टखनों प्राण के स्थानों और कण्ठ में भी व्याप्त होकर रहती है ।।२९।। हे सांकृते उच्छ्वास और निश्वास अर्थात् श्वास को भीतर ले जाना और बाहर निकालना और खांसना ये प्राणवायु के कर्म हैं ।।३०।। मलमूत्रादि का त्याग अपानवायु का कर्म है । और हे मुनिपुङ्गव समानवायु सब शरीर को सम अवस्था में रखती है ।।३१।। उदानवायु ही ऊपर की ओर गमन करती है । हे मुने वेदान्ततत्त्व के ज्ञाता विद्वानों का कहना है कि व्यानवायु ध्वनि का व्यञ्जक है ।।३२।। निश्चय करके यह आत्मा एतन्मय है अर्थात् वाङ्मय तथा मनोमय और प्राणमय है । यहाँ पर प्राचुर्य में मयट् प्रत्यय हुआ है । ब्रह्मराक्षसमोचक भवद्रामानुजाचार्यने– **पञ्चवृत्ति र्मनोवद्व्यपदिश्यते** ।। (शा० मी० अ० २ पा० ४ सू० ११) के श्रीभाष्य में "बृहदारण्यकोपनिषद्" के प्रथम अध्याय के पञ्चम ब्राह्मण में तृतीय कण्डिका के ।। कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृति र्ह्री र्धी र्भी रित्येतत्सर्वं मन एव ।। "प्राणोऽपानो व्यान उदानः समान इत्येतत्सर्वं प्राण एव" इन पदों को उद्धृत किया है ।।३।।

त्रयो लोका एत एव । वागेवायं लोको मनोऽन्तरिक्षलोकः प्राणोऽसौ लोकः ।।४।।

अन्वयार्थ– (एते) ये वाणी, मन और प्राण (एव) ही (त्रयः) भूः भुवः और स्वः नामक तीनों (लोकाः) लोक हैं (वाक्) वाणी (एव) ही (अयम्) यह पृथ्वी (लोकः) लोक है तथा (मनः) मन ही (अन्तरिक्षलोकः) अन्तरिक्षलोक है (प्राणः) और प्राण ही (असौ) वह (लोकः) द्युलोक है ।।४।।

विशेषार्थ– ये वाणी, मन और प्राण निश्चय करके भूः भुवः स्वः नामक तीनों लोक हैं । वाक् ही यह पृथ्वीलोक है । तथा मन ही अन्तरिक्ष लोक है और प्राण ही स्वर्गलोक है ।।४।।

त्रयो वेदा एत एव । वागेवर्ग्वेदो मनो यजुर्वेदः प्राणः सामवेदः ।।५।।

अन्वयार्थ– (एते) ये वाणी, मन और प्राण (एव) ही (त्रयः) ऋग् यजुः, साम नामक तीनों (वेदाः) वेद हैं (वाक्) वाणी (एव) ही (ऋग्वेदः) ऋग्वेद है तथा (मनः) मन (यजुर्वेदः) यजुर्वेद है और (प्राणः) प्राण ही (सामवेदः) सामवेद है ॥५॥

विशेषार्थ– ये वाणी, मन और प्राण निश्चय करके ऋग्, यजुः, साम नामक तीनों वेद हैं। वाणी ही ऋग्वेद है। ऋग्वेद का लक्षण लिखा है– **तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था ॥** (पूर्व मी० अ० २ पा० १ सू० ३५) जिसमें अर्थवश से पाद की व्यवस्था होती है उसी को ऋग्वेद कहते हैं ॥३५॥ तथा मन ही यजुर्वेद है। यजुर्वेद कालक्षण लिखा है– **शेषे यजुः शब्दः ॥** (पूर्व मी० अ० २ पा० १ सू० ३७) शेष में यजुर्वेद कहा जाता है ॥३७॥ और प्राण ही सामवेद है। सामवेद का लक्षण लिखा है– **गीतिषु सामाख्या ॥** (पूर्वमी० अ० २ पा० १ सू० ३६) गान में सामवेद नाम होता है ॥३६॥ इस प्रकार से स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है ॥५॥

देवाः पितरो मनुष्या एत एव । वागेवदेवा मनः पितरः प्राणो मनुष्याः ॥६॥

अन्वयार्थ– (एते) ये वाणी, मन और प्राण (एव) ही (देवाः) देवता हैं तथा (पितरः) पितृगण हैं और (मनुष्याः) मनुष्य हैं (वाक्) वाणी (एव) ही (देवाः) देवता हैं तथा (मनः) मन (पितरः) पितर हैं और (प्राणः) प्राण ही (मनुष्याः) मनुष्य हैं ॥६॥

विशेषार्थ– ये वाणी, मन और प्राण निश्चय करके देवता, पितर और मनुष्य हैं। अब आगे विभाग पूर्वक कहा जाता है कि – वाणी ही देवता हैं तथा मन ही पितर हैं और प्राण ही मनुष्य हैं ॥६॥

पिता माता प्रजैत एव । मन एव पिता वाङ्माता प्राणःप्रजा ॥७॥

अन्वयार्थ– (एते) ये मन, वाणी और प्राण (एव) ही (पिता) पिता हैं तथा (माता) माता हैं और (प्रजा) सन्तान हैं (मनः) मन (एव) ही (पिता) पिता है तथा (वाक्) वाणी ही (माता) माता है और (प्राणः) प्राण ही (प्रजा) सन्तान है ॥७॥

विशेषार्थ– ये मन, वाणी और प्राण ही पिता, माता और पुत्र हैं। आगे विभाग पूर्वक कहा जाता है कि–मन ही पिता है। क्योंकि जैसे पिता सन्तानादिक का पालन करता है वैसे ही मन इन्द्रियों को तथा इन्द्रिय सन्तान मनोरथों का परिपालन करता

है । तथा वाणी ही माता है । क्योंकि जैसे माता सन्तानादिक को शनैः शनैः बढ़ाती है वैसे ही वाणी पुरुष को यश से और धनादिक से बढ़ाती है । और प्राण ही पुत्र है । क्योंकि जैसे पुत्र वंश को धारण पोषण करता है वैसे ही प्राण भी शरीरादिक का धारण पोषण करता है ।।७।।

विज्ञातं विजिज्ञास्यमविज्ञातमेत एव यत्किञ्च विज्ञातं वाचस्तद्रूपम् । वाग्धि विज्ञाता । वागेवैनं तद्भूत्वाऽवति ।।८।।

अन्वयार्थ– (एते) ये वाणी, मन प्राण (एव) ही (विज्ञातम्) जो विशेष रूप से मालूम हो चुका है वह विज्ञात है तथा (विजिज्ञास्यम्) जो जानने योग्य है वह विजिज्ञास्य है और (अविज्ञातम्) जो अच्छे प्रकार से ज्ञात नहीं है वह अविज्ञात है (यत्) जो (किं+च) कुछ भी (विज्ञातम्) वाग्व्यवहार से विज्ञात है (तत्) वह सब (वाचः) वाणी का (रूपम्) रूप है (हि) निश्चय करके (वाक्) वाणी (विज्ञाता) प्रकाशक होने से विज्ञाता है (वाक्) वाणी (एव) ही (एनम्) इस वाणी तत्त्ववित् पुरुष को (तत्) विज्ञात रूप (भूत्वा) होकर (अवति) रक्षा करती है ।।८।।

विशेषार्थ– ये वाणी, मन और प्राण ही विज्ञात तथा विजिज्ञास्य और अविज्ञात ये तीनों पदार्थ हैं । जो विशेष रूप से ज्ञात यानी मालूम हो चुका है उसे ''विज्ञात'' कहते हैं । तथा जो जानने योग्य है वह ''विजिज्ञास्य'' कहलाता है । और जो अच्छे प्रकारसे ज्ञात नहीं होता है उसे ''अविज्ञात'' कहते हैं । अब आगे विभाग पूर्वक कहा जाता है कि– यह जो कुछ भी वाग्व्यवहार से विज्ञात है वह सब वाणी का रूप है । क्योंकि निश्चय करके वाणी प्रकाशक होने से विज्ञाता है । वाणी ही इस वाणी तत्त्ववित् पुरुष को विज्ञात रूप होकर पालन करती है । इससे वाणी का उपकारकत्व सिद्ध हो गया ।।८।।

यत्किञ्च विजिज्ञास्यं मनसस्तद्रूपं मनो हि विजिज्ञास्यं मन एनं तद्भूत्वाऽवति ।।९।।

अन्वयार्थ– (यत्) जो (किं+च) कुछ भी वस्तु (अविज्ञातम्) अविज्ञात है (तत्) वह (प्राणस्य) प्राणका (रूपम्) रूप है (हि) क्योंकि (मनः) मन (विजिज्ञास्यम्) विशेष रूप से जानने योग्य है (मनः) मन ही (तत्) विजिज्ञास्यस्वरूप (भूत्वा) होकर (एनम्) इस उपासक पुरुष को (अवति) पालन करता है ।।९।।

विशेषार्थ– इस ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी वस्तु विशेष रूप से जानने योग्य है

वह सब मन का ही रूप है। क्योंकि मन विशेष रूप से चिन्तवन करने योग्य है। मन ही विजिज्ञास्यस्वरूप होकर इस उपासक पुरुष को रक्षा करता है। इससे मन का उपकारकत्व सिद्ध हो गया ॥९॥

यत्किञ्चाविज्ञातं प्राणस्य तद्रूपं प्राणो ह्यविज्ञातः प्राण एनं तद्भूत्वाऽवति ॥१०॥

अन्वयार्थ-- (यत्) जो (किं+च) कुछ भी वस्तु (अविज्ञातम्) अविज्ञात है (तत्) वह (प्राणस्य) प्राण का (रूपम्) रूप है (हि) क्योंकि (प्राणः) इन्द्रियों के अगोचर होने से प्राण (अविज्ञातः) अविज्ञात है (प्राणः) प्राण (तत्) अविज्ञातस्वरूप (भूत्वा) होकर (एनम्) इस उपासक पुरुष का (अवति) पालन करता हे ॥१०॥

विशेषार्थ-- मन के उपकारकत्व सिद्ध हाने पर अब प्राण का उपकारकत्व सिद्ध किया जाता है कि-- इस जगत् में जो कुछ भी वस्तु अविज्ञात है वह सब प्राण का ही रूप है। जो अच्छे प्रकार से ज्ञात नहीं होता है उसे "अविज्ञात" कहते हैं। इन्द्रियों के अगोचर होने से निश्चय करके प्राण अविज्ञात है। प्राण अविज्ञात स्वरूप होकर इस उपासक पुरुष की रक्षा करता है। इससे मन का उपकारकत्व सिद्ध हो गया ॥१०॥

तस्यै वाचः पृथ्वी शरीरं ज्योतीरूपमयमग्निः। तद्यावत्येव वाक्तावती पृथिवी तावानयमग्निः ॥११॥

अन्वयार्थ-- (तस्यै) उस (वाचः) वागिन्द्रय का (पृथिवी) पृथ्वी (शरीरम्) शरीर है और (ज्योतीरूपम्) ज्योतिर्मय अधिष्ठातृदेवतास्वरूप (अयम्) यह (अग्निः) अग्नि है (तत्) तहाँ (एव) निश्चय करके (यावती) जितनी (वाक्) वागिन्द्रय है (तावती) उतनी ही (पृथ्वी) वागधिष्ठानभूत पृथ्वी है और (तावान्) उतना ही (अयम्) यह अधिष्ठातृदेव (अग्निः) अग्नि भी है ॥११॥

विशेषार्थ-- अब वागिन्द्रियाधिष्ठातृदेवता प्रतिपादन किया जाता है। उस वाक् इन्द्रिय का पृथ्वी शरीर है यानी आयतन है। अर्थात् जिह्वा गोलस्थ पार्थिवांश को आश्रयण करके वागिन्द्रिय रहती है। और ज्योतिर्मय अधिष्ठातृदेवता स्वरूप यह अग्नि है। जहाँ जहाँ पर वागिन्द्रिय रहती है वहाँ वहाँ पर तदधिष्ठानरूप से पृथ्वी रहती है। और अधिष्ठातृदेव रूप से अग्नि भी रहती है। क्योंकि लिखा है-- **मुखाद्वाग्वाचोऽग्निः ॥** (ऐत० उ० अ० १ खं० १ श्रु० ४) मुख छिद्र से वाक् इन्द्रिय उत्पन्न हुई तथा वाक् इन्द्रिय से वाणी के अधिष्ठाता लोकपाल अग्निदेवता प्रकट हुए ॥४॥ **अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत् ॥** (ऐत० उ० अ० १ खं० २ श्रु० ४) अग्निदेवतावाक्

इन्द्रिय होकर मुख छिद्र में प्रवेश किये ॥४॥ **वागध्यात्मं वक्तव्यमधिभूतमग्निस्तत्राधिदैवतम् ॥** (सुबालो० खं० ५) वाक् इन्द्रिय अध्यात्म है तथा वक्तव्य अधिभूत है और वहाँ पर अग्नि अधिदैवत है ॥५॥ **कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैव वाक्पाण्यंङ्घ्र्यादयः क्रमात् ॥** (वराहोप० अ० १ श्रु० ३) वाक् १, पाणि २, पाद ३, पायु ४ और उपस्थ ५ ये क्रम से पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं ॥३॥ पृथ्वी के विषय में लिखा है– **रूपरसगन्धस्पर्शवती ॥** (वैशेषि० अ० २ आह्नि० १ सू० १) रूप, रस, गन्ध और स्पर्शवाली जो हो वही पृथ्वी है ॥१॥ **शब्दः स्पर्शश्च रूपञ्च रसो गन्धश्च पञ्चमः ॥ एते गुणाः पञ्चभूमेः सर्वेभ्यो गुणवत्तराः ॥** (महाभारत वनप० उत्तर खं० अ० २११ श्लोक ५) शब्द १, स्पर्श २, रूप ३, रस ४ और गन्ध ५ ये सबसे श्रेष्ठ पाँच गुण पृथ्वी के हैं ॥५॥ और अग्नि के विषय में लिखा है– **रूपस्पर्शवत् ॥** (वैशेषि० अ० २ आह्नि० १ सू० ३) अरुण रूप वाली और उष्ण स्पर्श वाली जो हो वही अग्नि है ॥३॥ **शब्दः स्पर्शश्चरूपञ्च तेजसोऽथ गुणास्त्रयः ॥** (महाभार० वनप० उत्तरखं० अध्याय २११ श्लोक ७) शब्द, स्पर्श और रूप ये तीन गुण अग्नि के हैं ॥७॥ इस प्रकार का वर्णन किया गया है ॥११॥

अथैतस्य मनसो द्यौः शरीरम् । ज्योतीरूपमसावादित्यस्तावदेव मनस्तावती द्यौस्तावानसावादित्यः । तौ मिथुनं समैताम् । ततः प्राणोऽजायत । स इन्द्रः स एषोऽसपत्नो द्वितीयो वै सपत्नो नहास्य सपत्नो भवति य एवं वेद ॥१२॥

अन्वयार्थ– (अथ) वाक् इन्द्रिय के अधिष्ठातृदेवता कहने के बाद अब (एतस्य) इस (मनसः) मन के (द्यौः) हृदयाकाश (शरीरम्) शरीर है और (ज्योतीरूपम्) ज्योतिर्मय तदधिष्ठातृदेवता स्वरूप (असौ) वह (आदित्यः) आदित्य है (तावत्) उतना (एव) ही (मनः) मन है तथा (तावती) उतना ही (द्यौः) मन के अधिष्ठानभूतहृदयाकाश है और (तावान्) उतनाही (असौ) वह अधिष्ठातृदेव (आदित्यः) आदित्य है (तौ) वे वाणी और मन रूप स्त्री पुरुष (मिथुनम्) पारस्परिक संसर्ग को (समैताम्) सम्यक् प्राप्त हुए (ततः) तब (प्राणः) प्राण (अजायत) उत्पन्न हुआ (सः) वह प्राण (इन्द्रः) परमैश्वर्यशाली है और (सः) सो (एषः) यह प्राण (असपत्नः) शत्रु रहित है (वै) निश्चय करके (द्वितीयः) दूसरा प्रतिपक्षी ही (सपत्नः) शत्रु होता है (यः) जो उपासक (एवम्) ऐसा (वेद) जानता है (ह) प्रसिद्ध (अस्य) इस उपासक का कोई भी (सपत्नः) शत्रु (न) नहीं (भवति) होता है ॥१२॥

विशेषार्थ – वाक् इन्द्रिय के अधिष्ठातृ देवता कहने के बाद अब मन के अधिष्ठातृ देवता कहा जाता है कि--इस मन का हृदयाकाश शरीर है यानी हृदय छिद्र रूप आकाश आयतन है। हृदय के विषय में लिखा है– **पद्मकोशप्रतीकाशं हृदयं चाप्यधोमुखम्। अधो निष्ठया वितस्तत्यान्ते नाभ्यामुपरि तिष्ठति। हृदयं तद्विजानीयाद्विश्वस्यायतनं महत् ॥** (तैत्ति० आर० प्रपा० १० अनु० ११ श्रु० ८) नीचे मुख वाला लाल कमल के समान नाभि से ऊपर एक बीत्ता के भीतर अधोनिष्ठा से युक्त जो मांस का पिण्ड देह में स्थित है उसी को हृदय जानना चाहिये वह हृदय सब प्राणादिक का बड़ा स्थान है ॥८॥ अर्थात् हृदयाकाश का आश्रयण करके मन रहता है। और ज्योतिर्मय मन का अधिष्ठातृ देवतास्वरूप वह यह आदित्य है। जहाँ जहाँ पर मन रहता है वहाँ वहाँ पर तदधिष्ठान रूप से हृदयाकाश रहता है। और अधिष्ठातृदेवरूप से आदित्य भी रहता है। क्योंकि लिखा है– हृदयं निरभिद्यत हृदयान्मनः॥ (ऐत० उ० अ० १ खं० १ श्रु० ४)फिर अन्तःकरण का अधिष्ठान हृदय उत्पन्न हुआ और हृदय से मन प्रकट हुआ ॥४॥ मनोऽध्यात्मं मन्तव्यमधिभूतम्॥ (सुबा० खं० ५) मन अध्यात्म है और मन्तव्य अधिभूत है ॥५॥ मनोबुद्धिरहङ्कारश्चित्तं चेति चतुष्टयम् ॥ (वराहोप० अ० १ श्रु० ४) मन १, बुद्धि २, अहङ्कार ३ और चित्त ४ ये अन्तःकरण चतुष्टय हैं ॥४॥ वे वाणी और मन रूप स्त्री पुरुष पारस्परिक एक दूसरे के साथ संसर्ग को प्राप्त हुए । तब उन्हीं के समागम से पुत्र प्राण उत्पन्न हुआ। क्योंकि लिखा है– मन एवास्यात्मा वाक् जाया प्राणः प्रजा ॥ (बृह० उ० अ० १ ब्रा० ४ कं० १७) इसका मन ही आत्मा यानी पुरुष है तथा वाणी ही भार्या है और प्राण ही सन्तान है ॥१७॥ मन एव पिता वाङ् माता प्राणः प्रजाः॥ (बृ० उ० अ० १ ब्रा० ५ कं० ७) मन ही पिता है तथा वाणी ही माता है और प्राण ही पुत्र है ॥७॥ वह नवजात प्राण परमैश्वर्यवान् है और यह प्राण शत्रु रहित है निश्चय करके दूसरा प्रतिपक्षी ही शत्रु होता है। सपत्न के विषय में लिखा है– रिपौ वैरि सपत्नारि द्विषद् द्वेषणदुर्हृदः॥ (अमर० कां० २ व० ८ श्लोक १०) रिपु १, वैरिन् २, सपत्न ३, अरि ४, द्विषत् ५, द्वेषण ६, दुर्हृद् ७ ये दुश्मन के नाम हैं ॥१०॥ अब आगे इस उपासना का फल कहा जाता है। जो कोई उपासक इस प्रकार उपर्युक्त प्राण को शत्रु रहित जानता है उस विद्वान् पुरुष का कोई भी शत्रु नहीं होता है ॥१२॥

अथैतस्य प्राणस्याऽऽपः शरीरम्। ज्योतीरूपमसौ चन्द्रस्त-द्यावानेव प्राणस्तावत्य आपस्तावानसौ चन्द्रः। त एते सर्व एव समाः सर्वेऽनन्ताः। स यो हैतानन्तवत उपास्तेऽन्तवन्तंस

लोकं जयत्यथ यो हैतानन्नतानुपास्तेऽनन्तं स लोकं जयति॥१३॥

अन्वयार्थ– (अथ) मन के अधिष्ठतृ देवता कहने के बाद अब (एतस्य) इस (प्राणस्य) प्राण के (आपः) जल ही (शरीरम्) शरीर है यानी आयतन है और (ज्योतीरूपम्) ज्योतिर्मय प्राणाधिष्ठातृ स्वरूप (असौ) वह (चन्द्रः) चन्द्रमा है (तत्) वहाँ (यावान्)जितना (एव) ही (प्राणः) प्राण है (तावत्यः) उतना ही (असौ) वह (चन्द्रः) चन्द्रमा है (ते) वे वाणी, मन और प्राण (एते) ये (सर्वे) सब (एव) ही (समाः) तुल्य ही हैं तथा (सर्वे) सब ही (अनन्ताः) अनन्त हैं (सः) सो (यः) जो कोई उपासक (ह) सुप्रसिद्ध (एतान्) इन वाणी, मन और प्राण को (अन्तवतः) अन्तवान् समझ कर (उपास्ते) उपासना करता है (सः) वह उपासक (अन्तवन्तम्)अन्त होने वाले (लोकम्) लोक को (जयति) जीत लेता है (अथ) और (यः) जो कोई उपासक (ह) प्रसिद्ध (एतान्) इन वाक्, मन, प्राणों को (अनन्तान्) अनन्त मान कर (उपास्ते) उपासना करता है है (सः) वह उपासक (अनन्तम्) अनन्त (लोकम्) लोक को (जयति) विजय करता है ॥१३॥

विशेषार्थ– मन के अधिष्ठतृ देवता कहने के अनन्तर अब प्राण का अधिष्ठातृ देवता कहा जाता है कि– इस प्राण का जल ही शरीर है यानी आयतन है। क्योंकि लिखा है– **प्राणा वा आपः॥** (श्रुति) निश्चय करके प्राण जल ही है।। अर्थात् जल का आश्रयण करके प्राण रहता है। और ज्योतिर्मय प्राण के अधिष्ठातृ देवतास्वरूप वह यह चन्द्रमा है जहाँ जहाँ पर प्राण रहता है वहाँ वहाँ पर प्राण के अधिष्ठानरूप से जल रहता है । और अधिष्ठातृ देव रूप से प्रकाशात्मक चन्द्रमा भी रहता है । जल के विषय में लिखा है– **रूपरसस्पर्शवत्यः द्रवाः स्निग्धाः॥** (वैशे० अ०२ आह्नि०१ सू०२) शुक्ल रूप तथा मधुर रस और शीत स्पर्श वाला द्रव तथा स्निग्ध जो हो वही जल है ॥२॥ **शब्दः स्पर्शश्च रूपञ्च रसश्चापि द्विजोत्तम। अपामेते गुणा ब्रह्मन् कीर्तितास्तव सुव्रत॥** (महाभारत वनप० उत्तरखं० अ०२११ श्लोक ६) हे सुव्रत ब्राह्मण शब्द १, स्पर्श २ रूप ३ और रस ४ ये चार जल के गुण तेरे से मैंने कहा ॥६॥ और वे वाक्, मन और प्राण ये सब गज मशक आदिक सभी प्राणियों के समान ही हैं। और सभी अनन्त हैं। से जो कोई उपासक इस वाक्, मन और प्राण को अनंत समझ कर उपासना करता है वह महात्मा अनन्त लोक की विजय प्राप्त करता है। ब्रह्मराक्षसमोचक भगवद्रामानुजाचार्य ने– **अणवश्च॥** (शा० मी० अ०२ पा०४ सू०६) के श्री भाष्य में "बृहदारण्यकोपनिषद्" के प्रथम अध्याय के पंचम ब्राह्मण की तेरहवीं

कण्डिका के "त एते सर्व एव समा: सर्वेऽनन्ता:" इस खण्ड को उद्धृत किया है ।।१३।।

स एष संवत्सरः प्रजापतिः षोडशकलस्तस्य रात्रय एव पञ्चदशकला ध्रुवैवास्य षोडशी कला स रात्रिभिरेव चाऽऽपूर्यते अप च क्षीयते। सोऽमावास्यां रात्रिमेतया षोडश्या कलया सर्वमिदं प्राणभृदनुप्रविश्य ततः प्रातर्जायते तस्मादेतां रात्रिं प्राणभृतः प्राणं न विच्छिन्द्यादपि कृकलासस्यैतस्या एव देवताया अपचित्यै ।।१४।।

अन्वयार्थ– (स:) सो (एष:) यह चन्द्रमा (संवत्सर:) तीन सौ साठ अहोरात्र का वर्ष होता है वह (प्रजापति:) प्रजाओं का रक्षक सोम (षोडशकल:) सोलह कलाओं वाला है (तस्य) इसकी (रात्रय:) रात्रियाँ (एव) ही (पञ्चदश:)पन्द्रह (कला:)कलाएँ हैं (अस्य) इस चन्द्रमा की (षोडशी) सोलहवीं (कला) कला (ध्रुवा) नित्य अविनश्वरी (एव) निश्चय करके है (च) और (स:) वह कलात्मक प्रजापति (रात्रिभि:) रात्रियों से (एव) ही (आपूर्यते) शुक्ल पक्ष में भलीभाँति पूर्ण होता है (च) और (अपक्षीयते) कृष्णपक्ष में क्षीण होता है (स:) वह चन्द्रमा (अमावस्याम्) अमावस्या तिथि को (रात्रिम्) रात्रि में (एतया) इस ध्रुवा (षोडश्या)सोलहवीं (कलया) कला से (इदम्) इस (सर्वम्) सब (प्राणभृत्) प्राणधारी जीव में (अनुप्रविश्य) प्रवेश करके (तत:) तब फिर दूसरे दिन (प्रात:) प्रातःकाल में (जायते) उत्पन्न होता है (तस्मात्) उस कारण से (एताम्) इस अमावस्या की (रात्रिम्) रात्रि में (प्राणभृत:) किसी प्राणी के (प्राणम्) प्राण को (न) नहीं (विच्छिन्द्यात्)-विच्छेद करे (एतस्या:) इस सब प्राणिजात में प्रविष्ट चन्द्रमा (देवताया:) देवता की (अपचित्यै) पूजा के लिये (एव) निश्चय करके (कृकलासस्य) निकृष्ट और कुरूप गिरगिट का (अपि) भी प्राण विच्छेद न करे ।।१४।।

विशेषार्थ– यह जो अहोरात्र शुक्ल कृष्ण पक्ष चैत्रादि मास मिल कर प्राय: तीन सौ साठ अहोरात्र का एक वर्ष होता है वही प्रजाओं का रक्षक चन्द्रमा देवता सोलह कलाओं वाला है। "जिसकी सोलह कलायें यानी अवयव हों उसे षोडशकल कहते हैं" इसकी रात्रियँ यानी तिथियाँ ही पन्द्रह कलायें हैं। और इस चन्द्रमा की सोलहवीं कला ध्रुवा– नित्या अविनश्वरी है अर्थात् मानो कि पन्द्रह कलायें तो बनती बिगड़ती हैं परन्तु बीजस्वरूप सोलहवीं ध्रुवा कला सदा एक रस रहती है उसी से वह चन्द्रमा पुन: पूर्ण हो जाता है। वह चन्द्रमा शुक्लपक्ष में प्रतिपद् आदि तिथियों

की रात्रियों से पूर्णमासी को भलीभाँति पूर्ण हो जाता है और वही चन्द्रमा कृष्णपक्ष में क्रमशः क्षीण हो जाता है। अमावस्या के केवल एक ध्रुवा कला ही शेष रह जाती है। वह चन्द्रमा अमावस्या में रात के समय जो एक ऊपर बतलायी हुई ध्रुवा नाम की कला रहती है उस सोलहवीं कला के द्वारा इन समस्त प्राणधारियों में अनुप्रवेश करके स्थित रहता है और दूसरे दिन प्रातःकाल द्वितीय कला से संयुक्त होकर उत्पन्न होता है। इसलिये अमावस्या की रात्रि में किसी प्राणधारी यानी प्राणी के प्राण का विच्छेद न करे । यहाँ तक कि निकृष्ट, कुरूप, पापी, गिरगिट नामक कीड़े का भी प्राण हरण न करे। किसलिये गिरगिट का भी हनन न करे। इस विषय में साक्षात् करुणामयी श्रुति ही कहती है कि– निश्चय करके सर्व प्राणिजात में प्रविष्ट इस चन्द्रमा देवता की पूजा के लिये। अन्यथा चन्द्र देवता का अपचार हो जायगा। "कृकलास" शब्द का अर्थ गिरगिट है क्योंकि लिखा है– **सरटः कृकलासः स्यात्** ॥ (अमर० कां०२ व० ५ श्लो० १२) सरट १, कृकलास २ ये दो नाम गिरगिट के हैं ॥१२॥ इस श्रुति में रात्रि का वर्णन है इससे सिद्ध होता है कि किसी रात्रि में प्राणी हिंसा न करे क्योंकि कोई रात्रि ऐसी नहीं होती जिसमें चन्द्रमा की कोई न कोई कला न हो। एक अमावस्या ही ऐसी है जिसमें चन्द्रमा अच्छे प्रकार दृश्य नहीं होता जब इसमें भी हिंसा निषेध किया तब तो अन्य रात्रियों में स्वतः हिंसा निषेध सिद्ध है। पुनः बड़े बड़े जीवों को कौन कहे कीट, पतङ्गों की भी हत्या निषिद्ध है। इस प्रकार यहाँ पर चन्द्रमा देवता की पूजा के लिये वर्णन किया गया है ॥१४॥

यो वै संवत्सरः प्रजापतिः षोडशकलोऽयमेव स योऽयमेवंवित्पुरुषः । तस्य वित्तमेव पञ्चदश कला आत्मैवास्य षोडशी कला स वित्तेनैवाऽऽच पूर्यतेऽप च क्षीयते। तदेतन्नभ्यं यदयमात्मा प्रधिर्वित्तम्। तस्माद्यद्यपि सर्वज्यानिं जीयत आत्मना चेद्यज्जीवति प्रधिनाऽगादित्येवाऽऽहुः ॥१५॥

अन्वयार्थ– [वै] निश्चय करके [यः] जो [अयम्] यह [षोडशकलः] सोलह कलाओं वाला [संवत्सरः] संवत्सर कलात्मक [प्रजापतिः] प्रजाओं का रक्षक चन्द्रमा है [सः] वह [एव] निश्चय करके [अयम्]यही है [यः] जो [अयम्] यह उपासक [पुरुषः] पुरुष [एवंविद्] इस प्रकार सोलह कला युक्त चन्द्रविद्या को जानता है [तस्य] उस इस प्रकार जानने वाले पुरुष के [वित्तम्] गौ हिरण्य आदिक धन [एव] ही

[पञ्चदश] पन्द्रह [कलाः] कलाएँ हैं [च] और [अस्य] इस उपासक का [आत्मा] शरीर [एव] ही [षोडशी] सोलहवीं [कला] नित्या कला है [सः] वह पुरुष [वित्तेन] धन से [एव] ही [आपूर्यते] भलीभाँति बढ़ता है [च] और [अपक्षीयते] क्षीण होता है [यत्] जो [अयम्] यह [आत्मा] शरीर है [तत्]वही [एतत्] यह [नभ्यम्] रथ का नाभि स्थानीय है और [वित्तम्] हिरण्यादिक धन [प्रधिः] रथ का नेमि स्थानीय है [तस्मात्] इस कारण से [यद्यपि] यद्यपि [सर्वज्यानिम्] सर्वस्व नष्टहोने से पुरुष [जीयते] नाश हो जाता है तथापि [चेत्] यदि [यत्] जो पुरुष [आत्मना] शरीर से [जीवति] जीता रहता है तो [प्रधिना] प्रधिस्थानीय वित्त से [अगात्] संगत हुआ है [इति] ऐसा [एव] ही [आहुः]सब विद्वान् कहते हैं ॥१५॥

विशेषार्थ— अब सोलह कला युक्त चन्द्रविद्या का फल कहा जाता है कि—निश्चय करके जो यह उपासक इस प्रकार की सोलह कलाओं से युक्त संवत्सर कलात्मक प्रजाओं का पालन करने वाले चन्द्रमा को भलीभाँति जानता है वह पुरुष भी चन्द्रमा के समान सोलह कला वाला हो जाता है। आगे पुरुष की सोलह कला का वर्णन किया जाता है। इस प्रकार सोलह कला वाले चन्द्रमा की उपासना करने वाले पुरुष के गौ, भैंस, घोड़ा, हाथी, भेड़ा, बकरा, भूमि, सोना, चान्दी, राज्य, साम्राज्य आदिक धन ही पन्द्रह कलाएँ हैं। और इसकी आत्मा यानी शरीर ही सोलहवीं नित्या ध्रुवा कला है। यहाँ "आत्मन्" शब्द शरीर वाचक है। क्योंकि लिखा है—**आत्मा यत्नोधृतिर्बुद्धिः स्वभावो ब्रह्म वर्ष्म च॥** (अमर० कां० ३ व० ३ श्लोक १०९) जीवात्मा १, उपाय २, धीरता ३, बुद्धि ४, स्वभाव ५, परब्रह्म ६, और शरीर ७, का वाचक आत्मन् शब्द है ॥१०९॥और वह पुरुष चन्द्रमा के समान धन से ही बढ़ता है और क्षीण होता है। जो उपासक का यह शरीर है वही रथ के नाभि स्थानीय है। "नाभिमर्हति" इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो नाभि की योग्यता रखता हो उसे "नभ्य" यानी चक्र का मध्य भाग कहते हैं। नाभि के विषय में लिखा है—**पिण्डिका नाभिः॥** (अमर० कां० २ व० ८ श्लोक ५६) पिण्डिका १, नाभि २ पुट्ठी के नाम हैं॥५६॥ और इस उपासक के हिरण्यादिक धन रथ के नेमि स्थानीय है। यहाँ "प्रधि" शब्द का अर्थ नेमि है क्योंकि लिखा है— **तस्यान्ते नेमिः स्त्रीस्यात्प्रधिः पुमान्॥** (अमर० कां० २ व० ८ श्लोक ५६) नेमि १, प्रधि २ ये रथ के नेमि के नाम हैं ॥५६॥ इस कारण से यद्यपि सर्वस्व नष्ट हो जाने पर पुरुष का नाश हो जाता है तथापि यदि वह पुरुष देह पिण्ड से जीवित रहता है तो लोग यही कहते हैं कि यह प्रधि स्थानीय वित्त से सङ्गत हुआ है अथवा जङ्गल में चोर द्वारा सर्वस्व हरण होने पर भी यदि शरीर जीवित रहता है तो समय से सब धन पा लेता है क्योंकि धन चन्द्रमा की कला

के समान बढ़ता है और क्षीण भी हो जाता है। विद्या की महिमा से स्वयं ही उपासक का धन पूर्ण हो जायेगा ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं। यह संदर्भ विद्याफल प्रतिपादन परक है ।।१५।।

अथ त्रयो वाव लोका मनुष्यलोकः पितृलोको देवलोक इति। सोऽयं मनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा। कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोकः। देवलोको वै लोकानां श्रेष्ठस्तस्माद्विद्यां प्रशंसन्ति ।।१६।।

अन्वयार्थ–[अथ] अब मनुष्यादि लोकों का वर्णन आरम्भ किया जाता है [वाव] निश्चय करके [त्रयः] तीन ही [लोकाः] लोक हैं [मनुष्यलोकः] मनुष्य लोक तथा [पितृलोकः] पितृलोक और [देवलोकः] देवलोक है [इति] ऐसा वेद कहता है [सः] वह [अयम्] यह [मनुष्यलोकः] मनुष्य लोक [पुत्रेण] पुत्र से [एव] ही [जय्यः] जीता जा सकता है [अन्येन] अन्य [कर्मणा] कर्म से अथवा विद्या से [न] नहीं तथा [पितृलोकः] पितृलोक [कर्मणा] केवल अग्निहोत्रादिक कर्म से जीतने योग्य है और [देवलोकः] इन्द्रादि देवताओं का लोक [विद्यया] काम्यविद्या विशेष से प्राप्त करने योग्य है पुत्र से अथवा कर्म से नहीं [वै] निश्चय करके [लोकानाम्] सब लोकों में [देवलोकः] दिव्य देव भगवान् का लोक [श्रेष्ठः]श्रेष्ठ है [तस्मात्] श्रेष्ठ लोक के साधन होने के कारण से [विद्याम्] विद्या की [प्रशंसन्ति] प्रशंसा ऋषिगण करते हैं ।।१६।।

विशेषार्थ– अब मनुष्यादि लोकों का वर्णन प्रारम्भ किया जाता है । निश्चय करके मनुष्य लोक १ तथा पितृलोक २ और देवलोक ३ ये ही तीन लोक हैं। उनमें वह यह मनुष्य लोक पुत्र से ही जीता जा सकता है। अन्य कर्म से अथवा विद्या से नहीं मनुष्य लोक जींता जा सकता है। पुत्र के विषय में लिखा है– **जीवतो वाक्यकरणात् क्षयाहे भूरिभोजनात्। गयायां पिण्डदानाच्च त्रिभिः पुत्रस्य पुत्रता।।** (पुराण) जीते हुए पिता के वाक्य पालन करने से तथा मरण दिन में बहुत भोजन कराने से और गया तीर्थ में पिण्डदान करने से यानी इन तीन कर्मो को करने से ही पुत्र की पुत्रता है।। तथा पितृलोक केवल अग्निहोत्रादि कर्म से जीतने योग्य है। पुत्र से अथवा विद्या से नहीं पितृलोक जीतने योग्य है। पितृलोक के विषय में लिखा है– **मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते।।** (यजु० अ० १९ मं० ६०) द्युलोक के मध्य में स्वधा के अन्न से प्रसन्न रहते हैं।।६०।। **आसीनासो अरुणीनामुपस्थे।।** (यजु० अ० १९ मं०

६३) अरुण वर्ण सूर्य की किरणों के ऊपर या गोद में बैठे हुए पितृगण ।।६३।। **तृतीया ह प्रद्यौरिति यस्यां पितर आसते।।** (अथर्व० कां० १८ सू० २ मं० ४८) सबसे ऊपर अन्तरिक्ष का तीसरा भाग सूर्यादि के प्रखर प्रकाश वाला होने से प्रद्यौ कहलाता है, यहाँ पितरों का लोक है जिसमें पितर रहते हैं।।४८।। और देवलोक काम्यविद्या विशेष से प्राप्त करने योग्य है। देवलोक के विषय में लिखा है– **त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते। ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्।।** (गी० अ० ९ श्लोक २०) तीनों वेदों में निष्ठा रखने वाले सोम रस पीने वाले शुद्ध हुए पापों वाले पुरुष यज्ञों से मुझे पूज कर मुझे न जानने के कारण स्वर्ग प्राप्ति की याचना करते हैं वे पुण्य रूप इन्द्रलोक को पाकर स्वर्ग में देवताओं के दिव्य भोगों को भोगते हैं।।२०।। विद्या के विषय में लिखा है– **द्वेविद्येवेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति। पराचैवापरा च।।** (मुण्डको० मुं० १ खं० १ श्रु० ४) **तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमितिहासपुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राणीति अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते ।।५।।** दो ज्ञान जानने योग्य उपादेयभूत हैं इस प्रकार निश्चय करके वेदाभिज्ञ पराशरादि महर्षि कहते आये हैं। निश्चय करके पर यानी अपरोक्ष योगजन्य ज्ञान और अपर यानी परोक्ष शास्त्रजन्य ज्ञान भी है ।।४।। उन योगजन्य ज्ञान और शास्त्रजन्य ज्ञान दोनों में से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष, श्रीरामायणादि इतिहास, विष्णु, पद्म आदि पुराण, न्याय, मीमांसा और धर्मशास्त्र ये सब तो परोक्ष ज्ञान है और जिस अपरोक्ष योगजन्य ज्ञान से वह अविनाशी परब्रह्म यथार्थ जाना जाता है वह अपरोक्ष योगजन्य ज्ञान है।।५।। निश्चय करके सब लोकों में दिव्यदेव भगवान् का लोक श्रेष्ठ है। दिव्य देव एक नारायण हैं क्योंकि लिखा है– **दिव्यो देव एको नारायणः।।** (सुबालोप० खं० ६) दिव्य एक नारायण ही हैं ।।६।। **शुद्धो देव एको नारायणो न द्वितीयोऽस्ति कश्चित् ।।** (नारायणो० श्रु० २) शुद्ध देव एक नारायण हैं दूसरा कोई भी नहीं है ।।२।। अतः श्रेष्ठलोक का साधन होने से विद्या की स्तुति करते हैं ।।१६।।

अथातः संप्रत्तिः। स यदा प्रैष्यन्मन्यते। अथ पुत्रमाह। त्वं ब्रह्म त्वं यज्ञस्त्वं लोक इति स पुत्रः प्रत्याहाहं ब्रह्माहं यज्ञोऽहं लोक इति। यद्वै किञ्चानूक्तं तस्य सर्वस्य ब्रह्मेत्येकता। ये वै के च यज्ञास्तेषां सर्वेषां लोक इत्येकता। एतावद्वा इदं सर्वमेतन्मा सर्वं सन्नयमितोऽभुनजदिति। तस्मात्पुत्रमनुशिष्टं

लोक्यमाहुः। तस्मादेनमनुशासति। स यदैवं-विदस्माल्लोकात्प्रैत्यथैभिरेव प्राणैः सह पुत्रमाविशति। स यद्यनेन किञ्चिदक्ष्णयाऽकृतंभवति तस्मादेनं सर्वस्मात्पुत्रो मुञ्चति तस्मात्पुत्रो नाम। स पुत्रेणैवास्मिँल्लोके प्रतितिष्ठति। अथैनमेते देवाः प्राणा अमृता आविशन्ति ॥१७॥

अन्वयार्थ– (अथ) तीन लोकों के कथन के अनन्तर (अतः) इस हेतु से (संप्रत्तिः) संप्रदान कहा जाता है (सः) वह पिता (यदा) जिस समय में अरिष्ट यानी मरण के पूर्व चिह्न को देख कर (प्रैष्यन्) मैं मरुँगा (मन्यते) ऐसा समझता है (अथ) तब उस समय (पुत्रम्) पुत्र को बुला कर (आह) पिता कहता है कि हे पुत्र (त्वम्) तू (ब्रह्म) है (त्वम्) तू (यज्ञः) यज्ञ है (त्वम्) तू (लोकः) लोक है (इति) इस वाक्य को सुन कर (सः) वह (पुत्रः) शिक्षित पुत्र (प्रत्याह) पिता के प्रति उत्तर में कहता है (अहम्) मैं (ब्रह्म) ब्रह्म हूँ (अहम्) मैं (यज्ञः) यज्ञ हूँ (अहम्) मैं (लोकः) लोक हूँ (इति) इसका अर्थ स्वतः श्रुति कहती है कि (वै) निश्चय करके (यत्) जो (किं+च) कुछ भी (अनूक्तम्) अध्ययन किया हुआ और अध्ययन नहीं किया हुआ है (तस्य) उस (सर्वस्य) सबका (ब्रह्म) वेद वाचक ब्रह्म (इति) इस पद में (एकता) एकता है (च) और हे पुत्र (वै) निश्चय करके (ये) जो (के) कुछ (यज्ञाः) यज्ञ मुझसे किये गये अथवा नहीं किये गये हैं (तेषाम्) उन (सर्वेषाम्) सब यज्ञों का (यज्ञः) यज्ञ (इति) इस पद में (एकता)एकता है (च) और हे पुत्र (वै) निश्चय करके (ये) जो (के) कोई (लोकाः) लोक मुझसे जीते गये अथवा नहीं जीते गये हैं (तेषाम्) उन (सर्वेषाम्) सब लोकों का (लोकः) लोक (इति)इस पद में (एकता)एकता है (वै) निश्चय करके (इदम्) यह (सर्वम्) सब लोक में गृहस्थ पुरुष के करने योग्य (एतावत्) इतना ही है (अयम्) यह सुशिक्षित पुत्र (एतत्) यह (सर्वम्) सब कुछ (सन्) स्वयं होकर इस सारे भार को अपने ऊपर रख कर (इतः) इस लोक से (मा) मुझको (अभुनजत्) पालेगा (इति) इस प्रकार मन्त्र की व्याख्या समाप्त हो गई (तस्मात्) इस कारण से (अनुशिष्टम्) इस प्रकार पिता से सुशिक्षित किये गये (पुत्रम्) पुत्र को (लोक्यम्) लोक साधन (आहुः) विद्वान् लोग कहते हैं (तस्मात्) इसी से (एनम्) इस पुत्र को (अनुशासति) पिता सिखलाते हैं (एवंविद्) इस प्रकार जानने वाला (सः) वह पिता (यदा) जब (अस्मात्) इस (लोकात्) लोक से (प्रैति) जाता है (अथ) तब (एव) निश्चय करके (एभिः) इन वाणी, मन और (प्राणैः) प्राणों के (सह) साथ (पुत्रम्) पुत्र में (आविशति) भलीभाँति

प्रविष्ट हो जाता है (सः) वह पुत्र (यदि) यदि (अनेन) इस पिता द्वारा (अक्ष्णया) कोणछिद्र से या किसी विघ्न से (किञ्चित्) कुछ करने योग्य कर्म (अकृतम्) नहीं किया गया (भवति) होता है तो (तस्मात्) लोक प्राप्ति के प्रतिबन्धक रूप उस (सर्वस्मात्) समस्त अकृत कर्म से (पुत्रः) पुत्र स्वयं सबका अनुष्ठान करता हुआ (एनम्) इस पिता को (मुञ्चति) छुड़ा देता है (तस्मात्) पूर्ति के द्वारा त्राण करता है इस कारण से सन्तान का (पुत्रः) पुत्र (नाम) नाम होता है (सः) वह पिता मरा हुआ भी (पुत्रेण)इसस प्रकार के पुत्र के द्वारा (एव) निश्चय करके (अस्मिन्) इसी (लोके) लोक में (प्रतितिष्ठति) सर्वदा विद्यमान् रहता है इस प्रकार पिता पुत्र से मनुष्य लोक को जीतता है (अथ) इसके बाद (एनम्) इस प्रकार पुत्र के ऊपर भार रख कर परलोक में गये हुए पुण्यकर्मा इस कृतकृत्य पिता में (एते) ये वागादि (प्राणाः) प्राण और (देवाः) वागादि इन्द्रियों के अभिमानी देवता (अमृताः) मरण धर्म से रहित होकर (आविशन्ति) भलीभाँति प्रविष्ट होते हैं ॥१७॥

विशेषार्थ– सोलहवीं कण्डिका में यह कहा गया है कि –"मनुष्यलोक पुत्र से ही जीता जा सकता है" वह पुत्र किस प्रकार मनुष्यलोक की जय का हेतु होता है इसको बतलाने के लिये आगे का ग्रन्थ आरम्भ किया जाता है। अब संप्रत्ति कही जाती है। संप्रत्ति संप्रदान को कहते हैं। पिता मरण काल में अपने सकल कर्तव्य को पुत्र के ऊपर रखता है अर्थात् अब तक मैं वेदाध्ययन यज्ञादि कर्म करता था अब से तुम करना इस प्रकार अपना कर्तव्य भार पुत्र के ऊपर रखता है। इसी कर्म का नाम "संप्रत्ति" है। यह "संप्रत्ति" किस समय करनी चाहिये सो आगे कहा जाता है। वह पिता जब मरने को होता है तब अपने मरण के पूर्व चिह्न आदि को देख कर यह समझता है कि अब मैं मरूँगा । अब मैं इस संसार में कोई कर्म नहीं कर सकता। उस समय प्रथम सुशिक्षित पुत्र को बुला कर पिता कहता है कि हे पुत्र "तू ब्रह्म यानी वेद है" "तू यज्ञ है" "तू लोक है" इस बात को सुन कर वह शिक्षित पुत्र पिता के प्रति उत्तर में कहता है कि– "मैं ब्रह्म यानी वेद हूँ" "मैं यज्ञ हूँ" "मैं लोक हूँ" ये तीन पृथक् पृथक् वाक्य हैं। इन वाक्यों का अर्थ गूढ़ है ऐसा समझ कर परम करुणामयी श्रुति ही इसकी व्याख्या करती है। निश्चय करके जो कुछ भी पढ़ा हुआ अथवा नहीं पढ़ा हुआ है उन सबों की "ब्रह्म" इस पद में एकता है। तात्पर्य इसका यह है कि पिता पुत्र से कहता है कि तू "ब्रह्म" यानी वेद है यहाँ "ब्रह्म" पद अध्ययन से तात्पर्य रखता है। तो यह भाव है कि–जो वेद विषयक स्वाध्याय कार्य इतने समय तक मेरे लिये कर्तव्य था, वह आज के बाद से अब तू उसका करने वाला हो। यह भार अब तेरे ऊपर समर्पित करता हूँ। तू इसको निबाहना। तथा हे पुत्र

निश्चय करके जो कुछ यज्ञ मुझसे किये गये अथवा नहीं किये गये हैं उन सब यज्ञों का "यज्ञ:" इस पद में एकता है। तात्पर्य इसका यह है कि पिता पुत्र से कहता है कि तू "यज्ञ" है। यहाँ "यज्ञ" शब्द अनुष्ठान से तात्पर्य रखता है। तो यह भाव है कि– जो यज्ञ अब तक मेरे द्वारा किये जाने वाले थे वे अब तेरे द्वारा किये जाने वाले हों। और जो यज्ञ मुझ से अनुष्ठित अभी तक नहीं हुए हैं उनका भी तू अनुष्ठान कर। यह भार अब मैं तेरे ऊपर समर्पित करता हूँ। तू इसको निवाहना। और हे पुत्र निश्चय करके जो कोई लोक मुझसे जीते गये अथवा अभी तक नहीं जीते गये हैं उन सब लोकें का "लोक" इस पद में एकता है। तात्पर्य इसका यह है कि पिता पुत्र से कहता है कि तू "लोक" है। इसका भाव यह है कि– मुझसे जितनी विजय हुई उतनी मैंने की अब आज से तू विजय करना। यह भार अब मैं तेरे ऊपर समर्पित करता हूँ। तू इसको निवाहना। ये तीन प्रतिज्ञायें पुत्र से करवाई जाती हैं। निश्चय करके लोक में गृहस्थ पुरुष के करने योग्य वेदाध्ययन यजन और लोक विजय यह सब इतना ही है। यह सुशिक्षित पुत्र स्वयं ये सब कुछ होकर मेरे अधीन रहने वाले इस सारे भार को मुझसे लेकर अपने ऊपर रखकर इस लोक से जाने पर मेरा पालन करेगा। इस प्रकार मन्त्र की व्याख्या समाप्त हो गयी। इस कारण से इस प्रकार पिता से सुशिक्षित किये गये पुत्र को लोक साधन ब्राह्मण ग्रन्थ बतलाते हैं। इसी कारण से इस पुत्र को पितृगण अनुशासन करते हैं। इस प्रकार जानने वाला वह पिता जिस समय इस लोक से जाता है यानी मरता है तब वह इन वाक्, मन और प्राणों के साथ ही पुत्र में प्रविष्ट हो जाता है। अब आगे श्रुति "पुत्र' शब्द का अर्थ बतलाती है। वह पुत्र यदि कभी उसके इस पिता द्वारा कोणछिद्र से या किसी विघ्न से कुछ करने योग्य कर्म बिना किये अपूर्ण ही रह जाता है तो लोक प्राप्ति के प्रतिबन्धक स्वरूप उस समस्त अकृत कर्म से पुत्र स्वयं सबका अनुष्ठान करता हुआ उसकी पूर्ति करके पिता को मुक्त कर देता है। पूर्ति के द्वारा पिता का त्राण करता है इसलिये सन्तान का "त्र" नाम होता है। इस प्रकार के पुत्र के द्वारा वह पिता मर कर भी अमृत रहता है अर्थात् इसी लोक में सर्वदा विद्यमान रहता है। इस प्रकार पुत्र के द्वारा वह पिता मनुष्यलोक को जीतता है। इसके बाद इस प्रकार पुत्र के ऊपर भार रख कर परलोक में गये हुये पुण्यकर्मा इस शान्त चित्त कृतकृत्य पिता में ये वाक्, मन और प्राण तथा वाक् आदिक इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देवगण अमरण धर्मी हो आविष्ट होते हैं। इस कण्डिका में "ब्रह्म" पद वेद वाचक है क्योंकि लिखा है– **वेदस्तत्त्वं तपो ब्रह्म ब्रह्मा विप्रः प्रजापतिः॥** (अमर० कां० ३ श्लोक ११४) वेद १, तत्त्व २, तप ३, परब्रह्म ४, ब्रह्मा ५, ब्राह्मण ६ और प्रजापति ७ ब्रह्मन् शब्द का अर्थ है॥११४॥ "अभुनजत्" यह **भुज**

पालनाभ्यवहारयोः ॥ इस धातु की लङ्लकार की क्रिया है। यहाँ "लट्" के अर्थ में **व्यत्ययो बहुलम्॥** पा० व्या० अ० ३ पा० १ सू० ८५) इस सूत्र से "लङ्" का प्रयोग हुआ है। और यहाँ पर विकरण का भी व्यत्यय हुआ है। क्योंकि लिखा है– **सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणां कालहलचस्वरकर्तृयङां च। व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोऽपि च सिद्ध्यति बाहुलकेन ॥** (सिद्धान्तकौ०) इस कारिका से "अभुनक्" के स्थान में पूर्वोक्त प्रयोग हुआ है। अर्थात् यहाँ पर काल और विकरण दोनों का व्यत्यय हुआ है। और कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् में लिखा है– **अथातः पिता पुत्रीयं सम्प्रदानमिति चाचक्षते पिता पुत्रं प्रेष्यन्नाह्वयति न वै स्तृणैरगारं संस्तीर्याग्निमुपसमाधायोदकुम्भं सपात्रमुपनिधायाहतेन वाससा सम्प्रच्छन्नः पिता शेत एत्य पुत्र उपरिष्टादभिनिष्पद्यत इन्द्रियैरिन्द्रियाणि संस्पृश्यापि वास्मा आसीनायाभिमुखायैव सम्प्रदद्यादथास्मै संप्रयच्छति वाचं मे त्वयि दधानीति पिता वाचं ते मयि दध इति पुत्रः प्राणं मेत्वयि दधानीति पिता प्राणं ते मयि दध इति पुत्रश्चक्षुर्मे त्वयि दधानीति पिता चक्षुस्ते मयि दध इति पुत्रः श्रोत्रं मे त्वयि दधानीति पिता श्रोत्रं ते मयि दध इति पुत्रो मनो मे त्वयि दधानीति पिता मनस्ते मयि दध इति पुत्रोऽन्नरसान्मे त्वयि दधानीति पितान्नरसांस्ते मयि दधइति पुत्रः कर्माणि मे त्वयि दधानीति पिता कर्माणि ते मयि दध इति पुत्रः सुखदुःखे मे त्वयि दधानीति पिता सुखदुःखे ते मयि दध इति पुत्र आनन्दं रतिं प्रजातिं मे त्वयि दधानीति पिता आनन्दं रतिं प्रजातिं ते मयि दध इति पुत्रः इत्यां मे त्वयि दधानीति पिता इत्यां ते मयि दध इति पुत्रो धियो विज्ञातव्यं कामान्मेत्वयि दधानीति पिता धियो विज्ञातव्यं कामांस्ते मयि दध इति पुत्रोऽथ दक्षिणावृदुपनिष्क्रामति तं पितानुमंत्रयते यशो ब्रह्मवर्चसं कीर्तिस्त्वा जुषतामित्यथेतरःसव्यमन्वंसमभ्यवेक्षते पाणिनान्तर्धाय वसनान्तेन वा प्रच्छाद्य स्वर्गान् लोकान् कामानाप्नुहीति स यद्यगदः स्यात्पुत्रस्यैश्वर्ये पिता वसेत्परि वा व्रजेद्यद्यु वै प्रेयात्तथैवैनं समापयति तथा समापयितव्यो भवति तथा समापयितव्यो भवति॥** (कौषीतकि ब्रा० उ० अ० २ श्रु० १५) अब इसके पश्चात् पिता पुत्र का सम्प्रदान कर्म बतलाते हैं। पिता पुत्र को अपनी जीवन शक्ति प्रदान करता है अतएव इसको पिता पुत्रीय सम्प्रदान कर्म कहते हैं । पिता यह निश्चय करके कि अब मुझे इस लोक से प्रयाण करना है, पुत्र को अपने समीप बुलाये । नूतन कुश कास आदि तृणों से अग्निशाला को आच्छादित करके विधिपूर्वक अग्नि की स्थापना करे। अग्नि के उत्तर या पूर्व भाग में जल से भरा हुआ कलश स्थापित करे। कलश के ऊपर धान्य से भरा हुआ पात्र भी होना चाहिये। स्वयं भी नवीन धोती और उत्तरीय धारण

करे। इस प्रकार श्वेत वस्त्र और माला आदि से अलंकृत हो घर में आकर पुत्र को पुकारे। जब पुत्र समीप आ जाय तो सब ओर से उसके ऊपर पड़ जाय अर्थात अङ्क में भर ले और अपनी इन्द्रियों से उसकी इन्द्रियों का स्पर्श करे तात्पर्य यह कि नेत्र से नेत्र का, नाक से नाक का तथा अन्य इन्द्रियों से उसकी अन्य इन्द्रियों का स्पर्श करे। अथवा केवल पुत्र के सम्मुख बैठ जाय और उसे अपनी वाक् इन्द्रिय आदि का दान करे। पिता कहे कि– बेटा मैं तुममें वाक् इन्द्रिय स्थापित करता हूँ। पुत्र उत्तर दे कि– पिताजी मैं आपकी वाक् इन्द्रिय को अपने में धारण करता हूँ। पुनः पिता कहे कि–मैं अपने प्राण यानी घ्राणेन्द्रिय को तुझ में स्थापित करता हूँ। पुत्र उत्तर दे कि– पिताजी मैं आपके प्राण यानी घ्राणेन्द्रिय को अपने में धारण करता हूँ। पिता कहे कि– बेटा मैं अपनी चक्षु इन्द्रिय को तुममें स्थापित करता हूँ। पुत्र उत्तर दे कि– पिताजी मैं आपकी चक्षु इन्द्रिय को अपने में धारण करता हूँ। पिता कहे कि– बेटा मैं तुममें अपनी श्रोत्रेन्द्रिय को स्थापित करता हूँ। पुत्र उत्तर दे कि– पिताजी मैं आपकी श्रोत्रेन्द्रिय को अपने में धारण करता हूँ। पिता कहे कि– बेटा मैं तुममें अपने मन को स्थापित करता हूँ। पुत्र उत्तर दे कि– पिताजी मैं आपके मन को अपने में धारण करता हूँ। पिता कहे कि– बेटा मैं अपने अन्न के रसों को तुममें स्थापित करता हूँ। पुत्र उत्तर दे कि– पिताजी मैं आपके अन्न के रसों को अपने में धारण करता हूँ। पिता कहे कि– हे वत्स मैं अपने कर्मों को तूझमें स्थापित करता हूँ। पुत्र उत्तर दे कि– पिताजी मैं आपके कर्मों को अपने में धारण करता हूँ। पिता कहे कि– हे पुत्र मैं अपने सुख और दुःख को तुममें स्थापित करता हूँ। पुत्र उत्तर दे कि– पिताजी मैं आपके सुख और दुःख को अपने में धारण करता हूँ। पिता कहे कि– बेटा मैं अपने मैथुन जनित आनन्द को तथा रति को और सन्तानोत्पत्ति की शक्ति को तुममें स्थापित करता हूँ। पुत्र उत्तर दे कि– पिताजी मैं आपके मैथुन जनित आनन्द को तथा रति को और सन्तानोत्पत्ति की शक्ति को धारण करता हुँ। पिता कहे कि– हे वत्स मैं अपनी गति शक्ति को तुममें स्थापित करता हूँ। पुत्र उत्तर दे कि– पिताजी मैं आपकी गति शक्ति को अपने में धारण करता हूँ। पिता कहे कि– बेटा मैं अपनी बुद्धि वृत्तियों को तथा बुद्धि के द्वारा ज्ञातव्य विषय को और विशेष कामनाओं को तुम में स्थापित करता हूँ। पुत्र उत्तर दे कि– पिताजी मैं आपकी बुद्धि वृत्तियों को तथा बुद्धि के द्वारा ज्ञातव्य विषय को और विशेष कामनाओं को अपने में धारण करता हूँ। तदनन्तर पुत्र पिता की प्रदक्षिणा करते हुए पूर्व दिशा की ओर पिता के समीप से निकलता है। उस समय पिता पीछे से पुत्र को सम्बोधित करके कहते हैं कि– यश ब्रह्मतेज अन्न को खाने और पचाने की शक्ति तथा उत्तम कीर्ति ये समस्त सद्गुण तुम्हारा सेवन करें। पिता

के यों कहने पर पुत्र अपने बायें कन्धे की ओर दृष्टि घुमा कर देखे और हाथ से ओट करके अथवा कपड़े से आड़ करके पिता को उत्तर दे। "आप अपनी इच्छा के अनुसार कमनीय स्वर्गलोक तथा वहाँ के भोगों को प्राप्त करें" इसके बाद यदि पिता नीरोग हो तो वह पुत्र के प्रभुत्व में ही वहाँ निवास करे। पुत्र को घर का स्वामी समझे और अपने को उसके आश्रित माने अथवा सब कुछ त्याग कर घर से निकल जाय–संन्यासी हो जाय। अथवा यदि वह परलोकगामी हो जाय तो जिन जिन वाक् आदि इन्द्रियों को उसने पुत्र में स्थापित किया था उन सभी की शक्तियों का यह पुत्र उसी प्रकार आश्रय हो जाता है। वे सभी शक्तियाँ उसे प्राप्त होती हैं॥१५॥ उस प्रकार का सम्प्रत्ति कर्म प्रतिपादन किया गया है॥१७॥

पृथिव्यै चैनमग्नेश्च दैवी वागाविशति। सा वै दैवी वाग्यया यद्यदेव वदति तत्तद्भवति॥१८॥

अन्वयार्थ– (पृथिव्यै) पथ्वी से (च) और (अग्नेः) अग्नि से (च) भी (दैवी) देवशक्तियुक्ता (वाक्) वाणी (एनम्) इस कृतकृत्य परलोकगत पुरुष में (आविशति) प्रविष्ट होती है (वै) निश्चय करके (सा) वही (दैवी) दैवी (वाक्) वाणी है (यया) जिस वाणी से (यद्) जो (यद्) जो (वदति) पुरुष कहता है (एव) निश्चय करके (तत्) वही (तत्) वही (भवति) हो जाता है। अर्थात् शाप और अनुग्रहादि समर्थ दैवी वाणी होती है॥१८॥

विशेषार्थ– पृथ्वी से और अग्नि से दैवी वाक् इस कृतकृत्य परलोक गत महात्मा में भलीभाँति प्रवेश करती है। क्योंकि पूर्व में कहा गया है कि **तस्यै वाचः पृथिवी शरीरं ज्योतीरूपमयमग्निः॥** (बृह० उ० अ०१ ब्रा०५ कं०११) उस वाक् इन्द्रिय का पृथ्वी शरीर है और ज्योतिर्मय अधिष्ठातृ देवता स्वरूप यह अग्नि है॥११॥ दैवी वाक् कौन है सो आगे कहा जाता है । वही दैवी वाक् है जिससे पुरुष जो जो बोलता है वह वह होता है। शाप और वरदान देने में समर्थ तथा अनृतादि दोष से रहित और शुद्ध दैवी वाणी होती है॥१८॥

दिवश्चैनमादित्याच्च दैवं मन आविशति। तद्वै दैवं मनो येनाऽऽनन्द्येव भवत्यथो न शोचति॥१९॥

अन्वयार्थ– (दिवः) द्युलोक से (च) और (आदित्यात्) आदित्य से (च) भी (दैवम्) देवशक्तियुक्त (मनः) मन (एनम्) इस कृतकृत्य परलोक गत पुरुष में (आविशति) आविष्ट हो जाता है (वै) निश्चय करके (तत्) वही (दैवम्) दैव (मनः)

मन है (येन) जिस मन से युक्त उपासक (आनन्दी) आनन्द वाला (भवति) हो जाता है (अथो) और (एव) निश्चय करके कभी (न) नहीं (शोचति) शोक करता है ॥१९॥

विशेषार्थ– द्युलोक से और अदिति के पुत्र सूर्य से दैव मन इस कृतकृत्य परलोक गत महात्मा में आविष्ट हो जाता है। दैव मन कौन है सो आगे कहा जाता है। जिस मन से युक्त उपासक आनन्दी यानी सुखी हो जाता है और कभी शोक नहीं करता है वही दैव मन है । निश्चय करके स्वभाव से ही निर्मल दैव मन होता है। मन के विषय में लिखा है– **मनो हि द्विविधंप्रोक्तं शुद्धंचाशुद्धमेव च। अशुद्धं कामसङ्कल्पं शुद्धं कामविवर्जितम्॥** (ब्रह्मबिन्दूप० श्रु० १) **मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः। बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम् ॥२॥ यतो निर्विषयस्यास्य मन सो मुक्तिरिष्यते। तस्मान्निर्विषयं नित्यं मनः कार्यं मुमुक्षुणा॥३॥** निश्चय करके शुद्ध भेद से मन दो प्रकार का कहा गया है। काम सङ्कल्पयुक्त मन अशुद्ध है और कामविवर्जित मन शुद्ध है॥१॥ मन ही मनुष्यों के बन्धन और मोक्ष में कारण है। विषयासक्तमन बन्धन के लिये कहा गया है और विषय रहित मन मोक्ष के लिये कहा गया है॥२॥ जिस कारण से विषय रहित इस मन को मोक्ष कहा गया है इससे मुमुक्षु पुरुषों को चाहिये कि सर्वदा विषय रहित मन को करें॥३॥ **चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्। तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥** (गी० अ० ६ श्लोक ३४) क्योंकि हे कृष्ण यह मन बड़ा चञ्चल प्रमथनशील दृढ़ और बलवान् है। उसका रोकना मैं वायु के रोकने के समान अत्यन्त कठिन मानता हूँ॥३४॥ **असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्। अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥** (गी० अ० ६ श्लोक ३५) हे अर्जुन निःसन्देह मन चञ्चल और दुर्निग्रह है, परन्तु हे कौन्तेय अभ्यास और वैराग्य से यह मन वश में किया जाता है॥३५॥ ऐसा स्पष्ट कहा गया है ॥१९॥

अद्भ्यश्चैनं चन्द्रमसश्च दैवः प्राण आविशति। स वै दैवः प्राणो यः सञ्चरँश्चासञ्चरँश्च न व्यथतेऽथो न रिष्यति। स एवंवित्सर्वेषां भूतानामात्मा भवति यथैषा देवतैवम्। स यथैतां देवतां सर्वाणि भूतान्यवन्त्येवं हैवंविदं सर्वाणि भूतान्यवन्ति। यदु किञ्चेमाः प्रजाः शोचन्त्यमैवाऽऽसां तद्भवति। पुण्यमेवामुं गच्छति न ह वै देवान्पापं गच्छति॥२०॥

अन्वयार्थ– (अद्भ्यः) जल से (च) और (चन्द्रमसः) चन्द्रमा से (च) भी

(दैवः) दैव (प्राणः) प्राण (एनम्) इस कृतकृत्य परलोकगत पुरुष में (आविशति) आविष्ट हो जाता है (वै) निश्चय करके (सः) वही (दैवः) दैव (प्राणः) प्राण है (यः) जो (सञ्चरन्) चलता हुआ (च) और (असञ्चरन्) नहीं चलता हुआ (च) भी (न) नहीं (व्यथते) व्यथित होता है (अथो) और (न) नहीं (रिष्यति) हिंसा को ही प्राप्त होता है (यथा) जैसे (एषा) यह (देवता) वाक् इन्द्रियादि देवता (सर्वेषाम्) समस्त (भूतानाम्) प्राणियों की (आत्मा) आत्मा परम प्रिय (भवति) हो जाता है (एवम्) वैसा ही (एवंवित्) इस प्रकार के जान्ने वाला विद्वान् (सः) वह उपासक हो जाता है (सः) सो (यथा) जैसे (एताम्) इस (देवताम्) वाक् इन्द्रियादि देवता को (सर्वाणि) समस्त (भूतानि) प्राणी (अवन्ति) पूजा के द्वारा रक्षा करते हैं (एवम्) वैसे (ह) ही (एवंविदम्) ऐसे जाननेवाले महात्मा को भी (सर्वाणि) सम्पूर्ण (भूतानि) प्राणी(अवन्ति) पूजा करके रक्षा करते हैं (इमाः) ये (प्रजाः) प्रजाएँ (उ) निश्चय करके (यद्) जो (किं+च) कुछ भी (शोचन्ति) शोक करती हैं (तत्) वह शोकजनित पाप (आसाम्) इन प्रजाओं के (अमा)साथ (एव) ही सद्यः (भवति) संयुक्त हो जाता है (वै) निश्चय करके (ह) सुप्रसिद्ध (देवान्) तत्तत्पापंकर्म में प्रवर्तक इन्द्रियाधिष्ठातृ देवों को (पापम्) वह पाप (न) नहीं (गच्छति) प्राप्त होता है।।२०।।

विशेषार्थ– जल से और चन्द्रमा से अप्रतिहतगमनादि व्यापार हेतु और हिंसानर्ह दैव प्राण इस कृतकृत्य परलोकगत महात्मा में आविष्ट हो जाता है। दैव प्राण कौन है सो आगे कहा जाता है। वही दैव प्राण है "जो सबमें सञ्चार करता हुआ और नहीं सञ्चार करता हुआ कभी नहीं पीड़ित होता है और न नष्ट ही होता है" देवता की प्रसन्नता से ही उपासक का इस प्रकार दैव प्राण हो जाता है। अब जो उपासक इस प्रकार जानता है उसका फल कहा जाता है। जैसे यह वाक् इन्द्रियादि देवता सम्पूर्ण प्राणियों का परम प्रिय आत्मा हो जाती है वैसे ही इस प्रकार का जानने वाला विद्वान् वह उपासक समस्त प्राणियों की आत्मा हो जाता है अर्थात् सर्वभूतान्तर्वर्त्ति ज्ञान वाला और सब प्राणियों के प्रेरणा सामर्थ्य वाला हो जाता है । जिस प्रकार वागादि के अधिष्ठातृ देव को सब प्राणी यज्ञादि से पालन यानी पूजन करते हैं उसी प्रकार ऐसी उपासना करने वाले महात्मा का सब प्राणी पूजन करते हैं । अब इसमें दैवीशक्ति के प्रवेश से क्या लाभ है यह बतलाया जाता है। ये प्रजाएँ जो कुछ भी शोक करती हैं वह शोक जनित पाप इन प्रजाओं के साथ ही सद्यः संयुक्त रहता है। इस तत्त्ववेत्ता महात्मा को पुण्य ही प्राप्त होता है। क्योंकि निश्चय करके तत्तत् पाप कर्म में प्रवर्तक इन्द्रियाधिष्ठातृ देवताओं को वह पाप नहीं प्राप्त होता है। तादृश उपासना के प्रभाव से उपासक को पाप स्पर्श नहीं करता है।।२०।।

अथातो व्रतमीमांसा। प्रजापतिर्हि कर्माणि ससृजे। तानि सृष्टान्यन्योन्येनास्पर्धन्त। वदिष्याम्येवाहमिति वाग्दध्रे। द्रक्ष्याम्यहमिति चक्षुः श्रोष्याम्यहमिति श्रोत्रमेवमन्यानि कर्माणि यथा कर्म । तानि मृत्युः श्रमो भूत्वोपयेमे। तानाप्नोत्। तान्याप्त्वा मृत्युरवारुन्ध। तस्माच्छ्राम्यत्येव वाक् श्राम्यति चक्षुः श्राम्यति श्रोत्रम्। अथेममेव नाऽऽप्नोद्योऽयं मध्यमः प्राणः। तानि ज्ञातुं दध्रिरे। अयं वै नः श्रेष्ठो यः संचरँश्चासंचरँश्च न व्यथतेऽथो न रिष्यति हन्तास्यैव सर्वे रूपमसामेति त एतस्यैव सर्वे रूपमभवन्। तस्मादेत एतेनाऽऽख्यायन्ते प्राणा इति। तेन ह वाव तत्कुलमाचक्षते यस्मिन्कुले भवति य एवं वेद। य उ हैवंविदा स्पर्धतेऽनुशुष्यत्यनुशुष्य हैवान्ततो म्रियत इत्यध्यात्मम्॥२१॥

अन्वयार्थ– (अथ) वाक्, मन और प्राण के उपास्यत्व कहने के अनन्तर अब (अतः) वागादिकों में मुख्यतया किसकी उपासना करनी चाहिये इस जिज्ञासा के निर्णय के लिये यहाँ से (व्रतमीमांसा) उपासनात्मक व्रत का अच्छा विचार आरम्भ किया जाता है (हि) निश्चय करके (प्रजापतिः) प्रजाओं के रक्षक प्रजापति ने (कर्माणि) कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों को (ससृजे) उत्पन्न किया (तानि) उन (सृष्टानि) रची हुई इन्द्रियों ने (अन्योन्येन) एक दूसरे से यानी परस्पर (अस्पर्धन्त) स्पर्धा यानी संघर्ष किया (एव) निश्चय करके (अहम्) मैं (वदिष्यामि) सदा बोलती रहूँगी (इति) ऐसे अभिमान को (वाक्) वाक् इन्द्रिय ने (दध्रे) धारण किया और (अहम्) मैं (द्रक्ष्यामि) देखता ही रहूँगा (इति) ऐसे अभिमान को (चक्षुः) नेत्र ने धारण किया तथा (अहम्) मैं (श्रोष्यामि) सुनती ही रहूँगी (इति) ऐसे अभिमान को (श्रोत्रम्)कर्णेन्द्रिय ने धारण किया (एवंम्) इसी प्रकार (अन्यानि) अन्यान्य (कर्माणि) कर्म करनेवाली घ्राणादि इन्द्रियों ने (अपि) भी (यथाकर्म) जिसका जो कर्म था उसके अनुसार स्वविषयक अभिमान को धारण किया तब (मृत्युः) पदार्थ विनाशक मरण (श्रमः) थकावट का रूप (भूत्वा) होकर (उपयेमे) इन्द्रियों के समीप प्राप्त हुआ (तानि) अपने व्यापार में लगी हुई उन इन्द्रियों को (आप्नोत्) श्रम रूपी मृत्यु ने प्राप्त किया (मृत्युः) श्रम रूपी मृत्यु ने (तानि) उन इन्द्रियों में (आप्त्वा) व्याप्त होकर (अवारुन्ध) रोक दिया

अर्थात् कार्य करने में असमर्थ कर दिया (तस्मात्) इस कारण से (एव) निश्चय करके (वाक्) वाणी (श्राम्यति) थक ही जाती है और (चक्षुः) नयन (श्राम्यति) थक ही जातां है इस प्रकार इस शरीर में जितनी इन्द्रियाँ हैं वे सब थक जांती हैं (अथ) वागादि इन्द्रियों के अभिमान भग्न होने के बाद (इमम्) इस प्राण को (एव) ही (न) नहीं (आप्नोन्त्) श्रम रूपी मृत्यु ने पा सकी (यः) जो (अयम्) यह (मध्यमः) देह के मध्य में रहने वाला (प्राणः) मुख्य प्राण है वही श्रम रहित है (तानि) वे श्रान्त वागादि इन्द्रियाँ हमलोगों में कौन श्रेष्ठ है इस बात को (ज्ञातुम) जानने के लिये (दध्रिरे) मन में धारण कीं कि (वै) निश्चय करके (अयम्) यह मुख्य प्राणही (नः) हम सब में (श्रेष्ठः) श्रेष्ठ है क्योंकि (यः) जो (सञ्चरन्) दिन रात चलता हुआ (च) और (असञ्चरन्) नहीं चलता हुआ (च) भी (न) नहीं (व्यथते) कभी थकता है (अथो) और (न) नहीं (रिष्यति) हिंसित ही होता है (हन्त) अच्छा अब (सर्वे) हम सब (अस्य) इस प्राण के (एव) ही (रूपम्) रूप को (असाम) प्राप्त होवें (इति) इस प्रकार निश्चय कर (ते) वे वागादि इन्द्रियाँ (सर्वे) सब (एतस्य) इस मुख्य प्राण के (एव) ही (रूपम्) रूप (अभवन्) हो गयीं अर्थात् अपनी सत्ता कों प्राण के ही अधीन उन्होंने कर दिया (तस्मात्) इस कारण से (एते) ये वागादिक इन्द्रिय (एतेन) इस प्राण के नाम से ही (प्राणाः) प्राण (इति) ऐसा कह कर (आख्यायन्ते) पुकारी जाती हैं (यः) जो कोई उपासक (एवम्) इस प्रकार प्राण की श्रेष्ठता आदि को (वेद) अच्छे प्रकार जानता है (ह) प्रसिद्ध वह प्राणवेत्ता पुरुष (यस्मिन्) जिस (कुले) कुल में (भवति) उत्पन्न होता है (तत्) उस (कुलम्) कुल को (वाव) निश्यच करके (तेन) उस विद्वान् के नाम से (आचक्षते) सब कोई कहते हैं (उ) निश्चय करके (यः) जो कोई (ह) प्रसिद्ध (एवंविदा) इस प्रकार जानने वाले प्राणवेत्ता के साथ (स्पर्धते) प्रतिपक्षी होकर स्पर्धा करता है (अनुशुष्यति) वह इसी शरीर में सूख जाता है और (अनुशुष्य) सूख कर (ह) निश्चय (एव) ही (अन्ततः) अन्त में (म्रियते) मर जाता है (इति) इस प्रकार (अध्यात्म) शरीर विषयक प्राण की उपासना समाप्त हुई ॥२१॥

विशेषार्थ– वाक्, मन और प्राण के साधारण रूप से उपास्यत्व कहने के अनन्तर अब प्राण की श्रेष्ठता के निर्णय के लिये आगे की कण्डिका की जाती है कि– अब यहाँ से आगे उपासनात्मक व्रत का अच्छा विचार प्रारम्भ किया जाता है। शास्त्रीय पर्वों पर उपवासादि करना तथा किसी प्रकार नियम ग्रहण करना व्रत कहलाता है। अच्छे विचार को मीमांसा कहते हैं। निश्चय करके प्रजाओं के रक्षक प्रजापति ने कर्म करने वाली इन्द्रियों की सृष्टि रची। इस श्रुति में कर्म के साधन होने के कारण वागादि

इन्द्रियों को "कर्म" कहा गया है। इन्द्रियों के विषय में लिखा है– **श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी। पायूपस्थं हस्तपादं वाक् चैव दशमी स्मृता** ।। (मनु० अ० श्लोक ९०) **बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैषां श्रोत्रादीन्यनुपूर्वशः । कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैषां पाय्वादीनि प्रचक्षते ।।९१।।** श्रोत्र १, त्वक् २, नेत्र ३, जिह्वा ४ और पाँचवीं नासिका ५, पायु ६, उपस्थ ७, पाणि ८, पाद ९ और दशवीं वाक् १० ये इन्द्रियाँ हैं ।।९०।। इन सबों में श्रोत्र १,त्वक् २, नेत्र ३, जिह्वा ४ और नासिका ५ ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं और पायु १, उपस्थ २, पाणि ३, पाद ४ और वाक् ५ ये पाँच कर्मेनिद्रयाँ कही जाती हैं।।९१।। **ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्चैव श्रोत्रत्वग्लोचनादयः।।** (वराहोप० अ० १ श्रु० २) **कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैव वाक् पाण्यङ्घ्र्यादयः क्रमात्।।३।।** श्रोत्र १, त्वक् २, नेत्र ३ घ्राण ४, रसना ५ ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं ।।२।। और वाक् १, पाणि २, पाद ३, पायु ४ उपस्थ ५ ये पाँच क्रम से कर्मेन्द्रियाँ हैं ।।३।। **इन्द्रियाणि दशैकं च।।** (गी० अ० १३ श्लोक ५) दस इन्द्रियाँ और एक मन ।।५।। उन रची हुई इन्द्रियों ने एक दूसरी से स्पर्धा की यानी परस्पर संघर्ष किया। किस प्रकार स्पर्धा की सो आगे बतलाया जाता है। मैं सदा बोलती ही रहूँगी मुझसे अन्य कोई भाषण करने के लिये नहीं समर्थ है ऐसे अभिमान व्रत को वाक् इन्द्रिय ने धारणा किया । और मैं सदा देखती ही रहूँगी मुझसे अन्य कोई देखने के लिये नहीं समर्थ है ऐसे अभिमान व्रत को नेत्रेन्द्रिय ने धारण किया। और मैं सदा सुनती ही रहूँगी मुझसे अन्य कोई सुनने के लिये नहीं समर्थ है ऐसे अभिमान व्रत को श्रोत्रेन्द्रिय ने धारण किया । और मै सदा सूँघती ही रहूँगी मुझसे अन्य कोई सूंघने के लिये नहीं समर्थ है ऐसे अभिमान व्रत को घ्राणेन्द्रिय ने धारण किया । तथा मैं सदा रस लेती ही रहूँगी मुझसे अन्य कोई रस लेने के लिये नहीं समर्थ है ऐसे अभिमान व्रत को रसना ने धारण किया। इसी प्रकार अन्यान्य कर्म करने वाली अन्य इन्द्रियों ने भी जिसका जो कर्म था उसके अनुसार स्वविषयक अभिमान व्रत को धारण किया। तब मृत्यु यानी मारक ने श्रम का रूप होकर वागादि इन्द्रियों के निकट प्राप्त हुआ और श्रम रूपी मृत्यु ने अपने अपने व्यापार में लगी हुईं उन इन्द्रियों को पकड़ लिया। तथा उसने उन वागादि इन्द्रियों में व्याप्त होकर उनका अवरोध किया अर्थात् कार्य करने में असमर्थ कर दिया। इन इन्द्रियों में थकावट रूप मृत्यु विद्यमान है। इस कारण से वाक् इन्द्रिय श्रमित होती है और नेत्रेन्द्रिय भी श्रमित होती है तथा श्रोत्रेन्द्रिय भी श्रमित होती है। इस प्रकार इस शरीर में जितनी कर्म करने वाली इन्द्रियाँ हैं वे सब थक जाती हैं । यह प्रत्यक्ष से भी सिद्ध है ही। इस प्रकार वागादि इन्द्रियों का अभिमान व्रत भग्न होने के अनन्तर एक मुख्य प्राण को ही श्रम रूपी मृत्यु नहीं प्राप्त कर सकी। निश्चय करके जो शरीर के मध्य में रहने वाला मुख्य

प्राण है वही श्रम रहित है। तदनन्तर वे श्रान्त वागादि इन्द्रियों ने हमलोगों में कौन श्रेष्ठ है इस बात को जानने के लिये मन में निश्चय धारणा की कि निश्चय करके यह मुख्य प्राण ही हम सबों में श्रेष्ठ है, क्योंकि जो यह सर्वदा सञ्चार करते हुए और नहीं सञ्चार करते हुए भी व्यथित नहीं होता है और न हिंसित ही होता है। अच्छा अब हम सभी भी इस मुख्य प्राण के ही रूप को प्राप्त होवें। इस प्रकार निश्चय करके वे वागादि इन्द्रियाँ सब इस मुख्य प्राण के ही रूप हो गयीं। अर्थात् अपनी सत्ता को प्राण के ही अधीन उन्होंने कर दिया। इस कारण से ये वागादिक इन्द्रियाँ इस प्राण के नाम से ही "प्राण" इस प्रकार कह कर पुकारी जाती हैं। अब आगे प्राणवेत्ता पुरुष का फल कहा जाता है। जो कोई उपासक पुरुष इस प्रकार समस्त इन्द्रियों की प्राण रूपता तथा प्राण की श्रेष्ठता आदि को अच्छे प्रकार जानता है वह सुप्रसिद्ध प्राणवेत्तापुरुष जिस कुल में उत्पन्न होता है उस कुल को निश्चय करके उस प्राणवेत्ता के नाम से ही सब कोई कहते हैं। जैसे रघु राजा के नाम से रुघुकुल और कुरु राजा के नाम से कुरुकुल तथा यदु राजा के नाम से यदुकुल और पुरु राजा के नाम से पुंरुकुल इत्यादि । कुल के विषय में लिखा है— **संततिर्गोत्रजननकुलान्यभिजनान्वयौ। वंशोऽन्ववायः सन्तानः॥** (अमर० कां० २ व० ७ श्लोक १) संतति १, गोत्र २, जनन ३, कुल ४, अभिजन ५, अन्वय ६, वंश ७, अन्ववाय ८ और संतान ९ ये वंश के नाम हैं ॥१॥ और निश्चय करके जो कोई भी इस प्रकार जानने वाला सुप्रसिद्ध प्राणवेत्ता के साथ स्पर्धा करता है । अर्थात् इसका शत्रु बन कर इसको दबाने के लिये यत्न करता है वह प्रतिपक्षी इस शरीर में सूख जाता है और सूख कर निश्चय ही अन्त में मर जाता है। इस प्रकार यह अध्यात्म प्राणोपासना का प्रकार कहा गया है। ब्रह्मराक्षसमोचक भगवद्रामानुजाचार्यने— **भेदश्रुतेर्वैलक्षण्याच्च॥** (शा० मी० अ० २ पा० ४ सू० १६) इस सूत्र के श्रीभाष्य में "बृहदारण्यकोपनिषद्" के प्रथम अध्याय के पञ्चम ब्राह्मण की इक्कीसवीं कण्डिका के "त एतस्यैव सर्वे रूपमभवन्। तस्मादेत एतेनाख्यायन्ते" इन वाक्यों को उद्धृत किया है ॥२१॥

अथाधिदैवतम्। ज्वलिष्याम्येवाहमित्यग्निर्दध्रे। तप्स्याम्यहमित्यादित्यो भास्याम्यहमिति चन्द्रमाः । एवमन्या देवता यथा दैवतम् । स यथैषां प्राणानां मध्यमः प्राण एवमेतासां देवतानां वायुः । म्लोचन्तीहान्या देवता न वायुः सैषाऽनस्तमिता देवता यद्वायुः ॥२२॥

अन्वयार्थ– (अथ) अध्यात्म प्राणोपासना वर्णन के अनन्तर अब (अधिदैवतम्) अधिदैवत उपासना प्रकार कहा जाता है (एव) निश्चय करके (अहम्)मैं (ज्वलिष्यामि) जलता ही रहूँगा (इति) ऐसे अभिमान को (अग्निः) अग्निदेव ने (दध्रे) धारण किया और (अहम्) मैं (तप्स्यामि) तपता ही रहूँगा (इति) ऐसे अभिमान को (आदित्यः) अदिति के पुत्र सूर्यदेव ने धारण किया और (अहम्) मैं (भास्यामि) प्रकाशित ही रहूँगा (इति) ऐसे अभिमान को (चन्द्रमाः) चन्द्रमा देव ने धारण किया (एवम्) इसी प्रकार (अन्याः) अन्य दिशा आदिक (देवताः) देवताओं ने भी (यथा दैवतम्) जिस देवता का जो कार्य है उसके अनुसार स्वविषयक अभिमान को धारण किया (यथा) हृदय मध्यवर्ती (प्राणः) मुख्य प्राण श्रेष्ठ है (एवम्) वैसे ही (एतासाम्) इन अग्नि आदिक (देवतानाम्) देवताओं के मध्य में (वायुः) वायुदेव श्रेष्ठ है क्योंकि (इह) यहाँ भूलोक में (अन्याः) अन्य सूर्यादिक (देवताः) देव (म्लोचन्ति) अस्त हो जाते हैं किन्तु (वायुः) वायुदेव (न) अस्त नहीं होता है (सा) सो (एषा) यह (अनस्तमिता) अस्त नहीं होने वाला (देवता) देवता है (यत्) जो (वायुः) वायु देवता है ।।२२।।

विशेषार्थ– अध्यात्म प्राणोपासना प्रकार कहने के बाद अब अधिदैवत यानी देवता विषयक उपासना प्रकार कहा जाता है। अर्थात् इस बात का विचार किया जाता है कि किस देवता विशेष की उपासना करनी चाहिये। इन्द्रियों के देवता के विषय में लिखा है– **दिग्वातार्कप्रचेतोऽश्विवह्नीन्द्रोपेन्द्रमृत्युकाः । तथा चन्द्रश्चतुर्वक्त्रो रुद्रः क्षेत्रज्ञ ईश्वरः॥** (वरा० उ० अ० १ श्रु० १४) श्रोत्र इन्द्रिय के देवता दिशा १, प्राण के वायु देवता २, नेत्र इन्द्रिय के देवता सूर्य ३, जिह्वा इन्द्रिय के देवता वरुण ४, घ्राण इन्द्रिय के देवता अश्विनी कुमार ५, वाक् इन्द्रिय के देवता अग्नि ६, पाणि इन्द्रिय के देवता इन्द्र ७ पाद इन्द्रिय के देवता उपेन्द्र ८, पायु इन्द्रिय के देवता मृत्यु ९ मन के चन्द्रमा देवता १० उपस्थ इन्द्रिय के देवता प्रजापति ११, बुद्धि के ब्रह्मा देवता १२, अहङ्कार के रुद्र देवता १३, चित्त के क्षेत्रज्ञ देवता १४ ये सब देवता हैं ।।१४।। ये सब देवों ने परस्पर संघर्ष किया । किस प्रकार स्पर्धा की सो आगे बतलाया जाता है। मैं जलाता ही रहूंगा मेरे समान कोई भी नहीं है ऐसे अभिमान व्रत को वागिन्द्रियाभिमानी अग्निदेव ने धारण किया । और मैं तपता ही रहूँगा मेरे समान कोई भी नहीं है ऐसे अभिमान व्रत को नेत्रेन्द्रियाभिमानी सूर्यदेव ने धारण किया । तथा मैं चमकता ही रहूँगा मेरे समान कोई भी नहीं है ऐसे अभिमान व्रत को मन के अभिमानी चन्द्रमा देव ने धारण किया। और इसी प्रकार अन्य दिशा आदिक देवताओं ने भी जिस देवता का जो कार्य है उसके अनुसार स्व स्व विषयक अभिमान व्रत को धारण किया । व्रत के विषय में लिखा है– **नियमो व्रतमस्त्री ॥** (अमर० कां०२ व० ७

श्लोक ३७) नियम १, व्रत २ ये व्रत के नाम हैं ॥३७॥ जिस प्रकार अध्यात्म वागादि इन्द्रियों के मध्य में वह हृदय मध्य में रहने वाला मुख्य प्राण श्रम रूपी मृत्यु से ग्रस्त नहीं होने के कारण से श्रेष्ठ है उसी प्रकार इन अग्नि आदिक देवताओं के मध्य में वायु देवता अस्त श्रम रूपी मृत्यु से नहीं ग्रस्त होने के हेतु से श्रेष्ठ है क्योंकि इस कर्म भूमि भूलोक में अग्नि, सूर्यादिक देवगण अस्त हो जाते हैं परन्तु वायुदेव अस्त नहीं होता है। अतः जो वायु है वह कभी अस्त नहीं होने वाला देवता है। वही वायुदेव उपास्य है। इसी से लिखा है– **नमस्ते वायो । त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि । त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि ॥** (तैत्ति० उ० व० १ अनु० १ श्रु० १) हे वायुदेव तुम्हारे लिये नमस्कार है । तुम निश्चय करके प्रत्यक्ष प्राण रूप से प्रतीत होनेवाले ब्रह्म हो । तुमको ही प्रत्यक्ष ब्रह्म मैं कहूँगा ॥१॥ इस प्रकार वर्णन किया गया है ॥२२॥

अथैष श्लोको भवति । यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छतीति । प्राणाद्वा एष उदेति प्राणेऽस्तमेतीति । तं देवाश्चक्रिरे धर्मं स एवाद्य स उ श्व इति । यद्वा एतेऽमुर्ह्यध्रियन्त तदेवाप्यद्य कुर्वन्ति । तस्मादेकमेव व्रतं चरेत् । प्राण्याच्चैवापान्याच्च नोम्ना पाप्मा मृत्युराप्नुवदिति । यद्युच्चरेत्समापिपयिषेत् । तेनो एतस्यै देवतायै सायुज्यं सलोकतां जयति ॥२३॥

॥ इति प्रथमाध्याये पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥

अन्वयार्थ–(अथ) और इस प्रकृत विषय में (एषः) यह वक्ष्यमाण (श्लोकः) श्लोक रूप मन्त्र (भवति) होता है (च) और (यतः) जिससे (सूर्यः) सूर्य (उदेति) उदय होता है (च) और (यत्र) जिसमें (अस्तम्) अस्त को (गच्छति) वह सूर्य प्राप्त होता है (इति) इतना श्लोक का पूर्वार्ध है यहाँ ब्राह्मण संक्षेप से स्वयं व्याख्या करता है (वै) निश्चय करके (एषः) यह सूर्य (प्राणात्) प्राण से यानी वायु से (उदेति) उदित होता है और (प्राणे) प्राण में यानी वायु में (अस्तम्) अस्त को (एति) सूर्य प्राप्त होता है (इति) यह मन्त्र के पूर्वार्ध का अर्थ है अब आगे श्लोक का उत्तरार्ध कहा जाता है (देवाः) देवताओं ने (तम्) उस प्राणोपासन को (एव) ही (धर्मम्) श्रेयः साधन धर्म (इति) इस प्रकार (चक्रिरे) निश्चय किया था (सः) वही धर्म (श्वः) कल भी अनुष्ठान करने योग्य है तथा अब संक्षेप से उत्तरार्ध का व्याख्यान स्वयं

श्रुति करती है (वै) निश्चय करके (यत्) जिस कारण से (एते) ये वागादिक क्रीडा करने वाली इन्द्रियाँ सब (अमुर्हि) उस पूर्वकाल में (अध्रियन्त) मुख्य प्राण को ही उपास्य समझ कर धारण की (तत्) उसी कारण से (एव) निश्चय करके (अद्य) आज (अपि) भी (कुर्वन्ति) प्राणोपासना को ही करती हैं (तस्मात्) इस कारण से (एकम्) एक प्राणोपासना (एव) ही (व्रतम्) व्रत को (चरेत्) अनुष्ठान करे (च) और उपासनारम्भ समय में अङ्गरूप से (प्राण्यात्) प्राणन व्यापार करे अर्थात् अभ्यन्तर से बाहरश्वास लेवे (च) और (एव) निश्चय करके (अपान्यात्) अपानन व्यापार करे अर्थात् बाहर से अभ्यन्तर मेंश्वास खीचे (उत्) निश्चय करके (पाप्मा) पापी (मृत्युः) मृत्यु (मा) मुझको (न) नहीं (आप्नुवत्) प्राप्त कर ले (इति) इस बुद्धि से (यदि) यदि (उच्चरेत्) इस प्राणोपासनाको प्रथम प्रारम्भ करे तो (समापिपयिषेत्) इसको समाप्त करने की भी इच्छा करे मध्य में विच्छेद न करे (उ) निश्चय करके (तेन) उस प्राणोपासना के करने से (एतस्यै) इस (देवतायै) प्राण देवता के (सायुज्यम्) सायुज्य को और (सलोकताम्) समान लोकता को (जयति) प्राप्त कर लेता है ।।२३।।

विशेषार्थ– जो पूर्व कण्डिका में कहा गया है उसी अर्थ का प्रकाशक यह वक्ष्यमाण श्लोक रूप मन्त्र है। "जहाँ से सूर्य उदय होता है और जहाँ वह सूर्य अस्त हो जाता है" यह श्लोक रूप मन्त्र का पूर्वार्ध है। इस मन्त्र के पूर्वार्ध की व्याख्या संक्षेप से स्वयं करुणामयी श्रुति करती है। "प्राण से ही यह सूर्य उदित होता है और प्राण में ही अस्त हो जाता है" यह मंत्र के पूर्वार्ध का अर्थ है। इस श्रुति में "प्राण" शब्द वायु वाचक है । क्योंकि वायु प्रेरणा के अधीन सूर्योदय होता है। प्राण के विषय में लिखा है– **हृदि प्राणः स्थितो नित्यम्॥** (योगचूडामण्यु० श्रु०२३) हृदय में सर्वदा प्राणवायु रहती है।।२३।। अब आगे श्लोक रूप मन्त्र का उत्तरार्ध कहा जाता है। "देवताओं ने उस प्राणोपासना को ही श्रेयः साधन धर्म निश्चय किया है" धर्म के विषय में लिखा है– **चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः॥** (पूर्व मी० अ० १ पा० १ सू०२) चोदना लक्षण अर्थ धर्म है।।२।। **यतोऽभ्युदयनिश्श्रेयससिद्धिः स धर्मः॥** (वैशेषि० अ०१ आह्नि १ सू० २) जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस सिद्धि हो वह धर्म है।।२।। "वही प्राणोपासना रूप धर्म आज भी अनुष्ठान करने योग्य है" इस प्रकार यहाँ समस्त मन्त्र कहा गया है। अब श्लोक रूप मन्त्र के उत्तरार्ध का व्याख्यान संक्षेप से स्वयं श्रुति करती है। निश्चय करके जिस कारण से ये वागादिक देव यानी क्रीडा करने वाले इन्द्रिय सब उस पूर्व काल मं मुख्य प्राण को ही उपास्य जान कर उपासना करने के लिये धारण किये। उसी कारण से आज भी मुख्य प्राणोपासना को ही करते हैं। इस कारण से एक मुख्य प्राणोपासना ही व्रत का अनुष्ठान करे। और उपासना के

आरम्भ समय में उपासना के अङ्ग रूप से प्राणन व्यापार करे अर्थात् अभ्यन्तर से बाहर श्वास लेवे और अपानन व्यापार करे अर्थात् बाहर से अभ्यन्तर में श्वास खींचे। निश्चय करके इस बुद्धि से कि मुझे कीं पापी श्रम रूपी मृत्यु प्राप्त न कर ले। यदि कभी इस प्राणोपासना को प्रथम प्रारम्भ करे तो इसको समाप्त करने की भी इच्छा करे। मध्य में विच्छेद न करे क्योंकि यदि बीच में ही हट जायेगा तो प्राण का पराभव होगा। निश्चय करके उस प्राणोपासना के करने से इस प्राण देवता के सायुज्य को और सालोक्य को वह उपासक पाता है। यहाँ पर "बृहदारण्यकोपनिषद्" के प्रथम अध्याय का पञ्चम सप्तान्न ब्राह्मण समाप्त हो गया।।२३।।

॥ अथ षष्ठं ब्राह्मणम् ॥

त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म। तेषां नाम्नां वागित्येतदेषामुक्थम्। अतो हि सर्वाणि नामान्युत्तिष्ठन्ति। एतदेषां साम। एतद्धि सर्वैर्नामभिः समम्। एतदेषां ब्रह्म। एतद्धि सर्वाणि नामानि बिभर्ति।।१।।

अन्वयार्थ--(वै) निश्चय करके (इदम्) ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त यही जगत् (नाम) देवदत्तादि नाम तथा (रूपम्) **शुक्लादि रूप** और (कर्म) चलनादि कर्म (त्रयम्) तीन का समुदाय है (तेषाम्) उन (एषाम्) इन देवदत्तादि (नाम्नाम्) नामों का (वाक्) वाणी (इति) इस शब्द से निर्दिष्ट (एतत्) यह वस्तु (उक्थम्) उपादान कारण है (हि) क्योंकि (अतः) इस वाणी से (सर्वाणि) समस्त घट और पट अदिक (नामानि) नाम (उत्तिष्ठन्ति) उत्पन्न होते हैं (एतत्) यह वाक् इन्द्रिय (एषाम्) इन नामों का (साम) साम है(हि) क्योंकि (एतत्) यह वाणी (सर्वैः) सब (नामभिः) नामों के साथ (समम्) तुल्य है (एतत्) यह वाक् इन्द्रिय (एषाम्) इन नामों का (ब्रह्म) ब्रह्म है (हि) क्योंकि (एतत्) यही वाणी ही (सर्वाणि) समस्त (नामानि) नामों को (बिभर्ति) धारण करती है।।१।।

विशेषार्थ— निश्चय करके ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त दृश्यमान यह जगत् तीन का समुदाय है। वह तीन कौन हैं सो आगे बतलाया जाता है। विष्णुदत्त, यज्ञदत्त आदिक नाम १ तथा **शुक्ल,** रक्त, कृष्ण आदिक रूप २ और गमन, अध्ययन, भोजन आदिक कर्म ३ यह तीन का समुदाय है। उन नाम तथा रूप और कर्म के मध्य में इन विष्णुदत्तादि नामों की वाणी इस शब्द से निर्दिष्ट यह वस्तु उपादान कारण है। क्योंकि लिखा है— **यः कश्च शब्दो वागेव सा॥** (बृह० उ० अ० १ ब्रा० ५ कं० ३) जो कुछ शब्द है वह

वाक् ही है।।३।। क्योंकि इस वाणी रूप शब्द से सब घट पट अदि नाम उत्पन्न होते हैं। अर्थात् वाक् इन्द्रिय के अधीन सब नामों का उच्चारण है। यह वाणी रूप शब्द ही इन नामों के साथ तुल्य है और यह वाक् इन्द्रिय इन नामों का ब्रह्म है। क्योंकि यह वाणी ही सम्पूर्ण नामों को धारण करती है। यहाँ पर "उक्थ" तथा "साम" और "ब्रह्म" शब्द का रूढ्यर्थ न लेकर यौगिकार्थ का ग्रहण किया गया है। जिससे उत्पन्न हो उसे उक्थ कहते हैं। यहाँ "उत्+स्था" से उक्थ बनाया गया है। जो "सम" हो वह साम है। यहाँ सम और साम एकार्थक माना गया है। जो सबको धारण करे वह ब्रह्म। यहाँ "भृ" धातु से ब्रह्म माना गया है। अर्थात् जैसे वैदिक क्रिया में उक्थ, साम और ब्रह्म होते हैं वैसे ही नाम में भी सब हैं।।१।।

अथो रूपाणां चक्षुरित्येतदेषामुक्थम्। अतो हि सर्वाणि रूपाण्युत्तिष्ठन्ति। एतदेषां सामैतद्धि सर्वै रूपैः समम्। एतदेषां ब्रह्मैतद्धि रूपाणि बिभर्ति।।२।।

अन्वयार्थ– (अथो) नाम के वर्णन के अनन्तर अब रूप के विषय में कहा जाता हैं (एषाम्) इन शुक्ल रक्त आदि (रूपाणाम्) रूपों का (चक्षुः) नेत्र (इति) इस शब्द से निर्दिष्ट (एतत्) यह वस्तु (उक्थम्) उपादान कारण है (हि) क्योंकि (अतः) इस चक्षु से (सर्वाणि) समस्त (रूपाणि) शुक्ल आदिक रूप (उत्तिष्ठन्ति) उत्पन्न होते हैं (एषाम्) इन शुल्कादि रूपों का (एतत्) यह चक्षु (साम) साम है (हि) क्योंकि (एतत्) यह चक्षु (सर्वैः) सब (रूपैः) रूपों के साथ (समम्) तुल्य है (एषाम्) इन शुल्कादि रूपों का (एतत्) यह चक्षु (ब्रह्म) ब्रह्म है (हि) क्योंकि (एतत्) यह चक्षु (सर्वाणि) समस्त (रूपाणि) रूपों को (बिभर्ति) धारण करता है।।२।।

विशेषार्थ– नाम के वर्णन करने के बाद अब रूप के विषय में कहा जाता है। केवल नेत्रेन्द्रिय से जो ग्रहण किया जाता है उसको रूप कहते हैं। इन शुल्क, रक्त, कृष्ण आदि रूपों का नेत्र ही उपादान कारण है। क्योंकि इस नेत्र से ही समस्त शुल्कादि रूप उत्पन्न होते हैं और इन शुक्लादि रूपों का यह नेत्र साम है। क्योंकि यह नेत्र समस्त रूपों के साथ समान है। और इन शुक्लादि रूपों का यह नेत्र ब्रह्म है। क्योंकि यह नेत्र सारे शुक्लादि रूपों को धारण करता है।।२।।

अथ कर्मणामात्मेत्येतदेषामुक्थमतो हि सर्वाणि कर्माण्युत्तिष्ठन्त्येतदेषां सामैतद्धि सर्वैः कर्मभिः सममेतदेषां ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि कर्माणि बिभर्ति। तदेतत्त्रयं सदेकमयमात्मा।

आत्मैकः सन्नेतत्त्रितयम्। तदेतदमृतं सत्येन च्छन्नम्। प्राणो वा अमृतं नामरूपे सत्यं ताभ्यामयं प्राणश्छन्नः॥३॥

॥ इति प्रथमाध्याये षष्ठं ब्राह्मणम् ॥

॥ इति बृहदारण्यकोपनिषदि प्रथमोऽध्यायः ॥

अन्वयार्थ–(अथ) रूप के वर्णन के अनन्तर अब कर्म का वर्णन किया जाता है (एषाम्) इन पुण्य पाप रूप (कर्मणाम्) कर्मों का (आत्मा) जीवात्मा (इति) इस शब्द से निर्दिष्ट (एतत्) यह वस्तु (उक्थम्) उत्पादक है (हि) क्योंकि (अतः) इस जीवात्मा से (सर्वाणि) समस्त पुण्य पाप रूप (कर्माणि) कर्म (उत्तिष्ठन्ति) उत्पन्न होते हैं (एषाम्) इन पुण्य पाप रूप कर्मों का (एतत्) यह जीवात्म स्वरूप (साम) साम है (हि) क्योंकि (यः) जीवात्म स्वरूप (सर्वैः) समस्त पुण्य पाप रूप (कर्मभिः) कर्मों से (समम्) तुल्य है और (एषाम्) इन पुण्य पाप रूप कर्मों का (एतत्) यह जीवात्म स्वरूप (ब्रह्म) ब्रह्म है (हि) क्योंकि (एतत्) यह जीवात्मा (सर्वाणि) समस्त पुण्य पाप रूप (कर्माणि) कर्मों को (बिभर्ति) धारण करती है (तत्) वह (एतत्) यह (त्रयम्) नाम, रूप, कर्म तीन (सत्) आत्मा से गृहीत विवेकवाले पुरुष का सत्य है और पामर पुरुषों की (अयम्) यह (आत्मा) जीवात्मा (एकम्) एक है पुनः दृढ़ इस विषय को श्रुति करती है (आत्मा) जीवात्मा (एकः) एक (सन्) है ऐसा अविवेकियों का कथन है और (एतत्) यह (त्रितयम्) नाम रूप और कर्म लक्षण तीन आत्मानुगृहीत सत्य है ऐसा विवेकी पुरुषों का कथन है (तत्) वह (एतत्) यह [अमृतम्] अमृत जीवात्मा [सत्येन] सत्य से [छन्नम्] ढकी हुई है [वै] निश्चय करके [प्राणः] प्राण यानी जीवात्मा [अमृतम्] अमृत है और [नामरूपे] नाम तथा रूप [सत्यम्] सत्य है यानी कर्म फल है [ताभ्याम्] कर्म फल भूत उन दोनों तथा रूपों से संपिण्डित [अयम्] यह [प्राणः] प्राण यानी जीवात्मा व्याधकुल संवर्धित राजकुमार के समान [छन्नः] प्रच्छन्न नाम और रूप से गृहीत विवेक वाली होती है।।३।।

विशेषार्थ– रूप का वर्णन करने के बाद अब कर्म के विषय में कहा जाता है। जो कुछ किया जाता है उसी को कर्म कहते हैं। इस पुण्य, पाप रूप कर्मों का जीवात्मा ही उक्थ यानी उत्पादक है। क्योंकि इस जीवात्मा से ही पुण्य पाप रूप सम्पूर्ण कर्म उत्पन्न होते हैं। इस श्रुति में "आत्मा" शब्द जीव वाचक है क्योंकि लिखा है– **आत्मा यत्नो धृतिर्बुद्धिः स्वभावो ब्रह्म वर्ष्म च॥** [अमर० कां०३ व०३ श्लोक १०९] आत्मन् शब्द का अर्थ जीवात्मा १, उपाय २, धीरता ३, बुद्धि ४, स्वभाव ५, परब्रह्म

६ और शरीर ७ होता है।।१०९।।और **उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।।** [गी० अ०६ श्लोक ५] मनुष्य मन से आत्मा का उद्धार करे आत्मा को नीचे न गिरावे।।५।। यहाँ पर जीव वाचक ''आत्मन्'' शब्द का प्रयोग हुआ है। इन पुण्य पाप रूप कर्मों का यह जीवात्मा साम है। क्योंकि यह जीवात्मा समस्त पुण्य पाप रूप कर्मों से समान है। और इन पुण्य पाप रूप कर्मों का यह जीवात्मा ब्रह्म है। क्योंकि यह जीवात्मा सम्पूर्ण पुण्य पाप रूप कर्मों को धारण करती है। सो यह नाम, रूप और कर्म लक्षण तीन आत्मा से अनुगृहीत विवेक वाले पुरुषों के सत्य हैं और पामर पुरुषों की यह जीवात्मा एक है। पुनः करुणामयी श्रुति इस विषय को दृढ़ करती है कि– जीवात्मा एक है ऐसा अविवेकी पुरुषों का कथन है। और यह नाम, रूप और कर्म लक्षण तीन आत्मानुगृहीत सत्य है ऐसा विवेकी महानुभावों का कथन है। वह यह अमृत सत्य से आच्छादित है। श्रुति का अर्थ अत्यन्त गूढ़ होता है इससे अब स्वतः श्रुति ''अमृतं सत्येन छन्नम्'' इस खण्ड का अर्थ करती है। निश्चय करके प्राण यानी जीवात्मा अमृत है। यहाँ पर ''प्राण'' शब्द जीवात्मा वाचक है। क्योंकि लिखा है– **प्राणो वा आशाया भूयान्।। यथा वा अरा नाभौ समर्पिता एवमस्मिन्प्राणे सर्वं समर्पितम्। प्राणः प्राणेन याति प्राणः प्राणं ददाति प्राणाय ददाति।। प्राणो ह पिता प्राणो माता प्राणो भ्राता प्राणः स्वसा प्राण आचार्यः प्राणो ब्राह्मणः।।** [छा० उ० प्रपा० ७ खं० १५ श्रु० १] प्राण सहचारी जीवात्मा निश्चय करके इच्छित पदार्थ की प्रार्थना रूप आशा से अधिक श्रेष्ठ है। क्योंकि जैसे निश्चय करके रथ चक्र के अरे यानी छोटे छोटे तिरछे काष्ठ खण्ड रथ चक्र की नाभि में लगे हुए रहते हैं वैसे ही समस्त अचेतन भूत जात इस प्राण सहचारी चेतन जीवात्मा में समर्पित यानी सम्बद्ध है। प्राण शब्द निर्दिष्ट जीव देवदत्तादिक प्राण शब्द वाच्य अश्व आदि से जाता है। प्राण शब्द निर्दिष्ट जीव हरिदत्तादि प्राण शब्द वच्य जीव गौ आदिक को देता है। तथा प्राण शब्द वाच्य जीव ब्राह्मणादि के लिए देता है और पिता प्राण शब्द निर्दिष्ट जीव प्रसिद्ध है। माता प्राण शब्द वाच्य जीव ही प्रसिद्ध है। भाई प्राण सहचारी जीव प्रसिद्ध है। और बहन प्राण शब्द वाच्य जीव ही प्रसिद्ध है। तथा आचार्य प्राण शब्द निर्दिष्ट जीव प्रसिद्ध है। और ब्राह्मणत्व जाति विशिष्ट ब्राह्मण प्राण शब्द वाच्य जीव प्रसिद्ध ही है।।१।। इस श्रुति में स्पष्ट ''प्राण'' शब्द जीव में प्रयुक्त हुआ है। और नाम तथा रूप सत्य है यानी कर्म फल है। यहाँ पर ''सत्य'' शब्द कर्मफल वाचक है। क्योंकि लिखा है– **ऋतं पिबन्तो सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्ध्ये।।** [कठोप० अ० १ व० ३ श्रु० १] अपने किये हुए शुभ कर्मों के फलस्वरूप मनुष्य के शरीर में परमोत्तम परब्रह्म के सर्वोत्कृष्ट निवास स्थान हार्दाकाश में हृदय रूप गुफा में प्रवेश किये हुए जीवात्मा और परमात्मा ये दोनों सत्य

पदवाची अवश्यंभावी कर्मफल को अनुभव करते हुए– या भोगते हुए हैं॥१॥ इस श्रुति में सत्य का पर्याय वाचक ऋत शब्द का अर्थ कर्मफल ही होता है। अर्थात् कर्म फल भूत उन दोनों नाम और रूपोंसे संपिण्डित यह जीवात्मा व्याध कुल संवर्धित राजकुमार के समान प्रच्छन्न नाम और रूप से गृहीत विवेक वाली हो जाती है। "बृहदारण्यकोपनिषद्" के प्रथम अध्याय के पहले ब्राह्मण में दो कण्डिकाएँ और दूसरे ब्राह्मण में सात कण्डिकाएँ तथा तीसरे ब्राह्मण में अट्ठाईस कण्डिकाएँ और चौथे ब्राह्मण में सत्रह कण्डिकाएँ तथा पाँचवें ब्राह्मण में तेईस कापिडकाएँ और छठवें ब्राह्मण में तीन कण्डिकाएँ हैं। इस प्रकार सब परिगणन करने से इस प्रथम अध्याय में अस्सी कण्डिकाएँ हैं। यहाँ पर "बृहदारण्यकोपनिषद्" के प्रथम अध्याय का षष्ठ उक्थ ब्राह्मण और प्रथम अध्याय भी समाप्त हो गया॥३॥

॥ अथ द्वितीयोऽध्यायः ॥

॥ अथ प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

दृप्तबालाकिर्हानूचानो गार्ग्य आस । स होवाचाजातशत्रुं काश्यं ब्रह्म ते ब्रवाणीति । स होवाचाजातशत्रुः । सहस्रमेतस्यां वाचि दद्मो जनको जनक इति वै जना धावन्तीति ॥१॥

अन्वयार्थ– (ह) प्रसिद्ध यह आख्यायिका है कि (गार्ग्यः) गर्गगोत्र में उत्पन्न होने वाला (दृप्तबालाकिः) बलाक ऋषि के पुत्र दृप्तबालाकि नाम वाला (अनूचानः) साङ्गवेद वक्ता (आस) था (सः) वह दृप्तबालाकि (ह) सुप्रसिद्ध (काश्यम्) काशिराज (अजातशत्रुम्) अजातशत्रु नाम के राजा से (ते) तुम्हारे लिये (ब्रह्म) परब्रह्म नारायण का (ब्रवाणि) मैं उपदेश करूँ (इति) ऐसा (उवाच) कहा तब इस बात को सुन कर (ह) प्रसिद्ध (सः) वह (अजातशत्रुः) अजातशत्रु नामवाले राजा ने (उवाच) कहा कि (एतस्याम्) इस (वाचि) वचन के निमित्त (सहस्रम्) सौ गायें (दद्मः) हम देते हैं (वै) निश्चय करके (जनकः) जनक राजा ब्रह्म श्रवण की इच्छा वाला है और (जनकः) जनक राजा दाता भी है (इति) ऐसा समझ कर (जनाः) ब्रह्मतत्त्व को सुनने और कहने की इच्छा वाले तथा प्रतिग्रह की इच्छा वाले सब लोग (धावन्ति) जनक राजा के पास दौड़ते जाते हैं (इति) इस कारण से आपके वाक्य से मैं बड़ा प्रसन्न हूँ॥१॥

विशेषार्थ– जगत् करण परब्रह्म नारायण को विस्तार से समझाने के लिये द्वितीय अध्याय प्रारम्भ किया जाता है। यह सुप्रसद्धि आख्यायिका है कि किसी समय में गर्गगोत्र में उत्पन्न होने वाला तथा बलाक ऋषिं के पुत्र और परब्रह्म नारायण को सम्यक् रूप से न जानने के कारण गर्विष्ठ "दृप्तबालाकि" नाम वाला सांग वेद वक्ता ऋषि था। अनूचान के विषय में लिखा है– **एकां शाखामधीत्य श्रोत्रियोऽङ्गाध्याय्यनूचानः॥** (श्रुति०) अपने वेद की एक शाखा को पढ़ कर जो श्रोत्रिय व्याकरण १, शिक्षा २, निरुक्त ३, कल्प ४, छन्द ५, ज्योतिष् ६ इन छः अङ्गों का अध्ययन करता है वही अनूचान कहा जाता है।। **न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः । ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान् ॥** (अनु० अ० २ श्लोक १५४) बहुत वर्षों से नहीं और केश श्मश्रु लोम के शुक्ल होने से नहीं तथा बहुत धन से नहीं और पितृव्य आदि बन्धु भावों से नहीं महान् होता है किन्तु ऋषियों ने इस धर्म को निर्णय किया है कि जो साङ्ग वेदाध्येता है वही हम सबों में महान् यानी बड़ा है ।।१५४।। "**दृप हर्षमोहनयोः। मोहनं गर्वः**" इस गर्वार्थक दृप धातु से "दृप" शब्द निष्पन्न होता है। इससे इसका अर्थ गर्वित अहङ्कारी होता है। "बलाका" माता के पुत्र को भी "बलाकि" कहते हैं । वह दृप्त बलाकि ऋषि काशिराज के पास जाकर काशी देशाधिपति अजातशत्रु नाम के राजा से स्पष्ट बोला कि– "मैं तुम्हारे प्रति परब्रह्म नारायण का उपदेश करुँ" इस वाणी को सुनकर उस सुप्रसिद्ध अजातशत्रु नाम के राजा ने दृप्तबालाकि ऋषि से कहा कि– आपने जो कहा है कि "मैं तुम्हारे प्रति परब्रह्म का उपदेश करुँ" सो आपके इस कथन के लिए "मैं सहस्र गौएँ देता हूँ" क्योंकि आज तक मेरे समीप आकर आपके समान कोई भी नहीं कहा। निश्चय करके जनक राजा ब्रह्म श्रवण की इच्छा वाला है और जनक राजा देने की इच्छा वाला है यह समझ कर ब्रह्मतत्त्व को सुनने और कहने की इच्छा वाले तथा दान लेने की इच्छा वाले सब मनुष्य दौड़ते हुए जनक राजा के ही निकट जाते हैं। इस कारण से आपके वाक्य से मैं अत्यन्त सन्तुष्ट हूँ। इसके समान ही "कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद" में भी लिखा है– **अथ ह वै गार्ग्यो बालाकिरनूचानः संस्पष्ट आस सोऽयमुशीनरेषु संवसन्मत्स्येषु कुरुपञ्चालेषु काशीविदेहेष्विति । स हाजातशत्रुं काश्यमेत्योवाच ब्रह्म ते ब्रवाणीति तं होवाचाजातशत्रुः सहस्त्रं दद्मस्त एतस्यां वाचि जनको जनक इति वा उ जना धावन्तीति ॥** (कौषी० ब्रा० उ० अ०४ श्रु०१) किसी एक समय की बात है कि गर्ग गोत्र में उत्पन्न एवं बलाक के पुत्र "बालाकि" नाम से प्रसिद्ध एक ब्राह्मण थे। उन्होंने वेदों का अध्ययन तो किया ही था, वे वेदों के अच्छे वक्ता भी थे। उन दिनों संसार में सब ओर उनकी बड़ी ख्याति थी । वे उशीनर देश के निवासी थे। परन्तु सर्वदा

विचरण करते रहने के कारण कभी मत्स्य देश में, कभी कुरु पाञ्चाल में और कभी काशी तथा मिथला प्रान्त में रहते थे। इस प्रकार वे सुप्रसिद्ध बालाकि एक दिन काशी के विद्वान् राजा अजातशत्रु के पास गये और अभिमान पूर्वक बोले-- राजन् मैं तुम्हारे लिये ब्रह्मतत्त्व का उपदेश करूँगा। बालाकि के यों कहने पर उन प्रसिद्ध राजा अजातशत्रु ने कहा— ब्रह्मन् आपकी इस बात पर हम आपको एक हजार गौएँ देते हैं। निश्चय ही आजकल लोग जनक जनक कहते हुए ही उनके समीप दौड़े जाते हैं। अर्थात् राजा जनक ही ब्रह्मविद्या के श्रोता और दानी हैं ऐसा कह कर प्रायः लोग उन्हीं के निकट जाते हैं। आज आपने हमारे पास इसी उद्देश्य से आकर राजा जनक के समान ही हमारा गौरव बढ़ाया है। अतः हम आपको एक हजार गौएँ देते हैं ॥१॥ और जनक के विषय में लिखा है-- **कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ॥** (गी०अ०३ श्लोक २०) ज्ञानियों में अग्रगण्य जनकादि राजर्षिगण भी कर्म के आचरण से ही संसिद्धि को प्राप्त हुए ॥२०॥ **निमिः परमधर्मात्मा सर्वसत्ववतां वरः ॥** (वाल्मी० रा० बाल कां० १ सर्ग० ७१ श्लोक ३) **तस्य पुत्रो मिथिर्नाम जनको मिथिपुत्रकः ॥४॥** सब प्राणियों में श्रेष्ठ परम धर्मात्मा निमिराज थे॥३॥ निमिराज का पुत्र मिथि नाम वाला हुआ और मिथि राजा का पुत्र जनक राजा हुआ ॥४॥ **अराजकभयं नृणां मन्यमाना महर्षयः । देहं ममन्थुः स्म निमेः कुमारः समजायत ॥** (श्रीमद्भा० स्कं० ९ अ० १३ श्लोक १२) **जन्मना जनकः सोऽभूद् वैदेहस्तु विदेहजः । मिथिलो मथनाज्जातो मिथिला येन निर्मिता ॥१३॥** वशिष्ठ महर्षि के शाप से निमि राजा के देहपात होने पर मनुष्यों में अराजकता के भय मानते हुए महर्षि सबों ने निमि राजा के देह को मन्थन किया। उस मन्थन करने से एक कुमार उत्पन्न हुआ ॥१२॥ मंथन करने से कुमार उत्पन्न हुआ इससे उसका नाम मिथिल पड़ा जिसने मिथिला नगरी का निर्माण किया है यानी बसाया है और केवल पिता से जन्म होने के कारण वह पुत्र जनक नाम से प्रसिद्ध हुआ तथा विनष्ट देह से उत्पन्न होने के कारण विदेह नाम से वह कुमार प्रसिद्ध हुआ॥१३॥ "जनक" इस शब्द का अर्थ वास्तव में " उत्पादक पिता है" इस श्रुति में "जनक जनक" दो बार कथन से यह अभिप्राय है कि इसको केवल जनक नाम मात्र ही नहीं है किन्तु पिता पुत्र का सम्बन्ध भी प्रजा के साथ रहता है और जैसे पिता निज पुत्र के अध्ययन के लिये पूर्ण प्रयत्न करता है और जब पढ़ करके पुत्र गृह पर आता है उसकी विद्या की परीक्षा करके यथोचित सत्कार भी करता है इसी प्रकार यह राजा विद्याध्ययन में सहायक भी होता है और ब्रह्मवेत्ता से विद्या सुन कर उनका पुरस्कार भी करता है। अथवा यह राजा प्रतिदिन नवीन नवीन विद्या का "जनक" आविष्कर्ता है क्योंकि इसकी प्रतिभा ऐसी तीक्ष्ण है कि वह प्रतिदिन

कुछ न कुछ नवीन ही बात सोचता विचारता है। इस आशय को दिखलाने को ''जनक जनक'' दो बार शब्द आया है। ''अजातशत्रु'' यह नाम सूचित करता है कि इसके हृदय में शत्रुता का गन्ध मात्र भी नहीं है ।।१।।

स होवाच गार्ग्यो य एवासावादित्ये पुरुषस्तमेवाहं ब्रह्मोपास इति। स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठाः। अतिष्ठाः सर्वेषां भूतानां मूर्धा राजेति वा अहमेतमुपास इति। स य एतमेवमुपास्तेऽतिष्ठाः सर्वेषां भूतानां मूर्धा राजा भवति ।।२।।

अन्वयार्थ– (सः) वह (ह) प्रसिद्ध (गार्ग्यः) गर्गवंशोत्पन्न दृप्त बालाकि (उवाच) बोला कि (एव) निश्चय करके (यः) जो (असौ) यह (आदित्ये) सूर्यमण्डल में (पुरुषः) पुरुष है (तम्) उसी को (एव) निश्चय करके (अहम्) मैं (ब्रह्म) परब्रह्म नारायण मान कर (उपासे) उपासना करता हूँ (इति) इस कारण से तुम भी उसी की उपासना करो इस वाक्य को सुनकर (ह) प्रसिद्ध विद्वान् (सः) वह (अजातशत्रुः) अजातशत्रु नाम के काशिराज ने (उवाच) कहा कि (मा) मत (संवदिष्ठाः) संवाद करो क्योंकि अज्ञात विषय में संवाद करना चाहिये। यह तो ज्ञात ही है (वै) निश्चय करके (अतिष्ठाः) यह आदित्य अपने तेज से सब भूतों को अतिक्रमण करके रहता है और (सर्वेषाम्) समस्त (भूतानाम्) प्राणियों का (मूर्धा) यह सूर्य मस्तक है तथा (राजा) दीप्तिमान होने से यह राजा है (इति) ऐसा मान कर (अहम्) मैं (एतम्) इस आदित्य पुरुष को (उपासे) उपासना करता हूँ (इति) इस कारण से यह आदित्य पुरुष ज्ञात है (यः) जो उपासक (एतम्) इस आदित्य पुरुष को (एवम्) इस प्रकार जान कर (उपास्ते) उपासना करता है (सः) वह (अतिष्ठाः) सबको अतिक्रमण करके स्थित रहता है तथा (सर्वेषाम्) सब (भूतानाम्) प्राणियों के मध्य (मूर्धा) श्रेष्ठ होता है और (राजा) राजा (भवति) होता है ।।२।।

विशेषार्थ– उस सुप्रसिद्ध गर्गगोत्रोत्पन्न दृप्त बालाकि ने अजातशत्रु नाम के राजा से कहा कि जो यह आदित्य मण्डलान्तर्वर्ती पुरुष है उसी को मैं परब्रह्म नारायण समझ कर उपासना करता हूँ। इस कारण से हे राजन् तुम भी उसी की उपासना करो। इस बात को सुन कर प्रसिद्ध विद्वान् उस अजातशत्रु नाम के काशिराज ने दृप्तबालाकि से कहा कि हे अनूचान मेरे प्रति इस अदित्यमण्डलवर्ती पुरुष के विषय में मत संवाद यानी चर्चा कीजिये। क्योंकि अज्ञात विषय में संवाद करना चाहिये। यह सूर्य मण्डलवर्ती पुरुष तो मेरे द्वारा ज्ञात ही है। इसको सुनकर दृप्तबालाकि ने कहा कि हे राजन् यदि

सूर्य मण्डलवर्ती पुरुष को आप जानते हैं तो आप ही कहिये कैसी वह उपासना है और इसकी उपासना का क्या फल है। इस वाक्य को सुनकर अजातशत्रु नामक राजा ने कहा– यह सूर्य सब प्राणियों का अपने तेज से अतिक्रमण करके रहता है, और समस्त प्राणियों का यह आदित्य मस्तक है। तथा दीप्तिमान् होने से यह सूर्यराजा है ऐसा समझ कर मैं इस आदित्य पुरुष को निश्चित रूप से उपासना करता हूँ। इस कारण से यह आदित्य पुरुष मुझसे ज्ञात है। इस विषय में संवाद आप मत कीजिये। इस प्रकार के अतिष्ठत्व सर्वभूत श्रेष्ठत्व राजत्व विशिष्ट आदित्य पुरुष की उपासना करने वाले को फल भी ऐसा ही मिलता है। यह स्पष्ट श्रुति बतलाती है। जो कोई उपासक इस आदित्य पुरुष को इस प्रकार अतिष्ठत्वादिगुणविशिष्ट समझ कर उपासना करता है वह उपासक तत्क्रतुन्याय से सब प्राणियों को अतिक्रमण करके स्थित रहता है तथा समस्त प्राणियों के मध्य श्रेष्ठ हो जाता है और राजा होता है। क्योंकि लिखा है – **तं यथा यथोपासते तदेव भवति** (श्रुति) उसकी जो जिस प्रकार उपासना करता है वह उसी समान ही हो जाता है। और '' कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् '' में लिखा है – **स होवाच बालाकिर्य एवैष आदित्ये पुरुषस्तमेवाहमुपास इति तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्समवादयिष्ठा बृहत्पाण्डरवासा अतिष्ठः सर्वेषां भूतानां मूर्धेति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्तेऽतिष्ठः सर्वेषां भूतानां मूर्धा भवति** (कौषी० ब्रा० अ०४ श्रु०२) वे प्रसिद्ध बालाकि बोले कि हे राजन् अजातशत्रो यह जो सूर्यमण्डलमध्यवर्ती पुरुष है इसी की मैं ब्रह्मबुद्धि से उपासना करता हूँ। यह सुन कर उनसे प्रसिद्ध राजा अजातशत्रु ने कहा कि मेरे प्रति इसके विषय में संवाद आप न करें। निश्चय ही यह सबसे महान् और शुक्लवस्त्र धारण करने वाला है। यह सबका अतिक्रमण करके सबसे ऊँची स्थिति में स्थित है तथा यह सब का मस्तक है इस प्रकार मैं इसकी उपासना करता हूँ। इसी प्रकार वह मनुष्य भी, जो इस प्रसिद्ध सूर्यमण्डलान्तर्गत पुरुष की इस रूप में उपासना करता है, सबका अतिक्रमण करके सबसे ऊंची स्थिति में स्थित होता है और समस्त भूतों का मस्तक माना जाता है ।।२।। हे बालाके अनेक गुण रहने पर भी यह सूर्य परमात्मा नहीं हो सकता। ऐसे लाखों अनन्तों सूर्यों को जिसने रचा है वही परब्रह्म नारायण उपास्य है।।२।।

स होवाच गार्ग्यो य एवासौ चन्द्रे पुरुषस्तमेवाहमुपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा बृहन्पाण्डरवासाः सोमो राजेति वा अहमेतमुपास इति। स य एतदेवमुपास्तेऽहरहर्हि सुतः प्रसुतो भवति नास्यान्नं क्षीयते।।३।।

अन्वयार्थ–(सः) वह (ह) प्रसिद्ध (गार्ग्यः) गर्गगोत्रोत्पन्न दृप्त बालाकि (उवाच) बोला कि (एव) निश्चय करके (यः) जो (असौ) यह (चन्द्रे) चन्द्रमण्डल में (पुरुषः) पुरुष है (तम्) उसीको (एव) निश्चय करके (अहम्) मैं (उपासे) परब्रह्म नारायण मानकर उपासना करता हूँ (इति) इस कारण से तुम भी उसीकी उपासना करो इस वाक्य को सुन कर (ह) प्रसिद्ध विद्वान् (सः) उस (अजातशत्रुः) अजातशत्रु नाम के काशिराजने (उवाच) कहा कि (मा) मेरे प्रति (एतस्मिन्) इस चन्द्रमण्डलवर्ती पुरुष के विषय में (मा) मत (संवदिष्ठाः) संवाद करो क्योंकि अज्ञात विषय में संवाद करना चाहिये यह तो ज्ञात ही है (बृहन्) यह महान् (पाण्डरवासाः) शुक्लकिरणरूप वस्त्र धारण करने वाला है तथा (सोमः) यज्ञसाधनभूत सोम है और (राजा) दीप्यमान होने से यह राजा है (इति) ऐसा मान कर (वै) निश्चय करके (अहम्) मैं (एतम्) इस चन्द्रपुरुष को (उपासे उपासना करता हूँ (इति) इस कारण से यह चन्द्रपुरुष ज्ञात है (यः) जो उपासक (एतत्) इस चन्द्रपुरुष को (एवम्) इस प्रकार जानकर (उपास्ते) उपासना करता है (सः) वह (हि) निश्चय करके (अहः+अहः) रोज रोज लतानिसृत सोमरस (सुतः) प्रकृति यज्ञ में सूत होता है और (प्रसुतः) विकृतियज्ञ में प्रकर्षरूप से यानी अधिकता से सुत (भवति) होता है और (अस्य) इस उपासक का (अन्नम्) खाद्यपदार्थ (न) नहीं (क्षीयते) क्षीण होता है।।३।।

विशेषार्थ– उस सुप्रसिद्ध गर्गकुलोत्पन्न दृप्तबालाकि ने अजातशत्रु नाम के काशिराज से कहा कि जो यह चन्द्रमण्डलान्तर्वर्ती पुरुष है उसीको मैं परब्रह्म नारायण समझ कर उपासना करता हूँ। इस कारणसे हे राजन् तुम भी उसी की उपासना करो। इस बात को सुन कर प्रसिद्ध विद्वान् अजातशत्रु नाम के काशी नरेश ने दृप्तबालाकि से कहा कि हे अनूचान मेरे प्रति इस चन्द्रमण्डलवर्ती पुरुष के विषय में आप मत संवाद कीजिये। क्योंकि अज्ञात विषय में संवाद करना चाहिये। यह चन्द्रमण्डलवर्ती पुरुष तो मेरे द्वारा ज्ञात ही है। इस वाक्य को सुन कर दृप्तबालाकि ने कहा कि हे राजन् यदि चन्द्रमण्डलवर्ती पुरुष को आप जानते हैं तो आप ही कहिये कैसी वह उपासना है और इस उपासना का क्या फल है। इस वचन को सुन कर अजातशत्रु नामक राजा ने कहा–यह चन्द्रमा सूर्यमण्डल से द्विगुण होने के कारण महान् है। और श्वेत किरणरूप वस्त्र धारण करने वाला है। इस श्रुति में "पाण्डर" शब्द का शुक्ल और "**वासस्**" शब्द का वस्त्र अर्थ होता है। क्योंकि लिखा है– **शुक्लशुभ्रशुचिश्वेतविशदश्येतपाण्डराः** (अमर० कां०१ व०६ श्लो०१२) शुक्ल १, शुभ्र २, शुचि ३, श्वेत ४, विशद ५, श्येत ६ और पाण्डर ७ ये उज्ज्वल के नाम हैं ।।१२।। **वस्त्रमाच्छादनं वासश्चैलं वसनमंशुकम्** (अमर० कां० २ व० ६ श्लो० ११५) वस्त्र

१. आच्छादन २. वासस् ३ चैल ४, वसन ५और अंशुक ६ ये कपड़े के नाम हैं ।।११५।। तथा यज्ञ साधनभूत सोम हैं और यह दीप्तिमान होने से राजा है। ऐसा समझ कर मैं इस चन्द्रपुरुष को निश्चित रूप से उपासना करता हूँ। इस कारण से यह चन्द्रपुरुष मुझसे ज्ञात है। इस विषय में संवाद आप मत कीजिये। अब आगे इस उपासना का फल कहा जाता है । जो कोई उपासक इस चन्द्रपुरुष को इस प्रकार बृहत्त्व शुल्कवस्त्रत्वादिगुणविशिष्ट समझकर उपासना करता है उस उपासक के गृह में निश्चित रूप से प्रतिदिन सोमलतानिःसृतरस प्रकृति यज्ञ में सुत होता है और विकृतियज्ञ में प्रसुत होता है। और इस उपासक का अन्न यानी खाद्यपदार्थ क्षीण नहीं होता है। और ''कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद्'' में लिखा है– **स होवाच बालाकिर्य एवैष चन्द्रमसिपुरुषस्तमेवाहं ब्रह्मोपास इति तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवादयिष्ठाः सोमो राजान्नस्यात्मेति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्तेऽन्नस्यात्मा भवति** (कौषी० ब्रा० अ०४ श्रु०३)वे सुप्रसिद्ध बालाका नन्दन बालाकि बोले कि हे राजन् यह जो चन्द्रमण्डलमध्यवर्ती पुरुष है इसी की मैं ब्रह्मरूप से उपासना करता हूँ। यह सुन कर उनसे प्रसिद्ध राजा अजातशत्रु ने कहा कि मेरे प्रति इसके विषय में आप संवाद न करें यह सोम राजा है और अन्न की आत्मा है। निश्चय ही इस प्रकार मैं इसकी उपासना करता हूँ। इसी प्रकार वह भी जो इस प्रसिद्ध चन्द्रमण्डलान्तर्गत पुरुष की इस रूप में उपासना करता है अन्न की आत्मा होता है यानी अन्नराशि से संपन्न होता है।।३।। इससे चन्द्रमा को उपास्य अज्ञानी ही मानते हैं विज्ञ जन नहीं ।।३।।

स होवाच गार्ग्यो य एवासौ विद्युति पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठास्तेजस्वीति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते तेजस्वी भवति तेजस्विनी हास्य प्रजा भवति।।४।।

अन्वयार्थ– (सः) उस (ह) प्रसिद्ध (गार्ग्यः) गर्गवंशेत्पन्न दृप्तबालाकिने (उवाच) कहाकि (एव) निश्चय करके (यः) जो (असौ) यह (विद्युति) बिजली में (पुरुषः) पुरुष है (एतम्) इसी पुरुष को (एव) निश्चय करके (ब्रह्म) परब्रह्म नारायण मानकर (अहम्) मैं (उपासे) उपासना करता हूँ (इति) इस कारण से तुम भी उसी की उपासना करो इस वाक्य को सुनकर (ह) प्रसिद्ध विद्वान् (सः) वह (अजातशत्रुः) अजातशत्रु नाम के काशिराजने (उवाच) कहा कि (मा) मेरे प्रति (एतस्मिन्) इस विद्युत्पुरुष के विषय में (मा) मत (संवदिष्ठाः) संवाद करो क्योंकि अज्ञात विषय में संवाद करना चाहिये यह तो ज्ञात ही है (तेजस्वी) तेजोयुक्त होने

से यह तेजस्वी है (इति) ऐसा मानकर (वै) निश्चय करके (अहम्) मैं (एतम्) इस विद्युत्पुरुष को (उपासे) उपासना करता हूँ (इति) इस कारण से यह विद्युत्पुरुष ज्ञात है (यः) जो उपासक (एतम्) इस विद्युत्पुरुष को (एवम्) इस प्रकार जान कर (उपास्ते) उपासना करता है (सः) वह उपासक (तेजस्वी) तेजस्वी (भवति) होता है और (ह) निश्चय करके (अस्य) इस उपासक की (प्रजा) सन्तति भी (तेजस्विनी) तेजस्विनी(भवति) होती है।।४।।

विशेषार्थ– उस सुप्रसिद्ध गर्गवंशोत्पन्न दृप्तबालाकि ने अजातशत्रु नाम के काशिराज से कहा कि जो यह बिजली में पुरुष है उसी को मैं परब्रह्म नारायण समझ कर उपासना करता हूँ। इस कारण से हे राजन् तुम भी उसी की उपासना करो। इस बात को सुन कर प्रसिद्ध विद्वान् अजातशत्रु नाम के काशिराज ने दृप्तबालाकि से कहा कि हे अनूचान मेरे प्रति इस विद्युत्पुरुष के विषय में आप मत संवाद कीजिये। क्योंकि अज्ञात विषय में संवाद करना चाहिये। यह विद्युत्पुरुष तो मेरे द्वारा ज्ञात ही है। इस वाक्य को सुनकर दृप्तबालाकि ने कहा कि हे राजन् यदि आप विद्युत्पुरुष को जानते हैं तो आप ही कहिये कैसी वह उपासना है और इस उपासना का क्या फल है? इस वचन को सुन कर अजातशत्रु नाम के राजा ने कहा कि– यह विद्युत्पुरुष तेजोयुक्त होने से तेजस्वी है ऐसा समझ कर मैं इस विद्युत्पुरुष को निश्चितरूप से उपासना करता हूँ। इस कारण से यह विद्युत्पुरुष मुझसे ज्ञात है। इस विषय में चर्चा आप मत कीजिये। अब आगे इस उपासना का फल कहा जाता है। जो कोई उपासक इस विद्युत्पुरुष को इस प्रकार तेजस्वी जान कर उपासना करता है वह उपासक निश्चय करके तत्क्रतुन्याय से तेजस्वी होता है और इस उपासक का पुत्र भी तेजस्वी होता है। और "कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद्" में लिखा है– **स होवाच बालाकिर्य एवैष विद्युति पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्समवादयिष्ठास्तेजस्यात्मेति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्ते तेजस्व्यात्मा भवति॥** (कौ० ब्रा० उ० अ० ४ श्रु० ४) वे सुप्रसिद्ध बालाकि बोले कि– यह जो विद्युन्मण्डल में पुरुष है इसी की मैं ब्रह्म रूप से उपासना करता हूँ। यह सुन कर उनसे प्रसिद्ध राजा अजातशत्रु ने कहा मेरे प्रति इसके विषय में आप सम्वाद न करें। यह तेज की आत्मा है निश्चय ही इस भाव से मैं इसकी उपासना करता हूँ। इसी प्रकार वह भी जो इस प्रसिद्ध विद्युन्मण्डलान्तर्गत पुरुष की इस रूप में उपासना करता है, तेज की आत्मा महान् तेजस्वी होता है।।४।। विद्युत् के विषय में लिखा है– **तडित्सौदामनी विद्युच्चञ्चला चपला अपि॥** (अमर० कां० १ व० ३ श्लोक ९) तडित् १, सौदामनी २, विद्युत् ३, चञ्चला ४, चपला ५ ये बिजली के नाम हैं ।।९।। इससे सिद्ध हो गया कि विद्युत्पुरुष

परब्रह्म नारायण नहीं है॥४॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायमाकाशे पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठाः पूर्णमप्रवर्तीति वा अहमेतमुपास इति। स य एतमेवमुपास्ते पूर्यते ह प्रजया पशुभिर्नास्यास्माल्लोकात्प्रजोद्वर्तते ॥५॥

अन्वयार्थ– (सः) वह (ह) प्रसिद्ध (गार्ग्यः) गर्गगोत्रोत्पन्न दृप्तबालाकि ने (उवाच) कहा कि (एव) निश्चय करके (यः) जो (अयम्) यह (आकाशे) आकाश में (पुरुषः) पुरुष है (एतम्) इसी पुरुष को (एव) निश्चय करके (ब्रह्म) परब्रह्म नारायण मान कर (अहम्) मैं (उपासे) उपासना करता हूँ (इति) इस कारण से तुम भी उसी की उपासना करो इस वाक्य को सुन कर (ह) प्रसिद्ध विद्वान् (सः) उस (अजातशत्रुः) अजातशत्रु नाम के काशिराज ने (उवाच) कहा कि (मा) मेरे प्रति (एतस्मिन्) इस आकाशान्तर्गत पुरुष के विषय में (मा) मत (संवदिष्ठाः) सम्वाद करो क्योंकि अज्ञात विषय में सम्वाद करना चाहिये यह तो ज्ञात ही है (पूर्णम्) यह आकाश पुरुष सर्वत्र परिपूर्ण है और (अप्रवर्ति) प्रवर्तनशील नहीं है अर्थात् क्रिया शून्य है (इति) ऐसा मान कर (वै) निश्चय करके (अहम्) मैं (एतम्) इस आकाशान्तर्गत पुरुष को (उपासे) उपसना करता हूँ (इति) इस कारण से यह आकाशान्तर्गत पुरुष ज्ञात है (यः) जो कोई उपासक (एतम्) इस आकाशगत पुरुष को (एवम्) इस प्रकार पूर्णत्व तथा अप्रवर्तित्व विशेषण विशिष्ट जान कर (उपास्ते) उपासना करता है (ह) प्रसिद्ध (सः) वह उपासक (प्रजया) पुत्र पौत्रादिक सन्तति से और (पशुभिः) गाय, भैंस, घोड़ा हाथी आदि पशुओं से (पूर्यते) सदा पूर्ण रहता है और (अस्य) इस उपासक की (प्रजा) पुत्र पौत्रादिक सन्तति (अस्मात्) इस (लोकात्) लोक से (न) नहीं (उद्वर्तते) लोकान्तर गमन करती है अर्थात् विनष्ट होती है॥५॥

विशेषार्थ– उस सुप्रसिद्ध गर्गकुलोत्पन्न दृप्तबालाकि ने अजातशत्रु नामक काशिराज से कहा कि– जो यह आकाश में पुरुष है उसी को मैं परब्रह्म नारायण समझ कर उपासना करता हूँ। आकाश के विषय में लिखा है– **त आकाशे न विद्यन्ते॥** (वैशेषि॰ अ॰ २ आह्नि॰ १ सू॰ ५) **निष्क्रमणं प्रवेशनमिति ॥** (वैशे॰ २।१।२०) **परिशेषाल्लिङ्गमाकाशस्य॥** (वै॰ २।१।२७) वे रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आकाश में नहीं हैं॥५॥ निकलना और प्रवेश करना यह आकाश का लिङ्ग है॥२०॥ परिशेष शब्द गुणक आकाश का लक्षण है॥२७॥ **शब्दश्चाकाश एव च॥** (महाभारत वनप॰ उत्तरखं॰

अ० २११ श्लोक ७) आकाश में एक शब्द गुण ही कहा गया है।।७।। हे राजन् इस कारण से तुम भी उसी आकाशगत पुरुष की उपासना करो। इस बात को सुन कर प्रसिद्ध विद्वान् अजातशत्रु नाम के काशिराज ने दृप्तबालाकि से कहा कि– हे अनूचान मेरे प्रति इस आकाशान्तर्गत पुरुष के विषय में आप मत सम्वाद कीजिये। क्योंकि अज्ञात विषय में सम्वाद करना चाहिये। यह आकाशगत पुरुष तो मेरे द्वारा ज्ञात ही है। इस वाक्य को सुन कर दृप्तबालाकि ने कहा कि हे राजन् यदि आप आकाश पुरुष को जानते हैं तो आप ही कहिये कैसी वह उपासना है और इस उपासना का क्या फ़ल है? इस वचन को सुन कर अजातशत्रु नाम के राजा ने कहा कि– यह आकाश पुरुष सर्वत्र परिपूर्ण है और व्यापारशून्य है। अर्थात् उसके "पूर्ण" और "अप्रवर्ति" ये दो विशेषण हैं ऐसा समझ कर मैं इस आकाशगत पुरुष को निश्चित रूप से उपासना करता हूँ इस कारण से यह आकाशान्तर्गत पुरुष मुझसे ज्ञात है। इस विषय में आप सम्वाद मत कीजिये। अब आगे प्रथम आकाश पुरुष के "पूर्ण" गुण जाननेवाले का फल कहा जाता है। जो कोई उपासक पूर्णत्व और अप्रवर्तित्व विशेषण विशिष्ट इस आकाश पुरुष की इस प्रकार उपासना करता है, वह पूर्णत्व विशेषण विशिष्ट आकाश पुरुष की उपासना करने वाला पुत्र पौत्रादिक सन्तति से और गौ, भैंस, अश्व, गज आदिक पशुओं से सर्वदा पूर्ण रहता है। अब आकाश पुरुष के "अप्रवर्ति" गुण जानने वाले का फल कहा जाता है । अप्रवर्तित्व विशेषण विशिष्ट आकाश पुरुष की उपासना करता है, उस पूर्णत्व विशेषण विशिष्ट आकाश पुरुष की उपासना करनेवाले उस उपासक के पुत्र पौत्रादिक सन्तति इस लोक से उच्छिन्न यानी विनष्ट नहीं होती है। और "कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद्" में लिखा है– **स होवाच बालाकिर्य एवैष आकाशे पुरुषस्तमेवाहमुपास इति तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्समवादयिष्ठाः पूर्णमप्रवर्ति ब्रह्मेति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्ते पूर्यते प्रजया पशुभिर्नो एव स्वयं नास्य प्रजापुराकालात्प्रवर्तते।।** (कौ० ब्रा० उ० अ० ४ श्रु० ६) वे सुप्रसिद्ध गार्ग्यबालाकि बोले कि यह जो आकाश मण्डल में पुरुष है इसी की मैं ब्रह्म रूप में उपासना करता हूँ । यह सुनकर उनसे प्रसिद्ध राजा अजातशत्रु ने कहा– मेरे प्रति इसके विषय में आप सम्वाद न करें। यह पूर्ण, प्रवृत्तिशून्य यानी निष्क्रिय और ब्रह्म यानी सबसे बृहत् है। निश्चय ही इसी भाव से मैं इसकी उपासना करता हूँ। इसी प्रकार वह भी जो इस प्रसिद्ध आकाशमण्डलान्तर्गत पुरुष की इस रूप में उपासना करता है प्रजा और पशु से पूर्ण होता है। इसके सिवा न तो स्वयं वह उपासक और न उसकी सन्तान ही समय से पहले मृत्यु को प्राप्त होती है।।६।। इस कारण से इस आकाश पुरुष को कोई ब्रह्म बुद्धि से उपासना न करे।।५।।

स होवाच गार्ग्यो य एवायं वायौ पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति सहोवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा इन्द्रो वैकुण्ठोऽपराजिता सेनेति वा अहमेतमुपास इति। स य एतमेवमुपास्ते जिष्णुर्हापराजिष्णुर्भवत्यन्यतस्त्यजायी।।६।।

अन्वयार्थ– (सः) उस (ह) प्रसिद्ध (गार्ग्यः) गर्गवंशोत्पन्न दृप्तबालाकि ने (उवाच) कहा कि (एव)निश्चय करके (यः) जो (अयम्) यह (वायौ) वायु में (पुरुषः) पुरुष है (एतम्) इसी पुरुष को (एव) निश्चय करके (ब्रह्म) परब्रह्म नारायण मान कर (अहम्) मैं (उपासे) उपासना करता हूँ (इति) इस कारण से तुम भी उसी की उपासना करो इस वाक्य को सुन कर (ह) प्रसिद्ध विद्वान् (सः) उस (अजातशत्रुः) अजातशत्रु नाम के काशिराज ने (उवाच) कहा कि (मा) मेरे प्रति (एतस्मिन्) इस वायुगत पुरुष के विषय में (मा) मत (संवदिष्ठाः) सम्वाद करो क्योंकि अज्ञात विषय में सम्वाद करना चाहिये यह तो ज्ञात ही है। यह (इन्द्रः) परमैश्वर्यसम्पन्न है तथा (वैकुण्ठः) अन्य किसी से निवारण नहीं होने वाला है और (अपराजिता) पहले दूसरों के द्वारा नहीं पराजित हुई (सेना) सेना है (इति) ऐसा मान कर (वै) निश्चय करके (अहम्) मैं (एतम्) इस वायुगत पुरुष को (उपासे) उपासना करता हूँ (इति) इस कारण से इस वायुगत पुरुष को (एवम्) इस प्रकार इन्द्रत्वादि तीन विशेषण विशिष्ट जान कर (उपास्ते) उपासना करता है (सः) वह उपासक (ह) सुप्रसिद्ध (जिष्णुः) जयशील होता है और (अपराजिष्णुः) दूसरों से पराजित न होने के स्वभाववाला होता है तथा (अन्यतस्त्यजायी) सम्पूर्ण शत्रुओं को जीतने वाला (भवति) होता है।।६।।

विशेषार्थ– उस सुप्रसिद्ध गर्गगोत्रोत्पन्न दृप्तबालाकि ने अजातशत्रु नाम के काशिराज से कहा कि– जो यह वायु में पुरुष है उसी को मैं परब्रह्म नारायण समझ कर उपासना करता हूँ। हे राजन्! इस कारण से तुम भी उसी की उपासना करो। इस बात को सुनकर प्रसिद्ध विद्वान् अजातशत्रु नाम के काशिराज ने दृप्तबालाकि से कहा कि– हे अनूचान मेरे प्रति इस वायुगत पुरुष के विषय में आप मत सम्वाद कीजिये। क्योंकि अज्ञात विषय में सम्वाद करना चाहिये। यह वायुगत पुरुष तो मेरे द्वारा ज्ञात ही है। इस वाक्य को सुन कर दृप्तबालाकि ने कहा कि– हे राजन्! यदि आप वायुगत पुरुष को जानते हैं तो आपही कहिये कैसी वह उपासना है और इस उपासना का क्या फल है ? इस वचन को सुन कर अजातशत्रु नाम के राजा ने कहा कि– **यह वायु पुरुष परमैश्वर्यसम्पन्नपरमेश्वर है क्योंकि लिखा है– योऽयं पवत एष देवतानां ग्रहः।।** (श्रुति) जोयह वायु चलती है वह देवताओं को पवित्र करने वाला ग्रह है।।

तथा अन्य किसी से निवारण नहीं होने वाला है और अपराजिता सेना है जो सेना पहले दूसरों के द्वारा पराजित न हुई हो उसको "अपराजिता सेना" कहते हैं। मरुत् नामक देवताओं का गण प्रसिद्ध है उन्हें ही यहाँ सेना कहा गया है। इस प्रकार इन्द्रत्व तथा वैकुण्ठत्व और अपराजिता सेनात्व विशेषण विशिष्ट यह वायु पुरुष है ऐसा समझ कर मैं इस इस वायु पुरुष की निश्चित रूप से उपासना करता हूँ। इस कारण से यह वायुगत पुरुष मुझसे ज्ञात है। इस विषय में आप सम्वाद मत कीजिये। अब आगे इस उपासना का फल कहा जाता है। जो कोई उपासक इस वायु पुरुष को इन्द्रत्व, वैकुण्ठत्व और अपराजिता सेनात्व विशेषण विशिष्ट जान कर उपासना करता है वह उपासक प्रसिद्ध जयशील तथा कभी नहीं हारने वाला और समस्त शत्रुओं को जीतने वाला होता है। इस श्रुति में "इन्द्र" शब्द का अर्थ **परमैश्वर्ययुक्त** वायु है। क्योंकि "**इदि परमैश्वर्ये**" इस धातु से "इन्द्र" शब्द बनता है। तथा "वैकुण्ठ" शब्द श्री विष्णु भगवान् का स्थान वाचक नहीं है। "विगता कुण्ठा परेण निवारणा यस्मात्स विकुण्ठः विकुण्ठ एव वैकुण्ठः" इस व्युत्पत्ति से जिसको निवारण अन्य कोई नहीं कर सकता है वह वैकुण्ठ है यानी अनिवारित स्थान का नाम "वैकुण्ठ" है । उन्चास मरुत् हैं क्योंकि लिखा है– **लब्ध्वा तदन्तरं शक्रो निद्रापहृतचेतसः। दितेः प्रविष्टउदरं योगेशो योगमायया॥** (श्रीमद्भागवत स्कं० ६ अ० १८ श्लोक ६१) **चकर्त सप्तधा गर्भं वज्रेण कनकप्रभम्। रुदन्तं सप्तधैकैकं मारोदीरिति तान् पुनः॥६२॥** योगेश शक्र ने उस व्रत में छिद्र पाकर निद्रा से सोई हुई दिति देवी के उदर में योगमाया के द्वारा प्रवेश किया॥६१॥ और सोना के समान प्रभा वाले गर्भ को वज्र से सात खण्ड कर दिया। पुनः रोते हुये खण्ड को देख कर मत रुदन करो ऐसा कह कर एक एक खण्ड को सात सात खण्ड किया इस प्रकार सब मिल कर उनचास मरुत् हो गये॥६२॥ "अन्यतस्त्यजायी" यह पद "अन्यतः त्य जायी" इन तीन से बना है। अन्य शब्द से "अन्यतः" तथा इससे भाव में "त्य" प्रत्यय होकर " अन्यतस्त्य"। अन्य = पर = शत्रु। शत्रुपक्षावलम्बी को "अन्यतस्त्य" कहते हैं। और "जायी" माने जीतने वाला। "कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद्" में लिखा है– **स होवाच बालाकिर्य एवैष वायौ पुरुषस्तमेवाहमुपास इति तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्समवादयिष्ठा इन्द्रो वैकुण्ठोऽपराजिता सेनेति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्ते जिष्णु र्ह वा पराजिष्णुरन्यतरस्यज्यायान्भवति॥** (कौ० ब्रा० उ० अ० ४ श्रु० ७) वे सुप्रसिद्ध बालाकि बोले– "यह जो वायुमण्डल में पुरुष है इसी की मैं ब्रह्मरूप से उपासना करता हूँ। यह सुनकर उनसे प्रसिद्ध राजा अजातशत्रु ने कहा कि मेरे प्रति इसके विषय में आप सम्वाद न करें। यह इन्द्र यानी परमैश्वर्य से सम्पन्न है तथा वैकुण्ठ यानी कहीं

भी कुण्ठित न होने वाला है और कभी परास्त न होने वाली सेना है--निश्चय ही इसी भाव से मैं इसकी उपसना करता हूँ। इसी प्रकार वह भी, जो इस प्रसिद्ध वायुमण्डलान्तर्गत पुरुष की इस रूप में उपासना करता है, अवश्य ही विजयशील दूसरों से पराजित न होनेवाला और शत्रुओं पर विजय पाने वाल होता है।।७।। इस प्रकार प्रतिपादन किया गया है।।६।।

स होवाच गार्ग्यो य एवायमग्नौ पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा विषासहिरिति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते विषासहिर्भवति विषासहिर्हास्य प्रजा भवति ।।७।।

अन्वयार्थ– (सः) उस (ह) प्रसिद्ध (गार्ग्यः) गर्गकुलोत्पन्न दृप्तबालाकि ने (उवाच) कहा कि (एव) निश्चय करके (यः) जो (अयम्) यह (अग्नौ) अग्नि में (पुरुषः) पुरुष है (एतम्) इसी पुरुष को (एव) निश्चय करके (ब्रह्म) परब्रह्म नारायण मान कर (अहम्) मैं (उपासे) उपसना करता हूँ (इति) इस कारण से तुम भी उसी की उपासना करो इस वाक्य को सुनकर (ह) प्रसिद्ध विद्वान् (सः) उस (अजातशत्रुः) अजातशत्रु नाम के काशिराज ने (उवाच) कहा कि (मा) मत (संवदिष्ठाः) सम्वाद करो क्योंकि अज्ञात विषय में सम्वाद करना चाहिये यह तो ज्ञात ही है यह (विषासहिः) अन्य शत्रुओं से नहीं सहन करने योग्य (इति) ऐसा मान कर (वै) निश्चय करके (अहम्) मैं (एतम्) इस अग्निगत पुरुष को (उपासे) उपासना करता हूँ (इति) इस कारण से यह अग्निगत पुरुष ज्ञात है (यः) जो कोई उपासक (एतम्) इस अग्निगत पुरुष को (एवम्) इस प्रकार विषासहित्व गुण विशिष्ट जान कर (उपास्ते) उपासना करता है (सः) वह उपासक (विषासहिः) सब दुःखों को सहन करने वाला (भवति) होता है (अस्य) और इस उपासक की (प्रजा) पुत्रादि सन्तति (ह) सुप्रसिद्ध (विषासहिः) सहनशील (भवति) होती है।।७।।

विशेषार्थ--उस सुप्रसिद्ध गर्गवंशोत्पन्न दृप्तबालाकि ने अजातशत्रु नाम के काशिराज से कहा कि-- जो यह अग्नि में पुरुष है उसी को मैं परब्रह्म नारायण समझ कर उपासना करता हूँ। हे राजन् इस कारण से तुम भी उसी की उपासना करो। इस बात को सुनकर प्रसिद्ध विद्वान् अजातशत्रु नाम के काशिराज ने दृप्तबालाकि से कहा कि-- हे अनूचान मेरे प्रति इस अग्निगत पुरुष के विषय में आप मत संवाद कीजिये। क्योंकि अज्ञात विषय में संवाद करना चाहिये। यह अग्निगत पुरुष तो मेरे द्वारा ज्ञात

ही है। इस वाक्य को सुन कर दृप्तबालाकि ने कहा कि— हे राजन् यदि आप अग्निगत पुरुष को जानते हैं तो आपही कहिये कैसी वह उपासना है और इस उपासना का क्या फल है ? इस वचन को सुन कर अजातशत्रु नाम के राजा ने कहा कि— यह अग्नि पुरुष अन्य शत्रुओं से नहीं सहन करने योग्य है अथवा यह सब कुछ सहने वाला है ऐसा समझ कर मैं इस अग्नि पुरुष को निश्चित रूप से उपासना करता हूँ। इस कारण से यह अग्निगत पुरुष मुझसे ज्ञात है। इस विषय में आप संवाद मत कीजीय। अब आगे इस उपासना का फल कहा जाता है। जो कोई उपासक इस अग्निगत पुरुष को इस प्रकार विषासहित्व गुणविशिष्ट जान कर उपासना करता है वह उपासक समस्त दुःखों को सहन करने वाला होता है। और इस उपासक के पुत्रादि सन्तति तथा प्रजा सुप्रसिद्ध सहनशील होती है। और "कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद्" में लिखा है— **स होवाच बालाकिर्य एवैषोऽग्नौ पुरुषस्तमेवाहमुपास इति तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्समवादयिष्ठा विषासहिरिति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्ते विषासहिर्वा एष भवति॥** (कौ० ब्रा० उ० अ० ४ श्रु० ८) वे सुप्रसिद्ध बालाकि बोले— "यह जो अग्निमण्डल में पुरुष है इसी की मैं ब्रह्म रूप से उपासना करता हूँ। यह सुनकर उनसे प्रसिद्ध राजा अजातशत्रु ने कहा कि मेरे प्रति इसके विषय में आप संवाद न करें। यह विषासहि यानी दूसरों के आक्रमण को सह सकने वाला है निश्चय ही इसी भाव से मैं इसकी उपासना करता हूँ। इसी प्रकार वह उपासक भी, जो इस प्रसिद्ध अग्निमण्डलान्तर्गत पुरुष की इस रूप में उपासना करता है यह उपासना के पश्चात् विषासहि यानी दूसरो के वेग सह सकने वाला होता है॥८॥ इस प्रकार से स्पष्ट कथन किया गया है॥७॥

स होवाच गार्ग्योय एवायमप्सु पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठाः प्रतिरूप इति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते प्रतिरूपं हैवैनमुपगच्छति नाप्रतिरूपमथो प्रतिरूपोऽस्माज्जायते॥८॥

अन्वयार्थ— (सः) उस (ह) प्रसिद्ध (गार्ग्यः) गर्गवंशोत्पन्न दृप्तबालाकि ने (उवाच) कहा कि (एव) निश्चय करके (यः) जो (अयम्) यह (अप्सु) जल में (पुरुषः) पुरुष है (एतम्) इसी पुरुष को (एव) निश्चय करके (ब्रह्म) परब्रह्म नारायण मान कर (अहम्) मैं (उपासे) उपासना करता हूँ (इति) इस कारण से तुम भी उसी की उपासना करो इस वाक्या को सुन कर (ह) प्रसिद्ध विद्वान् (सः) उस (अजातशत्रुः) अजातशत्रु नाम के काशिराज ने (उवाच) कहा कि (मा) मेरे प्रति (एतस्मिन्) इस

जल गत पुरुष के विषय में (मा) मत (संवदिष्ठः) संवाद करो क्योंकि अज्ञात विषय में संवाद करना चाहिये यह तो ज्ञात ही है यह जलगत पुरुष (प्रतिरूपः) सदृश प्रतिबिम्बोपेत होने से सदृश है (इति) ऐसा मान कर (वै) निश्चय करके (अहम्) मैं (एतम्) इस जलगत पुरुष को (उपासे) उपासना करता हूँ (इति) इस कारण से यह जलगत पुरुष ज्ञात है (यः) जो कोई उपासक (एतम्) इस जलगत पुरुष को (एवम्) इस प्रकार प्रतिरूपत्व गुण विशिष्ट जान कर (उपास्ते) उपासना करता है (सः) वह उपासक (एव) निश्चय करके (ह) प्रसिद्ध (प्रतिरूपम्) अपने सदृश (एनम्) इस कलत्रादिक को (उपगच्छति) पास में प्राप्त कर लेता है (अप्रतिरूपम्) अपने से विपरीत वस्तु को (न) नहीं प्राप्त करता है (अथो) और (अस्मात्) इस उपासक से (प्रतिरूपः) सदृश ही पुत्र (जायते) उत्पन्न होता है।।८।।

विशेषार्थ– उस प्रसिद्ध गर्गकुलोत्पन्न दृप्तबालाकि ने अजातशत्रु नाम के काशिराज से कहा कि जो यह जल में पुरुष है उसी को मैं परब्रह्म नारायण समझ कर उपासना करता हूँ। हे राजन् इस कारण से तुम भी उसी की उपासना करो। इस बात को सुनकर प्रसिद्ध विद्वान् अजातशत्रु नाम के काशिराज ने दृप्तबालाकि से कहा कि हे अनूचान मेरे प्रति इस जलगत पुरुष के विषय में आप मत संवाद कीजिये। क्योंकि अज्ञात विषय में संवाद करना चारिये। यह जल-गत पुरुष तो मेरे द्वारा ज्ञात ही है। इस वाक्य को सुन कर दृप्तबालाकि ने कहा कि हे राजन् यदि आप जलगत पुरुष को जनते हैं तो आप ही कहिये कैसी वह उपासना है और इस उपासना का क्या फल है। इस वचन को सुन कर अजातशत्रु नाम के राजा ने कहा कि – यह जलगत पुरुष सदृशप्रतिबिम्बोपेत होने से सदृश है ऐसा समझ कर मैं इस जलगत पुरुष को निश्चित रूप से उपासना करता हूँ। इस कारण से यह जलगत पुरुष मुझसे ज्ञात है। इस विषय में आप संवाद मत कीजिये। अब आगे इस उपासना का फल कहा जाता है । जो कोई उपासक इस जलगत पुरुष को इस प्रकार प्रतिरूपत्वगुण विशिष्ट जान कर उपासना करता है वह उपासक निश्चय करके अपने सदृश पशु स्त्री गृहोपकरणादिक को प्राप्त करता है । अपने से विपरीत पदार्थ को कभी नहीं प्राप्त करता है। और उस उपासक से सदृश ही पुत्र उत्पन्न होता है। और "कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद्" में लिखा है– **स होवाच बालाकिर्य एवैषोऽप्सु पुरुषस्तमेवाहमुपास इति तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्समवादयिष्ठा नाम्न्यस्यात्मेति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्ते नाम्न्यस्यात्मा भवतीत्यधिदैवमतथाध्यात्मम्।।** (कौ० ब्रा० उ० अ० ४ श्रु० ९) वे सुप्रसिद्ध बालाकि बोले 'यह जो जल में पुरुष है, इसी की मैं ब्रह्मरूप से उपासना करता हूँ। यह सुनकर उनसे प्रसिद्ध राजा अजातशत्रु

ने कहा कि मेरे प्रति इस जलगतपुरुष के विषय में आप संवाद न करें। यह नाम का आत्मा है अर्थात् जितने भी नामधारी जीव हैं उन सब का आत्मा-जीवन रूप है निश्चय ही इसी भाव से मैं इसकीउपासना करता हूँ। इसी प्रकार वह भी, जो इस प्रसिद्ध जलगतपुरुष की इस रूप में उपसना करता है, नामधारी जीवमात्र आत्मा होता है। यह अधिदैवत उपासना बतायी गयी है। अब अध्यात्म उपसना बतायी जाती है।।९।। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि जलगत पुरुष परमात्मा नहीं है ।।८।।

स होवाच गार्ग्यो य एवायमादर्शे पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा रोचिष्णुरिति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते रोचिष्णुर्भवति रोचिष्णुर्हास्य प्रजा भवत्यथो यैः संनिगच्छति सर्वांस्तानतिरोचते।।९।।

अन्वयार्थ– (सः) वह (ह) प्रसिद्ध (गार्ग्यः) गर्गगोत्रोत्पन्न दृप्तबालाकि ने (उवाच) कहा कि (एव) निश्चय करके (यः) जो [अयम्] यह [आदर्शे] दर्पण में [पुरुषः] पुरुष है [एतम्] इसी पुरुष को [एव] निश्चय करके [ब्रह्म] परब्रह्म नारायण मानकर [अहम्] मैं [उपासे] उपासना करता हूँ [इति] इस कारण से तुम भी उसी की उपासना करो इस वाक्य को सुन कर [ह] प्रसिद्ध विद्वान् [सः] उस [अजातशत्रुः] अजातशत्रु नाम के काशिराज ने [उवाच] कहा कि [मा] मत (संवदिष्ठा) संवादकरो क्योंकि ज्ञातविषय में संवाद करना चाहिये यह तो ज्ञात ही है (रोचिष्णुः) यह देदीप्यमान है (इति) ऐसा मानकर (वै) निश्चय करके (अहम्) मैं (एतम्) इस दर्पण गत पुरुष को (उपासे) उपासना करता हूँ (इति) इस कारण से यह दर्पणगत पुरुष ज्ञात है (यः) जो कोई उपासक (एतम्) इस दर्पण गत पुरुष को (एवम्) इस प्रकार रोचिष्णुत्व गुण विशिष्ट जानकर (उपास्ते) उपासना करता है (सः) वह उपासक (रोचिष्णुः) दीप्तिमान (भवति) होता है तथा (ह) प्रसिद्ध (अस्य) इस उपासक की (प्रजा) पुत्रादि सन्तति (रोचिष्णुः) दीप्तिमान (भवति) होती है (अथो) और वह उपासक (यैः) जिनलोगों के साथ (संनिगच्छति) संग करता है (तान्) उन (सर्वान्) सबों को (अतिरोचते) अतिक्रमण करके प्रकाशमान होता है।।९।।

विशेषार्थ– उस प्रसिद्ध गर्गवंशोत्पन्न दृप्त बालाकि ने अजातशत्रु नाम के काशिराज से कहा कि जो यह दर्पण में पुरुष है उसी को मैं परब्रह्म नारायण समझ कर उपासना करता हूँ। हे राजन्! इस करण से तुम भी उसी की उपासना करो। इस

बात को सुन कर प्रसिद्ध विद्वान् अजातशत्रु नाम के काशिराज ने दृप्तबालाकिसे कहा कि हे अनूचान मेरे प्रति इस दर्पणगत पुरुष के विषय में आप मत संवाद कीजिये। क्योंकि अज्ञात विषय में संवाद करना चाहिये। यह दर्पणगत पुरुष तो मेरे द्वारा ज्ञात ही है। इस वाक्य को सुनकर दृप्तबालाकि ने कहा कि हे राजन् यदि आप दर्पणगत पुरुष को जानते हैं तो आप ही कहिये कैसी वह उपासना है और इस उपासना का क्या फल है। इस वचन को सुनकर अजातशत्रु नाम के राजा ने कहा कि – यह दर्पणगत पुरुष भ्राजमान है ऐसा समझकर मैं इस दर्पणगत पुरुष की उपासना करता हूँ इस कारण से यह दर्पणगत पुरुष मुझसे ज्ञात है। इस विषय में आप संवाद मत कीजिये। अब आगे इस उपासना का फल कहा जाता है। जो कोई उपासक इस दर्पणगत पुरुष को इस प्रकार रोचिष्णुत्व गुणविशिष्ट जानकर उपासना करता है वह उपासक दीप्तिशाली होता है तथा इस उपासक की पुत्रादि सन्तति भी दीप्तिमती होती है और वह उपासक जिन जिन अन्य पुरुषों के साथ संगम किया करता है उन सब लोगो से बढ़कर दीप्तिमान हो जाता है। यहाँ "आदर्श" शब्द का अर्थ दर्पण है क्योंकि लिखा है– **दर्पणे मुकुरादर्शौ** (अमर० कां० २ व० ६ श्लो० १४०) दर्पण १, मुकुर २, आदर्श ३, ये सीसे के नाम हैं ॥१४०॥ "कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद्" में लिखा है– **स होवाच बालाकिर्य एवैष आदर्शे पुरुषस्तमेवाहमुपास इति तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्समवादयिष्ठाः प्रतिरूप इति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्ते प्रतिरूपो हैवास्य प्रजायामाजायते नाप्रतिरूपः** (कौ० ब्रा० उ० अ० ४ श्रु० १०) वे सुप्रसिद्ध बालाकि बोले यह जो दर्पण में पुरुष है इसी की ब्रह्मरूप से उपसना करता हूँ। यह सुनकर उनसे प्रसिद्ध राजा अजातशत्रु ने कहा कि मेरे प्रति इस दर्पणगत पुरुष के विषय में आप संवाद न करें। यह रूप का ठीक वैसा ही प्रतिविम्ब उपस्थित होने के कारण प्रतिरूप है– निश्चय ही इसी भाव से इसकी उपासना मैं करता हूँ। इसी प्रकार वह भी, जो इस दर्पणान्तर्गत परुष की इस रूप में उपासना करता है, उस प्रतिरूपगुण से विभूषित होता है। उसकी सन्तति में सब उसके अनुरूप ही जन्म लेते हैं, प्रतिकूल रूप और स्वभाव वाले नहीं ॥१०॥ इस प्रकार का वर्णन किया गया है॥९॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायं यन्तं पश्चाच्छब्दोऽनूदेत्येतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा असुरिति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते सर्वं हैवास्मिंल्लोक आयुरेति नैनं पुराकालात्प्राणो जहाति ॥१०॥

अन्वयार्थ–(सः) उस (ह) प्रसिद्ध (गार्ग्यः) गर्गगोत्रोत्पन्न दृप्तबालाकि ने (उवाच) कहा कि (एव) निश्चय करके (यः) जो (अयम्) यह (यन्तम्) यह गमन करनेवाले प्राणी के (पश्चात्) पीछे (शब्दः) प्रतिध्वनि (अनु) मूल शब्द के बाद (उदेति) उत्पन्न होती है (एतम्) इसी प्रतिध्वनि को (एव) निश्चय करके (ब्रह्म) परब्रह्म नारायण मानकर (अहम्) मैं (उपासे) उपासना करता हूँ (इति) इस कारण से तुम भी उसी की उपासना करो इस वाक्य को सुनकर (ह) प्रसिद्ध विद्वान् (सः) उस (अजातशत्रुः) अजातशत्रु नामके काशिराज ने (उवाच) कहा कि (मा) मेरे प्रति (एतस्मिन्) इस प्रतिध्वनि के विषय में (मा) मत (संवदिष्ठाः) संवाद करो क्योंकि अज्ञात विषय में संवाद करना चाहिये यह तो ज्ञात ही है (असुः) यह प्राणका कार्य होने से प्राण है (इति) ऐसा मानकर (वै) निश्चय करके (अहम्) मैं (एतम्) इस प्रतिध्वनि को (उपासे)उपासना करता हूँ इस कारण से यह प्रतिध्वनि ज्ञात है (यः) जो कोई उपासक (एतम्) इस प्रतिध्वनि को (एवम्) ऐसा मानकर (उपास्ते) उपासना करता है (सः) वह उपासक (एव) निश्चय करके (अस्मिन्) इस (लोके) भूलोक में (ह) प्रसिद्ध (सर्वम्) संपूर्ण (आयुः) आयु को (एति) प्राप्त करता है और (कालात्) ज्वरादि रोगों से पीड़ित होने पर भी मरण समय से (पुरा) पहले (प्राणः) प्राण (एनम्) इस उपासक को (न) नहीं (जहाति) त्यागता है, अर्थात् वह उपासक अपमृत्युको नहीं प्राप्त करता है ॥१०॥

विशेषार्थ– उस प्रसिद्ध गर्गकुलोत्पन्न दृप्तबालाकि ने अजातशत्रु नाम के काशिराज से कहा कि जो यह जानेवाले प्राणी के पीछे प्रतिध्वनि मूल शब्द के बाद उत्पन्न होती है उसी को मैं परब्रह्म नारायण समझकर उपासना करता हूँ । हे राजन्! इस कारण से तुम भी उसी की उपासना करो । इस बात को सुनकर प्रसिद्ध विद्वान् अजातशत्रु नाम के काशिराज ने दृप्तबालाकि से कहा कि हे अनूचान! मेरे प्रति इस प्रतिध्वनि के विषय में आप मत संवाद कजिये। क्योंकि अज्ञात विषय में संवाद करना चाहिये । यह प्रतिध्वनि शब्द तो मेरे द्वारा ज्ञात ही है। इस वाक्य को सुनकर दृप्तबालाकि ने कहा कि हे राजन्! यदि आप प्रतिध्वनि को जानते हैं तो आप ही कहिये कैसी वह उपासना है और इस उपासना का क्या फल है । इस वचन को सुनकर अजातशत्रु नाम के राजा ने कहा कि– यह प्रतिध्वनि प्राण का कार्य होने से प्राण है ऐसा समझकर मैं इस प्रतिध्वनि को निश्चित रूप से उपासना करता हूँ । इस कारण से यह प्रतिध्वनि शब्द मुझसे ज्ञात है । इस विषय में आप संवाद मत कीजिये। अब आगे इस उपासना का फल कहा जाता है । जो कोई उपासक इस प्रतिध्वनि को इस प्रकार असुत्व गुण विशिष्ट जानकर उपासना करता है वह उपासक इस भूलोक में समस्त आयु प्राप्त करता

है और मरण काल के पूर्व ज्वरादि रोगों से पीड़ित होने पर भी इस उपासक को प्राण छोड़ता नहीं है। अर्थात् वह पूर्ण आयु को प्राप्त होता है कभी अपमृत्यु को नहीं प्राप्त करता है। यहाँ "अंसु" शब्द का अर्थ प्राण है क्योंकि लिखा है– **पुंसि भूम्न्यसवः प्राणाः** (अमर० कां० २ व० ८ श्लो० ११९) असु १, प्राण २, ये प्राण के नाम हैं ।।११९।। और "कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद्" में लिखा है – स होवाच बालाकिर्य एवैष शब्दः पुरुषमन्वेति तमेवाहमुपास इति तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्नासमवादयिष्ठा असुरिति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्ते नो एव स्वयं नास्य प्रजा पुरा कालात्सम्मोहमेति (कौ० ब्रा० उ० अ० ४ श्रु० १२) वे सुप्रसिद्ध बालाकि बोले– "यह जो जाते हुए पुरुष के पीछे ध्वन्यात्मक शब्द उसका अनुसरण करता है, उसी की मैं ब्रह्मरूप से उपासना करता हूँ। यह सुनकर उनसे प्रसिद्ध राजा अजातशत्रु ने कहा कि मेरे प्रति इसके विषय में आप संवाद न करें। यह प्राण है। निश्चय ही इसी भाव से मैं इसकी उपासना करता हूँ। इसी प्रकार वह भी, जो इसकी इस रूप में उपासना करता है न तो स्वयं पूरी आयु के पहले मृत्यु को प्राप्त होता है और न उसकी सन्तान ही पूर्ण आयु के पहले निधन को प्राप्त होती है ।।१२।। ऐसा कथन होने से वह परतत्व नहीं ज्ञात होता है ।।१०।।

स होवाच गार्ग्यो य एवायं दिक्षु पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा द्वितीयोऽनपग इति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते द्वितीयवान्भवति नास्माद् गणश्छिद्यते ।।११।।

अन्वयार्थ – (सः) उस (ह) प्रसिद्ध (गार्ग्यः) गर्गवंशोत्पन्न दृप्तबालाकि ने (उवाच) कहा कि (एव) निश्चय करके (यः) जो (अयम्) यह (दिक्षु) पूर्वादि दिशाओं में (पुरुषः) पुरुष है (एतम्) इसी पुरुष को (एव) निश्चय करके (ब्रह्म) पर ब्रह्म नारायण मानकर (अहम्) मैं (उपासे) उपासना करता हूँ (इति) इस कारण से तुम भी उसी की उपासना करो इस वाक्य को सुनकर (ह) प्रसिद्ध विद्वान् (सः) उस (अजातशत्रुः) अजातशत्रु नाम के काशिराज ने (उवाच) कहा कि (मा) मेरे प्रति (एतस्मिन्) इस दिशागत पुरुष के विषय में (मा) मत (संवदिष्ठाः) संवाद करो क्योंकि अज्ञात विषय में संवाद करना चाहिये यह तो ज्ञात ही है (द्वितीयः) यह दिशागत पुरुष अश्विनी कुमार देवता होने से द्वितीय है और (अनपगः) दिशाओं के परस्पर विच्छेद के अभाव होन से नहीं कभी त्यागनेवाला है (इति) ऐसा मानकर (वै) निश्चय करके (अहम्) मैं (एतम्) इस दिशागत पुरुष को (उपासे) उपासना करता हूँ (इति) इस कारण से यह दिशागत पुरुष ज्ञात है (यः) जो कोई उपासक (एतम्) इस दिशागत

पुरुष को (एवम्) इस प्रकार द्वितीयत्व तथा अनपगत्व विशेषण विशिष्ट जानकर (उपास्ते) उपासना करता है (सः) वह उपासक (द्वितीयवान्) सहायवान् (भवति) होता है और (अस्मात्) इस उपासक से (गणः) वन्धुवर्ग (न) कभी नहीं (छिद्यते) वियुक्त होता है ।।११।।

विशेषार्थ – उस प्रसिद्ध गर्गवंशोत्पन्न दृप्तबालाकि ने अजातशत्रु नाम के राजा से कहा कि जो यह पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर आदि दिशाओं में पुरुष है उसी को मैं परब्रह्म नारायण समझकर उपासना करता हूँ । हे राजन्! इस कारण से तुम भी उसी की उपासना करो । इस बात को सुन कर प्रसिद्ध विद्वान् अजातशत्रु नामके काशिराज ने दृप्तबालाकि से कहा कि हे अनूचान! मेरे प्रति इस दिशागत पुरुष के विषय में आप मत संवाद कीजिये । क्योंकि अज्ञात विषय में संवाद करना चाहिये । यह दिशागत पुरुष तो मेरे द्वारा ज्ञात ही है । इस वाक्य को सुनकर दृप्तबालाकि ने कहा कि हे राजन्! यदि आप दिशागत पुरुष को जानते हैं तो आप ही कहिये कैसी वह उपासना है और इस उपासना का क्या फल है । इस वचन को सुनकर अजातशत्रु नामके राजा ने कहा कि – यह दिशागत पुरुष अश्विनी कुमार देवता से युक्त होने से द्वितीय है और दिशाओं के परस्पर विच्छेद के अभाव होने से कभी नहीं त्यागनेवाला है ऐसा समझ कर मैं इस दिशागत पुरुष को निश्चित रूप से उपासना करता हूँ, इस कारण से यह दिशागत पुरुष मुझसे ज्ञात है । इस विषय में आप संवाद मत कीजिये । अब आगे इस उपासना का फल कहा जाता है । जो कोई उपासक इस दिशागत पुरुष को इस प्रकार द्वितीयत्व और अनपगत्व विशेषण विशिष्ट जानकर उपासना करता है वह उपासक सहायवान् होता है और इस उपासक के पुत्रादियों तथा गवादियों का समूह वियुक्त कभी नहीं होता । इस श्रुति में "गण" शब्द समूह वाचक है क्योंकि लिखा है – **संघाते प्रमथेगणः ॥** (अमर० कां० ३ क० ३ श्लो० ४६) समूह में तथा शिव के अनुचर में गण शब्द का प्रयोग होता है ।।४६।। और "कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद्" में कुछ समानता लेकर लिखा है । **स होवाच बाल्ाकिर्य एवैष प्रतिश्रुत्कायाः पुरुषस्तमेवाहमुपास इति तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्समवादयिष्ठा द्वितीयोऽनपग इति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्ते विन्दते द्वितीयाद् द्वितीयवान्भवति॥** (कौ० ब्रा० उ० अ० ४ श्रु० ११) वे सुप्रसिद्ध बालाकि बोले – "यह सुनकर उनसे प्रसिद्ध राजा अजातशत्रु ने कहा कि मेरे प्रति इसके विषय में आप संवाद न करें । यह द्वितीय और अनपग है – निश्चय ही इसी भाव से मैं इसी की उपासना करता हूँ । इसी प्रकार वह भी, जो इस दिशागत पुरुष की इस रूप में उपासना करता है, अपने सिवा द्वितीय रूपी पुत्रादि को प्राप्त करता है तथा सर्वदा द्वितीयवान् बना रहता

है अर्थात् उन स्त्री पुत्र आदि से उनका वियोग नहीं होता है ॥११॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायं छायामयः पुरुषः एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजतशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा मृत्युरिति वा अहमेतमुपास इति य एतमेवमुपास्ते सर्वं हैवास्मिँल्लोक आयुरेति नैनं पुराकालान्मृत्युरागच्छति ॥१२॥

अन्वयार्थ – (सः) उस (ह) प्रसिद्ध (गार्ग्यः) गर्गगोत्रोत्पन्न दृप्तबालाकि ने (उवाच) कहा कि (एव) निश्चय करके (यः) जो (अयम्) यह (छायामयः) छाया में (पुरुषः) पुरुष है (एतम्) इसी छाया पुरुष को (एव) निश्चय करके (ब्रह्म) परब्रह्म नारायण मानकर (अहम्) मैं (उपासे) उपासना करता हूँ (इति) इस कारण से तुम भी उसी की उपासना करो इस वाक्य को सुनकर (ह) प्रसिद्ध विद्वान् (सः) उस (अजातशत्रुः) अजातशत्रु नाम के काशिराज ने (उवाच) कहा कि (मा) मेरे प्रति (एतस्मिन्) इस छाया पुरुष के विषय में (मा) मत (संवदिष्ठाः) संवाद करो क्योंकि अज्ञात विषय में संवाद करना चाहिये यह तो ज्ञात है यह छाया पुरुष (मृत्युः) नील होने से और भयङ्कर होने से मृत्यु है (इति) ऐसा मानकर (वै) निश्चय करके (अहम्) मैं (एतम्) इस छाया पुरुष को (उपासे) उपासना करता हूँ (इति) इस कारण से यह छाया पुरुष ज्ञात है (यः) जो कोई उपासक (एतम्) इस छाया पुरुष को (एवम्) इस प्रकार मृत्युत्व विशेषण विशिष्ट जानकर (उपास्ते) उपासना करता है वह उपासक (एव) निश्चय करके (अस्मिन्) इस (लोके) भूलोक में (ह) प्रसिद्ध (सर्वम्) संपूर्ण (आयुः) आयु को (एति) प्राप्त करता है और (मृत्युः) मृत्यु (एनम्) इस उपासक को (कालात्) मरण समय से (पुरा) पहले (न) नहीं (आगच्छति) आती है ॥१२॥

विशेषार्थ– उस प्रसिद्ध गर्गकुलोत्पन्न दृप्तबालाकि ने अजातशत्रु नाम के काशिराज से कहा कि जो यह छाया में पुरुष है उसी को मैं परब्रह्म नारायण समझकर उपासना करता हूँ। हे राजन्! इस कारण से तुम भी उसी की उपासना करो । इस बात को सुनकर प्रसिद्ध विद्वान् अजातशत्रु नाम के काशिराज ने दृप्तबालाकि से कहा कि हे अनूचान! मेरे प्रति इस छाया पुरुष के विषय में आप मत संवाद कीजिये । क्योंकि अज्ञात विषय में संवाद करना चाहियं । यह छाया पुरुष तो मेरे द्वारा ज्ञात ही है । इस वाक्य को सुनकर दृप्तबालाकि ने कहा कि हे राजन्! यदि आप छाया पुरुष को जानते हैं तो आप ही कहिये कैसी वह उपासना है और इस उपासना का क्या फल है । इस वचन को सुनकर अजातशत्रु नाम के राजा ने कहा कि यह छाया पुरुष नील होने से और भयजनक होने से मृत्यु है, ऐसा समझकर इस छाया पुरुष

को निश्चत रूप से उपासना करता हूँ । इस कारण से यह छाया पुरुष मुझसे ज्ञात है। इस विषय में आप संवाद मत कीजिये। अब आगे इस उपासना का फल कहा जाता है। जो कोई उपासक इस छाया पुरुष को इस प्रकार मृत्युत्व विशेषण विशिष्ट जानकर उपासना करता है वह उपासक इस लोक में सारी आयु प्राप्त करता है और इसके पास मरण समय से पहले मृत्यु नहीं आती है । यहाँ "छाया" शब्द का अर्थ बाह्य अन्धकार है । क्योंकि लिखा है – **छाया सूर्यप्रियाकान्तिः प्रतिबिम्बमनातपः ॥** (अमर० कां० ३ श्लो० १५७) छाया शब्द सूर्य की स्त्री तथा कान्ति और प्रतिबिम्ब तथा अन्धकार का वाचक है ॥१५७॥ और "कौषीतकीब्राह्मणोपनिषद्" में लिखा है– **स होवाच बालाकिर्य एवैष छायायां पुरुषस्तमेवाहमुपास इति तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्समवादयिष्ठा मृत्युरिति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्ते नो एव स्वयं नास्य प्रजा पुराकालात्प्रमीयते ॥** (कौ० ब्रा० उ० अ० ४ श्रु० १३) वे सुप्रसिद्ध बालाकि बोले– "यह जो छाया में पुरुष है इसी की मैं ब्रह्मरूप से उपासना करता हूँ । यह सुनकर उनसे प्रसिद्ध राजा अजातशत्रु ने कहा कि मेरे प्रति इसके विषय में आप संवाद न करें । यह मृत्यु रूप है – निश्चित ही इसी भाव से मैं इसकी उपासना करता हूँ । इसी प्रकार वह भी, जो इसकी इस रूप में उपासना करता है, न तो स्वयं ही मरण समय से पहले मृत्यु को प्राप्त होता है और न उसकी सन्तान ही समय से पहले जीवन से हाथ धोती है ॥१३॥ इस प्रकार का प्रतिपादन न किया गया है ॥१२॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायमात्मनि पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा आत्मन्वीति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्त आत्मन्वीह भवत्यात्मन्विनी हास्य प्रजा भवति । स ह तूष्णीमास गार्ग्यः ॥१३॥

अन्वयार्थ– (सः) उस (ह) प्रसिद्ध (गार्ग्यः) गर्गवंशोत्पन्न दृप्तबालाकि ने (उवाच) कहा कि (एव) निश्चय करके (यः) जो (अयम्) यह (आत्मनि) शरीर में (पुरुषः) पुरुष जीवात्मा है (एतम्) इसी जीवात्मा को (एव) निश्चय करके (ब्रह्म) परब्रह्म नारायण मान कर (अहम्) मैं (उपासे) उपासना करता हूँ (इति) इस कारण से तुम भी उसी की उपासना करो इस वाक्य को सुन कर (ह) प्रसिद्ध विद्वान् (सः) उस (अजातशत्रुः) अजातशत्रु नाम के काशिराज ने (उवाच) कहा कि (मा) मेरे

प्रति (एतस्मिन्) इस शरीरगत पुरुष के विषय में (मा) मत (संवदिष्ठाः) सम्वाद करो क्योंकि अज्ञात विषय में सम्वाद करना चाहिये यह तो ज्ञात है। यह जीवात्मा (आत्मन्वी) प्रशस्त आत्मावाली है (इति) ऐसा मानकर (वै) निश्चय करके (अहम्) मैं (एतम्) इस जीवात्मा को (उपासे) उपासना करता हूँ (इति) इस कारण से शरीरगत जीवात्मा ज्ञात है (यः) जो कोई उपासक (एतम्) इस शरीरगत जीवात्मा को (एवम्) इस प्रकार प्रशस्त आत्मावाली जान कर (उपास्ते) उपासना करता है (ह) प्रसिद्ध (सः) वह उपासक (आत्मन्वी) इस जीवन में प्रशस्त आत्मावाला (भवति) होता है और (अस्य) इस उपासक की (ह) प्रसिद्ध (प्रजा) पुत्र पौत्रादि सन्तति अथवा प्रजा (आत्मन्विनी) अच्छी आत्मावाली (भवति) होती है तब (सः) वह (ह) प्रसिद्ध (गार्ग्यः) गर्गगोत्रोत्पन्न दृप्तबालाकि कोई उत्तर स्फुरित नहीं होने के कारण (तूष्णीम्) मौन (आस) हो गया ॥१३॥

विशेषार्थ— उस प्रसिद्ध गर्गकुलोत्पन्न दृप्तबालाकि ने अजातशत्रु नाम के काशिराज से कहा कि जो यह शरीर में पुरुष जीवात्मा है उसी को मैं पर ब्रह्म नारायण समझकर उपासना करता हूँ। हे राजन्! इस कारण से तुम भी उसी की उपासना करो। इस बात को सुनकर प्रसिद्ध विद्वान् अजातशत्रु नाम के काशिराज ने दृप्तबालाकि से कहा कि हे अनूचान! मेरे प्रति इस शरीरगत जीवात्मा के विषय में आप मत संवाद कीजिये। क्योंकि अज्ञात विषय में संवाद करना चाहिये। यह शरीरगत जीवात्मा तो मेरे द्वारा ज्ञात ही है। इस वाक्य को सुनकर दृप्तबालाकि ने कहा कि हे राजन् यदि आप शरीरगत पुरुष को जानते हैं तो आप ही कहिये कैसी वह उपासना है और इस उपासना का क्या फल है। इस वचन को सुनकर अजातशत्रु नाम के राजा ने कहा कि यह जीवात्मा प्रशस्त आत्मा वाली है ऐसा समझकर मैं इस शरीरगत जीवात्मा की निश्चित रूप से उपासना करता हूँ। इस कारण से यह शरीरगत जीवात्मा मुझसे ज्ञात है। इस विषय में आप संवाद मत कीजिये। अब आगे इस उपसना का फल कहा जाता है। जो कोई उपासक इस शरीरगत जीवात्मा को इस प्रकार प्रशस्त आत्मवान् जानकर उपासना करता है वह इस जीवन में प्रशस्त आत्मावाला होता है। इतना ही नहीं किंतु इस उपासक की पुत्र-पौत्रादि सन्तति अथवा प्रजा भी अच्छी आत्मावाली होती है। अजातशत्रु राजा के इस परम विज्ञान को सुनकर वह प्रसिद्ध गर्गवंशोत्पन्न दृप्तबालाकि आगे कोई उत्तर नहीं सूझने के कारण चुप हो गया। इस श्रुति में "आत्मनि" पद घटक "आत्मन्" शब्द का शरीर अर्थ है क्योंकि लिखा है— **आत्मा यत्नो धृतिर्बुद्धिः स्वभावो ब्रह्म वर्ष्म च ॥** (अमर० कां० ३ व० ३ श्लो० १०९) आत्मन् शब्द का जीवात्मा १, उपाय २, धीरता ३, बुद्धि ४, स्वभाव ५, परब्रह्म ६ और शरीर

७ अर्थ होता है ।।१०९।। "आत्मन्वी" पद आत्मन् शब्द से प्रशंसा में छान्दस "विनि" प्रत्यय होकर बनता है। आत्मवान् और आत्मन्वी का एक ही तात्पर्य है । प्रत्यय का भेद है अर्थ का नहीं। जैसे ज्ञानवान ज्ञानी धानवान् धनी इत्यादि । जैसे जिसकी अच्छी मेधा हो उसे मेधावी कहते हैं वैसे ही जिसकी आत्मा अच्छी हो उसे "आत्मन्वी" कहते हैं । और "तूष्णीम्" शब्द का अर्थ मौन है क्योंकि लिखा है– **मौने तु तूष्णीं तूष्णीकाम् ॥** (अमर० कां० ३ व० ४ श्लो० ९) मौन अर्थ में तूष्णीम् १ और तूष्णीकाम् २ ये अव्यय शब्द प्रयुक्त होते हैं ।।९।। "कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद्" में यद्यपि आत्मपुरुष का यहाँ स्पष्ट वर्णन नहीं है तथापि कई एक अङ्गों के पुरुषों का वर्णन आया है उनको यहाँ सज्जनों के आनन्द के लिये मैं उद्धृत करता हूँ । **स होवाच बालाकिर्य एषः शारीरः पुरुषस्तमेवाहमुपास इति तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्समवादयिष्ठाः प्रजापतिरिति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्ते प्रजायते प्रजया पशुभिः ॥** (कौ० ब्रा० उ० श्रु० १४) **स होवाच बालाकिर्य एवैष प्राज्ञ आत्मा येनैतत्सुप्तः स्वप्नमाचरति तमेवाहमुपास इति तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्समवादयिष्ठा यमो राजेति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्ते सर्वं हास्मा इदं श्रैष्ठ्याय गम्यते ॥१५॥ स होवाच बालाकिर्य एवैष दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्तमेवाहमुपास इति तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैवस्मिन्समवादयिष्ठा नाम्न आत्माग्निरात्मा ज्योतिष्ट आत्मेति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्त एतेषां सर्वेषामात्मा भवति ॥१६॥ स होवाच बालाकिर्य एवैष सव्येऽक्षन्पुरुषस्तमेवाहमुपास इति तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्समवादयिष्ठाः सत्यस्यात्मा विद्युत आत्मा तेजस आत्मेति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्त एतेषां सर्वेषामात्मा भवतीति ॥१७॥** उस सुप्रसिद्ध बालाकि ने कहा– "यह जो शरीरान्तर्वर्ती पुरुष है इसी की मैं ब्रह्मरूप से उपासना करता हूँ । यह सुनकर उनसे प्रसिद्ध राजा अजातशत्रु ने कहा कि मेरे प्रति इसके विषय में आप संवाद न करें । यह प्रजापति है– निश्चय ही इस भाव से ही मैं इसकी उपासना करता हूँ । इसी प्रकार वह भी जो इसकी इस रूप में उपासना करता है, प्रजा और पशुओं से सम्पन्न होता है ।।१४।। वे सुप्रसिद्ध बालाकि बोले– "यह जो प्रज्ञा से नित्य संयुक्त प्राणरूप आत्मा है, जिससे एकता को प्राप्त होकर यह सोया हुआ पुरुष स्वप्न मार्ग में विचरता है उसी की मैं ब्रह्मरूप से उपासना करता हूँ । यह सुनकर उनसे प्रसिद्ध राजा अजातशत्रु ने कहा कि मेरे प्रति इसके विषय में आप संवाद न करें । यह यम राजा है– निश्चय ही उसी भाव से मैं इसकी उपासना करता हूँ । इसी प्रकार जो इसकी इस रूप में उपासना करता है, उस उपासक की श्रेष्ठता के लिये यह सारा जगत् नियम पूर्वक चेष्टा करता है ।।१५।। उस सुप्रसिद्ध बालाकि ने कहा– "यह जो दाहिने नेत्र

में पुरुष है, उसी को मैं ब्रह्मरूप से उपासना करता हूँ। यह सुनकर उनसे प्रसिद्ध राजा अजातशत्रु ने कहा कि मेरे प्रति इसके विषय में आप संवाद न करें। यह नाम की आत्मा, अग्नि की आत्मा तथा ज्योति की आत्मा है– निश्चित ही इसी भाव से मैं इसकी उपासना करता हूँ। इसी प्रकार वह भी, जो इसकी इस रूप में उपासना करता है इन सब की आत्मा होता है ॥१६॥ वे सुप्रसिद्ध बालाकि बोले– यह जो बायें नेत्र में पुरुष है इसी की मैं ब्रह्मरूप से उपासना करता हूँ। यह सुनकर उनसे प्रसिद्ध राजा अजातशत्रु ने कहा कि मेरे प्रति इसके विषय में आप संवाद न करें। यह सत्य की आत्मा विद्युत् की आत्मा और तेज की आत्मा है – निश्चय ही इसी भाव से मैं इसकी उपासना करता हूँ। इसी प्रकार वह भी, जो इसकी इस रूप में उपासना करता है इन सब की आत्मा होता है ॥१७॥ ऐसा प्रतिपादन किया गया है ॥१३॥

स होवाचाजातशत्रुरेतावन्नू३इति । एतावद्धीति । नैतावता विदितं भवतीति । स होवाच गार्ग्य उपत्वायानीति ॥१४॥

अन्वयार्थ– (ह) प्रसिद्ध विद्वान् (सः) उस (अजातशत्रुः) अजातशत्रु नाम के काशिराज ने (उवाच) कहा कि हे गार्ग्य (नु) क्या (एतावत्) इतना ही आप जानते हैं (इति) इस वाक्य को सुनकर दृप्तबालाकि ने कहा (हि) हाँ (एतावत्) इतना ही मैं जानता हूँ (इति) इस बात को सुनकर पुनः अजातशत्रु नाम के राजा ने कहा कि (एतावता) इतने ज्ञान से ब्रह्म स्वरूप (न) नहीं (विदितम्) विदित (भवति) होता है (इति) इस वचन को सुनकर (ह) प्रसिद्ध (सः) उस (गार्ग्यः) गर्गगोत्रोत्पन्न दृप्तबालाकि ने (इति) इस प्रकार से (उवाच) कहा कि (त्वा) आपके (उप) निकट (यानी) शिष्य होकर मैं प्राप्त होता हूँ ॥१४॥

विशेषार्थ– अनूचान दृप्तबालाकि को ब्रह्मज्ञान में अपूर्ण जानकर वह सुप्रसिद्ध विद्वान् अजातशत्रु नाम के काशिराज बोला कि हे गार्ग्य उस परब्रह्म के विषय में क्या आप इतन ही जानते हैं। इस बात को सुनकर दृप्तबालाकि ने कहा कि– हाँ बस इतना ही मैं जानता हूँ। इस वचन को सुनकर पुनः अजातशत्रु नामक राजा बोला कि –इतना जानने से तो परब्रह्म नारायण का स्वरूप नहीं जाना जाता है। आपको ब्रह्म सम्बन्धी जितना ज्ञान है वह अपूर्ण है इससे भी अधिक ब्रह्म है जिसको आप नहीं जानते हैं। परन्तु वह भी अपको जानना चाहिये। यह सुनकर उस सुप्रसिद्ध गर्गवंशोत्पन्न दृप्तबालाकि ने कहा कि –यदि ऐसा है तो शास्त्र के विधान के अनुसार आपके निकट मैं शिष्य होकर प्राप्त होता हूँ। आप कृपया उसकी शिक्षा मुझे देवें यही आप से सविनय प्रार्थना है। इस श्रुति में "नु" शब्द प्रश्न वाचक है क्योंकि

लिखा है– **नु पृच्छायां विकल्पे च ॥** (अमर० कां० ३ व० ३ श्लो० २४८) नु प्रश्न में तथा विकल्प में प्रयुक्त होता है।।२४८।। तथा "कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद्" में लिखा है– **तत उ ह बालाकिस्तूष्णीमास तं होवाचाजातशत्रुरेतावन्नु बालाकीति एतावद्धीति होवाच बालाकिः तं होवाचाजातशत्रुर्मृषा वै किल मा संवदिष्ठा ब्रह्म ते ब्रवाणीति होवाच यो वै बालाक एतेषां पुरुषाणां कर्ता यस्य वैतत्कर्म स वेदितव्य इति तत उ ह बालाकिः समित्पाणिः प्रतिचक्रामोपायानीति ॥** (कौ० ब्रा० उ० अ० ४ श्रु० १८) उसके बाद गार्ग्य बालाकि चुप हो गये । तब उनसे प्रसिद्ध राजा अजातशत्रु ने कहा – "बालाके बस, क्या इतना ही आपका ब्रह्मज्ञान है । इस प्रश्न पर गार्ग्य बालाकि बोले– हाँ इतना ही है । तब उनसे प्रसिद्ध राजा अजातशत्रु ने कहा– तब तो व्यर्थ ही आपने मेरे साथ यह संवाद किया था कि मैं तुम्हें ब्रह्म का उपदेश करूँगा। हे बालाकानन्दन अवयश्य ही जो आपके बताये हुए इन सभी पुरुषों का कर्ता है अथवा ये सभी ज़िसके कर्म हैं वही जानने योग्य है । राजा से यह कहने पर वे प्रसिद्ध गार्ग्य बालाकि हाथ में समिधा लेकर उनके पास गये और बोले– मैं आपको गुरु बनाने के लिये समीप आता हूँ।।१८।। ऐसा कहा गया है।।१४।।

स होवाचाजातशत्रुः प्रतिलोममेवैतद्यद्ब्राह्मणः क्षत्रियमुपेयाद्ब्रह्म मे वक्ष्यतीति । व्येव त्वा ज्ञपयिष्यामीति । तं पाणावादायोत्तस्थौ । तौ ह पुरुषं सुप्तमाजग्मतुः । तमेतैर्नामभिरामन्त्रयाञ्चक्रे बृहन् पाण्डरवासः सोम राजन्निति । स नोत्तसथौ तं पाणिनाऽऽपेषं बोधयाञ्चकार । स होत्तस्थौ ॥१५॥

अन्वयार्थ– (ह) प्रसिद्ध विद्वान् (सः) उस (अजातशत्रुः) अजातशत्रु नाम के काशिराज ने (उवाच) कहा कि (एव) निश्चय करके (एतत्) यह बात (प्रतिलोमम्) विपरीत है (यत्) जो कि (ब्राह्मणः) उत्तम वर्ण ब्राह्मण आचार्यत्व का अधिकारी होने पर भी (क्षत्रियम्) क्षत्रिय के (उपेयात्) निकट जाय (इति) इस आशा से कि यह क्षत्रिय (मे) मुझे (ब्रह्म) परब्रह्म का (वक्ष्यति) उपदेश करेगा (एव)निश्चय करके आचार्यत्व को बिना स्वीकार किये हुये मित्रता से (त्वा) तुम्हें (विज्ञपयिष्यामि) विशेषरूप से मैं परब्रह्म का बोध कराऊँगा (इति) ऐसा अजातशत्रु राजा ने कहकर (तम्) उस दृप्तबालाकि को (पाणौ) हाथ में (आदाय) पकड़कर (उत्तस्थौ) वह राजा गार्ग्य से उपदिष्ट जीवात्मा से अतिरिक्त परब्रह्म है इसको समझाने के लिये आसन

से उठा और (ह)प्रसिद्ध (तौ) वे दोनों राजभवन में (सुप्तम्) सोये हुए (पुरुषम्) किसी एक पुरुष के समीप (अजग्मतुः) आगये और उस अजातशत्रु ने (तम्) उस सोये हुए पुरुष को (बृहन्) हे बृहन् बड़े (पाण्डरवासः) हे शुक्लवस्त्रधारी (सोम) हे सोम (राजन्) हे राजन् (इति) इस प्रकार के (एतैः) इन (नामभिः) नामों से (आमन्त्र्याञ्चक्रे) जगाने के लिये पुकारा परन्तु (सः) वह सुप्त पुरुष (न) नहीं (उत्तस्थौ) उठा तब (तम्) उस न जागनेवाले पुरुष को (पाणिना) हाथ से (आपेषम्) दबा दबाकर (बोधयाञ्चकार) जगाया तब (ह) प्रसिद्ध (सः) वह सोया हुआ पुरुष (उत्तस्थौ) उठ बैठा ॥१५॥

विशेषार्थ–उस सुप्रसिद्ध विद्वान् अजातशत्रु नाम के काशिराज ने दृप्तबालाकि से कहा कि हे गार्ग्य यह बात तो विपरीत है। कौन विपरीत है सो आगे कहा जाता है। क्षत्रिय मुझ ब्राह्मण को परब्रह्म नारायण का उपदेश करेगा इस आशा से उत्तम ब्राह्मण आचार्यत्व का अधिकारी होकर भी जिसका आचार्यत्व का स्वभाव नहीं है उस क्षत्रिय के समीप शिष्य भाव से प्राप्त हो। यह आचार विधि का प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रों में निषिध माना गया है। क्योंकि गुरूपसदन विधान करनेवाली जो यह श्रुति है। **तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्** ॥ (मु॰ उ॰ मुं॰ १ खं॰ २ श्रु॰ १२) उस परब्रह्म नारायण को जानने के लिये वेद-वेदान्त को भलीभाँति जाननेवाले और ब्रह्म साक्षात्कार करनेवाले गुरु की निश्चय करके शरण में समिधा आदि हाथ में लिए हुए विनय पूर्वक जाय॥१२॥ इसमें स्पष्ट "श्रोत्रिय" शब्द आया है और श्रोत्रिय का लक्षण लिखा है कि – **एकशाखां सकल्पाञ्च षड्भिरङ्गैरधीत्य च। षट्कर्मनिरतो विप्रः श्रोत्रियो नाम धर्मवित् ॥ देवल॰॥ जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्कारैर्द्विज उच्यते। विद्यया याति विप्रत्वं त्रिभिः श्रोत्रिय उच्यते ॥** व्याकरण १, शिक्षा २, कल्प ३, छन्द ४, निरुक्त ५ और ज्योतिष् ६ इन अङ्गों के साथ केवल एक अपने वेद की शाखा को पढ़कर जो वेदपाठी धर्मवेत्ता ब्राह्मण अध्ययन १, अध्यापन २, यजन ३, याजन ४, दान ५ और प्रतिग्रह ६ इन छः कर्मों में निरत रहता है, उसको श्रोत्रिय कहते हैं। शुद्ध ब्राह्मण से शुद्ध ब्राह्मणी पत्नी में जन्म होने से ब्राह्मण कहा जाता है और यज्ञोपवीत आदिक संस्कारों से द्विज कहा जाता है तथा विद्या से विप्रत्व को प्राप्त करता है और पूर्वोक्त तीनों से श्रोत्रिय कहा जाता है, अर्थात् जिसका शुद्ध ब्राह्मण जाति में जन्म हो तथा उपनयन आदिक संस्कार हुआ हो और विद्याध्ययन किया हो उसको श्रोत्रिय कहते हैं। इससे सिद्ध हो गया कि उत्तमवर्ण ब्राह्मण ही श्रोत्रिय है और वही गुरु करने योग्य है ॥ **आचार्यवान् पुरुषो वेद** ॥ (छां॰ उ॰ प्रपा॰ ६ खं॰ १४ श्रु॰ २) आचार्यवाला पुरुष परब्रह्म नारायण को जानता है ॥२॥ इस श्रुति

में "आचार्य" शब्द आया है और आचार्य का लक्षण लिखा है कि– आचार्यो वेदसंपन्नो विष्णुभक्तो विमत्सरः । मंत्रज्ञो मंत्रभक्तश्च सदा मंत्रात्मकः शुचिः ॥ (पाद्मपु० उत्तर खं० ६ अ० २२३ श्लो० ५०) **सत्सम्प्रदायसंयुक्तो ब्रह्मविद्याविशारदः । अनन्यसाधनश्चैव तथानन्यप्रयोजकः ॥५१॥ ब्राह्मणो वीतरागश्च क्रोधलोभविवर्जितः । सद्वृत्तोपासिता चैव मुमुक्षुः परमार्थवित् ॥५२॥ एवमादिगुणोपेत आचार्यः स उदाहृतः ॥५३॥** आचार्य वेद पढ़ा हो तथा विष्णु का भक्त हो और मत्सर रहित हो तथा मंत्र जाननेवाला हो और मंत्रो का भक्त हो तथा सर्वदा मंत्र के अधीन रहता हो और पवित्र हो ॥५०॥ सत्संप्रदायसे युक्त हो और ब्रह्म विद्या में निपुण हो तथा अनन्योपाय हो और अनन्य प्रयोजक हो ॥५१॥ और राग रहित ब्राह्मण हो तथा क्रोध और लोभ से रहित हो शुद्ध आचारणवाला हो तथा मोक्ष की इच्छवाला हो और श्रेष्ठतत्त्व को जाननेवाला हो ॥५२॥ इन पूर्वोक्त गुणों से युक्त को आचार्य कहते हैं ॥५३॥ इससे सिद्ध होता है कि ब्राह्मण ही आचार्य होता है । और मनुस्मृति में लिखा है– **अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा । दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥** (मनु० अ० १ श्लो० ८८) वेद पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना, कराना, दान देना, दान लेना, यह कर्म ब्राह्मण के लिये प्रभु ने कल्पना किया ॥८८॥ और क्षत्रिय के स्वयं यज्ञ करना दान देना और अध्यन करना ये तीन कर्म ब्राह्मण के समान ही कहे गये हैं । परन्तु यज्ञ को करवाना विद्या पढ़ाना और दान लेना ये तीन कर्म क्षत्रिय के लिये कहीं धर्मशास्त्र में नही कहे गये हैं । क्योंकि लिखा है– **प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च विषयेष्वप्रशक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः ॥** (मनु० अ० १ श्लो० ८९) इस मनु के श्लोक में दान १, इज्या २, अध्ययन ३, ये तीन ही कर्म क्षत्रिय के लिये उपदिष्ट हुए हैं । इस हेतु से यह बात विपरीत है । तथापि आपने मेरे गृह पर आकर जो अत्यन्त विनय पूर्वक कहा कि "आपके निकट मैं शिष्य होकर प्राप्त होता हूँ" इस कथन मात्र से बिना आचार्य बने हुए ही मित्र-भाव से आपको निश्चिय करके मैं विशेष रूप से परब्रह्म नारायण का ज्ञान कराऊँगा। इतना कहकर वह सुप्रसिद्ध अजातशत्रु नाम का काशिराज उस दृप्तबालाकि के हाथ को पकड़कर गार्ग्य से उपदिष्ट जीवात्मा से अलग परब्रह्म नारायण है इसको समझाने के लिये आसन से उठकर खड़ा हुआ । और वे दृप्तबालाकि तथा अजातशत्रु राजभवन के भीतर कहीं सोये हुए किसी एक पुरुष के पास आये। उस प्राण को अजातशत्रु इन वक्ष्यमाण नामों से जगाने के लिये पुकारने लगा। किन नामों से सो आगे बतलाया जाता है। हे बृहन् बड़े, प्राण ज्येष्ठ श्रेष्ठ होने से सबसे बड़ा है क्योंकि लिखा है– **प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च ॥** (छां० उ० प्रापा० ५ खं० १ श्रु० १) प्राण ही ज्येष्ठ और

श्रेष्ठ भी है ॥१॥ **प्राणो वै ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च ॥**(बृ० उ० अ० ६ ब्रा० १ कं० १) निश्चय करके प्राण ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है ॥१॥ और हे शुक्लवस्त्रधारी यह उसी को कहा है क्योंकि "किं मे वास:" मेरा वस्त्र क्या है ऐसा प्राण से प्रश्न करने पर "आपो वास:" जल ही वस्त्र है ऐसा उत्तर होने से और जल का शुक्लरूप होता है इससे पाण्डर कहा गया है । और हे सोम भी उसी को कहा गया है क्योंकि सप्तान्न ब्राह्मण में लिखा है– अथैतस्य प्राणस्याप: शरीरं ज्योतिरूपमसौ चन्द्र: ॥ (बृ० उ० अ० १ ब्रा० ५ कं० १३) और इस प्राण का जल शरीर है वह चन्द्रमा प्रकाशात्मक रूप है ॥१३॥ इस श्रुति से प्राण का चन्द्रमा के साथ सम्बन्ध प्रतीति होने से प्राण को हे सोम ऐसा संबोधन किया गया है । और "प्राणो वै सम्राट्" प्राण ही सम्राट् है । इस श्रुति के प्रमाण से प्राण को हे राजन् संबोधन किया गया है । हे बृहन्, हे पाण्डरवास, हे सोम, हे राजन् इन नामों से पुकारे जाने पर भी जब वह सोया हुआ पुरुष नहीं जागा तब उस न जागने वाले पुरुष को अजातशत्रु ने हाथ से मल मल कर उठाया तो वह उठ बैठा। इससे सिद्ध हो गया कि जीवात्मा, देह, इन्द्रिय मन और प्राण से भिन्न है। और "कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद्" में लिखा है– **तं होवाचाजातशत्रुः प्रतिलोमंरूपमेव स्याद्यत्क्षत्रियो ब्राह्मणमुपनयेतैहि व्येव त्वा ज्ञपयिष्यामीति तं ह पाणावभिपद्य प्रवव्राज तौ ह सुप्तं पुरुषमीयतुस्तं हाजातशत्रुरामन्त्रयाञ्चक्रे बृहत्पाण्डरवासः सोम राजन्निति स उ ह तूष्णीमेव शिश्ये तत उ हैनं यष्ट्या विचिक्षेप स तत एव समुत्तस्थौ ॥** (कौ० ब्रा० उ० अ० ४ श्रु० १८) उनसे प्रसिद्ध राजा अजातशत्रु ने कहा– "यह विपरीत बात हो जायगी यदि क्षत्रिय ब्राह्मण को शिष्य बनाने के लिये अपने समीप बुलाये। इसलिये आइये एकान्त में चलें वहाँ आपको मैं अवश्य ब्रह्मका ज्ञान कराऊँगा। यों कह कर अजातशत्रु बालाकि का हाथ पकड़ कर वहाँ से चल दिया। वे दोनों एक सोये हुए पुरुष के पास चले आये । वहाँ प्रसिद्ध राजा अजातशत्रु ने उस सोये हुए पुरुष को पुकारा– हे बृहन्, हे पाण्डरवासा, हे सोम हे राजन् ! इस प्रकार संबोधन करने पर भी वह पुरुष चुप चाप सोया ही रहा । तब राजा ने उस पुरुष के शरीर पर छड़ी से आघात किया । वह सोया हुआ पुरुष छड़ी की चोट लगते ही उठकर खड़ा हो गया ॥१८॥ इस प्रकार का प्रतिपादन किया गया है ॥१५॥

स होवाचाजातशत्रुर्यत्रैष एतत्सुप्तोऽभूद्य एष विज्ञानमयः पुरुषः क्वैष तदाभूत्कुत एतदागादिति । तदु ह न मेने गार्ग्यः ॥१६॥

अन्वयार्थ– (ह) प्रसिद्ध विद्वान् (सः) उस (अजातशत्रुः) अजातशत्रु नाम के

काशिराज ने (उवाच) कहा कि (यत्र) जिस काल में (एषः) यह प्रसिद्धवत् भासमान (एतत्) इस प्रकार (सुप्तः) सोया हुआ (अभूत्) था (यः) जो (एषः) यह (विज्ञानमयः) विज्ञानमय (पुरुषः) पुरुष है (एषः) यह पुरुष (तदा) तब सोने समय में (क्व) कहाँ पर स्थित (अभूत्) था और (एतत्) इस समय में हाथ से दबाने पर (कुतः) कहाँ से (अगात्) यह जीवात्मा आ गयी (इति) इस प्रकार प्रबोध कराने पर भी (उ) निश्चय करके (ह) प्रसिद्ध (गार्ग्यः) गर्गवंशोत्पन्न दृप्तबालाकि ने (तत्) उस विषय को (न) नहीं (मेने) जान सका ॥१६॥

विशेषार्थ– प्रसिद्ध विद्वान् अजातशत्रु नामके काशिराज ने कहा कि– हे अनूचान! जिस समय यह प्रसिद्धवत् भासमान विज्ञानमय पुरुष हाथ से दबाने से पूर्व सोया हुआ था उस समय वह कहाँ पर स्थित था । और इस समय हाथ से दबाने पर यह प्रचुर विज्ञानवाला पुरुष कहाँ से आ गया । इस प्रकार प्रबोध करने पर भी "जहाँ यह आत्मा जागने से पहले थी और जहाँ से इसने आगमन किया है" इन दोनों बातों को गर्गकुलोत्पन्न दृप्तबालाकि नहीं समझ सका । और "कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद्" में लिखा है– **तं होवाचाजातशत्रुः क्वैष एतदालोके पुरुषोऽशयिष्ट क्वैतदभूत्कुत एतदगादिति तदु ह बालाकिर्न विजज्ञौ** ॥ (कौ० ब्रा० उ० अ० ४ श्रु० १८) तब गार्ग्य बालाकि से राजा अजातशत्रु ने कहा– हे बालाके यह पुरुष इस प्रकार अचेत सा होकर कहाँ सोता था तथा किस प्रदेश में इसका शयन हुआ था और इस जाग्रत् अवस्था के प्रति यह कहाँ से चला आया । राजा के इस प्रकार पूछने पर भी गार्ग्य बालाकि इस रहस्य को समझ न सके ॥१८॥ सोलहवीं कण्डिका में राजा ने दृप्तबालाकि के परीक्षार्थ दो प्रश्न किया है परन्तु बालाकि नहीं जान सका ॥१६॥

स होवाचाजातशत्रुर्यत्रैष एतत्सुप्तोऽभूद्य एषः विज्ञानमयः पुरुष एषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते । तानि यदा गृह्णाति । अथ हैतत्पुरुषः स्वपिति नाम । तद् गृहीत एव प्राणो भवति । गृहीता वाग्गृहीतं चक्षुर्गृहीतं श्रोत्रं गृहीतं मनः ॥१७॥

अन्वयार्थ– (ह) प्रसिद्ध विद्वान् (सः) वह (अजातशत्रुः) अजातशत्रु नाम का काशिराज (उवाच) बोला कि (यत्र) जिस काल में (एषः) यह प्रसिद्धवत् भासमान जीवात्मा (एतत्) इस प्रकार (सुप्तः) सोयी हुई (अभूत्) थी (यः) जो (एषः) यह (विज्ञानमयः) अधिक ज्ञानवाला (पुरुषः) पुरुष है उस शयन समय में (एषाम्) इन

समस्त (प्राणानाम्) घ्राणादि इन्द्रियों के (विज्ञानम्) स्व-स्व विषय ग्रहण-सामर्थ्य को (विज्ञानेन) मन के साथ (आदाय) लेकर (यः) जो (एषः) यह (हृदये) हृदय में (अन्तः) भीतर (आकाशः) परमात्मा है (तस्मिन्) उसी आकाश शब्द वाच्यं परब्रह्म नारायण में (शेते) सो जाता है (यदा) जिस समय यह (तानि) उन इन्द्रियों को (गृह्णाति) अपने स्थानों से अपने वश में कर लेता है (अथ) इसके बाद (पुरुषः) पुरुष (स्वपिति) स्वपिति (एतत्) यह (नाम) नाम वाला होता है (तत्) उस समय (एव) निश्चय कर के (प्राणः) घ्राणेन्द्रिय (गृहीता) अपने व्यापार से निवृत्त रहती है तथा (चक्षुः) नेत्र (गृहीतम्) व्यापार से शून्य हो जाता है और (श्रोत्रम्) श्रवणेन्द्रिय (गृहीतम्) बन्द रहती है तथा (मनः) मन भी (गृहीतम्) अपने व्यापार से निवृत्त ही रहता है ॥१७॥

विशेषार्थ— सुप्रसिद्ध विद्वान् अजातशत्रु नामके काशिराज ने दृप्त बालाकि से कहा कि हे अनूचान! यह जो विज्ञानमय पुरुष है । यह जिस समया सोया हुआ था उस समय यह कहाँ था और जागने समय यह कहाँ से आया है । इस प्रकार जो हमने पूछा था उसका उत्तर दिया जाता है, सुनो। जिस समय वह पुरुष सोया हुआ था उस समय इन संपूर्ण वागादि इन्द्रियों के स्व-स्व विषय-ग्रहण सामर्थ्य को मन के साथ लेकर यह जो हृदय भीतर आकाश शब्द वाच्य परब्रह्म नारायण है उसमें शयन करता है क्योंकि लिखा है— **सता सोम्य तदा संपन्नो भवति ॥** (छा० उ० प्रपा० ६ खं० ८ श्रु० १) उस स्वापकाल में हे सोमार्ह प्रिय दर्शन पुत्र जीवात्मा परब्रह्म नारायण से नामरूप परित्याग कर के संगत होती है ॥१॥ प्रकृत श्रुति में "आकाश" शब्द परमात्मा का वाचक है क्योंकि लिखा है— **सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्त आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति ॥** (छा० उ० प्रपा० १ खं० ९ श्रु० १) निश्चय कर के प्रसिद्ध है कि ये सभी ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त भोक्तृभोग्यरूप भूत यानी चिदचिदात्मक प्रपञ्च आकाश शब्द वाच्य परब्रह्म नारायण से ही भलीभाँति उत्पन्न होते हैं और अन्त में आकाश शब्द वाच्य परब्रह्म नारायण में ही प्रलीन हो जाते हैं ॥१॥ **को ह्येवान्यात्मकः प्राण्यात्। यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् ॥** (तैत्ति० उ० व० २ अनु० ७ श्रु० १) यदि यह आकाश शब्द वाच्य परब्रह्म नारायण अपरिछिन्न आनन्द रस नहीं होता तो कौन पुरुष निश्चय करके जीवित रह सकता या सांसारिक सुख को प्राप्त कर सकता और कौन पुरुष प्राणों की चेष्टा कर सकता या आपवर्गिक सुख को प्राप्त कर सकता॥१॥ **आकाशो ह वै नामरूपयोर्निर्वहिता ॥** (छा० उ० प्रपा० ८ खं० १४ श्रु० १) आकाश नाम से प्रसिद्ध परब्रह्म नारायण नाम और रूप का निर्वाह करनेवाला है ॥१॥ **सैषा भार्गवी वारुणी विद्या परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता ॥** (तैत्ति० उ० व० ३ अनु० ६ श्रु० १) वह अन्न से प्रारम्भ हुई यह भृगु ऋषि की जानी हुई और वरुण महर्षि की कही

हुई विद्या सब से उत्कृष्ट परब्रह्म नारायण में प्रतिष्ठित है ॥१॥ इस श्रुति में आकाशवाची "व्योमन्" शब्द परब्रह्म नारायण में प्रयुक्त हुआ है । **ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् ॥** (ऋग्वे० मण्ड० १ सूक्त० १६४ मं० ३९) (श्वेता० उ० अ० ४ श्रु० ८) अविनश्वर सब से उत्कृष्ट परब्रह्म नारायण में सम्पूर्ण ऋचाएँ स्थित हैं ॥३९॥८॥ इस श्रुति में भी आकाशवाची "व्योमन्" शब्द परब्रह्म नारायण में प्रयुक्त हुआ है॥ **ओं खं ब्रह्म ॥** (यजु० अ० ४० श्रु० १८) ओम् और खम् पद वाच्य परब्रह्म नारायण है ॥१८॥ इस श्रुति में आकाशवाची "खम्" पद परब्रह्म नारायण में प्रयुक्त हुआ है। इससे यहाँ पर "आकाश" शब्द का अर्थ परब्रह्म नारायण है। हृदय के विषय में लिखा है– **पद्मकोशप्रतीकाशं हृदयं चाप्यधोमुखम् । अधो निष्ठ्या वितस्त्यान्ते नाभ्यामुपरि तिष्ठति । हृदयं तद्विजानीयाद्विश्वस्यायतनं महत् ॥** (तैत्ति० प्रपा० १० श्रु० ८) नीचे मुखवाला लाल कमल के कोश के समान नाभि के ऊपर एक बित्ता के भीतर अधोनिष्ठा से युक्त जो मांस का पिण्ड देह में स्थित है उसी को हृदय जानना चाहिये वह हृदय परब्रह्म नारायण का बड़ा स्थान है ॥८॥ **सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः ॥** (गी० अ० १५ श्लो० १५) मैं सब के हृदय में प्रविष्ट हूँ ॥१५॥ ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ॥ (गी० अ० १८ श्लो० ६१) हे अर्जुन ईश्वर सभी प्राणियों के हृदय देश में स्थित है ॥६१॥ यह जीवात्मा जिस समय संपूर्ण इन्द्रियों को अपने वश में ले आती है तो उस समय यह पुरुष "स्वपिति" नाम वाला होता है । क्योंकि लिखा है – **यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम ॥** (छा० उ० प्रपा० ६ खं० ८ श्रु० १) जिस काल में पुरुष सोता है उस समय उसका "स्वपिति" यह नाम प्रसिद्ध होता है ॥१॥ उस सुषुप्ति काल में प्राण गृहीत ही हो जाता है। यहाँ वागादि इन्द्रियों का प्रकरण होने से 'प्राण" शब्द से घ्राणेन्द्रिय समझना चाहिये। अर्थात् समस्त मन के साथ इन्द्रियगण अपने अपने व्यापार से उपरत हो जाती हैं। इसी विषय को आगे स्पष्ट बतलाया जाता है। वाणी का व्यापार भी बन्द रहता है नयन भी व्यापार शून्य हो जाता है, श्रवणेन्द्रिय भी बन्द ही रहती है और मन भी अपने मनन क्रिया से निवृत्त ही रहता है। इस कण्डिका में स्पष्ट बतलाया गया है कि सुषुप्ति समय में जीवात्मा हृदय के भीतर आकाश शब्द वाच्य परब्रह्म नारायण में स्थित रहती है । यह प्रथम प्रश्न का उत्तर है । और इसी से द्वितीय प्रश्न का भी उत्तर जानना चाहिये । जो शयनाधार परब्रह्म नारायण है वहाँ से फिर पुरुष जाग्रत् अवस्था में आता है । और "कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद्" में लिखा है– **तं होवाचाजातशत्रुर्यत्रैष एतद्बालाके पुरुषोऽशयिष्ट यत्रैतदभूद्यत एतदगाद्धिता नाम हृदयस्य नाड्यो हृदयात्पुरीततमभितन्वन्ति यथा सहस्रधा केशो विपाटितस्तावदण्व्यः पिङ्गलस्याणिम्नातिष्ठन्ते शुक्लस्य कृष्णस्य पीतस्य लोहितस्येति**

तासु तदा भवति यदा सुप्तः स्वप्नं न कञ्चन पश्यत्याथास्मिन् प्राण एकैकधा भवति तथैनं वाक् सर्वैर्नामभिः सहाप्येति चक्षुः सर्वैरूपैः सहाप्येति श्रोत्रं सर्वैः शब्दैः सहाप्येति मनः सर्वैर्ध्यातैः सहाप्येति ॥१९॥ तब उनसे प्रसिद्ध राजा अजातशत्रु ने फिर कहा -- "हे बालाके यह पुरुष इस प्रकार अचेत सा होकर जहाँ सोता था, जहाँ इसका शयन हुआ था और इस जाग्रत् अवस्था के प्रति यह जहाँ से आया है, वह स्थान यह है "हिता" नाम से पसिद्ध बहुत सी नाड़ियाँ हैं जो हृयद् कमल से सम्बन्ध रखनेवाली हैं । वे हृदय कमल से निकल कर सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होकर फैली हुई हैं । इनका परिमाण इस प्रकार है– एक केश को एक हजार बार चीरने पर जो एक खण्ड हो सकता है, उतनी ही सूक्ष्म वे सब की सब नाड़ियाँ हैं । पिङ्गल अर्थात् नाना प्रकार के रंगों का जो अति सूक्ष्मतम रस है उससे वे पूर्ण हैं । शुक्ल, कृष्ण, पीत और रक्त इन सभी रंगों के सूक्ष्मतम अंश से वे युक्त हैं । उन्हीं नाड़ियों में वह पुरुष सोते समय स्थित रहता है । जिस समय सोया हुआ पुरुष कोई स्वप्न नहीं देखता उस समय वह इस प्राण में ही एकीभाव को प्राप्त हो जाता है । उस समय वाक् सम्पूर्ण नामों के साथ इस प्राण में ही लीन हो जाती है । नेत्र समस्त रूपों के साथ इसमें ही लीन हो जाता है। कान समग्र शब्दों के साथ इसमें ही लीन हो जाता है। तथा मन भी सम्पूर्ण चिन्तनीय विषयों के साथ इसमें ही लय को प्राप्त हो जाता है ।।१९।। ऐसा वर्णन किया गया है ।।१७।।

स यत्रैतत्स्वप्न्यया चरति । ते हास्य लोकास्तदुतेव महाराजो भवति । उतेव महाब्राह्मणः । उतेवोच्चावचं निगच्छति । यथा महाराजो जानपदान्गृहीत्वा स्वे जनपदे यथाकामं परिवर्तेतैवमेवैष एतत्प्राणान् गृहीत्वा स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तते ॥१८॥

अन्वयार्थ– (सः) वह (एतत्) यह जीवात्मा (यत्र) जिस समय (स्वप्न्यया) स्वप्नावस्थावाला मन से युक्तहो (चरति) स्वप्नस्थान में (चरति) संचार करती है उस समय (अस्य) इस जीवात्मा के (ह) प्रसिद्ध (ते) वे (लोकाः) स्वर्गादिलोक होते हैं और (तत्) उस समय (उत) कभी तों (महाराजः) महाराज के (इव) समान (भवति) वह पुरुष होता है और (उत) कभी तो (महाब्राह्मणः) श्रोत्रियत्वादिगुण युक्त महाब्राह्मण के (इव) समान होता है तथा (उत) कभी तो (उच्चावचम्) उच्च यानी श्रेष्ठ देवादि शरीर तथा अवच यानी नीच तिर्यगादि शरीर के (इव) समान विविध

रूपों को (निगच्छति) निश्चय करके प्राप्त करता है (यथा) जिस प्रकार (महाराजः) कोई महाराज (जानपदान्) अपने राज्य में होनेवाले प्रजा जनों को (गृहीत्वा) लेकर (स्वे) अपने (जनपदे) भुजोपार्जित देश में (यथाकामम्) अपनी इच्छानुसार (परिवर्तेत) विचरता है (एवम्) उसी प्रकार (एव) निश्चय कर के (एषः) यह जीवात्मा (एतत्) उस समय (प्राणान्) अपने अपने स्थानों से इन्द्रियों को (गृहीत्वा) ग्रहण कर (स्वे) अपने (शरीरे) शरीर में (यथाकामम्) यथेष्ट (परिवर्तते) विचरती है ॥१८॥

विशेषार्थ– स्वप्नवैलक्षण्य प्रतिपादन करने के लिये यहाँ प्रथम विज्ञानमय जीवात्मा की स्वप्नावस्था के व्यापार को दरसाने के लिये उत्तर ग्रन्थ का आरम्भ किया जाता है। जिस काल में वह विज्ञानमय यह जीवात्मा स्वप्नावस्था वाले मन से युक्त होकर स्वप्न स्थान में संचार करती है। उस समय इस जीवात्मा के वे सुप्रसिद्ध स्वर्गादिक लोक हो जाते हैं। और उस समय वह पुरुष कभी तो महाराज के समान होजाता है तथा कभी तो श्रोत्रियत्वादि गुणयुक्त महाब्राह्मण के समान हो जाता है। तथा कभी अवच यानी नीच तीर्यगादि शरीर के समान हो जाता है। इस प्रकार विविध रूपों को निश्चय कर के प्राप्त करता है। स्वप्न के पदार्थों को परब्रह्म नारायण ही बनाता है। जैसे कोई महाराज अपने राज्य सम्बन्धी प्रजाजनों को लेकर अपने भुजोपार्जित मूल राजधानी में अपनी इच्छानुसार विचरता है वैसे ही यह जीवात्मा उस समय अपने अपने स्थानों से सम्पूर्ण इन्द्रियों को लेकर अपने शरीर में ही विचरती है। जन पद के विषय में लिखा है – **नीवृज्जनपदः** ॥ (अमर० कां० २ ब० १ श्लो० ८) राजाओं के बसाये हुए देशों का नाम नीवृत् १ और जनपद २ है ॥८॥ **श्रीवरदाम्बुप्रदाता भगवद्रामानुजाचार्य ने ॥ उपादानाद्विहारोपदेशाच्च ॥** (शा० मी० अ० २ पा० ३ सू० ३४) **ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननात्प्राणवता शब्दात्** ॥ (शा० मी० अ० २ पा० ४ सू० १३) इन दोनों सूत्रों के श्री भाष्य में "बृहदारण्यकोपनिषद्" के द्वितीय अध्याय के प्रथम ब्राह्मण की अठारहवीं कण्डिका के अन्तिम खण्ड को उद्धृत किया है ॥१८॥

अथ यदा सुषुप्तो भवति । यदा न कस्यचन वेद । हिता नाम नाड्यो द्वासप्ततिः सहस्राणि हृदयात्पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते । स यथा कुमारो वा महाराजो वा महाब्राह्मणो वाऽतिघ्नीमानन्दस्य गत्वा शयीतैवमेवैष एतच्छेते ॥१९॥

अन्वयार्थ– (अथ) स्वप्न के अनन्तर (यदा) जिस काल में जीवात्मा (सुषुप्तः)

सुषुप्त (भवति) हो जाती है (यदा) जब (कस्यचन) किसी भी पदार्थ के विषय में (न) कुछ भी नहीं (वेद) जानती है तब जीवात्मा सुषुप्त कहलाती है (हिता:) आत्मा के हितावह होने से हिता इस (नाम) से प्रसिद्ध (द्वासप्तति:) बहत्तर (सहस्राणि) हजार (नाड्य:) नाड़ियाँ (हृदयात्) हृदय से (पुरीततम्) पुरीत शब्दित हृदयान्तर्वर्ती मांसपिण्ड को (अभिप्रतिष्ठन्ते)अभिमुख करके संपूर्ण शरीर में फैली हुई हैं (ताभि:) द्वारभूत उन बहत्तर हजार नाड़ियों से सम्पूर्ण इन्द्रियों को अपने में समिट कर (प्रत्यवसृप्य) और उन्हीं नाड़ियों के द्वारा लौट के आकर (पुरीतति) हृदयान्तर्वर्ती मांसपिण्ड में वर्तमान परब्रह्म नारायण में (शेते) सोता है (स:) वह (यथा) जैसे (कुमार:) स्तनंधय अत्यन्त छोटा बालक (वा) अथवा (महाराज:) जिसकी प्रजा अत्यन्त वश में की हुई है ऐसा कोई शास्त्रोक्त आचरण करनेवाला महाराज (वा) अथवा (महाब्राह्मण:) अत्यन्त परिपक्व विद्या विनयसंपन्न महाब्राह्मण (वा) निश्चय करके (आनन्दस्य) आनन्द की (अतिघ्नीम्) परमा काष्ठा अन्तिम सीमा तक (गत्वा) जाकर (शयीत्) सो जाय (एवम्) उसी प्रकार (एव) निश्चय करके (एष:) यह जीवात्मा (एतत्) इस सुषुप्ति अवस्था में (शेते) शयन करती है ।।१९।।

विशेषार्थ– स्वप्न के पश्चात् जब यह जीवात्मा अच्छे प्रकार सो जाती है अर्थात् जीवात्मा को जब सुषुप्ति अवस्था प्राप्त होती है । जब किसी पदार्थ के विषय में कुछ भी नहीं जानती है तब उसका नाम सुषुप्ति अवस्था है । और उस समय जीवात्मा "सुषुप्त" कहलाती है । इस अवस्था में जीवात्मा कहाँ रहती है सो अगे बतलाया जाता है । आत्मा के हित करने से "हिता" इस नाम से प्रसिद्ध बहत्तर हजार नाड़ियाँ हृदय से पुरीतत शब्दित हृदयान्तर्वर्ती मांस पिण्ड को अभिमुख करके संपूर्ण शरीर में व्याप्त होकर स्थित हुई हैं । अन्न के रस की विपरिणामभूता देह की शिरा को नाड़ी कहते हैं। और हृदय का लक्षण लिखा है–**पद्मकोशप्रतीकाशं हृदयं चाप्यधोमुखम् । अधो निष्ठ्या वितस्त्यान्ते नाभ्यामुपरि तिष्ठति । हृदयं तद्विजानीयाद्विश्वस्यायतनं महत्** ।। (तैत्ति० आर० प्रपा० १० अनु० ११ श्रु० ८) नीचे मुखवाला लाल कमल के कोश के समान नाभि के ऊपर एक बित्ते के भीतर अधोनिष्ठा से युक्त जो मांस का पिण्ड देह में स्थित है उसी को हृदय जानना चाहिये, वह हृदय परब्रह्म नारायण का बड़ा स्थान है ।।८।। द्वारभूत उन बहत्तर हजार नाड़ियों से समस्त इन्द्रियों के द्वारा लौट के आकर हृदयान्तर्वर्ती मांसपिण्ड में वर्तमान परब्रह्म नारायण में जीवात्मा शयन करती है। क्योंकि लिखा है– **य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते** ।। (बृ० उ० अ० २ ब्रा० १ कं० १७) जो यह हृदय के भीतर परमात्मा है उसी आकाश शब्द वाच्य परब्रह्म नारायण में जीवात्मा शयन करती है ।।१७।। **तद्यत्रैतत्सुप्तः समस्तः**

संप्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्यासु तदा नाडीषु सृप्तो भवति ॥ (छा० उ० प्रपा० ८ खं ६ श्रु० ३) वहाँ ऐसा होने पर जिस समय में यह जीवात्मा सुषुप्ति अवस्था को प्राप्त सकल इन्द्रिय मण्डल को जिसने अपने में उपसंहार कर लिया है अतएव बाह्य विषय संपर्क जनित कालुष्य शून्य पुरुष स्वप्न को नहीं देखता है वह इन नाड़ियों में परब्रह्म की प्राप्ति के लिये जीव प्रविष्ट हो जाता है ॥३॥ **तीर्णो हि तदा सर्वाञ्छोकान्हृदयस्य ॥** (बृ० उ० अ० ४ ब्रा० १ कं० २२) उस समय वह हृदय के सारे शोकों को पार कर लेता है ॥२२॥ सुषुप्त पुरुष के विषय में यह आगे दृष्टान्त दिया जाता है । जिस प्रकार स्तनंधय अत्यन्त छोटा बालक या जिसकी प्रजा अत्यन्त वश में की हुई है ऐसा कोई शास्त्रोक्त आचरण करनेवाला महाराजा अथवा परिपक्व विद्या विनय संपन्न महाब्राह्मण आनन्द की परम काष्ठा अन्तिम सीमा तक जाकर सो जाय उसी प्रकार निश्चय करके यह जीवात्मा सुषुप्ति अवस्था में परब्रह्म नारायण में शयन करती है । **श्रीरङ्गेशविमलपताका भगवद्रामानुजाचार्य ने ॥ तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च ॥** (शा० मी० अ० ३ पा० २ सू० ७) के श्रीभाष्य में ''बृहदारण्यकोपनिषद्'' के द्वितीय अध्याय के प्रथम ब्राह्मण की उन्नीसवीं कण्डिका के पूर्वार्ध को उद्धृत किया है ॥१९॥

स यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेत् । यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति । एवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति । तस्योपनिषत्सत्यस्य सत्यमिति । प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम् ॥२०॥

॥ इति द्वितीयाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

अन्वयार्थ– (यथा) जैसे (सः) वह (ऊर्णनाभिः) मकड़ा नामक कीट (तन्तुना) निज निर्मित तन्तु के द्वारा (उच्चरेत्) आहार ग्रहण करने के लिए ऊपर की ओर जाता है और (यथा) जैसे (अग्नेः) अग्नि से निकलकर (क्षुद्राः) छोटे छोटे (विस्फुलिङ्गाः) चिनगारियाँ (व्युच्चरन्ति) विविध प्रकार के ऊपर नीचे उड़ती हैं (एवम्)वैसे (एव) ही (अस्मात्) इस सुषुप्ति के आधार (आत्मनः) परमात्मा से (सर्वे) समस्त (प्राणाः) जीव और (सर्वे) सम्पूर्ण (लोकाः) ज्ञान तथा (सर्वे) समस्त (देवाः) इन्द्रियगण और (सर्वाणि) संपूर्ण (भूतानि) भूत (व्युच्चरन्ति) विविध प्रकार के उत्पन्न होते हैं (तस्य) उस (सत्यस्य) उपाधि रहित सत्ता योगी परब्रह्म नारायण के (सत्यम्) सत्य (इति) यह (उपनिषद्) रहस्य नाम है (वै) निश्चय कर के (प्राणाः) जीवात्मा (सत्यम्)

सत्य हैं और (तेषाम्) उन सब जीवों में भी (एष:) यह परब्रह्म नारायण (सत्यम्) सत्य है ।।२०।।

विशेषार्थ–"उस समय यह कहाँ था" इस प्रश्न का उत्तर कह दिया गया । अब "यह कहाँ से आया" इस प्रश्न का उत्तर आरम्भ किया जाता है । जिस प्रकार वह मकड़ी नाम का कीट निज निर्मित जाले से तन्तु के द्वारा आहार ग्रहण करने के लिये ऊपर की ओर जाता है । ऊर्णा के समान तन्तु नाभि में जिसका हो उसको "ऊर्णनाभि" कहते हैं । ऊर्णनाभ के विषय में लिखा है– **लूतास्त्री तन्तुवायोर्णनाभमर्कटकाः समाः ॥** (अमर० कां० २ व० ५ श्लो० १३) लूता १, तन्तुवाय २, ऊर्ण नाभ ३ और मर्कट ४ ये मकड़ी के नाम हैं । और जिस प्रकार अग्नि से निकल कर छोटी छोटी चिनगारियाँ ऊपर नीचे विविध प्रकार की उड़ती हैं उसी प्रकार निश्चय कर के सुषुप्ति के आधार परब्रह्म नारायण से समस्त जीवात्माएँ उत्पन्न होती हैं । इस श्रुति में "प्राण" जीव वाचक है क्योंकि **प्राणो वा आशायाभूयान् ॥** (छा० उ० प्रपा० ७ खं० १५ श्रु० १) प्राण सहचारी प्रत्यगात्मा निश्चय करके इच्छित पदार्थ की प्रार्थना रूप आशा से अधिक श्रेष्ठ है ।।१।। इस श्रुति में जीव वाचक "प्राण" शब्द प्रयुक्त हुआ है । और संपूर्ण ज्ञान भी परब्रह्म नारायण से उत्पन्न होते हैं । इस श्रुति में "लोकनं लोक:" इस व्युत्पति से "लोक" शब्द ज्ञानवाचक है । और लिखा है– **मत्तः स्मृतिर्ज्ञानम् ॥** (गी० अ० १५ श्लो० १५) मुझ से ही स्मृति और ज्ञान होता है ।।१५।। तथा समस्त क्रीडा करने वाली इन्द्रियाँ परब्रह्मनारायण से ही उत्पन्न होती हैं । यहाँ पर "देव" इन्द्रिय वाचक है । और अनेक प्रकार के संपूर्णभूत सुषुप्ताधार परब्रह्म नारायण से ही उदय होते हैं । क्योंकि लिखा है– **इमाः सर्वा प्रजाः सत आगम्य न विदुः सत आगच्छामह इति ॥** (छा० उ० प्रपा० ६ खं० १० श्रु० २) ये संपूर्ण जन सत् शब्द वाच्य परब्रह्म नारायण से आकर सुषुप्ति के अनन्तर सत् शब्द वाच्य परब्रह्म नारायण से हमलोग आये हैं इस प्रकार से नहीं जानते हैं ।।२।। उस उपाधि रहित सत्ता योगी परब्रह्म नारायण का सत्य यह रहस्य नाम है। क्योंकि लिखा है– **सत्यः सत्यपराक्रमः ॥** (महाभा० अनुशा० विष्णुसह० श्लो० ३६) सत्य १, सत्यपराक्रम २ ये परब्रह्म नारायण के नाम हैं ।।३६।। और यहाँ "उपनिषद्" शब्द रहस्य वाचक है क्योंकि लिखा है– **धर्मे रहस्युपनिषत्स्यात् ॥** (अमर० कां० ३ व० ३ श्लो० ९३) धर्म में रहस्य में और वेदान्त में उपनिषद् शब्द का उपयोग होता है ।।९३।। निश्चय करके प्राण सहचारी प्रत्यगात्मा सब सत्य है क्योंकि अचेतन के समान जीवात्मा के स्वरूप में अन्यथा भाव नहीं होता है । और उन सब जीवात्माओं का भी यह परब्रह्म नारायण सत्य है, क्योंकि परब्रह्म नारायण के धर्म भूत ज्ञान स्वभाव के अन्यथा

भाव का अभाव होने से उस जीवात्मा की अपेक्षा से भी अधिक सत्यता है क्योंकि लिखा है – **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ॥** (तैत्ति० उ० व० २ अनु० १ श्रु० १) सत्य यानी निरूपाधिक सत्ता योगी जान यानी नित्य असंकुचित ज्ञानैकाकार अनन्त यानी देश काल और वस्तु के परिच्छेद से रहित परब्रह्म नरायण है ॥१॥ **सत्यस्य सत्यम् ॥** (श्री मद्भा० स्कं० १० अ० २ श्लो० २६) सत्य जीव का परमात्मा सत्य है ॥२६॥ और "कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद्" में लिखा है – **स यदा प्रतिबुध्यते यथाग्नेर्ज्वलतो विस्फुलिङ्गा विप्रतिष्ठे रन्नेवमेवैतस्मादात्मनः प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोकास्तद्यथा क्षुरः क्षुरधारे हितः स्याद्विश्वम्भरो वा विश्वम्भरकुलाय एवमेवैष प्राज्ञ आत्मेदं शरीरमनुप्रविष्ट आलोमभ्य आनखेभ्यः ॥** (कौ० ब्रा० उ० अ० ४ श्रु० १९) वह पुरुष जब जाग उठता है उस समय जैसे जलती हुई आग से सब दिशाओं की ओर चिनगारियाँ निकलती हैं उसी प्रकार इस परमात्मा से सब जीव निकल कर अपने भोग्य स्थान की ओर जाते हैं । फिर जीवों से सब इन्द्रियगण प्रकट होती हैं और इन्द्रियों से ज्ञान प्रकट होता है । जैसे क्षुरा रखने के लिये बनी हुई पेटी में क्षुरा रखा रहता है उसी प्रकार शरीरान्तर्वर्ती हृदय कमल में परमात्मा की उपलब्धि होती है । और जिस प्रकार अग्नि अपने नीडभूत अरणी आदि काष्ठ में सर्वत्र व्याप्त रहती है उसी प्रकार यह प्राज्ञ आत्मा इस शरीर में नख से लेकर शिखा पर्यन्त प्रविष्ट है ॥१९॥ यहाँ पर "बृहदारण्यकोपनिषद्" के द्वितीय अध्याय का प्रथम अजातशत्रु ब्राह्मण समाप्त हो गया ॥२०॥

॥ अथ द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

योो ह वै शिशुं साधानं सप्रत्याधानं सस्थूणं सदामं वेद । सप्त ह द्विषतो भ्रातृव्यानवरुणद्धि । अयं वाव शिशुर्योऽयं मध्यमः प्राणस्तस्येदमेवाऽऽधानमिदं प्रत्याधानं प्राणः स्थूणाऽन्नं दाम ॥१॥

अन्वयार्थ – (यः) जो कोई (वै) निश्चय करके (साधानम्) आधान सहित (सप्रत्याधानम्) प्रत्याधान सहित (सस्थूणम) बन्धन स्तम्भ सहित (सदामम्) बन्धन रज्जु सहित (ह) प्रसिद्ध (शिशुम्) शिशु के समान शिशु को (वेद) जानता है (हं) प्रसिद्ध वह शिशुवित् (द्विषतः) द्वेष करनेवाले (सप्त) सात पुरुष पर्यन्त (भ्रातृव्यान्) शत्रुओं को (अवरुणद्धि) अपने वश में करता है (यः) जो (अयम्) यह (मध्यमः) शरीर के मध्य में रहनेवाला पञ्चवृत्तिवाला (प्राणः) प्राण है सोवही (अयम्) यह प्राण

(वाव) निश्चय करके (शिशुः) अन्य इन्द्रियों के समान क्रिया कर्तृत्वादि शून्य होने से शिशु के तुल्य शिशु है (तस्य) उस वत्स स्थानीय शिशु का (इदम्) यह हृदय (एव) निश्चय करके (आधानम्) आधान है और (इदम्) यह प्रत्यक्षोपस्थापित शरीर (प्रत्याधानम्) प्रत्याधान है यानी प्रसूति भूमि है (प्राणः) प्राण शब्द वाच्य जीव (स्थूणा)वत्स वन्धन का खूँटा है और (अन्नम्) विविध प्रकार के भोज्य पदार्थ ही (दाम) बन्धन की जेवरी है ।।१।।

विशेषार्थ— जो कोई उपासक आधान सहित तथा प्रत्याधान और स्थूणा सहित तथा बन्धन रज्जु सहित शिशु के समान शिशु को निश्चय करके जानता है वह प्रसिद्ध शिशुवेत्ता पुरुष द्वेष करनेवाले सात पुरुष पर्यन्त शत्रुओं को अपने वश में कर लेता है। "आधियतेऽस्मिन्निति आधानम्" इस व्युत्पत्ति से जिसमें कुछ वस्तु रखी जाय उसे "आधान" कहते हैं ! और "आहितस्याधानं प्रत्याधानम्" इस व्युत्पत्ति से पूर्व स्थापित वस्तु के आधान को 'प्रत्याधान' कहते हैं । तथा स्थूणा के विष में लिखा है— **स्थूणा स्तम्भेऽपिवेश्मनः ॥** (अमर० कां० ३ व० ३ श्लो० ५१)खम्भे तथा लोहे की मूर्ति में स्थूणा शब्द प्रयुक्त होता है ।।५१।। और "दामन्" शब्द के विषय में लिखा है — **न पुंसि दाम सन्दानम् ॥** (अमर० कां० २ व० ९ श्लो० ७३) दामन् १, सन्दान २ ये पशु के पाँव बाँधने की रस्सी के नाम हैं ।।७३।। "शीङ् स्वप्ने" धातु से शिशु शब्द बनता है । शिशु के विषय में लिखा है — **पोतः पाकोऽर्भको डिम्भः पृथकः शावकः शिशुः ॥** (अमर० कां० २ श्लो० ३८) पोत १, पाक २, अर्भक ३, डिम्भ ४, पृथक ५, शावक ६ और शिशु ७ ये छोटे बच्चों के नाम हैं ।।३८।। और इस श्रुति में "**भ्रातृव्य**" शब्द शत्रु वाचक है क्योंकि लिखा है — **भ्रातृव्यौ भ्रातृजद्विषौ ॥** (अमर० कां० ३ व० ३ श्लो० १४६) भ्रातृव्य शब्द भतीजा तथा शत्रु का वाचक है ।।१४६।। अब आगे स्वयं मंत्रार्थ श्रुति स्पष्ट कहती है । पूर्व "शिशु" कहा है । लोक में छोटे बच्चों का नाम शिशु है । क्योंकि यह अति सूक्ष्म रूप से क्रिया कर्तृत्वादि रहित बालक के समान इस शरीर में सो रहा है । क्योंकि लिखा है —हृदि प्राणः स्थितो नित्यम् ।। (योगचूडामण्यु० श्रु० २३) शरीर के मध्य हृदय में सर्वदा प्राण स्थित रहता है।।२३।। आगे आधान कहा जाता है । उस वत्सस्थानीय शिशु के यह मध्य शब्दोपस्थापित हृदय ही आधान है । क्योंकि वत्स का गर्भगोलक पहले हृदय में ही स्थापित रहता है। और जिसमें वस्तु स्थापित हो उसे ही आधान कहते हैं। अब प्रत्याधान कहा जाता है। उस वत्सस्थानीय शिशु का यह प्रत्यक्षोपस्थापित शरीर ही प्रत्याधान है। क्योंकि गर्भ आहित वत्स पश्चात् भूमि में रखा जाता है इससे प्रत्याधान प्रसूति भूमि है । इसी प्रकार पूर्व हृदय में स्थापित प्राण पीछे से सब शरीर

में व्याप्त होकर रहता है इससे शरीर प्रत्याधान प्रसूति भूमि है । पूर्व स्थापित वस्तु को जो पश्चात् आधान करना है उसी को प्रत्याधान कहते हैं। अब स्थूणा कहा जाता है। खूँटे का नाम स्थूणा है। उस वत्स स्थानीय शिशु के बाँधने का खूँटा प्राण शब्द वाच्य जीवात्मा ही है। क्योंकि खूंटा में वत्स बाँधा जाता है और प्राण जीव में बान्धा हुआ है इससे जीव के शरीर में रहने पर ही प्राण की अवस्थिति रहती है। "प्राणः स्थूणा" यहाँ पर प्राण शब्द जीवात्मा का वाचक है क्योंकि लिखा है – **प्राणो वा आशायाभूयान् ॥** (छां० उ० प्रपा ७ खं० १५ श्रु० १) प्राण शब्द वाच्य जीवात्मा निश्चय कर के इच्छित पदार्थ की प्रार्थना रूप आशा से अधिक श्रेष्ठ है ॥१॥ एतस्मादात्मनः सर्वे प्राणाः ॥ (बृ० उ० अ० २ ब्रा० १ श्रु० २०) इस श्रुति के आधार परब्रह्म नारायण से संपूर्ण जीव विशेष रूप से उत्पन्न होते हैं ॥२०॥ **एतस्मादात्मनः प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते ॥** (कौ० ब्रा० उ० अ० ४ श्रु० १९) इस परब्रह्म नारायण से समस्त जीव निकलकर अपने अपने भेग्य स्थान की ओर जाते हैं ॥१९॥ इन श्रुतियों में जीव वाचक "प्राण" शब्द प्रयुक्त हुआ है । अब आगे "दाम" बतलाया जाता है । रज्जु का नाम दाम है । बछड़ा बाँधने की रस्सी के समान विविध प्रकार के भोज्य पदार्थ ही प्राण का बन्धन रस्सी है । क्योंकि अन्न से ही प्राण बन्धा हुआ रहता है । यह अन्य श्रुति भी कहती है । **अन्नं प्राणस्य षड्विंशः ॥** (श्रुति) अन्न यानी भक्ष्य पदार्थ प्राण के षड्विंश पाश विशेष है । यहाँ एक उपमा के द्वारा प्राण का वर्णन किया गया है । मानो यह शरीर एक गोशाला है, प्राण ही वत्स है तथा हृदय इस वत्स का प्रथम निवास स्थान है । आँख, कान, नाक आदिक विचरण करने की जगह हैं । इसमें मानो जीवात्मा ही खूँटा है । और विविध प्रकार के खाने के पदार्थ ही मानो रस्सी है । अब इस प्राण वत्स के वश में लाने के लिये इसके आधान प्रत्याधान खूँटा और रज्जु आदिक सब जानना चाहिये ॥१॥

तमेताः सप्ताक्षितय उपतिष्ठन्ते । तद्या इमा अक्षन्लोहिन्यो राजयस्ताभिरेनं रुद्रोऽन्वायत्तः । अथ या अक्षन्नापस्ताभिः पर्जन्यः । या कनीनिका तयाऽऽदित्यः । यत्कृष्णं तेनाग्निर्यच्छुक्लं तेनेन्द्रः । अधरयैनं वर्तन्या पृथिव्यन्वायत्ता । द्यौरुत्तरया । नास्यान्नं क्षीयते य एवं वेद ॥२॥

अन्वयार्थ– (तम्) नेत्र में आरूढ़ उस पूर्वोक्त प्राण को (एताः) ये वक्ष्यमाण (सप्त) सात (अक्षितयः) नहीं क्षय होनेवाली अक्षितियाँ (उपतिष्ठन्ते) उपस्थित होती

हैं (तत्) उनमें (याः) जो (इमाः) ये (अक्षन्) नेत्र में (लोहिन्यः) लाल (राजयः) रेखाएँ हैं (ताभिः) उन द्वारभूत लाल रेखाओं से (एनम्) इस मध्य प्राण के निकट (रुद्रः) रुद्र देवता (अन्वायत्तः) अनुगत है (अथ) और (अक्षन्) नेत्र में शुण्ठी धूमादि संयोग से अभिव्यक्त होनेवाला (याः) जो ये (आपः) जल है (ताभिः) उन द्वारभूत जलों के द्वारा (पर्जन्यः) मेघ देवता प्राण के समीप उपस्थित होता है तथा आँख में (या) जो (कनीनिका) यह तेजोमयी दृक्शक्ति तारा है (तया) उस दर्शन शक्ति के द्वारा (आदित्यः) सूर्य देवता प्राण के निकट उपस्थित होता है और नेत्र में (यत्) जो (कृष्णम्) कृष्ण वर्ण है (तेन) उस कृष्ण वर्ण के द्वारा (अग्निः) अग्नि देवता प्राण के समीप उपस्थित होता है तथा नेत्र में (यत्) जो (शुक्लम्) शुक्लवर्ण है (तेन) उस श्वेतवर्ण के द्वारा (इन्द्रः) इन्द्र देवता मध्य प्राण के निकट उपस्थित होता है और (अधरया) नेत्र में जो नीचे की पलक है उस नीचे की (वर्तन्या) पलक के द्वारा (एनम्) इस मध्य प्राण के समीप (पृथिवी) भूदेवी (अन्वायत्ता) अनुगत है तथा नेत्र के जो ऊपर की पलक है (उत्तरया) उस ऊपर की पलक के द्वारा (द्यौः) द्युलोक देवता इस प्राण के निकट अनुगत है (यः) जो कोई उपासक (एवम्) इस प्रकार (वेद) जानता है (अस्य) इस उपासक का (अन्नम्) अन्न (न) कभी नहीं (क्षीयते) क्षीण होता है ।।२।।

विशेषार्थ– प्राण वश करने योग्य है यह पूर्व में कहा गया है । अब प्राण के बलिष्ठ सहायक कहे जाते हैं । नेत्र में आरुढ़ पूर्वोक्त उस शिशु प्राण के निकट ये वक्ष्यमाण सात अक्षितियाँ उपस्थित होतीं हैं । जिसकी क्षिति यानी क्षय न हो उसे अक्षिति कहते हैं। वे सातों अक्षितियाँ कौन कौन हैं सो आगे बतलायी जाती हैं। उनमें जो नेत्र के भीतर ये लाल वर्ण की प्रसिद्ध रेखाएँ हैं उन द्वारभूत लाल रेखाओं के द्वारा रुद्रदेवता इस मध्यम शिशु प्राण के निकट उपस्थित होता है ।।१।। यहाँ "राजि" शब्द का अर्थ लकीर है क्योंकि लिखा है – **लेखास्तु राजयः ।।** (अमर० कां० २ व० ४ श्लो० ४) लेखा १, राजि २ ये लकीर के नाम हैं ।।४।। रुद्र देव है क्योंकि लिखा है– **रुद्रो देवता ।।** (यजु० अ० १४ मं० २०) रुद्र देवता है ।।२०।। और नेत्र में सोठि मरीचा धूम आदि के संयोग से अभिव्यक्त होनेवाला जो यह जल है उस द्वारभूत जल के द्वारा देव स्वरूप मेघ इस मध्यम शिशु प्राण के समीप उपस्थित होता है २ । पर्जन्य के विषय में लिखा है – **पर्जन्यौ रसदब्देन्द्रौ ।।** (अमर० कां० ३ व० ३ श्लोक १४६) शब्दित मेघ तथा इन्द्रमें पर्जन्य शब्द का प्रयोग होता है ।।१४६।। और नेत्र में जो यह तेजोमयी दृक् शक्ति तारा है उस दर्शन शक्ति के द्वारा सूर्य देवता इस मध्यम शिशु प्राण के निकट उपस्थित होता है ३ । कनीनिका के विषय में लिखा

है– **तारकाक्ष्णः कनीनिका ॥** (अमर० २ व० ६ श्लो० ९२) नेत्र के तारा का नाम कनीनिका है ॥९२॥ सूर्यदेव हैं क्योंकि लिखा है– **सूर्योदेवता ॥** (यजु० अ० १४ मं० २०) सूर्य देवता है ॥२०॥ तथा नेत्र में जो काला वर्ण है उस कृष्ण वर्ण के द्वारा अग्नि देवता इस मध्यम शिशु प्राण के समीप उपस्थित होता है ४ । अग्नि देव है क्योंकि लिखा है – अग्निर्देवता ॥ (यजु० अ० १४ मं० २०) अग्नि देवता है ॥२०॥ और नेत्र में जो श्वेत वर्ण है उस श्वेत वर्ण के द्वारा इन्द्र देवता इस मध्यम शिशु प्राण के निकट उपस्थित होता है ५ । इन्द्रदेव है क्योंकि लिखा है –इन्द्रो देवता ॥ (यजु० अ० १४ मं० २०) इन्द्र देवता है ॥२०॥ तथा नेत्र में जो नीचे की पलक है उस नीचे की पलक के द्वारा पृथ्वी देवी इस मध्यम शिशु प्राण के समीप उपस्थित होती है ६ । अधर शब्द के विषय में लिखा है– अधस्तादपि चाधरः ॥ (अमर० कां० ३ व० ३ श्लो० १८९) नीचे का होठ अधर कहा जाता है ॥१८९॥ और नेत्र में जो ऊपर की पलक है उस ऊपर की पलक के द्वारा द्युलोक देवता इस मध्यम शिशु प्राण के निकट उपस्थित होता है ७ । अब आगे इस उपासना का फल कहा जाता है । जो उपासक इस तरह उपासना करता है उसके अन्न का कभी क्षय नहीं होता है ॥२॥

तदेष श्लोको भवति । अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम् । तस्याऽऽसत ऋषयः सप्त तीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदानेति । अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्न इतीदं तच्छिर एष ह्यर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः । तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपमिति प्राणा वै यशो विश्वरूपं प्राणानेतदाह । तस्याऽऽसत ऋषयः सप्त तीर इति प्राणा वा ऋषयः प्राणानेतदाह । वागष्टमी ब्रह्मणा संविदानेति वाग्घ्यष्टमी ब्रह्मणा संवित्ते ॥३॥

अन्वयार्थ – (तत्) उसके विषय में (एषः) यह आगे कहा जाने वाला (श्लोकः) मंत्र रूप श्लोक (भवति) होता है (अर्वाग्बिलः) नीचे की ओर छिद्र वाला और (ऊर्ध्वबुध्नः) ऊपर की ओर मूल वाला (चमसः) चमस नाम के सोम रस रखने का एक पात्र है (तस्मिन्) उस चमस में (विश्वरूपम्) सब रूपवाला (यशः) यश (निहितम्) रखा हुआ है और (तस्य) उस चमस के (तीरे) समीप में (सप्त) सात (ऋषयः) ऋषि (आसते) रहते हैं तथा (अष्टमी) आठवीं (वाक्) वाणी (ब्रह्मणा)

वेद के साथ (संविदाना) संवाद करती हुई है (इति) इस प्रकार का मंत्ररूप श्लोक है अब श्रुति इस मंत्र का अर्थ बतलाती है (अर्वाग्बिल:) नीचे की ओर छिद्रवाला और (ऊर्ध्वबुध्न:) ऊपर की ओर जड़वाला (चमस:) चमंस नाम का पात्र है (इति) ऐसा जो मंत्र में कहा गया है (तत्) वह (इदम्) यह प्रसिद्ध (शिर:) कण्ठ से ऊपर का भाग शिर है (हि) क्योंकि (एष:) यह शिर (अर्वाग्बिल:) नीचे की ओर छिद्रवाला है अर्थात् नीचे मुख रूप छिद्र से युक्त यह शिर है और (ऊर्ध्वबुध्न:) ऊपर की ओर मूल वाला है अर्थात् ऊपर मस्तक मण्डल रूप स्थूल मूल से युक्त यह शिर है (चमस:) भक्षण साधन होने से चमस है और (तस्मिन्) उस चमस में (विश्वरूपम्) सब रूप वाला (यश:) यश (निहितम्) रखा हुआ है (इति) ऐसा जो मंत्र में कहा गया है (एतत्) यह वाक्य (प्राणान्) प्राणों को (आह) कहता है क्योंकि (वै) निश्चय करके (प्राणा:) प्राण ही (विश्वरूपम्) अनेक रूपवाला (यश:) यश है अर्थात् चमसाकार शिर में प्राण रूप यश निहित है तथा (तस्य) उस चमस के (तीरे) समीप में (सप्त) सात (ऋषय:) ऋषि (आसते) रहते हैं (इति) ऐसा जो मंत्र में कहा गया है (एतत्) यह वाक्य (प्राणान्) नेत्र, श्रोत्र, नासिका, मुख संबन्धी सात शीर्षण्य प्राणों को (आह) कहता है क्योंकि (वै) निश्चय करके (प्राणा:) सात शीर्षण्य प्राण ही (ऋषय:) सात ऋषि हैं तथा (अष्टमी) आठवीं (वाक्) वाणी (ब्रह्मणा) वेद के साथ (संविदाना) संवाद करती हुई है (इति) ऐसा जो मंत्र में कहा गया है इसका अभिप्राय यह है कि (हि) निश्चय करके (अष्टमी) आठवीं (वाक्) वाणी (ब्रह्मणा) वेद के साथ (संवित्ते) एक कण्ठ से वेदवादिनी है ॥३॥

विशेषार्थ– उस विषय में यह आगे कहे जाने वाला मन्त्र रूप श्लोक होता है। नीचे की ओर छेद वाला और ऊपर की ओर जड़ वाला एक चमस है । सोमरस रखनेवाले एक पात्र का नाम चमस है । जिसको हिन्दी में चमसा कहते हैं । चमस के विषय में लिखा है – **चमस चिक्कसौ ॥** (अमर० कां० ३ व० ५ श्लोक ३५) चमस १, चिक्कस २ ये दो पात्र भेद हैं ॥३५॥ इस श्रुति में "बिल" शब्द छिद्रवाचक है क्योंकि लिखा है– **अथ कुहरं सुषिरं विवरं बिलम् ॥** (अमर० कां० १ व० ८ श्लोक० १) छिद्रं निर्व्यथनं रोकं रन्ध्रंश्वभ्रं व पाशुषिः ॥२॥ कुहर १, सुषिर २, विवर ३, बिल ४ ॥१॥ छिद्र ५, निर्व्यथन ६ रोक ७, रन्ध्र ८, श्वभ्र ९, वपा १०, शुषि ११ ये छेद के नाम हैं ॥२॥ और "बुध्न" शब्द मूल यानी जड़वाचक है क्योंकि लिखा है– **मूलं बुध्नोऽङ्घ्रिनामकः ॥** (अमर० कां० २ व० ४ श्लोक १२) मूल १, बुध्न २ और अङ्घ्रि नामक सब शब्द ३ ये जड़ के नाम हैं ॥१२॥ उस चमस में विविध प्रकार का यश स्थापित है । उस चमस के निकट सात ऋषि रहते हैं तथा

आठवीं वाक् वेद के साथ वार्तालाप करती हुई है । इस प्रकार का मन्त्ररूप श्लोक है । यहाँ पर "ब्रह्मन्" शब्द वेद वाचक है क्योंकि लिखा है – **वेदस्तत्त्वं तपो ब्रह्म ब्रह्मा विप्रः प्रजापतिः ॥** (अमर० कां० ३ व० ३ श्लोक ११४) ब्रह्मन् शब्द का अर्थ वेद १, तत्त्व २, तप ३ ब्रह्म ४, ब्रह्मा ५, ब्राह्मण ६ और प्रजापति ७ होता है ॥११४॥ अब इस मन्त्र का अर्थ स्वयं करुणामयी श्रुति कहती है– "नीचे जिसका बिल है और ऊपर जिसकी जड़ है ऐसा एक चमस है" यह जो मन्त्र में कहा है इसका तात्पर्य क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर कहा जाता है कि– "यह शिर ही है" क्योंकि नीचे मुख रूप छिद्र से युक्त यह शिर है और ऊपर मस्तक मण्डल रूप स्थूल मूल से युक्त यह शिर है तथा भक्षण के साधन होने से चमस है । लोक में जो प्रसिद्ध चमस है उसके ऊपर बिल होता है और नीचे मूल होता है इस कारण से यह शिर रूप चमस विलक्षण है । जिस प्रकार चमस में सोम रस रहता है उसी प्रकार "उस चमस में अनेक रूप वाला यश निहित है " यह जो मंत्र में कहा है इसका तात्पर्य क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर कहा जाता है कि – "प्राण ही नाना प्रकार के यश हैं" वे प्राण अपान आदिक यश इस चमसाकार शिर में निहित हैं । प्राणादिक के विषय में लिखा है– **प्राणादयस्तु पञ्चैव ॥** (वराहोप० अ० १ श्रु० ३) प्राणादिक पाँच हैं ॥३॥ वे पाँच कौन हैं ? **प्राणापानसमानाख्या व्यानोदानौ च वायवः ॥** (योगचू० उ० श्रु० २२) प्राण १, अपान २, समान ३, व्यान ४ और उदान ५ ये वायु हैं ॥२२॥ ये अनेक प्रकार के प्राणादि वायु रूप यश इस चमसाकार शिर में स्थापित हैं । पुनः " उस चमस के निकट सात ऋषि रहते हैं" यह जो मन्त्र में कहा गया है उसका क्या तात्पर्य है ? इस प्रश्न का उत्तर कहा जाता है कि – "सात शीर्षण्य प्राण ही सात ऋषि हैं" ऋषि शब्द से प्राणों से तात्पर्य है । अर्थात् अग्निष्टोम याग में जैसे सात ऋषि होता बन कर क्रिया सम्पादक होते हैं वैसे ही दो कान, दो नेत्र, दो नासिका और एक रसना ये सात श्रोत्रादिक शिर में रह कर स्व स्व विषय सम्पादक होते हैं । अतः ये सात शीर्षण्य प्राण ही ऋषि हैं । और "आठवीं वाक् वेद के साथ सम्वाद करती हुई है" यह जो मन्त्र में कहा है इसका तात्पर्य क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर कहा जाता है कि– निश्चय करके आठवीं वाक् वेद के साथ एक कण्ठ से वेदवादिनी होती है । इस प्रकार इस मन्त्र का तात्पर्य है। और अथर्ववेद में लिखा है– **तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नो यस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम् । अत्रासत ऋषयः सप्त साकं ये अस्य गोपा महतो बभूवुः ॥** (अथर्व० कां० १० सूक्त ८ मं० ९) नीचे छिद्र वाला और ऊपर मुल वाला एक चमस है जिस चमस में अनेक प्रकार का यश रखा हुआ है, यहाँ सात ऋषि एक साथ रहते हैं जो इस महान् के रक्षक

हुए हैं ॥९॥ इस मन्त्र का "निरुक्त दैवतकाण्ड-६।३८॥" में भी व्याख्यान आया है। चमस के विषय में यज्ञपार्श्व ग्रन्थ में लिखा है– **चमसानां प्रवक्ष्यामि दण्डाः स्युश्चतुरङ्गुलाः । त्र्यङ्गुलस्तुभवेत्स्कन्धो विस्तारश्चतुरङ्गुलः ।** (यज्ञ पार्श्व०) **विकङ्कतमयाः श्लक्ष्णास्त्वग्बिलाश्चमसाः स्मृताः । दशाङ्गुलमिता दीर्घाश्चतुरङ्गुलविस्तृताः ॥ चतुरङ्गुलखाताश्च, दण्डास्तुद्व्यङ्गुला मताः । षडङ्गुलमितोच्छ्रायास्तेषां दण्डेषु लक्षणम् ॥ अन्येभ्यो वापि वा कार्या तेषां दण्डेषु लक्षणम् । होतुर्मण्डल एव स्याद्ब्रह्मणश्चतुरस्रकः ॥ उद्गातृणाञ्च त्र्यस्त्रिः स्याद्यजमानः पृथुः स्मृतः । प्रशास्तुरवतष्टः स्यादुत्तष्टो ब्रह्मशंसिनः ॥ पोतुरग्रे विशाखी स्यान्नेष्टुः स्याद्विगृहीतकः । अच्छावाकस्य रास्नाव आग्नीध्रस्य मयूखकः ॥ इत्येते चमसाः प्रोक्ता ऋत्विजां यज्ञकर्मणि । पलाशाद्वा वटाद्वान्यवृक्षाद्वा चमसाः स्मृताः ॥ नैयग्रोधाश्चमसाश्चतुरस्राः प्रस्थोदकग्राहिणः । इति निगमे विशेषः ॥** यज्ञ पार्श्व ग्रन्थ में यज्ञ के चमस नाम सोमरस पीने के पात्रों का इस प्रकार वर्णन है–सब चमसों की डण्डी चार अंगुल होनी चाहिये उनकी डण्डी के समीप तीन अंगुल के स्कन्ध हों उनकी लम्बाई चार अंगुल हो यह सब विकङ्कत वृक्ष के हों चिकने बने हों उनमें त्वचा की ओर से गढ़ा खुदा हुआ हो। अथवा सब चमस दश अंगुल लम्बे, चार अंगुल चौड़े, चार अंगुल खात वाले, दो अंगुल के दण्ड और छः अंगुल ऊँचे हों। अथवा अन्य यज्ञीय वृक्षों से बने हों पर उनके डण्डों में ऐसे चिह्न करना चाहिये जिससे विदित हो जाय कि यह अमुक ऋत्विज् का है । होता का गोलाकार ब्रह्मा का चतुष्कोण उद्गाता का त्रिकोण यजमान के हाथ के बराबर लम्बा पृथु, प्रशास्ता का नीचे से छिन्न, ब्राह्मणाच्छंस्त्री का ऊपर से छिन्न, पोता के अग्र भाग में विशाखा वाला, निष्ठ के अग्र भाग में गृहीत यानी जिसमें सब ओर दुहरी रेखाएँ हों, अच्छावाक का रास्राव, आग्नीध्र का मयूख के अग्र भाग में तीक्ष्ण हो, यह सब चमस यज्ञ कर्म में पलास वा अन्य वृक्षों के बनाये जायें । निगम में इतना विशेष है कि– न्यग्रोधवृक्ष से बने चौकोन सेर भर जल समाने योग्य चमस होना चाहिये । श्रीवेङ्कटेश के गुरु भगवद्रामानुजाचार्य ने– **चमसवदविशेषात् ॥** (शा० मी० अ० १ पा० ४ सू० ८) के श्री भाष्य में "बृहदारण्यकोपनिषद्" के द्वितीय अध्याय के द्वितीय ब्राह्मण की तृतीय कण्डिका के "अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः" "इदं तच्छिर एष ह्यर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः" इन खण्डों को उद्धृत किया है ॥३॥

इमावेव गौतमभरद्वाजौ । अयमेव गौतमोऽयं भरद्वाजः । इमावेव विश्वामित्रजमदग्नी अयमेव विश्वामित्रोऽयमेव

जमदग्निः । इमावेव वसिष्ठकस्यपावयमेव वसिष्ठोऽयं कस्यपः । वागेवात्रिर्वाचा ह्यन्नमद्यते । अत्तिर्ह वै नामैतद्यदत्रिरिति । सर्वस्यात्ता भवति सर्वमस्यान्नं भवति य एवं वेद ॥४॥

॥ इति द्वितीयाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

अन्वयार्थ– (इमौ) ये दोनों कान (एव) निश्चय करके (गौतमभरद्वाजौ) गौतम और भरद्वाज ऋषि हैं (अयम्) यह दक्षिण कर्ण (एव) निश्चय कर के (गौतमः) गौतम ऋषि हैं और (अयम्) यह वाम कर्ण (भरद्वाजः) भरद्वाज ऋषि हैं तथा (इमौ) ये दोनों नेत्र (एव) निश्चय करके (विश्वामित्रजमदग्नी) विश्वामित्र और जमदग्नि ऋषि हैं (अयम्)यह दक्षिण नेत्र (एव) निश्चय कर के (विश्वामित्रः) विश्वामित्र ऋषि हैं और (अयम्) यह वाम नेत्र (एव) ही (जमदग्निः) जमदग्नि ऋषि तथा (इमौ) ये दोनों नासिकायें (एव) निश्चय कर के (वशिष्ठकश्यपौ) वशिष्ठ और कश्यप ऋषि हैं (अयम्) यह दक्षिण नासिका (एव) निश्चय करके (वसिष्ठः) वसिष्ठ ऋषि हैं और (अयम्) यह वाम नासिका (कश्यपः) कश्यप ऋषि हैं तथा (वाक्) वागिन्द्रिय (एव) निश्चय कर के (अत्रिः) अत्रि ऋषि हैं (हि) क्योंकि (वाचा) वागिन्द्रिय के द्वारा ही (अन्नम्) अन्न (अद्यते) भक्षण किया जाता है । भक्षण करने से इस वाम इन्द्रिय का (अत्तिः) अत्ति (एतत्) यह (नाम) नाम (वै) निश्चय कर के (ह) प्रसिद्ध है (यत्) जो (अत्रिः) अत्रि (इति) ऐसा कहा जाता है (यः) जो उपासक (एवम्) इस प्रकार इस विज्ञान को (वेद) यथार्थ जानता है वह (सर्वस्य) सम्पूर्ण अनुकूल अन्न समुदाय का (अत्ता) भक्षण करनेवाला (भवति) होता है और (अस्य) इस उपासक के (सर्वम्) सब वस्तु (अन्नम्) अन्न (भवति) होता है ।।४।।

विशेषार्थ – चमस के समीप कौन सात ऋषि रहते हैं सो अब बतलाया जाता है। प्रथम दोनों कानों को अङ्गुलि दिखला कर कहा जाता है कि– ये ही दोनों कान गौतम और भरद्वाज ऋषि हैं । कौन कान गौतम है और कौन कान भरद्वाज है। इसका निर्णय यद्यपि यहाँ नहीं किया है । तथापि दक्षिण अङ्ग की ही हस्तस्वर आदिक में उपस्थिति होती है यह प्राचीन आचार्यों का एक नियम है तदनुसार यहाँ पर भी प्रथम दक्षिण अङ्ग को ही मान कर कहा गया है कि – यह दक्षिण कर्ण ही गौतम ऋषि है और यह वाम कर्ण ही भरद्वाज ऋषि हैं। कानों को कहकर अब आँखों के ऊपर अंगुली रख कर उपदेश दिया जाता है कि – ये ही दोनों नयन विश्वामित्र और जमदग्नि

ऋषि हैं। यह दक्षिण नेत्र ही विश्वामित्र ऋषि हैं तथा यह वाम चक्षु जमदग्नि ऋषि हैं । फिर नासारन्ध्रों के ऊपर अंगुली रखकर उपदेश दिया जाता है कि – ये ही दोनों वशिष्ठ और कश्यप ऋषि हैं । और वाक् इन्द्रिय ही अत्रि ऋषि हैं । यह दक्षिणं नासिकापुट ही वसिष्ठ ऋषि हैं और यह वाम नासिकापुट कश्यप ऋषि हैं । और वाक् इन्द्रिय ही अत्रि ऋषि हैं । क्योंकि वागिन्द्रियाधिष्ठानभूत मुख से ही अन्न खाया जाता है । भक्षण करने से इस वाक् इन्द्रिय का अत्ति यह नाम निश्चय करके प्रसिद्ध है । जो कि "अत्ति" होते हुए "अत्रि" इस परोक्ष नाम से कहा जाता है । क्योंकि लिखा है – **परोक्षप्रिया इव हि देवाः ॥** (ऐत० उ० अ० १ खं० ३ श्रु० १४) क्योंकि देवता लोग परोक्ष से प्रेम करनेवाले के समान होते हैं ॥१४॥ सात ऋषियों का नाम पुराण में भी लिखा है– **कश्यपोऽत्रिः भरद्वाजो विश्वामित्रोऽथ गौतमः । जमदग्निर्वसिष्ठश्च सप्तैते ऋषयः स्मृताः ॥** (स्कन्दपु०) कश्यप १, अत्रि २, भरद्वाज ३, विश्वामित्र ४, गौतम ५, जमदग्नि ६ और वशिष्ठ ७ ये सात ऋषि कहे गये हैं । अब आगे इस उपासना का फल कहा जाता है । जो कोई उपासक इस प्रकार इस विज्ञान को यर्था जानता है वह महात्मा समस्त अनुकूल अन्न समुदाय का भक्षक होता है और उस उपासक का सववस्तु अन्न हो जाती है। यहाँ पर "बृहदारण्यकोपनिषद्" के द्वितीय अध्याय का द्वितीय शिशु ब्राह्मण समाप्त हो गया ॥४॥

॥ अथ तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चामूर्त्तं च मर्त्यं चामृतं च स्थितं च सच्च यच्च त्यच्च ॥१॥

अन्वयार्थ– (ब्रह्मणः) परब्रह्म नारायण का (द्वे) दो (रूपे) शरीर (वाव) प्रसिद्ध हैं (मूर्तम्) कठिन (च) और (अमूर्तम्) अकठिन (च) और (मर्त्यम्) मरनै योग्य विनश्वर (च) तथा (अमृतम्) नहीं मरने वाला अविनश्वर (च) और (स्थितम्) अव्यापक (च) तथा (सत्) प्रत्यक्षोपलभ्य (च) और (यत्) व्यापक (च) तथा (त्यत्) पूर्व अवस्था त्याग करने वाला (च) भी है ॥१॥

विशेषार्थ– परब्रह्म नारायण के दो शरीर प्रसिद्ध हैं । ब्रह्म के विषय में लिखा है– यतो वा इमानि जायन्ते । **येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व । तद्ब्रह्मेति ॥** (तैत्ति० उ० व० ३ अनुवा० १ श्रु० १) जिससे निश्चय ही ये सब प्राणी उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न हुए सब भूत जिस कर के जीवित रहते हैं और जिसमें प्रलय होते हैं तथा अन्त में जिस से मुक्त हो जाते हैं उसको विशेष

रूप से जानने की इच्छा कर वही ब्रह्म है ।।१।। **जन्माद्यस्य यतः ।।** (शा० मी० अ० १ पा० १ सू० २) इस समस्त ब्रह्मादिस्तम्ब पर्यन्त क्षेत्रज्ञ मिश्र जगत् का जिससे उत्पत्ति, पालन, प्रलय आदिक होता है वही ब्रह्म है ।।१।। वे दो शरीर कौन हैं सो आगे कहा जाता है । परब्रह्म नारायण का एक शरीर मूर्त यानी कठिन है और दूसरा शरीर अमूर्त यानी अकठिन है । यहाँ ''मूर्त'' शब्द का अर्थ कठिन है क्योंकि लिखा है — **कर्कशं कठिनं क्रूरं कठोरं निष्ठुरं दृढम् । जठरं मूर्तिमन्मूर्तम् ।।** (अमर० कां० ३ व० १ श्लो० ७६) कर्कश १, कठिन २, क्रूर ३, कठोर ४, निष्ठुर ५, दृढ ६, जठर ७, मूर्तिमत् ८ और मूर्त्त ९ ये कठिन के नाम हैं ।।७६।। जो मूर्त यानी कठिन शरीर है वह मर्त्य यानी विनश्वर तथा स्थित यानी अव्यापक और सत् यानी प्रत्यक्षोपलभ्य है । और जो अमूर्त यानी अकठिन शरीर है वह अमृत यानी नहीं मरने वाला तथा यत् यानी व्यापक और त्यत् शब्द वाच्य है । सम्पत्कुमार जनक भगवद्रामानुजाचार्य ने **प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः ।।** (शा० मी० अ० ३ पा० २ सू० १) अपि च संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ।। (शा० मी० अ० ३ पा० २ सू० २३) **उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत् ।।** (शा० मी० अ० ३ पा० २ सू० २६) इन तीनों सूत्रों के श्रीभाष्य में ''बृहदारण्यकोपनिषद्'' के द्वितीय अध्याय के तृतीय ब्राह्मण की प्रथम कण्डिका के पूर्वार्ध को उद्धृत किया है ।।१।।

तदेतन्मूर्तं यदन्यद्वायोश्चान्तरिक्षाच्चैतन्मर्त्यमेतत्स्थितमेतत्सत् । तस्यैतस्य मूर्तस्यैतस्य मर्त्यस्यैतस्य स्थितस्यैतस्य सत एष रसो य एष तपति सतो ह्येष रसः ।।२।।

अन्वयार्थ– (यत्) जो (वायोः) वायु से (च) और (अन्तरिक्षात्) आकाश से (च) भी (अन्यत्) भिन्न पृथ्वी, जल और तेज यह तीन है (तत्) वह (एतत्) यह तीन महाभूत (मूर्तम्) मूर्त यानी कठिन है (एतत्) ये तीनों (मर्त्यम्) मरण ध र्म वाले विनश्वर हैं तथा (एतत्) यह पृथ्वी , जल, तेज (स्थितम्) व्यापक नहीं है तथा (एतत्) यह पृथ्वी, जल, तेज (सत्) प्रत्यक्षोपलभ्य है (तस्य) उस (एतस्य) इस (मूर्तस्य) मूर्तका (एतस्य) इस (मर्त्यस्य) मरण धर्मवाले विनश्वर का (एतस्य) इस (स्थितस्य) अव्यापक का(एतस्य) इस (सतः) प्रत्यक्षोपलभ्य का (एषः) यह (रसः) रस है (यः) जो (एषः) यह सूर्य (तपति) मण्डलरूप से तपता है (हि) क्योंकि (एषः) यह सविता (सतः) प्रत्यक्षोपलभ्य भूतत्रय का (रसः) रस यानी सार है, इससे मूर्तत्वादि चतुष्टय युक्त आदित्य मण्डल में तेजोवन्नरसत्वबुद्धि करनी चाहिये ।।२।।

विशेषार्थ– अब प्रथम मूर्त वस्तु का वर्णन किया जाता है। वायु से और आकाश से जो अन्य पृथ्वी, जल और तेज ये तीन पदार्थ हैं। वे ये तीनों महाभूत मूर्त हैं यानी कठिन हैं। और ये तीनों महाभूत मरण धर्मवाले विनश्वर हैं तथा ये तीनों महाभूत व्यापक नहीं हैं और ये पृथ्वी, जल और तेज तीनों महाभूत प्रत्यक्षोपलभ्य हैं। यह चार विशेषणों से युक्त भूतत्रय परब्रह्म नारायण का मूर्त रूप है। अब आगे इन पदार्थों का सार वस्तु बतलाया जाता है। उस इस मूर्त का, इस मरण धर्मवाला विनश्वर का, इस अव्यापक का, इस प्रत्यक्षोपलभ्य का, यह रस यानी सार है। वह कौन रस है सो आगे कहा जाता है। जो यह सवितृमण्डल रूप से तपता है। क्योंकि यह सूर्य प्रत्यक्षोपलभ्य भूतत्रय का रस यानी सार है। इससे मूर्तत्वादि चतुष्टय युक्त अदित्यमण्डल तेजोबन्नरसत्व बुद्धि करनी चाहिये। इस श्रुति में "अनतरिक्ष" शब्द आकाश वाचक है क्योंकि लिखा है – **द्यो दिवौ द्वे स्त्रियामभ्रं व्योम पुष्करमम्बरम्। नभोऽन्तरिक्षं गगनमनन्तं सुखवर्त्म खम्॥** (अमर० कां० १ व० २ श्लोक १) द्यो १, दिव् २, अभ्र ३, व्योमन ४, पुष्कर ५, अम्बर ६, नभस् ७, अन्तरिक्ष ८, गगन ९, अनन्त १०, सुखवर्त्मन् ११ और ख १२ ये आकाश के नाम हैं ॥१॥ इस प्रकार मूर्त के विषय में प्रतिपादन किया गया है ॥२॥

अथामूर्तं वायुश्चान्तरिक्षं चैतदमृतमेतद्यदेतत्त्यत्तस्यैतस्यामूर्तस्यैतस्यामृतस्यैतस्य यत एतस्य त्यस्यैष रसो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषस्त्यस्य ह्येष रस इत्यधिदैवतम् ॥३॥

अन्वयार्थ– (अथ) मूर्त के वर्णन के बाद अब (वायुः) वायु (च) और (अन्तरिक्षम्) आकाश (च) भी महाभूत (अमूर्तम्) अकठिन हैं (एतत्) ये दोनों वायु और आकाश (अमृतम्) अमरण धर्मवाले अविनश्वर हैं और (एतत्) ये दोनों (यत्) व्यापक हैं तथा (एतत्) ये दोनों वायु और आकाश (त्यत्) अव्यक्त हैं (तस्य) उस (एतस्य) इस (अमूर्तस्य) अमूर्त्त का (एतस्य) उस (अमृतस्य) अमरण धर्मवाले अविनश्वर का (एतस्य) इस (यतः) व्यापक का और (एतस्य) इस (त्यस्य) अव्यक्त का (एषः) यह (रसः) रस है (एतस्मिन्) इस (मण्डले) सूर्य मण्डल में (यः) जो (एषः) यह (पुरुषः) पुरुष है (हि) क्योंकि (एषः) यह पुरुष (त्यस्य) अव्यक्त का (रसः) रस यानी सार है इससे अमूर्त्तत्व अमृतत्व यत्त्व त्यत्त्व धर्मचतुष्टययुक्त आदित्यमण्डलस्थ पुरुष में वाय्वन्तरिक्षरसत्व बुद्धि करनी चाहिये (इति) इस प्रकार (अधिदैवतम्) अधिदैवत मूर्तामूर्त विज्ञान यहाँ समाप्त हो गया ॥३॥

विशेषार्थ– मूर्त के वर्णन के अनन्तर अब आगे अमूर्त कौन महाभूत है यह

बतलाया जाता है । वायु और अन्तरिक्ष ये दोनों अमूर्त हैं । जो वहनशील हो उसे वायु कहते हैं । और जो सब पदार्थों के मध्य में दिखे उसे अन्तरिक्ष कहते हैं । वायु और आकाश ये दोनों महाभूत अमरण धर्मवाले अविनश्वर हैं । तथा ये दोनों महाभूत यत् यानी व्यापक हैं । ''एति सर्वानिति यत्'' सब को जो प्राप्त करे उस व्यापक को यत् कहते हैं । ''इण् गतौ'' धातु से शतृ प्रत्यय होकर **इणो यण्** ॥ (पा० व्या० अ० ६ पा० ४ सू० ८१) इस सूत्र से ''यत्'' शब्द निष्पन्न होता है । और ये दोनों वायु और आकाश महाभूत अव्यक्त हैं । अब आगे इन दोनों महाभूतों का सार बतलाया जाता है । उस इस अमूर्त का, इस अमृत का, इस व्यापक का और इस अव्यक्त का, यह रस यानी सार है । वह कौन रस है सो आगे कहा जाता है । सूर्यमण्डल में जो यह पुरुष है वह वायु और आकाश का रस सार पदार्थ है । क्योंकि यह पुरुष अव्यक्त का रस यानी सार है । इससे अमूर्त्तत्वादिचतुष्टययुक्त सवितृमण्डलस्थपुरुष में वाय्वन्तरिक्षरसत्व बुद्धि करनी चाहिये । इस प्रकार यहाँ पर अधिदैवत मूर्तामूर्त की उपासना समाप्त की गयी! अञ्जनगिरि पर ज्ञानाञ्जन प्रदाता भगवद्रामानुजाचार्य ने **अथातो ब्रह्मजिज्ञासा** ॥ (शा० मी० अ० १ पा० १ सू० १) **गौण्यसम्भवाच्छब्दाच्च** ॥ (शा० मी० अ० २ पा० ३ सू० ३) **यावद्विकारं तु विभागो लोकवत्** ॥ (शा० मी० अ० २ पा० ३ सू० ७) इन चार सूत्रों के श्रीभाष्य में ''बृहदारण्यकोपनिषद्'' के द्वितीय अध्याय के तृतीय ब्राह्मण की तृतीय कण्डिका के ''वायुश्चान्तरिक्षं चैतदमृतम्'' इस खण्ड को उद्धृत किया है ।।३।।

अथाध्यात्मम् । इदमेव मूर्तं यदन्यत्प्राणाच्च यश्चाय-मन्तरात्मन्नाकाशः । एतन्मर्त्यमेतत्स्थितमेतत्सत्तस्यैतस्य मूर्तस्यैतस्य मर्त्यस्यैतस्य स्थितस्यैतस्य सत एष रसो यच्चक्षुः सतो ह्येष रसः ॥४॥

अन्वयार्थ– (अथ) अधिदैवत मूर्तामूर्त के वर्णन करने के बाद अब (अध्यात्मम्) शरीर विषयक मूर्तामूर्त का प्रतिपादन किया जात है (यत्) जो (प्राणात्) शरीर में स्थित प्राणवायु से (च) और (यः) जो (अयम्) यह (अन्तरात्मन्) शरीर के अभ्यन्तर (च) भी (आकाशः) आकाश है उससे (अन्यत्) भिन्न है (इदम्) यही (एव) नि ग्य करके (मूर्तम्) इस शरीर में मूर्त है और (एतत्) यह ((मर्त्यम्) मरण धर्मवाला विनश्वर है तथा (तत्) यह (स्थितम्) व्यापक नहीं है और (एतत्) यह (सत्)

प्रत्यक्षोपलभ्य है (तस्य) उस (एतस्य) इस (मूर्तस्य) मूर्त का (एतस्य) इस (मर्त्यस्य) मरण धर्मवाले विनश्वर का (एतस्य) इस (स्थितस्य) अव्यापक का (एतस्य) इस (सतः) प्रत्यक्षोपलभ्य का (एषः) यह (रसः) रस सार है (यत्)जो यह (चक्षुः) नेत्रेन्द्रिय है (हि) क्योंकि (एषः) यह नयनेन्द्रिय (सतः) प्रत्यक्षोपलभ्य वस्तु का (रसः) रस यानी सार है ॥४॥

विशेषार्थ— अधिदैवत मूर्तामूर्त की उपासना कहने के बाद अब अध्यात्म मूर्त का वर्णन किया जाता है । इस शरीर में जो प्रयाणवायु है और देह के अभ्यन्तर जो यह आकाश है । इस प्राण और आकाश को छोड़ कर जो अन्य पृथ्वी, जल और अग्नि ये तीन महाभूत हैं ये ही सब इस शरीर में मूर्त यानी कठिन पदार्थ हैं । ये मर्त्य यानी विनश्वर हैं तथा ये स्थित यानी अव्यापक हैं और ये सत् यानी प्रत्यक्षोपलभ्य हैं। अब आगे इन पदार्थों की सार वस्तु बतलायी जाती है। उस इस मूर्त का, इस प्रत्यक्षोपलभ्य का यह रस यानी सार है। वह कौन रस है सो आगे कहा जाता है। जो नयनेन्द्रिय है अर्थात् नयनेन्द्रिय इन मूर्तादि गुण युक्त तीनों भूतों का सार है । क्योंकि यह नेत्रेन्द्रिय प्रत्यक्षोपलभ्य वस्तु का रस यानी सार है। यहाँ "आत्मन्" शब्द शरीरवाची है। क्योंकि लिखा है— **आत्मा कलेवरे यत्ने स्वभावे परमात्मनि । चित्ते धृतौ च बुद्धौ च परव्यावर्तनेऽपि च ॥** (धरणिको०) शरीर, यत्न, स्वभाव, परमात्मा, चित्त, धृति, बुद्धि, परव्यावर्तन और जीव अर्थ में आत्मन् शब्द प्रयुक्त होता है । ऐसा कहा गया है ॥४॥

अथामूर्तं प्राणश्च यश्चायमन्तरात्मन्नाकाश एतदमृतमेतद्यदेतत्त्यत्तस्यैतस्यामूर्तस्यैतस्यामृतस्यैतस्य यत एतस्यत्यस्यैष रसो योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्त्यस्य ह्येष रसः ॥५॥

अन्वयार्थ— (अथ) अध्यात्म मूर्त कहने के बाद अब (अमूर्तम्) अमूर्त वस्तु जो शरीर में है उसका वर्णन किया जाता है (प्राणः) प्राण (च) और (यः) जो (अयम्) यह (अन्तरात्मन्) शरीर के अभ्यन्तर (आकाशः) हार्दाकाश है (च) ये दोनों अमूर्त हैं और (एतत्) ये दोनों (अमृतम्) अ[illegible]रण धर्म वाले अविनश्वर हैं तथा (एतत्) ये दोनों (यत्) व्यापक हैं और (एतत् ये दोनों (त्यत्) अव्यक्त हैं (तस्य) उस (एतस्य) इस (अमूर्तस्य) अमूर्त का (एतस्य) इस (यतः) व्यापक का और (एतस्य) इस (त्यस्य) अव्यक्त का (एषः)

यह (रस:) इस है (य:) जो (अयम्) यह (दक्षिणे) दक्षिण (अक्षन्) नेत्रान्तर्गत (पुरुष:) पुरुष यानी परमात्मा है (हि) क्योंकि (त्यस्य) अव्यक्त का (एष:) यह पर पुरुष (रस:) रस यानी सार है ।।५।।

विशेषार्थ– अध्यात्म मूर्त कहने के अनन्तर अब अध्यात्म अमूर्त प्रतिपादन किया जाता है । हृदय में रहनेवाला प्राण क्योंकि लिखा है– **हृदि प्राणः स्थितो नित्यम्** ॥ (योगचू० उ० श्रु० २३) हृदय में सर्वदा प्राण स्थित रहता है ।।२३।। और शरीर के भीतर रहनेवाला हार्दाकाश वे दोनों अमूर्त हैं प्राण और हार्दाकाश ये दोनों अमरण धर्मवाले अविनश्वर हैं तथा ये दोनों यत् यानी व्यापक हैं और ये दोनों अव्यक्त हैं। अब आगे इन दोनों की सार वस्तु बतलायी जाती है। उस इस अमूर्त का, इस अमृत का, इस व्यापक का, और इस अव्यक्त का रस यानी सार है। वह कौन रस है सो आगे कहा जाता है। दक्षिण नयन के भीतर स्थित जो यह पुरुष परब्रह्म नारायण है वही प्राण और हार्दाकाश का रस यानी सार पदार्थ है । क्योंकि लिखा है– **रसो वै सः** ॥ (तैत्ति० उ० व० २ अनुवा० ७ श्रु० १) वह परब्रह्म नारायण सचमुच रस स्वरूप है ।।१।। इस प्रकार का वर्णन किया गया है ।।५।।

तस्य हैतस्य रूपं यथा माहारजनं वासः । यथा पाण्ड्वाविकम् । यथेन्द्रगोपः । यथाऽग्न्यर्चिः । यथा पुण्डरीकम् । यथा सकृद्विद्युत्तम् । सकृद्विद्युत्तेव हास्य श्रीर्भवति । य एवं वेद । अथात आदेशो नेति-नेति । न ह्योतस्मादिति नेत्यन्यत्परमस्ति । अथ नामधेयं सत्यस्य सत्यं प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यमिति ॥६॥

॥ इति द्वितीयाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

अन्वयार्थ– (तस्य) उस (ह) प्रसिद्ध (एतस्य) इस परब्रह्म नारायण का (रूपम्) स्वरूप ऐसा है (यथा) जैसा (माहाराजनम्) कुसुम्भ फूल से रंगा हुआ (वास:) वस्त्र होता है और (यथा) जैसा (पाण्डु) कुछ पीलापन मिले हुए सफेद वर्ण क (आविकम्) भेड़ के केश से बना हुआ कम्बल होता है तथा (यथा) जैसा (इन्द्रगोप:) वर्षा ऋतु में उत्पन्न होनेवाला लाल रंग का इन्द्रगोप नाम का कीड़ा होता है और (यथा) जैसी (अग्न्यर्चि:) अग्नि की ज्वाला होती है तथा (यथा) जैसा (पुण्डरीकम्) श्वेत कमल होता है

और (यथा) जैसा (सकृत्) एक बार ही झट (विद्युत्तम्) बिजली का प्रकाश होता है (यः) जो उपासक (एवम्) इस प्रकार (वेद) परब्रह्म नारायण के रूप को जानता है (ह) प्रसिद्ध (अस्य) इस रहस्य के जानने वाले पुरुष की (श्रीः) संपूर्ण सम्पत्ति (सकृत्) एकबार झट (विद्युत्ता) बिजली के प्रकाश के (इव) समान (भवति) चमकने वाली होती है (अथ) अब (अतः) इसके पश्चात् वाक्यान्तर उपन्यास किया जाता है (आदेशः) परब्रह्म नारायण का उपदेश (इति) मूर्तामूर्तात्मक द्वयवत्व प्रयुक्त इयत्ता लक्षण प्रकार युक्त (न) नहीं है द्विबद्ध सुबद्ध न्याय से पुनः श्रुति कहती है (इति) मूर्तामूर्तात्मक द्वयवत्व प्रयुक्त इयत्ता लक्षण प्रकार युक्त (न) नहीं है (इति) इस प्रकार के (न) नहीं (इति) ऐसा कहने वाले वाक्य से जो ब्रह्म प्रतिपादन किया गया है उस (एतस्मात्) इस पब्ररह्म नारायण से (अन्यत्) दूसरी वस्तु (हि) निश्चय कर के (परम्) स्वरूप से या गुण से उत्कृष्ट (न) नहीं (अस्ति) है (इति) इस प्रकार श्रुति कहती है (अथ) अब (नामधेयम्) परमात्मा का नाम कहा जाता है (सत्यस्य) उपाधि रहित सत्तायोगी परब्रह्म नारायणका (सत्यम्) सत्य यह नाम है (वै) निश्चय कर के (प्राणाः) जीवात्मा (सत्यम्) सत्य है और (तेषाम्) संकुचित ज्ञानवाले उन जीवों के (एषः) यह परब्रह्म नारयरा ज्ञानादि संकोचाभाव होने से (सत्यम्) सत्य है यानी निर्विकार है (इति) यहाँ पर तृतीय ब्राह्मण सामाप्त हो गया ।।६।।

विशेषार्थ – उस सुप्रसिद्ध इस परब्रह्म नारायण का स्वरूप उपासना के लिये वर्णन किया जाता है । जिस प्रकार कुसुम्भ नाम के फूलों से रंगा हुआ वस्त्र होता है उसी प्रकार कभी परब्रह्म नारायण का स्वरूप होता है । महारजन ही को माहारजन कहते हैं । ''महारजन'' शब्द कुसुम्भ वाचक है । क्योंकि लिखा है– **स्यात्कुसुम्भं वह्निशिखं महारजनमित्यपि ॥** (अमर० कां० २ व० ९ श्लो० १०६) कुसुम्भ १, वह्निशिख २, महारजन ३ ये कुसूंभे के नाम हैं ।।१०६।। और कुछ पीलापन मिला हुआ शुक्लवर्ण के मेष के केश से बना हुआ कम्बल जिस प्रकार का होता है उसी प्रकार कभी परब्रह्म नारायण का स्वरूप होता है। ''पाण्डु'' शब्द किञ्चित् पीत मिला हुआ श्वेत का वाचक है । क्योंकि लिखा है– **हरिणः पाण्डुरः पाण्डुः ॥** (अमर० कां० १ व० ५ श्लो० १३)) हरिण १, पाण्डुर २, और पाण्डु ३ ये कुछ पीलापनमिले हुए सफेदवर्ण के नाम हैं ।।१३।। ''अवि'' के लोम के बने हुए कम्बल को ''आविक'' कहते हैं । और यहाँ ''अवि'' शब्द भेड़ वाचक है क्योंकि लिखा है –**अवयः शैलमेषार्काः ॥** (अमर० कां० ३ व० ३ श्लो० २०७) अवि शब्द पर्वत भेड़ और सूर्य का वाचक है ।।२०७।। **अविर्नाथे रवौ मेषे शैले मूषिककम्बले ॥** (मेदिनी को०) नाथ, सूर्य, भेड़, पर्वत, मूषिक और कम्बल में अवि शब्द का प्रयोग होता है । तथ

जिस प्रकार वर्षाकाल में उत्पन्न होनेवाला अतिशय रक्त इन्द्रगोप नाम का कीट होता है उसी प्रकार कभी परब्रह्म नारायण का स्वरूप होता है । और जिस प्रकार अग्नि की ज्वाला होती है उसी प्रकार कभी परब्रह्म नारायण का स्वरूप होता है । "अर्चिस" शब्द ज्वाला वाचक है । क्योंकि लिखा है – **ज्वाला भासौ न पुंस्यर्चिः ॥** (अमर० कां० ३ व० ३ श्लो० २३०) अर्चिस शब्द ज्वाला तथा प्रकाश का वाचक है ।।२३०।। और जिस प्रकार श्वेत कमल होता है उसी प्रकार कभी परब्रह्म नारायण का स्वरूप होता है । "पुण्डरीक" शब्द शुक्ल कमल वाचक है । क्योंकि लिखा है – **पुण्डरीकं सिताम्भोजम् ॥** (अमर० कां० १ व० १० श्लो० ४१) पुण्डरीक १, सिताम्भोज २ ये सफेद कमल के नाम हैं ।।४१।। तथा जिस प्रकार एकबार झट बिजली का प्रकाश होता है उसी प्रकार परब्रह्म नारायण का स्वरूप होता है । अब आगे इस उपासनाका फल कहा जाता है । जो उपासक इस प्रकार परब्रह्म नारायण के रूप को जानता है प्रसिद्ध इस रहस्य के जाननेवाले पुरुष की संपूर्ण संपत्ति बिजली के एक बार झट चमकने के समान सर्वत्र एक साथ फैलकर चमकनेवाली होती है । इसमें सन्देह नहीं है । यहाँ "श्री" शब्द संपत्ति वाचक है । क्योंकि लिखा है– **सम्पत्तिः श्रीश्च लक्ष्मीश्च ॥** (अमर० कां० २ व० ८ श्लो० ८२) संपत्ति १, श्री २, लक्ष्मी ३ ये संपत्ति के नाम हैं ।।८२।। पहले जो कहा गया है । **द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चामूर्तं च ॥** (बृ० उ० अ० २ ब्रा० ३ कं० १) परब्रह्म नारायण के दो रूप प्रसिद्ध हैं एक मूर्त और दूसरा अमूर्त ।।१।। इस श्रुति के द्वारा मूर्तामूर्तात्मक रूप परब्रह्म के कहने पर तत्प्रयुक्त इयत्ता लक्षण परिच्छेद रूप प्रकारकत्व को प्रतिषेध करने के लिये आगे का ग्रन्थ प्रारम्भ किया जाता है "अथात आदेशो नेति नेति" इस श्रुति में "अथ" और "अतः" ये दो पद वाक्यान्तरोपन्यासार्थ प्रयुक्त हुए हैं और "आदेश" शब्द उपदेश वाचक है तथा "इति" पद इयत्ता लक्षण प्रकार वाचक है । और "न" शब्द निषेधार्थ है । इस प्रकार इस श्रुति का अर्थ यह हुआ कि– परब्रह्म नारायण का स्वरूप प्रतिपादन करने के बाद अब वाक्यान्तर उपन्यास किया जाता है कि– परब्रह्म नारायण का उपदेश मूर्तामूर्तात्मक द्रव्यवत्त्व प्रयुक्त इयत्तालक्षण प्रकारयुक्त नहीं है। पुनः परम करुणामयी श्रुति द्विबद्ध सुबद्ध न्याय से उपदेश देती है कि– मूर्तामूर्तात्मक द्रव्यवत्त्व प्रयुक्त इयत्ता लक्षण प्रकारयुक्त परब्रह्म नारायण नहीं हैं । इस श्रुति से प्रकृत परब्रह्म नारायण के रूप के एतावत्त्व परिच्छिन्नत्व लक्षण जो प्रकार है उसी का निषेध किया गया है । स्वरूप से ब्रह्म सम्बन्धी रूप का निषेध नहीं किया गया है। इस प्रकार का नहीं ऐसा कहने वाले वेद वाक्य से जो परब्रह्म नारायण प्रतिपादित किया गया है उस इस परब्रह्म नारायण से दूसरी वस्तु निश्चय करके स्वरूप से या गुण से उत्कृष्ट नहीं है । परमात्मा

से बढ़ कर कहाँ कोई हो सकता है । उसके समान ही कोई नहीं है । क्योंकि लिखा है– **न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्योलोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥** (गी० अ० ११ श्लोक ४३) हे अप्रतिम प्रभावशाली तीनों लोकों में आपके समान भी दूसरा नहीं है फिर आपसे बढ़ कर तो हो ही कैसे सकता है ॥४३॥ "नेति नेति" इस श्रुति से परब्रह्म नारायण के रूप का निषेध नहीं किया गया है । क्योंकि लिखा है – **यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि ॥** (ईशो० श्रु० १६) जो तुम्हारा परम मङ्गलमय रूप है तुम्हारे उस स्वरूप को मैं देखता हूँ ॥१६॥ **या तनूः ॥** (प्रश्नोप० प्रश्न २ श्रु० १२) जो तुम्हारा शरीर है ॥१२॥ **यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णम् ॥** (मुण्डको० मुं० ३ खं० १ श्रु० ३) जिस समय में साधक पुरुष सुवर्णाकार परमात्मा को देखता है ॥३॥ **तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयोऽमृतो हिरण्मयः ॥** (तैत्ति० उ० व० १ अनुवा० ६ श्रु० १) उसमें यह मनोमय अविनाशी हिरण्मय पुरुष है ॥१॥ य **एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते। हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखात्सर्व एव सुवर्णः ॥** (छा० उ० प्रपा० १ खं० ६ श्रु०६१) **तस्य यथाकप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी ॥७॥** जो यह सूर्य के भीतर हिरण्मय रमणीय पुरुष परब्रह्म नारायण योगियों से दिखाई देता है उसकी दाढ़ी सुवर्ण की यानी रमणीय है और केश भी सुवर्ण का यानी रमणीय है, नख से लेकर चोटी तक सब अवयव निश्चय करके हिरण्मय परम सुन्दर हैं ॥६॥ जैसे सूर्य की किरण से भलीभाँति खिला हुआ अथवा नाल पर स्थित अथवा जल में स्थित लाल कमल हो वैसे ही उस सूर्यमण्डल के भीतर रहनेवाले नारायण के दोनों नेत्र हैं ॥७॥ **हस्ते बिभर्ष्यस्तवे ॥** (श्वे० उ० अ० ३ श्रु० ६) **आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥८॥ सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ॥१४॥** हाथ में फेंकने के लिए बाण को धारण किये हो ॥६॥ आदित्य के समान वर्ण वाले अन्धकार से अत्यन्त दूर परमात्मा हैं ॥८॥ वह परम पुरुष नारायण हजारों सिर वाला, हजारों नेत्र वाला, हजारों पैर वाला है ॥१४॥ इन श्रुतियों में स्पष्ट नारायण के रूप का वर्णन किया गया है । अब परब्रह्म नारायण का नाम बतलाया जाता है । नाम ही को नामधेय कहते हैं । उपाधि रहित सत्ता योगी परब्रह्म नारायण का सत्य यह नाम है । क्योंकि लिखा है– **तस्योपनिषत्सत्यस्य सत्यमिति ॥** (बृ० उ० अ० २ ब्रा० १ कं० २०) उस उपाधि रहित सत्ता योगी परब्रह्म नारायण का सत्य यह रहस्य नाम है ॥२०॥ **सत्यः सत्यपराक्रमः ॥** (महाभारत अनुशा० विष्णुसह० श्लो० ३६) सत्य १, सत्यपराक्रम २ ये परब्रह्म नारायण के नाम हैं ॥३६॥ निश्चय करके प्राण सहचारी प्रत्यगात्मा सब सत्य हैं क्योंकि अचेतन के समान जीवात्मा के स्वरूप में अन्यथा भाव नहीं होता है और संकुचित ज्ञान वाले जीवों से भी यह परब्रह्म नारायण ज्ञानादि संकोचाभाव होने से सत्य है यानी निर्विकार है । क्योंकि लिखा

है– **प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम् ॥** (बृ॰ उ॰ अ॰ २ ब्रा॰ १ कं॰ २०) निश्चय करके प्राण सहचारी जीवात्मा सब सत्य हैं क्योंकि अचेतन के समान जीवात्मा के स्वरूप में अन्यथा भाव नहीं होता है। और उन सब जीवात्माओं का भी यह परब्रह्म नारायण सत्य है क्योंकि परब्रह्म नारायण के धर्मभूत ज्ञान स्वभाव के अन्यथा भाव के अभाव होने से उस जीवात्मा की उपेक्षा से भी अधिक सत्यता है ।।२०।। **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ॥** (तैत्ति॰ उ॰ व॰ २ अनुवा॰ १ श्रु॰ १) सत्य यानी निरुपाधिक सत्तायोगी ज्ञान यानी नित्य असंकुचित ज्ञानैकाकार अनन्त यानी देश काल और वस्तु के परिच्छेद से रहित परब्रह्म नारायण है ।।१।। **सत्यस्य सत्यम् ॥** (श्रीमद्भा॰ स्कं॰ १० अ॰ २ श्लोक २६) सत्य जीव के परब्रह्म नारायण सत्य हैं ।।२६।। प्रकृत श्रुति में "इति" शब्द तृतीय ब्राह्मण की समाप्ति सूचन करने के लिए प्रयुक्त हुआ है । क्योंकि लिखा है– **इति हेतुप्रकरणप्रकाशादिसमाप्तिषु ॥** (अमर॰ कां॰ ३ व॰ ३ श्लोक २४५) इति शब्द हेतु प्रकरण प्रकाशादि तथा समाप्ति में प्रयुक्त होता है ।।२४५।। सिंहाचल पर सिंहानादकर्त्ता भगवद्रामानुजाचार्य ने– **प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात् ॥** (शा॰ मी॰ अ॰ ३ पा॰ २ सू॰ १५) **आह च तन्मात्रम् ॥** (शा॰ मी॰ अ॰ ३ पा॰ २ सू॰ १६) **प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः ॥** (शा॰ मी॰ अ॰ ३ पा॰ २ सू॰ २१) **उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत्** (शा॰ मी॰ अ॰ ३ पा॰ २ सू॰ २६) **तथान्यप्रतिषेधात् ॥** (शा॰ मी॰ अ॰ ३ पा॰ २ सू॰ ३५) इन पाँच सूत्रों के श्रीभाष्य में "बृहदारण्यकोपनिषद्" के द्वितीय अध्याय के तृतीय ब्राह्मण की छठवीं कण्डिका के उत्तरार्ध के पदों को उद्धृत किया है । यहाँ पर "बृहदारण्यकोपनिषद्" के द्वितीय अध्याय का तृतीय मूर्तामूर्त ब्राह्मण समाप्त हो गया ।।६।।

॥ अथ चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्यः । उद्यास्यन्वा अरेऽहमस्मात्स्थानादस्मि हन्त तेऽनया कात्यायन्याऽन्तं करवाणीति ।।१।।

अन्वयार्थ– (मैत्रेयि) हे प्रिये मित्रानन्दिनि (इति) ऐसा सम्बोधन करके (ह) सुप्रसिद्ध (याज्ञवल्क्यः) याज्ञवल्क्य नामक महर्षि ने (उवाच) कहा कि (अरे) हे प्रिये मैत्रेयी (अहम्) मैं (अस्मात्) इस (स्थानात्) गार्हस्थ्य आश्रम से (वै) निश्चय करके (उद्) ऊपर संन्यासाश्रम में (यास्यन्) जाने की इच्छावाला (अस्मि) हूँ (इति) इस कारण से (हन्त) तुमदोनों से अनुमति चाहता हूँ और (अनया) इस (कात्यायन्या)

कात्यायनी के साथ (ते) तुम्हारी (अन्तम्) कलहशान्ति कि लिये द्रव्य विभाग का निर्णय (करवाणि) कर दूँगा ॥१॥

विशेषार्थ– अमृतत्वप्राप्ति के उपायत्व तथा सर्वजगत्कारणत्व और सर्वात्मत्वोदिकल्याण गुण गण को प्रतिपादन करने की इच्छा से यह आख्यायिका आरम्भ की जाती है । याज्ञवल्क्य महर्षि की दो भार्याएँ थीं । प्रथम मैत्रेयी और दूसरी कात्यायनी । उन दोनों में मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी और विवेकवती थी और कात्यायनी साधारण स्त्री के समान थी । अब भगवान् याज्ञवल्क्य दो आश्रमों को समाप्त कर संन्यासाश्रम का आश्रय लेना चाहते हैं और सम्राट् जनक महाराज के प्रधान आचार्य भी ये ही थे, इस हेतु महाराज से इनको धन भी बहुत उपलब्ध हुआ था इस कारण अब चिरकाल से जिनके साथ सम्बन्ध रहा है और जो प्रेम के आस्पद हैं ऐसी अपनी दोनों भार्याओं से भी इस अर्थ में सम्मति ले लेनी चाहिये और भविष्यद् विवाद के निवारण के हेतु उस चिर सञ्चित इस सम्पत्ति का भी विभाग पुत्र के न होने के कारण दोनों स्त्रियों में करदेना उचित है । इत्यादि विषय विचार गृहाश्रम को त्याग संन्यासाश्रम में जानेकी इच्छा करने वाले भगवान् याज्ञवल्क्य वक्ष्यमाण वचन कहते हैं । हे प्रिये मैत्रेयी ऐसा संबोधन करके सुप्रसिद्ध याज्ञवल्क्य नाम के महर्षि ने अपनी भार्या मैत्रेयी को पुकारा । प्रिय और ज्येष्ठ होने के कारण मैत्रेयी से ही वार्तालाप करना आरम्भ किया । "मैत्रेयी" शब्द की सिद्धि अनेक प्रकार से कही गई है । "मित्रस्यापत्यं स्त्री मैत्रेयी" मित्र ऋषि की लड़की को मैत्रेयी कहते हैं। अथवा "मित्राया अपत्यं स्त्री मैत्रेयी" मित्रा देवी की लड़की को मैत्रेयी कहते हैं॥ **शुभ्रादिभ्यश्च** (पा० व्या० अ० ४ पा० १ सू० १२३) इस सूत्र से ढन् प्रत्यय होता है। अथवा मित्रता का नाम मैत्र है। जो स्त्री अपने पति के साथ मित्रता का निर्वाह करने में सदा साध्वी हो उसे "मैत्रेयी" कहते हैं। अथवा "मित्रयोरपत्यं स्त्री मैत्रेयी" इस व्युत्पत्ति में॥ **गृष्ट्यादिभ्यश्च**॥ (पा० व्या० अ ४ पा० १ सू० १३६) इस सूत्र से ढन् प्रत्यय होता है इसके बाद॥ **केकयमित्रयुप्रलयानां यादेरियः ॥** (पा० व्या० ७।३।२) इस सूत्र से इयादेश प्राप्त होने पर ॥ दाण्डिनायनं हास्तिनायन .... ॥ (पा० व्या० ६।४।१७४) इस सूत्र से निपात के द्वारा निष्पन्न होता है । तब "मित्रयु नामक ऋषि की लड़की को "मैत्रेयी" कहते हैं । माता, पिता के नाम पर सन्तान का नाम हुआ करता था यह एक अति प्राचीन नियम चला आता है । "याज्ञवल्क्य" यज्ञ = याग । वल्क = वृक्ष की त्वचा को वल्क और वल्कल कहते हैं । अति प्राचीन समय में ऋषि लोग प्रायः भोजपत्र नाम के वल्कल को शरीराच्छादन के लिये धारण किया करते थे । यहाँ यज्ञ करना करवाना ही मानो जिसका

वल्कल है उसे "यज्ञवल्क" कहते हैं। और यज्ञवल्क का जो अपत्य है उसे "याज्ञवल्क्य" कहते हैं। अर्थात् इनके पिता का नाम "यज्ञवल्क" था अतः इनका नाम याज्ञवल्क्य हुआ। उनके पिता का अन्य नाम "देवरात" भी था। भगवान् याज्ञवल्क्य क्या बोले सो आगे कहा जाता है। हे प्रिये मैत्रेयी! मैं इस गृहस्थाश्रम रूप स्थान से निश्चय करके ऊपर संन्यासाश्रम में जाने के लिये इच्छुक हूँ। इसलिये तुम दोनों से हन्त यानी अनुमति चाहता हूँ। और इसके सिवा यह भी इच्छा है कि इस अपनी दूसरी भार्या कात्यायनी के साथ तेरा कलह शान्ति के लिये द्रव्य विभाग का निर्णय कर दूँ, अर्थात् तुम दोनों के धन का बटवारा कर दूँ। कोशकार हेमचन्द्र कहते हैं कि नीच सम्बोधन में 'अरे" शब्द का प्रयोग होता है। यहाँ "हन्त" शब्द अनुकम्पा वाचक है क्योंकि लिखा है— **हन्त हर्षेऽनुकम्पायां वाक्यारम्भविषादयोः॥** (अमर० कां० ३ व० ३ श्लो० २४४) हन्त शब्द हर्ष, अनुकम्पा, वाक्यारम्भ और विषाद में प्रयुक्त होता है।।२४४।। और "कतस्यापत्यं स्त्री कात्यायनी" कत नामक ऋषि की लड़की को कात्यायनी कहते हैं। अति प्राचीन काल में सुप्रसिद्ध "कत" नाम के एक ऋषि हुए हैं। इसी कारण से इसका नाम कात्यायनी था। कात्यायनी के भ्राता कात्यायन ऋषि भी प्रसिद्ध आचार्य हुए हैं। संन्यासाश्रम का समय लिखा है — **ब्रह्मचर्यं परिसमाप्य गृही भवेत्। गृही भूत्वा वनी भवेत्। वनी भूत्वा प्रव्रजेत्। यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्। गृहाद्वा वनाद्वा। अथ पुनरव्रती वा व्रती वा स्नातको वाऽस्नातको वोत्सन्नाग्निको वा यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्॥** (जाबालोप० श्रु० ४) (नारदपरिव्राज० उ० उपदे० ३ श्रु० ७७) पहले ब्रह्मचर्य आश्रम की अवधि पूरी करके गृहस्थ बने, गृहस्थ से वानप्रस्थ हो जाय और वानप्रस्थ होने के अनन्तर संन्यास ले। अथवा तीव्र वैराग्य होने पर ब्रह्मचर्य आश्रम से ही संन्यास में प्रवेश करे। या गृहस्थ अथवा वानप्रस्थाश्रम से संन्यास ग्रहण करे। अथवा ब्रह्मचारी हो या अब्रह्मचारी, स्नातक हो या न हो, अग्निहोत्र त्याग चुका हो या उससे अलग ही रहा हो, जिस दिन उसे वैराग्य हो उसी दिन वह घर छोड़कर संन्यासी होजाय।।४।। ।।७७।। **प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सार्ववेदसदक्षिणाम्। आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात्॥** (मनु० अ० ६ श्लो० ३८) सर्वस्व दक्षिणा पूर्वक प्राजापात्य नामक इष्टि को कर के तदुक्त विधि से आत्मा में अग्नियों को समारोपण कर के ब्राह्मण घर से संन्यासाश्रम को ग्रहण करे।।३८।। **वनाद् गृहाद्वा कृत्वेष्टिं सार्ववेदसदक्षिणाम्। प्राजापत्यां तदन्ते तानग्नीनारोप्य चात्मनि॥** (याज्ञव० स्मृ० अ० ३ श्लो० ५६) गृहस्थाश्रम से अथवा वानप्रस्थाश्रम से ब्राह्मण वेदों के मंत्रों से सर्वस्व दक्षिणा सहित प्राजापत्य यज्ञ करके उसके अन्त में उन अग्नियों को आत्मा में आरोपण करे ।।५६।। **विरक्तः सर्वकामेषु**

पारिव्राज्यं समाश्रयेत् । आत्मन्यग्नीन्समारोप्य दत्वा चाभयदक्षिणाम् ॥ (विष्णुस्मृ० अ० ४ श्लो० २) सब कामनाओं से विरक्त होकर और अभय दक्षिणा देकर तथा अग्नियों को आत्मा में रखकर संन्यास को ग्रहण करे ॥२॥ **संन्यसेद् ब्रह्मचर्येण संन्यसेद्वा गृहादपि । वनाद्वा संन्यसेद्विद्वानातुरो वाथ दुःखितः ॥** (अङ्गिरास्मृ०) विद्वान्, आतुर, रोगी ये सब ब्रह्मचर्य से या गृहस्थ से अथवा वानप्रस्थ से संन्यास ग्रहण करें। **प्रव्रजेद्ब्रह्मचर्यात्तु यदीच्छेत्परमां गतिम्। जातपुत्रो गृहस्थो वा विदितात्मा जितेन्द्रियः॥** (यमस्मृ०) यदि मोक्ष चाहे तो ब्राह्मण ब्रह्मचर्य से संन्यास ले गृहस्थ पुत्र होने पर संन्यास लेवे और जो जितेन्द्रिय है वह आत्म ज्ञान प्राप्त करने पर संन्यास ग्रहण करे। **अग्निमात्मनि संस्थाप्य द्विजः प्रव्रजितो भवेत्। वेदाभ्यासरतो नित्यमात्मविद्यापरायणः॥** (संवर्तस्मृ० श्लो० १०६) आत्मा में अग्नि को स्थापित कर के ब्राह्मण संन्यासी हो जाय और सदा वेद का अभ्यास तथा आत्मविद्या में तत्पर रहे।।१०६।। **ब्रह्मचर्याद् गृहाद्वापिवनाद्वा संन्यसेद् वुधः। पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य मृतपत्नीक एव वा॥** (कात्यायनस्मृ०) ज्ञानी चाहे ब्रह्मचर्याश्रम से या गृहस्थाश्रम से या वानप्रस्थाश्रम से जिससे चाहे संन्यासाश्रम में प्रवेश करे। यदि गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के पश्चात् संन्यासाश्रम में जाये और उसकी स्त्री जीवित हो तो उसे उचित है कि स्त्री का भार पुत्र को सौंप दे और यदि उसका पुत्र न हो तो वह स्त्री के मरने के पश्चात् संन्यासाश्रम ग्रहण करे। **संसारमेव निःसारंदृष्ट्वा सारदिदृक्षया। प्रव्रजन्त्यकृतोद्वाहाः परं वैराग्यमाश्रिताः॥** (बृहस्पतिस्मृ०) संसार को देखकर सार देखने की इच्छा से श्रेष्ठ वैराग्यवाले विना विवाह किये ही संन्यासाश्रम ग्रहण करते हैं। **अनाश्रमी न तिष्ठेत दिनमेकमपि द्विजः। आश्रमेण विना तिष्ठन्प्रायश्चित्तीयते हि सः ॥** (दक्षस्मृ० अ० १ श्लो० १०) ब्राह्मण एक दिन भी आश्रम से हीन हो कर न रहे कारण की आश्रम हीन होने पर वह प्रायश्चित्त के योग्य होता है।।१०।। **न तावन्मुच्यते दुःखाज्जन्ममृत्योश्च बन्धनात् । यावन्न धारयेद्विप्रो वैष्णवं लिङ्गमादरात् ॥** (अत्रिस्मृ०) जबतक ब्राह्मण वैराग्यसे त्रिदण्ड धारण नहीं करता है तबतक जन्म मरण रूप दुःख से नहीं छुटता है। इस कारण से याज्ञवल्क्य महर्षि गृहस्थाश्रम से ही संन्यासाश्रम में जाने के लिये इच्छुक हुए हैं।।१।।

सहोवाच मैत्रेयी। यन्नु म इयं भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात्कथं तेनामृता स्यामिति। नेति स होवाच याज्ञवल्क्यो यथैवोपकरणवतां जीवितं तथैव

ते जीवितं स्यादमृतत्वस्य तुनाशास्ति वित्तेनेति ॥२॥

अन्वयार्थ– (सा) वह (ह) परम प्रसिद्धा (मैत्रेयी) मैत्रेयी (उवाच) बोली कि (भगो:) हे पूजनीय भगवन् (यत्) यदि (वित्तेन) धन धान्य हिरण्य आदि से (पूर्णा) पूर्ण (इयम्) यह (सर्वा) सारी (पृथिवी) पृथ्वी (मे) मेरी (स्यात्) हो जय तौ भी (तेन) उस सम्पूर्ण पृथ्वी के अधिकार के लाभ से (कथम्) किसी प्रकार (अमृता) संसार से मुक्त (स्याम्) मैं हो सकती हूँ (नु) क्या (इति) इस वचन को सुनकर (ह) सुप्रसिद्ध (स:) उस (याावल्क्य:) याज्ञवल्क्य महर्षि ने (न) नहीं (इति) ऐसा (उवाच) कहा (उपकरणवताम्) भोग सामग्रियों से संपन्न मनुष्यों का (यथा) जैसा (एव) ही (ते) भोगोपकरणवित्त से संपन्न तेरा (जीवितम्) सुख पूर्वक जीवन (स्यात्) हो जायगा (तु) परन्तु (वित्तेन) धन से (अमृतत्वस्य) मोक्ष प्राप्ति की (आशा) आशा (न) नहीं (अस्ति) है (इति) ऐसा तुम जानो।।२।।

विशेषार्थ– जब महर्षि याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी से इस प्रकारपूछा तब मोक्षमार्ग की कामना करती हुई परम प्रसिद्धा उस मैत्रेयी ने कहा कि– हे पूजनीय भगवन् स्वामिन् यदि विविध प्रकार की धन सम्पत्तियों से परिपूर्ण इस संपूर्ण पृथ्वी की मैं ही अधिकारिणी हो जाऊँ तथापिहे स्वामिन् किसी प्रकार से उस समस्त पृथ्वी के अधिकार के लाभ से संसार से मुक्त मैं हो सकती हूँ क्या? ऐसा मैं आप से पूछती हूँ आप कृपया कहें। इस श्रुति में "नु" शब्द प्रश्न वाचक है। क्योंकि लिखा है– **नु पृच्छायां विकल्पे च॥** (अमर॰ कां॰ ३ व॰ ३ श्लो॰ २४८) नु शब्द प्रश्न और विकल्प में प्रयुक्त होता है।।२४८।। इस वाक्य को सुनकर याज्ञवल्क्य महर्षि ने कहा कि– धन से पूर्ण सारी पृथ्वी की प्राप्ति से भी तू अमृता नहीं हो सकती है । सुख पूर्वक संप्राप्त विविध भोग संपन्न जैसा एक धनाढ्य पुरुष का सुखमय जीवन होता है वैसा ही भोगोपकरण वित्त से संपन्न तेरा भी सुख पूर्वक जीवन हो जायगा । परन्तु धन से मोक्ष की आशा नहीं है । यहाँ पर "अमृत" शब्द मोक्ष वाचक है । क्योंकि लिखा है– **उतामृतत्वस्येशान:** ॥ (ऋग्वे॰ अष्ट॰ ८ मण्ड॰ १० अ॰ ५ अनुवा॰ ७ सू॰ ९० मं॰ २) (सामवे॰ पूर्वार्चि॰ प्रपा॰ ६ सू॰ १३ मं॰ ५) (यजुर्वे॰ अ॰ ३१ मं॰ २) (अथर्ववे॰ कां॰ १९ अनुवा॰ १ सू॰ ६ मं॰ ४) और मोक्ष के स्वामी नारायण हैं ।।२।५।२।४।। **धीरा: प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥** (केनोप॰ खं॰ १ श्रु॰ २) परब्रह्म नारायण को जानने वाले विवेकी पुरुष इस भौतिक शरीर से निकलकर अर्चिरादि मार्ग से जाकर लिङ्ग शरीर को त्याग कर जन्म मृत्यु से रहित मुक्त हो जाते हैं ।।२।। **य एतद्विदुरमृतास्ते**

भवन्ति ॥ (कठोप॰ अ॰ २ व॰ ३ श्रु॰ ९) जो इस परब्रह्म नारायण को जानते हैं वे मरण रहित हो जाते हैं ॥९॥ **तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तो ऽमृतो भवति ॥** (मुण्डको॰ मुं॰ ३ खं॰ २ श्रु॰ ९) भगवदुपासक शोक से पार हो जाता है, सब पाप को तर जाता है हृदय रूप गुफा में गांठ के समान दुर्मोच, राग द्वेष आदिक से सर्वदा छुटा हुआ आविर्भूत गुणाष्टक अमर हो जाता है ॥९॥ **मुक्तिः कैवल्यनिर्वाण श्रेयो निःश्रेयसामृतम् ॥** (अमर॰ कां॰ १ व॰ ९ श्लो॰ ६) मुक्ति १, कैवल्य २, निर्वाण ३, श्रेयस् ४, निः-श्रेयस् ५ और अमृत ६ ये मोक्ष के नाम हैं॥६॥ इन प्रमाणों से मोक्ष वाचक "अमृत" शब्द सिद्ध होता है ॥२॥

सा होवाच मैत्रेयी येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूहीति ॥३॥

अन्वयार्थ– (सा) वह (ह) परम प्रसिद्धा (मैत्रेयी) मैत्रेयी (उवाच) बोली कि (येन) जिस वित्त परिपूर्ण संपूर्ण पृथ्वी के अधिकार लाभ से (अहम्) आपकी दासी मैं (अमृता) मोक्ष सुख को उपभोग करनेवाली (न) नहीं (स्याम्) हो सकती हूँ (तेन) उस धनादि के लाभ से (अहम्) मोक्ष सुख चाहनेवाली मैं आपकी दासी (किम्) क्या (कुर्याम्) करूँगी (भगवान्) पूज्यपाद श्रीमान् (एव) निश्चय करके (यत्) जो मोक्ष प्राप्ति का उपाय (वेद) जानते हैं (एव) निश्चय करके (तत्) उस मोक्ष साधन का (मे) मेरे लिये (ब्रूहि) उपदेश करें (इति) यह मेरी आप से प्रार्थना है ॥३॥

विशेषार्थ– पतिदेव के उस वचन को सुनकर उस परमप्रसिद्धा मैत्रेयी ने कहा कि– हे भगवन् जिस वित्तपूर्ण समस्त पृथ्वी के अधिकार लाभ से भी आपकी दासी मैं मोक्ष सुख को उपभोग करने वाली होने की सम्भावना भी नहीं कर सकती हूँ उस धनादि के अधिकार से मोक्ष सुख चाहने वाली मैं आपकी दासी क्या करूँगी। पूज्यपाद श्रीमान् जो कुछ मोक्ष प्राप्ति के साधन जानते हैं उस मोक्ष प्राप्ति के साधन को ही मुझसे उपदेश करें। यह मेरी आप से प्रार्थना है। यहाँ पर याज्ञवल्क्य महर्षि के लिये औपचारिक "भगवान्" पद का प्रयोग मैत्रेयी ने किया है। क्योंकि विष्णुपुराण में लिखा है– **शुद्धे महाविभूत्याख्ये परे ब्रह्मणि शब्द्यते । मैत्रेय भगवच्छब्दः सर्वकारणकारणे** (विष्णु पु॰ अंश॰ ६ अध्या॰ ५ श्लो॰ ७२) **संभर्तेति तथा भर्ता भकारोर्थद्वयान्वितः । नेता गमयिता स्रष्टा गकारार्थस्तथा मुने ॥७३॥ ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः । ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ॥७४॥**

वसन्ति तत्र भूतानि भूतात्मन्यखिलात्मनि। स च भूतेष्वशेषेषु वकारार्थस्ततोऽव्ययः ॥७५॥ हे मैत्रेय शुद्ध महाविभूति नाम वाला सब कारणों के कारण पर ब्रह्म में भगवत् शब्द कहा जाता है ।।७२।। संभर्ता और भर्ता भगवत् शब्द में जो भकार है उसका अर्थ है और हे मुने नेता गमयिता तथा स्रष्टा गकार का अर्थ है।।७३।। अथवा समस्तऐश्वर्य १, वीर्य २, यश ३, श्री ४, ज्ञान ५ और वैराग्य ६ इन छः वस्तुओं को भग कहते हैं।।७४।। उस अखिलात्मा में समस्त भूत वसते हैं और सब भूतों में जो वास करता है वह वकार का अर्थ है ।।७५।। **ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः। भगवच्छब्दवाच्यानि विनाहेयैर्गुणादिभिः** (विष्णु पु॰ अं॰ ६ अध्या॰ ५ श्लो॰ ७९) समस्त ज्ञान शक्ति बल ऐश्वर्य वीर्य और तेज भगवत् शब्द वाच्य हैं हेयगुणादिकों से रहित ।।७९।। **एवमेष महाशब्दो मैत्रेय भगवानिति । परमब्रह्मभूतस्य वासुदेवस्य नान्यगः** (विष्णु पु॰ अं॰ ६ अध्या॰ ५श्लो॰ ७६) **तत्र पूज्यपदार्थोक्तिपरिभाषासमन्वितः। शब्दोऽयं नोपचारेण ह्यन्यत्र ह्युपचारतः ॥७७॥** हे मैत्रेय इस प्रकार यह महान् भगवत् शब्द परब्रह्म वासुदेव का ही वाचक है दूसरे का नहीं ।।७६।। उस परब्रह्म नारायण में ही लक्षण युक्त भगवत् शब्द का पूर्ण अर्थ है दूसरे में औपचारिक है ।।७७।। इससे सिद्ध हो गया कि याज्ञवल्क्य महर्षि में औपचारिक भगवत् शब्द का प्रयोग किया गया है ।।३।।

स होवाच याज्ञवल्क्यः प्रिया बतारे नः सती प्रियं भाषस एह्यास्स्व व्याख्यास्यामि ते व्याचक्षाणस्य तु मे निदिध्यासस्वेति । ब्रवीतु मे भगवानिति ।।४।।

अन्वयार्थ– (सः) वह (ह) प्रसिद्ध (याज्ञवल्क्यः) महर्षि याज्ञवल्क्य (उवाच) बोले (अरे) अरी मैत्रेयी तू (नः) हमारी (सती) साध्वी (प्रिया) अनुकूलप्रिया है और इस समय भी (प्रियम्) मनोनुकूल प्रिय (भाषसे) बात कह रही है इस कारण से आज (बत) तेरे ऊपर विशेष दया होती है इसलिये (एहि) आ मेरे साथ (आस्स्व) बैठ जा (ते) तेरे लिये (व्याख्यास्यामि) मोक्षोपाय का व्याख्यान करुँगा (तु) परन्तु (व्याचक्षाणस्य) व्याख्यान करते हुए (मे) मेरे वाक्यों के अर्थ का (निदिध्यासस्व) निश्चय करके ध्यान करने की इच्छा कर (इति) इस बात को सुनकर (भगवान्) पूज्य पाद श्रीमान् (मे) मेरे लिये (ब्रवीतु) उपदेश दें (इति) इस प्रकार मैत्रेयी बोली।।४।।

विशेषार्थ– जब मैत्रेयी ने वित्त में निरादर और अमृतत्व साधन में आग्रह

दिखलाया तब उस सुप्रसिद्ध महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा कि– हे मैत्रेयी प्रिये तू हमारी साध्वी अनुकूल प्रिया है और आज भी तू मनोनुकूल प्रिय वचन ही भाषण करती है। इस कारण से आज तेरे ऊपर मुझे अत्यन्त दया आती है। यहाँ "बत" शब्द का अर्थ अनुकम्पा है क्योंकि लिखा है– **खेदानुकम्पासंतोशविस्मयामंत्रणे बत॥** (अमर० कां० ३ व० ३ श्लोक २४४) खेद १, दया २ संतोष ३, विस्मय ४, आमन्त्रण ५, इन पाँच अर्थों में बत शब्द का प्रयोग होता है।।२४४।। इसलिये आ मेरे साथ बैठ जा, मैं तेरे लिये तेरे अभीष्ट मोक्ष प्राप्ति के साधन का भलीभाँति उपदेश करुँगा। परन्तु व्याख्यान किये हुए मेरे वाक्यों के अर्थ का विशेष रूप से चिन्तन करने की इच्छा कर। इस याज्ञवल्क्य महर्षि के वचन को सुन कर पुन: मैत्रेयी बोली कि– हे भगवन् आप मुझे उपदेश करें। यह मेरा आपसे सविनय विज्ञापन है।

स होवाच न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति । न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति । न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति । न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति । न वा अरे ब्रह्मणः कामाय ब्रह्म प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय ब्रह्म प्रियं भवति । न वा अरे क्षत्रस्य कामाय क्षत्रं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय क्षत्रं प्रियं भवति । न वा अरे लोकानां कामाय लोकाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय लोकाः प्रिया भवन्ति । न वा अरे देवानां कामाय देवाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय देवाः प्रिया भवन्ति । न वा अरे भूतानां कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्त्यात्मनस्तु कामाय भूतानि प्रियाणि

भवन्ति । न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति । आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः । मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितं भवति॥५॥

अन्वयार्थ– (सः) उस (ह) सुप्रसिद्ध याज्ञवल्क्य महर्षि ने (उवाच) कहा कि (अरे) अरी मैत्रेयि (वै) निश्चय कर के (पत्युः) पति के (कामाय) संकल्पायत्त (पतिः) पति (प्रियः) प्रिय (न) नहीं (भवति) होता है (तु) किन्तु (आत्मनः) परमात्मा के (कामाय) संकल्प से (पतिः) पति (प्रियः) प्रिय (भवति) होता है (अरे) अरी मैत्रेयि (वै) निश्चय करके (जायायै) स्त्री के (कामाय) संकल्पायत्त (जाया) स्त्री (प्रिया) प्रिया (न) नहीं (भवति) होती है (तु) किन्तु (आत्मनः) परमात्मा के (कामाय) संकल्प से (जाया) स्त्री (प्रिया) प्रिया (भवति) होती है (अरे) अरी मैत्रेयि (वै) निश्चय कर के (पुत्राणाम्) पुत्रों के (कामाय) संकल्पायत्त (पुत्राः) पुत्र (प्रियाः) प्रिय (न) नहीं (भवन्ति) होते हैं (तु) किन्तु (आत्मनः) परमात्मा के (कामाय) संकल्प से (पुत्राः) पुत्र (प्रिया) प्रिय (भवन्ति) होते हैं (अरे) अरी मैत्रेयि (वै) निश्चय कर के (वित्तस्य) धन के (कामाय) संकल्पायत्त (वित्तम्) धन (प्रियम्) प्रिय (न) नहीं (भवति) होता है (तु) किन्तु (आत्मनः) परमात्मा के (कामाय) संकल्प से (वित्तम्) धन (प्रियम्) प्रिय होता है (अरे) अरी मैत्रेयि (वै) निश्चय करके (ब्रह्मणः) ब्राह्मण के (कामाय) संकल्पायत्त (ब्रह्म) ब्राह्मण (प्रियम्) प्रिय (न) नहीं (भवति) होता है (तु) किन्तु (आत्मनः) परमात्मा के (कामाय) संकल्प से (ब्रह्म) ब्राह्मण (प्रियम्) प्रिय (भवति) होता है (अरे) अरे मैत्रेयि (वै) निश्चय करके (क्षत्रस्य) क्षत्रिय के (कामाय) संकल्पायत्त (क्षत्रम्) क्षत्रिय (प्रियम्) प्रिय (न) नहीं (भवति) होता है (तु) किन्तु (आत्मनः) परमात्मा के (कामाय) संकल्प से (क्षत्रम्) क्षत्रिय (प्रियम्) प्रिय (भवति) होता है (अरे) अरी मैत्रेयि (वै) निश्चय करके (लोकानम्) स्वर्गादि लोकों के (कामाय) संकल्पायत्त (लोकाः) सवर्गादि लोक (न) नहीं (प्रियाः) प्रिय (भवन्ति) होते हैं (तु) किन्तु (आत्मनः) परमात्मा के (कामाय) संकल्प से (लोकाः) स्वर्गादि लोक (प्रियाः) प्रिय (भवन्ति) हाते हैं (अरे) अरी मैत्रेयि (वै) न्श्चिय करके (देवानाम्) ब्रह्मादि देवताओं के (कामाय) संकल्पायत्त (देवाः) ब्रह्मादि देवता (न) नहीं (प्रियाः)

प्रिय (भवन्ति) होते हैं (तु) किन्तु (आत्मनः) परमात्मा के (कामाय) संकल्प र (देवाः) ब्रह्मादि देवता (प्रियाः) प्रिय (भवन्ति) होते हैं (अरे) अरी मैत्रेयि (वै) निश्चय करके (भूतानाम्) भूतों के (कामाय) संकल्पायत्त (भूतानि) भूत (न) नहं (प्रियाणि) प्रिय (भवन्ति) होते हैं (तु) किन्तु (आत्मनः) परमात्मा के (कामाय) संकल्प से (भूतानि) सब भूत (प्रियाणि) प्रिय (भवन्ति) होते हैं (अरे) अरी मैत्रेयि (वै) निश्चय कर के (सर्वस्य) सब के (कामाय) संकल्पायत्त (सर्वम्) सब (न) नहीं (प्रियम्) प्रिय (भवति) होता है (तु) किन्तु (आत्मनः) परमात्मा के (कामाय) संकल्प से (सर्वम्) सब वस्तु (प्रियम्) प्रिय (भवति) होती है जिस कारण से पति स्त्री आदि का प्रियत्व परमात्मा के संकल्प के अधीन होता है अतः उस परमात्मा की प्रसन्नता के लिये (अरे) अरी मैत्रेयि (वै) निश्चय करके (आत्मा) परब्रह्म नारायण (द्रष्टव्यः) सूक्ष्मा बुद्धि से देखने योग्य है तथा (श्रोतव्यः) आचार्य द्वारा श्रवण करने योग्य है (मन्तव्यः) युक्तियों से श्रुतार्थ प्रतिष्ठापन लक्षण मनन करने योग्य है (निदिध्यासितव्यः) निश्चय अनवरत भावनारूप ध्यान करने योग्य है (अरे मैत्रेयि) हे प्रिय मैत्रेयि (वै) निश्चय कर के (आत्मनः) परमात्मा के (दर्शनेन) दर्शन से (श्रवणेन) श्रवण से (मत्या) मनन से (विज्ञानेन) निदिध्यासन से (इदम्) यह (सर्वम्) सब स्थूल चिदचिद्विशिष्टब्रह्म (विदितम्) ज्ञात (भवति) हो जाता है।।५।।

विशेषार्थ— उस सुप्रसिद्ध महर्षि ने अपनी बड़ी धर्मपत्नी से कहा कि— अरी मैत्रेयि निश्चय करके पति के संकल्प के अधीन पति प्रिय नहीं होता है किन्तु परब्रह्म नारायण के संकल्प से पति प्रिय होता है । इस श्रुति में "वै" शब्द निश्चयार्थक प्रयुक्त हुआ है। और "अरे" शब्द नीच संबोधन में प्रयुक्त हुआ है, अथवा ब्रह्मवादिनी पतिव्रता मैत्रेयी को नीच संबोधन देना उचित नहीं है । इससे यहाँ पर अरणशील गमनशील तथा कम्पनशील को "अरि" कहते हैं । क्योंकि गमनार्थक "ऋ" पद होता। "मैं संन्यासाश्रम को जाने वाला हूँ" इस बात को सुनकर पतिव्रता चलायमान हो गई, इस बात को सूचित करने के लिये पुनः पुनः महर्षि ने "अरे" इस पद से संबोधित किया है। क्योंकि ऐसा देखा जाता है कि— **अधुक्षत् पिप्युषीमिजमूर्जं सप्तपदीमरिः सूर्यस्य सप्तरश्मिभिः ॥** (ऋग्वे० मण्ड० ८ सू० ७२ मं० १६) इस ऋग्वेद के मंत्र में आए हुए "अरि" शब्द का अर्थ गमनशील वायु किया जाता है, अतः यहाँ पर भी यौगिकार्थ करने में कोई क्षति नहीं है । "कामाय" इस पद में **क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः ॥** (पा० व्या० अ० २ पा० ३ सू० १४) इस सूत्र से चतुर्थी हुई है । "काम" शब्द यहाँ संकल्प वाचक है । और "आत्मन्" शब्द परब्रह्म नारायण का वाचक है, क्योंकि लिखा है— **यस्तु सर्वाणि**

भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति॥ (ईशोप० श्रु० ६) परन्तु जो मुमुक्षु पुरुष ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब पर्यन्त समस्त भूतों को परब्रह्म नारायण में निश्चय करके निरन्तर देखता है ।।६।। **यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥** (कठोप० अ० १ व० २ श्रु० २३) यह पर ब्रह्म नारायण जिस साधक पुरुष को स्वीकार कर लेता है उस प्रियतम कर के ही प्राप्त किया जा सकता है, क्योंकि यह परब्रह्म नारायण उस उपासक के लिये अपने यथार्थ स्वरूप को प्रकाशित कर देता है ।।२३।। **आत्मन एवैष प्राणो जायते ॥** (प्रश्नोप० प्रश्न० ३ श्रु० ३) यह प्राण निश्चय करके परब्रह्म नारायण से उत्पन्न होता है ।।३।। **नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः ॥** (मुण्डको० मुं० ३ खं० २ श्रु० ४) यह परब्रह्म नारायण अवसन्नमन से या उपासना रूप बल से रहित पुरुष से नहीं प्राप्त होने योग्य है ।।४।। **एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रम्य ॥** (तैत्ति० उ० व० ३ अनुवा० १० श्रु० ५) इस प्रचुर आनन्द वाले परब्रह्म नारायण के समीप में भली भाँति प्राप्त होकर ।।५।। **आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् ॥** (ऐत० उ० अ० १ खं० १ श्रु० १) यह ब्रह्मादिस्तम्ब पर्यन्त स्थावर जंगम स्वरूप जगत् सृष्टि से पहले एकमात्र प्रसिद्ध संपूर्ण हेय गुणों से रहित एकतान कल्याणमय परब्रह्म नारायण ही था ।।१।। **आत्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः ॥** (श्वे० उ० अ० ३ श्रु० २०) परब्रह्म नारायण इस जीव के हृदय रूप गुफा में रहता है ।।२०।। इन श्रुतियों में परब्रह्म नारायण वाचक "आत्मन्" शब्द का प्रयोग हुआ है । और व्याप्तिबोधक "आप्" भक्षणार्थक "अद्" अथवा सतत गमन बोधक "अत्" धातु से "आत्मन्" शब्द निष्पन्न होने से आत्मा का अर्थ परब्रह्म नारायण है । तथा मोक्ष प्राप्ति का साधन भी वही है, क्योंकि लिखा है– **तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यते ऽयनाय ॥** (श्वे० उ० अ० ३ श्रु० ८) उस परब्रह्म नारायण को जानकर पुरुष मृत्यु को पारकर जाता है मोक्ष प्राप्ति के लिये दूसरा मार्ग नहीं है।।८।। (शुक्लयजुर्वे० अ० ३१ मं० १८) में भी यह श्रुति है। **अमृतस्यैष सेतुः ॥** (मुण्ड० उ० मुं० २ खं० २ श्रु० ५) यह परब्रह्म नारायण संसार सागर के पारभूत मोक्ष का सेतु यानी पुल है ।।५।। इन प्रमाणों से मोक्ष प्राप्ति का साधन परब्रह्म नारायण ही है । और अरे प्रिये मैत्रेयि स्त्री संकल्प के अधीन स्त्री प्रिया नहीं होती है किन्तु परब्रह्म नारायण के संकल्प से स्त्री प्रिया होती है । जाया के विषय में लिखा है– **पति र्जायां प्रविशति गर्भो भूत्वेह मातरम् । तस्यां पुनर्नवो भूत्वा दसमे मासि जायते ॥ तज्जाया जाया भवति यदस्यां जायते पुनः ॥** (बह्वृ चब्राह्मण) पति गर्भ होकर इस स्त्री में प्रवेश करता है और पुनः नया होकर दशवें मास में उस माँ से उत्पन्न होता है । जिस कारण से यह पति इस स्त्री से पुनः उत्पन्न होता है अतः स्त्री उसकी जाया होती है।। **पतिर्भार्यां संप्रविश्य गर्भो भूत्वेह जायते। जायायास्तद्धि जायात्वं**

यदस्यां जायते पुनः (मनु० अ० ९ श्लो० ८) पति शुक्र रूप से भार्या में प्रवेश करके गर्भ होकर उसी भार्या में पुनः पुत्र रूप से उत्पन्न होता है, निश्चय करके जो यह पति पुनः इस भार्या में उत्पन्न होता है वही जाया का जायात्व है, इस प्रकार जाया शब्द का निर्वचन कहा गया है।।८।। और अरी मैत्रेयि निश्चय करके पुत्रों के संकल्प के अधीन पुत्र प्रिय नहीं होते हैं किन्तु परब्रह्म नारायण के संकल्प के अधीन पुत्र प्रिय होते हैं। पुत्र के विषय में लिखा है।। **आत्मा वै पुत्रनामासि ।। श्रुति० ।।** आत्मा ही पुत्र नाम वाली होती है।। **पुंनाम्नो नरकाद्यस्मात् त्रायते पितरं सुतः ।तस्मात्पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयंभुवा।।** (मनु० अ० ९ श्लो० १३८) जिस कारण से पुम् नाम के नरक से सुत पिता की रक्षा करता है इस कारण से स्वयं ब्रह्मा ने उसको पुत्र ऐसा कहा है ।।१३८।। तथा निश्चय करके अरी मैत्रेयि धन के संकल्प के अधीन धन प्रिय नहीं होता है किन्तु परब्रह्म नारायण के संकल्प से धन प्रिय होता है। वित्त के विषय में लिखा है— **द्रव्यं वित्तं स्वापतेयं रिक्थमृक्थं धनं वसु** (अमर० कां० २ व० ९ श्लो० ९०) द्रव्य १, वित्त २, स्वापतेय ३, रिक्थ ४, ऋक्थ ५, धन ६ और वसु ७ ये धन के नाम हैं।।९०।। और अरी मैत्रेयि निश्चय करके ब्राह्मण के संकल्प के अधीन ब्राह्मण प्रिय नहीं होता है किन्तु परब्रह्म नारायण के संकल्प से ब्राह्मण प्रिय होता है। तथा निश्चय करके अरी प्रिये मैत्रेयि क्षत्रिय के संकल्प के अधीन क्षत्रिय प्रिय नहीं होता है किन्तु परब्रह्म नारायण के संकल्प से क्षत्रिय प्रिय होता है। और निश्चय करके अरे मैत्रेयि स्वर्ग आदिक लोकों के संकल्प के अधीन स्वर्ग आदिक लोक प्रिय नहीं होते हैं किन्तु परब्रह्म नारायण के संकल्प से स्वर्ग आदि लोक प्रिय होते हैं। तथा निश्चय करके अरी मैत्रेयि ब्रह्मादिक देवताओं के संकल्प के अधीन ब्रह्मादिक देवता प्रिय नहीं होते हैं किन्तु परब्रह्म नारायण के संकल्प से ब्रह्मादिक देवता प्रियै होते हैं। और अरी मैत्रेयि निश्चय करके समस्त भूतों के संकल्प के अधीन संपूर्ण भूत प्रिय नहीं होते हैं किन्तु परब्रह्म नारायण के संकल्प से समस्त भूत प्रिय होते हैं। भूत के विषय में लिखा है— **युक्ते क्ष्मादावृते भूतं प्राण्यतीते समे त्रिषु** (अमर० कां० ३ व. ३ श्लो० ७८) प्रेत पृथ्वी आदिक पांच न्याययुक्त कार्य सत्य प्राणी तथा अतीत काल में भूत शब्द प्रयुक्त होता है ।।७८।। तथा अरे प्रिये मैत्रेयि सबके संकल्प के अधीन सब प्रिय नहीं होता है किन्तु परब्रह्म नारायण के संकल्प से सब प्रिय होता है। इस श्रुति में सर्वत्र ''काम''शब्द का अर्थ संकल्प है क्योंकि लिखा है— **कामः संकल्पो विचिकित्सा** (बृ० उ० अ० १ ब्रा० ५ कं० ३) काम-संकल्प विचिकित्सा यह एक ही वस्तु है ।।३।। जिस कारण से पति स्त्री आदिक का प्रियत्व परब्रह्म नारायण के संकल्प के अधीन है, अतः उस परब्रह्म नारायण की प्रसन्नता के लिये अरे प्रिये मैत्रेयि

निश्चय करके परब्रह्म नारायण सूक्ष्मा बुद्धि से देखने योग्य हैं तथा आचार्य द्वारा सुनने योग्य हैं। क्योंकि लिखा है– **आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापत्** (छा॰ उ॰ प्रपा॰ ४ खं॰ ९ श्रु॰ ३) प्रसिद्ध आचार्य से निश्चय जानी गयी विद्या अतिशय साधुता को प्राप्त होती है ।।३।। **आचार्यवान् पुरुषो वेद** (छा॰ उ॰ प्रपा॰ ६ खं॰ १४ श्रु॰ २) आचार्य वाला मुमुक्षु पुरुष परब्रह्म नारायण को जानता है ।।२।। और युक्तियों से श्रुतार्थ प्रतिष्ठापनलक्षण मनन करने योग्य है तथा निश्चय अनवरतभावनारूपध्यान करने योग्य है। क्योंकि लिखा है– **न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखताम्** (छा॰ उ॰ प्रपा॰ ७ खं॰ २६ श्रु॰ २) परब्रह्म नारायण को देखने वाला पुरुष मरण को नहीं देखता है और रोग को नहीं देखता है तथा आध्यात्मिक और आधिदैविक तथा आधिभौतिक दुःख के भाव को नहीं देखता है ।।२।। **स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः** (छा॰ उ॰ प्रपा॰ ७ खं॰ २६ श्रु॰ २) अविच्छिन्न स्मृतिसन्तानरूपात्मध्यान सिद्ध होने पर दुर्मोच ग्रन्थि शब्द वाच्य समस्त अविद्या, राग, द्वेष आदिकों का सर्वथा नाश हो जाता है।।२।। **भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्तेसर्वसंशयाः । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥** (मुण्डको॰ मुं॰ २ खं॰ २ श्रु॰ ८) उस सर्वोत्कृष्ट पर अवर शरीरवाले सर्वात्मभूत परब्रह्म नारायण के देख लेने पर इस साधक मुमुक्षु पुरुष के अन्तःकरण की गाँठ के समान दुर्मोच राग द्वेषादिक छूट जाता है और समस्त संदेह कट जाते हैं तथा प्रारब्ध से व्यतिरिक्त अनेक जन्मार्जित समस्त शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं ।।८।। अब परब्रह्म नारायण के दर्शन मनन और निदिध्यासन से क्या होता है सो आगे बतलाया जाता है। अरी प्रिये मैत्रेयि निश्चय करके परब्रह्म नारायण के दर्शन से, श्रवण से, मनन से और निदिध्यासन से यह संपूर्ण स्थूल चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म विदित यानी ज्ञात हो जाता है। यहाँ पर स्थान प्रमाण से "विज्ञान" शब्द निदिध्यासन वाचक है। और आत्म शब्द सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म परक है। तथा सर्व और इदम् ये दोनों शब्द स्थूलावस्थ चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म परक है। अतः इन दोनों के अभेद होने से आत्म विज्ञान से यह सब विज्ञात होता है, यह उपपन्न होता है। **श्रीकूर्मनाथप्रकाशक भगवद्रामानुजाचार्य ने अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॥** (शा॰ मी॰ अ॰ १ पा॰ १ सू॰ १) **वाक्यान्वयात्॥** (शा॰ मी॰ अ॰ १ पा॰ ४ सू॰ १९) **अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः ॥** (शा॰ मी॰ अ॰ १ पा॰ १ सू॰ २२) **सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत्॥** (शा॰ मी॰ अ॰ ३ पा॰ ४ सू॰ ४६) **आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ॥** (शा॰ मी॰ अ॰ ४ पा॰ १ सू॰ १) इन पाँच सूत्रों के श्रीभाष्य में "बृहदारण्यकोपनिषद्" के द्वितीय अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण की पाँचवी कण्डिका के पदों को उद्धृत किया है ।।५।।

सर्वात्मभूत परब्रह्म नारायण के देख लेने पर इस साधक मुमुक्षु पुरुष के अन्त:करण की गाँठ के समान दुर्मोच राग द्वेषादिक छूट जाता है और समस्त संदेह कट जाते हैं तथा प्रारब्ध से व्यतिरिक्त अनक जन्मार्जित समस्त शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं ।।८।। अब परब्रह्म नारायण के दर्शन मनन और निदिध्यासन से क्या होता है सो आगे बतलाया जाता है। अरी प्रिये मैत्रेयि निश्चय करके परब्रह्म नारायण के दर्शन से, श्रवण से, मनन से और निदिध्यासन से यह संपूर्ण स्थूल चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म विदित यानी ज्ञात हो जाता है । यहाँ पर स्थान प्रमाण से "विज्ञान" शब्द निदिध्यासन वाचक है। और आत्म शब्द सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म परक है। तथा सर्व और इदम् ये दोनों शब्द स्थूलावस्थ चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म परक है । अत: इन दोनों के अभेद होने से आत्म विज्ञान से यह सब विज्ञात होता है, यह उपपन्न होता है । **श्रीकूर्मनाथप्रकाशक भगवद्रामानुजाचार्य ने अथातो ब्रह्मजिज्ञासा** ॥ (शा० मी० अ० १ पा० १ सू० १) **वाक्यान्वयात्**॥ (शा० मी० अ० १ पा० ४ सू० १९) **अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः** ॥ (शा० मी० अ० १ पा० १ सू० २२) **सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत्**॥ (शा० मी० अ० ३ पा० ४ सू० ४६) **आवृत्तिरसकृदुपदेशात्** ।। (शा० मी० अ० ४ पा० १ सू० १) इन पाँच सूत्रों के श्रीभाष्य में "बृहदारण्यकोपनिषद्" के द्वितीय अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण की पाँचवी कण्डिका के पदों को उद्धृत किया है ।।५।।

ब्रह्म तं परादाद्योऽन्यत्राऽऽत्मनो ब्रह्म वेद। क्षत्रं तं परादाद्योऽन्यत्राऽऽत्मनो क्षत्रं वेद। लोकांस्तं परादुर्योऽन्यत्राऽऽत्मनो लोकान्वेद। देवास्तं परादुर्योऽन्यत्राऽऽत्मनो देवान्वेद। भूतानि तं परादुर्योऽन्यत्राऽऽत्मनो भूतानि वेद। सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्राऽऽत्मनः सर्वं वेद। इदं ब्रह्मेदं क्षत्रमिमे लोका इमे देवा इमानि भूतानीदं सर्वं यदयमात्मा ।।६।।

अन्वयार्थ– (यः) जो पुरुष (आत्मनः) परमात्मा से (अन्यत्र) भिन्न स्थान में स्थित (ब्रह्म) ब्राह्मण वर्ण को (वेद) जानता है (तम्) उस अज्ञानी को (ब्रह्म) ब्राह्मणवर्ण (परादात्) परास्त कर देता है और (यः) जो पुरुष (आत्मनः) परमात्मा

से (अन्यत्र) भिन्न स्थान में स्थित (क्षत्रम्) क्षत्रिय वर्ण को (वेद) जानता है (तम्) उस अज्ञानी को (क्षत्रम्) क्षत्रिय वर्ण (परादात्) परस्त कर देता है तथा (यः) जो पुरुष (आत्मनः) परमात्मा से (अन्यत्र) भिन्न स्थान में स्थित (लोकान्) स्वर्गादि लोकों को (वेद) जानता है (तम्) उस अज्ञानी को (लोकाः) स्वर्गादि लोक (परादुः) परास्त कर देते हैं और (यः) जो पुरुष (आत्मनः) परमात्मा से (अन्यत्र) भिन्न स्थान में स्थित (भूतानि) भूतों को (वेद) ज़ानता है (तम्) उस अज्ञानी को (भूतानि) संपूर्ण भूत (परादुः) परास्त कर देते हैं और (यः) जो पुरुष (आत्मनः) परमात्मा से (अन्यत्र) भिन्न स्थान में स्थित (सर्वम्) सबको (वेद) जानता है (तम्) उस अज्ञानी को (सर्वम्) सब (परादात्) परास्त कर देता है (इदम्) यह (ब्रह्म) ब्राह्मणवर्ण तथा (इदम्) यह (क्षत्रम्) क्षत्रियवर्ण और (इमे) ये (लोकाः) स्वर्गादि लोक तथा (इमे) ये (देवाः) ये ब्रह्मादिक देवगण और (इमानि) ये (भूतानि) समस्त भूतगण (इदम्) तथा यह (सर्वम्) सब (यत्) जो कुछ भी है (अयम्) यह सब (आत्मा) परब्रह्म नारायण के देह हैं॥६॥

विशेषार्थ— जो पुरुष परब्रह्म नारायण से अन्यत्र स्थित ब्राह्मणवर्ण को जानता है अर्थात् अब्रह्मात्मक जानता है उस अज्ञानी पुरुष को ब्राह्मणवर्ण पराभव करता है। अर्थात् अन्यत्वेन अवगत ब्राह्मणवर्ण ही उसको संसार चक्र में डालता है। आगे भी ऐसा ही अर्थ समझना चाहिये। और हे प्रिये जो पुरुष परब्रह्म नारायण से अन्यत्र स्थित क्षत्रियवर्ण को जानता है इस अज्ञानी पुरुष को क्षत्रियवर्ण पराभव करता है। तथा जो पुरुष परब्रह्म नारायण से अन्यत्र स्थित स्वर्गादिक लोकों को जानता है उस अज्ञानी पुरुष को स्वर्गादिक लोक पराभव करते हैं। तथा जो पुरुष परब्रह्म नारायण से अन्यत्र स्थित ब्रह्मादिक देवताओं को जानता है उस अज्ञानी पुरुष को ब्रह्मादिक देवता पराभव करते हैं। तथा जो पुरुष परब्रह्म नारायण से अन्यत्र स्थित भूतों को जानता है उस अज्ञानी पुरुष को भूतगण पराभव करते हैं। और जो पुरुष परब्रह्म नारायण से अन्यत्र स्थित सबको जानता है उस अज्ञानी पुरुष को सब ही पराभव करता है। हे प्रिये मैत्रेयि यह ब्राह्मणवर्ण तथा यह क्षत्रियवर्ण और ये स्वर्गादिक लोक तथा ये ब्रह्मादिक देवता और ये समस्त भूतगण तथा यह दृश्यमान जो कुछ स्थावर जङ्गम है वे सब परब्रह्म नारायण के शरीर हैं। क्योंकि लिखा है – **यस्य पृथ्वी शरीरम्॥** (बृ० उ० अ० ३ ब्रा० ७ कं० ३) **यस्यापः शरीरम्॥४॥ यस्याग्निः शरीरम्॥५॥ यस्यान्तरिक्षं शरीरम्॥६॥ यस्य वायुः शरीरम्॥७॥ यस्य द्यौः शरीरम्॥८॥ यस्यादित्यः शरीरम्॥९॥ यस्य**

अक्षर जीवात्मा शरीर है । जिसका मृत्यु शरीर है ।।७।। **जगत् सर्वं शरीरं ते ।।** (वाल्मीकिरामा॰ युद्ध कां॰ ६ सर्ग॰ १२१) **पुरुषोत्तम-प्रसादभोक्ता भगवद्रामानुजाचार्य** ने- **(अथातो ब्रह्मजिज्ञासा)** (शा॰ मी॰ अ॰ १ पा॰ १ सू॰ १) **तत्तु समन्वयात्।** (शा॰ मी॰ अ॰ १ पा॰ १ सू॰ ४) **वाक्यान्वयात् ।।** (शा॰ मी॰ अ॰ १ पा॰ १ सू॰ १९) इन तीनों सूत्रों के श्रीभाष्य में ''बृहदारण्यकोपनिषद्'' के द्वितीय अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण की छठवीं कण्डिका के पदों को उद्धृत किया है ।।६।।

स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य न बाह्याञ्शब्दाञ्शक्नुयाद ग्रहणाय दुन्दुभेस्तु ग्रहणेन दुन्दुभ्याघातस्य वा शब्दो गृहीतः ।।७।।

अन्वयार्थ- (सः) वह दृष्टान्त ऐसा है कि (यथा) जैसे (हन्यमानस्य) बजाये जाते हुए (दुन्दुभेः) नगाड़े के (बाह्यान्) बाहर निकले हुए (शब्दान्) शब्दों को (ग्रहणाय) पकड़ने के लिये (न) नहीं (शक्नुयात्) कोई समर्थ हो सकता है (तु) परन्तु (दुन्दुभेः) दुन्दुभि नाम के बाजा के (वा) अथवा (दुन्दुभ्याघातस्य) दुन्दुभि के बजाने वाले के (ग्रहणेन) पकड़ने से (शब्दः) दुन्दुभि का शब्द (गृहीतः) पकड़ा जाता है वैसे ही विषयों के अपसारण से अथवा इन्द्रियों के निरोध से परमात्मसाक्षात्कार विरोधिबाह्यार्थाज्ञान निरोध हो जाता है ।।७।।

विशेषार्थ- जगत्कारणत्व विशिष्ट परब्रह्म नारायण की उपासना प्रतिपादन करके अब उपासना के उपकरणंभूत मनः प्रभृति इन्द्रियों का नियमन प्रकार कहा जाता है। वह दृष्टान्त ऐसा है कि- लोक में जिस प्रकार बजाये जाते हुए नगाड़ा बाजे से बाहर निकले हुये शब्दों को निरोध करने के लिये कोई नहीं समर्थ हो सकता परन्तु नगाड़े के बजानवाले के पकड़ने से भेरी का ध्वन्यात्मक शब्द पकड़ा जाता है उसी प्रकार अरी मैत्रेयि विषयों के अपसारण से या इन्द्रियों के निरोध से परब्रह्म नारायण के साक्षात्कार में विरोधी बाह्यार्थज्ञान निरोध हो जाता है । यहाँ ''दुन्दुभि'' शब्द नगाड़ा वाचक है क्योंकि लिखा है- **स्याद्भेर्यां दुन्दुभिः पुंसि स्यादक्षे दुन्दुभिः स्त्रियाम् ।।** (अमर॰ कां॰ ३ व॰ ३ श्लो॰ १३६) दुन्दुभि शब्द नगाड़ा बाजा तथा लड़कों का एक प्रकार का खिलौना वाचक है ।।१३६।। ऐसा स्पष्ट कहा गया है ।।७।।

स यथा शङ्खस्य ध्मायमानस्य न बाह्याञ्शब्दाञ्शक्नुयाद ग्रहणाय शङ्खस्य तु ग्रहणेनशङ्खध्मस्य वा शब्दो

गृहीतः ॥८॥

अन्वयार्थ– (सः) वह दूसरा दृष्टान्त ऐसा है कि (यथा) जैसे (ध्मायमानस्य) बजाये जाते हुए (शङ्खस्य) शंख के (बाह्यान्) बाहर निकले हुए (शब्दान्) शब्दों को (ग्रहणाय) निरोध करने के लिये (न) नहीं (शक्नुयात्) कोई समर्थ हो सकता (तु) परन्तु (शङ्खस्य) शंख के (वा) अथवा (शङ्खध्मस्य) शंख के बजानेवाले के (ग्रहणेन) निरोध करने से (शब्दः) शंख का शब्द (गृहीतः) निरोध हो जाता है वैसे ही विषयों के अपसारण से अथवा इन्द्रियों के निरोध से परमात्मा के साक्षात्कार का विरोधी बाह्यार्थ ज्ञान निरोध हो जाता है।।८।।

विशेषार्थ– वह दूसरा दृष्टान्त ऐसा है कि– लोक में जिस प्रकार बजाये जाते हुए शंख से बाहर निकले हुए शब्दों को पकड़ने के लिये कोई नहीं समर्थ हो सकता परन्तु शङ्ख के या शंख के फूँकने वाले के निरोध करने से शंख का शब्द निरोध हो जाता है। उसी प्रकार हे प्रिये मैत्रेयि विषयों के अपसारण से या इन्द्रियों के निरोध से परब्रह्म नारायण के साक्षात्कार में विरोधी बाह्यार्थ ज्ञान निरोध हो जाता है। यहाँ पर ''शङ्ख'' शब्द शंख नामक बाजा का वाचक है । क्योंकि लिखा है – **शङ्खो निधौ ललाटास्थ्नि कम्बौ॥** (अमर० कां० ३ व० ३ श्लो० १८) शंख शब्द एकनिधि तथा ललाट की हड्डी और शंख में प्रयुक्त होता है।।१८।। ऐसा स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है।।८।।

स यथा वीणायै वाद्यमानायै न बाह्याञ्शब्दाञ्शक्नुयाद ग्रहणाय वीणायै तु ग्रहणेन वीणावादस्य वा शब्दो गृहीतः ॥९॥

अन्वयार्थ– (सः) वह तीसरा दृष्टान्त ऐसा है कि (यथा) जैसे (वाद्यमानायै) बजाई जाती हुई (वीणायै) वीणा के (बाह्यान्) बाहर निकलते हुए (शब्दान्) शब्दों को (ग्रहणाय) निरोध करने के लिये (न) नहीं (शक्नुयात्) कोई समर्थ हो सकता है (तु) परन्तु (वीणायै) वीणा के (वा) अथवा (वीणावादस्य) वीणा के बजाने वाले के (ग्रहणेन) ग्रहण करने से (शब्दः) वीणा का शब्द (गृहीतः) निरोध हो जाता है वैसे ही विषयों के अपसारण से अथवा इन्द्रियों के निरोध से परमात्मा के साक्षात्कार का विरोधी बाह्यार्थ ज्ञान निरोध हो जाता है।।९।।

विशेषार्थ– वह तीसरा दृष्टान्त ऐसा है कि– लोक में जिस प्रकार बजायी जाती

अपसारण से अथवा इन्द्रियों के निरोध से परमात्मा के साक्षात्कार का विरोधी बाह्यार्थ ज्ञान निरोध हो जाता है।।८।।

विशेषार्थ— वह दूसरा दृष्टान्त ऐसा है कि— लोक में जिस प्रकार बजाये जाते हुए शंख से बाहर निकले हुए शब्दों को पकड़ने के लिये कोई नहीं समर्थ हो सकता परन्तु शङ्ख के या शंख के फूँकने वाले के निरोध करने से शंख का शब्द निरोध हो जाता है। उसी प्रकार हे प्रिये मैत्रेयि विषयों के अपसारण से या इन्द्रियों के निरोध से परब्रह्म नारायण के साक्षात्कार में विरोधी बाह्यार्थ ज्ञान निरोध हो जाता है। यहाँ पर "शङ्ख" शब्द शंख नामक बाजा का वाचक है । क्योंकि लिखा है – **शङ्खो निधौ ललाटास्थ्नि कम्बौ॥** (अमर॰ कां॰ ३ व॰ ३ श्लो॰ १८) शंख शब्द एकनिधि तथा ललाट की हड्डी और शंख में प्रयुक्त होता है।।१८।। ऐसा स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है।।८।।

स यथा वीणायै वाद्यमानायै न बाह्याञ्शब्दाञ्शक्नुयाद ग्रहणाय वीणायै तु ग्रहणेन वीणावादस्य वा शब्दो गृहीतः ॥९॥

अन्वयार्थ— (सः) वह तीसरा दृष्टान्त ऐसा है कि (यथा) जैसे (वाद्यमानायै) बजाई जाती हुई (वीणायै) वीणा के (बाह्यान्) बाहर निकलते हुए (शब्दान्) शब्दों को (ग्रहणाय) निरोध करने के लिये (न) नहीं (शक्नुयात्) कोई समर्थ हो सकता है (तु) परन्तु (वीणायै) वीणा के (वा) अथवा (वीणावादस्य) वीणा के बजाने वाले के (ग्रहणेन) ग्रहण करने से (शब्दः) वीणा का शब्द (गृहीतः) निरोध हो जाता है वैसे ही विषयों के अपसारण से अथवा इन्द्रियों के निरोध से परमात्मा के साक्षात्कार का विरोधी बाह्यार्थ ज्ञान निरोध हो जाता है।।९।।

विशेषार्थ— वह तीसरा दृष्टान्त ऐसा है कि— लोक में जिस प्रकार बजायी जाती हुई वीणा के बाहर निकले हुए शब्दों को पकड़ने के लिए कोई नहीं समर्थ हो सकता परन्तु वीणा के या वीणा के बजानेवाले के निरोध करने से वीणा का शब्द निरोध हो जाता है। उसी प्रकार अरी मैत्रेयि विषयों के अपसारण से या इन्द्रियों के निरोध से परब्रह्म नारायण के साक्षात्कार में विरोधी बाह्यार्थ ज्ञान निरोध हो जाता है। वीणा के विषय में लिखा है— **वीणा तु वल्लकी । विपञ्ची॥** (अमर॰ कां॰ १ व॰ ७ श्लो॰ ३) वीणा १, वल्लकी २, विपञ्ची

३ ये वीणा के नाम हैं।।३।। और "वीणावाद" शब्द वीणा बजानेवाले का वाचक है। क्योंकि लिखा है– **वीणावादास्तु वैणिकाः।।** (अमर० कां० २ व० १० श्लो० १३) वीणावाद १, वैणिक २ ये वीणा बजानेवाले के नाम हैं।।१३।। निषाद १, ऋषभ २, गान्धार ३, षड्ज ४, मध्यम ५, धैवत ६, पञ्चम ७ ये सात स्वर वीणा से उत्पन्न होते हैं। **षड्जं रौति मयूरस्तु गावो नर्दन्ति चर्षभम्। अजाविकौ च गान्धारं क्रौञ्चो नदति मध्यमम्।। पुष्पसाधारणे काले कोकिलो रौति पञ्चमम्। अश्वस्तु धैवतं रौति निषादं रौति कुञ्जरः।।** मोर षड्ज शब्द को बोलता है १, बैल ऋषभ शब्द को बोलता है, भेड़ बकरी गन्धार शब्द को बोलते हैं ३, क्रौञ्च पक्षी मध्यम स्वर को बोलता है ४, कोयल वसन्तकाल में पञ्चम स्वर को बोलती है ५, घोड़ा धैवत स्वर को बोलता है ६ और हस्ती निषाद स्वर को बोलता है ७ ऐसा प्रतिपादन किया गया है।।९।।

स यथाऽऽर्द्रैधाग्नेरभ्याहितात्पृथग्धूमा विनिश्चरन्ति । एवं वा अरे अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतत् । ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैव निश्वसितानि ।।१०।।

अन्वयार्थ– (सः) वह चौथा दृष्टान्त ऐसा है कि (यथा) जैसे (अभ्याहितात्) भलीभाँति ध्मान बीजनादि से प्रवर्तित (आर्द्रैधाग्नेः) गीले ईन्धन में जलती हुई अग्नि से (पृथक्) पृथक् नाना प्रकार (धूमाः) धूम (विनिश्चरन्ति) निकलते हैं (अरे) अरी मैत्रेयि (वै) निश्चय करके (एवम्) इसी प्रकार (अस्य) इस प्रकृत (महतः) नाम रूप गुण धामादि के द्वारा सबसे महान् (भूतस्य) भया हुआ परब्रह्म नारायण के (एतत्) यह वक्ष्यमाण विज्ञान शास्त्र (निःश्वसितम्) अनायास बिना प्रयत्न के श्वास के समान उत्पन्न हुआ है, वह कौन है सो आगे बतलाया जाता हे (ऋग्वेदः) ऋग्वेद (यजुर्वेदः) यजुर्वेद (सामवेदः) सामवेद (अथर्वाङ्गिरसः) अथर्ववेद (इतिहासः) महाभारतादि इतिहास (पुराणम्) विष्णु, पद्म आदि पुराण (विद्याः) देवविद्या आदिक (उपनिषदः) ईशादिक उपनिषद् (श्लोकाः) श्लोकबद्धपाञ्चरात्र (सूत्राणि) ब्रह्मसूत्र आदिक (अनुव्याख्यानानि) बोधायनवृत्ति आदिक और (व्याख्यानानि) व्याख्यान महाभाष्य आदिक (एव) निश्चय करके (अस्य) इस परब्रह्म नारायण के (निःश्वसितानि) निःश्वास हैं अर्थात् प्रयत्न विना ही निकले हैं ।।१०।।

विशेषार्थ– यह चौथा दृष्टान्त है कि जिस प्रकार फूत्कार व्यजनादि से प्रवर्तित गीली लकड़ियों में जलती हुई अग्नि से पृथक् यानी नाना प्रकार का धूआँ निकलता है उसी प्रकार अरी मैत्रेयि निश्चय करके इस महान् परब्रह्म नारायण के यह आगे कहा जाने वाला वेदादि शास्त्र बिना प्रयत्न के श्वास के समान उत्पन्न हुआ है। अर्थात् जिस प्रकार बिना प्रयत्न के ही पुरुष का नि:श्वास होता है उसी प्रकार परब्रह्म नारायण से समस्त पदार्थ उत्पन्न होते हैं । अग्नि ही धूमोत्पत्ति में निमित्त कारण है और इन्धन उपादान कारण है । कौन उत्पन्न हुआ है वह आगे बतलाया जाता है। परब्रह्म नारायण के नि:श्वसित ऋग्वेद के विषय में लिखा है– **एकविंशतिशाखायामृग्वेद: परिकीर्तित: ॥** (सीतोपनिषद्) **ऋग्वेदस्य तु शाखा: स्युरेकविंशति-संख्यका:॥** (मुक्तिको॰ अ॰ १ श्रु॰ १२) **एकविंशतिभेदेन ऋग्वेदं कृतवान्पुरा ॥** (कूर्मपु॰ अ॰ ४९ श्लो॰ ५१) **एकविंशतिधा बह्वृच्य: ॥** (महाभाष्य अ॰ १ पा॰ १ आह्नि॰ १) इक्कीस शाखा ऋग्वेद की हैं ।।१।। **तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था ॥** (पूर्वमी॰ अ॰ २ पा॰ १ सू॰ ३५) जिसमें अर्थवश से पाद की व्यवस्था होती है उसी को ऋग्वेद कहते हैं।।३५।। और परब्रह्म नारायण का नि:श्वसित यजुर्वेद है। यजुर्वेद के विषय में लिखा है– **शतं च नव शाखासु यजुषामेव जन्मनाम् ॥** (सीतोप॰) **नवाधिकशतं शाखा यजुषो मारुतात्मज ॥** (मुक्तिकोप॰ अ॰ १ श्रु॰ १२) हे पवनसुत यजुर्वेद की एक सौ नौ शाखाएँ हैंज।।१२।। **शुक्ल कृष्णमिति द्वेधा यजुश्चसमुदाहृतम् । शुक्लं वाजसनेयं तु कृष्णं स्यात्तैत्तिरीयकम् ॥** (प्रतिज्ञासूत्रभाष्य) शुक्ल और कृष्ण भेद से यजुर्वेद दो प्रकार का कहा गया है उनमें वाजसनेय शुल्कयजुर्वेद है और तैत्तिरीय कृष्णयजुर्वेद है ।। **यजुर्वेदमहाकल्पतरोरेकोत्तरं शतम् । शाखास्तत्र शिखाकारा दश पञ्चाथ शुक्लगा: ॥** (बृहन्नारदीय) यजुर्वेद महाकल्पतरु की १०१ शाखाएँ हैं उनमें शुक्ल्यजुर्वेद की शिखा के समान पन्द्रह शाखाएँ हैं ।। **शेषे यजु: शब्द: ॥** (पूर्वमी॰ २।१।३७) शेष में यजुर्वेद कहा जाता है ।।३७।। तथा परब्रह्म नारायण का निश्वसित सामवेद है । सामवेद के विषय में लिखा है – **साम्न: सहस्त्र शाखा: स्यु:** (सीतोप॰) **सहस्त्रसंख्यया जाता: शाखा: साम्न: परन्तप** (मुक्तिकोप॰ अ॰ १ श्रु॰ १३) **सामवेदं सहस्त्रेण शाखानां च विभेदत:** (कूर्मपु॰ अ॰ ४९ श्लो॰ ५१) **सहस्त्रवर्त्मा सामवेद:** (महाभाष्य॰ अ॰ १ पा॰ १ आह्नि॰ १) एक हजार शाखाएँ सामवेद की हैं।।१।। **गीतिषु सामाख्या** (पूर्वमी॰ अ॰ २ पा॰ १ सू॰ ३६) गान में सामवेद नाम होता है।।३६।। और परब्रह्म नारायण का नि:श्वसित अथर्व वेद है । अथर्व वेद के विषय में लिखा है– **अथर्वणस्य शाखा: स्यु: पञ्चाशद्भेदतो हरे** (मुक्तिकोप॰ अ॰ १ श्रु॰ १३) हे महावीर पचास शाखाएँ

अथर्व वेद की हैं ।।१३।। **आथर्वणमथो वेदं विभेद नवकेन तु** (कूर्मपु० अ० ४९ श्लो० ५२) **नवधा अथर्वण:** (महाभाष्य० अ० १ पा० १ आह्नि० १) पतञ्जलि महर्षि के समय में अथर्ववेद की नौ शाखाएँ प्राप्त होती थीं।।१।। **निगदो वा चतुर्थं स्याद्धर्मविशेषात्** (पूर्वमी० अ० २ पा० १ सू० ३८) विशेष धर्म होने से निगद ही चतुर्थ अथर्व वेद है।।३८।। वेद के उपवृंहण रूप पूर्वचरितकथा प्रसङ्गात्मक भगवदंशवाल्मीकि, वेदव्यास आदि ऋषियों के प्रकाशित श्रीरामायण और महाभारत इतिहास परब्रह्मनारायण के नि:श्वसित हैं । सूत्र स्मृति इतिहास पुराण यद्यपि महर्षिप्रसादित हैं तथापि महर्षियों के भगवदंश होने से भगवान्के हीनि:श्वसित सब हैं। इतिहास के विषय में लिखा है– **इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् । विभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रतरिष्यति** (महाभार० आदिप० १अ० १ श्लो० ६७) इतिहास और पुराण से वेद को उपबृंहण करे, अल्पश्रुत से वेद डरता है कि यह मुझको ठगेगा ।।६७।। **सप्तद्वीपा** (महाभाष्य० अ० १ पा० १ आह्नि० १) इस महाभाष्य की प्रदीप टीका में लिखा है– **पूर्वचरितसंकीर्तनमितिहास:** (प्रदीप १।१।१) पूर्वचरित जिसमें संकीर्तन हो उसको इतिहास कहते हैं।।१।। इतिहासों में श्रीरामायण श्रेष्ठ है। क्योंकि लिखा है– **इतिहासश्रेष्ठेन श्रीरामायणेन कारागृहवासकर्त्र्या वैभव उच्यते** (श्रीवचनभूष० सू० ५) इतिहासों में श्रेष्ठ श्रीवाल्मीकिकृत रामायण से कारागार में निवास करने वाली महालक्ष्मी जी का वैभव कहा जाता है ।५। **नास्ति रामायणात्परम् ॥** (स्कन्दपु० उत्तर खं० रामायणमा० अ० ५ श्लो० २१) श्री रामायण से श्रेष्ठ कोई इतिहास नहीं है ।।२१।। **वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे । वेद: प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥** (मूलरामा० श्लो० १०) जैसे वेद से जानने योग्य परमात्मा संसारी चेतनों की रक्षा के लिये दशरथ महाराज के पुत्र रूप से मनुष्यावतार धारण करते हैं वैसे ही श्रीरामावतार के गुणचेष्टितों के कथन द्वारा श्रीरामभद्र में प्रेम कराने के लिये वेद रामायणावतार वाल्मीकि महर्षि से धारण करता है ।।१०।। इससे सिद्ध होता है कि सब इतिहासों में श्रीरामायण श्रेष्ठ है । महाभारत के विषय में लिखा है– **वेदानध्यापयामास महाभारतपञ्चमान् ॥** पाँचवें महाभारत वेद को पढ़ाया **महत्त्वाद्भारवत्वाच्च महाभारतमुच्यते ॥** (महाभा० आदिप० १ श्लो० ७४) सब से महान् होने से और भारवाला होने से इसको सबलोग महाभारत कहते हैं ।।७४।। और परब्रह्म नारायण के नि:श्वसित पुराण हैं, पुराण के विषय में लिखा है– **पुराणं न्यायमीमांसा धर्मशास्त्राङ्गमिश्रिता: । वेदा: स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥** (याज्ञ० स्मृ० अ० १ श्लो० ३) पुराण, न्याय,मीमांसा, धर्मशास्त्र और छ: अङ्गों सहित चारो वेद ये चौदह विद्या तथा धर्म के स्थान हैं ।।३।।

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्च लक्षणम् ॥ (विष्णु॰) सृष्टि की उत्पत्ति १, प्रलय २, वंशवर्णन ३, मन्वन्तर वर्णन ४, वंशानुचरित ५ ये पुराण के पाँच लक्षण हैं। जिसमें ये पाँच लक्षण हों वह पुराण कहलाता है। अठारह महापुराण हैं । उनका नाम श्रीमद्भागवत में स्पष्ट लिखा है – **ब्राह्मं पाद्मं वैष्णवं च शैवं लैङ्गं सगारुडम् । नारदीयं भागवतमाग्नेयं स्कन्दसंज्ञितम् ॥** (श्रीमद्भा॰ पु॰ स्कं॰ १२ अ॰ ७ श्लो॰ २३) **भविष्यं ब्रह्मवैवर्तं मार्कण्डेयं सवामनम् । वाराहं मात्स्यं कौर्मं च ब्रह्माण्डाख्यमिति त्रिषट् ॥२४॥** ब्रह्मपुराण १, पद्मपुराण २, विष्णु पुराण ३, शिवपुराण ४, लिङ्गपुराण ५, गरुडपुराण ६, नारदपुराण ७, श्रीमद्भागवतपुराण ८, अग्निपुराण १० ॥२३॥ भविष्यपुराण ११, ब्रह्मवैवर्तपुराण १२, मार्कण्डेयपुराण १३, वामनपुराण १४, वराहपुराण १५, मत्स्यपुराण १६, कूर्मपुराण १७ और ब्रह्माण्डपुराण १८ ये अठारह महापुराण हैं ॥२४॥ **वैष्णवं नारदीयं च तथा भागवतं शुभम् । गारुडं च तथा पाद्मं वाराहं शुभदर्शने। षडेतानि पुराणानि सात्विकानि मतानि मे॥** (पद्मपुरा॰ उत्तरखं॰ ६) हे शुभदर्शने विष्णुपुराण १, नारदपुराण २, श्रीमद्भागवत पुराण ३, गरुडपुराण ४, पद्मपुराण ५ और वराहपुराण ६ ये छः महापुराण सात्विक हैं, यह मेरा मत है । **ब्रह्माण्डं ब्रह्मवैवर्तं मार्कण्डेयं तथैव च । भविष्यं वामनं ब्राह्मं राजसानि निबोध मे ॥** (पद्मपु॰ उत्तरखं॰ ६) ब्रह्ममाण्डपुराण १, ब्रह्मवैवर्तपुराण २, मार्कण्डेय पुराण ३, भविष्यपुराण ४, वामनपुराण ५ और ब्रह्मपुराण ६ ये छः महापुराण राजस हैं यह मुझसे तुम जानो ॥६॥ **मात्स्यं कौर्मं तथा लैङ्गं शैवं स्कान्दं तथैव च। आग्नेयं च षडेतानि तामसानि निबोध मे॥** (पद्मपु॰ उत्तरखं॰ ६) मत्स्यपुराण १, कूर्मपुराण २, लिङ्गपुराण ३, शिवपुराण ४, स्कन्दपुराण ५ और अग्निपुराण ६ ये छः महापुराण तामस हैं यह मुझसे तुम जानो॥६॥ तथा परब्रह्म नारायण के निःश्वसित संपूर्ण देव विद्या आदिक हैं। विद्या के विषय में लिखा है– **देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्याम् एतद्भगवोऽध्येमि ॥** (छां॰ उ॰ प्रपा॰ ७ खं १ श्रु॰ २) देवता के उपासना प्रकार की विद्या को तथा वेदाङ्गभूत शिक्षा, निरुक्त, कल्प, छन्द आदिक विद्या को और वशीकरणविद्या को तथा धनुर्विद्या को और अश्विनी, भरणी आदि नक्षत्रविद्या को और सर्पविद्या यानी गरुडविद्या को नृत्य गीतवाद्य आदि गान्धर्व शास्त्र को और जन विद्या यानी आयुर्वेद को हे पूज्यपाद भगवन् यह संपूर्ण विद्यास्थान को मैं जानता हूँ॥२॥ इस श्रुति में वर्णित समस्त विद्याओं का यहाँ ग्रहण होता है । क्योंकि लिखा है– **त्यक्तानुबन्धग्रहणे सामान्यस्य ग्रहणम् ॥** (महाभाष्य) त्यक्त अनुबन्ध के ग्रहण से सामान्य यानी समस्त का ग्रहण होता है । तथा

परब्रह्मनारायण के निःश्वसित सब उपनिषद् हैं । उपनिषद् के विषय में लिखा है– **एकैकस्यास्तु शाखाया एकैकोपनिषन्मता । तासामेकामृचं यश्च पठते भक्तितो मयि ॥** (मुक्ति० उ० अ० १ श्रु० १४) **स मत्सायुज्यपदवीं प्राप्नोति मुनिदुर्लभाम् ॥१५॥** मुक्तिकोपनिषद् में लिखा है कि ऋग्वेद की इक्कीस शाखाएँ हैं और यजुर्वेद की एक सौ नौ शाखाएँ हैं तथा सामवेद की हजार शखाएँ हैं और अथर्ववेद की पचास शाखाएँ हैं। एक-एक शाखा की एक-एक उपनिषद् मानी गयी है जो व्यक्ति उन उपनिषदों के एक भी मंत्र का भक्तिपूर्वक पाठ करता है ।।१४।। वह व्यक्ति मुनियों के लिए भी दुर्लभ मेरी सायुज्य मुक्ति को प्राप्त करता है ।।१५।। इसके अनुसार ११८० एक हजार एक सौ अस्सी उपनिषद् हैं । **विदेहमुक्ताविच्छा चेदष्टोत्तरशतं पठ ॥** (मुक्ति० उ० अ० १ श्रु० २९) **शरीर छोड़ने के बाद मुक्त होना चाहते हो तो एक सौ आठ उपनिषदों का पाठ करो ॥२९॥ ईश केन कठ प्रश्न मुण्ड माण्डूक्य तित्तिरिः। ऐतरेयं च छान्दोग्यं बृहदारण्यकं तथा ॥३०॥ ब्रह्मकैवल्यजाबाल श्वेताश्वो हंस आरुणिः। गर्भो नारायणो हंसो बिन्दुर्नादशिरः शिखा॥३१॥ मैत्रायणी कौषीतकी वृहज्जाबालतापनी । कालाग्निरुद्रमैत्रेयी सुबालक्षुरिमंत्रिका ॥३२॥ सर्वसारं निरालम्बं रहस्यं वज्रसूचिकम् । तेजो-नाद-ध्यान विद्या योगतत्त्वात्मबोधकम् ॥३३॥ परिव्राट् त्रिशिखी सीता चूडानिर्वाणमण्डलम् । दक्षिणा शरभं स्कन्दं महा नारायणाह्वयम् ॥३४॥ रहस्यं रामतपनं वासुदेवं च मुद्गलम् । शाण्डिल्यं पैङ्गलं भिक्षु महच्छारीरकं शिखा ॥३५॥ तुरीयातीतसंन्यास परिव्राजाक्षमालिका । अव्यक्तैकाक्षरं पूर्णा सूर्याक्ष्यध्यात्म कुण्डिका ॥३६॥ सावित्र्यात्मा पाशुपतं परं ब्रह्मावधूतकम् । त्रिपुरा तपनं देवी त्रिपुरा कठभावना । हृदयं कुण्डली भस्म रुद्राक्षगण दर्शकम् ॥३७॥ तारसारमहावाक्य प ञ्च ब्रह्माग्निहोत्रकम् । गोपालतपनं कृष्णं याज्ञवल्क्यं वराहकम् ॥३८॥ शाट्यायनी हयग्रीवं दत्तात्रेयं च गारुडम् । कलि-जाबालि-सौभाग्य-रहस्य ऋच मुक्तिका ॥३९॥ एवमष्टोत्तरशतं भावनात्रयनाशनम् । ज्ञानवैराग्यदं पुंसां वासनात्रयनाशनम् ॥४०॥** ईशोपनिषद् १, केनोपनिषद् २, कठोपनिषेद् ३, प्रश्नोपनिषद् ४, मुण्डकोपनिषद् ५, माण्डूक्योपनिषद् ६, तैत्तिरीयोपनिषद् ७ ऐतरेयोपनिषद ८, छान्दोग्योपनिषद् ९, बृहदारण्यकोपनिषद १०, ।।३०।। ब्रह्मोपनिषद् ११, कैवल्योपनिषद् १२, जाबालोपनिषद् १३, श्वेताश्वतरोपनिषद १४, हंसोपनिषद् १५, आरुणिकोपनिषद् १६, गर्भोपनिषद् १७, नारायणोपनिषद १८, परमहंसोपनिषद् १९, अमृतबिन्दूपनिषद् २०, अमृतनादोपनिषद् २१, अथर्वशिर-उपनिषद् २२, अथर्वशिखोपनिषद् २३, ।।३१।। मैत्रायण्युपनिषद

२४, कौषीतकीब्राह्मणोपनिषद् २५, बृहज्जाबालोपनिषद् २६, नृसिंहतापिन्युपनिषद् २७, कालाग्निरुद्रोपनिषद् २८, मैत्रेय्युपनिषद् २९, सुबालोपनिषद् ३०, क्षुरिकोपनिषद् ३१, मंत्रिकोपनिषद् ३२, ।।३२।। सर्वसारोपनिषद् ३३, निरालम्बोपनिषद् ३४, शुकरहस्योपनिषद् ३५, वज्रसूचिकोपनिषद् ३६, तेजोबिन्दूपनिषद् ३७, नादबिन्दूपनिषद् ३८, ध्यानबिन्दूपनिषद् ३९, ब्रह्मविद्योपनिषद् ४०, योगतत्त्वोपनिषद् ४१, आत्मप्रबोधोपनिषद् ४२।।३३।। नारदपरिव्राजकोपनिषद् ४३, त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् ४४, सीतोपनिषद् ४५, योगचूडामण्युपनिषद् ४६, निर्वाणोपनिषद् ४७, मण्डलब्राह्मणोपनिषद् ४८, दक्षिणामूर्त्यूपनिषद् ४९, शरभोपनिषद् ५०, स्कन्दोपनिषद् ५१, त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोपनिषद् ५२।।३४।। अद्वयतारकोपनिषद् ५३, रामरहस्योपनिषद् ५४, रामतापिन्युपनिषद् ५५, वासुदेवोपनिषद् ५६, मुद्गलोपनिषद् ५७, शाण्डिल्योपनिषद् ५८, पैङ्गलोपनिषद् ५९, भिक्षुकोपनिषद् ६०, महोपनिषद् ६१, शारीरकोपनिषद् ६२, योगशिखोपनिषद् ६३।।३५।। तुरीयातीतोपनिषद् ६४, संन्यासोपनिषद् ६५, परहंसपरिव्राजकोपनिषद् ६६, अक्षमालोपनिषद् ६७, अव्यक्तोपनिषद् ६८, एकाक्षरोपनिषद् ६९, अन्नपूर्णोपनिषद् ७०, सूर्योपनिषद् ७१, अक्ष्युपनिषद् ७२, अध्यात्मोपनिषद् ७३, कुण्डिकोपनिषद् ७४।।३६।। सावित्र्युपनिषद् ७५, आत्मोपनिषद् ७६, पाशुपतोपनिषद् ७७, परब्रह्मोपनिषद् ७८, अवधूतोपनिषद् ७९, त्रिपुरातापिन्युपनिषद् ८०, देव्युपनिषद् ८१; त्रिपुरोपनिषद् ८२, कण्ठरुद्रोपनिषद् ८३, भावनोपनिषद् ८४, रुद्रहृदयोपनिषद् ८५, योगकुण्डल्युपनिषद् ८६, भस्मजाबालोपनिषद् ८७, रुद्राक्षजाबालोपनिषद् ८८, गणपत्युपनिषद् ८९, जाबालदर्शनोपनिषद् ९०।।३७।। तारसारोपनिषद् [illegible], महावाक्योपनिषद् ९२, पञ्चब्रह्मोपनिषद् ९३, प्राणाग्निहोत्रोपनिषद् ९४, गोपालतापिन्युपनिषद् ९५, कृष्णोपनिषद् ९६, याज्ञवल्क्योपनिषद् ९७, वराहोपनिषद् ९८।।३८।। शाट्यायनीयोपनिषद् ९९, हयग्रीवोपनिषद् १००, दत्तात्रेयोपनिषद् १०१, गरुडोपनिषद् १०२, कलिसंतरणोपनिषद् १०३, जाबाल्युपनिषद् १०४, सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद् १०५, सरस्वतीरहस्योपनिषद् १०६, बह्वृचोपनिषद् १०७, मुक्तिकोपनिषद् १०८।।३९।। ये एक सौ आठ उपनिषदें मनुष्य के आधिदैविक आधिभौतिक और आध्यात्मिक तीनों तापों का नाश करती हैं और इनके पाठ तथा स्वाध्याय से ज्ञान और वैराग्य की प्राप्ति होती है तथा लोकवासना, शास्त्रवासना एवं देहवासना रूप त्रिविध वासनाओं का नाश होता है ।।४०।। एक सौ आठ उपनिषदों से अतिरिक्त मुद्रित अधोलिखित उपनिषदें प्राप्त होती हैं । अद्वैतोपनिषद् १, अद्वैतभावनोपनिषद् २, अनुभवसारोपनिषद् ३,अमनस्कोपनिषद् ४, अरुणोपनिषद् ५, अल्लोपनिषद् ६, आचमनोपनिषद् ७, आत्मपूजोपनिषद् ८, आथर्वणाद्वितीयोपनिषद् ९, आयुर्वेदोपनिषद् १०, आरुणेय्युपनिषद् ११,

आर्षेयोपनिषद् १२, आश्रमोपनिषद् १३, इतिहासोपनिषद् १४, ऊर्ध्वपुण्ड्रोपनिषद् १५, कण्ठोपनिषद् १६, कठश्रुत्युपनिषद्, १७ कात्यायनोपनिषद् १८, कामराजकीलितौद्धारोपनिषद् १९, कालिकोपनिषद् २०, कालीमेधादीक्षितोपनिषद् २१, कौलोपनिषद् २२, गणपत्यथर्वशीर्षोपनिषद् २३, गणेशपूर्वतापिन्युपनिषद् २४, गरोशोत्तरतापिन्युनिषद् २५, गान्धर्वोपनिषद् २६, गायत्र्युपनिषद् २७, गायत्रीरहस्योपनिषद् २८, गुह्यकाल्युपनिषद् २९, गुह्यषोढान्यासोपनिषद् ३०, गोपीचन्दनोपनिषद् ३१, चतुर्वेदोपनिषद् ३२, चाक्षुषोपनिषद् ३३, चित्युपनिषद् ३४, छागलेयोपनिषद् ३५, जाबाल्युपनिषद् ३६, तारोपनिषद् ३७, तुरीयोपनिषद् ३८, तुलस्युपनिषद् ३९, त्रिपुरामहोपनिषद् ४०, त्रिसुपर्णोपनिषद् ४१, दत्तोपनिषद् ४२, दुर्वासोपनिषद् ४३, द्वयोपनिषद् ४४, नारदोपनिषद् ४५, नारायणपूर्वतापिन्युपनिषद् ४६, नारायणोत्तरतापिन्युपनिषद् ४७, निरुक्तोपनिषद् ४८, नीलरुद्रोपनिषद् ४९, नृसिंहषट्चक्रोपनिषद् ५०, परमात्मिकोपनिषद् ५१, पारायणोपनिषद् ५२, पिण्डोपनिषद् ५३, पीताम्बरोपनिषद् ५४, पुरुषसूक्तोपनिषद् ५५, प्रणवोपनिषद् ५६, बटुकोपनिषद् ५७, बाष्कलमंत्रोपनिषद् ५८, विल्वोपनिषद् ५९, भगवद्गीतोपनिषद् ६०, भवसंतरणोपनिषद् ६१, भाल्लवीयब्रह्मणोपनिषद् ६२, मठाम्नायोपनिषद् ६३, मल्लय्युपनिषद् ६४, मृत्युलाङ्गूलोपनिषद् ६५, यज्ञोपवीतोपनिषद् ६६, योगराजोपनिषद् ६७, योगोपनिषद् ६८, राजश्यामलारहस्योपनिषद् ६९, राधिकोपनिषद् ७०, राधोपनिषद् ७१, रुद्रोपनिषद् ७२, लक्ष्म्युपनिषद् ७३, लाङ्गूलोपनिषद् ७४, लिङ्गोपनिषद् ७५, वज्रपञ्जरोपनिषद् ७६, वनदुर्गोपनिषद् ७७, विश्रामोपनिषद् ७८, विष्णुहृदयोपनिषद् ७९, शिवसङ्कल्पोपनिषद् ८०, शिवोपनिषद् ८१, शौनकोपनिषद् ८२, श्यामोपनिषद् ८३, श्रीकृष्णपुरुषोत्तमसिद्धान्तोपनिषद् ८४, श्रीचक्रोपनिषद् ८५, श्रीविद्यातारकोपनिषद् ८६, षोढोपनिषद् ८७, सङ्कर्षणोपनिषद् ८८, सदानन्दोपनिषद् ८९, सन्ध्योपनिषद् ९०, संहितोपनिषद् ९१, सामरहस्योपनिषद् ९२, सिद्धान्तविट्ठलोपनिषद् ९३, सिद्धान्तशिखोपनिषद् ९४, सिद्धान्तसारोपनिषद् ९५, सुदर्शनोपनिषद् ९६, सुमुख्युपनिषद् ९७, सूर्यतापिन्युपनिषद् ९८, स्वसंवेद्योपनिषद् ९९, हंसषोढोपनिषद् १००, हेरम्बोपनिषद् १०१ और—

उपनिभ्यां सदेर्धातोः क्विपि चोपनिषन्मता । अनया ब्रह्म सामिप्यमुपवेष्टुं हि साधकाः। अर्हा भवन्ति क्षिप्रं यत् तेनैवोपनिषन्मता " षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु" धातु के पहले "उप" और "नि" ये दो उपसर्ग और अन्त में "क्विप्" प्रत्यय लगाने से "उपनिषद्" शब्द बनता है। "उप निषद्यते

ब्रह्म प्राप्यते अन्या इति उपनिषद्'' इस व्युत्पत्ति से इसका यह अर्थ है कि– परब्रह्म के पास में निश्चय करके साधक जिससे जा सके वह उपनिषद् है। उपनिषद् को ही वेदान्त या अध्यात्मविद्या अथवा ब्रह्मविद्या या रहस्य कहते हैं । अथवा ''उप'' समीप ''निषद्'' निषीदति–बैठने वाला जो उस परब्रह्म के समीप बैठाकर चुपचाप स्वयं भी बैठजाता है वह उपनिषद् है । अथवा शब्दस्तोम महानिधि कहता है '' उपनिषद्यते प्राप्यते ब्रह्मविद्या अन्या इति । उप+नि+षद्+क्विप्'' ब्रह्मविद्या जिससे प्राप्त हो उसे उपनिषद् कहते हैं । अथवा ''य इमां ब्रह्मविद्यामुपयन्त्यात्मभावेन श्रद्धाभक्तिपुरःसराः सन्तस्तेषां गर्भजन्मजरारोगाद्यनर्थपूगं निशातयति परं वा ब्रह्म गमयति अविद्यादिसंसारकारणञ्चात्यन्तमवसादयति विनाशयत्युपनिषद् । उप+नि पूर्वस्य षदेरेवमर्थस्मरणात्'' **यद्वा सामीप्यमायातां सर्वभावेन वै नृणाम् । शिथिलयति दुःखानां समूहं प्रथमं यतः ॥ अविद्याहेतुकान् क्लेशान् निषादयति तत्क्षणात् । ततो गमयति ब्रह्म तेन सोपनिषन्मता ॥** जो कोई मनुष्य श्रद्धा और भक्ति से संयुक्त होकर अत्यन्त प्रेम के साथ इस ब्रह्मविद्या के निकट आते हैं उनके गर्भ जन्म जरा रोगादि अनर्थ समूहों को शिथिल करती है अथवा उनको परब्रह्म में मिलाती है और उनके अविद्यादि संसार कारण को अत्यन्त विनष्ट कर देती है, इस कारण से इस ब्रह्मविद्या का नाम उपनिषद् है । अर्थात् ''उप'' शब्द का अर्थ समीप । ''नि'' का अर्थ अत्यन्त और ''षद्'' धातु के विशरण = शिथिल करना, गति = गमन, अवसादन = नाश करना ये तीन अर्थ हैं। अतः संपूर्ण उपनिषद् शब्द का यह अर्थ हुआ कि जो जिज्ञासु ''उप'' इस ब्रह्मविद्या के समीप श्रद्धा और भक्ति से पहुँचता है। उसके क्लेशों को, ''निशातयति'' अत्यन्त शिथिल कर देती है। अथवा ''उप'' जो इसके समीप आता है उसको ''ब्रह्म+गमयति'' ब्रह्म के समीप ले जाती है और अविद्यादि संसार कारण को ''नि'' अत्यन्त ''अवसादयति'' विनष्ट कर देती है। यह पूर्वोक्त वाक्य का भाव है। अथवा ॥ **उपनीयेममात्मानं ब्रह्मापास्त द्वयं पुनः। निहन्त्यविद्यां तज्जञ्च तस्मादुपनिषन्मता ॥** जो परब्रह्म नारायण के समीप में इस जीवात्मा को पहुँचा कर अविद्या को तथा अविद्यामूलकतापों को नाश करे उसे उपनिषत् कहते हैं।। और परब्रह्म नारायण का श्लोकबद्ध पञ्चरात्र आगम निःश्वसित है। श्लोक का लक्षण लिखा है– **श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं सर्वत्र लघु पञ्चमम् । द्विचतुष्पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः** (श्रुतबोध० श्लो० १०) जिसके प्रथम और तृतीय चरण में सप्तम वर्ण दीर्घ हो तथा द्वितीय

और चतुर्थ चरण में सप्तमवर्ण ह्रस्व हो और चारो चरणों में पाँचवाँ वर्ण ह्रस्व तथा छठवाँ वर्ण दीर्घ हो उस छन्द को श्लोक यानी अनुष्टुप् कहते हैं॥१०॥ यहाँ पर ''श्लोक'' शंब्द से श्लोक छन्द वाला पञ्चरात्र आगम अर्थ होता है। क्योंकि लिखा है– **पञ्चरात्रस्य कृत्स्नस्य वक्ता नारायणः स्वयम्** (महाभा० शान्तिप० मोक्ष० अध्या० ३५० श्लो० ६७) समस्त पञ्चरात्र के वक्त स्वयं परब्रह्म नारायण हैं॥६७॥ **श्वेतद्वीपे पुरा विष्णुं क्षीरसागरशायिनम्। ब्रह्माद्याः देवताः सर्वे मुनयश्च तपोधनाः** (शाण्डिल्यसंहि० अंश १ अध्या० ४ श्लो० ५४) **समाराध्य महात्मानो भक्त्या परमया विभुम्। ऋचां च यजुषां चापि साम्नामाङ्गिरसामपि ॥५५॥ सांख्यानामपि योगानां सर्वोपनिषदां गिराम्। सर्वेषामपि शास्त्राणां सारभूतं हरेः प्रियम् ॥ ५६॥ रहस्यं पञ्चरात्राख्यं काले कालेऽभिलेभिरे ॥५७॥** ब्रह्मादिक समस्त देवता और तपोधन सब मुनिलोग पहले श्वेतद्वीप में क्षीरसागर में सोने वाले विष्णु भगवान् को॥५४॥ परा भक्ति से वे महात्मा सब सम्यक् आराधन करके ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद के॥५५॥ और सांख्य के तथा योग के और समस्त उपनिषदों की सूक्तियों के तथा सम्पूर्ण शास्त्रों के सारभूत और परब्रह्म नारायण के प्रिय ॥५६॥ पञ्चरात्र नाम के रहस्य ग्रन्थ को समय समय पर नारायण से प्राप्त किये ॥ ५७॥ **इदं महोपनिषदं चतुर्वेदसमन्वितम्। सांख्ययोगकृतान्तेन पञ्चरात्रानुशब्दितम्** (महाभार० शान्तिप० अ० ३३८ श्लो० १११) यह महांन् सबसे श्रेष्ठ परब्रह्म नारायण के पास में निश्चय करके पहुँचाने वाला महोपनिषद् चार वेदों से युक्त और सांख्य योग कृतान्त से समन्वित पञ्चरात्र शब्द से कहा जाता है ॥ १११॥ **नारायणमुखोद्गीतं नारदोऽश्रावयत्पुनः** (महाभार० शान्तिप० अ० ३३९) नारायण के मुखारविन्द से गाया हुआ पञ्चरात्रतन्त्र को नारद ने फिर से सिद्ध महानुभावों से सुनाया ॥३३९॥ **पञ्चायुधांशास्ते पञ्च शाण्डिल्यश्चौपगायनः। मौञ्जायनः कौशिकश्च भारद्वाजश्च योगिनः** (ईश्वरसंहि० अध्या० २१ श्लो० ५१९) **पञ्चापि पृथगेकैकं दिवारात्रं जगत्प्रभुः। अध्यापयामास यतस्तदेतन्मुनिपुङ्गवाः ॥५३१॥ शास्त्रं सर्वजनैर्लोके पञ्चरात्रमितीर्यते ॥५३२॥** पञ्चायुध के अंश वे पाँच शाण्डिल्य १, ओपगायन २, मौञ्जायन ३, कौशिक ४ और भारद्वाज ५ योगी हुए ॥५१९॥ वे अपने कठिन तप से वासुदेव भगवान् को सन्तुष्ट किये। तदनन्तर जगत् प्रभु भगवान् वासुदेव उन पूर्वोक्त पांचों योगियों को अलग अलग एक एक दिन रात पढ़ाये ॥५३१॥ इसी कारण से लोक में इस भगवत् शास्त्र को सब जन पञ्चरात्र

इस नाम से कहते हैं ॥५३२॥ **पञ्चेतराणि शास्त्राणि रात्रीयन्ते महान्त्यपि । तत्सन्निधौ समाख्यासौ तेन लोके प्रवर्तते** (पाद्मसंहि० ज्ञा० अ० १) जिसकी सन्निधि में सांख्य १, योग २, न्याय ३, वैशेषिक ४ और मीमांसा ५ ये पाँच महान् शास्त्र को रात के समान आचरण करते हैं उस कारण से उस भगवत शास्त्र को लोक में पञ्चरात्र ऐसा नाम होता है ॥१॥ **एवमेकं सांख्ययोगं वेदारण्यकमेव च । परस्पराङ्गान्येतानि पञ्चरात्रं तु कथ्यते** (महाभार० शान्तिप० मोक्ष० अ० ३३९ श्लो० ८१) सांख्य और योग तथा वेद और आरण्यक ये परस्पर अङ्गभूत एकतत्व प्रतिपादन परक होने से एकी भूत इस प्रकार के एक पञ्चरात्र ऐसा कहा जाता है ॥८१॥ **तन्त्रेऽप्यष्टोत्तरशते पारमेश्वरसंहिता । पौष्करार्थविवृत्यर्था व्याख्यारूपावतारिता ॥** (जयासं० पा० १ श्लो० ६) एक सौ आठ सहिंतावाले पाञ्चरात्रतंत्र में पौष्करसंहिता के अर्थ विवरण करने के लिये व्याख्यारूप से पारमेश्वरसंहिता उत्पन्न हुई है॥६॥ एक सौ आठ संहिताओं का नाम "पद्मसंहिता" के कण्व सम्बर्त संवाद में स्पष्ट लिखा है। **पाद्मं पद्मोद्भवं मायां-वैभवं नकूलवरम्। त्रैलोक्यमोहनं विष्णुतिलकं पुरमाह्वयम् ॥** पाद्मसंहि० ॥१॥ **नारदीयं धनदीयं वाशिष्ठं पौष्कराह्वयम्। सनत्कुमारं सनकं सत्याख्यं कण्वसंहिता ॥२॥ सनन्दाख्यं महीप्रश्नं श्रीप्रश्नं पुरुषोत्तमम् । माहेन्द्रसंहिता पञ्चप्रश्नाख्यं तत्त्वसागरम् ॥३॥ वागीशं शाश्वतं तेजो द्रविणं श्रीकराह्वयम् । सांवर्तं विष्णुसद्भावं सिद्धान्तं विष्णुपूर्वकम् ॥४॥ विष्णुतत्त्वं च कौमारं रहस्यं विष्णुपूर्व-कम् । विष्णुवैभविकम् सौरं सौम्यमीश्वरसंहिता ॥५॥ अनन्ताख्यं भागवतं जयाख्यं मूलसंहिता । पुष्टितन्त्रं शैनकीयं मारीचं दक्षसंहिता ॥६॥ औपेन्द्रं योगहृदयम् हारीतं पारमेश्वरम् । आत्रेयं मन्दरं विष्वक्सेनमौशनसाह्वयम् ॥७॥ वैहायसं विहगेन्द्रं भार्गवं परपूरुषम् । याज्ञवल्क्यं गौतमीयं पौलस्त्यं शाकटाह्वयम् ॥८॥ ज्ञानार्णवं जामदग्न्यं याम्यं नारायणात्मकम् । पाराशर्यञ्जाबालं कापिलं वामनाह्वयम्॥९॥ जयोत्तरं बार्हस्पत्यं जैमिनं सात्वताह्वयम॥ कात्यायनं वाल्मीकमौपगायनसंहिता ॥१०॥ हैरण्यगर्भमागस्त्यं कार्ष्ण्यं बौधायनाह्वयम् । भारद्वाजं नारसिंहं गार्ग्यमुत्तरपूर्वकम् ॥११॥ शातातपमाङ्गिरसं काश्यपं पैङ्गलाह्वयम् । त्रैलोक्यविज[illegible] योगवित्ताख्यं चैव वारुणम् ॥१२॥ कृष्णाचामरमाग्नेयं मार्कण्डेयस्य संग्रहः । महासनत्कुमाराख्यं व्यासाख्यं विष्णुसंहिता ॥१३॥ संहिता चाहिर्बुध्न्यस्य ब्रह्मन्त्राद्यैव संहिता । संवादं शुकरुद्राभ्यामुमामाहेश्वराह्वयम् ॥१४॥ दत्तात्रेयञ्च शर्वाख्यं**

वाराहमिहिराह्वयम्। सङ्कर्षणाख्यं प्रद्युम्नसंहिता कर्कसंहिता ॥१५॥ प्राचेतसाख्यमित्येताः शतमष्टोत्तरं स्मृतम् ॥१६॥ पाद्मसंहिता १, पद्मोद्भवसंहिता २, मायावैभवसंहिता ३, नकुलवरसंहिता ४, त्रैलोक्यमोहनसंहिता ५, विष्णुतिलकसंहिता ६, परमसंहिता ७ ॥१॥ नारदीयसंहिता ८, धनदीयसंहिता ९, वशिष्ठसंहिता १०, पौष्करसंहिता ११, सनत्कुमारसंहिता १२, सनकसंहिता १३, सत्यसंहिता १४, कण्वसंहिता १५ ॥२॥ सनन्दसंहिता १६, महीप्रश्नसंहिता १७, श्रीप्रश्नसंहिता १८, पुरुषोत्तमसंहिता १९, माहेन्द्रसंहिता २०, प्रश्नप्रश्नसंहिता २१, तत्त्वसागरसंहिता २२ ॥३॥ वागीशसंहिता २३, शाश्वतसंहिता २४, तेजस्संहिता २५, द्रविरासंहिता २६, श्रीकरसंहिता २७, सांवर्तसंहिता २८, विष्णुसद्भावसंहिता २९, सिद्धान्तसंहिता ३०, विष्णुपूर्वकसंहिता ३१ ॥४॥ और विष्णुतत्त्वसंहिता ३२, कौमारसंहिता ३३, रहस्यसंहिता ३४, विष्णुपूर्वसंहिता ३५, विष्णुवैभविक संहिता ३६, सौरसंहिता ३७, सौम्यसंहिता ३८, ईश्वरसंहिता ३९, ॥५॥ अनन्तसंहिता ४०, भागवतसंहिता ४१, जयासंहिता ४२, मूलसंहिता ४३, पुष्टितंत्रसंहिता ४४, शौनकीयसंहिता ४५, मारीचसंहिता ४६, दक्षसंहिता ४७ ॥६॥ औपेन्द्रसंहिता ४८, योगहृदयसंहिता ४९, हारीतसंहिता ५०, पारमेश्वरसंहिता ५१, आत्रेयसंहिता ५२, मन्दरसंहिता ५३, विष्वक्सेनसंहिता ५४, औशनससंहिता ५५॥७॥ वैनायससंहिता ५६, विहगेन्द्रसंहिता ५७, भार्गवसंहिता ५८, परपुरुषसंहिता ५९, याज्ञवल्क्यसंहिता ६०, गौतमीयसंहिता ६१, पौलस्त्यसंहिता ६२, शाकटसंहिता ६३ ॥८॥ ज्ञानार्णवसंहिता ६४, जामदग्न्यसंहिता ६५, साम्यसंहिता ६६, नारायणात्मकसंहिता ६७, पाराशर्यसंहिता ६८, जाबालसंहिता ६९, कापिलसंहिता ७०, वामनसंहिता ७१ ॥९॥ जयोत्तरसंहिता ७२, बार्हस्पत्यसंहिता ७३, जैमिनसंहिता ७४, सात्वतसंहिता ७५, कात्यायनसंहिता ७६, वाल्मीकसंहिता ७७, औपगायनसंहिता ७८ ॥१०॥ हैरण्यगर्भसंहिता ७९, आगस्त्यसंहिता ८०,, काष्ण्यर्संहिता ८१, बौधायनसंहिता ८२, भारद्वाजसंहिता ८३, नारसिंहसंहिता ८४, गार्ग्यसंहिता ८५, उत्तरगार्ग्यसंहिता या उत्तरपूर्वसंहिता ८६ ॥११॥ शातातपसंहिता ८७, आङ्गिरससंहिता ८८, काश्यपसंहिता ८९, पैङ्गलसंहिता ९०, त्रैलोक्यविजयसंहिता ९१, योगवित्तसंहिता ९२ और वारुरासंहिता ९३ ॥१२॥ कृष्णाचामरसंहिता ९४, आग्नेयसंहिता ९५, मार्कराडेयसंग्रहसंहिता ९६, महासनत्कुमारसंहिता ९७, व्याससंहिता ९८, विष्णुसंहिता ९९ ॥१३॥ और अहिर्बुध्न्यसंहिता १०० तथा हे ब्रह्मन्! शुक और रुद्र के संवादरूप उमा माहेश्वर नाम वाली आद्यसंहिता १०१ ॥१४॥

और दत्तात्रेयसंहिता १०२, शर्वसंहिता १०३, वाराहमिहिरसंहिता १०४, सङ्कर्षणसंहिता १०५, प्रद्युम्नसंहिता १०६, कर्कसंहिता १०७ ।।१५।। और प्राचेतसंहिता १०८ ये एक सौ आठ पाञ्चरात्र की संहितायें कही गयी हैं ।१६।। और परब्रह्म नारायण के ब्रह्मसूत्र, नारदसूत्र शाण्डिल्यसूत्र प्रभृति निःश्वसित हैं। क्योंकि सूत्र के विषय में लिखा है– **अल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद्विश्वतो मुखम्। अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ॥** (ब्रह्माण्डपुरा० उत्तरभा० अनुषङ्गपा० २ अध्या० ३३ श्लो० ५८) अनवद्य, अस्तोभ, सर्वतोमुख, सारवाला,, सन्देह रहित जो अल्प अक्षर वाला हो उसको सूत्रज्ञ लोग सूत्र कहते हैं ।।५८।। **संज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियम एव च । अतिदेशोऽधिकारश्च षड्विधं सूत्रलक्षणम् ॥** संज्ञासूत्र १, परिभाषासूत्र २, विधिसूत्र ३, नियमसूत्र ४, अतिदेशसूत्र ५ और अधिकारसूत्र ६ ये छः प्रकार के सूत्र के लक्षण होते हैं। तथा अनुव्याख्यान परब्रह्म नारायण के निःश्वसित हैं। ग्रन्थ के आशय द्योतक वृत्ति को अनुव्याख्यान कहते हैं। बोधायनवृत्ति प्रभृति परब्रह्म नारायण के निःश्वसित हैं और व्याख्यान यानी भाष्य भी परब्रह्म नारायण के निःश्वसित हैं। व्याख्यान के विषय में लिखा है– **पदच्छेदः पदार्थोक्तिर्विग्रहो वाक्ययोजना। आक्षेपश्च समाधानं व्याख्यानं षड्विधं स्मृतम् ॥** पदच्छेद करना १, पदों का अर्थ कहना २, विग्रह करना ३, वाक्य योजना करना ४, आक्षेप करना ५ और समाधान करना ६ यह छः प्रकार का व्याख्यान कहा गया है। **सूत्राक्षराणि आदाय वाक्यैः सूत्रानुसारिभिः। स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः ॥** सूत्रों के अक्षरों को लेकर सूत्र के अनुसरण करने वाले वाक्यों से सूत्र के पदों को और अपने पदों को जो वर्णन किया जाता है उसको भाष्यवेत्ता लोग भाष्य जानते हैं । परब्रह्मनारायण के निःश्वसित समस्त भोग्य भोग-स्थान, भोक्तृवर्ग हैं । इस प्रकृत श्रुति से पहले सामान्यरूप से निर्दिष्ट जगत्कारणत्व का विवरण किया गया है । और शतपथ ब्राह्मण में लिखा है– **स यथार्द्रेन्धाग्नेरभ्याहितस्य पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवं वारेऽस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निश्वसितानि ॥** (शतप० प्र० १४ ब्रा० ४ कं० १०) जिस प्रकार से गीले इन्धन के संयोग से अग्नि में नाना विध धूम प्रकट होते हैं इसी प्रकार से उस परमात्मा के ऋग्वेद यजुर्वेद,. सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान, व्याख्यान यह सब श्वासभूत हैं ।।१०।। **गयाश्राद्धप्रतिष्ठापनाचार्य**

भगद्रामानुजाचार्यने ॥ अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः ॥ (शा० मी० अ० १ पा० ४ सू० २२) के श्रीभाष्य में "बृहदारण्यकोपनिषद्" के द्वितीय अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण की दसवीं कण्डिका के "स यथाऽऽर्द्रैधाग्नेः" इस खण्ड को उद्धृत किया है ।।१०।।

स यथा सर्वासामपां समुद्र एकायनमेवं सर्वेषां स्पर्शानां त्वगेकायनम् । एवं सर्वेषां रसानां जिह्वैकायनमेवं सर्वेषां गन्धानां नासिकैकायनमेवं सर्वेषां रूपाणां चक्षुरेकायनमेवं सर्वेषां शब्दानां श्रोत्रमेकायनमेवं सर्वेषां संकल्पानां मन एकायनमेवं सर्वासां विद्यानां हृदयमेकायनम् । एवं सर्वेषां कर्मणां हस्तावेकायनमेवं सर्वेषामानन्दानामुपस्थ एकायनमेवं सर्वेषां विसर्गाणां पायुरेकायनमेवं सर्वेषामध्वनां पादावेकायनम् । एवं सर्वेषां वेदानां वागेकायनम् ॥११॥

अन्वयार्थ– (सः) वह दृष्टान्त ऐसा है कि (यथा) जैसे (सर्वासाम्) सम्पूर्ण नदी, सरोवर, पल्वल, बावड़ी, कूप, तड़ागादि के (अपाम्) जलों के (समुद्रः) समुद्र (एकायनम्) एक ग्रहण करता है (एवम्) इसी प्रकार (सर्वेषाम्) समस्त कोमल, कठोर, गर्म, ठण्ढा आदिक (स्पर्शानाम्) स्पर्शों का (त्वक्) त्वगिन्द्रिय (एकायनम्) एक आशय ग्रहण करनेवाली है (एवम्) इसी प्रकार (सर्वेषाम्) संपूर्ण मधुर, आम्ल, लवण, कटु, कषाय, तिक्त (रसानाम्) रसों के (जिह्वा) रसनेन्द्रिय (एकायनम्) एक ग्रहण करती है (एवम्) इसी प्रकार (सर्वेषाम्) समस्त (गन्धानाम्) सुगन्ध और दुर्गन्धों का (नासिका) घ्राणेन्द्रिय (एकायनम्) एक ग्रहण करती है (एवम्) इसी प्रकार (सर्वेषाम्) संपूर्ण शुक्ल, कृष्ण, पीत, हरित लोहितादि (रूपाणाम्) रूपों का (चक्षुः) नेत्रेन्द्रिय (एकायनम्) एक एक ग्रहण करती है (एवम्) इसी प्रकार (सर्वेषाम्) समस्त तार गम्भीर मन्द, शब्दात्मक, ध्वन्यात्मक (शब्दानाम्) शब्दों का (श्रोत्रम्) श्रोत्रेन्द्रिय (एकायनम्) एक ग्रहण करती है (एवम्) इसी प्रकार (सर्वेषाम्) संपूर्ण (संकल्पानाम्) संकल्प विकल्पों के (मनः) मन (एकायनम्) एक ग्रहण करता है (एवम्) इसी प्रकार

(सर्वासाम्) सम्पूर्ण शिक्षा कल्प व्याकरण निरूक्त छन्द ज्योतिष आदि (विद्यानाम्) विद्याओं के (हृदयम्) हृदय यानी अवस्था विशेष विशिष्ट मन (एकायनम्) एक ग्रहण करता है (एवम्) इसी प्रकार (सर्वेषाम्) समस्त ऊपर फेंकना, नीचे फेंकना फैलाना, समेटना आदि (कर्मणाम्) कर्मों के (हस्तौ) हाथ (एकायनम्) एक ग्रहण करता है (एवम्) इसी प्रकार (सर्वेषाम्) सम्पूर्ण (आनन्दानाम्) विषयानन्दों के (उपस्थ:) उपस्थेन्द्रिय (एकायनम्) एक ग्रहण करती है, (एवम्) इसी प्रकार (सर्वेषाम्) समस्त उदरस्थमल (विसर्गाणाम्) त्याग का (पायु:) मलत्यागेन्द्रिय (एकानयम्) एक अयन है (एवम्) इसी प्रकार (सर्वेषाम्) सम्पूर्ण (अध्वनाम्) मार्ग गमन का (पादौ) दोनों पैर (एकानयम्) एक आश्रय हैं (एवम्) इसी प्रकार (सर्वेषाम्) समस्त मन्त्र ब्राह्मणात्मक (वेदानाम्) वेदों का (वाक्) वागिन्द्रिय (एकायनम्) एक ग्रहण करती है। इस कारण से आत्म साक्षात्कार करने की इच्छावाले मुमुक्षुओं के द्वारा इन्द्रियों की वृत्ति विशेष निरोध करने योग्य है।।११।।

विशेषार्थ– परब्रह्म नारायण की उपासना के उपकरणभूतइन्द्रियग्राम का नियमन विशदरूप से यहाँ प्रतिपादन किया जाता है। वह दृष्यन्त ऐसा है कि– हे मैत्रेयि जैसे सब नदी नद सरोवर पल्वल वापी कूप तड़ाग आदि जलाशयस्थ जलों को समुद्र एक ग्रहण करता है। ऐसे ही सब कोमल कठोर रुक्ष चिक्कन शीतल गर्म आदि स्पर्शों को त्वचा ही एक ग्रहण करती है। ऐसे ही सब मधुर आम्ल लवण कटु कषाय तिक्त आदिक रसों को जीभ ही एक ग्रहण करती है । और ऐसे ही समस्त सुगन्ध और दुर्गन्ध को नासिका ही एक ग्रहण करती है । तथा ऐसे ही सब श्वेत पीत हरित लोहित कृष्ण आदिक रूपों को नयन ही एक ग्रहण करता है । और ऐसे ही तार गम्भीर मन्द्र शब्दात्मक ध्वन्यात्मक सब शब्दों का श्रोत्र ही एक ग्रहण करता है । और ऐसे ही सब संकल्प विकल्पों को मन ही एक ग्रहण करता है । तथा सम्पूर्ण शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरूक्त, छन्द और ज्योतिष आदि विद्याओं को हृदय ही एक ग्रहण करता है। यहाँ पर अवस्था विशेष मन को ही हृदय कहते हैं । विद्या के विषय में लिखा है– **पुराणं न्यायमीमांसा धर्मशास्त्रांगमिश्रिता:। वेदा: स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥** (याज्ञव० स्मृ० अ० १ श्लो० ३) पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र और छ: अङ्गों सहित चारो वेद ये चौदह विद्या और धर्म के स्थान हैं।।३।। प्रकृत श्रुति में चारों वेदों को छोड़कर शेष दस को विद्या शब्द से ग्रहण किया जाता है। और ऐसे ही ऊपर फेंकना, नीचे फेंकना, फैलाना, समेटना आदि कर्मों को दोनों हाथ ही

एक ग्रहण करता है। तथा सब विषयानन्दों को उपस्थेन्द्रिय ही एक ग्रहण करती है। तथा ऐसे ही समस्त उदरस्थ मलत्याग को मलत्यागेन्द्रिय ही एक ग्रहण करती है। और ऐसे ही सब मार्ग गमन का दोनों पैर ही एक ग्रहण करते हैं। तथा ऐसे ही सम्पूर्ण मन्त्र इन्द्रियों की वृत्ति विशेष अनन्त है। इस कारण से आत्म साक्षात्कार करने की इच्छा वाले सज्जनों के द्वारा इन्द्रियों का वृत्ति-विशेष निरोध करने योग्य है। प्रकृत श्रुति से सकल विषय प्रवृत्ति मूलेन्द्रिय-ग्राम के नियमन को विस्तारपूर्वक कहा गया है। श्रीशालग्रामक्षेत्र में शालग्राम समर्चक भगवद्रामानुजाचार्य ने– **अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः ॥** (शा० मी० अ० १ पा० ४ सू० २२) के श्रीभाष्य में "बृहदारण्यकोपनिषद्" के द्वितीय अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण की ग्यारहवीं कण्डिका के "स यथा सर्वासामपां समुद्र एकायनम्" इस खण्ड को उद्धृत किया है।।११।।

स यथा सैन्धवखिल्य उदके प्रास्त उदकमेवानुविलीयेत न हास्योद्ग्रहणायैव स्यात् । यतो यतस्त्वाददीत लवणमेव। एवं वा अरे महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति । न प्रेत्य संज्ञाऽस्तीति होवाच याज्ञवल्क्यः ॥१२॥

अन्वयार्थ– (सः) वह दृष्टान्त ऐसा है कि (यथा) जैसे (उदके) जल में (प्रास्तः) फेंका हुआ (सैन्धवखिल्यः) सेन्धा नमक का ढेला (उदकम्) जल में (अनु) घुल कर पीछे से प्रवेश करके (एव) निश्चय करके (उद्ग्रहणाय) उदक् से पृथक् निकाल कर ग्रहण करने के लिये (एव) निश्चय करके (ह) प्रसिद्ध कोई अत्यन्त निपुण पुरुष भी (न) नहीं (स्यात्) समर्थ हो सकता (तु) किन्तु जल को (यतः) जिस (यतः) जिस जगह से (आददीत) ग्रहण करके चखता है तो वह जल (लवणम्) नमक (एव) ही प्रतीत होता है (एवम्) ऐसे ही (एव) निश्चय करके (अरे) मैत्रेयि (महद्भूतम्) यह परमात्मा महद्भूत (अनन्तम्) देश काल और वस्तु के परिच्छेद से रहित (अपारम्) तथा गुण से भी अपरिच्छेद्य (विज्ञानघनः) परब्रह्म नारायण जीवशरीरकता के द्वारा (वै) निश्चय करके (एतेभ्यः) इन (भूतेभ्यः) भूतों से (उत्थाय) स्वयं प्रकट होकर (तानि) उन भूतों के नाश होने के (अनु) पश्चात् (एव) निश्चय करके (विनश्यति) विनष्ट हो जाता है । हे मैत्रेयि (प्रेत्य) चरमदेह के वियोग को

पाकर मोक्ष दशा में स्वाभाविक अपरिच्छिन्न ज्ञान संकोच के अभाव होने पर (सम्) भूतसंघात के साथ एकीकरण करके (ज्ञा) ज्ञान (न) नहीं (अस्ति) रहता है (इति) इस प्रकार (ह) प्रसिद्ध (याज्ञवल्क्यः) याज्ञवल्क्य महर्षि ने (उवाच) अपनी भार्या मैत्रेयी से कहा ॥१२॥

विशेषार्थ – यहाँ वह दृष्टान्त दिया जाता है कि–जिस प्रकार जल में डाला हुआ सेन्धा नमक का ढेला जल में घुलकर पीछे से प्रवेश करके निश्चय करके उस जल में ही मिल जाता है तब विलीन यानी मिले हुए इस सेन्धा नमक के ढेले को जल से अलग निकाल कर ग्रहण करने के लिये कोई अत्यन्त निपुण प्रसिद्ध पुरुष भी समर्थ नहीं हो सकता है। परन्तु वह पुरुष उस जल को जिस जिस जगह से लेकर चखता है तो वह जल लवण ही प्रतीत होता है। सैन्धव के विषय में लिखा है – **सैन्धवोऽस्त्री शीतशिवं माणिमन्थञ्च सिन्धुजे** (अम० कां० २ व० ९ श्लो० ४२) सैन्धव १, शीतशिव २, माणिमन्थ ३ और सिन्धुज ४ ये सेन्धा नमक के नाम हैं ॥४२॥ खिल ही खिल्य है। यहाँ स्वार्थ में यत् प्रत्यय है। "खिल" शब्द खण्ड वाचक है। जैसा पहले दृष्टान्त कहा गया है इसी प्रकार हे मैत्रेयि यह सबसे महद्भूत देश काल और वस्तु के परिच्छेद से रहित तथा अपार यानी गुण से भी अपरिच्छेद्य परब्रह्म नारायण जीवशरीरकता के द्वारा ही इन महाभूतों के उत्पन्न होने पर स्वयं उत्पन्न होता है और इन महाभूतों के विनाश होने पर स्वयं विनष्ट हो जाता है। यहाँ पर जो आत्मा की उत्पत्ति और विनाश प्रतिपादन किया गया है इसका तात्पर्य यह है कि "उत्पत्तिनार्म विकास प्रादुर्भावः" विकास के प्रादुर्भाव को उत्पत्ति कहते हैं। और "विनाशोनामात्यन्तज्ञानसंकोचः", अत्यन्त ज्ञान के संकोच को विनाश कहते हैं। अरी मैत्रेयि ! चरमदेह के वियोग को पाकर मोक्ष दशा में स्वाभाविक अपरिच्छिन्नज्ञानसंकोच के अभाव होने पर भूतसंघात के साथ एकीकार कर के ज्ञान नहीं रहता है। इस प्रकार सुप्रसिद्ध महर्षि याज्ञवल्क्य ने अपनी प्रिया भार्या मैत्रेयी के लिये उपदेश दिया। "सम्+ज्ञा" से संज्ञा शब्द बनता है। यहाँ पर "सम्" शब्द एकीकार वाचक है और "ज्ञाअवबोधने" धातु से "ज्ञा" निष्पन्न होता है, इससे "ज्ञा" शब्द ज्ञान वाचक है। प्रकृत श्रुति में "स यथा सैन्धवखिल्यः" इत्यादि खण्ड से अमृतत्वोपाय प्रवृत्तिप्रोत्साहन करने के लिये जीवात्मस्वरूप से अवस्थित परमात्माकी अपरिच्छिन्न ज्ञानैकाकारता को उपपादन करके "विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति" इस वाक्य से उस अपरिच्छिन्नज्ञानैकाकार आत्मा की संसारदशा में भूतपरिणमानुवृत्तिको कह कर "नप्रेत्य संज्ञास्ति" इस वाक्य से मोक्षदशा में स्वाभाविक अपरिच्छिन्न

ज्ञानसंकोचाभाव से भूतसंघात से एकीकार कर के आत्मा में देवादिरूप ज्ञान के अभाव को कहा गया है। बदरीनारायण में पञ्चरात्र-विधि-प्रचारकर्ता भगवद्रामानुजाचार्य ने ।। **अथातो ब्रह्मजिज्ञासा** (शा० मी० अ० १ पा० १ सू० १) **वाक्यान्वयात्** (शा० मी० अ० १ पा० ४ सू० १९) **अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः** (शा० मी० अ० २ पा० ४ सू० २२) **पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात्** (शा० मी० अ० २ पा० ३ सू० ३१) **चिति तन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः** (शा० मी० अ० ४ पा० ४ सू० ६) **एवमप्युपन्यासात्पूर्वभावादविरोधं वादरायणः** (शा० मी० अ० ४ पा० ४ सू० ७) **सङ्कल्पादेव तच्छ्रुतेः** (शा० मी० अ० ४ पा० ४ सू० ८) **स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि** (शा० मी० अ० ४ पा० ४ सू० १६) इन आठ सूत्रों के श्रीभाष्य में "बृहदारण्यकोपनिषद्" के द्वितीय अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण की बारहवीं कण्डिका के पदों को उद्धृत किया है।।१२।।

सा होवाच मैत्रेय्यत्रैव मा भगवानमूमुहन्न प्रेत्य संज्ञाऽस्तीति । स होवाच न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीम्यलं वा अर इदं विज्ञानाय ।।१३।।

अन्वयार्थ– (सा) वह (ह) सुप्रसिद्धा (मैत्रेयी) मैत्रेयी (उवाच) बोली कि (प्रेत्य) शरीरपात के अनन्तर ज्ञानैकाकरस्वरूप आत्मा की मुक्ति के लिये (संज्ञा) कोई संज्ञा (न) नहीं (अस्ति) रहती है (अत्र) इस वाक्य में (एव) ही (भगवान) षडैश्वर्यसंपन्न पूज्यपाद श्रीमान् ने (मा) मुझे (अमूमुहत्) मोहित किया है (इति) इस बात को सुनकर (सः) वह (ह) सुप्रसिद्ध याज्ञवल्क्य ऋषि ने (उवाच) कहा कि (अरे) अरी मैत्रेयि (वै) निश्चय करके (अहम्) मैं (मोहम्) मोह का (न) नहीं (ब्रवीमि) उपदेश कर रहा हूँ किन्तु (अरे) अरी प्रिये मैत्रेयि (वै) निश्चय करके (इदम्) यह विज्ञानघन शब्दित महद्भूत पूर्वनिर्दिष्ट चरमदेह वियोग को पाकर भी (विज्ञानाय) विशेषरूप से जानने के लिये (अलम्) पर्याप्त है। इससे मुक्ति में भी ज्ञानियों का ज्ञान रहता है।।१३।।

विशेषार्थ– यद्यपि पूर्व श्रुति में "संज्ञा" शब्द देहात्मैक्यभ्रान्तिपरक है इससे कोई विरोध नहीं हैं, तथापि इस अभिप्राय को नहीं समझनेवाली परमप्रसिद्धा उस मैत्रेयी ने कहा कि "न प्रेत्यसंज्ञास्ति" शरीरपात के अनन्तर ज्ञानैकाकार आत्मा की मुक्ति के लिये कोई संज्ञा नहीं रहती है । इस वाक्य

में ही पूज्यपाद श्रीमान् ने मुझे मोह में डाल दिया है । मोह के विषय में लिखा है कि– **मोहः विपरीतज्ञानम्** (रामानुजभाष्य० गी० अ० १८ श्लो० ७३) विपरीतज्ञान का नाम मोह है।।७३।। अथवा मैत्रेयी "न प्रेत्य संज्ञास्ति" इस वाक्य का यह अर्थ समझ गई कि– मरकर पृथक् संज्ञा नहीं है" इससे बोली कि इसी वाक्य में मुझे बड़ा मोह हो रहा है। यदि मरण के पश्चात् जीव का अस्तित्व न रहेगा तो इससे यह फलित होगा कि इस संघात शरीर से भिन्न आत्मा नाम की कोई वस्तु नहीं। अतः हे स्वामिन् ! आपके वचन से मैं कम्पायमान हो रही हूँ। इस वचन को सुनकर उस सुप्रसिद्ध महर्षि याज्ञल्क्य ने कहा कि– अरे प्रिये मैत्रेयि ! मैं निश्चय करके विपरीत-ज्ञान का उपदेश नहीं कर रहा हूँ। अरे मैत्रेयि तू मेरे वाक्य का ठीक अर्थ नहीं समझी। निश्चय करके यह विज्ञान घन शब्दित महद्भूत पूर्वनिर्दिष्ट चरमशरीरवियोग को पाकर विशेष रूप से जानने के लिये परिपूर्ण है । इससे मुक्ति में भी ज्ञानियों का ज्ञान रहता है । "न प्रेत्य संज्ञास्ति" इस वाक्य का अर्थ है कि– चरमदेह वियोग को पाकर मोक्षदशा में स्वाभाविक अपरिच्छिन्न ज्ञानसंकोच का अभाव होने पर भूतसंघात के साथ एकीकार करके ज्ञान नहीं रहता है। इस प्रकार की मुक्ति में देहात्मभ्रमनिवृत्ति को मैं ने कहा है । इस श्रुति में "अलम्" शब्द परिपूर्णता वाचक है। क्योंकि लिखा है– **अलं भूषणपर्याप्तिशक्तिवारणवाचकम्** (अमर० कां० ३ व० ३ श्लो० २५२) अलंकार परिपूर्णता सामर्थ्य तथा मना करने में अलम् का प्रयोग होता है।।२५२।। ऐसा कहा गया है।।१३।।

यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं जिघ्रति । तदितर इतरं पश्यति तदितर इतरमभिवदति तदितर इतरमभिश्रृणोति तदितर इतरं मनुते तदितर इतरं विजानाति यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं जिघ्रेत्तत्केन कं पश्येत्तत्केन कमभिवदेत्तत्केन कं श्रृणुयात्तत्केन कं मन्वीत तत्केन कं विजानीयात्। येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्। विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति ।।१४।।

॥ इति द्वितीयाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

अन्वयार्थ– (हि) निश्चय करके (यत्र) जिस अवस्था में (द्वैतम्) द्वैत यानी स्वनिष्ठता से परमात्मा से पृथक् स्वतंत्र (इव) सा (भवति) होता है (तत्) उसी अवस्था में (इतरः) भिन्नात्मक (इतरम्) भिन्नात्मक को स्वतंत्र इन्द्रिय से (जिघ्रति) सूँघता है और (तत्) उसी अवस्था में (इतरः) भिन्नात्मक (इतरम्) भिन्नात्मक को स्वतन्त्र इन्द्रिय से (पश्यति) देखता है तथा (तत्) उसी अवस्था में (इतरः) भिन्नात्मक (इतरम्) भिन्नात्मक को स्वतंत्र इन्द्रिय से (अभिवदिति) भलीभाँति कहता है और (तत्) उसी अवस्था में (इतरः) भिन्नात्मक (इतरम्) भिन्नात्मक को स्वतंत्र इन्द्रिय से (अभिश्रृणोति) भली भाँति सुनता है तथा (तत्) उसी अवस्था में (इतरः) भिन्नात्मक (इतरम्) भिन्नात्मक को स्वतंत्र मन से (मनुते) मनन करता है और (तत्) उसी अवस्था में (इतरः) भिन्नात्मक (इतरम्) भिन्नात्मकको स्वतंत्र बुद्धि से (विजानाति) विशेष जानता है (तु) परन्तु (यत्र) जिस अवस्था में (अस्य) इस ब्रह्मवेत्ता पुरुषका (सर्वम्) सब वस्तु (आत्मा) एकात्मक (एव) निश्चय करके (अभूत्) हो गयी है (तत्) उस अवस्था में (केन) किस भिन्नात्मक इन्द्रिय से (कम्) किस भिन्नात्मक को (जिघ्रेत्) कौन सूँघेगा और (तत्) उस अवस्था में (केन) किस भिन्नात्मक इन्द्रिय से (कम्) किस भिन्ननात्मक को (पश्येत्) कौन देखेगा तथा (तत्) उस अवस्था में (केन) किस भिन्नात्मक इन्द्रिय से (कम्) किस भिन्नात्मक को (अभिवदेत्) कौन भली भाँति कहेगा और (तत्) उस अवस्था में (केन) किस भिन्नात्मक इन्द्रिय से (कम्) किस भिन्नात्मक को (शृणुयात्) कौन सुनेगा तथा (तत्) उस अवस्था में (केन) किस भिन्नात्मक इन्द्रिय से (कम्) किस भिन्नात्मक को (मन्वीत) कौन मनन करेगा और (तत्) उस अवस्था में (केन) किस भिन्नात्मक बुद्धि से (कम्) किस भिन्नात्मक को (विजानीयात्) कौन विशेष रूप से जानेगा '(येन) जिस परब्रह्म नारायण की प्रसन्नता से (इदम्) इस ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त (सर्वम्) सब स्थावर जंगम वस्तु को (विजानाति) महात्मा विशेष रूप से जानता है (तम्) उस परब्रह्म नारायण को (केन) किस साधन से (विजानीयात्) जानेगा (अरे) अरे मैत्रेयि (विज्ञातारम्) विज्ञाता परब्रह्म नारायण को (केन) प्रक्रमोदित ध्यान के विना किस केवल यज्ञदानादि उपाय से (विजानीयात्) जानेगा (इति) इस प्रकार प्रतिवचन समाप्त हो गया ॥१४॥

विशेषार्थ– मुक्ति में देहात्मभ्रमनिवृति को कहकर अब स्वनिष्ठा भ्रमनिवृत्ति को श्रुति प्रतिपादन करती है कि– अरे मैत्रेयि ! इसको निश्चय जानो कि जिस अवस्था में द्वैत के समान होता है अर्थात् स्वनिष्ठा के द्वारा

परब्रह्म नारायण से पृथक् जीव स्वतन्त्र सा होता है उस अवस्था में अन्य भिन्नात्मक अन्य भिन्नात्मक को स्वतन्त्र घ्राणेन्द्रिय से सूँघता है। और उस अवस्था में अन्य भिन्नात्मक अन्य भिन्नात्मक को स्वतन्त्र नेत्रेन्द्रिय से देखता है । तथा उस अवस्था में अन्य भिन्नात्मक अन्य भिन्नात्मक को स्वतन्त्र वागिन्द्रिय से कहता है । और उस अवस्था में अन्य भिन्नात्मक अन्य भिन्नात्मक को स्वतन्त्र श्रोत्रेन्द्रिय से सुनता है । तथा उस अवस्था में अन्य भिन्नात्मक अन्य भिन्नात्मक को स्वतंत्र मन से मनन करता है । और उस अवस्था में अन्य भिन्नात्मक अन्य भिन्नात्मक को स्वतंत्र बुद्धि से जानता है । अर्थात् जिस पुरुष को आत्मभेद प्रतीति कुछ भी होती है उस पुरुष की कर्ता कर्म और करण में भिन्नात्मकत्व प्रतीति रहती है। परन्तु जिस अवस्था में इस परब्रह्म नारायणोपासक पुरुष की सब वस्तु एकात्मक ही हो गयी है, उस अवस्था में किस भिन्नात्मक नेत्रेन्द्रिय से किस भिन्नात्मक को कौन भिन्नात्मक देखेगा । और उस अवस्था में किस भिन्नात्मक घ्राणेन्द्रिय से किस भिन्नात्मक को कौन भिन्नात्मक सूँघेगा । तथा उस अवस्था में किस भिन्नात्मक वागिन्द्रिय से किस भिन्नात्मक को कौन भिन्नात्मक कहेगा । और उस अवस्था में किस भिन्नात्मक श्रोत्रेन्द्रिय से किस भिन्नात्मक को कौन भिन्नात्मक सुनेगा । तथा उस अवस्था में किस भिन्नात्मक मन से किस भिन्नात्मक को कौन भिन्नात्मक मनन करेगा। और उस अवस्था में किस भिन्नात्मिका बुद्धि से किस भिन्नात्मक को कौन भिन्नात्मक जानेगा। अर्थात् जिस अवस्था में जिस पुरुष को आत्मभेद प्रतीति नहीं होती है उस अवस्था में उस पुरुष का कर्ता, कर्म और करण में सर्वथा भिन्नात्मकत्व प्रतीति नहीं होती है। जिस परब्रह्म नारायण की प्रसन्नता से भक्त इस ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त समस्त भोक्तृ भोग्यरूप जगत् को जानता है उस परब्रह्म नारायण को किस हेतु से महात्मा जानेगा । क्योंकि लिखा है– **क इत्था वेद यत्र सः** (कठोप० अ० १ व० २ श्रु० २५) वह परब्रह्म नारायण जहाँ पर जिस प्रकार में स्थित है उस प्रकार विशिष्ट परमात्मा को ठीक-ठीक प्रकार है ऐसा कौन जानता है ।।२५।। अर्थात् परब्रह्म नारायण की प्रसन्नता के बिना परमात्मा दुःखबोध है । अरे प्रिये मैत्रेयि ! विज्ञाता परब्रह्म नारायण को उपासना के बिना केवल यज्ञ दानादि साधन से कोई जानेगा ? क्योंकि लिखा है– **नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।** (कठोप० १/१/२३) यह परब्रह्म नारायण बहुत श्रवण तथा मनन और निदिध्यासन से नहीं प्राप्त हो सकता है ।।२३।। **नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया । शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा** (गी० अ० ११ श्लो० ५३) **भक्त्या**

त्वनन्यया शक्य अहमेवं विधोऽर्जुन ! ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप ॥५४॥ हे अर्जुन ! जैसे तूने मुझको देखा है उस प्रकार मैं न वेदों से न तप से, न दान से और न यज्ञ से देखा जा सकता हूँ ॥५३॥ परन्तु हे परन्तप! अनन्य भक्ति से मैं इस प्रकार तत्त्व से जाना देखा और प्रवेश किया जा सकता हूँ॥५४॥ प्रकृत श्रुति में "यत्र हि द्वैतमिव भवति" इत्यादि वाक्य से अब्रह्मात्मक के द्वारा नाना भूत वस्तुदर्शन अज्ञानकृत है इस कारण से निरस्त निखिल अज्ञान के ब्रह्मात्मक कृत्स्न जगत् को अनुभव करने वाले के ब्रह्मव्यतिरिक्तवस्त्वन्तराभाव के द्वारा भेददर्शन को खण्डन कर "येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्" इस वाक्य से जीव स्वात्मया अवस्थित जिस परमात्मा से आहित ज्ञान होता हुआ इस समस्त जगत् को जानता है उस परमात्मा को किससे जानेगा अर्थात् किसी से भी नहीं ऐसा कह कर दुरवगम प्रतिपादन करके "विज्ञातरमरे केन विजानीयात्" इस खण्ड से समस्त वस्तु विलक्षण निखिल जगदेक कारण भूत सब के विज्ञाता पुरुषोत्तम उक्त प्रकार की उपासना के विना किसी उपाय से नहीं जाना जा सकता है ऐसा कहा गया है । इससे यहाँ उपासना ही अमृतत्वोपाय और परब्रह्म नारायण की प्राप्ति ही अमृत प्रतिपादन किया गया है। इस श्रुति में "इति" पद प्रतिवचन समाप्ति सूचन करता हुआ मैत्रेयी ब्राह्मण की समाप्ति प्रतिपादन करता है। बदरीनारायण में पाञ्चरात्रविधानप्रवर्त्तकाचार्य भगवद्रामानुजाचार्य ने **अथातो ब्रह्मजिज्ञासा** (शा॰ मी अ॰ १ पा॰ १ सू॰ १) **तत्तु समन्वयात्** (शा॰ मी॰ अ॰ १ पा॰ १ सू॰ ४) **वाक्यान्वयात्** (शा॰ मी अ॰ १ पा॰ ४ सू॰ १९) **अवस्थितेरिति काशकृत्सनः** (शा॰ मी अ॰ १ पा॰ ४ सू॰ २२) **तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः** (शा॰ मी अ॰ १ पा॰ १ सू॰ १५) इन पाँच सूत्रों के श्रीभाष्य में "बृहदारण्यकोपनिषद्" के द्वितीय अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण की चौदहवीं कण्डिका के पदों को उद्धृत किया है। यहाँ पर "बृहदारण्यकोपनिषद्" के द्वितीय अध्याय का चतुर्थ मैत्रेयीब्राह्मण समाप्त हो गया॥१४॥

॥ अथ पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥

इयं पृथिवी सर्वेषां भूतानां मध्वस्यै पृथिव्यै सर्वाणि भूतानि मधु । यश्चायमस्यां पृथिव्यां तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं शारीरस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः।

अयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥१॥

अन्वयार्थ– (इयम्) यह (पृथिवी) गन्धवती पृथ्वी (सर्वेषाम्) ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब पर्यन्त समस्त (भूतानाम्) प्राणियों के (मधु) धारण अन्नपानादि हेतु से मधु है और (अस्यै) इस (पृथिव्यै) पृथ्वी के (सर्वाणि) समस्त ब्रह्मादि स्तम्ब पर्यन्त (भूतानि) प्राणिवर्ग (मधु) धार्य पोष्य तदनुकूल होने से मधु है (च) और (अस्याम्) सर्वभूतोपजीव्य द्वारा मधुभूत इस (पृथिव्याम्) पृथ्वी में (यः) जो (अयम्) यह (तेजोमयः) स्वयं प्रकाश ज्ञानमय (अमृतमयः) मरण धर्मशून्य (पुरुषः) अन्तर्यामी पुरुष है (च) और (अध्यात्मम्) देहेन्द्रिय मनः प्राणजीव संघात में (यः) जो (अयम्) यह (शारीरः) शरीरान्तर्यामी (तेजोमयः) स्वयं प्रकाश ज्ञानमय (अमृतमयः) मरणधर्म शून्य अपहतपाप्मत्वादि गुणाश्रय (पुरुषः) अन्तर्यामी पुरुष है (अयम्) यह (आत्मा) मैत्रेयी ब्राह्मण में आत्मा शब्द से निर्दिष्ट है और (इदम्) यह (अमृतम्) उपकोशल विद्या में अमृत शब्द से निर्दिष्ट है तथा (इदम्) यह (ब्रह्म) भृगुवल्ली में ब्रह्म शब्द से कहा गया है और (इदम्) यह (सर्वम्) 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस श्रुति से प्रतिपादन किया गया है ॥१॥

विशेषार्थ– यह गन्धवती पृथ्वी ब्रह्मादिस्तम्ब पर्यन्त संपूर्ण प्राणियों का धारण अन्न पानादि के कारण होने से मधु के समान मधु है। पृथ्वी के विषय में लिखा है– **आधारः सर्वभूतानां त्वं देवि वसुधे स्मृता। पालनी पावनी पात्री सर्वभूता-भयङ्करी॥** (तैत्तिरीयारण्य० प्रपा० १० अनु० १ श्रु० ३६) हे वसुधे भूदेवि तू सब प्राणियों का आधार कही गई है और सब प्राणियों के पालन करने वाली तथा पवित्र करने वाली और रक्षा करने वाली तथा अन्नपानादि देकर अभय करने वाली कही गई है।।३६।। **उद्धृतासि वराहेण कृष्णेन शतबाहुना। भूमिर्धेनुर्धरणी लोकधारिणी॥** (तैत्ति० आर० प्रपा० १० अनु० १ श्रु० ३१) शतबाहु कृष्ण वराह भगवान् से उद्धार की गई हो। भूमि धेनु धरणी लोकधारिणी नाम से प्रसिद्ध है।।३१।। यहाँ ''मधु'' शब्द शहद वाचक है। क्योंकि लिखा है– **मधु मद्ये पुष्परसे क्षौद्रेऽपि ॥** (अमर० कां० ३ व० ३ श्लो० १०३) मद्य, पुष्प, रस, शहद चैत्र मास और महुआ में मधु शब्द का प्रयोग होता है ।।१०३।। और ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब पर्यन्त सब प्राणी धार्य पोष्य तदनुकूल होने से इस गन्धवती पृथ्वी के मधु हैं । इस प्रकार उपकारक होने से पृथ्वी और सब प्राणियों का परस्पर मधुत्व है । और सब प्राणियों का उपजीव्य होने से मधुभूत इस पृथ्वी में जो यह स्वयं प्रकाश ज्ञानमय अविनश्वर अपहत पाप्मत्वादि गुणाश्रय अन्तर्यामी पुरुष है। पृथ्वी में अन्तर्यामी पुरुष है । क्योंकि लिखा है– **यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या**

अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ (बृ० उ० अ० ३ ब्रा० ७ श्रु० ३) जो पृथ्वी में रहता हुआ पृथ्वी के भीतर प्रवेश कर प्रवृत्ति निवृत्ति लक्षण नियमन करता है जिसे पृथ्वी नहीं जानती है जिसका पृथ्वी शरीर है । यह अन्तर्यामी तुम्हारा निरुपाधिक अमृतत्त्वशाली आत्मा है ।।३।। **यस्य पृथ्वी शरीरं यः पृथिवीमन्तरे सञ्चरन् यं पृथिवी न वेद ॥ (सुबालोप०** खं० ७) जिसका पृथ्वी शरीर है जो पृथ्वी के भीतर अन्तर्यामी संचार करता है जिसको पृथ्वी नहीं जानती है ।।७।। **एष आत्मा अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः ॥** (छां० उ० प्रपा० ८ खं० १ श्रु० ५) यह परब्रह्म नारायण सुकृत दुष्कृत शून्य है और वृद्धावस्थाहीन मरण रहित शोकहीन भोजनेच्छा रहित पीने की इच्छाशून्य है और भोग्य भोगोपकरण भोगस्थान रूप नित्य कल्याण गुण वाला है तथा अप्रतिहत संकल्प है ।।५।। और शरीरेन्द्रिय मनः प्राण जीव संघात में जो यह शरीरान्तर्यामी स्वयं प्रकाश ज्ञानमय मरणधर्म-शून्य अपहत पाप्मत्वादि गुणाश्रय अन्तर्यामी पुरुष है यही निश्चय करके है जो यह ।। **आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः** (बृ० उ० अ० २ ब्रा० ४ कं० ५) अरे मैत्रेयि आत्मा ही देखने योग्य है ।।५।। इस मैत्रेयि ब्राह्मण की श्रुति में आत्मा पद से कहा गया है, वही पृथिव्यन्तर्यामी और शरीरान्तर्यामी भी है। और जो यह ''एतदमृतमेतदभयमेतद्ब्रह्म'' यह मरण शून्य है यह भय रहित है यह ब्रह्म है वही पृथिव्यन्तर्यामी तथा शरीरान्तर्यामी भी है। और जो यह **तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म ॥** (तैत्ति० उ० व० ३ अनु० १ श्रु० १) उसको विशेषरूप से जानने की इच्छा कर वही ब्रह्म है ।।१।। इस भृगुवल्ली की श्रुति में ब्रह्म पद से कहा गया है, वही पृथिव्यन्तर्यामी और शरीरान्तर्यामी भी है । और जो यह **सर्वंखल्विदं ब्रह्म ॥** (छा० उ० प्रपा० ३ खं० १४ श्रु० १) निश्चय यह सब ब्रह्मात्मक है।।१।। इस श्रुति में सर्वोपादानतया निर्दिष्ट ब्रह्म वही है, पृथिव्यन्तर्यामी तथा शरीरान्तर्यामी भी है। अथवा **आत्मैवेदं सर्वम् ॥** (छा० उ० प्रपा० ७ खं० २५ श्रु० २) ब्रह्मादिस्तम्ब पर्यन्त यह भोक्तृभोग्यरूप सब जगत् ब्रह्मात्मक ही है।। इस श्रुति में निर्दिष्ट आत्मा ही पृथिव्यन्तर्यामी ओर शरीरान्तर्यामी भी है। नैमिषारण्य में श्रुत्यटवीकुहरोपदेष्ट्य भगवद्रामानुजाचार्य ने। **उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत्।।** (शा० मी० अ० ३ पा० २ सू० २६) **अनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्यः** (शा० मी० अ० ३ पा० २ सू० ३६) इन दोनो सूत्रों के श्रीभाष्य में ''बृहदारण्यकोपनिषद्'' के द्वितीय अध्याय के पञ्चम ब्राह्मण की पहली कण्डिका के ''ब्रह्मेदं सर्वं'' इस खण्ड को उद्धृत किया है।।१।।

इमा आपः सर्वेषां भूतानां मध्वासामपां सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमास्वप्सु तेजोमयऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं रैतसस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥२॥

अन्वयार्थ– (इमाः) ये (आपः) [illegible]ा (सर्वेषाम्) ब्रह्मादिस्तम्ब पर्यन्त समस्त (भूतानाम्) प्राणियों के (मधु) मधु हैं और (सर्वाणि) समस्त ब्रह्मादिस्तम्ब पर्यन्त (भूतानि) प्राणि–वर्ग (आसाम्) इन (अपाम्) जलों के (मधु) मधु हैं (च) और (आसु) सर्व भूतोपजीव्य द्वारा मधुभूत इन (अप्सु) जलों में (यः) जो (अयम्) यह (तेजोमयः) स्वयं प्रकाश ज्ञानमय (अमृतमयः) मरण–धर्म शून्य (पुरुषः) अन्तर्यामी पुरुष है (च) और (अध्यात्मम्) देहेन्द्रिय मनः प्राण जीवसंघात में (यः) जो (अयम्) यह (रैतसः) जल विकार वीर्यान्तर्यामी (तेजोमयः) स्वयं प्रकाश ज्ञानमय (अमृतमयः) मरणधर्मशून्य (पुरुषः) अन्तर्यामी पुरुष है (अयम्) यही (एव) निश्चय करके (सः) वह अन्तर्यामी पुरुष है (यः) जो (अयम्) यह (आत्मा) मैत्रेयी ब्राह्मण में आत्मा पद से निर्दिष्ट है और (इदम्) यह (अमृतम्) उपकोशल विद्या में अमृत शब्द से निर्दिष्ट है तथा (इदम्) यह (ब्रह्म) भृगुवल्ली में ब्रह्म पद से कहा गया और (इदम्) यह (सर्वम्) छान्दोग्योपनिषद् में सर्वं खल्विदं ब्रह्म इस श्रुति से प्रतिपादन किया किया गया है॥२॥

विशेषार्थ– ये शीत स्पर्श वाले जल ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब पर्यन्त सम्पूर्ण प्रणियों का पानादि के कारण होने से मधु के समान मधु हैं। जल के विषय में लिखा है– **सुमित्रा न आपः ॥** (तैत्ति० आ० प्रपा० १० अनु० १ श्रु० ३९) हमारे सुन्दर मित्र जल हैं।।३९) **यदुच्छिष्टमभोज्यं च यद्वा दुश्चरितं मम। सर्वं पुनन्तु मामापः ॥** (तैत्ति० आर० प्रपा० १० अनु० २३ श्रु० १) जो मेरा उच्छिष्ट है तथा अभोज्य है और दुश्चरित्र है उन सबको और मुझको जल पवित्र करें।।१।। और ब्रह्मादि स्तम्ब पर्यन्त सम्पूर्ण प्राणी पोष्य तदनुकूल होने से इन शीतस्पर्श वाले जलों के मधु हैं। इस प्रकार उपकारक होने से जल और सब प्राणियों का परस्पर मधुत्व है। और सब प्राणियों के उपजीव्य होने से मधुभूत इन जलों में जो यह स्वयं प्रकाश ज्ञानमय मरण–धर्म रहित अन्तर्यामी पुरुष है। और शरीरेन्द्रिय मनः प्राण जीव–संघात में जो यह जल विकार वीर्यान्तर्यामी स्वयं प्रकाश ज्ञानमय मरणधर्म शून्य अन्तर्यामी पुरुष है। वीर्य में परमात्मा रहता है

इससे रैतस कहा जाता है। क्योंकि लिखा है– **यो रेतसि तिष्ठन् रेतसोऽन्तरः॥** (बृ० उ० अ० ३ ब्रा० ७ कं० २३) जो वीर्य में रहता हुआ वीर्य में प्रवेश कर॥२३॥ और जल का विकार ही शुक्र है। क्योंकि लिखा है– **आपो रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन् ॥** (ऐत० उ० अ० १ खं० २ श्रु० ४) जल वीर्य होकर लिङ्ग में प्रवेश किये॥४॥ इस श्रुति में "रेतस्" शब्द वीर्य वाचक है। क्योंकि लिखा है– **शुक्रंतेजो रेतस् च बीजवीर्येन्द्रियाणि च ॥** (अमर० कां० २ व० ६ श्लो० ६२) शुक्र १, तेजस् २, रेतस् ३, बीज ४, वीर्य ५ और इन्द्रिय ६ ये धातु के नाम हैं ॥६२॥ यही वह निश्चय करके है जो यह – **आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः॥** (बृ० अ० २ ब्रा० ४ कं० ५) अरे मैत्रेयि आत्मा ही देखने योग्य है॥५॥ इस मैत्रेयी ब्राह्मण की श्रुति में आत्मा पद से कहा गया है वही जलान्तर्यामी और वीर्यान्तर्यामी भी है । और जो यह– **एतदमृतमेतदभयमेतद्ब्रह्म॥** (छां० उ० प्रपा० ४ खं० १५ श्रु० १) यह मरण शून्य है यह भय रहित है यह ब्रह्म है॥१॥ इस उपकोशल विद्या की श्रुति में अमृत शब्द से कहा गया है वही जलान्तर्यामी तथा वीर्यान्तर्यामी भी है। और जो यह– **तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म ॥** (तैत्ति उ० व० ३ अनु० १ श्रु० १) उसको विशेष रूप से जानने की इच्छा कर, वही ब्रह्म है ॥१॥ इस भृगुवल्ली की श्रुति में ब्रह्म पद से कहा गया है, वही जलान्तर्यामी तथा वीर्यान्तर्यामी भी है। और जो यह– **सर्वं खल्विदं ब्रह्म ॥** (छा, उ० प्रपा० ३ खं० १४ श्रु० १) निश्चय यह ब्रह्म सर्व शरीरक है॥१॥ इस छान्दोग्योपनिषद् की श्रुति में सर्वोपादानतया निर्दिष्ट ब्रह्म है वही जलान्तर्यामी तथा वीर्यान्तर्यामी भी है॥२॥

अयमग्निः सर्वेषां भूतानां मध्वस्याग्नेः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमग्नौ तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं वाङ्मयस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥३॥

अन्वयार्थ– (अयम्) यह (अग्निः) अग्नि (सर्वेषाम्) ब्रह्मादिस्तम्ब पर्यन्त (भूतानाम्) समस्त प्राणियों का (मधु) मधु है और (सर्वाणि) समस्त ब्रह्म से लेकर स्तम्ब पर्यन्त (भूतानि) प्राणी वर्ग (अस्य) इस (अग्नेः) अग्नि के (मधु) मधु हैं (च) और (अग्नौ) सर्व भूतोपजीव्य द्वारा मधुभूत इस अग्नि में (यः) जो (अयम्) यह (तेजोमयः) स्वयं प्रकाश ज्ञान मय (अमृतमयः) मरणधर्मशून्य (पुरुषः) अन्तर्यामी पुरुष है (च) और (अध्यात्मम्) देहेन्द्रिय मनः प्राण जीव संघात में (यः) जो (अयम्)

यह (वाङ्मयः) वागन्तर्यामी (तेजोमयः) स्वयं प्रकाश ज्ञानमय (अमृतमयः) मरण-धर्म शून्य (पुरुषः) अन्तर्यामी पुरुष है (यः) जो (अयम्) यह (आत्मा) मैत्रेयी ब्राह्मण में आत्मा पद से निर्दिष्ट है और (इदम्) यह (अमृतम्) उपकोशलविद्या में अमृत शब्द से निर्दिष्ट है तथा (इदम्) यह (ब्रह्म) भृगुवल्ली में ब्रह्म पद से कहा गया है और (इदम्) यह (सर्वम्) छान्दोग्योपनिषद् में 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'' इस श्रुति से प्रतिपादन किया गया है।।३।।

विशेषार्थ– यह अग्नि ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त सम्पूर्ण प्राणियों के खाद्य परिपक्व करने से मधु के समान मधु है। और ब्रह्मादिस्तम्ब पर्यन्त सम्पूर्ण प्राणी तदनुकूल होने से इस अग्नि के मधु हैं। अग्नि के विषय में लिखा है– **पाहि नो अग्ने ॥** (तैत्ति० आर० प्रपा० १० अनु० ५ श्रु० १) हे अग्ने हम को रक्षा करो।।१।। और सब प्राणियों के उपजीव्य होने से मधुभूत इस अग्नि में जो यह स्वयं प्रकाश ज्ञानमय मरणधर्म-शून्य अन्तर्यामी पुरुष है। और शरीरेन्द्रिय मनः प्राण जीवनं संघात में जो यह वागन्तर्यामी स्वयंप्रकाश ज्ञानमय मरणधर्म-शून्य अन्तर्यामी पुरुष है। अग्नि में परमात्मा रहता है। क्योंकि लिखा है– **यो ऽग्नौतिष्ठन्नग्नेरन्तरः॥** (बृ० उ० अ० ३ ब्रा० ७ कं० ५) जो अग्नि में रहता हुआ अग्नि के बाहर है ।।५।। और लिखा है कि– **अग्निर्वाग्भूत्वा मुखंप्राविशत् ॥** (ऐत० उ० अ० १ खं० २ श्रु० ४) अग्नि ने वाक् होकर मुख में प्रवेश किया ।।४।। यही वह निश्चय कर के है जो यह– **आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः॥** (बृ० उ० अ० २ ब्रा० ४ कं० ५) अरे मैत्रेयि आत्मा ही देखने योग्य है ।।५।। इस मैत्रेयी ब्राह्मण की श्रुति में आत्मापद से कहा गया है। वही अनलान्तर्यामी और वागन्तर्यामी भी है। और जो यह– **एतदमृतमेतदभयमेतद्ब्रह्म॥** (छा० उ० प्रपा० ४ खं० १५ श्रु० १) यह मरण शून्य है यह भय रहित है यह ब्रह्म है।।१।। इस उपकोशल विद्या की श्रुति में अमृत शब्द से कहा गया है वही पावकान्तर्यामी तथा वागन्तर्यामी भी है। और जो यह– **तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म॥** (तैत्ति० उ० व० ३ अनु० १ श्रु० १) उसको विशेषरूप से जानने की इच्छा कर, वही ब्रह्म है ।।१।। इस भृगुवल्ली की श्रुति में ब्रह्मपद से कहा गया है वही पावकान्तर्यामी तथा वागन्तर्यामी भी है। और जो यह– **सर्वं खल्विदं ब्रह्म ।** (छां० उ० प्रपा० ३ खं० १४ श्रु० १) निश्चय यह ब्रह्म सर्व शरीरक है।।१।। इस छान्दोग्योपनिषद् की श्रुति में सर्वोपादानतया निर्दिष्ट ब्रह्म है, वही अग्न्यन्तर्यामी और वागन्तर्यामी भी है।।३।।

अयं वायुः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य वायोः सर्वाणि

भूतानि मधुयश्चायमस्मिन्वायौ तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं प्राणस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो ऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ।।४।।

अन्वयार्थ– (अयम्) यह (वायुः) वायु (सर्वेषाम्) समस्त ब्रह्मादिस्तम्ब-पर्यन्त (भूतानाम्) प्राणियों का (मधु) मधु है और (सर्वाणि) समस्त ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब पर्यन्त (भूतानि) प्राणी वर्ग (अस्य) इस (वायोः) वायु के (मधु) मधु हैं (च) और (अस्मिन्) सर्वभूतोपजीव्य द्वारा मधुभूत इस (वायौ) वायु में (यः) जो (अयम्) यह (तेजोमयः) स्वयं प्रकाश ज्ञानमय (अमृतमयः) मरण धर्म शून्य (पुरुषः) अन्तर्यामी पुरुष है (च) और (अध्यात्मम्) देहेन्द्रिय मनः प्राण जीव संघात में (यः) जो (अयम्) यह (प्राणः) प्राणान्तर्यामी (तेजोमयः) स्वयं प्रकाश ज्ञानमय (अमृतमयः) मरण धर्म शून्य (पुरुषः) अन्तर्यामी पुरुष है (अयम्) यही (एव) निश्चय करके (सः) वह अन्तर्यामी पुरुष है (यः) जो (अयम्) यह (आत्मा) मैत्रेयी ब्राह्मण में आत्मा पद से निर्दिष्ट है और (इदम्) यह (अमृतम्) उपकोशल विद्या में अमृत शब्द से निर्दिष्ट है तथा (इदम्) यह (ब्रह्म) भृगुवल्ली में ब्रह्म पद से कहा गया है और (इदम्) यह (सर्वम्) छान्दोग्योपनिषद् में 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस श्रुति से प्रतिपादन किया गया है।।४।।

विशेषार्थ– यह वायु ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब पर्यन्त सम्पूर्ण प्राणियों के वहन के द्वारा उपकारक होने से मधु के समान मधु है। और ब्रह्मादिस्तम्ब पर्यन्त समस्त प्राणी तदनुकूल होने से इस वायु के मधु हैं। और सब प्राणियों के उपजीव्य होने से मधुभूत इस वायु में यह स्वयं प्रकाश ज्ञानमय मरण धर्म शून्य अन्तर्यामी पुरुष है। और शरीरेन्द्रिय मनः प्राण जीव संघात में जो यह प्राणान्तर्यामी स्वयं प्रकाश ज्ञानमय मरण धर्म हीन अन्तर्यामी पुरुष है । वायु में परमात्मा रहता है क्योंकि लिखा है– **यो वायौ तिष्ठन्वायोरन्तरः।।** (बृ० उ० अ० ३ ब्रा० ७ कं० ७) जो वायु में रहता हुआ वायु के बाहर है।।७।। और लिखा है– **वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्।।** (ऐत० उ० अ० १ खं० २ श्रु० ४) वायु ने प्राण होकर नासिका के दोनों छिद्रों में प्रवेश किया।।४।। यही वह निश्चय करके है जो यह– **आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः।।** (बृ० उ० अ० २ ब्रा० ४ कं० ५) अरे मैत्रेयि आत्मा ही देखने योग्य है।।५।। इस मैत्रेयी ब्राह्मण की श्रुति में आत्मा पद से कहा गया है, वही वातान्तर्यामी तथा प्राणान्तर्यामी भी है। और जो

यह— **एतदमृतमेतदभयमेतद्ब्रह्म ॥** (छा० उ० प्रपा० ४ खं० १५ श्रु० १) यह मरण शून्य है, यह भय रहित है, यह ब्रह्म है।।१।। इस उपकोशल विद्या की श्रुति में अमृत शब्द से कहा गया है वही पवनान्तर्यामी तथा प्राणान्तर्यामी भी है। और जो यह **तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म ॥** (तैत्ति० उ० व० ३ अनु० १ श्रु० १) उसको विशेष रूप से जानने की इच्छा कर, वही ब्रह्म है।।१।। इस भृगुवल्ली की श्रुति में ब्रह्म पद से कहा गया है वही वाय्वन्तर्यामी तथा प्राणान्तर्यामी भी है। और जो यह— **सर्वं खल्विदं ब्रह्म॥** (छा० उ० प्रपा० ३ खं० १४ श्रु० १) निश्चय यह ब्रह्म सर्व शरीरक है।।१।। इस छान्दोग्योपनिषद् की श्रुति में सर्वोपादानतया निर्दिष्ट ब्रह्म है वही वाय्वन्तर्यामी और प्राणान्तर्यामी भी है।।४।।

अयमादित्यः सर्वेषां भूतानां मध्वस्याऽऽदित्यस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्नादित्ये तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं चाक्षुषस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ।।५।।

अन्वयार्थ— (अयम्) यह (आदित्यः) सूर्य (सर्वेषाम्) संपूर्ण ब्रह्मादिस्तम्ब-पर्यन्त (भूतानाम्) प्राणियों के (मधु) मधु है और (सर्वाणि) समस्त ब्रह्म से लेकर स्तम्बपर्यन्त (भूतानि) प्राणी वर्ग (अस्य) इस (आदित्यस्य) सूर्य के (मधु) मधु हैं (च) और (अस्मिन्) सर्व भूतोपजीव्य द्वारा मधुभूत इस (आदित्ये) सूर्य में (यः) जो (अयम्) यह (तेजोमयः) स्वयं प्रकाश ज्ञानमय (अमृतमयः) मरण धर्म शून्य (पुरुषः) अन्तर्यामी पुरुष है (च) और (अध्यात्मम्) देहेन्द्रिय मनः प्राण जीव संघात में (यः) जो (अयम्) यह (चाक्षुषः) नेत्रान्तर्यामी (तेजोमयः) स्वयं प्रकाश ज्ञानमय (अमृतमयः) मरण धर्म शून्य (पुरुषः) अन्तर्यामी पुरुष है (अयम्) यही (एव) निश्चय कर के (सः) वह अन्तर्यामी पुरुष है (यः) जो (अयम्) यह (आत्मा) मैत्रेयी ब्राह्मण में आत्मा पद से निर्दिष्ट है और (इदम्) यह (अमृतम्) उपकोशल विद्या में अमृत शब्द से निर्दिष्ट है तथा (इदम्) यह (ब्रह्म) भृगुवल्ली में ब्रह्म पद से कहा गया है और (इदम्) यह (सर्वम्) छान्दोग्योपनिषद् में 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस श्रुति से प्रतिपादन किया गया है ।।५।।

विशेषार्थ— यह आदित्य ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त संपूर्ण प्राणियों के मधु के समान मधु है। आदित्य के विषय में लिखा है— **आदित्यो वै तेज ओजो बलं यशः** (तैत्ति० आर० प्रपा० १० अनु० १४ श्रु० १) सूर्य ही तेज ओज बल और यश

है।।१।। और ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त समस्त प्राणी तदनुकूल होने से इस आदित्य के मधु हैं। और सब प्राणियों के उपजीव्य होने से मधुभूत इस आदित्य में जो यह स्वयं प्रकाशज्ञानमय मरणधर्मशून्य अन्तर्यामी पुरुष है । आदित्य में परमात्मा रहता है । क्योंकि लिखा है– **य आदित्ये तिष्ठान्नादित्यादन्तरः** (बृ॰ उ॰ अ॰ ३ ब्रा॰ ७ कं॰ ९) जो सूर्य में रहता हुआ सूर्य से बाहर है।।९।। और लिखा है– **आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशत्** (ऐत॰ उ॰ अ॰ १ खं २ श्रु॰ ४) आदित्य नेत्र होकर आँखों के गोलकों में प्रवेश किया।।४।। यही वह निश्चय करके है जो यह– **आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः** (बृ॰ उ॰ अ॰ २ ब्रा॰ ४ कं॰ ५) अरे मैत्रेयि आत्मा ही देखने योग्य है ।।५।। इस मैत्रेयी ब्राह्मण की श्रुति में आत्मा पद से कहा गया है, वही आदित्यान्तर्यामी तथा नेत्रान्तर्यामी भी है। और जो यह– **एतदमृतमेतदभयमेतद्ब्रह्म** (छा॰ उ॰ प्रपा॰ ४ खं॰ १५ श्रु॰ १) यह मरणशून्य है यह भय रहित है यह ब्रह्म है।।१।। इस उपकोशलविद्या की श्रुति में अमृत शब्द से कहा गया है वही आदित्यान्तर्यामी तथा नेत्रान्तर्यामी भी है। और जो यह– **तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म** (तैत्ति॰ उ॰ व॰ ३ अनु॰ १ श्रु॰ १) उसको विशेष रूप से जानने की इच्छा कर वही ब्रह्म है।।१।। इस भृगुवल्ली की श्रुति में ब्रह्म पद से कहा गया है वही आदित्यान्तर्यामी तथा नेत्रान्तर्यामी भी है। और जो यह– **सर्वं खल्विदं ब्रह्म** (छा॰ उ॰ प्रपा॰ ३ खं॰ १४ श्रु॰ १) निश्चय यह ब्रह्म सर्व शरीरक है।।१।। इस छान्दोग्यपनिषद् की श्रुति में सर्वोपादानतया निर्दिष्ट ब्रह्म है वही आदित्यान्तर्यामी और नेत्रान्तर्यामी भी है।।५।।

इमा दिशः सर्वेषां भूतानां मध्वासां दिशां सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमासु दिक्षु तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं श्रौत्रः प्रातिश्रुत्कस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ।।६।।

अन्वयार्थ– (इमाः) ये (दिशः) पूर्व पश्चिमादिक दिशाएँ (सर्वेषाम्) सम्पूर्ण ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त (भूतानाम्) प्राणियों के (मधु) मधु के सदृश मधु हैं और (सर्वाणि) ब्रह्म से लेकर स्तम्ब पर्यन्त समस्त (भूतानि) प्राणीवर्ग (आसाम्) इन (दिशाम्) पूर्वादि दिशाओं के (मधु) मधु हैं (च) और (आसु) सब के मधुभूत इन (दिक्षु) दिशाओं में (यः) जो (अयम्) यह (तेजोमयः) स्वयं प्रकाश ज्ञानमय (अमृतमयः) मरणधर्मशून्य

(पुरुषः) अन्तर्यामी पुरुष है (च) और (अध्यात्मम्) देहेन्द्रिय मनः प्राण जीवसंघात में (यः) जो (अयम्) यह (श्रौत्रः) श्रोत्रान्तर्यामी (प्रातिश्रुत्कः) प्रत्येक श्रवणवेला में रहने वाला (तेजोमयः) स्वयं प्रकाश ज्ञानमय (अमृतमयः) मरणधर्म शून्य (पुरुषः) अन्तर्यामी पुरुष है (अयम्) यही (एव) निश्चय करके (सः) वह अन्तर्यामी पुरुष है (यः) जो (अयम्) यह (आत्मा) मैत्रेयीब्राह्मण में आत्मा पद से निर्दिष्ट है और (इदम्) यह (अमृतम्) उपकोशलविद्या में अमृत पद से निर्दिष्ट है तथा (इदम्) यह (ब्रह्म) भृगुवल्ली में ब्रह्म पद से कहा गया है और (इदम्) यह (सर्वम्) छान्दोग्योपनिषद् में सर्वं खल्विदं ब्रह्म इस श्रुति से प्रतिपादन किया गया है ॥६॥

विशेषार्थ– ये पूर्व दक्षिण पश्चिम आदिक दिशाएँ ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त सम्पूर्ण प्राणियों के मधु के समान मधु हैं। और ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त समस्त प्राणी इन पूर्वादि दिशाओं के मधु हैं । और सब प्राणियों के मधुभूत इन दिशाओं में जो यह स्वयं प्रकाश ज्ञानमय मरणधर्म शून्य अन्तर्यामी पुरुष है । और शरीरेन्द्रिय मनः प्राण जीव संघात में जो यह श्रोत्रान्तर्यामी प्रत्येक श्रवण काल में रहनेवाला स्वयं प्रकाश ज्ञानमय मरणधर्म शून्य अन्तर्यामी पुरुष है । जो प्रत्येक श्रवण वेला में रहता है उसको ''प्रातिश्रुत्क'' कहते हैं । दिशाओं में परमात्मा रहता है । क्योंकि लिखा है– **यो दिक्षु तिष्ठन् दिग्भ्योऽन्तरः ॥** (बृ॰ उ॰ अ॰ ३ ब्रा॰ ७ कं॰ १०) जो दिशाओं में रहता हुआ दिशाओं से बाहर है ॥१०॥ और लिखा है– **दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन् ॥** (ऐत॰ उ॰ अ॰ १ खं॰ २ श्रु॰ ४) दिशाएँ श्रोत्र होकर दोनों कान के छिद्रों में प्रवेश कीं॥४॥ वही यह निश्चय करके है जो यह– **आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः ॥** (बृ॰ उ॰ अ॰ २ ब्रा॰ ४ कं॰ ५) अरे मैत्रेयि आत्मा ही देखने योग्य है ॥५॥ इस मैत्रेयी ब्राह्मण की श्रुति में आत्मा पद से कहा गया है, वही दिशान्तर्यामी तथा श्रोत्रान्तर्यामी भी है। और जो यह **एतदमृतमेतदभयमेतद्ब्रह्म ॥** (छां॰ उ॰ प्रपा॰ ४ खं॰ १५ श्रु॰ १) यह मरणशून्य है, यह भय रहित है, यह ब्रह्म है॥१॥ इस उपकोशलविद्या की श्रुति में अमृत शब्द से कहा गया है वही दिशान्तर्यामी तथा श्रोत्रान्तर्यामी भी है। और जो यह– **तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म॥** (तैत्ति॰ उ॰ व॰ ३ अनु॰ १ श्रु॰ १) उसको विशेष रूप से जानने की इच्छा कर वही ब्रह्म है॥१॥ इस भृगुवल्ली की श्रुति में ब्रह्म पद से कहा गया है वही दिशान्तर्यामी तथा श्रोत्रान्तर्यामी भी है। और जो यह– **सर्वं खल्विदं ब्रह्म॥** (छां॰ उ॰ प्रपा॰ ३ खं॰ १४ श्रु॰ १) निश्चय यह ब्रह्म सर्वशरीरक है ॥१॥ इस छान्दोग्योपनिषद् की श्रुति में सर्वोपादानतया निर्दिष्ट ब्रह्म है, वही दिशान्तर्यामी ओर

श्रोत्रान्तर्यामी भी है॥६॥

अयं चन्द्रः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य चन्द्रस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिंश्चन्द्रे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं मानसस्तेजोमयोऽमृतमयपुरुषो ऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम्॥७॥

अन्वयार्थ– (अयम्) यह (चन्द्रः) चन्द्रमा (सर्वेषाम्) सम्पूर्ण ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त (भूतानाम्) प्राणियों के (मधु) मधु है और (सर्वाणि) ब्रह्म से लेकर स्तम्ब पर्यन्त समस्त (भूतानि) प्राणी (अस्य) इस (चन्द्रस्य) चन्द्रमा के (मधु) मधु है (च) और (अस्मिन्) इस (चन्द्रे) चन्द्रमा में (यः) जो (अयम्) यह (तेजोमयः) स्वयं प्रकाश ज्ञानमय (अमृतमयः) मरणधर्म शून्य (पुरुषः) अन्तर्यामी पुरुष है (च) और (अध्यात्मम्) देहेन्द्रिय मनः प्राण जीव संघात में (यः) जो (अयम्) यह (मानसः) मनोऽन्तर्यामी (तेजोमयः) स्वयं प्रकाश ज्ञानमय (अमृतमयः) मरण धर्मशून्य (पुरुषः) अन्तर्यामी पुरुष है (अयम्) यही (एव) निश्चय कर के (सः) वह अन्तर्यामी पुरुष हैं (यः) जो (अयम्) यह (अत्मा) मैत्रेयी ब्राह्मण में आत्मापद से निर्दिष्ट है तथा (इदम्) यह (ब्रह्म) भृगुवल्ली में ब्रह्मपद से कहा गया है और (इदम्) यह (सर्वम्) छान्दोग्योपनिषद् में 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस श्रुति से प्रतिपादन किया गया है॥७॥

विशेषार्थ– यह चन्द्रमा ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त सम्पूर्ण प्राणियों के मधु के समान है। और ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त समस्त प्राणी इस चन्द्रमा के मधु हैं। और सब प्राणियों के मधुभूत इस चन्द्रमा में जो यह स्वयं प्रकाश ज्ञानमय मरणधर्म शून्य अन्तर्यामी पुरुष है। और शरीरेन्द्रिय मनः प्राण जीव संघात में जो यह मनोऽन्तर्यामी स्वयं प्रकाश ज्ञानमय मरणधर्म शून्य अन्तर्यामी पुरुष है। चन्द्रमा में परमात्मा रहता है। क्योंकि लिखा है–**यश्चन्द्रतारके तिष्ठंश्चन्द्रतारकादन्तरः॥** (बृ० उ० अ० ३ ब्रा० ९ कं० ११) जो चन्द्रमा और ताराओं में रहता हुआ चन्द्रमा तथा ताराओं से बाहर है ॥११॥ और लिखा है–**चन्द्रमा मनोभूत्वा हृदयं प्राविशत्** (ऐत० उ० अ० १ खं० २ श्रु० ४ चन्द्रमा मन होकर हृदय में प्रवेश किया॥४॥ वही यह निश्चय करके है जो यह– **आत्मा वा अरी द्रष्टव्यः॥** (बृ० उ० अ० २ ब्रा० ४ कं० ५) अरे मैत्रेयि आत्मा ही देखने योग्य है॥५॥ इस मैत्रेयी ब्राह्मण की श्रुति में आत्मा पद से कहा गया है वही चन्द्रान्तर्यामी तथा मनोऽन्तर्यामी भी है। और जो यह–**एतदमृतमेतदभयमेतद्ब्रह्म॥** (छां० उ० प्रपा०

४ खं० १५ श्रु० १) यह मरण शून्य है यह भय रहित है यह ब्रह्म है॥१॥ इस उपकोशलविद्या की श्रुति में अमृत शब्द से कहा गया है वही चन्द्रान्तर्यामी तथ मनोऽन्तर्यामी भी है। और जो यह—**तद्विजिज्ञासस्वतद्ब्रह्म॥** (तैत्ति० उ० व० ३ अनु० १ श्रु० १) उसको विशेष रूप से जानने की इच्छा कर वही ब्रह्म है॥१॥ इस भृगवल्ली की श्रुति में ब्रह्मपद से कहा गया है वही चन्द्रान्तर्यामी तथा मनोऽन्तर्यामी भी है। और जो यह— **सर्वं खल्विदं ब्रह्म॥** (छा० उ० प्रपा० ३ खं० १४ श्रु० १) निश्चय यह ब्रह्म सर्वशरीरक है॥१॥ इस छान्दोग्योपनिषद् की श्रुति में सर्वोपादानतया निर्दिष्ट ब्रह्म है, वही चन्द्रान्तर्यामी और मनोऽन्तर्यामी भी है॥७॥

इयं विद्युत्सर्वेषां भूतानां मध्वस्यै विद्युतः सर्वाणि भूतानि मधु। यश्चायमस्य विद्युति तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं तैजसस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स यो ऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम्॥८॥

अन्वयार्थ— (अयम्) यह (विद्युत्) बिजली (सर्वेषाम्) सम्पूर्ण ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त (भूतानाम्) प्राणियों के (मधु) मधु है और (सर्वाणि) ब्रह्म से लेकर स्तम्ब पर्यन्त समस्त (भूतानि) प्राणी (अस्य) इस (विद्युतः) बिजली के (मधु) मधु हैं (च) और (अस्याम्) इस (विद्युति) बिजली में (यः) जो (अयम्) यह (तेजोमयः) स्वयं प्रकाश ज्ञानमय (अमृतमयः) मरणधर्म शून्य (पुरुषः) अन्तर्यामी पुरुष है (च) और (अध्यात्मम्) अध्यात्म (यः) जो (अयम्) यह (तैजसः) कौक्षेयतेजः सम्बन्धी (तेजोमयः) स्वयं प्रकाश ज्ञानमय (अमृतमयः) मरण धर्मशून्य (पुरुषः) अन्तर्यामी पुरुष है (अयम्) यही (एव) निश्चय कर के (सः) वह अन्तर्यामी पुरुष है (यः) जो (अयम्) यह (आत्मा) मैत्रेयी ब्राह्मण में आत्मापद से निर्दिष्ट है और (इदम्) यह (ब्रह्म) भृगुवल्ली में ब्रह्मपद से कहा गया है और (इदम्) यह (सर्वम्) छान्दोग्योपनिषद् में 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस श्रुति से प्रतिपादन किया गया है॥८॥

विशेषार्थ— यह विद्युत् ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब पर्यन्त सम्पूर्ण प्राणियों के मधु के समान मधु है। और ब्रह्मादिस्तम्ब पर्यन्त समस्त प्राणी इस विद्युत के मधु हैं। विद्युत् के विषय में लिखा है—**तडित्सौदामनी विद्युच्चञ्चला चपला**

अपि॥ (अमर० कां० १ व० ३ श्लो० ९) तडित् १, सौदामनी २, विद्युत् ३, चञ्चला ४, चपला ५ ये बिजली के नाम हैं॥९॥ और सब प्राणियों के मधुभूत इस विद्युत् में जो यह स्वयं प्रकाश ज्ञानमय मरणधर्म शून्य अन्तर्यामी पुरुष है। और जो यह अध्यात्मकौक्षेय तेजः सम्बन्धी स्वयं प्रकाश ज्ञानमय मरण धर्म शून्य अन्तर्यामी पुरुष है। वही यह निश्चय करके है जो यह—**आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः॥** (बृ० उ० अ० २ ब्रा० ४ कं० ५) अरे मैत्रेयि आत्मा ही देखने योग्य है॥५॥ इस मैत्रेयी ब्राह्मण की श्रुति में आत्मा पद से कहा गया है वही विद्युदन्तर्यामी तथा कौक्षेय तैजसान्तर्यामी भी है। और जो यह— **एतदमृतमेतदभयमेतद्ब्रह्म॥** (छां० उ० प्रपा० ४ खं० १५ श्रु० १) यह मरण शून्य है यह भय रहित है यह ब्रह्म है॥१॥ इस उपकोशलविद्या की श्रुति में अमृत शब्द से कहा गया है वही विद्युदन्तर्यामी तथा कौक्षेय तैजसान्तर्यामी भी है। और जो यह— **तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म॥** (तैत्ति० उ० व० ३ अनु० १ श्रु० १) उसको विशेषरूप से जानने की इच्छा कर, वही ब्रह्म है॥१॥ इस भृगुवल्ली की श्रुति में ब्रह्मपद से कहा गया है, वही विद्युदन्तर्यामी तथा कौक्षेय तैजसान्तर्यामी भी है। और जो यह— **सर्वं खल्विदं ब्रह्म॥** (छां० उ० प्रपा० ३ खं० १४ श्रु० १) निश्चय यह ब्रह्म सर्वशरीरक है॥१॥ इस छान्दोग्योपनिषद् की श्रुति में सर्वोपादानतया निर्दिष्ट ब्रह्म है वही विद्युदन्तर्यामी और कौक्षेय तैजसान्तर्यामी भी है॥८॥

अयं स्तनयित्नुः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य स्तनयित्नोः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन् स्तनयित्नौ तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं शाब्दः सौवरस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम्॥९॥

अन्वयार्थ— (अयम्) यह (स्तनयित्नुः) मेघ (सर्वेषाम्) सम्पूर्ण ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त (भूतानाम्) प्राणियों के (मधु) मधु है और (सर्वाणि) ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब पर्यन्त समस्त (भूतानि) प्राणी (अस्य) इस (स्तनयित्नोः) मेघ के (मधु) मधु हैं (च) और (अस्मिन्) इस (स्तनयित्नौ) मेघ में (यः) जो (अयम्) यह (तेजोमयः) स्वयं प्रकाश ज्ञानमय (अमृतमयः) मरणधर्म शून्य(पुरुषः) अन्तर्यामी पुरुष है (च)और (अध्यात्मम्) अध्यात्म (यः) जो (अयम्) यह (सौवरः) स्वर में रहने वाला (शाब्दः)

वागिन्द्रियोच्चार्यमाण शब्दान्तर्यामी (तेजोमयः) स्वयं प्रकाश ज्ञानमय (अमृतमयः) मरण धर्मशून्य (पुरुषः) अन्तर्यामी पुरुष है (अयम्) यही (एव) निश्चय कर के (सः) वह अन्तर्यामी पुरुष है (यः) जो (अयम्) यह (आत्मा) मैत्रेयी ब्राह्मण में आत्मापद से निर्दिष्ट है और (इदम्) यह (अमृतम्) उपकोशलविद्या में अमृत शब्द से निर्दिष्ट है तथा (इदम्) यह (सर्वम्) छान्दोग्योपनिषद् में सर्वं खल्विदं ब्रह्म इस श्रुति से प्रतिपादन किया गया है॥९॥

विशेषार्थ– यह मेघ ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त सम्पूर्ण प्राणियों के मधु के समान मधु है। और ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त समस्त प्राणी इस मेघ के मधु हैं। "स्तनयित्नु" शब्द मेघ वाचक है। क्योंकि लिखा है– **अभ्रं मेघो वारिवाहः स्तनयित्नुर्बलाहकः॥** (अमर॰ कां॰ १ व॰ ३ श्लो॰ ६) अभ्र १, मेघ २, वारिवाह ३, स्तनयित्नु ४, बलाहक ५ ये बादल के नाम हैं॥६॥ और सब प्राणियों के मधुभूत इस मेघ में जो यह स्वयं प्रकाश ज्ञानमय मरणधर्म शून्य अन्तर्यामी पुरुष है। और जो यह अध्यात्मस्वर में रहने वाला वागिन्द्रियोच्चार्यमाणशब्दान्तर्यामी स्वयं प्रकाश ज्ञानमय मरणधर्म शून्य अन्तर्यामी पुरुष है। "स्वरे भवः" इस व्युत्पति में ऐआगम होकर "सौवरः" पद निष्पन्न होता है। "सौवरः" यानी स्वर में रहने वाला "सौवरः" पद "शब्दः" का विशेषण है। वही यह निश्चय करके है जो यह– **आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः ॥** (बृ॰ उ॰ अ॰ २ ब्रा॰ ४ कं॰ ५) अरे मैत्रेयि आत्मा ही देखने योग्य है॥५॥ इस मैत्रेयी ब्राह्मण की श्रुति में आत्मा पद से कहा गया है वही मेघान्तर्यामी तथा वागिन्द्रियोच्चार्यमाणशब्दान्तर्यामी भी है। और जो यह– **एतदमृतमेतदभयमेतद्ब्रह्म॥** (छां॰ उ॰ प्रपा॰ ४ खं॰ १५ श्रु॰ १) यह मरण शून्य है यह भय रहित है यह ब्रह्म है॥१॥ इस उपकोशलविद्या की श्रुति में अमृत शब्द से कहा गया है वही मेघान्तर्यामी तथा वागिन्द्रियोच्चार्यमाणशब्दान्तर्यामी भी है। और जो यह– **तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म॥** (तैत्ति॰ उ॰ व॰ ३ अनु॰ १ श्रु॰ १) उसको विशेषरूप से जानने की इच्छा कर वही ब्रह्म है॥१॥ इस भृगुवल्ली की श्रुति में ब्रह्मपद से कहा गया है वही मेघान्तर्यामी तथा वागिन्द्रियोच्चार्यमाणशब्दान्तर्यामी भी है। और जो यह– **सर्वं खल्विदं ब्रह्म॥** (छां॰ उ॰ प्रपा॰ ३ खं॰ १४ श्रु॰ १) निश्चय यह ब्रह्म सर्वशरीरक है॥१॥ इस छान्दोग्योपनिषद् की श्रुति में सर्वोपादानतया निर्दिष्ट ब्रह्म है वही मेघान्तर्यामी और वागिन्द्रियोच्चार्यमाणशब्दान्तर्यामी भी है॥९॥

अयमाकाशः सर्वेषां भूतानां मध्वस्याकाशस्य सर्वाणि

भूतानि मधुयश्चायमस्मिन्नाकाशे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं हृद्याकाशस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥१०॥

अन्वयार्थ– (अयम्) यह (आकाशः) आकाश (सर्वेषाम्) सम्पूर्ण ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त (भूतानाम्) प्राणियों का (मधु) मधु है और (सर्वाणि) ब्रह्म से लेकर स्तम्ब पर्यन्त समस्त (भूतानि) प्राणी (अस्य) इस (आकाशस्य) आकाश के (मधु) मधु हैं (च) और (अस्मिन्) इस (आकाशे) आकाश में (यः) जो (अयम्) यह (तेजोमयः) स्वयं प्रकाश ज्ञानमय (अमृतमयः) मरणधर्म शून्य (पुरुषः) अन्तर्यामी पुरुष है (च) और (अध्यात्मम्) अध्यात्म (यः) जो (अयम्) यह (हृदि) हृदय में (आकाशः) आकाशान्तर्यामी (तेजोमयः) स्वयं प्रकाश ज्ञानमय (अमृतमयः) मरणधर्मशून्य (पुरुषः) अन्तर्यामी पुरुष है (अयम्) यही (एव) निश्चय कर के (सः) वह अन्तर्यामी पुरुष है (यः) जो (अयम्) यह (आत्मा) मैत्रेयी ब्राह्मण में आत्मापद से निर्दिष्ट है और (इदम्) यह (अमृतम्) उपकोशलविद्या में अमृत शब्द से निर्दिष्ट है तथा (इदम्) यह (सर्वम्) छान्दोग्योपनिषद् में सर्वं खल्विदं ब्रह्म इस श्रुति से प्रतिपादन किया गया है॥१०॥

विशेषार्थ– यह आकाश ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त सम्पूर्ण प्राणियों के मधु के समान मधु है। और ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त समस्त प्राणी इस आकाश के मधु हैं। और सब प्राणियों के मधुभूत इस आकाश में जो यह स्वयं प्रकाशज्ञानमय मरणधर्मशून्य अन्तर्यामी पुरुष है। आकाश में परमात्मा रहता है। क्योंकि लिखा है– **य आकाशे तिष्ठन्नाकाशादन्तरः॥** (बृ० उ० अ० ३ ब्रा० ७ कं० १२) जो आकाश में रहता हुआ आकाश से बाहर है ॥१२॥ और अध्यात्म जो यह हृदयाकाशान्तर्यामी स्वयं प्रकाश ज्ञानमय मरणधर्मशून्य अन्तर्यामी पुरुष है । वही यह निश्चय करके है जो यह– **आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः ॥** (बृ० उ० अ० २ ब्रा० ४ कं० ५) अरे मैत्रेयी आत्मा ही देखने योग्य है ॥५॥ इस मैत्रेयी ब्राह्मण की श्रुति में आत्मा पद से कहा गया है, वही आकाशान्तर्यामी तथा हृदयाकाशान्तर्यामी भी है। और जो यह– **एतदमृतमेतदभयमेतद्ब्रह्म ॥** (छां० उ० प्रपा० ४ खं० १५ श्रु० १) यह मरण शून्य है, यह भय रहित है, यह ब्रह्म है ॥१॥ इस उपकोशलविद्या की श्रुति में अमृत शब्द से कहा गया है वही

आकाशान्तर्यामी तथा हृदयाकाशान्तर्यामी भी है । और जो यह– **सर्वं खल्विदं ब्रह्म ॥** (छा॰ उ॰ प्रपा॰ ३ खं॰ १४ श्रु॰ १) निश्चय यह ब्रह्म सर्व शरीरक है।।१।। इस छान्दोग्योपनिषद् की श्रुति में सर्वोपादानतया निर्दिष्ट ब्रह्म है वही आकाशान्तर्यामी और हृदयाकाशान्तर्यामी भी है।।१०।।

अयं धर्मः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य धर्मस्य सर्वाणि भूतानि मधुयश्चायमस्मिन्धर्मे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं धार्मस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो ऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ।।११।।

अन्वयार्थ– (अयम्) यह (धर्मः) श्रुतिस्मृति प्रसिद्ध ज्योतिष्टोमादिलक्षण धर्म (सर्वेषाम्) सम्पूर्ण ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त (भूतानाम्) प्राणियों के (मधु) मधु है और (सर्वाणि) ब्रह्म से लेकर स्तम्बपर्यन्त समस्त (भूतानि) प्राणी (अस्य) इस (धर्मस्य) श्रुतिस्मृति प्रसिद्ध ज्योतिष्टोमादिलक्षण धर्म के (मधु) मधु हैं (च) और (अस्मिन्) इस (धर्मे) श्रुतिस्मृति प्रसिद्ध ज्योतिष्टोमादिलक्षण धर्म में (यः) जो (अयम्) यह (तेजोमयः) स्वयं प्रकाश ज्ञानमय (अमृतमयः) मरणधर्म शून्य (पुरुषः) अन्तर्यामी पुरुष है (च) और (अध्यात्मम्) अध्यात्म (यः) जो (अयम्) यह (धार्मः) ज्योतिष्टोमादिफलभूत सुखादिलक्षणान्तर्यामी (तेजोमयः) स्वयं प्रकाश ज्ञानमय (अमृतमयः) मरणधर्मशून्य (पुरुषः) अन्तर्यामी पुरुष है (अयम्) यही (एव) निश्चय कर के (सः) वह अन्तर्यामी पुरुष है (यः) जो (अयम्) यह (आत्मा) मैत्रेयीब्राह्मण में आत्मापद से निर्दिष्ट है और (इदम्) यह (अमृतम्) उपकोशलविद्या में अमृत शब्द से निर्दिष्ट है तथा (इदम्) यह (सर्वम्) छान्दोग्योपनिषद् में सर्व खल्विदं ब्रह्म इस श्रुति से प्रतिपादन किया गया है ।।११।।

विशेषार्थ– यह श्रुतिस्मृति प्रसिद्ध ज्योतिष्टोमादिलक्षण धर्म ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त सम्पूर्ण प्राणियों के मधु के समान मधु है । और ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त समस्त प्राणी इस श्रुतिस्मृति प्रसिद्ध ज्योतिष्टोमादिलक्षण धर्म के मधु हैं । धर्म के विषय में लिखा है– **धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति । धर्मेण पापमपनुदन्ति धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितं तस्माद्धर्मं परमं वदन्ति ॥** (तैत्ति॰ आरण्य॰ प्रपा॰ १० अनु॰ ६३) धर्म समस्त संसार की प्रतिष्ठा है, लोक में सब जन धर्मिष्ठ के समीप जाते हैं, धर्म से सब लोग पाप को दूर करते हैं, धर्म में सब प्रतिष्ठित है, इससे सब

लोग धर्म को सब से श्रेष्ठ कहते हैं ॥६३॥ **चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः ॥** (पूर्वमी० अ० १ पा० १ सू० २) चोदना लक्षण अर्थ धर्म है॥२॥ **यतोऽभ्युदयंनिश्श्रेयससिद्धिस्सः धर्मः॥** (वैशेषिक० अ० १ आह्नि० १ सू० २) जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस सिद्धि हो वह धर्म है॥२॥ उस धर्म का स्वरूप दस प्रकार का लिखा है । **धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः । धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ।** (नारदपरिव्राज० उ० उपदे० ३ श्रु० २४) (मनु० अ० ६ श्लो० ९२) धीरता १, क्षमा २, मन रोकना ३, अन्याय से दूसरे का धन न लेना ४, पवित्रता ५, इन्द्रियों को रोकना ६, बुद्धि ७, आत्मज्ञान ८, सच्चा बोलना ९ और क्रोध न करना १० ये दस धर्म के लक्षण हैं ॥२४॥९२॥ और सब प्राणियों के मधुभूत इस धर्म में जो यह स्वयं प्रकाश ज्ञानमयमरणधर्मशून्य अन्तर्यामी पुरुष है। और अध्यात्म जो यह ज्योतिष्टोमादिफलभूत सुखादिलक्षणान्तर्यामी स्वयं प्रकाश ज्ञानमय मरणधर्मशून्य अन्तर्यामी पुरुष है। वही वह निश्चय करके है जो यह– **एतदमृतमेतदभयमेतद्ब्रह्म ॥** (छां० उ० प्रपा० ४ खं० १५ श्रु० १) यह मरण शून्य है, यह भय रहित है, यह ब्रह्म है॥१॥ इस उपकोशलविद्या की श्रुति में अमृत शब्द से कहा गया है वही धर्मान्तर्यामी तथा ज्योतिष्टोमादिफलभूत सुखादिलक्षणान्तर्यामी भी है । और जो यह– **तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म ॥** (तैत्ति० उ० क० ३ अनु० १ श्रु० १) उसको विशेष रूप से जानने की इच्छा कर वही ब्रह्म है ॥१॥ इस भृगुवल्ली की श्रुति में ब्रह्म पद से कहा गया है वही धर्मान्तर्यामी तथा ज्योतिष्टोमादिफलभूत सुखादिलक्षणान्तर्यामी भी है । और जो यह– **सर्वं खल्विदं ब्रह्म॥** (छां० उ० प्रपा० ३ खं० १४ श्रु० १) निश्चय यह ब्रह्म सर्व शरीरक है ॥१॥ इस छान्दोग्योपनिषद् की श्रुति में सर्वोपादानतया निर्दिष्ट ब्रह्म है वही धर्मान्तर्यामी और ज्योतिष्टोमादिफलभूत सुखादिलक्षणान्तर्यामी भी है ॥११॥

इदं सत्यं सर्वेषां भूतानां मध्वस्य सत्यस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्सत्ये तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं सात्यस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो ऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥१२॥

अन्वयार्थ– (अयम्) यह (सत्यम्) सत्यवचन (सर्वेषाम्) सम्पूर्ण ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त (भूतानाम्) प्राणियों का (मधु) मधु है और (सर्वाणि) ब्रह्मा से

लेकर स्तम्बपर्यन्त समस्त (भूतानि) प्राणी (अस्य) इस (सत्यस्य) सत्यवचन के (मधु) मधु हैं (च) और (अस्मिन्) इस (सत्ये) सत्य वचन में (यः) जो (अयम्) यह (तेजोमयः) स्वयंप्रकाश ज्ञानमय (अमृतमयः) मरणधर्मशून्य (पुरुषः) अन्तर्यामी पुरुष है (च) और (अध्यात्मम्) अध्यात्म (यः) जो (अयम्) यह (सात्यः) सत्य के फलभूत सुखादिलक्षणान्तर्यामी (तेजोमयः) स्वयं प्रकाश ज्ञानमय (अमृतमयः) मरणधर्मशून्य (पुरुषः) अन्तर्यामी पुरुष है (अयम्) यही (एव) निश्चय कर के (सः) वह अन्तर्यामी पुरुष है (यः) जो (अयम्) यह (आत्मा) मैत्रेयीब्राह्मण में आत्मापद से निर्दिष्ट है और यह (अमृतम्) उपकोशलविद्या में अमृत शब्द से निर्दिष्ट है तथा (इदम्) यह (ब्रह्म) भृगुवल्ली में ब्रह्म पद से कहा गया है और (इदम्) यह (सर्वम्) छान्दोग्योपनिषद् में 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस श्रुति से प्रतिपादन किया गया है।।१२।।

विशेषार्थ– यह सत्यवचन ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त सम्पूर्ण प्राणियों के मधु के समान मधु है। और ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त समस्त प्राणी इस सत्यवचन के मधु हैं। सत्य के विषय में लिखा है– **सत्येन वायुरावाति सत्येनादित्यो रोचते दिवि । सत्यं वाचः प्रतिष्ठा सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितं तस्मात्सत्यं परमं वदन्ति।।** (तैत्तिरीयारण्य० प्रपा० १० अनु० ६३) वायु सत्य से चलती है सूर्य सत्य से द्युलोक में प्रकाशित होता है वाणी की प्रतिष्ठा सत्य ही है, सत्य में सब प्रतिष्ठित हैं, इससे सबलोग सत्य को सब से श्रेष्ठ कहते हैं।।६३।। **चक्षुरादीन्द्रियैर्दृष्टं श्रुतं घ्रातं मुनीश्वर। तस्यैवोक्तिर्भवेत्सत्यं विप्र तन्नान्यथा भवेत् ।।** (जाबालद० उ० खं० १ श्रु० ९) हे विप्र नेत्र आदिक इन्द्रियों से जो जैसा देखा गया तथा सुना गया और सूँघा गया उसको ठीक जैसे के तैसे जो कहना है उसी को सत्य कहते हैं।।९।। **सत्यं यथा दृष्टार्थगोचरीभूतहितवाक्यम् ।।** (रामानुजभाष्य० गी० अ० १६ श्लो० २) देख सुनकर समझी हुई बात को ठीक वैसे ही बतलाने के लिये कहे जानेवाले प्राणियों के हितकर वचन का नाम "सत्य" है।।२।। **अश्वमेधसहस्रस्य सत्यं च तुलया धृतम्। अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेकं विशिष्यते।।** (विष्णुस्मृ० ८) हजार अवश्मेध यज्ञ और सत्य तराजू में रखे जाने पर हजार अश्वमेध यज्ञ की अपेक्षा अकेला सत्य ही विशेष ठहरता है ।।८।। **सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ।।** (योग० अ० १ पा० २ सू० ३६) सत्य की प्रतिष्ठा होने पर क्रियाओं का फल अधीन हो जाता है ।।३६।। और सब प्राणियों के मधुभूत इस सत्य में जो स्वयंप्रकाश ज्ञानमय मरणधर्म शून्य अन्तर्यामी पुरुष है । और अध्यात्म जो यह सत्य के फलभूत

सुखादिलक्षणान्तर्यामी स्वयंप्रकाश ज्ञानमय मरणधर्मशून्य अन्तर्यामी पुरुष है। वही यह निश्चय करके है जो यह– **आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः ॥** (बृ॰ उ॰ अ॰ २ ब्रा॰ ४ कं॰ ५) अरे मैत्रेयि आत्मा ही देखने योग्य है ॥५॥ इस मैत्रेयी ब्राह्मण की श्रुति में आत्मा पद से कहा गया है वही सत्यान्तर्यामी तथा सत्य के फलभूत सुखादिलक्षणान्तर्यामी भी है । और जो यह– **एतदमृतमेतदभयमेतद्ब्रह्म ॥** (छां॰ उ॰ प्रपा॰ ४ खं॰ १५ श्रु॰ १) यह मरण शून्य है, यह भय रहित है, यह ब्रह्म है॥१॥ इस उपकोशलविद्या की श्रुति में अमृत शब्द से कहा गया है वही सत्यान्तर्यामी तथा सत्य के फलभूत सुखादिलक्षणान्तर्यामी भी है । और जो यह– **तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म॥** (तैत्ति॰ उ॰ व॰ ३ अनु॰ १ श्रु॰ १) उसको विशेष रूप से जानने की इच्छा कर वही ब्रह्म है॥१॥ इस भृगुवल्ली की श्रुति में ब्रह्म पद से कहा गया है वही सत्यान्तर्यामी तथा सत्य के फलभूत सुखादिलक्षणान्तर्यामी भी है । और जो यह– **सर्वं खल्विदं ब्रह्म॥** (छां॰ उ॰ प्रपा॰ ३ खं॰ १४ श्रु॰ १) निश्चय यह ब्रह्म सर्व शरीरक है ॥१॥ इस छान्दोग्योपनिषद् की श्रुति में सर्वोपादानतया निर्दिष्ट ब्रह्म हैं, वही सत्यान्तर्यामी और सत्य के फलभूत सुखादिलक्षणान्तर्यामी भी है ॥१२॥

इदं मानुषं सर्वेषां भूतानां मध्वस्य मानुषस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्सत्ये तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं मानुषस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो ऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥१३॥

अन्वयार्थ– (अयम्) यह (मानुषम्) मनुष्य (सर्वेषाम्) सम्पूर्ण ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त (भूतानाम्) प्राणियों का (मधु) मधु है और (सर्वाणि) ब्रह्म से लेकर स्तम्बपर्यन्त समस्त (भूतानि) प्राणी (अस्य) इस (मानुषस्य) मनुष्य के (मधु) मधु हैं (च) और (अस्मिन्) इस (मानुषे) मनुष्य में (यः) जो (अयम्) यह (तेजोमयः) स्वयंप्रकाश ज्ञानमय (अमृतमयः) मरणधर्मशून्य (पुरुषः) अन्तर्यामी पुरुष है (च) और (अध्यात्मम्) देहेन्द्रिय मनः प्राण जीवसंघात में (यः) जो (अयम्) यह (मानुषः) मनुष्यान्तर्यामी (तेजोमयः) स्वयं प्रकाश ज्ञानमय (अमृतमयः) मरणधर्मशून्य (पुरुषः) अन्तर्यामी पुरुष है (अयम्) यही (एव) निश्चय कर के (सः) वह अन्तर्यामी पुरुष है (यः) जो (अयम्) यह (आत्मा) मैत्रेयी ब्राह्मण में आत्मा पद से निर्दिष्ट है और (इदम्) यह (अमृतम्) उपकोशलविद्या

में अमृत शब्द से निर्दिष्ट है तथा (इदम्) यह (ब्रह्म) भृगुवल्ली में ब्रह्म पद से कहा गया है और (इदम्) यह (सर्वम्) छान्दोग्योपनिषद् में 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस श्रुति से प्रतिपादन किया गया है॥१३॥

विशेषार्थ– यह मनुष्य ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त सम्पूर्ण प्राणियों के मधु के समान मधु है । और ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त समस्त प्राणी इस मनुष्य के मधु हैं । इस श्रुति में "मानुष" शब्द मनुष्य वाचक है । क्योंकि लिखा है– **मनुष्या मानुषा मर्त्या मनुजा मानवा नराः ॥** (अमर० कां० २ व० ६ श्लो० १) मनुष्य १, मानुष २, मर्त्य ३, मनुज ४, मानव ५, नर ६ ये मनुष्य मात्र के नाम हैं ॥१॥ और सब प्राणियों के मधुभूत इस मनुष्य में जो यह स्वयंप्रकाश ज्ञानमय मरणधर्मशून्यअन्तर्यामी पुरुष है । और शरीरेन्द्रिय मनः प्राण जीवसंघात में जो यह मानुषान्तर्यामी स्वयंप्रकाश ज्ञानमय मरणधर्मशून्य अन्तर्यामी पुरुष है वही यह निश्चय करके है जो यह–**आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः ॥** (बृ० उ० अ० २ ब्रा० ४ कं० ५) अरे मैत्रेयि आत्मा ही देखने योग्य है॥५॥ इस मैत्रेयी ब्राह्मण की श्रुति में आत्मा पद से कहा गया है वहीं मनुष्यान्तर्यामी तथा मानुषान्तर्यामी भी है । और जो यह– **एतदमृतमेतदभयमेतद्ब्रह्म ॥** (छां० उ० प्रपा० ४ खं० १५ श्रु० १) यह मरण-शून्य है, यह भय रहित है, यह ब्रह्म है ॥१॥ इस उपकोशलविद्या की श्रुति में अमृत शब्द से कहा गया है वही मनुष्यान्तर्यामी तथा मानुषान्तर्यामी भी है । और जो यह– **तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म ॥** (तैत्ति० उ० व० ३ अनु० १ श्रु० १) उसको विशेष रूप से जानने की इच्छा कर वही ब्रह्म है॥१॥ इस भुगुवल्ली की श्रुति में ब्रह्म पद से कहा गया है वही मनुष्यन्तर्यामी तथा मानुषान्तर्यामी भी है। और जो यह– **सर्वं खल्विदं ब्रह्म ॥** (छा० उ० प्रपा० ३ खं० १४ श्रु० १) निश्चय यह ब्रह्म सर्व् शरीरक है॥१॥ इस छान्दोग्योपनिषद् की श्रुति में सर्वोपादानतया निर्दिष्ट ब्रह्म है वही मनुष्यान्तर्यामी और मानुषान्तर्यामी भी है॥१३॥

अयमात्मा सर्वेषां भूतानां मध्वस्यात्मनः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्नात्मनि तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्ममात्मा तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥१४॥

अन्वयार्थ– (अयम्) यह (आत्मा) जीवात्मा (सर्वेषाम्) सम्पूर्ण पृथ्व्यादि (भूतानाम्) महाभूतों के (मधु) मधु है और (सर्वाणि) पृथ्व्यादि समस्त (भूतानि) महाभूत (अस्य) इस (आत्मनः) जीवात्मा के (मधु) मधु हैं (च)

और (अस्मिन्) इस (आत्मनि) जीवात्मा में (यः) जो (अयम्) यह (तेजोमयः) स्वयंप्रकाश ज्ञानमय (अमृतमयः) मरणधर्मशून्य (पुरुषः) अन्तर्यामी पुरुष है (च) और (अध्यात्मम्) देहेन्द्रियमनः प्राण जीवसंघात में (यः) जो (अयम्) यह (आत्मा) अन्तर्यामी (तेजोमयः) स्वयंप्रकाशज्ञानमय (अमृतमयः) मरणधर्मशून्य (पुरुषः) अन्तर्यामी पुरुष है (अयम्) यही (एव) निश्चय करके (सः) वह अन्तर्यामी पुरुष है (यः) जो (अयम्) यह (आत्मा) मैत्रेयी ब्राह्मण में आत्मा पद से निर्दिष्ट है और (इदम्) यह (अमृतम्) उपकोशलविद्या में अमृत शब्द से निर्दिष्ट है तथा (इदम्) यह (ब्रह्म) भृगुवल्ली में ब्रह्मपद से कहा गया है और (इदम्) यह (सर्वम्) छान्दोग्योपनिषद् में सर्वं खल्विदं ब्रह्म इस श्रुति से प्रतिपादन किया गया है॥१४॥

विशेषार्थ— सब अचेतन से विलक्षण परब्रह्म नारायण को कहकर अब चेतनान्तर्यामित्व द्वारा सर्वचेतन विलक्षण परब्रह्म नारायण प्रतिपादन किया जाता है। यह जीवात्मा सम्पूर्ण पृथ्वी १, जल २, अग्नि ३, वायु ४ और प्रकाश ५ इन महाभूतों के मधु के समान मधु है। और ये सब पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश महाभूत इस जीवात्मा के मधु हैं। महाभूत के विषय में लिखा है— **पृथिव्यापस्तथा तेजो वायुराकाशमेव च** (वराहोप० अ० १श्रु० ५) पृथ्वी १, जल २, अग्नि ३, वायु ४ और आकाश ५ ये पाँच महाभूत हैं ॥५॥ और सब महाभूतों के मधुभूत इस जीवात्मा में जो यह स्वयंप्रकाश ज्ञानमय मरणधर्मशून्य अन्तर्यामी पुरुष है। और शरीरेन्द्रिय प्राणजीवसंघात में जो यह आत्मान्तर्यामी स्वयंप्रकाश ज्ञानमय मरणधर्मशून्य अन्तर्यामी पुरुष है। जीवात्मा में परमात्मा रहता है। क्योंकि लिखा है— **यो विज्ञाने तिष्ठन्विज्ञानादन्तरः** (बृ० उ० अ० ३ ब्रा० ७ कं० २२) जो विज्ञान यानी जीवात्मा में रहता हुआ जीवात्मा से बाहर है ॥२२॥ **य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरः** (शतप०) जो जीवात्मा में रहता हुआ जीवात्मा से बाहर है। वही यह निश्चय करके है जो यह **आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः** ॥ (बृ० उ० अ० २ ब्रा० ४ कं० ५) अरे मैत्रेयि आत्मा ही देखने योग्य है॥५॥ इस मैत्रेयी ब्राह्मण की श्रुति में आत्मा पद से कहा गया है वही जीवान्तर्यामी तथा सर्वान्तर्यामी भी है। और जो यह— **एतदमृतमेतदभयमेतद्ब्रह्म॥** (छां० उ० प्रपा० ४ खं० १५ श्रु० १) यह मरण शून्य है, यह भय रहित है, यह ब्रह्म है ॥१॥ इस उपकोशलविद्या की श्रुति में अमृत शब्द से कहा गया है वही जीवान्तर्यामी तथा सर्वान्तर्यामी भी है। और जो यह— **तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म** ॥ (तैत्ति० उ० व० ३ अनु० १ श्रु० १) उसको विशेष रूप से जानने की इच्छा कर वही ब्रह्म है ॥१॥ इस भृगुवल्ली की श्रुति में ब्रह्म पद से कहा गया है

वही जीवान्तर्यामी तथा सर्वान्तर्यामी भी है । और जो यह– **सर्वं खल्विदं ब्रह्म ॥** (छा० उ० प्रपा० ३ खं० १४ श्रु० १) निश्चय यह ब्रह्म सर्वशरीरक है ॥१॥ इस छान्दोग्योपनिषद् की श्रुति में सर्वोपादानतया निर्दिष्ट ब्रह्म हैं, वही जीवान्तर्यामी और सर्वान्तर्यामी भी है ॥१४॥

स वा अयमात्मा सर्वेषां भूतानामधिपतिः । सर्वेषां भूतानां राजा । तद्यथा रथनाभौ च रथनेमौ चाराः सर्वे समर्पिता एवमेवस्मिन्नात्मनि सर्वाणि भूतानि सर्वे देवाः सर्वे लोकाः सर्वे प्राणाः सर्व एत आत्मानः समर्पिताः ॥१५॥

अन्वयार्थ– (वै) निश्चय करके (सः) चेतनाचेतन विलक्षण (अयम्) यह अन्तर्यामी (आत्मा) परब्रह्म नारायण (सर्वेषाम्) सम्पूर्ण ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त (भूतानाम्) प्राणियों के (अधिपतिः) सम्यक् प्रकार से पालन करने वाला शेषी है और (सर्वेषाम्) ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त समस्त (भूतानाम्) प्राणियों का (राजा) राजा नियन्ता है (तत्) उस विषय में दृष्यन्त है कि (यथा) जैसे (रथनाभौ) रथ की नाभि में (च) और (रथनेमौ) रथ की नेमि में (च) भी (सर्वे) सारे (अराः) अरे (समर्पिताः) समर्पित रहते हैं (एवम्) इसी प्रकार (एव) निश्चय करके (अस्मिन्) इस (आत्मनि) परमात्मा में (सर्वाणि) ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त समस्त (भूतानि) प्राणी तथा (सर्वे) समस्त (लोकाः) भूर्लोक भुवर्लोकादि लोक तथा (सर्वे) समस्त (प्राणाः) प्राण और (सर्वे) सब (एते) ये (आत्मानः) जीवात्मा (समर्पिताः) समर्पित हैं यानी आश्रित हैं॥१५॥

विशेषार्थ– निश्चय करके पहले प्रबन्ध से प्रतिपादित वह चेतनाचेतन विलक्षण यह अन्तर्यामी परब्रह्म नारायण ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त समस्त प्राणियों का रक्षक शेषी है। और यही परब्रह्म नारायण ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त सम्पूर्ण प्राणियों का राजा नियन्ता है। क्योंकि लिखा है– **अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा ॥** (तैत्ति० आर० १ प्रपा० ३ अनु० ११) जीवों का शासक सब की आत्मा अन्तर में प्रविष्ट है॥११॥ इस विषय में दृष्यन्त दिया जाता है– जिस प्रकार रथ की नाभि में और रथ की नेमि में सारे अरे समर्पित हैं उसी प्रकार निश्चय करके इस परब्रह्म नारायण में ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त समस्त प्राणी तथा अग्नि, इन्द्र, रुद्र, सूर्य आदि देवता सब और सकल भूर्लोक भुवर्लोक आदि लोक तथा सब प्राण और ये सम्पूर्ण

जीवात्मा समर्पित हैं अर्थात् चेतनाचेतन समस्त प्रपञ्च परब्रह्म नारायण के आश्रित हैं । रथ के विषय में लिखा है– **याने चक्रिणि युद्धार्थे शताङ्गः स्यन्दनो रथः ॥** (अमर॰ कां॰ २ व॰ ८ श्लो॰ ५१) शताङ्ग १, स्यन्दन २, रथ ३ ये युद्ध के रथ के नाम हैं ।।५१।। तथा नेमि और नाभि के विषय में लिखा है– **तस्यान्ते नेमिः स्त्री स्यात्प्रधिः पुमान् । पिण्डिका नाभिः॥** (अमर॰ कां॰ २ व॰ ८ श्लो॰ ५६) चक्र के अन्त में नेमि होती है। नेमि १, प्रधि २ ये दो नाम रथ की नेमि के हैं। पिण्डिका १, नाभि २ ये रथ की पुट्ठी के नाम हैं।।५६।। तात्पर्य यह है कि– रथचक्र के मध्यवर्ती रन्ध्र सहित काष्ठ को रथनाभि कहते हैं। और बाह्य वलयाकर काष्ठ को नेमि कहते हैं। और रथनाभि तथा नेमि के मध्यवर्ती तिरछी दारुशलाका को अर कहते हैं। ऐसा समझना चाहिये।।१५।।

इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच । तदेतदृषिः पश्यन्नवोचत् । "तद्वां नरा सनये दंस उग्रमाविष्कृणोमि तन्यतुर्न वृष्टिम् । दध्यङ्ङाथर्वणो ह वामश्वस्य शीर्ष्णा प्रयदीमुवाच" इति ॥१६॥

अन्वयार्थ– (वै) सुप्रसिद्ध यह आख्यायिका है कि (आथर्वणः) अथर्व नामवाले ऋषि के पुत्र (दध्यङ्) दध्यङ् नामक ऋषि ने (तत्) उस (इदम्) इस (मधु) मधुब्राह्मण को (अश्विभ्याम्) अश्विनी कुमारों से (उवाच) कहा था (तत्) उस (एतत्) इस अश्विनी कुमार के वृत्तांत को (पश्यन्) योग साक्षात्कार से देखते हुए (ऋषिः) किसी ऋषि ने (अवोचत्) अश्विनी कुमार के प्रति कहा (नराः) हे नराकर दिव्यपुरुष अश्विनी कुमारों (वाम्) तुम दोनों के (सनये) विद्यालाभ के लिये (तन्यतुः) मेघ (वृष्टिम्) वर्षा को (न) जैसे प्रकाशित करता है उसी प्रकार (तत्) उस (उग्रम्) क्रूर शिरश्छेदन और पुनः प्रतिसन्धान रूप (दंसः) कर्म को (आविष्कृणोमि) मैं प्रकाश करता हूं (ह) प्रसिद्ध है (यत्) कि (आथर्वणः) अथर्व नामवाले ऋषि के पुत्र (दध्यङ्) दध्यङ् नामक ऋषि ने (वाम्) तुम दोनों के प्रति (अश्वस्य) घोड़े का (शीर्ष्णा) शिर से (ईम्) ही (प्र) प्रकर्षरूप से (उवाच) मधुविद्या का उपदेश किया था (इति) इस प्रकार महान् यत्न से अश्विनी कुमारों ने दधीच ऋषि से मधुविद्या को ग्रहण किया है यह मधुविद्या की स्तुति होती है ।।१६।।

विशेषार्थ– मधुविद्या की स्तुति के लिये यहाँ पर शाट्यायनीयों की

सुप्रसिद्ध आख्यायिका प्रारम्भ की जाती है– इन्द्र ने दध्यङ् ऋषि को मधुविद्या का उपदेश देकर कहा कि यदि इस विद्या को किसी अन्य से तुम कहोगे तो उसी समय मैं तुम्हारा मस्तक काट दूँगा । तब दध्यङ् ऋषि ने भय से अश्विनी कुमारों के पास जाकर कहा कि यदि इन्द्र के भय से आप लोग मुझे दूर कर देंगे तो मैं आप लोगों के लिये मधुविद्या का उपदेश दूँगा । अश्विनी कुमारों ने कहा– हम इन्द्र से आपकी रक्षा करेंगे । दध्यङ् ऋषि ने कहा– किस प्रकार मेरी रक्षा करोगे । अश्विनी कुमारों ने कहा कि– जिस समय आप मधुविद्या का उपदेश करेंगे उस समय आपका सिर काटकर दूसरी जगह सुरक्षित रख देंगे, फिर घोड़े का शिर लाकर आपको लगा देंगे । उससे आप हमें उपदेश करेंगे । जिस समय् आप हमें उपदेश करेंगे उस समय इन्द्र आपके उस मस्तक को काट देगा फिर हम आपका निजी मस्तक लाकर उसे हम जोड़ देंगे । तब बहुत अच्छा जैसा तुमलोंगो ने कहा है वैसा ही करो ऐसा दध्यङ् ऋषि ने कहा । तब अश्विनी कुमारों ने अश्व के सिर को काट दध्यङ् ऋषि के शिर को भी काट उसे अन्यत्र रख घोड़े के शिर को दध्यङ् ऋषि के शिर के स्थान पर जोड़ दिया । उस शिर से दध्यङ् ऋषि ने मधुविद्या प्रतिपादक ग्रन्थ दोनों अश्विनी कुमारों को पढ़ाया । इस व्यापार को इन्द्र ने जान वज्र से उसके शिर को काट लिया। तब अश्विनी कुमारों ने दध्यङ् ऋषि के निज मानुष शिर को फिर से लाकर यथा स्थान में संयोजित किया। इस प्रकार से विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। इसी आशय को लेकर श्रुति प्रतिपादन करती है कि– यह प्रसिद्ध आख्यायिका है कि– अथर्व नाम के ऋषि के पुत्र दध्यङ् नामक ऋषि ने उस उस मधुब्राह्मण को अश्विनी कुमारों से कहा था। अथर्व नाम के ऋषि ब्रह्मा के पुत्र हैं। क्योंकि लिखा है– **ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता। स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह॥** (मुण्डकोप० मु० १ खं० १ श्रु० १) समस्त भुवन के रचयिता और समस्त लोकों के रक्षक चतुर्मुख ब्रह्मा इन्द्रादि सब देवताओं में पहले उत्पन्न हुआ उस ब्रह्मा ने सबसे बड़े पुत्र अथर्व नामवाले ऋषि के लिये समस्त विद्याओं के आश्रयभूत ब्रह्मविद्या को भलीभाँति उपदेश किया॥१॥ दध्यङ् के विषय में लिखा है– **प्रत्यक्तो ध्यानमिति वा। प्रत्यक्तमस्मिन् ध्यानमिति वा ॥** (निरुक्त० दैवत० ६/३३) ध्यान में जो परम आसक्त हो उसे दध्यङ् कहते हैं । अथवा जिसमें ध्यान लगा हो । दोनों का एक सा अर्थ है । अर्थात् परमध्यानी, ज्ञानी, तत्त्वविद् को दध्यङ् कहते हैं ॥३३॥ ध्यान पूर्वक अञ्च धातु से दध्यङ् शब्द की सिद्धि देवराज यज्वा जी ने निघण्टु की निर्वचन टीका में मानी है और निरुक्तकार का भी यही पक्ष है । इस पक्ष में पृषोदरादि मानकर ध्यान

शब्द से दधि होता है। अन्य कोशकार कहते हैं ''दधि धारकमञ्चतीति'' इसके अनुसार दधि अञ्च से दध्यङ् सिद्ध होता है। और इस ''दध्यच्'' से स्वार्थ में अण और इञ् प्रत्यय होने से और पृषोदरादि के कारण वृद्धि न होने से ''दधीच'' और ''दधीचि'' शब्द भी सिद्ध होते हैं । ''दध्यङ्'' पद ऋत्विगित्यादि सूत्र से क्विन् प्रत्यय तथा हल्ङ्यादिलोप और संयोगान्तलोप होने पर **क्विन्प्रत्ययस्य कुः ॥** (पा० व्या० अ० ८ पा० २ सू० ६२) इस सूत्र से कुत्व होकर निष्पन्न होता है । उस पूर्वोक्त इस अश्विनी कुमार के वृत्तान्त को योगसाक्षात्कार से देखते हुए एक कोई मंत्र द्रष्टा ऋषि ने अश्विनी कुमारों के आगे वक्ष्यमाणं मंत्र को कहा । ऋषि के विषय में लिखा है– **ऋषीत्येष गतौ धातुः श्रुतौ सत्ये तपस्यथ । एतत्सनिन्नयतं यस्मिन् ब्रह्मणा स ऋषिः स्मृतः॥** (वायुपु० अ० ५९ श्लो० ७९) **गत्यर्थादृषतेर्धातोर्नाम निर्वृत्तिरादितः । यस्मादेष स्वयं भूतस्तस्माच्च ऋषिता स्मृता॥८१॥** ऋष् धातु का श्रवण, सत्य और तप इन अर्थों मे प्रयोग होता है ये सब बातें जिसके अन्दर एक साथ निश्चित रूप से हों उसी का नाम ब्रह्मा ने ऋषि रखा है ।।७९।। गत्यर्थक ऋष धातु से ही ऋषि शब्द की निष्पत्ति हुई और आदि काल में यह ऋषिवर्ग स्वयं उत्पन्न होता है इसी से इसकी ऋषि संज्ञा है।।८१।। ''जैसे मेघ गर्जनादि शब्दों के सहित वृष्टि को प्रकाशित करता है उसी प्रकार नराकार दिव्यपुरुष अश्विनी कुमारों! तुम दोनों के विद्यालाभ के लिये किये हुये उस क्रूर शिरश्छेदन और पुनः मस्तक प्रतिसन्धानरूप कर्म को मैं प्रकट करता हूँ''। ''श्रुति इतिहास पुराणादि में सुप्रसिद्ध यह बात है कि अथर्व नामक ऋषि के पुत्र दध्यङ् नामवाले ऋषि ने तुम दोनों के प्रति अश्व के शिर से ही प्रकर्षरूप से मधुविद्या का उपदेश किया था'' इस प्रकार महान् प्रयत्न से अश्विनी कुमारों ने दध्यङ् ऋषि से मधुविद्या का अध्ययन किया है, यह मधुविद्या की स्तुति की जाती है । प्रकृत मंत्र में ''नरा'' यह द्विवचन है। वेद में ''नरौ'' के स्थान में **सुपां सुलुक् ॥** (पा० व्या० अ० ७ पा० १ सू० ३९) इस सूत्र से ''नरा'' हो जाता है । ''तन्यतुर्न'' अर्थात् मेघ के समान । वेद में जो नकार किसी पद के पीछे रहता है वह इव के अर्थ में अर्थात् उपमा के अर्थ में होता है, निषेध अर्थ में नहीं होता है । जैसा कि अन्यत्र भी लिखा है। **प्र तद्विष्णुः स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः । यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा॥** (ऋग्वे० मण्डल० १ सू० १५४ मं० २) मृग के समान वे विष्णु भगवान् अपने पराक्रम से स्तुति को प्राप्त होते हैं, नृसिंह रूप से भीम

मत्स्यादि रूप से पृथ्वी को खानेवाले और वराह, राम कृष्णादि रूप से पृथ्वी में विचरने से कुचर तथा हिमाचल वेङ्कटाद्रि में स्थित रहने से गिरिष्ठ हैं जिस विष्णु वामनभगवान् के बड़े तीन पाद विक्षेप में समस्त भुवन बसते हैं ।।२।। इस मंत्र में "मृगो न" यह वाक्य मृग के समान इस इवार्थ में प्रयुक्त हुआ है । यहाँ "ईम्" यह निश्चयार्थक निपात है । वेद में एक वर्ण भी निरर्थक नहीं है । जिस प्रकार **मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम्** ।। (ऋग्वे० मण्ड० १० सू० १२५ मं. ५) मेरी सहायता से सब अन्न को खाते हैं और जो देखता है, जो श्वास लेता है, जो निश्चय कर के सुनता है वह सब मेरी सहायता से ही ऐसा मैंने कहा है।।५।। इस मंत्र में "ईम्" निश्चयार्थक प्रयुक्त हुआ है उसी प्रकार मधुविद्या की श्रुति में भी समानता चाहिये। और थोड़े पाठ भेद से ऋग्वेद में लिखा है– **तद्वां नरा सनये दंस उग्रमाविष्कृणोमि तन्यतुर्न वृष्टिम्। दध्यङ् ह यन्मध्वाथर्वणो वामश्वस्य शीर्ष्णा प्रयदीमुवाच।।** (ऋग्वे० मण्ड० १ सू० ११६ मं० १२) मेघ जिस प्रकार वृष्टि करता है उसी प्रकार हे नराकर दिव्यपुरुष अश्विनी कुमारो तुम दोनों के विद्यालाभ के लिये किये हुये उस क्रूर शिरश्छेदन और पुनः प्रतिसंधान रूप कर्म को मैं प्रकट करता हूँ, सुप्रसिद्ध यह है कि अथर्व नाम के ऋषि के पुत्र दध्यङ् ऋषि ने तुम दोनों के प्रति घोड़े के शिर से मधुविद्या का वर्णन किया था।।१२।। ऐसा प्रतिपादन किया गया है।।१६।।

इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच । तदेतदृषिः पश्यन्नवोचत् । "आथर्वणायाश्विना दधीचेऽश्वियं शिरः प्रत्यैरयतम् । स वां मधु प्रवोचदृतायन्त्वाष्ट्रं यद्दस्रावपि कक्ष्यं वाम्" इति ।।१७।।

अन्वयार्थ– (वै) सुप्रसिद्ध यह आख्यायिका है कि (आथर्वणः) अथर्व नामवाले ऋषि के पुत्र (दध्यङ्) नामक ऋषि ने (तत्) उस (इदम्) इस (मधु) मधुब्राह्मण को (अश्विभ्याम्) अश्विनी कुमारों से (उवाच) कहा था (तत्) उस (एतत्) इस अश्विनी कुमार के वृत्तान्त को (पश्यन्) योग साक्षात्कार से देखते हुए (ऋषिः) किसी मंत्रद्रष्टा ऋषि ने (अवोचत्) अश्विनी कुमार के प्रति कहा, मंत्रान्तर प्रकाशनार्थ यह आरम्भ किया गया है (अश्विना) हे अश्विनी कुमारो (आथर्वणाय) अथर्व नामक ऋषि के पुत्र (दधीचे) दध्यङ् नामक ऋषि के लिये (अश्वियम्) घोड़े

का (शिरः) शिर को (प्रत्यैरयतम्) तुम दोनो प्रतिसन्धान किये (सः) उस दध्यङ् नामक ऋषि ने (वाम्) तुम दोनो के प्रति मैं मधुविद्या कहूँगा इस अपने कहे हुए वचन को (ऋतायन्) सत्य पालन करते हुए (वाम्) तुम दोनों के प्रति (त्वाष्ट्रम्) त्वाष्ट्र शब्दित यज्ञ शिरः सम्बन्धी (मधु) प्रवर्ग्य मधु को (प्रवोचत्) उपदेश किया और (दस्त्रौ) हे अश्विनी कुमारो (कक्ष्यम्) गोप्य (अपि) भी (यत्) जो ब्रह्म सम्बन्धी मधुब्राह्मण था वह भी तुम लोगों से कहा (इति) इस प्रकार महान् यत्न से अश्विनी कुमारों ने दध्यङ् ऋषि से मधुविद्या ग्रहण किया है यह मधुविद्या की स्तुति होती है।।१७।।

विशेषार्थ– यह सुप्रसिद्ध आख्यायिका है कि– अथर्व नाम के ऋषि के पुत्र दध्यङ् नामक ऋषिने उस समय मधुब्राह्मण को अश्विनी कुमारों से कहा था। उस पूर्वोक्त इस अश्विनी कुमार के वृत्तान्त को योग-साक्षात्कार से देखते हुए एक कोई मंत्रद्रष्ट्य ऋषिने अश्विनी कुमारों से आगे वक्ष्यमण मंत्र को कहा । दूसरा मंत्र प्रदर्शन के लिये यह आरम्भ किया गया है । "हे अश्विनीकुमारो! तुम दोनों अथर्व नामवाले ऋषि के पुत्र दध्यङ् नामक ऋषि के लिये अश्व सम्बन्धी शिर को प्रतिसन्धान किये और उस दध्यङ् नाम के ऋषि ने पहले यह प्रतिज्ञा की थी कि मैं तुम दोनों के प्रति मधुविद्या का उपदेश करूँगा इस अपने कहे हुए वाक्य को सत्यपालन करते हुए तुम दोनों के प्रति त्वाष्ट्रशब्दित यज्ञशिरः सम्बन्धी प्रवर्ग्य मधु को कहा और हे अद्भुत कर्म करने वाले अश्विनी कुमारों! गोप्य भी जो परब्रह्मनारायण सम्बन्धी मधुब्राह्मण था उसको भी आप दोनों से कहा" यहाँ "ऋत" शब्द सत्य वाचक है। क्योंकि लिखा है– **सत्यं तथ्यमृतं सम्यक्** (अमर० कां० १ व० ६ श्लो० २२) सत्य १, तथ्य २, ऋत ३, और सम्यक् ४ से सत्य के नाम हैं।।२२।। और दस्त्र के विषय में लिखा है– **नासत्यावश्विनौ दस्त्रावश्विनेयौ च तावुभो।।** (अमर० कां० १ व० १ श्लो० ५१) नासत्य १, अश्विन २, दस्त्र ३ और आश्विनेय ४ ये अश्विनी कुमार के नाम हैं।।५१।। और ऋग्वेद में लिखा है– **आथर्वणायाश्विना दधीचेऽश्व्यं शिरः प्रत्यैरतम्। स वां मधु प्रवोचदृतायन्त्वाष्ट्रं यद्दस्त्रावपि कक्ष्यं वाम्** (ऋग्वे० मण्ड० १ सू० ११७ मं ०१२) हे अश्विनी कुमारो आपने आथर्वण दध्यङ् ऋषि के लिये अश्वसंबन्धी शिर को प्रत्यर्पित किया और उस ऋषि ने सत्यपालन करते हुए आप दोनों को त्वाष्ट्रमधु का उपदेश किया तथा हे अद्भुतकर्म करने वाले अश्विनी कुमारों जो गोप्य परब्रह्म सम्बन्धी मधु ब्राह्मण था वह भी आप दोनों से कहा ।।१२।। इस प्रकार महान्

यत्न से अश्विनी कुमारों ने दध्यङ् नामक ऋषि से मधु विद्या ग्रहण किया है यह मधु विद्या की स्तुति होती है॥१७॥

इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच । तदेतदृषिः पश्यन्नवोचत् । ''पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः । पुरः सः पक्षी भूत्वा पुरुष आविशद्...'' इति । स वां अयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरिशयः । नैनेन किञ्चनानावृतं नैनेन किञ्चनासंवृतम् ॥१८॥

अन्वयार्थ– (वै) सुप्रसिद्ध यह आख्यायिका है कि (आथर्वणः) अथर्व नामवाले ऋषि के पुत्र (दध्यङ्) नामक ऋषि ने (तत्) उस (इदम्) इस (मधु) मधुब्राह्मण को (अश्विभ्याम्) अश्विनी कुमारों से (उवाच) कहा था (तत्) उस (एतत्) इस अश्विनी कुमार के वृत्तान्त को (पश्यन्) योग साक्षात्कार से देखते हुए (ऋषिः) किसी मंत्रद्रष्ट्या ऋषि ने (अवोचत्) अश्विनी कुमार के प्रति कहा, मंत्रान्तर प्रकाशनार्थ यह आरम्भ किया गया है (द्विपदः) दो पैर वाले गौ, हाथी, घोड़ा, भैंस, आदि के (पुरः) शरीरों को (चक्रे) परमात्मा ने बनाया और (चतुष्पदः) चार पैर वाले गौ, हाथी, घोड़ा, भैंस आदि के (पुरः) शरीरों को (चक्रे) परमात्मा ने बनाया (पुरः) पहले (सः) वह पुरुष परब्रह्म (पक्षी) संसार हेतु भूतकर्मावृत संसारी जीव शरीरक (भूत्वा) होकर (अविशत्) सब शरीरों में प्रविष्ट हो गया (इति) यह मंत्र यहाँ पर समाप्त हो गया (वै) निश्चय करके (सर्वासु) सम्पूर्ण (पूर्षु) शरीरों में वर्तमान (सः) वह (अयम्) यह परमात्मा (पुरि) शरीर में (शयः) शयन करता है अतः (पुरुषः) पुरुष कहा जाता है (एनेन) इस परमात्मा से (किञ्चन) कुछ भी पदार्थ (अनावृतम्) बाहर से अनाच्छादित (न) नहीं है और (एनेन) इस परमात्मा से (किञ्चन) कुछ भी पदार्थ (असंवृतम्) भीतर से अननुप्रविष्ट (न) नहीं है॥१८॥

विशेषार्थ– यह सुप्रसिद्ध आख्यायिका है कि– अथर्व नाम के ऋषि के पुत्र दध्यङ् नामक ऋषिने उस समय मधुब्राह्मण को अश्विनी कुमारों से कहा था । उस पूर्वोक्त इस अश्विनी कुमार के वृत्तान्त को योग साक्षात्कार से देखते हुए एक किसी मंत्रद्रष्ट्या ऋषिने अश्विनी कुमारों से आगे वक्ष्यमण मंत्र को कहा । तृतीय मंत्र प्रकाशन के लिये यह आरम्भ किया गया है । ''परब्रह्म नारायण ने दो पैर वाले देव, मनुष्य,

खग के शरीरों को बनाया । और चार पैर से युक्त गौ, भैंस, हाथी, घोड़ा, बकरा, भेड़ आदि पशु के शरीरों को बनाया'' इस श्रुति में ''पुर्'' शब्द शरीर

व । च क

है। क्योंकि लिखा है– **भूमिमथोः पुरः ॥** (ऋग्वे॰ मण्डल॰ १० सू॰ ९० मं॰ ५) (सामवे॰ पूर्वार्चि॰ प्रपा॰ ६ सू॰ १३ मं॰ ७)(यजुर्वे॰ अ०३१ मं०५)(अथर्व वे० कां० १९ अनु० १ सू०६ मं०९) पृथ्वी बनाने के बाद शरीरों को बनाया॥५।७।५।९॥ **नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥** (गी॰ अ॰ ५ श्लो॰ १३) नव द्वार वाले शरीर में आत्मा न कुछ करती हुई न कराती हई रहती है॥१३॥ **यद्वा पुरे शरीरेऽस्मिन्॥** (पद्मपु॰ उत्तरखं॰ ६) अथवा पुर नाम इस शरीर में॥६॥ इन श्रुति स्मृति पुराणों में शरीर वाचक पुर शब्द प्रयुक्त हुआ है । देव मनुष्य पश्वादि के शरीर को बनाकर ''पहले वह परब्रह्मनारायण संसारहेतुभूतकर्मावृत संसारी जीव शरीरक होकर सब शरीरों में प्रविष्ट हो गया'' यहाँ पर ''इति'' शब्द तृतीय इस प्रकृत मंत्र का समाप्ति–सूचक है। इस मंत्र के उत्तरार्ध का ''पुरः'' पद पहले अर्थ का वाचक है क्योंकि लिखा है– **स्यात्पुरः पुरतो ऽग्रतः ॥** (अमर॰ कां॰ ३ व॰ ४ श्लो॰ ७) पुरः १, पुरतः २, अग्रतः ३ ये अव्यय आगे के वाचक हैं ॥७॥ अब आगे पुरुष शब्द का अर्थ स्वयं श्रुति करती है। निश्चय करके सम्पूर्ण शरीरों वर्तमान वह यह परब्रह्मनारायण शरीर में सोता है इस कारण से पुरुष कहा जाता है । क्योंकि लिखा है– **पुंसंज्ञे तु शरीरेऽस्मिन् शयनात्पुरुषो हरिः। शकारस्य षकारोयं व्यत्ययेन प्रयुज्यते॥** (पद्मपु॰) पुम् नाम इस शरीर में सोने से नारायण भगवान पुरुष हैं। यहाँ पर पुम् माने पुर होता है। शकार का पुरुष शब्द में व्यत्यय से षकार प्रयोग किया जाता है। **सर्वलोकपतिः साक्षात्पुरुषः प्रोच्यते हरिः। तं विना पुण्डरीकाक्षं कोऽन्यः पुरुषशब्दभाक्॥** (नरसिंहपु॰) अखिलब्रह्माण्ड रक्षक परब्रह्मनारायण साक्षात् पुरुष शब्द से कहे जाते हैं । उस कमलनयन परब्रह्म के बिना दूसरा कौन पुरुष शब्द से कहा जा सकता है । **अव्ययः पुरुषः साक्ष॥** (महाभार॰ अनुशा॰ विष्णुसह॰ श्लो॰ २) अव्यय १, पुरुष २, साक्षी ३ ये नारायण के नाम हैं॥२॥ इस परब्रह्म नारायण से कुछ भी अनाच्छादित नहीं है। और इस नारायण से कुछ भी असंवृत नहीं है। जहाँ नारायण भीतर और बाहर रहकर स्वयं प्रविष्ट न हों। क्योंकि लिखा है– **यच्च किञ्चिज्जगत्सर्वंदृश्यते श्रूयतेऽपि वा। अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः॥** (तैत्ति॰ आरण्य॰ प्रपा॰ १० अनु॰ ११ श्रु॰ ६) और जो कुछ भी संसार देखा जाता है या सुना जाता हे, उसके भीतर और बाहर व्यापक होकर नारायण स्थित हैं॥६॥ दध्यङ् नामक ऋषि के विषयमें अन्यत्र भी लिखा है– **यामथर्वा**

खग के शरीरों को बनाया । और चार पैर से युक्त गौ, भैंस, हाथी, घोड़ा, बकरा, भेड़ आदि पशु के शरीरों को बनाया'' इस श्रुति में ''पुर्'' शब्द शरीर
व । च क
है। क्योंकि लिखा है– **भूमिमथोः पुरः ॥** (ऋग्वे० मण्डल० १० सू० ९० मं० ५) (सामवे० पूर्वार्चि० प्रपा० ६ सू० १३ मं० ७)(यजुर्वे० अ०३१ मं०५)(अथर्व वे० कां० १९ अनु० १ सू०६ मं०९) पृथ्वी बनाने के बाद शरीरों को बनाया।।५।७।५।९।। **नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥** (गी० अ० ५ श्लो० १३) नव द्वार वाले शरीर में आत्मा न कुछ करती हुई न कराती हई रहती है।।१३।। **यद्वा पुरे शरीरेऽस्मिन्॥** (पद्मपु० उत्तरखं० ६) अथवा पुर नाम इस शरीर में।।६।। इन श्रुति स्मृति पुराणों में शरीर वाचक पुर शब्द प्रयुक्त हुआ है । देव मनुष्य पश्वादि के शरीर को बनाकर ''पहले वह परब्रह्मनारायण संसारहेतुभूतकर्मावृत संसारी जीव शरीरक होकर सब शरीरों में प्रविष्ट हो गया'' यहाँ पर ''इति'' शब्द तृतीय इस प्रकृत मंत्र का समाप्ति–सूचक है। इस मंत्र के उत्तरार्ध का ''पुरः'' पद पहले अर्थ का वाचक है क्योंकि लिखा है– **स्यात्पुरः पुरतो ऽग्रतः ॥** (अमर० कां० ३ व० ४ श्लो० ७) पुरः १, पुरतः २, अग्रतः ३ ये अव्यय आगे के वाचक हैं ।।७।। अब आगे पुरुष शब्द का अर्थ स्वयं श्रुति करती है। निश्चय करके सम्पूर्ण शरीरों वर्तमान वह यह परब्रह्मनारायण शरीर में सोता है इस कारण से पुरुष कहा जाता है । क्योंकि लिखा है– **पुंसंज्ञे तु शरीरेऽस्मिन् शयनात्पुरुषो हरिः। शकारस्य षकारोयं व्यत्ययेन प्रयुज्यते॥** (पद्मपु०) पुम् नाम इस शरीर में सोने से नारायण भगवान पुरुष हैं। यहाँ पर पुम् माने पुर होता है। शकार का पुरुष शब्द में व्यत्यय से षकार प्रयोग किया जाता है। **सर्वलोकपतिः साक्षात्पुरुषः प्रोच्यते हरिः। तं विना पुण्डरीकाक्षं कोऽन्यः पुरुषशब्दभाक्॥** (नरसिंहपु०) अखिलब्रह्माण्ड रक्षक परब्रह्मनारायण साक्षात् पुरुष शब्द से कहे जाते हैं । उस कमलनयन परब्रह्म के बिना दूसरा कौन पुरुष शब्द से कहा जा सकता है । **अव्ययः पुरुषः साक्ष॥** (महाभार० अनुशा० विष्णुसह० श्लो० २) अव्यय १, पुरुष २, साक्षी ३ ये नारायण के नाम हैं।।२।। इस परब्रह्म नारायण से कुछ भी अनाच्छादित नहीं है। और इस नारायण से कुछ भी असंवृत नहीं है। जहाँ नारायण भीतर और बाहर रहकर स्वयं प्रविष्ट न हों। क्योंकि लिखा है– **यच्च किञ्चिज्जगत्सर्वंदृश्यते श्रूयतेऽपि वा। अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः॥** (तैत्ति० आरण्य० प्रपा० १० अनु० ११ श्रु० ६) और जो कुछ भी संसार देखा जाता है या सुना जाता हे, उसके भीतर और बाहर व्यापक होकर नारायण स्थित हैं।।६।। दध्यङ् नामक ऋषि के विषयमें अन्यत्र भी लिखा है– **यामथर्वा**

मिलकर उनसे वर माँगना कि आप तीनों लोकों के कल्याण के लिये अपनी हड्डियाँ दीजिये ।। वह महात्मा शरीर को त्याग कर अपनी हड्डियों को अवश्य देवेंगे । तब उनकी हड्डियों से महाघोर दृढ वज्र आयुध बनाना।।१००।। ब्रह्मा के इस वचन को सुनकर वे लोग जहाँ ऋषि रहते थे वहाँ गये।। **ततो दधीचः परमः प्रतीतः सुरोत्तमांस्तानिदमभ्युवाच । करोमि यद्वो हितमद्य देवा स्वञ्चापि देहं स्वयमुत्सृजामि ॥ स एवमुक्तो द्विपदां वरिष्ठः प्राणान् वशी स्वान् सहसोत्ससर्ज । ततः सुरास्ते जगृहुः परसोरस्थीनि तस्याथ यथोपदेशम्** (महाभार० वनप० अध्या० १००) उसके बाद दधीच ऋषि विश्वस्त हो उन इन्द्रादि देवताओं से बोले कि हे देवों आप लोगों का जो हित होगा सो आज मैं करूँगा, निज शरीर का भी स्वयं परित्याग करूँगा ।। इस प्रकार कह कर सर्वश्रेष्ठ वशी वह महात्मा अपने प्राणों को परित्याग करके पञ्चत्व को प्राप्त हुए तब इन्द्रादि देवों ने इनकी हड्डियों का अस्त्र बनाकर वृत्रासुर को मारा । और श्रीमद्भागवत में लिखा है– **मघवन् यात भद्रं वो दध्यञ्चमृषिसत्तमम् । विद्याव्रततपः सारं गात्रं याचत माचिरम्** (श्रीमद्भाग० पु० स्कं० ६ अध्या० ९ श्लो० ५१) **स वा अधिगतो दध्यङ् अश्विभ्यां ब्रह्म निष्कलम् । यद्वा अश्वशिरो नाम तयोरमरतां व्यधात् ॥५२॥** इन्द्र से नारायण भागवान् कहते हैं कि– हे देवेन्द्र आपका कल्याण हो, आप शीघ्र ऋषिसत्तम दध्यङ् नामक ऋषि के निकट जाइये और विद्या व्रत तप से पुष्ट उनके शरीर को शीघ्र माँगिये ।।५१।। उस दध्यङ् ऋषि ने स्वयं ब्रह्मविद्या को प्राप्त होकर निश्चय करके अश्विनी कुमारों को निष्कल ब्रह्म का उपदेश दिया । और अश्व के शिर से अश्विनी कुमारों को ब्रह्मविद्या का उपदेश किया था इस कारण से उसका अश्व शिर नाम हुआ है और जिसने उन दोनों अश्विनी कुमारों को अमर बनाया ।।५२।। **एवं कृतव्यवसितो दध्यङ्ङाथर्वणस्तनुम् । परे भगवति ब्रह्मण्यात्मानं सन्नयञ्जहौ** (श्रीमद्भाग० पु० स्कं० ६ अध्या० १० श्लो० ११) जब इन्द्रादि देवों ने इन से हड्डियाँ माँगी तब परोपकार समझ कर अथर्व नाम के ऋषि के पुत्र दध्यङ् नामक ऋषि ने परब्रह्मनारायण भगवान में मन को लगा कर इस शरीर को त्याग दिया ।।११।। तब इनकी हड्डियों के अस्त्र बनाकर इन्द्र ने वृत्रासुर को मारा, इत्यादि कथा का स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है, ग्रन्थ विस्तार के भय से अधिक मैं नहीं लिखता हूँ।।१८।।

इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच।

तदेतदृषिः पश्यन्नवोचत्। "रूपं रूपं प्रतिरूपो बभू। तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय । इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते । युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश" इति । अयं वै हरयोऽयं वै दश च शतानि सहस्राणि बहूनि चानन्तानि । तदेतद्ब्रह्म । अपूर्वमनपरम् । अनन्तरमबाह्यम् । अयमात्मा ब्रह्म । सर्वानुभूः । इत्यनुशासनम् ॥१९॥

॥ इति द्वितीयाध्याये पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥

अन्वयार्थ– (वै) सुप्रसिद्ध यह आख्यायिका है कि (आथर्वणः)) अथर्वनाम वाले ऋषि के पुत्र (दध्यङ्) दध्यङ् नामक ऋषि ने (तत्) उस (इदम्) इस (मधु) मधुब्राह्मण को (अश्विभ्याम्) अश्विनी कुमारों से (उवाच) कहाथा (तत्) उस (एतत्) इस अश्विनी कुमार के वृत्तान्त को (पश्यन्) योग साक्षात्कार से देखते हुए (ऋषिः) किसी मंत्रद्रष्टा ऋषि ने (अवोचत्) अश्विनी कुमार के प्रति, कहा मंत्रान्तर प्रदर्शनार्थ यह आरम्भ किया गया है वह परब्रह्मनारायण (रूपम्) दृश्यवस्तु (रूपम्) दृश्यवस्तु के प्रति (प्रतिरूपः) सदृशरूप अन्तर्यामी रूप से अवस्थित (बभूव) हो गया (प्रतिचक्षणाय) व्यवहार के लिये जो है (तत्) वह सब (अस्य) इस परमात्मा का (रूपम्) शरीर है (इन्द्रः) परमेश्वर (मायाभिः) संकल्परूप ज्ञानों से (पुरुरूपः) बहुत शरीर वाला (ईयते) हो जाता है (हि) निश्चय करके (अस्य) इस अनन्त प्रपञ्च के (युक्ताः) योग्य तद्नुरूप संख्याशाली (शता) सौ (दश) दस यानी अनन्त (हरयः) परब्रह्म नारायण हैं (इति) यह चौथा मंत्र यहाँ पर समाप्त हो गया (वै) निश्चय करके (अयम्) यह एक ही परमात्मा (हरयः) अन्तर्यामी रूपसे अनेक हरि नारायण हो जाता है (च) और (वै) निश्चय करके (अयम्) यह एक ही परमेश्वर (दश) दस हो जाता है तथा (शतानि) सौ हो जाता है और (सहस्राणि) हजार हो जाता है तथा (बहूनि) बहुत हो जाता है (च) और (अनन्तानि) यह एक ही परमात्मा विचित्रशक्ति से अनन्त हो जाता है (तत्) इस प्रकार पूर्वोक्त प्रबन्ध से निर्दिष्ट वह (एतत्) यह (ब्रह्म) परब्रह्म नारायण (अपूर्वम्) पूर्वकाल शून्य है और (अनपरम्) उत्तरकालरहित है, अर्थात् काल

से अपरिच्छिन्न है और (अनन्तरम्) अभ्यन्तरव्यवहारानर्ह है तथा (अबाह्यम्) बाह्य व्यवहारानर्ह है अर्थात् देशपरिच्छेद शून्य है। (अयम्) यह (आत्मा) सबका नियन्ता आत्मा (ब्रह्म) सर्वोत्कृष्ट बड़ा है और (सर्वानुभूः) सब चेतनाचेतन का अनुभव करने वाला सर्वज्ञ है (इति) यह (अनुशासनम्) वेदान्त का उपदेश है। यहाँ पञ्चम ब्राह्मण समाप्त हो गया ॥१९॥

विशेषार्थ– यह सुप्रसिद्धआख्यायिका है कि– अथर्व नाम के ऋषि के पुत्र दध्यङ् नामक ऋषि ने उस इस मधु ब्राह्मण को अश्विनी कुमारों से कहा था। उस पूर्वोक्त इस अश्विनी कुमार के वृत्तान्त को योगसाक्षात्कार से देखते हुए एक किसी मन्त्रद्रष्टा ऋषि ने अश्विनी कुमारों से आगे वक्ष्यमाण मन्त्र को कहा। चतुर्थ मन्त्र प्रकाशन के लिये यह आरम्भ किया गया है। "जो नेत्र से देखा जाय उस दृश्य वस्तु को रूप कहते हैं "रूपं रूपम्" यहाँ पर वीप्सा में द्वित्व हुआ है। इससे इसका यह अर्थ हुआ कि– वह परब्रह्म नारायण दृश्य वस्तु के प्रति सदृश यानी तत्तद्रूप के सदृश अन्तर्यामी रूपसे अवस्थित हो गया। जो कुछ व्यवहार के लिये है वह सब इस परब्रह्म नारायण का शरीर है। क्योंकि लिखा है– **जगत्सर्वं शरीरं ते ॥** (वाल्मीकिरामा० युद्धकां० ६ सर्ग० १२१) समस्त संसार आपका शरीर है।।१२१।। "परब्रह्म नारायण संकल्परूपज्ञानों से बहुत शरीरवाला हो जाता है" इस श्रुति में "इन्द्र" शब्द परब्रह्म नारायण का वाचक है। क्योंकि लिखा है– **इन्द्रंमित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।।** (ऋग्वे० मण्ड० १ सू० १६ मं० ४६) इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य, गरुड, गरुत्मान्, दीप्तिमान्, यम, वायु और सत् इत्यादि अनेक प्रकार से एक परब्रह्म नारायण को विप्रगण कहते हैं ।।४६।। **स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट् । स एव विष्णुः स प्राणः स कालोऽग्निः स चन्द्रमाः ॥** (कैवल्यो० श्रु० ८) वही नारायण ब्रह्मा है वही शिव है, वही इन्द्र है, वही अग्नि है, वही काल है और वही नारायण चन्द्रमा है ।।८।। **एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम् । इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥** (मनु० अ० १२ श्लोक १२३) इस नारायण को एक याज्ञिक लोग अग्नि कहते हैं और कुछ लोग मनु कहते हैं तथा अन्य लोग प्रजापति कहते हैं और एक लोग इन्द्र कहते हैं तथा पर लोग प्राण कहते हैं और अन्य लोग शाश्वत ब्रह्म कहते हैं।।१२३।। और "इदि परमैश्वर्ये" इस धातु से "इन्द्र" शब्द निष्पन्न होता है। अतः लक्ष्मी–पति नारायण का ही वाचक है। इस श्रुति से "माया" शब्द सङ्कल्प रूप ज्ञान का वाचक है। क्योंकि विचित्राश्चर्यकारिता और ज्ञानरूपता परमात्मा

के सत्यसंकल्प में है। माया शब्द विचित्रार्थसर्गकराभिधायी है। क्योंकि लिखा है– **तेन मायासहस्रं तच्छम्बरस्याशुगामिना। बालस्य रक्षता देहमेकैकश्च निषूदितम् ॥** (विष्णुपुराण अंश० १ अध्या० १९ शलोक २०) बालक के देह रक्षा करता हुआ उस शीघ्रगामी आयुध से शम्बरासुर के उस आश्चर्यकारक हजारों अस्त्रों को एक एक करके काट दिया ॥२०॥ तथा अन्यत्र भी लिखा है–**संभवाम्यात्ममायया ॥** (भगवद्गी० अ० ४ श्लो० ६) मैं अपने संकल्परूपज्ञान से प्रकट होता हूँ॥६॥ **माया वयुनं ज्ञानम् ॥** (वे० निघ० ध० व० २२) माया वयुन ज्ञान यें पर्यायवाचक शब्द हैं ॥२२॥ इस वचन के अनुसार "माया" शब्द यहाँ ज्ञान का पर्याय वाची है। आप्त पुरुषों का प्रयोग भी है कि– **मायया सततं वेत्ति प्राणिनां च शुभाशुभम्॥** भगवान अपने ज्ञान से ही निरन्तर प्राणियों के शुभाशुभ को जानते हैं। और इस प्रकृत श्रुति में "पुरु" शब्द बहुत का वाचक है । क्योंकि लिखा है– **पुरुहूः पुरु भूयिष्ठं स्फारं भूयश्च भूरि च ॥** (अमर० कां० ३ व० १ श्लोक ६३) पुरुहू १, पुरु २, भूयिष्ठ ३, स्फार ४, भूयस् ५, भूरि ६ ये बहुत के नाम हैं ॥६३॥ "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" यहाँ पर परब्रह्म नारायण की विचित्रा शक्ति कही गई है। परब्रह्म नारायण अपनी इच्छा से अनन्त देहवाला हो जाता है "निश्चय करके इस अनन्त प्रपञ्च के योग्य तदनुरूप संख्याशाली सौ और दस परब्रह्म नारायण हैं, अर्थात् अनन्तर्यामी विग्रह के अनन्त होने से अनन्त परब्रह्म नारायण हैं । इस श्रुति में "शत" शब्द अनन्त वाचक है। क्योंकि लिखा है– **शतं सहस्रमयुतं सर्वमानन्त्यवाचकम्॥** शत सहस्रअयुत ये सब अनन्तवाचक हैं ॥ और यहाँ पर "हरि" शब्द परब्रह्म नारायण का वाचक है। क्योंकि लिखा है– **यमानिलेन्द्रचन्द्रार्कविष्णुसिंहांशुवाजिषु ॥** (अमर० कां० ३ व० ३ श्लोक १७४) **शुकाहिकपिभेकेषु हरिर्ना कपिले त्रिषु ॥१७५॥** यम, वायु, इन्द्र चन्द्र सूर्य विष्णु सिंह किरण घोड़ा ॥१७५॥ तोता, साँप बन्दर, मेढ़क और कपिल रङ्ग में हरि शब्द का प्रयोग होता है ॥१७५॥ **केशवः केशिहा हरिः ॥** (महाभा० अनुशा० विष्णुसह० श्लोक ८२) केशव १, केशिहा २, हरि ३ ये परब्रह्म नारायण के नाम हैं॥८२॥ यहाँ पर "इति" शब्द प्रकृत इस चतुर्थ मन्त्र का समाप्ति सूचक है। "रूपं रूपम्" इत्यादि मन्त्र ऋग्वेद मण्डल ६ सूक्त ४७ मन्त्र १८ में भी पठित है। निश्चय करके यह एक ही परब्रह्म नारायण अन्तर्यामी रूप से अनेक हरि यानी नारायण हो जाता है। और निश्चय करके यह एक की परमेश्वर दशावतार धारण करता है। तथा यह एक ही परमात्मा सैकड़ों हो

जाता है और यह एक ही परमेश्वर हजार हो जाता है। तथा बहुत हो जाता है और यह एक ही परमात्मा विचित्र शक्ति से अनन्त हो जाता है। क्योंकि लिखा है– **परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥** (श्वेताश्व० उ० अ० ६ श्रु० ८) इस परब्रह्म नारायण के ज्ञान, बल और क्रिया स्वाभाविक हैं और दिव्य शक्ति नाना प्रकार की सुनी जाती है ॥८॥ इस प्रकार पूर्वोक्त श्रुतियों से निर्दिष्ट वह यह परब्रह्म नारायण पूर्वकाल शून्य है और उत्तर काल शून्य है अर्थात् काल से अपरिच्छिन्न है । और अभ्यन्तर व्यवहारानर्ह है तथा बाह्य व्यवहारानर्ह है अर्थात् देश परिच्छेदशून्य है । यह सबका नियन्ता परमात्मा सर्वोत्कृष्ट यानी सब से बड़ा है अथवा वस्तु परिच्छेद रहित है और सब चिदचित्तत्त्व का यथार्थ अनुभव करने वाला सर्वज्ञ है। यह वेदान्त का उपदेश है । यहाँ पर 'इति' शब्द उपदेश की समाप्ति सूचन करता हुआ पञ्चम ब्राह्मणकी भी समाप्ति का प्रतिपादन करता है। अयोध्यापुरी में श्रीरामतत्त्वोपदेष्टा भगवद्रामानुजाचार्य ने– अथातो ब्रह्मजिज्ञासा (शा० मी० अ० १ पा० १ सू० १) तत्तु समन्वयात् (शा० मी० अ० १ पा० १ सू० ४) तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः (शा० मी० अ० २ पा० १ सू० १५) इन तीन सूत्रों के श्रीभाष्य में "बृहदारण्यकोपनिषद्" के द्वितीय अध्याय के पञ्चम ब्राह्मण की अन्तिम कण्डिका के पदों को उद्धृत किया है। यहाँ पर 'बृहदारण्यकोपनिषद्' के द्वितीय अध्याय का पञ्चम मधु ब्राह्मण समाप्त हो गया॥१९॥

॥ अथ षष्ठं ब्राह्मणम् ॥

अथ वंशः । पौतिमाष्यो गौपवनात् । गौपवनः कौशिकात्कौशिकः कौण्डिन्यात्कौण्डिन्यः शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यः कौशिकाच्च गौतमाच्च गौतमः ॥१॥

अन्वयार्थ– (अथ) अब मधुविद्या के आचार्यों का (वंशः) वंश बतलाया जाता है (पौतिमाष्यः) पौतिमाष्य नाम के आचार्य ने (गौपवनात्) गौपवन नामक आचार्य से विद्याप्राप्त की और (गौपवनः) गौपवन नामक आचार्य ने (कौशिकात्) कौशिक नामक आचार्य से विद्याप्राप्त की तथा (कौशिकः) कौशिक नाम के आचार्य ने (कौण्डिन्यात्) कौण्डिन्य नामक आचार्य से विद्याप्राप्त की और

(कौण्डिन्यः) कौण्डिन्य नाम के आचार्य ने (शाण्डिल्यात्) शाण्डिल्य नामक आचार्य से विद्या प्राप्त की (च) और (शाण्डिल्यः) शाण्डिल्य नाम के आचार्य ने (कौशिकात्) कौशिक नामक आचार्य से (च) तथा (गौतमात्) गौतम नामक आचार्य से विद्या प्राप्त की और (गौतमः) गौतम नाम के आचार्य ने इस पद का आगे के मंत्र के साथ संबन्ध है॥१॥

विशेषार्थ– इस श्रुति में **आचार्यवंशो ज्ञेयः** (श्रुति) आचार्यवंश जानने योग्य है॥ इस श्रुति के प्रमाण से विद्याप्रवर्तकाचार्य की परम्परा को अभयुदयादि सिद्धि के लिये परम करुणामयी श्रुति उपदउेश देती है कि– अब मधु विद्या के प्रवर्तक आचार्य का वंश प्रतिपादन किया जाता है । क्योंकि गुरु–परम्परा सर्वदा स्वाध्याय के लिये है। पौतिमाष्य नाम के आचार्य ने गौपवन नामक आचार्य से विद्या लाभ किया १, और गौपवन नाम के आचार्य ने कौशिक नामक आचार्य से विद्या ग्रहण की २, तथा कौशिक नाम के आचार्य ने कौण्डिन्य नामक आचार्य से विद्या प्राप्त की ३, और कौण्डिन्य नाम के आचार्य ने शाण्डिल्य नामक आचार्य से विद्या–लाभ किया ४, तथा शाण्डिल्य नाम के आचार्य ने कौशिक नामक आचार्य से और गौतम नामक आचार्य से विद्या प्राप्त की अर्थात् शाण्डिल्य ने कौशिक और गौतम दो आचार्यों से विद्या प्राप्त की ५, इससे सिद्ध होता है कि एक आचार्य से पूर्णज्ञान नहीं प्राप्त होने पर अन्य आचार्य से विद्या प्राप्त कर सकता है। परन्तु पूर्व आचार्य को भी सर्वदा अनुसन्धान करना चाहिये । और गौतम नाम के आचार्य ने, इस पद का द्वितीय कण्डिका के साथ संबन्ध है सो आगे प्रतिपादन किया जायेगा॥१॥

आग्निवेश्यादाग्निवेश्यः शाण्डिल्याच्चानभिम्लातादानभिम्लातो गौतमाद्गौतमः सैतवप्राचीनयोग्याभ्यां सैतवप्राचीनयोग्यौ पाराशर्यात्पाराशर्यो भारद्वाजाद्भारद्वाजो भारद्वाजाद्गौतमाच्च गौतमो भारद्वाजाद्भारद्वाजः पाराशर्यात्पाराशर्यो वैजवापायनाद्वैजवापायनः कौशिकायनेः कौशिकायनिः॥२॥

अन्वयार्थ– (आग्निवेश्यात्) आग्निवेश्य नामक आचार्य से विद्या प्राप्त की और (आग्निवेश्यः) आग्निवेश्य नाम के आचार्य ने (शाण्डिल्यात्) शाण्डिल्य नामक आचार्य से (च) ओर (अनभिम्लातात्) अनभिम्लात नामक आचार्य से विद्या प्राप्त

की (च) और (अनभिम्लातः) अनभिम्लात नाम के आचार्य ने (गौतमात्) गौतम नामक आचार्य से विद्या प्राप्त की और (गौतमः) गौतम नामके आचार्य ने (सैतवप्राचीनयोग्याभ्याम्) सैतवनामक आचार्य से तथा प्राचीनयोग्य नामक आचार्य से विद्या प्राप्त की और (सैतवप्राचीनयोग्यौ) सैतवनामके आचार्य तथा प्राचीनयोग्य नाम के आचार्य ने (पाराशर्यात्) पाराशर्य नामक आचार्य से विद्या प्राप्त की और (पाराशर्यः) पाराशर्य नाम के आचार्य ने (भारद्वाजात्) भारद्वाज नामक आचार्य से विद्या प्राप्त की और (भारद्वाजः) भारद्वाज नाम के आचार्य ने (भारद्वाजात्) भारद्वाज नामक आचार्य से (च) और (गौतमात्) गौरतम नामक आचार्य से विद्या प्राप्त की और (गौतमः) गौतम नाम के आचार्य ने (भारद्वाजात्) भारद्वाज नामक आचार्य से विद्या प्राप्त की और (भारद्वाजः) भारद्वाज नाम के आचार्य ने (पाराशर्यात्) पाराशर्य नामक आचार्य से विद्या प्राप्त की और (पाराशर्यः) पाराशर्य नाम के आचार्य ने (वैजवापायनात्) वैजवापायन नामक आचार्य से विद्या प्राप्त की और (वैजवापायनः) वैजवापायन नाम के आचार्य ने (कौशिकायनेः) कौशिकायनि नामक आचार्य से विद्या प्राप्त की (कौशिकायनिः) कौशिकायनि नाम के आचार्य ने इस पद का आगे की श्रुति के साथ सम्बन्ध है॥२॥

विशेषार्थ– प्रथम मंत्र में कहा हुआ "गौतमः" पद का इस इस द्वितीय मंत्र के साथ अन्वय करने से यह अर्थ हुआ कि– गौतम नाम के आचार्य ने आग्निवेश्य नामक आचार्य से विद्या प्राप्त की ६, और आग्निवेश्य नामक आचार्य ने शाण्डिल्य नामक आचार्य से तथा अनभिम्लात नामक आचार्य से विद्या प्राप्त की। अर्थात् आग्निवेश्य ने शाण्डिल्य तथा अनभिम्लात इन दो आचार्यों से विद्या लाभ किया ७, और अनभिम्लात नाम के आचार्य ने गौतम नामक आचार्य से विद्या प्राप्त की ८, तथा गौतम नाम के आचार्य ने सैतव नामक आचार्य से तथा प्राचीन योग्य नामक आचार्य से विद्या प्राप्त की ८, और सैतव नाम के आचार्य तथा प्राचीनयोग्य नाम के आचार्य ने पराशर्य नामक आचार्य से विद्या प्राप्त की ९, और पाराशर्य नाम के आचार्य ने भारद्वाज नामक आचार्य से विद्या प्राप्त की १०, और भारद्वाज नामक आचार्य ने भारद्वाज नाम के आचार्य से तथा गौतम नामक आचार्य से विद्या प्राप्त की ११, और गौतम नाम के आचार्य ने भारद्वाज नामक आचार्य से विद्या को प्राप्त किया १२, और भारद्वाज नामक के आचार्य ने पाराशर्य नामक आचार्य से विद्या को प्राप्त किया १३, तथा पाराशर्य नाम के आचार्य ने वैजवापायन नामक आचार्य से विद्या को लाभ किया १४, और वैजवापायन

नाम के आचार्य ने कौशिकायनि नामक आचार्य, इस पद का तृतीय कण्डिका के साथ सम्बन्ध है सो आगे प्रतिपादन किया जायेगा ।।२।।

घृतकौशिकाद् घृतकौशिकः पाराशर्यायणात्पाराशर्यायणः पाराशर्यात्पाराशर्यो जातूकर्ण्याज्जातूकर्ण्य आसुरायणाच्च यास्काच्चासुरायणस्त्रैवणेस्त्रैवणिरौपजन्धनेरौपजन्धनिरासुरेरासुरिर्भारद्वाजाद्भारद्वाज आत्रेयादात्रेयोमाण्टेर्माण्टिर्गौतमाद्गौतमो वात्स्याद्वात्स्यः शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यः कैशोर्यात्काप्यात्कैशोर्यः काप्यः कुमारहारीतात्कुमारहारीतो गालवाद्गालवो विदर्भीकौण्डिन्याद्विदर्भीकौण्डिन्यो वत्सनपातो बाभ्रवाद्वत्सनपाद्बाभ्रवः पथः सौभरात्पन्थाः सौभरोऽयास्याङ्गिरसादयास्यआङ्गिरस आभूतेस्त्वाष्ट्रादाभूतिस्त्वाष्ट्रोविश्वरूपात्त्वाष्ट्राद्विश्वरूपात्वाष्ट्रोऽश्विभ्यामश्विनौ दधीच आथर्वणाद्दध्यङ्ङाथर्वणोदैवादथर्वा दैवो मृत्योः प्राध्वंसनान्मृत्युः प्राध्वंसनः प्रध्वंसनात्प्रध्वंसन एकर्षेरेकर्षिर्विप्रचित्तेर्विप्रचित्तिर्व्यष्टेर्व्यष्टिः सनारोः सनारुः सनातनात्सनातनः सनकात्सनकः परमेष्ठिनः ब्रह्मणो ब्रह्म स्वयंभु । ब्रह्मणे नमः ।।३।।

।। इति द्वितीयाध्याये षष्ठं ब्राह्मणम् ।।

।। इति बृहदारण्यकोपनिषदि द्वितीयोऽध्यायः ।।

अन्वयार्थ- (घृतकौशिकात्) घृतकौशिक नामक आचार्य से विद्या प्राप्त की और (घृतकौशिकः) घृतकौशिक नाम के आचार्य ने (पाराशर्यायणात्) पाराशर्यायण नामक आचार्य से विद्या प्राप्त की तथा (पाराशर्यायणः) पाराशर्यायण नाम के आचार्य ने (पाराशर्यात्) पाराशर्य नामक आचार्य से विद्या प्राप्त की और (पाराशर्यः) पाराशर्य

नाम के आचार्य ने (जातूकर्ण्यात्) जातूमकर्ण्य नामक आचार्य से विद्या को ग्रहण किया (च) और (जातूकर्ण्यः) जातूकर्ण्य नाम के आचार्य ने (आसुरायणात्) आसुरायण नामक आचार्य से (च) और (यास्कात्) यास्क नामक आचार्य से विद्या को प्राप्त किया और (आसुरायणः) आसुरायण नाम के आचार्य ने (त्रैवणेः) त्रैवणि नामक आचार्य से विद्या को लाभ किया तथा (त्रैवणिः) त्रैवणि नाम के आचार्य ने (औपजन्धनेः) औपजन्धनि नामक आचार्य से विद्या प्राप्त की और (औपजन्धनिः) औपजन्धनि नाम के आचार्य ने (आसुरेः) आसुरि नामक आचार्य से विद्या लाभ किया तथा (आसुरिः) आसुरि नाम के आचार्य ने (भारद्वाजात्) भारद्वाज नामक आचार्य से विद्या प्राप्त की और (भारद्वाजः) भारद्वाज नाम के आचार्य ने (आत्रेयात्) आत्रेय नामक आचार्य से विद्या प्राप्त की तथा (आत्रेयः) आत्रेय नामक आचार्य ने (माण्टेः) माण्टि नामक आचार्य से विद्या लाभ किया और (माण्टिः) माण्टि नाम के आचार्य ने (गौतमात्) गौतम नामक आचार्य से विद्या प्राप्त की और (गौतमः) गौतम नाम के आचार्य ने (वात्स्यात्) वात्स्य नामक आचार्य से विद्या ग्रहण किया तथा (वात्स्यः) वात्स्य नाम के आचार्य ने (शाण्डिल्यात्) शाण्डिल्य नामक आचार्य से विद्या प्राप्त की और (शाण्डिल्यः) शाण्डिल्य नाम के आचार्य ने (कैशोर्यात्) कैशोर्य (काप्यात्) काप्य नामक आचार्य से विद्या लाभ किया तथा (कैशोर्यः) कैशोर्य (काप्यः) काप्य नाम के आचार्य ने (कुमारहारीतात्) कुमारहारीत नामक आचार्य से विद्या प्राप्त की और (कुमारहारीतः) कुमारहारीत नामक आचार्य ने (गालवात्) गालब नामक आचार्य से विद्या लाभ किया और (गालवः) गालव नाम के आचार्य ने (विदर्भीकौण्डिन्यात्) विदर्भीकौण्डिन्य नामक आचार्य से विद्या प्राप्त की तथा (विदर्भीकौण्डिन्यः) विदर्भीकौण्डिन्य नाम के आचार्य ने (वत्सनपातः) वत्सनपात् (बाभ्रवात्) बाभ्रव नामक आचार्य से विद्या ग्रहण की और (वत्सनपाद्बाभ्रवः) वत्सनपात् बाभ्रव नाम के आचार्य ने (पथः) पन्था (सौभरात्) सौभर नामक आचार्य से विद्या लाभ किया तथा (पन्थाः) पन्था (सौभरः) सौभर नाम के आचार्य ने (अयास्याङ्गिरसात्) अयास्य आङ्गिरस नामक आचार्य से विद्या प्राप्त की और (अयास्यः) अयास्य (आङ्गिरसः) आङ्गिरस नाम के आचार्य ने (आभूतेः) आभूति (त्वाष्ट्रात्) त्वाष्ट्र नामक आचार्य से विद्या लाभ किया तथा (आभूतिः) आभूति (त्वाष्ट्रः) त्वाष्ट्र नाम के आचार्य ने (विश्वरूपात्) विश्वरूप (त्वाष्ट्रात्) त्वाष्ट्र नामक आचार्य से विद्या प्राप्त किया और (विश्ववरूपः) विश्ववरूप (त्वाष्ट्रः) त्वाष्ट्र नाम के आचार्य ने (अश्विभ्याम्) अश्विनी कुमार नामक आचार्यों से विद्या लाभ किया तथा (अश्विनौ) अश्विनी कुमार नाम के आचार्यो ने (दधीचः) दध्यङ् (आथर्वणात्) आथर्वण नामक आचार्य से विद्या प्राप्त की और (दध्यङ्) दध्यङ

(आथर्वण:) आथर्वण नाम के आचार्य ने (अथर्वण:) अथर्वा (दैवात्) दैव नामक आचार्य से विद्या लाभ किया और (अथर्वा) अथर्वा (दैव:) दैव नामक आचार्य ने (मृत्यो:) मृत्यु (प्राध्वंसनात्) प्राध्वंसन नामक आचार्य से विद्या प्राप्त की तथा (मृत्यु:) मृत्यु (प्राध्वंसन:) प्राध्वंसन नाम के आचार्य ने (प्रध्वंसनात्) प्राध्वंसन नाम के आचार्य से विद्या लाभ किया और (प्राध्वंसन:) प्रध्वंसन:) नाम के आचार्य ने (एकर्षे:) एकर्षि नामक आचार्य से विद्या प्राप्त की तथा (एकर्षि:) एकर्षि नाम के आचार्य ने (विप्रचित्ते:) विप्रचित्ति नामक आचार्य से विद्या प्राप्त की और (विप्रचित्ति:) विप्रचित्ति नाम के आचार्य ने (व्यष्टे:) व्यष्टि नामक आचार्य से विद्या ग्रहण किया तथा (व्यष्टि:) व्यष्टि नाम के आचार्य ने (सनारो:) सनारु नामक आचार्य से विद्या लाभ किया और (सनारु:) सनारु नाम के आचार्य ने (सनातनात्) सनातन नामक आचार्य से विद्या प्राप्त किया तथा (सनातन:) सनातन नाम के आचार्य ने (सनकात्) सनक नाम के आचार्य से विद्या लाभ किया और (सनक:) सनक नाम के आचार्य ने (परमेष्ठिन:) परमेष्ठी ब्रह्मा नामक आचार्य से विद्या प्राप्त की और (परमेष्ठी) ब्रह्मा नाम के आचार्य ने (ब्रह्मण:) परब्रह्म नारायण नामक आचार्य से विद्या प्राप्त की (ब्रह्म) परब्रह्म नारायण (स्वयंभु) उपदेश के बिना स्वयं विद्या का प्रवर्तक होता है इस कारण से नारायण के आगे आचार्य परम्परा नहीं है (ब्रह्मणे) सर्व गुरु परब्रह्म नारायण के लिये (नम:) नमस्कार है ।।३।।

विशेषार्थ– इन श्रुतियों में सर्वत्र प्रथमा विभक्त्यन्त से शिष्य का निर्देश है और पञ्चम्यन्त से आचार्य का निर्देश है । द्वितीय कण्डिका में कहा हुआ "कौशिकायनि:" पद का इस तृतीय कण्डिका के साथ अन्वय करने से यह अर्थ हुआ कि– कौशिकायनि नाम के आचार्य ने घृतकौशिक नामक आचार्य से विद्या प्राप्त की १६, और घृतकौशिक नाम के आचार्य ने पाराशर्यायण नामक आचार्य से विद्या प्राप्त की १७, तथा पराशर्यायण नाम के आचार्य ने पाराशर्य नामक आचार्य से विद्या प्राप्त किया १८, और पाराशर्य नाम के आचार्य ने जातूकर्ण्य नामक आचार्य से विद्या प्राप्त की १९, तथा जातूकर्ण्य नाम के आचार्य ने आसुरायण नामक आचार्य से और यास्क नामक आचार्य से विद्या प्राप्त की २०, और आसुरायण नाम के आचार्य ने त्रैवणि नामक आचार्य से विद्या प्राप्त की २१, तथा त्रैवणि नाम के आचार्य ने औपजन्धनि नामक आचार्य से विद्या प्राप्त की २२, और औपजन्धनि नाम के आचार्य ने आसुरि नामक आचार्य से विद्या–लाभ किया २३, तथा आसुरि नाम के आचार्य ने भारद्वाज नामक आचार्य से विद्या प्राप्त की २४, और भारद्वाज नाम के आचार्य ने आत्रेय नामक आचार्य से विद्या प्राप्त की २५, तथा आत्रेय नाम के आचार्य ने माण्टि

नामक आचार्य से विद्या-लाभ किया २६, और माण्टि नाम के आचार्य ने गौतम नामक आचार्य से विद्या प्राप्त की २७, तथा गौतम नाम के आचार्य ने वात्स्य नामक आचार्य से विद्या प्राप्त की २८, और वात्स्य नाम के आचार्य ने शाण्डिल्य नामक आचार्य से विद्या प्राप्त की २९, तथा शाण्डिल्य नाम के आचार्य ने कैशोर्य काप्य नामक आचार्य से विद्या प्राप्त की ३०, और कैशोर्य काप्य नाम के आचार्य ने कुमारहारीत नामक आचार्य से विद्या प्राप्त की ३१, तथा कुमारहारीत नाम के आचार्य ने गालव नामक आचार्य से विद्या प्राप्त की ३२, और गालव नाम के आचार्य ने विदर्भीकौण्डिन्य नामक आचार्य से विद्या प्राप्त की ३३, और विदर्भीकौण्डिन्य नाम के आचार्य ने वत्सनपात् बाभ्रव नामक आचार्य से विद्या ग्रहण की ३४, तथा वत्सनपात्बाभ्रव नाम के आचार्य ने पन्था सौभर नामक आचार्य से विद्या प्राप्त की ३५, और पन्था सौभर नाम के आचार्य ने अयास्य आङ्गिरस नामक आचार्य से विद्या प्राप्त की ३६, तथा अयास्य आङ्गिरस नाम के आचार्य ने आभूति त्वाष्ट्र नामक आचार्य से विद्या प्राप्त की ३७, और आभूति त्वाष्ट्र नाम के आचार्य ने विश्वरूपत्वाराष्ट्र नामक आचार्य से विद्या-लाभ किया ३८। तथा विश्वरूपत्वाष्ट्र नाम के आचार्य ने अश्विनी कुमार नामक आचार्यों से विद्या प्राप्त की ३९, और अश्विनी कुमार नामक आचार्यों ने दध्यङ् आथर्वण नामक आचार्य से विद्या-लाभ किया ४०। और दध्यङ् आथर्वण नामके आचार्य ने अथर्वदैव नामक आचार्य से विद्या प्राप्त की ४१। तथा अथर्वदैव नाम के आचार्य ने मृत्यु-प्राध्वंसन नामक आचार्य से विद्या ग्रहण की ४२ और मृत्युप्राध्वंसन नाम के आचार्य ने प्रध्वंसन नामक आचार्य से विद्या-लाभ किया ४३। तथा प्रध्वंसन नाम के आचार्य ने एकर्षि नामक आचार्य से विद्या प्राप्त की ४४। और एकर्षि नाम के आचार्य ने विप्रचित्ति नामक आचार्य से विद्या-लाभ किया ४५। तथा विप्रचित्ति नाम के आचार्य ने व्यष्टि नामक आचार्य से विद्या प्राप्त की ४६। और व्यष्टि नाम के आचार्य ने सनारु नामक आचार्य से विद्या-लाभ किया ४७। और सनारु नाम के आचार्य ने सनातन नामक आचार्य से विद्या प्राप्त की ४८। तथा सनातन नाम के आचार्य ने सनक नामक आचार्य से विद्या-लाभ किया ४९ और सनक नाम के आचार्य ने परमेष्ठी यानी ब्रह्म नामक आचार्य से विद्या प्राप्त की ५०। यहाँ पर परमेष्ठी शब्द चतुर्मुख ब्रह्म का वाचक है। क्योंकि लिखा है– **ब्रह्मात्मभूः सुरज्येष्ठः परमेष्ठी पितामहः ॥** (अमर० कां० १ वर्ग० १ श्लोक १६) ब्रह्मन् १, आत्मभू २, सुरज्येष्ठ ३, परमेष्ठिन् ४, पितामह ५, ये चतुर्मुख ब्रह्मा के नाम हैं ॥१६॥ और परमेष्ठी यानी ब्रह्मा नाम के आचार्य ने परब्रह्म नारायण नामक आचार्य से विद्या प्राप्त की ५१। क्योंकि लिखा है– **यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ॥** (श्वेता० उ० अ० ६ श्रु० १८) जो

परब्रह्मनारायण निश्चय ही सबसे पहले ब्रह्मा को उत्पन्न करता है और जो निश्चय ही उस ब्रह्मा के लिए समस्त वेदों को प्रदान करता है ।।१८।। **नारायणाद्ब्रह्मा जायते** ।। (नारा० उ० श्रु० १) नारायण से ब्रह्मा उत्पन्न होता है ।।१।। **तेने ब्रह्महृदा य आदिकवये** (श्रीमद्भ० स्कं० १ अ० १ श्लो० १) जिस नारायण ने आदिकवि ब्रह्मा के लिए हृदय से वेद का विस्तार किया ।।१।। **वेदमध्यापयद्विधिम्** (सिद्धान्तकौ०) नारायण ने ब्रह्मा को वेद पढ़ाया ।। परब्रह्मनारायण उपदेश के बिना ही स्वयं विद्या का प्रवर्तक होता है । इस कारण से नारायण के आगे आचार्य- परम्परा नहीं है । क्योंकि आचार्यों ने भी कहा है— **इन्दिरासहचरं नारायणं संश्रये** (गुरुपरं० श्लो० १) श्री लक्ष्मीकान्त नारायण को सम्यक् सेवन करता हूँ ।।१।। इस श्रुति में ''ब्रह्म'' पद परब्रह्मनारायण का वाचक है । क्योंकि लिखा है— **ब्रह्मण्यो ब्रह्मकृद्ब्रह्मा ब्रह्म ब्रह्मविवर्धनः** (महाभार० अनुशा० विष्णुसह० १ श्लो० ८४) ब्रह्मण्य १, ब्रह्मकृत् २, ब्रह्मा ३, ब्रह्म ४ और ब्रह्मविवर्धन ५ ये नारायण के नाम हैं ।।८४।। सर्वगुरु परब्रह्मनारायण के लिये साष्टाङ्ग प्रणिपात है । क्योंकि लिखा है— **सकृदुच्चरितं येन नम इत्यक्षरद्वयम् । बद्धः परिकरस्तेन मोक्षाय गमनं प्रति** (पाण्डवगी०) जिसने एकबार ''नमः'' यह दो अक्षर उच्चारण किया उसने मोक्ष गमन के प्रति परिकरबाँध लिया । ''बृहदारण्यकोपनिषद्'' के द्वितीय अध्याय के प्रथम ब्राह्मण में बीस कण्डिकाएँ है तथा द्वितीय ब्राह्मण में चार कण्डिकाएँ है और तृतीय ब्राह्मण में छः कण्डिकाएँ है तथा चतुर्थ ब्राह्मण में चौदह कण्डिकाएँ है और पञ्चम ब्राह्मण में उन्नीस कण्डिकाएँ है तथा षष्ठ ब्राह्मण में तीन कण्डिकाएँ है । इस प्रकार सब परिगणन से ६६ छियासठ कण्डिकाएँ हैं । यहाँ ''बृहदारण्यकोपनिषद्'' के द्वितीय अध्याय का षष्ठ वंशब्राह्मण और द्वितीय अध्याय समाप्त हो गया ।।३।।

।। अथ तृतीयोऽध्यायः ।।

।। अथ प्रथमं ब्राह्मणम् ।।

जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे । तत्र ह कुरु पञ्चालानां ब्राह्मणा अभिसमेता बभूवुः । तस्य ह जनकस्य वैदेहस्य विजिज्ञासा बभूव कः स्विदेषां ब्राह्मणानामनूचानतम इति । स ह गवां सहस्रमव-रुरोध । दश दश पादा एकैकस्याः शृङ्गयोराबद्धा

बभूवुः ॥१॥

अन्वयार्थ– (ह) प्रसिद्ध (वैदेहः) विदेहदेश के अधिपति (जनकः) जनक नाम के महाराज ने (बहुदक्षिणेन) बहुत दक्षिणा वाले (यज्ञेन) यज्ञ से (ईजे) यजन किया (तत्र) उस यज्ञ में (ह) प्रसिद्ध (कुरुपञ्चालानाम्) विद्वद्भूयिष्ठ कुरु और पञ्चालदेशों के (ब्राह्मणाः) ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण (अभिसमेताः) निर्मंत्रित होकर अथवा उस यज्ञ को देखने की इच्छा से एकत्रित (बभूवुः) हुए (एषाम्) इन आये हुए माननीय (ब्राह्मणानाम्) ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मणों के मध्य में (कः स्वित्) कौन सा ब्राह्मण (अनूचानतमः) अतिशय ब्रह्मविद्या के अनुवचन करने में कुशल है (इति) ऐसी (विजिज्ञासा) विशेष रूप से जाने की इच्छा (ह) प्रसिद्ध (तस्य) उस (वैदेहस्य) विदेह देश के अधिपति (जनकस्य) जनक महाराज के (बभूव) उत्पन्न हुई तब उसको जानने की इच्छा से (ह) सुप्रसिद्ध (सः) उस जनक महाराज ने (गवाम्) नयी अवस्थावाली गायों का (सहस्रम्) एक हजार को (अवरुरोध) गोशालामें रोका और (एकैकस्याः) एक एक गाय की (शृङ्गयोः) दोनों सींगों में सुवर्ण के (दश) दस (दश) दस (पादाः) पाद (आबद्धाः) भलीभाँति बांधे (बभूवुः) हुए थे ॥१॥

विशेषार्थ– मधुकाण्ड से सिद्ध अन्तर्यामी भगवान को दृढ़ इस अध्याय में किया जाता है। उसमें पुष्कलधनदान और बहुत विद्वानों के समवाय ही विद्योपार्जन करने के लिये प्रसिद्ध उपाय है, इस बात को जनाने के लिये यह आख्यायिका प्रारम्भ की जाती है कि– किसी समय में विदेह देश के अधिप सुप्रसिद्ध जनक नाम के महाराज ने बहुत दक्षिणा जिसमें दी जाय उस अश्वमेध नामक यज्ञ से यजन किया। विदेह देश को आजकल तिरहुत कहते हैं जिसमें मुजफ्फरपुर, दरभंगा, सीतामढ़ी, समस्तीपुर, जनकपुर आदि प्रसिद्ध जगह हैं। जनक के विषय में लिखा है– **अथ हैनं जनको वैदेहो याज्ञवल्क्यमुपसमेत्योवाच भगवन् संन्यासं ब्रूहीति** (जाबालोप० श्रु० ४) अनन्तर विदेहदेशाधिपति सुप्रसिद्ध जनक मजाराज ने इस याज्ञवल्क्य महर्षि के समीप जाकर ऐसा कहा कि हे भगवन् संन्यास को मुझसे आप कहिये ॥४॥ **कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः** (गी० अ० ३ श्लो० २०) जनकादिक कर्म के आचरण से ही परमसिद्धि को प्राप्त हुए ॥२०॥ **अराजकभयं नृणां मन्यमाना महर्षयः। देहं ममन्थुः स्म निमेः कुमारः समजायत ॥** (श्रीमद्भाग० स्कं० ९ अ० १३ श्लो० १२) **जन्मना जनकः सोऽभूत् वैदेहस्तु विदेहजः। मिथिलोमथनाज्जातो मिथिला येन निर्मिता ॥१३॥** महर्षि लोग मनुष्यों के अराजकभय को मानते हुए निमिराजा के देह को मन्थन किये उसके बाद एक कुमार उत्पन्न हुआ ॥१२॥ केवल पिता से जन्म

होने के कारण वह बालक जनक नाम से प्रसिद्ध हुआ तथा देह के धर्म से रहित होने पर उत्पन्न हुआ इससे वैदेह प्रसिद्ध हुआ तथा देह के धर्म से रहित होने पर इससे मिथिल कहा गया जिसने मिथिलापुरी का निर्माण किया है ॥१३॥ उस जनक महाराज के यज्ञ में वहाँ पर निमंत्रित होकर अथवा यज्ञ को देखने की इच्छा से **"अनाहूतोऽध्वरंगच्छेत्"** बिना बुलाये यज्ञ में जाय ॥ इस नियमानुसार बहुत विद्वानों से युक्त सुप्रसिद्ध कुरु और पञ्चालदेश के ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण इकट्ठे हुए । वर्तमान दिल्ली के समीप देश को कुरु कहते हैं । और वर्तमान कन्नौज सहित समीपस्थ देश को पञ्चाल कहते हैं । कुरु पञ्चाल के विषय में लिखा है– **कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पञ्चालाः शूरसेनकाः । एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मवर्तादनन्तरम्** (मनु० अ० २ श्लो० १९) कुरुक्षेत्र, मत्स्यदेश, कान्यकुब्जदेश, मथुरादेश यह निश्चय करके ब्रह्मर्षि देश है । यह देश ब्रह्मावर्त्त से कुछ न्यून है ॥१९॥ उस यज्ञ में महान् विद्वानों के समुदाय को देखकर इन आये हुए माननीय ब्राह्मणों के मध्य में ब्रह्मविद्या के अनुवचन करने में सबसे अधिक समर्थ कौन ब्राह्मण है यह विशेष रूप से जानने की इच्छा उस सुप्रसिद्ध विदेहराज यजमान जनक महाराज की हुई । अतिशय अनूचान को "अनूचानतामं" कहते हैं । अनूचान के विषय में लिखा है– **एकां शाखामधीत्य श्रोत्रियोऽङ्गाध्याय्यनूचानः** (श्रु०) एक अपने वेदकी शाखा को पढ़कर षडङ्गको अध्ययन करने वाला श्रोत्रिय-ब्राह्मण अनूचान कहा जाता है । इस प्रकार अनूचानतम विषयक जिज्ञासा उत्पन्न होने पर उसको जानने की इच्छा से उस सुप्रसिद्ध जनक महाराज ने नयी अवस्था वाली एक सहस्र गायों को एक गोशाला में रोक दी । वे कैसी गौएँ रोकी गयी थीं सो आगे बतलाया जाता है । एक एक गौ की दोनों सीगों में दस दस पाद सोने बांधे हुए थे अर्थात् एक एक सींग में पांच-पांच पाद बांधे गये थे । गौ के विषय में लिखा है– **विषाणी ककुद्मान्प्रान्तेबालधिस्सास्नावानिति । (गोत्वे दृष्टं लिङ्गम्)** (वैशेषिक० अध्याय० २ आह्नि० १ सू० ८) सींग डील प्रान्त में बालधि और गर्दन में ललरी जिस को हो उसको गौ कहते हैं ॥८॥ और पाद के विषय में लिखा है– **पादस्तुरीयो भागः स्यात्** (अमर० कां० २ व० ९ श्लो० ८९) पल का चतुर्थ भाग पाद होता है ॥८९॥ और गुञ्जाः पञ्चाद्यमाषकः (अमर० कां० २ व० ९ श्लो० ८५) **ते षोडशाक्षः कर्षोऽस्त्री पलं कर्षचतुष्टयम् ॥८६॥** पांचरत्ती का शास्त्रोक्त मासा होता है ॥८५॥ सोलह मासे का एक अक्ष होता है, उस अक्ष को ही कर्ष कहते हैं । और चार कर्ष का एक पल होता है ॥८६॥ ऐसा प्रतिपादन किया गया है ॥१॥

तान्होवाच ब्राह्मणा भगवन्तो यो वो ब्रह्मिष्ठः स

एता गा उदजतामिति । ते ह ब्राह्मणा न दधृषुः । अथ ह याज्ञवल्क्यः स्वमेव ब्रह्मचारिणमुवाचैताः सोम्योदज सामश्रवा ३ इति । ता होदाचकार । ते ह ब्राह्मणाश्चुक्रुधुः कथं नो ब्रह्मिष्ठो ब्रु वीतेति । अथ ह जनकस्य वैदेहस्य होताऽश्वलो बभूव स हैनं पप्रच्छ त्वं नु खलु नो याज्ञवल्क्य ब्रह्मिष्ठोऽसी ३ इति । स होवाच नमो वयं ब्रह्मिष्ठाय कुर्मो गोकामा एव वयं स्म इति । तं ह तत एव प्रष्टुं दध्रे होताऽश्वलः ॥२॥

अन्वयार्थ— (ह) सुप्रसिद्ध उस जनक महाराज ने (तान्) उन ब्राह्मणों से (उवाच) कहा कि (भगवन्तः) हे षडैश्वर्यसम्पन्न पूज्य (ब्राह्मणाः) ब्राह्मणो (वः) आपलोगों के मध्य में (यः) जो कोई (ब्रह्मिष्ठः) अतिशय श्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता पुरुष हो (सः) वह (एताः) इन (गाः) गौओं को (उदजताम्) अपने गृह ले जाय (इति) इतनाकहकर चुप हो गये (ते) वे (ह) सुप्रसिद्ध (ब्राह्मणाः) कुरु पञ्चाल देश के ब्राह्मण (न) नहीं (दधृषुः) धृष्ट हुए (अथ) तब (ह) सुप्रसिद्ध (याज्ञवल्क्यः) याज्ञवल्क्य महर्षि ने (स्वम्) अपने (एव) ही (ब्रह्मचारिणम्) ब्रह्मचारी से (उवाच) कहा कि (सोम्य) हे सोमार्हप्रियदर्शन (सामश्रवा ३) हे सामवेदयशस्विन् (एताः) इन गौओं को (उदज) हमारे घर तू ले जा (इति) इस प्रकार गुरु के वचन को सुनकर (ह) प्रसिद्ध वह ब्रह्मचारी (ताः) उन गौओं को (उदाचकार) वहाँ से आचार्य याज्ञवल्क्य के घर की ओर ले चला तब (ह) प्रसिद्ध (ते) वे समस्त (ब्राह्मणाः) ब्राह्मण (चुक्रुधुः) क्रुद्ध हो गये और बोले कि (कथम्) कैसे (नः) हम लोगों को अनादर कर यह याज्ञवल्क्य मैं (ब्रह्मिष्ठः) ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ हूँ (इति) ऐसा (ब्रुवीत) कह सकता है (अथ) पश्चात् (वैदेहस्य) विदेहदेशाधिपति (ह) प्रसिद्ध (जनकस्य) जनक महाराज का (होता) होता जो (अश्वलः) अश्वल नाम का (बभूव) था (सः) उसने (एनम्) इस (ह) सुप्रसिद्ध याज्ञवल्क्य से (पप्रच्छ) पूछा कि (याज्ञवल्क्य) हे याज्ञवल्क्य (नः) हम सब ब्राह्मणों में (खलु) निश्चय करके (नु) क्या (त्वम्) तुम्हीं (ब्रह्मिष्ठः) सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता (असी ३) हो यहाँ 'असि' पद में प्लुतईकार का प्रयोग

भर्त्सना के लिये है तब (सः) उस (ह) प्रसिद्ध याज्ञवल्क्य ने (इति) ऐसा (उवाच) कहा कि (वयम्) हम (ब्रह्मिष्ठाय) सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता पुरुष के लिये (नमः) नमस्कार (कुर्मः) करते हैं (वयम्) हम इस समय (गोकामाः) गौओं की इच्छवाले (एव) निश्चय करके (स्मः) हैं (ततः) उपहासयुक्त वचन के कारण से (एव) ही (होता) जनक महाराज का होता (अश्वलः) अश्वल नाम का ब्राह्मण (ह) प्रसिद्ध (तम्) उस याज्ञवल्क्य महर्षि से (प्रष्टुम्) प्रश्न करने के लिये (दध्रे) अवस्थित हुआ ।।२।।

विशेषार्थ– सुप्रसिद्ध उस जनक महाराज ने यज्ञ में एकत्र हुए उन ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मणों से सविनय निवेदन किया कि– हे षडैश्वर्य संपन्न पूज्य माननीय ब्राह्मणों ! जो कोई आपलोगों के मध्य में सब से श्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता पुरुष हो वह इन गौओं को अपने घर के प्रति हांक ले जाय । इतना कह कर चुप हो गए । प्रसिद्ध कुरु पञ्चाल देश के उन ब्राह्मणों ने गौओं को लेने के लिए धृष्टता प्रकट नहीं की । सब ब्राह्मणों के साहसहीन हो जाने पर सुप्रसिद्ध याज्ञवल्क्य महर्षि ने अपने ब्रह्मचारी अनुगत शिष्यों से कहा कि– हे सोमार्ह प्रियदर्शन ! हे सामवेद यशस्विन् ! इन गौओं को तुम हमारे घर में ले जाओ । सामवेद को जो श्रवण करता है उसको **"सामश्रवा"** कहते हैं । गुरु का वचन सुनकर वह ब्रह्मचारी वहाँ से उन गौओं को आचार्य याज्ञवल्क्य के घर की ओर ले चला । याज्ञवल्क्य ने ब्रह्मिष्ठ सम्बन्धी प्रण स्वीकार करके अपनी ब्रह्मिष्ठता की प्रतिज्ञा की है– इससे वे सम्पूर्ण ब्राह्मण क्रुध हो गये । और बोले कि– कैसे हमलोगों का अनादर कर यह याज्ञवल्क्य, मैं ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ हूँ ऐसा कह सकता है । तब इस प्रकार क्रुद्ध हुए ब्राह्मणों में विदेहदेश के अधिपति सुप्रसिद्ध यजमान जनकमहाराज का धृष्ट होता जो अश्वल नाम का था वह इस प्रसिद्ध याज्ञवल्क्य नाम के आचार्य से बोला कि– हे याज्ञवल्क्य ! हम सब ब्राह्मणों में निश्चय क्या आप ही सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता हैं ? यहाँ "असि" पद में प्लुतईकार का प्रयोग भर्त्सना यानी धिक्कारने के लिये है । अश्वल के वाक्य को सुनकर उस सुप्रसिद्ध याज्ञवल्क्य ने कहा कि– हे अश्वल हम सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता पुरुष के लिये साष्टाङ्ग प्रणिपात करते हैं । ब्रह्मिष्ठता के अभिमान से हम नहीं गौओं को ले जाते हैं किन्तु इस समय हम गौओं की कामना करनेवाले ही हैं इस प्रकार उपहास सहित वचन कहा । तब सोपहास वचन के कारण से जनक महाराज का होता अश्वल नाम का ब्राह्मण उस सुप्रसिद्ध याज्ञवल्क्य महर्षि से प्रश्न करने के लिये अब स्थित हुआ । राजाश्रय के कारण अभिमानी और धृष्ट अश्वल था । "सामश्रवा३इति" "ब्रह्मिष्ठोऽसी३इति" इन दोनों स्थलों में जो ३ तीन का अङ्क लिखा गया है वह प्लुत शब्द का सूचक है । जब किसी शब्द पर जोर देना हो तथा निरादर करना, डांटना आदि अर्थ हो तो अन्तिम स्वर को प्लुत

करके बोलते हैं। जैसे कि– अरे सनिचरा ३ इधर आ। इत्यादि। ब्रह्मचारी के विषय में लिखा है– **मौञ्ज्याद्यजिनदण्डांस्तु ब्रह्मचारी धरेत्सदा ॥** (पराशरीयधर्म॰ उत्तरखं॰ अ॰ ५ श्लो॰ १०) ब्राह्मण ब्रह्मचारी मुञ्ज की तिगुनी हुई सुन्दर मेखला तथा कृष्णमृगचर्म एक कपास का बना हुआ जनेऊ, खड़ाऊँ और केशान्त बेल या पलाश का अंगुली इतना मोटे दण्ड को तथा धातु के कमण्डलु को सदा धारण करे और क्षत्रिय ब्रह्मचारी मौर्वी धनुष के गुण के समान स्नायुमयी मेखला तथा चित्रमृग का चर्म एक शन का बना हुआ जनेऊ और ललाटपर्यन्त बट या खैर का अंगुली इतना मोटा दण्ड तथा धातु का कमण्डलु सदा धारण करे। वैश्य ब्रह्मचारी शन के सूत का सुन्दर चिक्कन मेखला तथा बकरा का चर्म और भेड़ के केश का बना हुआ एक जनेऊ तथा नासिकान्त गूलर या पाकड़ या छिलका सहित अंगुली इतना मोटे दण्ड को तथा धातु के कमण्डलु को सदा धारण करे ॥१०॥ **मेखलामजिनं दण्डमुपवीतं कमण्डलुम्। कटिसूत्रं च कौपीनं ब्रह्मचारी धारयेत् ॥** (पाञ्चरा॰) मेखला, चर्म, दण्ड, यज्ञोपवीत, कमण्डलु, कटिसूत्र और कौपीन को ब्रह्मचारी सदा धारण करे। **तामसं नग्नमेकं तु राजसं वसनद्वयम्। कौपीनसहितं तत्तु सात्त्विकं मुनिभिः स्मृतम् ॥** (भारद्वाजसं॰ अ॰ ४ श्लो॰ ५५) केवल एक वस्त्र को धारण करना नग्न के समान है और दो वस्त्रों को धारण करना राजस है तथा कौपीन, कटिवस्त्र और उत्तरीय इन तीनों को धारण करना ये सात्विक है ऐसा मुनियो ने कहा है ॥५५॥ **अयुक् सूत्रैर्व्यतिस्यूतं धारयेत्कटिबन्धनम्। कौपीनं वस्त्रयुग्मं च यथार्हमितराणि च ॥** (भारद्वाजसं॰ अ॰ ३ श्लो॰ ८०) दो सौ चालिस चौवा के और यज्ञोपवीत के समान नव सूत्र से बने हुए कटिसूत्र को तथा कौपीन को और कटिवस्त्र को तथा उत्तरीय को यथायोग्य धारण करे ॥८०॥ **ब्रह्मचारी वनस्थो वा ललाटहृदयकण्ठबाहुमूलेषु वैष्णवगायत्र्या कृष्णादिनामभि र्वा धारयेत् ॥** (वासुदेवो पनि॰) ब्रह्मचारी और वानप्रस्थी ललाट, हृदय, कण्ठ और वाहुमूलों में **नारायणाय विद्महे वासुदेवाय धीमहि। तन्नो विष्णुः प्रचोदयात् ॥** (तैत्ति॰ आर॰ प्रपा॰ १० अनु॰ १ मं॰ २८) इस वैष्णव गायत्री से अथवा कृष्ण आदिक नामों से ऊर्ध्वपुण्ड्र को धारण करे। **ऊर्ध्वपुण्ड्रं ललाटे तु कुर्वीत चतुरंगुलम्। उदरे हृदि कण्ठे च दशाष्टचतुरंगुलान् ॥** (भारद्वा॰ सं॰ अ॰ ३ श्लो॰ ५०) हृदय, दाहिनाबाहुमूल, बायाँबाहुमूल इन तीनों स्थानों पर आठ आठ अंगुल लम्बा ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण करना चाहिये ॥७३॥ **बाह्वोर्वक्षस्थले पुण्ड्रमष्टाङ्गुलमुदाहृतम् ॥** (पद्मपु॰ उत्तरखं ६ अ॰ २२५ श्लो॰ ५०) हृदय, दाहिनाबाहुमूल, बायांबाहुमूल इन तीनों स्थानों पर आठ–आठ अंगुल लम्बा ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण करना चाहिये ॥५०॥ **आदायवैष्णवक्षेत्रान्मृत्तिकां विमलां शुभाम्। मूलमंत्रेणाभिमंत्र्य ऊर्ध्वपुण्ड्राणि धारयेत् ॥** (पराशरीयध॰ उत्तरखं॰

अ० २ श्लो० ९) श्री वैष्णवक्षेत्र से सुन्दर सफेद मिट्टी को लेकर **ओं नमो नारायणाय ॥** (नारायणोप० मं० ४) इस मूलमंत्र से अभिमंत्रित करके ऊर्ध्वपुण्ड्र को धारण करे ।।९।। **नासादिकेशपर्यन्तमूर्ध्वपुण्ड्रं सुशोभनम् । मध्ये छिद्रसमायुक्तं तं विद्याद्धरिमन्दिरम् ॥** (पद्मपु० पतालखं० ५ अ० ७९ श्लो० २७) नांक के आदि से के केशपर्यन्त मध्य में छिद्र से युक्त सुन्दर जो ऊर्ध्वपुण्ड्र है उसको श्रीहरि का मन्दिर जानो ।।२७।। **तस्माच्छिद्रान्वितं पुण्ड्रं सहरिद्रं शुभान्वितम् । धारयेद् ब्राह्मणो नित्यं हरिसालोक्यसिद्धये ॥** (पद्मपु० उत्तरखं० ६ अ० २२५ श्लो० २८) । श्रौत स्मार्त होने के कारण से ब्राह्मण हल्दी के चूर्ण से युक्त अत्यन्त सुन्दर मध्य में छिद्रयुक्त ऊर्ध्वपुण्ड्र नित्यप्रति श्रीहरि की सायुज्यसिद्धि के लिए धारण करे ।।२८।। **ऊर्ध्वपुण्ड्रधरो विप्रः तपहोमादिकं चरेत् । न्यूनं सम्पूर्णतां याति विधानेन विशेषतः ॥** (ऊर्ध्वपुण्ड्रोप० खं० ५ श्रु० ८) **अग्निष्टोमसहस्राणि वाजपेयशतानि च। तेषां पुण्यमवाप्नोति ऊर्ध्वपुण्ड्रस्य धारणात् ॥११॥** जो ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण करने वाला विप्र, तप, हवन आदिक करता है वह शास्त्र के विधान से न्यून है तौभी विशेषरूप से पूर्णता को प्राप्त करता है ।।८।। ऊर्ध्वपुण्ड्र के धारण करने से हजार अग्निष्टोमयज्ञ और सौ वाजपेय यज्ञ के पुण्य को प्राप्त करता है ।।११।। आठ प्रकार के मैथुन को त्याग करता हुआ जो वेदाध्ययन करता है उसको "ब्रह्मचारी" कहते हैं । ब्रह्मचारी के विषय में जिसको अधिक जानना हो वह मेरी बनाई हुई "तैत्तिरीयोपनिषद्" की "गूढार्थदीपिका" व्याख्या का अवलोकन करे । ग्रन्थ के विस्तार के भय से अधिक मैं नहीं लिखता हूँ ।।२।।

याज्ञवल्क्येति होवाच । यदिदं सर्वं मृत्युनाऽऽप्तं सर्वं मृत्युनाऽभिसंपन्नम् । केन यजमानो मृत्योराप्तिमतिमुच्यत इति । होत्रर्त्विजाऽग्निना वाचा । वाग्वै यज्ञस्य होता तद्येयं वाक्सोऽयमग्निः स होता स मुक्तिः सा ऽतिमुक्तिः ।।३।।

अन्वयार्थ– (याज्ञवल्क्य) हे याज्ञवल्क्य (इति) ऐसा सम्बोधन करके (ह) प्रसिद्ध जनक महाराज के होता अश्वल ने (उवाच) वक्ष्यमाण वचन को कहा कि (यत्) जो (इदम्) यह प्रसिद्ध जगत् चेतनात्मक है वह (सर्वम्) सब (मृत्युना) मरणधर्म से (आप्तम्) व्याप्त है, केवल व्याप्त ही नहीं है किन्तु (मृत्युना) मृत्यु से (सर्वम्) सब (अभिसंपन्नम्) भलीभाँति स्वाधीन किया हुआ है (केन) किस साधन से (यजमानः) यजमान (मृत्योः) मृत्यु की (आप्तिम्) व्याप्ति

को (अति) अतिक्रमण करके (मुच्यते) मुक्त हो जाता है (इति) इस प्रश्न का उत्तर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (होत्रा) होता नामक (ऋत्विजा) ऋत्विक् से तथा (अग्निना) अग्नि से और (वाचा) वाक् से मृत्यु की व्याप्ति को यजमान अतिक्रमण कर सकता है (वै) निश्चय करके (वाक्) वाणी (यज्ञस्य) यज्ञ का (होता) होता है (तत्) उस होता में अध्यस्यमान (या) जो (इयम्) यह (वाक्) वाक् है (सः) वही (अयम्) यह (अग्निः) अग्नि है (सः) वह (होता) होता है (सः) वह (मुक्तिः) मुक्ति है (सा) वह मुक्ति ही कारण में कार्योपचार होने से (अतिमुक्तिः) अतिमुक्ति है ।।३।।

विशेषार्थ – हे याज्ञवल्क्य ! ऐसा सम्बोधन करके विदेहदेश के अधिपति सुप्रसिद्ध जनकमहाराज के होता अश्वल नामक ब्राह्मण ने आगे वक्ष्यमाण प्रश्न को कहा कि– हे याज्ञवल्क्य ! जो यह प्रसिद्ध जगत् चेतनात्मक है वह सब मरणधर्म से व्याप्त है, केवल व्याप्त ही नहीं है, किन्तु मृत्यु द्वारा सब वश में किया हुआ है । इस अवस्था में किस साधन से यजमान मृत्यु की व्याप्ति को पारकर मुक्त हो जाता है अर्थात् मृत्यु के वशीभूत नहीं होता है । इस प्रकार प्रश्न करके अश्वल होता चुप हो गया । तब इस प्रश्न का उत्तर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– हे अश्वल ! होता ऋत्विक् रूप अग्नि से और वाणी से यजमान मृत्यु की व्याप्ति को अतिक्रमण कर सकता है । अग्नि होता है । क्योंकि श्रुति कहती है– **अग्निर्वै होता** ।। (श्रुति) अग्नि ही होता है । पूर्वोक्त उत्तर को ही आगे विस्पष्ट करते हैं कि– हे अश्वल ! वाक् ही यज्ञ का होता है । उस होता मे अध्यस्यमान जो यह वाक् है वही यह अग्नि है । और वह अग्नि ही होता है । और वह होता रूप अग्नि मुक्ति है तथा वह मुक्ति ही कारण में कार्योपचार होने से अतिमुक्ति है । अर्थात् परब्रह्म की उपासना के द्वारा जीवदशा में ही विश्लिष्याश्लिष्ट पूर्वोत्तर दुरितहरत्वलक्षणा मुक्ति होती है और शरीर-वियोगानन्तर प्रकृत्यति-क्रान्तपदाधिरोहणलक्षणा अतिमुक्ति होती है ।।३।।

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदं सर्वमहोरात्राभ्यां व्याप्तं सर्वमहोरात्राभ्यामभिसंपन्नं केन यजमानोऽहो-रात्रयोराप्तिमतिमुच्यत इति । अध्वर्युणर्त्विजा चक्षुषाऽऽदित्येन । चक्षुर्वै यज्ञस्यध्वर्युस्तद्यदिदं चक्षुः सोऽसावादित्यः सोऽध्वर्युः स मुक्तिः साऽतिमुक्तिः ।।४।।

अन्वयार्थ– (याज्ञवल्क्य) हे याज्ञवल्क्य (इति) ऐसा सम्बोधन करके (ह) प्रसिद्ध जनक महाराज के होता अश्वल ने (उवाच) वक्ष्यमाण वचन को कहा कि (यत्) जो (इदम्) यह प्रसिद्ध वस्तु है वह (सर्वम्) सब (अहोरात्राभ्याम्) दिन और रात्रि से (व्याप्तम्) व्याप्त है। केवल व्याप्त ही नहीं है किन्तु (अहोरात्राभ्याम्) दिन और रात्रि से (सर्वम्) सब (अभिसंपन्नम्) भलीभाँति स्वाधीन किया हुआ है। (केन) किस साधन से (यजमानः) यजमान (अहोरात्रयोः) दिन और रात्रि की (आप्तिम्) प्राप्ति को यानी कतिपयकाल के द्वारा विनश्वरता को (अति) अतिक्रमण करके (मुच्यते) मुक्त हो जाता है (इति) इस प्रश्न का उत्तर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (अध्वर्युणा) अध्वर्यु नामक (ऋत्विजा) ऋत्विक् से तथा (चक्षुषा) नेत्र से और (आदित्येन) आदित्य से कतिपय दिन और रात्रि के द्वारा विनश्वरता को यजमान अतिक्रमण कर सकता है (वै) निश्चय करके (चक्षुः) नेत्र (यज्ञस्य) यज्ञ का (अध्वर्युः) अध्वर्यु है (तत्) सो (यत्) जो (इदम्) यह (चक्षुः) चक्षु है (सः) वह (असौ) यह (आदित्यः) आकाश में दृश्यमान सूर्य है (सः) वह (अध्वर्युः) है (सः) वह (मुक्तिः) मुक्ति है और (सा) वही (अतिमुक्तिः) अतिमुक्ति है ।।४।।

विशेषार्थ – प्रथम प्रश्न के समाधान से सन्तुष्ट होता अश्वल ने पुनः पूछना आरम्भ किया कि– हे याज्ञवल्क्य ! ऐसा सम्बोधन करके विदेहदेश के अधिपति सुप्रसिद्ध जनकमहाराज के होता अश्वल नामक ब्राह्मण ने आगे वक्ष्यमाण प्रश्न को कहा कि– हे याज्ञवल्क्य ! जो यह प्रसिद्ध दृश्यमान वस्तु है वह सब दिन और रात्रि से व्याप्त है। केवल व्याप्त ही नहीं है किन्तु दिन और रात्रि से सब वस्तु स्वाधीन की हुई है। इस अवस्था में किस साधन से यजमान दिन और रात्रि के द्वारा विनश्वरता को पारकर मुक्त हो जाता है। इस प्रकार प्रश्न करके अश्वल होता चुप हो गया। तब इस प्रश्न का उत्तर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– हे अश्वल ! अध्वर्यु रूप ऋत्विक् से और नेत्ररूप सूर्य से यजमान दिन और रात्रि की आप्ति को अतिक्रमण कर सकता है। नेत्र ही यज्ञ का अध्वर्यु है। सो जो यह नेत्र है वही यह आकाश में दृश्यमान आदित्य है। तथा वही मुक्ति है और वही अतिमुक्ति है। अर्थात् परब्रह्म नारायण की उपासना के द्वारा जीवदशा में ही विश्लिष्याश्लिष्ट पूर्वोत्तरदुरितहरत्वलक्षणा मुक्ति होती है। और शरीरवियोगानन्तर प्रकृत्यतिक्रान्तपदाधिरोहणलक्षणा अतिमुक्ति होती है ।।४।।

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदं सर्वं पूर्वपक्षापरपक्षाभ्यामाप्तं सर्वं पूर्वपक्षापरपक्षाभ्यामभिपन्नं

केन यजमानः पूर्वपक्षापरपक्षयोराप्तिमतिमुच्यत इति । उद्गात्रर्त्विजा वायुना प्राणेन । प्राणो वै यज्ञस्योद्गाता तद्योऽयं प्राणः स वायु स उद्गाता स मुक्तिः साऽतिमुक्तिः ॥५॥

अन्वयार्थ– (याज्ञवल्क्य) हे याज्ञवल्क्य (इति) ऐसा सम्बोधन करके (ह) प्रसिद्ध जनक महाराज के होता अश्वल ने (उवाच) वक्ष्यमाण वचन को कहा कि (यत्) जो (इदम्) यह प्रसिद्ध वस्तु है वह (सर्वम्) सब (पूर्वपक्षापरपक्षाभ्याम्) पूर्वपक्षयानी शुक्लपक्ष और अपरपक्ष यानी कृष्णपक्ष से (आप्तम्) व्याप्त है । केवल व्याप्त ही नहीं है किन्तु (पूर्वपक्षापरपक्षाभ्याम्) शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष से (सर्वम्) सब वस्तु (अभिपन्नम्) भलीभाँति स्वाधीन की हुई है । तब (केन) किस साधन से (यजमानः) यजमान (पूर्वमक्षापरपक्षयोः) शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष की (आप्तिम्) व्याप्ति को यानी कतिपय पक्ष की विनश्वरता को (अति) अतिक्रमण करके (मुच्यते) मुक्त हो जाता है (इति) इस प्रश्न का उत्तर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (उद्गात्रा) उद्गाता नामक (ऋत्विजा) ऋत्विक् से तथा (वायुना) वायु से और (प्राणेन) प्राण से कतिपय पक्ष की विनश्वरता को यजमान अतिक्रमण कर सकता है (वै) निश्चय करके (प्राणः) प्राण (यज्ञस्य) यज्ञ का (उद्गाता) उद्गाता है (तत्) सो (यः) जो (अयम्) यह (प्राणः) प्राण है (सः) वह (वायुः) वायु है (सः) वह (उद्गाता) उद्गाता है (सः) वह (मुक्तिः) मुक्ति है (सा) वही (अतिमुक्तिः) अतिमुक्ति है ॥५॥

विशेषार्थ – द्वितीय प्रश्न के समाधान से सन्तुष्ट होकर पुनः होता अश्वल ने पूछना आरम्भ किया– हे याज्ञवल्क्य ! ऐसा सम्बोधन करके विदेहदेश के अधिपति सुप्रसिद्ध जनक महाराज के होता अश्वल नामक ब्राह्मण ने आगे वक्ष्यमाण प्रश्न को कहा कि– हे याज्ञवल्क्य ! जो यह प्रसिद्ध दृश्यमान वस्तु है वह सब पूर्वपक्ष यानी शुक्लपक्ष और अपरपक्ष यानी कृष्णपक्ष से व्याप्त है । केवल व्याप्त ही नहीं है, किन्तु शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष से सब वस्तु स्वाधीन की हुई है । इस अवस्था में किस साधन से यजमान शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष की व्याप्ति को यानी कतिपय पक्ष की विनश्वरता को अतिक्रमण करके मुक्त हो जाता है । इस प्रकार प्रश्न करके अश्वल होता चुप हो गया । तब इस प्रश्न का उत्तर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– हे अश्वल ! उद्गाता नामक ऋत्विक् से और प्राण से यजमान कतिपय पक्ष की विनश्वरता को अतिक्रमण कर सकता है । प्राण ही यज्ञ का उद्गाता है । सो जो यह प्राण है, वही

वायु है वही उद्गाता है, तथा वही मुक्ति है और वही अतिमुक्ति है । अर्थात् परब्रह्म नारायण की उपासना के द्वारा जीवदशा में ही विश्लिष्यश्लिष्ट पूर्वोत्तरदुरितहरत्वलक्षणा मुक्ति होती है । और शरीरवियोगानन्तर प्रकृत्यतिक्रान्तपदाधिरोहणलक्षणा अतिमुक्ति होती है ॥५॥

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदमन्तरिक्षमनारम्बणमिव केनाऽऽक्रमेण यजमानः स्वर्गं लोकमाक्रमत इति । ब्रह्मणार्त्विजा मनसा चन्द्रेण । मनो वै यज्ञस्य ब्रह्मा तद्यदिदं मनः सोऽसौ चन्द्रः स ब्रह्मा स मुक्तिः साऽतिमुक्तिः इत्यतिमोक्षाः । अथ सम्पदः ॥६॥

अन्वयार्थ– (याज्ञवल्क्य) हे याज्ञवल्क्य (इति) ऐसा सम्बोधन करके (ह) प्रसिद्ध जनक महाराज के होता अश्वल ने (उवाच) वक्ष्यमाण वचन को कहा कि (यत्) जो (इदम्) यह प्रसिद्ध (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष है वह (अनारंम्बणम्) निरालम्ब (इव) सा देखा जाता है तब (केन) किस (आक्रमेण) सिड्ढी की सहायता से (यजमानः) यजमान (स्वर्गं+लोकम्) भगवल्लोक में (आक्रमते) चढ़ता है (इति) इस प्रश्न का उत्तर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (ब्रह्मणा) ब्रह्मा नामक (ऋत्विजा) ऋत्विक् से तथा (मनसा) मन से और (चन्द्रेण) चन्द्रमा से यजमान भगवल्लोक में चढ़ता है (वै) निश्चय करके (मनः) मन (यज्ञस्य) यज्ञ का (ब्रह्मा) ब्रह्मा है (तत्) सो (यत्) जो (इदम्) यह (मनः) मन है (सः) वह (असौ) यह (चन्द्रः) चन्द्रमा है (सः) वह (मुक्तिः) मुक्ति है (सा) वही (अतिमुक्तिः) अतिमुक्ति है (इति) इसी प्रकार (अतिमोक्षाः) अतिमोक्ष के प्रश्न समाप्त हो गये (अथ) अब आगे (संपदः) सम्पत्तियाँ कही जाती हैं । जिससे अग्निहोत्रादि फलयुक्त कर्मों का उस फल के लिये सम्पादन किया जाय वह सम्पत् है ॥६॥

विशेषार्थ – तृतीय प्रश्न के समाधान से सन्तुष्ट होकर पुनः होता अश्वल ने पूछना आरम्भ किया– हे याज्ञवल्क्य ! ऐसा सम्बोधन करके विदेहदेश के अधिपति सुप्रसिद्ध जनक महाराज के होता अश्वल नामक ब्राह्मण ने आगे वक्ष्यमाण प्रश्न को कहा कि– हे याज्ञवल्क्य ! जो यह प्रसिद्ध अन्तरिक्ष यानी आकाश है । अन्तरिक्ष शब्द आकाश का वाचक है । क्योंकि लिखा है– **नभोऽन्तरिक्षं गगनमनन्तं सुरवर्त्म खम् ॥** (अमर० कां० १ व २ श्लो० १) नभस् १, अन्तरिक्ष २, गगन ३,

अनन्त ४, सुरवर्त्मन् ५, ख ६ ये आकाश के नाम हैं ।।१।। यह आकाश निरालम्ब सा देखा जाता है। तब यजमान किस अवलम्बन से अर्थात् किस सिड्ढी की सहायता से स्वर्गलोक में यानी भगवल्लोक में चढ़ता है। इस प्रकार प्रश्न करके अश्वल नामक होता चुप हो गया। तब इस प्रश्न का उत्तर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– हे अश्वल! ब्रह्मा नामक ऋत्विक् से तथा मन रूप चन्द्रमा से यजमान भगवल्लोक में चढ़ता है। मन ही यज्ञ का ब्रह्मा है। इस कारण जो यह मन है वही यह चन्द्रमा है। वही ब्रह्मा है तथा वही मुक्ति है और वही अतिमुक्ति है। अर्थात् परब्रह्म नारायण की उपासना के द्वारा जीवदशा में ही विश्लिष्याश्लिष्ट पूर्वोत्तर दुरितहरत्वलक्षणा मुक्ति होती है और शरीर वियोगानन्तर प्रकृत्यतिक्रान्तपदाधिरोहणलक्षणा अतिमुक्ति होती है। इस श्रुति में "स्वर्गलोक" शब्द परब्रह्म नारायण के लोक का वाचक है क्योंकि लिखा है। **स्वर्गेलोके ज्येये प्रतितिष्ठिति ॥** (केनोप॰ खं॰ ४ श्रु॰ ९) सब से श्रेष्ठ प्रकाशरूप भगवल्लोक में उपासक प्रतिष्ठित हो जाता है ।।९।। **स्वर्गे लोके न भयं किञ्चनास्ति न तत्र त्वं न जरया बिभेति। उभे तीर्त्वाशनायापिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥** (कठो॰ अ॰ १ व॰ १ श्रु॰ १२) **स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्ते ॥१३॥** मोक्षस्थान भगवल्लोक में कुछ भी भय नहीं है वहाँ मृत्यु आप नहीं हैं और वहां पर कोई भी बुढ़ापे से नहीं डरता है। भगवल्लोक में रहने वाले पुरुष भूख और प्यास इन दोनों को पार करके शोक रहित होकर आनन्द भोगते हैं ।।१२।। परंपद प्राप्त करने वाले ब्रह्मप्राप्तिपूर्वक स्वरूपाविर्भावरूप अमृत को सेवन करते हैं या प्राप्त होते हैं ।।१३।। इन श्रुतियों में भगवल्लोक वाचक ही "स्वर्गलोक" शब्द प्रयुक्त हुआ है इस प्रकार अति मोक्ष प्रश्न समाप्त हो गये। इस श्रुति में "इति" पद उपसंहार के लिये कहा गया है। अब आगे सम्पदों का वर्णन किया जाता है। जिससे अग्निहोत्रादि फलयुक्त कर्मों का उस फल के लिये सम्पादन किया जाय वह सम्पत् है। ऐसा प्रतिपादन किया गया है ।।६।।

याज्ञवल्क्येति होवाच कतिभिरयमद्यर्ग्भिर्होताऽस्मिन्यज्ञे करष्यितीति । तिसृभिरिति । कतमास्तास्तिस्त्र इति । पुरोनुवाक्या च याज्या य शस्यैव तृतीया । किं ताभिर्जयतीति । यत्किञ्चेदं प्राणभृदिति ॥७॥

अन्वयार्थ– (याज्ञवल्क्य) हे याज्ञवल्क्य (इति) ऐसा सम्बोधन करके (ह) प्रसिद्ध जनक महाराज के होता अश्वल ने (उवाच) वक्ष्यमाण वचन को कहा कि

(अद्य) आज (अयम्) यह (होता) होता (अस्मिन्) इस प्रस्तुत (यज्ञे) यज्ञ में (कतिभिः) कितनी (ऋग्भिः) ऋचाओं से (करिष्यति) हौत्र कार्य को करेगा (इति) इस वचन को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (तिसृभिः) तीन ऋचाओं से यह होता आज हौत्र कार्य को सम्पादन करेगा (इति) इस उत्तर को सुनकर पुनः अश्वल ने प्रश्न किया कि (ताः) वे (तिस्रः) तीन प्रकार की ऋचाएँ (कतमाः) कौन कौन सी हैं (इति) इस प्रश्न को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (पुरोनुवाक्या) पहली पुरोनुवाक्या है (च) और दूसरी (याज्या) याज्या है (च) और (तृतीया) तीसरी (एव) निश्चय करके (शस्या) शस्या है इस उत्तर को सुनकर पुनः अश्वल ने प्रश्न किया कि (ताभिः) इन तीन प्रकार की ऋचाओं से यजमान (किम्) किस को (जयति) जीतता है (इति) इस प्रश्न को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (इदम्) यह (यत्) जो (किं+च) कुछ भी (प्राणभृत्) प्राणधारी समूह है उन सबको यजमान जीतता है (इति) यह मेरा उत्तर है ॥७॥

विशेषार्थ – हे याज्ञवल्क्य ! ऐसा सम्बोधन करके विदेहदेश के अधिपति सुप्रसिद्ध जनक महाराज के होता अश्वल नामक ब्राह्मण ने आगे वक्ष्यमाण प्रश्न को कहा कि– हे याज्ञवल्क्य ! आज कितनी ऋचाओं के द्वारा यह होता इस प्रस्तुत यज्ञ में हौत्र कार्य को करेगा इस प्रश्न को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– तीन ऋचाओं से यह होता आज इस यज्ञ में हौत्र कार्य को सम्पादन करेगा । इस उत्तर को सुनकर पुनः अश्वल ने प्रश्न किया कि हे याज्ञवल्क्य ! वे तीन प्रकार की ऋचाएँ कौन कौन सी हैं इसको कहो । इस प्रश्न को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने पुनः कहा कि– पहली पुरोनुवाक्या है । जो ऋचाएँ यागकाल से पहले प्रयुक्त होती हैं वह ऋग्जाति "पुरोनुवाक्या" कही जाती है । और दूसरी याज्या है । जो ऋचाएँ याग के लिय प्रयुक्त होती हैं वह ऋग्जाति "याज्या" कही जाती है । और तीसरी शस्या ही है । जो ऋचाएं शस्त्रकर्म के लिये अथवा प्रशंसार्थ प्रयुक्त होती हैं वह ऋग्जाति "शस्या" कही जाती है । ये तीन प्रकार की ऋचाएँ होती हैं । इनको ही पढ़ के होता आज यज्ञ करेगा । इस उत्तर को सुनकर पुनः अश्वल ने प्रश्न किया कि– हे याज्ञवल्क्य ! इन तीन प्रकार की ऋचाओं से यजमान किस को जीतता है । इस प्रश्न को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने पुनः कहा कि– हे अश्वल ! इस जगत् में जितने प्राणधारी समुदाय हैं उन सब को यह यजमान जीत लेता है । यही मेरा उत्तर है ॥७॥

याज्ञवल्क्येति होवाच कत्ययमद्याध्वर्युरस्मिन्यज्ञ आहुतीर्होष्यतीति । तिस्र इति । कतमास्तास्तिस्र

इति । या हुता उज्ज्वलन्ति या हुता अतिनेदन्ते या हुता अधिशेरते । किं ताभिर्जयतीति । या हुता उज्ज्वलन्ति देवलोकमेव ताभिर्जयति । दीव्यत इव हि देवलोकः । या हुता अतिनेदन्ते पितृलोकमेव ताभिर्जयत्यतीव हि पितृलोकः । या हुता अधिशेरते मनुष्यलोकमेव ताभिर्जयत्यध इव हि मनुष्यलोकः ॥८॥

अन्वयार्थ– (याज्ञवल्क्य) हे याज्ञवल्क्य (इति) ऐसा सम्बोधन करके (ह) प्रसिद्ध जनक महाराज के होता अश्वल ने (उवाच) वक्ष्यमाण वचन को कहा कि (अद्य) आज (अयम्) यह (होता) होता (अस्मिन्) इस प्रस्तुत (यज्ञे) यज्ञ में (कति) कितनी (आहुती:) आहुतियाँ (होष्यति) हवन करेगा (इति) इस वचन को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (तिस्र:) तीन आहुतियाँ (कतमा:) कौन कौन सी हैं (इति) इस प्रश्न को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा ने कहा कि (या:) जो आहुतियाँ (हुता:) हवन की जाने पर (उज्ज्वलन्तिं) ऊपर को प्रज्वलित होती हैं वे समिध और घृत की आहुतियाँ तथा (या:) जो आहुतियाँ (हुता:) हवन की जाने पर (अतिनेदन्ते) अत्यन्त शब्द करती हैं वे माष आदि की आहुतियाँ और (या:) जो आहुतियाँ (हुता:) हवन की जाने पर (अधिशेरते) नीचे पृथ्वी में जाकर अधिशयन करती हैं वे दुग्ध और सोम की आहुतियाँ ये ही तीन आहुतियाँ हैं इस उत्तर को सुनकर पुनः अश्वल ने प्रश्न किया कि (ताभि:) उन तीन आहुतियों से (किम्) किस लोक को (जयति) यजमान जीतता है (इति) प्रश्न को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (या:) जो आहुतियाँ (हुता:) हवन की जाने पर (उज्ज्वलन्ति) ऊपर को प्रज्वलित होती हैं (ताभि:) उन समिध और घृत की आहुतियों से (एव) निश्चय करके (देवलोक को (जयति) यजमान जीत लेता है (हि) क्योंकि (देवलोक:) देवलोक (दीव्यते) प्रकाशमान (इव) सा है तथा (या:) जो आहुतियाँ (हुता:) हवन की जाने पर (अतिनेदन्ते) अत्यन्त कुत्सित शब्द करती हैं (ताभि:) उन माष आदि की आहुतियों से (एव) निश्चय करके (पितृलोकम्) पितृलोकम को (जयति) यजमान जीत लेता है (हि) क्योंकि (पितृलोक:) पितृलोक (अति) संयमनीपुरी से संबद्ध होने से यमराज के द्वारा यातना भोगते हुए जीवों का हाय मरे, छोड़ छोड़ ऐसा अत्यन्त कोलाहल शब्द (इव) सा

होता रहता है और (याः) जो आहुतियाँ (हुताः) हवन की जाने पर (अधिशेरते) नीचे पृथ्वी पर जाकर अधिशयन करती हैं (ताभिः) उन दुग्ध सोम आदि की आहुतियों से (एव) निश्चय करके (मनुष्यलोकम्) मनुष्य लोक को यजमान जीत लेता है (हि) क्योंकि (मनुष्यलोकः) मनुष्यलोक (अधः) नीचे स्थित के (इव) समान है ॥८॥

विशेषार्थ – हे याज्ञवल्क्य ! ऐसा सम्बोधन करके विदेहदेश के अधिपति सुप्रसिद्ध जनक महाराज के होता अश्वल नामक ब्राह्मण ने आगे वक्ष्यमाण प्रश्न को कहा कि– हे याज्ञवल्क्य ! आज यहाँ अध्वर्यु इस प्रस्तुत यज्ञ में कितनी आहुतियाँ होम करेगा । इस प्रश्न को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– तीन आहुतियाँ इस यज्ञ में आज यह अध्वर्यु देवेगा । इस उत्तर को सुनकर पुनः अश्वल ने प्रश्न किया कि हे याज्ञवल्क्य ! वे तीन आहुतियाँ कौन कौन सी हैं । इस प्रश्न को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने पुनः कहा कि– जो आहुतियाँ कुण्ड में हवन की जाने पर ऊपर को प्रज्वलित होती हैं वे समिध और घृत की आहुतियाँ पहली आहुति है । तथा जो आहुतियाँ कुण्ड में हवन की जाने पर अत्यन्त कुत्सित शीत्कार शब्द करती हैं वे माष आदि की आहुतियाँ, यह दूसरी आहुति है । और जो आहुतियाँ कुण्ड में हवन की ओर नीचे पृथ्वी पर जाकर अधिशयन करती हैं वे दूध सोम आदि की आहुतियाँ, यह तीसरी आहुति है । ये ही तीन आहुतियाँ हैं । इस उत्तर को सुनकर पुनः अश्वल ने प्रश्न किया कि– हे याज्ञवल्क्य ! इन तीन आहुतियों से किस लोक को यजमान जीतता है । इस प्रश्न को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने पुनः कहा कि– हे अश्वल ! जो जो आहुतियाँ हवन की जाने पर ऊपर को प्रज्वलित होती हैं उन समिध तथा घृत की आहुतियों से देवलोक को ही यजमान जीत लेता है । क्योंकि देवलोक दीप्तिमान् के समान है । अतः उज्ज्वल समिदाज्य आहुतियों से उज्ज्वल देवलोक को जीतना कहा गया है । तथा जो आहुतियाँ हवन की जाने पर अत्यन्त कुत्सित शीत्कार शब्द करती हैं उन माष आदि की आहुतियों से पितृलोक को ही यजमान जीत लेता है । क्योंकि पितृलोक से सम्बद्धसंयमनी पुरी में यमराज के द्वारा यातना भोगते हुए जीवों का "हाय मरे छोड़ छोड़" ऐसा कोलाहल शब्द सर्वदा होता रहता है । पितृलोक के विषय में लिखा है कि– **तृतीया ह प्रद्यौरिति यस्यां पितर आसते ॥** (अथर्ववे० कां० १८ सू० २ मं० ४८) सबसे ऊपर अन्तरिक्ष का तीसरा भाग सूर्यादि के प्रखर प्रकाश वाला होने से प्रद्यौ कहलाता है यहाँ पितरों का लोक है जिसमें पितर रहते हैं ॥४८॥ **तिर इव हि पितरो मनुष्येभ्यः ॥** (शतप० २/३/४/२/१) पितर निश्चय करके मनुष्यों से अलग हैं ॥१॥ और यमराज के विषय में लिखा है– **वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा दुवस्य ॥** (ऋग्वे० मण्डल० १० सू० १४ मं० १) सब जनों के संगमन

स्थान सूर्य के पुत्र यमराज को हविष्य से परिचर्या करो ॥१॥ **यमाय सोमः पवते यमाय क्रियते हविः । यमं ह यज्ञा गच्छत्यग्निदूतो अरंकृतः ॥** (अथर्व० कां० १८ सू० २ मं० १) यमराज के निमित्त सोम पवित्र किया जाता है, यमराज के अर्थ हवि किया जाता है और मंत्र द्वारा अग्निदूत ही यज्ञ से यमराज के प्रति हवि ले जाता है ॥१॥ और जो आहुतियाँ होम की जाने पर नीचे पृथ्वी पर जाकर अधिशयन करती हैं उन दूध तथा सोम की आहुतियों से मनुष्यलोक को ही यजमान जीत लेता है। क्योंकि यह मनुष्यलोक ऊपर के लोकों की अपेक्षा नीचे ही स्थित के समान है ॥८॥

याज्ञवल्क्येति होवाच कतिभिरयमद्य ब्रह्मा यज्ञं दक्षिणतो देवताभिर्गोपायतीति । एकयेति । कतमा सैकेति । मन एवेति । अनन्तं वै मनः । अनन्ता विश्वे देवाः । अनन्तमेव स तेन लोकं जयति ॥९॥

अन्वयार्थ– (याज्ञवल्क्य) हे याज्ञवल्क्य (इति) ऐसा सम्बोधन करके (ह) प्रसिद्ध जनक महाराज के होता अश्वल ने (उवाच) वक्ष्यमाण वचन को कहा कि (अद्य) आज (अयम्) यह (ब्रह्मा) ब्रह्मा नामक ऋत्विक् (दक्षिणतः) यज्ञ में दक्षिण की ओर निश्चित आसन पर बैठकर (कतिभिः) कितने (देवताभिः) देवताओं से (यज्ञम्) यज्ञ को (गोपायति) रक्षा करता है (इति) इस वचन को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (एकया) एक देवता से दक्षिण दिशा में बैठकर ब्रह्म यज्ञ की रक्षा करता है (इति) इस प्रश्न को सुनकर पुनः अश्वल ने प्रश्न किया कि (सा) वह (एका) एक (कतमा) कौन सा देवता है (इति) इस प्रश्न को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (मनः) वह देवता मन (एव) ही है (इति) इस उत्तर को सुनकर पुनः अश्वल ने प्रश्न किया कि उस मन से किस को यजमान जीतता है इस प्रश्न को सुनकर पुनः याज्ञवल्क्य ने कहा कि (वै) निश्चय करके (अनन्तम्) अनन्त (मनः) मनको यजमान जीत लेता है क्योंकि (विश्वे) सम्पूर्ण (देवाः) क्रीडा करे वाली इन्द्रियाँ (अनन्ताः) अनन्त हैं (सः) वह यजमान (तेन) इस प्रकार आनन्त्य विशिष्टता द्वारा उपासित उस ब्रह्मरूप मन से (अनन्तम्) अनन्त यानी भगवान् के (लोकम्) लोक को (एव) ही (जयति) जीत लेता है, अर्थात् प्राप्त कर लेता है ॥९॥

विशेषार्थ – हे याज्ञवल्क्य ! ऐसा सम्बोधन करके विदेहदेश के अधिपति सुप्रसिद्ध जनक महाराज के होता अश्वल नामक ब्राह्मण ने आगे वक्ष्यमाण प्रश्न को कहा कि– हे याज्ञवल्क्य ! आज यह ब्रह्मा नामक ऋत्विक् दक्षिण दिशा

में आसन पर बैठकर कितने देवताओं से इस यज्ञ की रक्षा करता है। इस प्रश्न को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– एक देवता से दक्षिण की ओर आसन पर बैठकर ब्रह्मा नामका ऋत्विक् यज्ञ की रक्षा करता है। इस उत्तर को सुनकर पुनः अश्वल ने प्रश्न किया कि– वह कौन सा देवता है। इस प्रश्न को सुनकर पुनः आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– वह एक देवता मन ही है। इस उत्तर को सुनकर पुनः अश्वल ने प्रश्न किया कि– उस मन से किस को यजमान जीतता है। इस प्रश्न को सुनकर पुनः आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि निश्चय कर के जो संसार में अनन्त मन है उसी को यजमान जीत लेता है। क्योंकि सम्पूर्ण देव यानी इन्द्रिय अनन्त हैं इस कारण से मन अनन्त है। इस प्रकार आनन्त्य विशिष्टता द्वारा उपासित मन से वह यजमान अनन्त यानी परब्रह्म नारायण के लोक को निश्चय करके जीतता है। इस श्रुति में अन्तिम "अनन्त" शब्द परब्रह्म नारायण का वाचक है। क्योंकि लिखा है– **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म** ॥ (तैत्ति० उ० व० २ अनु० १ श्रु० १) सत्य यानी निरुपाधिकसत्तायोगि तथा ज्ञान यानी नित्य असंकुचित ज्ञानैकाकार और अनन्त यानी देश काल और वस्तु के परिच्छेद से रहित परब्रह्म नारायण है ॥१॥ **अथ कस्मादुच्यतेऽनन्तो यस्मादुच्चार्यमाण एव तिर्यगूर्ध्वमधस्ताच्चास्यान्तो नोपलभ्यते तस्मादुच्यतेऽनन्तः** ॥ (अथर्वशिर उप० श्रु० ४) अनन्त कैसे कहा जाता है– जिससे उच्चारण करने पर इसके ऊपर अगल बगल आदिक कहीं पर भी अन्त नहीं प्राप्त होता है इससे अनन्त कहा जाता है ॥४॥ **शाश्वतत्त्वादनन्तश्च** ॥ (महाभार० उद्योगप० अ० ७ श्लो० १४) शाश्वत गुण तथा स्वरूपादि करके अन्तर रहित होने से अनन्त कहा जाता है ॥१४॥ **वीरोऽनन्तो धनञ्जयः** ॥ (महाभार० अनुशा० विष्णुसहस्र० श्लो० ८३) वीर १, अनन्त २, धनञ्जय ३ ये परब्रह्म नारायण के नाम हैं ॥८३॥ **नान्तं गुणानां गच्छन्ति तेनानन्तोऽयमुच्यते** ॥ (स्मृति) गुणों का अन्त कोई नहीं पा सकते हैं इससे परब्रह्म नारायण अनन्त कहा जाता है ॥९॥

याज्ञवल्क्येति होवाच कत्ययमद्योद्गाताऽस्मिन्यज्ञे स्तोत्रियाः स्तोष्यतीति । तिस्र इति । कतमास्तास्तिस्र इति । पुरोनुवाक्या च याज्या च शस्यैव तृतीया । कतमास्ता या अध्यात्ममिति । प्राण एव पुरोनुवाक्याऽपानो याज्या व्यानः शस्या । किं ताभिर्जयतीति । पृथिवीलोकमेव पुरोनुवाक्यया

जयत्यन्तरिक्षलोकं याज्यया द्यु लोकं शस्यया । ततो ह होताऽश्वल उपरराम ॥१०॥

॥ इति तृतीयाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

अन्वयार्थ– (याज्ञवल्क्य) हे याज्ञवल्क्य (इति) ऐसा सम्बोधन करके (ह) प्रसिद्ध जनक महाराज के होता अश्वल ने (उवाच) वक्ष्यमाण वचन को कहा कि (अद्य) आज (अस्मिन्) इस (यज्ञे) यज्ञ में (अयम्) यह (उद्गाता) उद्गाता नामक ऋत्विक् (कति) कितनी (स्तोत्रियाः) स्तोत्रसाधनभूता ऋचाओं की (स्तोष्यति) स्तुति करेगा (इति) इस प्रश्न को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (तिस्त्रः) तीन स्तोत्रसाधनभूता ऋचाओं की स्तुति उद्गाता करेगा (इति) इस उत्तर को सुनकर पुनः अश्वल ने प्रश्न किया कि (ताः) वे (तिस्त्रः) तीनो ऋचाएँ (कतमाः) कौन सी हैं (इति) इस उत्तर को सुनकर पुनः अश्वल ने प्रश्न किया कि (सा) वह (तिस्त्रः) तीनों ऋचाएँ (कतमाः) कौन सी हैं (इति) इस प्रश्न को सुनकर पुनः याज्ञवल्क्य ने कहा कि (पुरोनुवाक्या) पहली पुरोनुवाक्या नाम की ऋचा है (च) और दूसरी (याज्या) याज्या नाम की ऋचा है (च) और तृतीया तीसरी (एव) निश्चय करके (शस्या) शस्या नाम की ऋचा है इस उत्तर को सुनकर पुनः अश्वल ने प्रश्न किया कि इन ऋचाओं में (याः) जो (अध्यात्मम्) देहान्तर्वर्ती हैं (ताः) वे तीनो ऋचाएँ (कतमाः) कौन सी हैं (इति) इस प्रश्न को सुनकर पुनः याज्ञवल्क्य ने कहा कि (प्राणः)प्राण (एव) ही (पुरोनुवाक्या)पुरोनुवाक्या है इससे पुरोनुवाक्या में प्राण दृष्टि करनी चाहिये तथा (अपानः) अपान ही (याज्या) याज्या है इससे याज्या में अपान दृष्टि करनी चाहिये और (व्यानः) व्यान ही (शस्या) शस्या ऋचा है इससे शस्या में व्यान दृष्टि करनी चाहिए इस उत्तर को सुनकर पुनः अश्वल ने प्रश्न किया कि (ताभिः) उन प्राणादिदृष्टिविशिष्ट पुरोनुवाक्यादि से (किम्) किस लोक को (जयति) यजमान जीतता है (इति) इस प्रश्न को सुनकर पुनः याज्ञवल्क्य ने कहा कि (एव) निश्चय करके (पुरोनुवाक्यया) पुरोनुवाक्या से (पृथिवीलोकम्) पृथ्वीलोक को (जयति) यजमान जीतता है तथा (याज्यया) याज्या से (अन्तरिक्षलोकम्) अन्तरिक्षलोक को यजमान जीतता है और (शस्यया) शस्या से (द्युलोकम्) द्युलोक को यजमान जीतता है (ततः) इस प्रकार प्रश्नों के उत्तर होने पर तब अन्य प्रष्टव्य के अभाव होने से (ह) प्रसिद्ध जनकमहाराज का (होता) होता (अश्वलः) अश्वल नाम वाला (उपरराम) चुप हो गया ॥१०॥

विशेषार्थ – हे याज्ञवल्क्य ! ऐसा सम्बोधन करके विदेहदेश के अधिपति सुप्रसिद्ध जनक महाराज के होता अश्वल नामक ब्राह्मण ने आगे वक्ष्यमाण प्रश्न को कहा कि– हे याज्ञवल्क्य ! आज इस यज्ञ में यह उद्गाता नामक ऋत्विक् कितनी स्तोत्रिया ऋचाओं का स्तवन करेगा । स्तोत्रसाधनभूता कुछ ऋचाओं को "स्तोत्रिया" कहते हैं । इस प्रश्न को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– आज इस यज्ञ में यह उद्गाता तीन स्तोत्रसाधनभूता ऋचाओं की स्तुति करेगा । इस उत्तर को सुनकर पुनः अश्वल ने प्रश्न किया कि– वे तीनों ऋचाएँ कौन सी हैं । इस प्रश्न को सुनकर पुनः आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– पहली पुरोनुवाक्या नाम की ऋचा है । जो ऋचाएँ यागकाल से पहले प्रयुक्त होती हैं वह ऋग्जाति "पुरोनुवाक्या" कही जाती है । तथा दूसरी याज्या नाक की ऋचा है । जो ऋचाएँ याग के लिए प्रयुक्त होती हैं वह ऋग्जाति "याज्या" कही जाती है । और तीसरी शस्या नाम की ऋचा है । जो ऋचाएँ शस्यार्थ शस्त्रकर्म के लिए प्रयुक्त होती हैं वह ऋग्जाति "शस्या" कही जाती है । इस उत्तर को सुनकर पुनः अश्वल ने प्रश्न किया कि– इन पुरोनुवाक्यादि ऋचाओं में जो देहान्तर्वर्त्ती हैं के तीनों ऋचाएँ कौन सी हैं । अर्थात् पुरोनुवाक्यादि ऋचाओं में कौन अध्यात्मदृष्टि करनी चाहिए । इस प्रश्न को सुनकर पुनः आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि–प्राण ही पुरोनुवाक्यादि ऋचा है इससे पुरोनुवाक्या ऋचा में प्राण दृष्टि करनी चाहिये । प्राण के विषय में लिखा है– **हृदि प्राणः स्थितो नित्यम् ॥** (योगचूडामण्युप॰ श्रु॰ २३) हृदय में सर्वदा प्राणवायु स्थित रहती है ॥२३॥ तथा अपान ही याज्या ऋचा है इससे याज्या में अपान दृष्टि करनी चाहिये । अपान के विषय में लिखा है– **अपानो गुदमण्डले ॥** (योगचू॰ उ॰ श्रु॰ २३) गुदमण्डल में अपान वायु रहती है ॥२३॥ और व्यान ही शस्या ऋचा है इससे शस्या ऋचा में व्यान दृष्टि करनी चाहिये । व्यान के विषय में लिखा है– **व्यानः सर्वशरीरे तु** (योगचू॰ उ॰ श्रु॰ २४) सब शरीर में तो व्यान वायु रहती है ॥२४॥ इस उत्तर को सनुकर पुनः अश्वल ने प्रश्न किया कि– हे याज्ञवल्क्य इन प्राणदिदृष्टिविशिष्ठ पुरोनुवाक्यादि ऋचाओं से किस लोक को यजमान जीतता है । इस प्रश्न को सुनकर पुनः आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– हे अश्वल प्राणदृष्टि पुरोनुवाक्या ऋचा से यजमान पृथ्वीलोक को जीतता है । तथा अपान दृष्टि विशिष्ट याज्या ऋचा से यजमान अन्तरिक्षलोक को जीतता है । और व्यान दृष्टि विशिष्ट शस्या ऋचा से यजमान द्युलोक को जीतता है । इस प्रकार प्रश्नों के उत्तर देने पर तब अन्य प्रष्टव्य के अभाव होने से सुप्रसिद्ध जनक महाराज के होता अश्वल यह समझ कर कि "यह याज्ञवल्क्य हमारे काबू का नहीं है" चुप रह गया । यहाँ पर "बृहदारण्यकोपनिषद्" के तृतीय अध्याय का प्रथम अश्वल ब्राह्मण

समाप्त हो गया ॥१०॥

॥ अथ द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

अथ हैनं जारत्कारव आर्तभागः पप्रच्छ । याज्ञवल्क्येति होवाच कति ग्रहाः कत्यतिग्रहा इति । अष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहा इति । ये तेऽष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहाः कतमेव त इति ॥१॥

अन्वयार्थ– (अथ) अश्वल के चुप हो जाने के अनन्तर (ह) प्रसिद्ध (एनम्) इस याज्ञवल्क्य से (जारत्कारवः) जरत्कारुगोत्र वाले (आर्तभागः) ऋतभाग ऋषि के पुत्र ने (पप्रच्छ) पूछा कि (याज्ञवल्क्य) हे याज्ञवल्क्य (इति) ऐसा सम्बोधन करके (ह) स्पष्ट (उवाच) वह बोला कि (कति) कितने (ग्रहाः) ग्रह हैं और (कति) कितने (अतिग्रहाः) अतिग्रह हैं (इति) इस प्रश्न को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (अष्टौ) आठ (ग्रहाः) ग्रह हैं और (अष्टौ) आठ (अतिग्रहाः) अतिग्रह हैं (इति) इस उत्तर को सुनकर पुनः आर्तभाग ने पूछा कि– (ये) जो (ते) वे (अष्टौ) आठ (ग्रहाः) ग्रह हैं और (अष्टौ) आठ (अतिग्रहाः) अतिग्रह हैं (ते) वे कतमे कौन कौन से हैं (इति) यह मेरा प्रश्न है ॥१॥

विशेषार्थ– अश्वल नामक होता के चुप हो जाने के बाद उस सुप्रसिद्ध आचार्य याज्ञवल्क्य से जरत्कारुगोत्रोत्पन्न ऋतभाग नामक ऋषि के पुत्र ने प्रश्न किया कि– हे याज्ञवल्क्य ! कितने ग्रह हैं? और कितने अतिग्रह हैं? इस प्रश्न को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– आठ ग्रह हैं और आठ अतिग्रह हैं। इस उत्तर को सुन कर पुनः आर्तभाग ने प्रश्न किया कि– हे याज्ञवल्क्य ! जो वे आठ ग्रह हैं और आठ अतिग्रह हैं वे कौन कौन से हैं ? इस श्रुति में "इति" शब्द प्रस्तुत वाक्य की समाप्ति सूचित करने के लिये है। जरत्कारु से जारत्कारव बनता है "जरत्+कारु" ये दो शब्द हैं। वृद्ध, स्थविर, बूढ़े को जरत् कहते हैं और "करोतीति कारुः" इस व्युत्पति से विहित शुभ कर्म को यथा विधि जो करने वाला है वह कारु है। और वृद्ध जो कारु सो जरत्कारु है। और "गृह्णातीति ग्रहः" जो ग्रहण करे वही ग्रह हैं इस आत्मा को भी पकड़ हुए इन्द्रिय ही हैं इस कारण से ये इन्द्रियाँ ग्रह हैं। और गन्ध आदिक आठो विषय अतिप्रबल हैं। अपने अपने विषय में दबा लेते हैं इस हेतु ग्रह से भी अतिबलवान होने के कारण ये विषय अतिग्रह कहलाते हैं। यहाँ अति शब्द अधिक

वाचक है। जैसे बलवान, अतिबलवान। दुर्बल, अतिदुर्बल। अथवा इन्द्रिय रूप जो ग्रह है उनके ऊपर भी अपना अधिकार जमाकर आक्रमण करने वाले हैं इस हेतु से भी विषय अतिग्रह कहलाते हैं। जैसे– अतिदेश, अतिव्याप्ति आदि शब्द में अति का अर्थ होता है। प्रयाग में याग–संस्कार–कर्ता भगवद्रामानुजाचार्य ने सप्तगतेर्विशेषितत्वाच्च (शा० मी० अ० २ पा० ४ सू० ४) के श्रीभाष्य में "बृहदारण्यकोपनिषद्" के तृतीय अध्याय के द्वितीय ब्राह्मण की प्रथम कण्डिका के "अष्टौ ग्रहाः" इस खण्ड को उद्धृत किया है ॥१॥

प्राणो वै ग्रहः सोऽपानेनातिग्रहेण गृहीतोऽपानेन हि गन्धाञ्जिघ्रति ॥२॥

अन्वयार्थ–(वै) निश्चय करके (प्राणः) घ्राण ही (ग्रहः) ग्रह है (सः) वह घ्राणरूप ग्रह (अपानेन) गन्धरूप (अतिग्रहेण) अतिग्रह से (गृहीतः) पकड़ा हुआ है (हि) क्योंकि (अपानेन) अपान द्वारा लाई हुई (गन्धान्) विविध गन्धों को घ्राणेन्द्रिय से (जिघ्रति) प्राणी सूँघता है ॥२॥

विशेषार्थ– प्रथम कण्डिका के प्रश्न का उत्तर आचार्य याज्ञवल्क्य देते हैं। आठों ग्रह और अतिग्रहों को क्रम से कहेंगे। उनमें प्रथम ग्रह का उपदेश देते हैं। यहाँ प्रथम यह भी जान लेना चाहिये कि प्रत्येक ग्रह के साथी एक अतिग्रह है। निश्चय करके घ्राणेन्द्रिय ही ग्रह है। और इस ग्रह का संगी सुगन्ध और दुर्गन्ध है "प्राण" शब्द से यहां घ्राणेन्द्रिय कही गयी है क्योंकि उसी का प्रकरण है। वह घ्राण रूप ग्रह गन्ध रूप अतिग्रह से गृहीत है "अपान" शब्द से यहाँ गन्ध कहा गया है क्योंकि अपान गन्ध का साथी है। क्योंकि प्राणी अपान से लायी गयी विविध गन्धों को घ्राणेन्द्रिय से सूँघता है। यहाँ पर ग्रह शब्दित इन्द्रियों से अतिग्रह शब्दित विषयों को प्रबल प्रतिपादन किया है। क्योंकि लिखा है– **इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः** (कठो० अ० १ व० ३ श्रु० १०) निश्चय करके शब्दादि विषय श्रोत्रादिक इन्द्रियों से बलवान हैं ॥१०॥ इससे विषय को अपने वश में करने के लिये सर्वदा यत्न करना चाहिये। "शरीर के अभ्यन्तर कोष्ठ से जो वायु घ्राण से होकर निकलती है उसे प्राण कहते हैं अर्थात् श्वास। जिस कारण प्राण का स्थान घ्राण है, अतः यहाँ प्राण शब्द से घ्राणेन्द्रिय का ग्रहण होता है। जो वायु प्रश्वासरूप से बाहर से शरीर के भीतर जाती है उस अपान कहते हैं। अपान यहाँ पर "अप+अन" ये दो शब्द हैं। ऐसे स्थलों में "अप" शब्द का अर्थ "अधः" नीचा होता है। जैसे उपचय = वृद्धि। अपचय = अवनति,

उत्कृष्ट, अपकृष्ट आदि । वायु ऊपर नीचे भरी हुई है जिस हेतु ऊपर की वायु को इस शरीर रूप नीच गर्त में खीचते हैं । अतः इसको अपान कहते हैं । और जिस हेतु अपान वायु के साथ ही गन्ध आती है इस कारण से अपान शब्द से गन्ध का अर्थ किया गया है । जब प्रश्वास लेवेंगे तब ही सुगन्ध या दुर्गन्ध का बोध होगा ।।२।।

वाग्वै ग्रहः नाम्नाऽतिग्रहेण गृहीतो वाचा हि नामान्यभिवदति ।।३।।

अन्वयार्थ—(वै) निश्चय करके (वाक्) वाक् ही (ग्रहः) ग्रह है (सः) वह वागिन्द्रियरूप ग्रह (नाम्ना) नामरूप (अतिग्रहेण) अति ग्रह से (गृहीतः) पकड़ा हुआ है (हि) क्योंकि (वाचा) वागिन्द्रिय से (नामानि) नामों को (अभिवदति) सब प्राणी भलिभाँति उच्चारण करता है ।।३।।

विशेषार्थ—अब द्वितीय ग्रह और अतिग्रह याज्ञवल्क्य महर्षि कहते हैं कि— वाक् ही ग्रह है । जिस इन्द्रिय के द्वारा नाम का उच्चारण होता है उसे वागिन्द्रिय कहते है । वह वागिन्द्रियरूप ग्रह नामरूप अतिग्रह से गृहीत है । यदि नाम न होवे तो वाणी की प्रेरणा कदापि नहीं हो सकती, इस हेतु नाम के अधीन वाक् है । जिसका जो अधीन होता है वह उससे न्यून होता है जैसे राजा के अधीन मंत्री राजा से न्यून है इस हेतु वाणी से अधिक नाम है अतः वाक् ग्रह है और नाम उपग्रह है । क्योंकि वागिन्द्रियों से सब प्राणी नामों को उच्चारण करते हैं ।।३।।

जिह्वा वै ग्रहः स रसेनातिग्रहेण गृहीतो जिह्वया हि रसान्विजानाति ।।४।।

अन्वयार्थ— (वै) निश्चय करके (जिह्वा) जीभ (ग्रहः) ग्रह है (सः) वह जिह्वारूपग्रह (रसेन) रसरूप (अतिग्रहेण) अतिग्रह से (गृहीतः) पकड़ा हुआ है (हि) क्योंकि (जिह्वया) जीभ से (रसान्) विविध रसों को (विजानाति) प्राणी विशेष रूप से जानता है ।।४।।

विशेषार्थ— अब तृतीय ग्रह और अतिग्रह आचार्य याज्ञवल्क्य कहते हैं कि— हे आर्तभाग ! रसना ही ग्रह है । जिस इन्द्रिय के द्वारा मधुरादि रस ग्रहण किया जाता है उसे रसनेन्द्रिय कहते हैं । वह जिह्वेन्द्रियरूपग्रह रसरूप अतिग्रह से गृहीत है । रस मधुर १, आम्ल २, लवण ३, कटु ४, कषाय ५ और तिक्त ६ भेद से छः प्रकार के हैं । क्योंकि जिह्वेन्द्रिय से सब प्राणी विविध रसों को विशेष रूप से जानते

हैं ।।४।।

चक्षु वैं ग्रहः स रूपेणातिग्रहेण गृहीतश्चक्षुषा हि रूपाणि पश्यति ।।५।।

अन्वयार्थ– (वै) निश्चय करके (चक्षुः) नेत्र (ग्रहः) ग्रह है (सः) वह नेत्रेन्द्रियरूपग्रह (रूपेण) रूप नामक (अतिग्रहेण) अतिग्रह से (गृहीतः) पकड़ा हुआ है (हि) क्योंकि (रूपाणि) विविधरूपों को (चक्षुषा) नेत्र से (पश्यति) प्राणी देखता है ।।५।।

विशेषार्थ– अब चतुर्थग्रह और अतिग्रह आचार्य याज्ञवल्क्य कहते हैं कि– हे आर्तभाग ! नेत्र ही ग्रह है । जिस इन्द्रिय के द्वारा शुक्लादिरूप ग्रहण किये जाते हैं उसे नेत्रेन्द्रिय कहते हैं । वह नेत्रेन्द्रियरूप ग्रह रूप नामक अतिग्रह से गृहीत है । वह रूप शुक्ल १, नील २, पीत ३, हरित ४, रक्त ५, कपिश ६ और चित्र ७ भेद से सात प्रकार का है । क्योंकि नेत्रेन्द्रिय से सब प्राणी विविध शुक्लादिरूपों को देखते हैं ।।५।।

श्रोत्रं वै ग्रहः स शब्देनातिग्रहेण गृहीतः श्रोत्रेण हि शब्दाञ्श्रृणोति ।।६।।

अन्वयार्थ– (वै) निश्चय करके (श्रोत्रम्) कर्णेन्द्रिय (ग्रहः) ग्रह है (सः) वह श्रोत्रेन्द्रियरूपग्रह (शब्देन) शब्द रूप (अतिग्रहेण) अतिग्रह से (गृहीतः) पकड़ा हुआ है (हि) क्योंकि (श्रोत्रेण) कर्णेन्द्रिय से (शब्दान्) विविध शब्दों को (श्रृणोति) प्राणी सुनता है ।।६।।

विशेषार्थ– अब पञ्चमग्रह और अतिग्रह आचार्य याज्ञवल्क्य कहते हैं कि– हे आर्तभाग ! श्रोत्र ही ग्रह है । जिस इन्द्रिय के द्वारा शब्द ग्रहण किया जाता है उसे श्रोत्रेन्द्रिय कहते हैं । वह श्रोत्रेन्द्रियरूप ग्रह शब्दरूप अतिग्रह से गृहीत है । वह शब्द ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक भेद से दो प्रकार का होता है । क्योंकि श्रोत्रेन्द्रिय से सब प्राणी अनके प्रकार के शब्दों को सुनते हैं ।।६।।

मनो वै ग्रहः स कामेनातिग्रहेण गृहीतो मनसा हि कामान्कामयते ।।७।।

अन्वयार्थ– (वै) निश्चय करके (मनः) मन (ग्रहः) ग्रह है (सः) वह मनरूप ग्रह (कामेन) इच्छा रूप (अतिग्रहेण) अतिग्रह से (गृहीतः) पकड़ा हुआ है (हि) क्योंकि (मनसा) मन से (कामान्) विविध कामनाओं को (कामयते) सब प्राणी चाहते हैं ॥७॥

विशेषार्थ– अब षष्ठग्रह तथा अतिग्रह आचार्य याज्ञवल्क्य कहते हैं कि– हे आर्तभाग ! मन ही ग्रह है । वह मनरूपग्रह इच्छारूप अतिग्रह से गृहीत है । यहाँ "काम" शब्द इच्छा वाचक है । क्योंकि मन से विविध कामनाओं को सब प्राणी चाहता है ॥७॥

हस्तौ वै ग्रहः स कर्मणाऽतिग्रहेण गृहीतो हस्ताभ्यां हि कर्म करोति ॥८॥

अन्वयार्थ– (वै) निश्चय करके (हस्तौ) दोनों हाथ (ग्रहः) ग्रह हैं (सः) वह हाथरूप ग्रह (कर्मणा) कर्मरूप (अतिग्रहेण) अतिग्रह से (गृहीतः) पकड़ा हुआ है (हि) क्योंकि (हस्ताभ्याम्) दोनो हाथों से (कर्म) कर्म को (करोति) प्राणी करता है ॥८॥

विशेषार्थ– अब सप्तम ग्रह तथा अतिग्रह आचार्य याज्ञवल्क्य कहते हैं कि– हे आर्तभाग ! दोनो हाथ ही ग्रह हैं और वह दोनों हाथरूप ग्रह कर्मरूप अतिग्रह से गृहीत है । क्योंकि दोनो हाथों से कर्म को सब प्राणी करते हैं ॥८॥

त्वग्वै ग्रहः स स्पर्शेनातिग्रहेण गृहीतस्त्वचा हि स्पर्शान्वेदयत इत्येतेऽष्टौ ग्रहा एतेऽष्टावतिग्रहाः ॥९॥

अन्वयार्थ– (वै) निश्चय करके (त्वक्) त्वचा (ग्रहः) ग्रह है (सः) वह त्वचारूप ग्रह (स्पर्शेन) स्पर्शरूप (अतिग्रहेण) अतिग्रह से (गृहीतः) पकड़ा हुआ है (हि) क्योंकि (त्वचा) त्वगिन्द्रिय से ही (स्पर्शान्) विविध शीतोष्ण स्पर्शों को (वेदयते) प्राणी जानता है (इति) इस प्रकार (एते) ये (अष्टौ) आठ (ग्रहाः) ग्रह हैं और (एते) ये (अष्टौ) आठ (अतिग्रहाः) अतिग्रह हैं ॥९॥

विशेषार्थ– अब अष्टम ग्रह और अतिग्रह आचार्य याज्ञवल्क्य कहते हैं कि– हे आर्तभाग ! त्वचा ही ग्रह है । त्वगिन्द्रिय के विषय में लिखा है– **ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्चैव श्रोत्रत्वग्लोचनादयः ॥** (वराहोप० श्रु० २) **कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैव**

वाक्पाण्यङ्घ्र्यादयः क्रमात् । प्राणादयस्तु पञ्चैव पञ्चशब्दादयस्तथा ॥३॥ मनोबुद्धिरहङ्कारश्चित्तं चेति चतुष्टयम् ॥४॥ श्रोत्र १, त्वक् २, चक्षु ३, घ्राण ४ और रसना ५ ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं ॥२॥ और वाक् १, पाणि २, पाद ३, पायु ४ और उपस्थ ५ ये पाँच कर्मेन्द्रिय हैं तथा प्राण १, अपान २, समान ३, उदान ४ और व्यान ५ ये पाँच प्राणादि वायु हैं और शब्द १, रूप २, रस ३, गन्ध ४ और स्पर्श ५ ये पांच मात्राएँ हैं ॥३॥ तथा मन १, बुद्धि २, अहंकार ३ और चित्त ४ ये अन्तःकरण चतुष्टय हैं ॥४॥ वह त्वगिन्द्रियरूप ग्रह स्पर्शरूप अतिग्रह से गृहीत है । क्योंकि त्वगिन्द्रिय से ही विविध शीतोष्ण स्पर्शों को सब प्राणी जानता है । इस प्रकार द्वितीयकण्डिका से लेकर यहाँ तक ये घ्राण १, वाक् २, जिह्वा ३, चक्षु ४, श्रोत्र ५, मन ६, हस्त ७, और त्वचा ८ ये आठ ग्रह वर्णित किये गये हैं और ये गन्ध १, नाम २, रस ३, रूप ४, शब्द ५, काम ६, कर्म ७ और स्पर्श ८ क्रम से आठ अतिग्रह प्रतिपादित किये गये हैं । पुष्कर में पुण्डरीकाक्षसमर्चक भगवद्रामानुजाचार्य ने । **सप्तगतेर्विशेषितत्वाच्च** ॥ (शा० मी० अ० २ पा० ४ सू० ४) के श्रीभाष्य में "बृहदारण्यकोपनिषद्" के तृतीय अध्याय के द्वितीय ब्राह्मण की नवमी कण्डिका के "अष्टौ ग्रहाः" इन पदों को उद्धृत किया है ॥९॥

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदं सर्वं मृत्योरन्नं कास्वित्सा देवता यस्या मृत्युरन्नमिति । अग्निर्वै मृत्युः सोऽपामन्नम्। अप पुनर्मृत्युं जयति ॥१०॥

अन्वयार्थ– (याज्ञवल्क्य) हे याज्ञवल्क्य (इति) ऐसा सम्बोधन करके (ह) प्रसिद्ध आर्तभाग ने (उवाच) कहा कि (इदम्) यह (यत्) जो कुछ दृश्यमान वस्तु है (सर्वम्) वह सब (मृत्योः) मृत्यु का (अन्नम्) खाद्य है (सा) वह (कास्वित्) कौन सा (देवता) देवता है (यस्याः) जिस देवता का (मृत्युः) मृत्यु (अन्नम्) खाद्य है (इति) इस प्रश्न को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (वै) निश्चय करके (अग्निः) अग्नि (मृत्युः) मृत्यु है (सः) वह अग्नि (अपाम्) जल का (अन्नम्) खाद्य है । जो उपासक इस प्रकार जानता है वह पुरुष (पुनः) फिर (अपमृत्युम्) अपमृत्यु को (जयति) जीत लेता है ॥१०॥

विशेषार्थ – पूर्वोक्त प्रकार से ग्रह और अतिग्रह विषयक प्रश्न के उत्तर होने पर पुनः हे याज्ञवल्क्य ! ऐसा सम्बोधन करके सुप्रसिद्ध आर्तभग ने कहा कि– यह जो कुछ दृश्यमान स्थावर जङ्गम जगत् है वह सब मृत्यु का खाद्य पदार्थ है । यहाँ

पर "स्वित्" शब्द प्रश्न या वितर्क वाचक है। क्योंकि लिखा है– **स्वित्प्रश्ने च वितर्केच ॥** (अमर० कां० ३ व० ३ श्लो० २४२) प्रश्न और वितर्क करने मे "स्वित्" शब्द का प्रयोग होता है ॥२४२॥ और अन्यत्र भी लिखा है– **मृत्युर्यस्योपसेचनम् ॥** (कठोप० अ० १ व० २ श्रु० २५) सब का संहार करने वाला मृत्युदेव जिसके उपसेचन यानी भोग्य वस्तु के साथ लगाकर खाने का व्यञ्जन (तरकारी) आदिक बन जाता है ॥२५॥ इस द्वितीय प्रश्न को सुनकरआचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि अग्नि ही मृत्यु है, क्योंकि अग्नि से सब वस्तुएँ जलती हैं। और वह अग्नि जल का खाद्य है। क्योंकि जल से अग्नि नष्ट हो जाती है। अब आगे इस विज्ञान का फल कहा जाता है। जो पुरुष इस प्रकार को जानता है वह फिर अपमृत्यु को जीत लेता है। मथुरापुरी में मथुरानाथ प्रकाशक भगवद्रामानुजाचार्य ने **प्रतिषेधादिति चेन्नशारीरात्स्पष्टोह्येकेषाम् ॥** (शा० मी० अ० ४ पा० २ सू० १२) के श्रीभाष्य में "बृहदारण्यकोपनिषद्" के तृतीय अध्याय के द्वितीय ब्राह्मण की दसवीं कण्डिका के "अपपुनर्मृत्युं जयति" इस वाक्य को उद्धृत किया है ॥१०॥

याज्ञवल्क्येति होवाच यत्रायं पुरुषो म्रियत उदस्मात्प्राणाः क्रामन्त्याहो३नेति । नेति होवाच याज्ञवल्क्योऽत्रैव समवनीयन्ते स उच्छ्वयत्याध्मायत्याध्मातो मृतः शेते ॥११॥

अन्वयार्थ– (याज्ञवल्क्य) हे याज्ञवल्क्य (इति) ऐसा सम्बोधन करके (ह) प्रसिद्ध आर्तभाग ने (उवाच) कहा कि (यत्र) जिस समय में (अयम्) यह (पुरुषः) पुरुष (म्रियते) मरता है उस समय में (अस्मात्) इस म्रियमाण पुरुष से (प्राणाः) प्राण आदि (उत्क्रामन्ति) जीव को छोड़कर ऊपर को जाते हैं ((आहो) या (न) नहीं अर्थात् जीव के साथ ही उत्क्रमण करते हैं (इति) इस तृतीय प्रश्न को सुनकर (ह) प्रसिद्ध (याज्ञवल्क्यः) याज्ञवल्क्य ने (न) नहीं जीव को छोड़कर प्राणादि उत्क्रमण करते हैं (एव) निश्चय करके (अत्र) इस जीवात्मा में (समवनीयन्ते) एकीभूत होकर संयुक्त हो जाते हैं (इति) ऐसा (उवाच) कहा (सः) वह (मृतः) उत्क्रान्त प्राणवाला पुरुष (उच्छ्वयति) फूल जाता है (आध्मायति) और वाह्य वायु से शरीर परिपूर्ण हो जाता है तथा (आध्मातः) वाह्य वायु से भरा हुआ (शेते) निश्चेष्ट मृतक सो जाता है ॥११॥

विशेषार्थ – द्वितीय प्रश्न के उत्तर होने पर पुनः हे याज्ञवल्क्य ! ऐसा सम्बोधन

करके सुप्रसिद्ध आर्तभग ऋषि ने कहा कि— जिस काल में यह विद्वान् पुरुष मरता है उस समय में इस म्रियमाण पुरुष से प्राण आदिक जीव को छोड़कर उत्क्रमण करते हैं अथवा जीवात्मा के साथ संयुक्त होकर जीवात्मा के साथ ही उत्क्रमण करते हैं। यहाँ पर "आहो" शबद विकल्पार्थ वाचक है। क्योंकि लिखा है— **आहो उताहो किमुत विकल्पे किं किमूत च ॥** (अमर० कां० ३ क० ४ श्लो० ५) आहो १, उताहो २, किमुत ३, किम् ४, किमु ५, और उत ६ ये विकल्पार्थ वाचक शब्द हैं ॥५॥ इस तृतीय प्रश्न को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि— नहीं जीवात्मा को छोड़कर प्राणादिक उत्क्रमण करते हैं। निश्चय करके इस जीवात्मा में एकीकार होकर संयुक्त हो जाते हैं। यहाँ पर "सम" शब्द एकीकर अर्थ में है। वह उत्क्रान्त प्राणवाला मृतक पुरुष फूल जाता है। और बाह्यवायु से यह शरीर परिपूर्ण हो जाता है तथा वाह्यवायु से भरा हुआ निश्चेष्ट मृतक मानो सोता रहता है। इस श्रुति में शरीर-प्रत्यगात्मा से प्राणों की उत्क्रान्ति निषेध की गई है। द्वारिका में तप्तमुद्राप्रवर्तकाचार्य भगवद्रामानुजाचार्य ने **प्रतिषेधादिति चेन्नशारीरात्स्पष्टोह्येकेषाम् ॥** (शा० मी० अ० ४ पा० २ सू० १२) के श्रीभाष्य में "बृहदारण्यकोपनिषद्" के तृतीय अध्याय के द्वितीय ब्राह्मण की ग्यारहवीं कण्डिका को उद्धृत किया है ॥११॥

याज्ञवल्क्येति होवाच यत्रायं पुरुषो म्रियते किमेनं न जहातीति । नामेति । अनन्तं वै नाम । अनन्ता विश्वेदेवाः । अनन्तमेव स तेन लोकं जयति ॥१२॥

अन्वयार्थ— (याज्ञवल्क्य) हे याज्ञवल्क्य (इति) ऐसा सम्बोधन करके (ह) प्रसिद्ध आर्तभाग ने (उवाच) कहा कि (यत्र) जिस समय में (अयम्) यह (पुरुषः) पुरुष (म्रियते) मरता है उस समय में (किम्) कौन सा पदार्थ (एनम्) इस म्रियमाण पुरुष को (न) नहीं (जहाति) छोड़ता है (इति) इस चतुर्थ प्रश्न को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (नाम) नाम (इति) इस पुरुष को त्याग नहीं करता है (वै) निश्चय करके देह के नष्ट होने पर भी युधिष्ठिरादिक के नाम की अनुवृत्ति देखने से (नाम) नाम (अनन्ताः) नाश रहित अनन्त हैं (सः) वह विद्वान् (तेन) उस अनुवृत नाम के द्वारा (अनन्तम्) अनन्त-शाश्वतपुण्य (लोकम्) लोक को (एव) ही (जयति) जीत लेता है ॥१२॥

विशेषार्थ — ग्यारहवीं कण्डिका में म्रियमाण पुरुष की जीवात्मा को प्राण नहीं परित्याग करते हैं यह कहा गया है। इस उपदेश को सुनकर, हे याज्ञवल्क्य ! ऐसा

सम्बोधन करके सुप्रसिद्ध आर्तभग ऋषि ने कहा कि— जिस काल में यह पुरुष मरता है उस काल में कौन सा पदार्थ इस म्रियमाण पुरुष को नहीं परित्याग करता है। इस चतुर्थ प्रश्न को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि— हे आर्तभाग ! नाम इस म्रियमाण पुरुष को नहीं परित्याग करता है। शरीर के विनाश होने पर भी युद्धिष्ठिरादिक के नाम की अनुवृति देखने से निश्चय करके नाम नाश रहित है। और नामाभिमानी संपूर्ण देवता भी नाश रहित अनन्त हैं। अब आगे फल कहा जाता है। वह विद्वान् पुरुष उस अनुवृत्त नाम से अनन्त यानी शाश्वत पुण्यलोक को निश्चय करके जीत लेता है। इस कारण से ही लोक में नाम की अनुवृति के लिये सज्जन लोग अनुष्ठान किया करते हैं ॥१२॥

याज्ञवल्क्येति होवाच यत्रास्य पुरुषस्याग्निं वागप्येति। वातं प्राणश्चक्षुरादित्यं मनश्चन्द्रं दिशः श्रोत्रं पृथिवीं शरीरमाकाशमात्मा। ओषधीर्लोमानि वनस्पतीन्केशाः। अप्सु लोहितं च रेतश्च निधीयते। क्वयं तदा पुरुषो भवतीति। आहर सोम्य हस्तमार्तभागाऽऽवामेतस्यैव वेदिष्यावो न नावेतत्सजन इति। तौ होत्क्रम्य मन्त्रयाञ्चक्राते। तौ ह यदूचतुः। कर्म हैव तदूचतुरथ यत्प्रशशंसतुः कर्म हैव तत्प्रशशंसतुः। पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेनेति। ततो ह जारत्कारव आर्तभाग उपरराम ॥१३॥

॥ इति तृतीयाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

अन्वयार्थ— (याज्ञवल्क्य) हे याज्ञवल्क्य (इति) ऐसा सम्बोधन करके (ह) प्रसिद्ध आर्तभाग ने (उवाच) कहा कि (यत्र) जिस मरणदशा में (अस्य) इस म्रियमाण (पुरुषस्य) पुरुष की (वाक्) वागिन्द्रिय (अग्निम्) अपने अभिमानी अग्निदेव को (अप्येति) प्राप्त कर लेती है अर्थात् वागिन्द्रियाभिमानी देवभूत अग्नि के वागिन्द्रियाधिष्ठान के अनुकूल व्यापार के बिना अवस्थित हो जाती है तथा (प्राणः) शरीरान्तः संचारी प्राण (वातम्) बाह्यवायु में मिल जाता है और (चक्षुः) नेत्र

(आदित्यम्) अपने अभिमानी सूर्यदेव में मिल जाता है (श्रोत्रम्) श्रवणेन्द्रिय (दिशः) अपने अभिमानी देवता दिशाओं में मिल जाती है और (शरीरम्) शरीर का स्थूल पार्थिव भाग (पृथिवीम्) अपने कारण पृथ्वी में मिल जाता है और (लोमानि) शरीर के रोवें अर्थात् लोमाभिमानी देवता (ओषधीः) ओषध्यभिमानी देवताओं में मिल जाता है और (केशाः) मस्तक का केश (वनस्पतीन्) वनस्पतियों में मिल जाता है (च) और (लोहितम्) रक्त (च) तथा (रेतः) वीर्य (अप्सु) जल में (निधीयते) स्थापित हो जाते हैं (तदा) तब उस समय में (अयम्) या शारीर (पुरुषः) जीवात्मा (क्व) कहाँ पर यानी किस के आश्रित (भवति) होती है (इति) इस पञ्चम प्रश्न को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (सोम्य) हे सोमार्ह प्रियदर्शन (आर्तभाग) ऋतभागपुत्र (हस्तम्) अपने हाथ को (आहर) तुम मुझे पकड़ाओ (आवाम्)) हम दोनों (एव) ही (एतस्य) इस तुम्हारे प्रश्न के उत्तर को (वेदिष्याव:) जानेंगे (नौ) हम दोनों के (एतत्) यह प्रकृत प्रश्न उत्तर (सजने) जनसमुदाय में (न) नहीं हो सकता है (इति) ऐसा जनसभा में कहकर (ह) प्रसिद्ध (तौ) वे दोनों याज्ञवल्क्य और आर्तभाग (उत्क्रम्य) जनसमुदाययुक्त उस स्थान से निकल कर एकान्त स्थान में जाकर (मन्त्रयाञ्चक्राते) परस्पर विचार किये (ह) प्रसिद्ध (तौ) उन दोनों ने परस्पर मिलकर विचार करके निश्चय कार्य कारण संघातात्मक शरीर के परिग्रह में कारण (यत्) जो कुछ (ऊचतुः) कहा (तत्) वह (ह) प्रसिद्ध (कर्म) कर्म को (एव) ही (ऊचतुः) कहा (अथ) और उन दोनों ने (यत्) जो कुछ (प्रशशंसतुः) प्रशंसा की है (तत्) वह (ह) प्रसिद्ध (कर्म) कर्म को (एव) ही (प्रशशंसतुः) प्रशंसा की है वै निश्चय करके (पुण्येन) शास्त्रविहित पुण्य (कर्मणा) कर्म से (पुण्यः) पुरुष पुण्यशरीरयुक्त (भवति) होता है और (पापेन) शास्त्र से निषिद्ध पापकर्म से (पापः) पापशरीरयुक्त पुरुष होता है (इति) इस प्रकार याज्ञवल्क्य के उत्तर को सुनकर (ततः) तब अन्य प्रष्टव्य के अभाव होने से (ह) प्रसिद्ध (जारत्कारव:) जरत्कारुगोत्रोत्पन्न (आर्तभागः) ऋतभागऋषि का पुत्र (उपरराम) चुप हो गया ॥१३॥

विशेषार्थ— हे याज्ञवल्क्य ! ऐसा सम्बोधन करके सुप्रसिद्ध आर्तभाग ऋषि ने कहा कि— जिस मरणदशा में इस म्रियमाण पुरुष की वागिन्द्रिय अपने अभिमानी देवता अग्नि में मिल जाती है। अर्थात् म्रियमाण जीवसंबन्धी वागिन्द्रिय को वागिन्द्रियाभिमानी अग्निदेव व्यापार रहित कर देता है। ऐसा ही अर्थ यहाँ पर सर्वत्र समझना चाहिये। क्योंकि वागादि इन्द्रियों के आकल्पस्थायित्व होने से और आहंकारिक होने से मरणकाल में अनुपादानभूत अग्नि में लय होना असम्भव है। और शरीरान्तः संचारी प्राण अपने अभिमानी देवता वायु में मिल जाता है। तथा नेत्र अपने अभिमानी देवता आदित्य

में मिल जाता है। और मन अपने अभिमानी देवता चन्द्रमा में मिल जाता है। तथा श्रोत्र अपने अभिमानी देवता दिशाओं में मिल जाता है। और शरीर का स्थूलपार्थिवभाग अपने कारण पृथ्वी में मिल जाता है। शरीर के विषय में लिखा है– **चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः (शरीरम्)॥** (न्याय० अध्या० १ आह्नि १ सू० ११) चेष्टा और इन्द्रियों के अर्थ का जो आश्रय हो उसको शरीर कहते हैं ॥११॥ तथा शरीरान्तर्गत आकाश बाह्य आकाश में मिल जाता है। यहाँ पर "आत्मा" शब्द से देहान्तर्गतआकाश कहा गया है और लोमाभिमानी देवता ओषधि अभिमानी देवताओं में मिल जाता है। अर्थात् लोमाभिमानित्व को छोड़कर केवल ओषध्यभिमानी हो जाता है। ओषधि के विषय में लिखा है– **ओषध्यः फलपाकान्ता बहुपुष्पफलोपगाः ॥** (मनु० अ० १ श्लो० ४६) बहुत फूल फल से युक्त और फल के पकने से नष्ट होनेवाले व्रीहि यव आदिक ओषधि हैं ॥४६॥ तथा माथे का केश वनस्पतियों में मिल जाता है। वनस्पति के विषय में लिखा है– **अपुष्पाः फलवन्तो ये ते वनस्पतयः स्मृताः ॥** (मनु० अ० १ श्लो० ४७) जो फूल से रहित हों और फलवाले हों ऐसे गूलर, पीपल आदि को वनस्पति कहते हैं ॥४७॥ और रक्त तथा वीर्य जल में मिल जाते हैं। यहाँ पर "लोहित" शब्द रक्त वाचक है। क्योंकि लिखा है– **रुधिरेऽसृग्लोहितास्त्ररक्तक्षतजशोणितम् ॥** (अमर० कां० २ व० ६ श्लो० ६४) असृग् १, लोहित २, अस्त्र ३, रक्त ४, क्षतज ५ और शोणित ये रुधिर के नाम हैं ॥६४॥ म्रियमाण पुरुष संबन्धी वागादिकों के तत्तत् आधार के आश्रित होने पर तब उस समय में यह शारीर पुरुष किसके आश्रित रहता है। इस अन्तिम पञ्चम प्रश्न को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– हे सोमार्ह प्रियदर्शन आर्तभाग ! तुम मुझे अपना हाथ पकड़ाओ। हम दोनों इस प्रश्न का उत्तर जनसमुदाय में निर्णय नहीं कर सकते, इसलिए इसका विचार करने के लिये एकान्त में हम दोनों चलें। ऐसा जनसभा में कहकर वे दोनों याज्ञवल्क्य और आर्त्तभाग ने जनसमुदाययुक्त उस स्थान से निकलकर एकान्तस्थान में बैठकर परस्पर विचार किया। प्रसिद्ध वे दोनों याज्ञवल्क्य और आर्त्तभाग ने परस्पर मीमांसा करके निश्चय कार्य कारण संघातात्मक शरीर के परिग्रह कारण जो कुछ बतलाया वह पुनः पुनः कर्म को ही आश्रय अर्थात् देह और इन्द्रियों के ग्रहण का हेतु बतलाया। इतना ही नहीं अपितु स्वीकार किये हुए कालकर्म ईश्वर आदि हेतुओं में भी इन दोनों ने जो कुछ प्रशंसा की वह कर्म की ही प्रशंसा की। इसी को स्पष्ट दिखलाया जाता है। निश्चयं करके शास्त्रविहित पुण्यकर्म से पुरुष पुण्यशरीरयुक्त होता है। और शास्त्र से निषिद्ध पापकर्म से पुरुष पाप शरीरयुक्त होता है। ऐसा अन्यत्र भी लिखा है। **तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा**

वैश्ययोनिं वा ऽथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा ॥ (छां० उ० प्रपा० ५ खं० १० श्रु० ७) उन अनुशयी जीवों में जीव परलोक से इस भूलोक में आनेवाले सुप्रसिद्ध जब भुक्त शिष्ट परिपक्व सुकृत कर्मयुक्त होते हैं तब वे जीव उत्तम सुन्दर योनि को प्राप्त होते हैं। ब्राह्मण योनि को क्षत्रिय योनि को अथवा वैश्य योनि को ही प्राप्त होते हैं। और जो जीव परलोक से इस लोक में आनेवाले प्रसिद्ध जब भुक्तशिष्ट परिपक्वकुत्सित कर्मयुक्त होते हैं तब वे जीव कुत्सितनिन्दित योनि को प्राप्त होते हैं। किस निन्दित योनि को आगे कहा जाता है। कूकरयोनिको अथवा शुकर योनि को अथवा चाण्डाल योनि को ही प्राप्त होते हैं।।७।। कर्म के विषय में लिखा है– **नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्। अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥** (गी० अ० १८ श्लो० २३) जो शास्त्रनियत कर्म कर्तापन के सम्बन्ध से रहित बिना रागद्वेष के और फल न चाहनेवाले पुरुष के द्वारा किया जाता है वह सात्त्विक कहलाता है ।।२३।। **यत्तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः। क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥** (गी० अ० १८ श्लो० २४) परन्तु जो कर्म फलाकाङ्क्षी पुरुष के द्वारा अहङ्कार के साथ और बहुत प्रयास से किया जाता है वह राजस कहलाता है ।।२४।। **अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषं। मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥** (गी० अ० १८ श्लो० २५) अनुबन्ध, क्षय, हिंसा और पौरुष को न देखकर जो कर्म मोह से आरम्भ किया जाता है वा तामस कहलाता है ।।२५।। इस प्रकार आचार्य याज्ञवल्क्य के उत्तर को सुनकर तब अन्य प्रष्टव्य के अभाव होने से और याज्ञवल्क्य को वाद के द्वारा स्वसिद्धान्त से विचलित करना अशक्य समझकर जरत्कारु गोत्रवाला आर्त्तभाग चुप हो गया। काश्मीर में बोधायनवृत्तिसाक्षात्कारकर्ता भगद्रामानुजाचार्य ने। **अग्न्यादि गतिश्रुतेरिति चेन्न भाक्तत्वात् ॥** (शा० मी० अ० ३ पा० १ सू० ४) के श्रीभाष्य में "बृहदारण्यकोपनिषद्" के तृतीय अध्याय के द्वितीय ब्राह्मण की तेरहवीं कण्डिका को उद्धृत किया है। यहाँ पर "बृहदारण्यकोपनिषद्" के तृतीय अध्याय का द्वितीय आर्तभाग ब्राह्मण समाप्त हो गया ।।१३।।

॥ अथ तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

अथ हैनं भुज्युर्लाह्यायनिः पप्रच्छ । याज्ञवल्क्येति होवाच । मद्रेषु चरकाः पर्यव्रजाम । ते पतञ्चलस्य काप्यस्य गृहानैम । तस्याऽऽसीद्दुहिता गन्धर्वगृहीता।

तमपृच्छाम । कोऽसीति सोऽब्रवीत्सुधन्वाऽऽङ्गिरस इति। तं यदा लोकानामन्तानपृच्छाम । अथैनमब्रूम क्व पारिक्षिता अभवन्निति क्व पारिक्षिता अभवन् । स त्वा पृच्छामि याज्ञवल्क्य क्व पारिक्षिता अभवन्निति ॥१॥

अन्वयार्थ– (अथ) इसके पश्चात् जरत्कारुगोत्रवाले आर्तभाग के चुप हो जाने पर (लाभ्यायनिः) लाभ्यायनि गोत्रवाले (भुज्युः) भुज्यु नाम के ब्राह्मण ने (ह) प्रसिद्ध (एनम्) इस याज्ञवल्क्य महर्षि से (पप्रच्छ) पूछा कि (याज्ञवल्क्य) हे याज्ञवल्क्य ऐसा सम्बोधन करके (ह) प्रसिद्ध भुज्यु नामक ब्राह्मण ने (उवाच) कहा कि (मद्रेषु) मद्र नाम के देश में (चरकाः) अध्ययन के लिये व्रताचरणपूर्वक (पर्यव्रजाम) विचर रहे थे (ते) वे हम (काप्यस्य) कपिगोत्रोत्पन्न (पतञ्चलस्य) पतञ्चल नामवाले पुरुष के (गृहान्) घर पर (ऐम) आये (तस्य) उस पतञ्चल की (दुहिता) पुत्री (गन्धर्वगृहीता) किसी अमानव जीव–देवगायक से आविष्ट थी (तम्) उस गन्धर्व से (अपृच्छाम) हम सब ने पूछा कि (कः) कौन (असि) तुम हो (इति) इस वचन को सुनकर (सः) वह गन्धर्व (अब्रवीत्) बोला कि (सुधन्वा) नाम से मैं सुधन्वा हूँ और (आङ्गिरसः) गोत्र से आङ्गिरस हूँ (इति) इस प्रकार कहने पर फिर (यदा) जब (तम्) उस गन्धर्व से (लोकानाम्) लोकों के (अन्तान्) अन्त यानी पर्यवसान को (अपृच्छाम) हमने पूछा (अथ) इसके बाद (एनम्) उस गन्धर्व से (अब्रूम) एक यह ही प्रश्न हमने पूछा कि हे गन्धर्व (पारिक्षिताः) पारिक्षित (क्व) किस लोक में (अभवन्) रहे (इति) यह मेरा प्रश्न है तुम जानते हो तो कहो (पारिक्षिताः) पारिक्षित (क्व) किस लोक में (अभवन्) रहे (सः) उस गन्धर्व से शास्त्रज्ञान प्राप्त किया हुआ वह मैं (त्वा) तुम से (इति) ऐसा (पृच्छामि) पूछता हूं कि (याज्ञवल्क्य) हे याज्ञवल्क्य (पारिक्षिताः) पारिक्षित (क्व) किस लोक में (अभवन्) रहे इस प्रश्न का उत्तर बताओ ॥१॥

विशेषार्थ– जरत्कारुगोत्रोत्पन्न आर्तभाग के चुप हो जाने के पश्चात् लाभ्यायनि गोत्रवाले भुज्यु नामके ब्राह्मण ने प्रसिद्ध इस आचार्य याज्ञवल्क्य से पूछा कि– हे याज्ञवल्क्य ! मद्र नामक देश में विद्या अध्ययन के लिये हम सब भ्रमण कर रहे थे। ब्रह्मचर्यावस्था में जो नाना व्रतों का आचरण करके उसे "चरक" कहते हैं। अथवा विद्या अध्ययन के लिये जो इधर उधर विचरण करे उसे चरक कहते हैं। वे हम सब

विचरते विचरते कपिगोत्रोत्पन्न पतञ्चल नामवाले पुरुष के घर पर पहुँच गये । वहाँ उस पतञ्चल की कन्या गन्धर्व गृहीता थी । गन्धर्व के विषय में लिखा है— **स्त्रीकामाः गन्धर्वाः ॥** (श्रुति) स्त्री की कामना वाले गन्धर्व होते हैं । मनुष्य से भिन्न जीव गन्धर्व हैं क्योंकि लिखा है— **यक्षरक्षः पिशाचांश्च गन्धर्वाप्सरसोऽसुरान् । नागान्सर्पान्सुपर्णांश्च पितृणां च पृथग्गणान् ॥** (मनु० अ० १ श्लो० ३७) यक्ष, राक्षस, पिशाच, गन्धर्व, अप्सरा असुर, नाग, सर्प, गरुड़ और पितृगणों को भी अलग अलग उत्पन्न किया ॥३७॥ **गन्धर्वाणां चित्ररथः ॥** (गी० अ० १० श्लो० २६) **गन्धर्वाणां देवगायकानां मध्ये ॥** (रामानुजभाष्य० २६) गन्धर्वों में यानी देवगायकों में मैं चित्ररथ हूँ ॥२६॥ **भूतविद्या नाम देवासुरगन्धर्वयक्षरक्षः पितृपिशाचनागग्रहाद्युपसृष्टचेतसां शान्तिकर्मवलिहरणादिग्रहोपशमनार्थम् ॥** (सुश्रुतसूत्रस्थान० ११) भूतविद्या माने देव, असुर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पितर, पिशाच, नाग, तथा ग्रह आदि करके व्याप्त चित्तवाले पुरुषों के आनन्द के लिये शान्तिकर्म करना, बलि देना और ग्रह को शमन करना आदि है ॥११॥ **नैनं घ्नन्ति अप्सरसो न गन्धर्वा न मर्त्याः सर्वा दिशो विराजन्ति यो बिभर्तीमं मणिम् ॥** (अथर्ववे० कां० ८ सू० ५ मं० १३) जो इस मणि को धारण करता है उसको अप्सरा, गन्धर्व और मनुष्य बाधा नहीं पहुँचा सकते हैं और उसके लिये सब दिशाएँ प्रकाशित रहती हैं ॥१३॥ हम सबने उस गन्धर्व से पूछा कि— तुम कौन हो अर्थात् तुम्हारा नाम क्या है और क्या गोत्र है । फिर जब उस गन्धर्व से लोकों के अन्त यानी पर्यवसान के विषय में हमने पूछा कि इसके बाद उस गन्धर्व से एक यह भी प्रश्न हमने पूछा कि हे गन्धर्व ! पारिक्षित किस लोक में रहे ? यक मेरा प्रश्न है, यदि तुम जानते हो तो कहो ? तब गन्धर्व ने हमें सब बातें बता दी । अब मैं विद्या सम्पन्न हूँ और मुझे गन्धर्व से शास्त्रज्ञान प्राप्त हुआ है वही मैं तुम से पूछता हूँ कि हे याज्ञवल्क्य ! पारिक्षित किस लोक में रहे । "परितो दुरितं क्षीयते येन स परिक्षिदश्वमेधः तद्याजिनः पारिक्षितः" इस व्युत्पति से जो परि अर्थात् सब प्रकार से दुरित को नांश करे अथवा जिसके करने से सब पाप नष्ट हो उसे परिक्षित कहते हैं, अर्थात् अश्वमेधादि यज्ञ का नाम पारिक्षित है औरा उस यज्ञ के करनेवाले का नाम पारिक्षित है । ऐसा प्रतिपादन किया गया है ॥१॥

स होवाच । उवाच वै सोऽगच्छन्वै ते तद्यत्राश्वमेधयाजिनो गच्छन्तीति । क्व न्वश्वमेधयाजिनो गच्छन्तीति । द्वात्रिंशतं वै देवरथाह्न्यान्ययं लोकः । तं समन्तं

पृथिवी द्विस्तावत्पर्येति । तां समन्तं पृथिवीं द्विस्तावत्समुद्रः पर्येति । तद्यावती क्षुरस्यधारा यावद्वा मक्षिकायाः पत्रं तावानन्तरेणऽऽकाशः । तानिन्द्रः सुपर्णोभूत्वा वायवे प्रायच्छत् । तान्वायुरात्मनि धित्वा तत्रागमयद्यत्राश्वमेधयाजिनोऽभवन्निति । एवमिव वै स वायुमेव प्रशशंस । तस्माद्वायुरेव व्यष्टिर्वायुरेव समष्टिः । अपपुनर्मृत्युं जयति य एवं वेद ततो ह भुज्युर्लाभ्यायनिरुपरराम ॥२॥

॥ इति तृतीयाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

अन्वयार्थ– (ह) प्रसिद्ध (सः) उस याज्ञवल्क्य ने (उवाच) कहा कि हे भुज्यु (वै) निश्चय कर के (सः) उस गन्धर्व ने (इति) यही (उवाच) तुम से कहा था कि (यत्र) जिस लोक में (अश्वमेधयाजिनः) अश्वमेधयज्ञ करने वाले (गच्छन्ति) जाते हैं (ते) वे पारिक्षित (वै) निश्चय करके (तत्) उसी लोक में (अगच्छन्) चले गये इस प्रकार याज्ञवल्क्य के उत्तर सुनकर पुनः भुज्यु ने कहा कि (क्व) किस लोक में (अश्वमेधयाजिनः) अश्वमेधयज्ञ करने वाले (गच्छन्ति) जाते हैं (इति) यही (नु) मेरा प्रश्न है इस प्रश्न को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (अयम्) यह लोकालोकगिरि से परिवृत (लोकः) देश (वै) निश्चय करके (द्वात्रिंशतम्) बत्तीस (देवरथाह्न्यानि) देवरथाह्न्या हैं । देव है सूर्य, उसका रथ ही देवरथ है उस देवरथ की गति से एक दिन संसार का जितना भाग मापा जाता है उतना देवरथाह्न्य कहलाता है । उसको बत्तीसगुना करने पर बत्तीस देवरथाह्न्य होते हैं (तम्) उस लोक को (समन्तम्) चारो ओर से (द्विस्तावत्) लोक विस्तार की अपेक्षा दूने परिमाण के विस्तारवाले परिमाण से युक्त (पृथिवी) पृथ्वी (पर्येति) घेरे हुई है और इसी प्रकार (ताम्) उस (पृथ्वीम्) महापृथ्वी को (समन्तम्) सब ओर से (द्विस्तावत्) पृथ्वी के परिमाण से द्विगुणपरिमाणयुक्त (समुद्रः) समुद्र (पर्येति) भलीभाँति घेरे हुए हैं जिसको पौराणिक कहते हैं (तत्) उस अण्डकटाह में (यावती) जितनी (क्षुरस्य) क्षुरे की (धारा) धार होती है (वा) अथवा (मक्षिकायाः) मक्खी का (यावत्) जितना सूक्ष्म (पत्रम्) पंख होता है (तावान्) उतना ही (अन्तरेण) मध्य में (आकाशः) आकाश यानी छिद्र होता

है (तान्) उन पारिक्षितों को (इन्द्रः) इन्द्र ने (सुपर्णः) गरुड़ वाहन (भूत्वा) होकर (वायवे) वायु देवता के लिये (प्रायच्छत्) दे दिया (वायुः) वायुदेव ने (तान्) उन पारिक्षितों को (आत्मनि) अपने में (धित्वा) स्थापित कर (तत्र) उस ब्रह्म के लोक में (अगमयत्) पहुँचा दिया (यत्र) जिस चतुर्मुख के लोक में (अश्वमेधयाजिनः) अश्वमेधयज्ञ करनेवाले (अभवन्) पूर्ण समय रहे (इति) यह कथन समाप्त हो गया (एवम्) उस प्रकार (वै) निश्यय करके (सः) उस गन्धर्व ने (इव) सदृश (वायुम्) वायु को (एव) ही (प्रशशंस) प्रशंसा की थी (तस्मात्) इस कारण से (वायुः) वायु (एव) ही (व्यष्टिः) पञ्चीकृत व्यष्ट्यात्मक ब्रह्मलोकादि में संचारी होने से व्यष्टि है और (वायुः) वायु (एव) ही (समष्टिः) सूत्रात्मप्राणरूप से सर्वनिर्वाहक होने से समष्टिरूप है (यः) जो भक्त (एवम्) इस प्रकार (वेद) वायु को जानता है वह उपासक (पुनः) फिर (अपमृत्युम्) अपमृत्यु को (जयति) जीत लेता है (ततः) तब अन्य प्रष्टव्य के अभाव होने से (ह) प्रसिद्ध (लाभ्यायनिः) लाभ्यायनि गोत्रोत्पन्न (भुज्युः) भुज्यु नामक (उपरराम) चुप हो गया ॥२॥

विशेषार्थ– उस सुप्रसिद्ध आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– हे भुज्यु! उस गन्धर्व ने निश्चय करके तुम से यही कहा था कि– जिस लोक में अश्वमेधयज्ञ करनेवाले जाते हैं उसी लोक में निश्चय करके वे पारिक्षित चले गये। जो सब प्रकार के दुरित को नाश करे अथवा जिसके करने से सब पाप नष्ट हो उसे परिक्षित् कहते हैं अर्थात् अश्वमेधयज्ञ का नाम परिक्षित् है और उस यज्ञ के करनेवाले का नाम "पारिक्षित" है। आचार्य याज्ञवल्क्य के अपूर्व भाषण को सनुकर पुनः भुज्यु ने कहा कि– हे याज्ञवल्क्य! किस लोक में अश्वमेधयज्ञ करनेवाले जाते हैं। इस प्रश्न को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य उनकी गति बतलाने की इच्छा से प्रथम भुवनकोश का परिमाण बताते हैं। लोकालोकपर्वत से घिरा हुआ यह लोक बत्तीस देवरथाह्न्य है। देव है सूर्य, उसका रथ ही देवरथ है वह देवरथ एक अहोरात्र में निरन्तर चलकर जितने देश में जाता है उतना देश देवरथाह्न्य कहलाता है उसको बत्तीस गुना करने पर बत्तीस देवरथाह्न्य होते हैं। उस बत्तीस देवरथाह्न्यलोक को चारों ओर से लोक विस्तार की अपेक्षा दूने परिमाण के विस्तार वाले परिमाण से पृथ्वी घेरे हुई है। और इसी प्रकार उस पृथ्वी को उससे दूने परिमाण से सब ओर से समुद्र घेरे हुए हैं। जिसको पौराणिक घनोदक कहते हैं। अश्वमेधलोकमार्ग का विवर परिमाण अब बतलाया जाता है। जितने परिमाण वाली छुरे की धार होती हैं अथवा जितनी सूक्ष्मता से युक्त मक्खी का पंख होता है उतने परिमाण वाला इस अण्डकटाह के मध्य में आकाश यानी छिद्र है। उस छिद्र से वे अश्ममेधयाजी वहाँ जाते हैं। यहाँ पर "सुपर्ण" शब्द गरुड वाचक

है। क्योंकि लिखा है– **नागान्तको विष्णुरथः सुपर्णः पन्नगाशनः ॥** (अमर० कां० १ व० १ श्लो० २९) नागान्तक १, विष्णुरथ २, सुपर्ण ३ और पन्नगाशन ४ ये गरुड के नाम हैं ॥२९॥ और इन्द्र तथा वायु के विषय में लिखा है– **वातो देवता ··· इन्द्रो देवता ॥** (यजु० अ० १४ मं० २०) वायु देवता और इन्द्र देवता है ॥२०॥ और वायु देवता उन पारिक्षितों को अपने में रखकर उस चतुर्मुख ब्रह्मा के लोक में ले गया। जिस चतुर्मुख ब्रह्म के लोक में अश्वमेधयज्ञ करनेवाले रहे। इस प्रकार उस गन्धर्व ने निश्चय करके वायु की प्रशंसा की थी। यहाँ पर "इति" शब्द आख्यायिका की समाप्ति सूचन करने के लिये है। इस कारण से वायु ही पञ्चीकृतव्यष्ट्यात्मक ब्रह्मादिलोक में संचारी होने से व्यष्टिरूप है। अब व्यष्टि समष्ट्यात्मक वायु के चिन्तन का फल बतलाया जाता है कि– जो भक्त इस प्रकार वायु को जानता है वह उपासक फिर अपमृत्यु को जीत लेता है। तब अन्य प्रष्टव्य अभाव होने से प्रसिद्ध लाभ्यायनि गोत्रवाला भुज्यु नामक ब्राह्मण चुप हो गया। यहाँ पर "बृहदारण्यकोपनिषद्" के तृतीय अध्याय का तृतीय भुज्युब्राह्मण समाप्त हो गया ॥२॥

॥ अथ चतुर्थ ब्राह्मणम् ॥

अथ हैनमुषस्तश्चाक्रायणः पप्रच्छ । याज्ञवल्क्येति होवाच यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्वेति । एष त आत्मा सर्वान्तरः । कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरः । यः प्राणेन प्राणिति स त आत्मा सर्वान्तरो योऽपानेनापानिति स त आत्मा सर्वान्तरो यो व्यानेन व्यानिति स त आत्मा सर्वान्तरोय उदानेनोदानिति स त आत्मा सर्वान्तर एष त आत्मा सर्वान्तरः ॥१॥

अन्वयार्थ– (अथ) भुज्यु के चुप हो जाने के पश्चात् (चाक्रायणः) चक्र ऋषि का गोत्रापत्य (उषस्तः) उषस्त नामक ब्राह्मण ने (ह) परम प्रसिद्ध (एनम्) इस याज्ञवल्क्य से (पप्रच्छ) पूछा कि हे याज्ञवल्क्य (इति) ऐसा सम्बोधन करके (ह) सुप्रसिद्ध उषस्त ने (उवाच) कहा कि (यत्) जो (साक्षात्) साक्षात् (अपरोक्षात्) अपरोक्ष यानी सर्वदेशकालसंनिहित (ब्रह्म) ब्रह्म है और (यः) जो (आत्मा) परमात्मा

(सर्वान्तरः) सब अभ्यन्तर में है (तम्) उस परमात्मा को (मे) मुझसे विचारकर कहिये (इति) इस प्रश्न को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (एषः) यह जो (ते) तेरी (आत्मा) है वही (सर्वान्तरः) सर्वान्तर्यामी है तथा अपरोक्ष मुख्य ब्रह्म है इस उत्तर को सुनकर पुनः उषस्त ने कहा कि (याज्ञवल्क्य) हे याज्ञवल्क्य (कतमः) देहेन्द्रिय प्राण जीवादिकों में कौन आत्मा (सर्वान्तरः) सर्वान्तर्यामी है इस प्रश्न को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (यः) जो (प्राणेन) हृदयस्थ प्राणवायु से (प्राणिति) प्राण की चेष्टा को करता है (सः) वह (ते) तेरी (आत्मा) आत्मा (सर्वान्तरः) सर्वान्तर्यामी है और (यः) जो (अपानेन) गुदमण्डलस्थ अपान वायु से (अपानिति) अपान की चेष्टा को करता है (सः) वह (ते) तेरी (आत्मा) आत्मा (सर्वान्तरः) सर्वान्तर्यामी है तथा (यः) जो (व्यानेन) सर्वशरीरस्थ व्यानवायु से (व्यानिति) व्यान की चेष्टा को करता है (सः) वह (ते) तेरी (आत्मा) आत्मा (सर्वान्तरः) सर्वान्तर्यामी है और (यः) जो (उदानेन) कण्ठमध्यस्थ उदानवायु से (उदानिति) उदान की चेष्टा को करती है (सः) वह (ते) तेरी (आत्मा) आत्मा (सर्वान्तरः) सर्वान्तर्यामी है ।।१।।

विशेषार्थ– याज्ञवल्क्य के महापाण्डित्य को कर्मकाण्ड में जानकर अब ब्रह्मकाण्ड में इनकी प्रतिभा को जानने के लिये आगे की कण्डिका आरम्भ की जाती है कि– भुज्यु ब्राह्मण के चुप हो जाने के बाद चक्रऋषि के गोत्रापत्य उषस्त नाम के ब्राह्मण ने सुप्रसिद्ध इस आचार्य याज्ञवल्क्य से पूछना आरम्भ किया । हे याज्ञवल्क्य ! ऐसा सम्बोधन करके प्रसिद्ध उषस्त ऋषि ने कहा कि– जो साक्षात् अपरोक्ष यानी सर्वदेशकाल संनिहित ब्रह्म है और जो आत्मा सर्वान्तर्यामी है उस तत्त्व को विचारकर आप मुझसे कहिये यह मेरा प्रश्न है । यहाँ पर "आत्मा" पद परब्रह्म नारायण का वाचक है । क्योंकि लिखा है– **आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् ॥** (ऐत० उप० अ० १ खं० १ श्रु० १) यह ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त स्थावर जंगमस्वरूप जगत् सृष्टि से पहले एकमात्र प्रसिद्ध संपूर्ण हेयगुणों से रहित एकतान कल्याणमय परमात्मा ही था ।।१।। इस श्रुति के प्रमाण से और व्याप्तिबोधक "आप्" भक्षणार्थक "अद्" अथवा सतत गमनबोधक "अत्" धातु से "आत्मा" पद निष्पन्न होने से आत्मा का अर्थ परब्रह्म नारायण है । पूर्वोक्त प्रश्न को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– यह जो तेरी आत्मा है वही सर्वान्तर्यामी है और अपरोक्ष मुख्य ब्रह्म है । इस उत्तर को सुनकर पुनः उषस्त ने कहा कि– हे याज्ञवल्क्य ! शरीरेन्द्रिय प्राण जीवादिकों में कौन आत्मा सर्वान्तर्यामी है । इस प्रश्न को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– हे उषस्त ! जो हृदय में स्थित प्राणवायु की चेष्टा को करता है वह तेरी आत्मा सर्वान्तर्यामी है । प्राण के विषय में लिखा है– **हृदि प्राणः स्थितो नित्यम् ॥** (योगचू० उ० श्रु० २३)

हृदय में सर्वदा प्राणवायु स्थित रहती है ॥२३॥ और जो गुदमण्डल में स्थित अपान वायु से अपान की चेष्टा को करता है वह तेरी आत्मा सर्वान्तर्यामी है । अपान के विषय में लिखा है– **अपानो गुदमण्डले ॥** (योगचू० उ० श्रु० २३) गुदमण्डल में सर्वदा अपानवायु रहती है ॥२३॥ तथा जो शरीर में स्थित व्यानवायु से व्यान की चेष्टा करता है वह तेरी आत्मा सर्वान्तर्यामी है । व्यान के विषय में लिखा है– **व्यानः सर्वशरीरे तु ॥** (योगचू० उ० श्रु० २४) सब देह में उदानवायु स्थित रहती है ॥२४॥ और जो कण्ठमध्य में स्थित उदानवायु से उदान की चेष्टा को करता है वह तेरी आत्मा सर्वान्तर्यामी है । उदान के विषय में लिखा है– **उदानः कण्ठमध्यगः ॥** (योगचू० उ० श्रु० २४) कण्ठ के मध्य में उदानवायु रहती है ॥२४॥ दिल्लीविजयकर्ता भगवद्रामानुजाचार्य ने ॥ **अन्तरा भूतग्रामवत्स्वात्मनोऽन्यथाभेदानुपत्तिरिति चेन्नोपदेशवत् ॥** (शा० मी० अ० ३ पा० ३ सू० ३५) **व्यतिहारो विशिंषन्तिहीतरवत् ॥** (शा० मी० अ० ३ पा० ३ सू० ३६) इन दोनों सूत्रों के श्रीभाष्य में "बृहदारण्यकोपनिषद्" के तृतीय अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण की प्रथम कण्डिका के पदों को उद्धृत किया है ॥१॥

स होवाचोषस्तश्चाक्रायणः । यथा विब्रूयादसौ गौरसावश्व इत्येवमेवैतद् व्यपदिष्टं भवति यदेव साक्षादरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मेव्याचक्ष्वेत्येष त आत्मा कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरः। न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येर्न श्रुतेः श्रोतारं श्रृणुया न मतेर्मन्तारं मन्वीथा न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः । एष त आत्मा सर्वान्तरः । अतोऽन्यदार्तम् । ततो होषस्तश्चाक्रायण उपरराम ॥२॥

॥ इति तृतीयाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

अन्वयार्थ– (ह) परम प्रसिद्ध (सः) उस (चाक्रायणः) चक्र ऋषि का गोत्रापत्य (उषस्तः) उषस्त नामक ब्राह्मण ने (उवाच) कहा कि (यथा) जैसे (विब्रूयात्) कोई विशेषरूप से कहे कि (असौ) यह (गौः) बैल है (असौ) यह (अश्वः) घोड़ा है (एवम्) उसी प्रकार (एव) निश्चय करके (एतत्) यह आत्मरूप वस्तु (व्यपदिष्टम्) उपदिष्ट (भवति) होती है (इति) ऐसा आपने कहा था परन्तु आप अपनी प्रतिज्ञा

पूर्ण नहीं करते। आप प्रत्यक्ष रूप से आत्मा को बतलावें मैं पुनः पूछता हूँ कि (यत्) जो (एव) निश्चय करके (साक्षात्) साक्षात् (अपरोक्षात्) अपरोक्ष यानी सर्वदेशकालसंनिहित (ब्रह्म) ब्रह्म है और (यः) जो (आत्मा) परमात्मा (सर्वान्तरः) सब के अभ्यन्तर में विराजमान है (तम्) उस परमात्मा को (मे) मुझसे (व्याचक्ष्व) विचार कर कहिये (इति) इस प्रश्न को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (एषः) यह जो (ते) तेरी (आत्मा) है वही (सर्वान्तरः) सर्वान्तर्यामी है इस उत्तर को सुनकर पुनः उषस्त ने कहा कि (याज्ञवल्क्य) हे याज्ञवल्क्य (कतमः) देहेन्द्रिय प्राण जीवादिकों में कौन आत्मा (सर्वान्तरः) सर्वान्तर्यामी है इस प्रश्न को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (दृष्टेः) दृष्टि के (द्रष्टारम्) द्रष्टा को (न) नहीं (पश्येः) तुम देख सकते और (श्रुतेः) श्रुति के (श्रोतारम्) श्रोता को (न) नहीं (शृणुयाः) तुम सुन सकते तथा (मतेः) मति के (मन्तारम्) मन्ता को (न) नहीं (मन्वीथाः) तुम मनन कर सकते और (विज्ञातेः) विज्ञाति के (विज्ञातारम्) विज्ञाता को (न) नहीं (विजानीयाः) तुम जान सकते अर्थात् दर्शन, श्रवण, मनन और निदिध्यासन के कर्ता जो जीवात्मा है वह देखने योग्य नहीं है और सुनने योग्य नहीं है तथा मनन करने योग्य नहीं है और निदिध्यासन करने योग्य नहीं है। दर्शनादिकर्ता जीवात्मा से अन्य (एषः) यह जो तेरी (आत्मा) दर्शनादिककर्मभूत आत्मा है वही (सर्वान्तरः) सर्वान्तर्यामी आत्मा है (अतः) इस परब्रह्म नारायण से (अन्यत्) अतिरिक्त आपके अभिमत जीवजात (आर्तम्) दुखी है (ततः) तब अन्य प्रष्टव्य के अभाव होने से (ह) सुप्रसिद्ध (चाक्रायणः) चक्रऋषि का गोत्रापत्य (उषस्तः) उषस्त नामक ब्राह्मण (उपरराम) चुप हो गया ॥२॥

विशेषार्थ— याज्ञवल्क्य के समाधान के आशय को नहीं जानते हुए सुप्रसिद्ध चक्र ऋषि के गोत्रापत्य उषस्त नामक उस ब्राह्मण ने पुनः कहा कि— हे याज्ञवल्क्य ! जिस प्रकार कोई किसी से कहे कि देख यह गौ है यह घोड़ा है इसको पहचान रख। हे याज्ञवल्क्य ! उसी प्रकार निश्चय करके यह आत्मरूप वस्तु भी उपदिष्ट होती है आपने कहा था। परन्तु आप अपनी प्रतिज्ञा नहीं पूर्ण करते। आप प्रत्यक्षरूपसे आत्मा को बतलावें मैं पुनः पूछता हूँ कि— जो निश्चय करके साक्षात् अपरोक्ष यानी सर्वदेशकालसंनिहित ब्रह्म है और जो परब्रह्म नारायण सब के अभ्यन्तर में विराजमान है उस परमात्मा को मुझसे अच्छे प्रकार विचार कर कहिये। इस प्रश्न को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि— हे उषस्त ! यह जो तेरी आत्मा है वही सर्वान्तर्यामी है। इस उत्तर को सुनकर पुनः उषस्त ने कहा कि— हे याज्ञवल्क्य ! शरीरेन्द्रिय प्राण जीवादिकों में कौन सी आत्मा सर्वान्तर्यामी है। इस प्रश्न को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि— हे उषस्त ! दृष्टि के द्रष्टा को तुम नहीं देख सकते और श्रुति के श्रोता

को तुम नहीं सुन सकते। तथा मति के मन्ता को तुम नहीं मनन कर सकते। ओर विज्ञाति के विज्ञाता को तुम नहीं जान सकते। अर्थात् दर्शन, श्रवण, मनन और निदिध्यासन का कर्ता जो जीवात्मा है, वह देखने योग्य नहीं है और सुनने योग्य नहीं है तथा मनन करने योग्य नहीं है और निदिध्यासन करने योग्य नहीं है। दर्शनादिकर्ता जीवात्मा से भिन्न यह जो तेरी दर्शनादि कर्मभूत आत्मा है वही सर्वान्तर्यामी आत्मा है। इस परब्रह्म नारायण से भिन्न आपके अभिमत जीवजात दुःखी है। तब इसके बाद अन्य प्रष्टव्य के अभाव होने से सुप्रसिद्ध चक्रऋषिका गोत्रापत्य उषस्त नामक ब्राह्मण चुप हो गया। शारदाशोकनाशक भगवद्रामानुजाचार्य ने– **तत्तु समन्वयात्** ॥ (शा० मी० अ० १ पा० १ सू० ४) **भूतग्रामवत्स्वात्मनोऽन्यथा भेदानुपपत्तिरिति चेन्नोपदेशवत्** ॥ (शा० मी० अ० ३ पा० ३ सू० ३५) **व्यतिहारो विशिंषन्तिहीतरवत्** ॥ (शा० मी० अ० ३ पा० ३ सू० ३६) इन तीनों सूत्रों के श्रीभाष्य में ''बृहदारण्यकोपनिषद्'' के तृतीय अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण की द्वितीय कण्डिका की उत्तरार्ध को उद्धृत किया है यहाँ पर ''बृहदारण्यकोपनिषद्'' के तृतीय अध्याय का चतुर्थ उषस्त ब्राह्मण समाप्त होगया ॥२॥

॥ अथ पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥

अथ हैनं कहोलः कौषीतकेयः पप्रच्छ। याज्ञवल्क्येति होवाच यदेव साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्वेत्येष त आत्मा सर्वान्तरः। कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरः। योऽशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येति। एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति। या ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा या वित्तैषणा सा लोकैषणा। उभे ह्येते एषणे एव भवतः। तस्माद्ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्। बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनिः। अमौनं मौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मणः। स

ब्राह्मणः केन स्याद्येन स्यात्तेनेदृश एव । अतोऽन्यदार्तम् । ततो ह कहोलः कौषीतकेय उपरराम ॥१॥

॥ इति तृतीयाध्याये पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥

अन्वयार्थ– (अथ) चाक्रायण उषस्त के चुप हो जाने के पश्चात् (कौषीतकेयः) कुषीतक ऋषी के पुत्र (कहोलः) कहोल नामक ब्राह्मण ने (ह) परम प्रसिद्ध (एनम्) इस याज्ञवल्क्य से (पप्रच्छ) पूछा कि (याज्ञवल्क्य) हे याज्ञवल्क्य (इति) ऐसा सम्बोधन करके (ह) स्पष्ट (उवाच) कहा कि (यत्) जो (एव) निश्चय करके (साक्षात्) साक्षात् (अपरोक्षात्) अपरोक्ष यानी सर्वकालसंनिहित (ब्रह्म) ब्रह्म है और (यः) जो (आत्मा) परमात्मा (सर्वान्तरः) सबके अभ्यन्तर में है (तम्) उस परमात्मा को (मे) मुझसे (व्याचक्ष्व) विचारककर कहिये (इति) इस प्रश्न को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (एषः) यह जो (ते) तेरी (आत्मा) आत्मा है वही (सर्वान्तरः) सर्वान्तर्यामी है इस उत्तर को सुनकर पुनः कहोल ने कहा कि (याज्ञवल्क्य) हे याज्ञवल्क्य (कतमः) देहेन्द्रिय प्राणजीवादिकों में कौन आत्मा (सर्वान्तरः) सर्वान्तर्यामी है यह आप विस्पष्ट रूप से कहें इस प्रश्न को सुनकर कहोल के अभिप्राय को समझते हुए याज्ञवल्क्य ने कहा कि (यः) जो आत्मा (अशनायापिपासे) भोजन की इच्छा की और पीने की इच्छा को तथा (शोकम्) इष्टानिष्टवियोगसंयोगज शोक को और (मोहम्) विपरीतज्ञानरूप मोह को तथा (जराम्) बुढ़ापे को और (मृत्युम्) मरण को (अत्येति) अतिक्रमण किये हुए है वही सर्वान्तर्यामी है (वै) निश्चय करके (तम्) उस सर्वान्तर्यामी (एतम्) इस क्षुधादि रहित (आत्मानम्) परमात्मा को (विदित्वा) अखिलहेय प्रत्यनीक जानकर (ब्राह्मणाः) ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मणलोग (पुत्रैषणायाः) पुत्र की इच्छा से (च) और (वित्तैषणायाः) गौ सुवर्ण आदि वित्त की इच्छा से (च) और (लोकैषणायाः) स्त्री, पुत्र वित्त कर्म साध्य संपूर्ण लोक की इच्छा से (च) अनन्तर शरीर निर्वाहार्थ (भिक्षाचर्यम्) भिक्षाटन को (चरन्ति) करते हैं । अवर्जनीय परस्पर संबन्ध होने से (हि) निश्चय करके (या) जो (पुत्रैषणा) पुत्रैषणा है और (या) जो (वित्तैषणा) वितैषणा है (सा) वही (लोकैषणा) लोकैषणा है (हि) क्योंकि (एव) निश्चय करके साध्य साधन विषयक (एते) ये (उभे) दोनों (एषणे) एषणाएँ (भवतः) होते हैं (तस्मात्) इस कारण से (ब्राह्मणः) विद्यावान् ब्राह्मणत्वजाति विशिष्ट पुरुष (पाण्डित्यम्) औपदेशिक अर्थावगमरूप विवेक को अर्थात् उपास्य परिशुद्ध परिपूर्ण ब्रह्मतत्त्व को (निर्विद्य) प्राप्त करके (बाल्येन) स्वमाहात्म्य अनाविष्करण बालस्वभाव

से युक्त (तिष्ठासेत्) परब्रह्मनारायण में स्थित होने की इच्छा करे (च) और (बाल्यम्) स्वमाहात्म्य अनाविष्करण बालस्वभाव को (च) तथा (पाण्डित्यम्) औपदेशिक अर्थावगमरूप विवेक को अर्थात् उपास्य परिशुद्ध परिपूर्ण ब्रह्मतत्त्व को (निर्विद्य) प्राप्तकर (अथ) तदनन्तर (मुनिः) आरम्बण संशीलनलक्षण मननशील होवे (अथ) इसके बाद (अमौनम्) मौन से अन्य पूर्वनिर्दिष्ट बाल्य तथा पाण्डित्य को (च) और मौनम् आरम्बण संशीलनात्मक मुनि के भाव को (निर्विद्य) प्राप्तकर तब (ब्राह्मणः) ब्रह्मवेत्ता यानी निदिध्यासन रूपविद्या प्राप्तिवाला होता है इस उपदेश को सुनकर पुनः कहोल ने पूछा कि (सः) वह लब्धनिदिध्यासन (ब्राह्मणः) ब्रह्मवेत्ता (केन) उक्त उपाय से अन्य किस साधन से (स्यात्) होगा इस प्रश्न को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (येन) जिस मौनपर्यन्त साधन से (ब्राह्मणः) लब्धनिदिध्यासन ब्रह्मवेत्ता होता है यह कहा गया है (तेन) उसी मौनपर्यन्त साधन से (एव) निश्चय करके (ईदृशः) ऐसा ब्रह्मवेत्ता (स्यात्) होगा अन्य किसी उपाय से नहीं ब्रह्मवेत्ता हो सकेगा (अतः) इस परब्रह्म नारायण से (अन्यत्) अतिरिक्त आपके अभिमत जो जीवजात है (आर्तम्) वह दुःखी है (ततः) तब अन्य प्रष्टव्य के अभाव होने से (ह) सुप्रसिद्ध (कौषीतकेयः) कुषीतकऋषि के पुत्र (कहोलः) कहोल नामक ब्रह्मण (उपरराम) चुप हो गया ॥१॥

विशेषार्थ– उषस्त ब्राह्मण के चुप हो जाने के बाद कुषीतकऋषि के पुत्र कहोल नामक ब्राह्मण ने सुप्रसिद्ध इस आचार्य याज्ञवल्क्य से पूछा कि– हे याज्ञवल्क्य ! ऐसा सम्बोधन करके प्रसिद्ध कहोल ऋषि ने कहा कि– जो निश्चय करके साक्षात् अपरोक्ष यानी सर्वदेशकालसंनिहित ब्रह्म है और जो आत्मा सर्वान्तर्यामी है उस परमात्मा को मुझसे विचारकर कहिये। ब्रह्मपद भ्वादिपठित "बृहि वृद्धौ" इस धातु से। **बृंहेनोच्च** ॥ (उणा० पाद० ४) इस सूत्र से मनिन् प्रत्यय तथा नकार का अकार और यणादेश होकर निष्पन्न होता है। जो स्वरूप और गुणों से बड़ा होने के कारण ब्रह्म कहलाता है। ब्रह्म के विषय में लिखा है। **यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्मेति** ॥ (तैत्ति० उ० व० ३ अनु० १ श्रु० १) निश्चय करके ये ब्रह्म से लेकर स्तम्बपर्यन्त सब प्राणी जिससे उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न हुए सब प्राणी जिसके आश्रय से जीवित रहते हैं तथा अन्त में इस लोक से प्रयाण करते हुए जिसमें भलीभाँति तादात्म्य भाव से प्रवेश करते हैं उसको विशेषरूप से जानने की इच्छा कर, वही परब्रह्म है ॥१॥ **अथ कस्मादुच्यते परं ब्रह्म यस्मात्परमपरं परायणं च बृहद् बृहत्या बृंहयति तस्मादुच्यते परं ब्रह्म** ॥ (अथर्वशिर० उ० खं० ३ श्रु० ४) परब्रह्म कैसे कहा जाता है– जिससे पर यानी ब्रह्मादिक देवता और अपर यानी मनुष्यादिक तथा स्थावर ब्रह्मादि लोक सब बड़ी वृद्धि को प्राप्त करता

है और गुण तथा स्वरूप से सबसे बड़ा होने से परब्रह्म कहा जाता है ।।४।। **जन्माद्यस्य यतः ॥** (शा० मी० अ० १ पा० १ सू० २) इस समस्त ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त क्षेत्रज्ञ मिश्र जगत् का जिससे उत्पत्ति, पालन, प्रलय आदिक होता है वही ब्रह्म है ।।२।। **ब्रह्मण्यो ब्रह्मकृद्ब्रह्मा ब्रह्म ब्रह्मविवर्धनः ॥** (महाभार० अनुशासन० विष्णुसह० श्लो० ८४) ब्रह्मण्य १, ब्रह्मकृत २, ब्रह्मा ३, ब्रह्म ४ और ब्रह्मविवर्धन ५ ये परब्रह्म नारायण के नाम हैं ।।८४।। **ब्रह्मश्ब्देन च स्वभावतो निरस्तनिखिलदोषाऽनवधिकातिशयासंख्येयकल्याणगुणगणः पुरुषोत्तमोऽभिधीयत ॥** (श्रीभाष्य० जिज्ञासधिकर० १) ब्रह्म शब्द से स्वाभाविक समस्त दोषों से रहित और सीमारहित अतिशय असंख्य कल्याण गुणगण संपन्न पुरुषोत्तमनारायण कहे जाते हैं ।।१।। पूर्वोक्त प्रश्न को सुनकर आचार्य याज्ञल्क्य ने कहा कि– हे कहोल ! यह जो तेरी आत्मा है वही सर्वान्तर्यामी है । इस उत्तर को सुनकर पुनः कहोल ने कहा कि– हे याज्ञवल्क्य ! शरीरेन्द्रिय प्राण जीवादिकों में कौन आत्मा सर्वान्तर्यामी है यह आप विस्पष्टरूप से कहें । इस प्रश्न को सुनकर कहोल ऋषि के अभिप्राय को जानते हुए आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– हे कहोल ! जो आत्मा भोजन की इच्छा का और पीने की इच्छा का अतिक्रमण करके विद्यमान है अर्थात् जो खाने पीने की इच्छा से रहित है और जो आत्मा इष्टानिष्ट वियोगसंयोगज–शोक को तथा विपरीतज्ञानरूप मोह को और वृद्धावस्था को तथा मृत्यु को लांघकर विद्यमान है, वही तेरी आत्मा है और वही सर्वान्तर्यामी है । निश्चय करके उस सर्वान्तयामी क्षुधा, पिपासा, शोक, मोह, जरा ओर मृत्यु से रहित इस परब्रह्म नारायण को जानकर ब्रह्मवेत्ता यानी ब्राह्मणत्वजातिविशिष्ट ब्राह्मणलोग पुत्रैषणा से, पुत्र के लिये जो इच्छा होती है उसे पुत्रैषणा कहते हैं । यहाँ पर पुत्रैषणा शबद से । **सोऽकामयत जाया मे स्यादथ प्रजायेय ॥** (बृह० उ० अ० १ ब्रा० ४ कं० १७) वह एकाकी पुरुष कामना करता है कि मुझे स्त्री हो फिर मैं सन्तानरूप से उत्पन्न होऊँ ।।१७।। इस श्रुति में कही हुई इच्छा को हो ग्रहण किया जाता है । और वित्तैषणा से, धन के लिये जो इच्छा होती है उसे वित्तैषणा कहते हैं । यहाँ पर वित्तैषणा शब्द से । **वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीय ॥** (बृ० उ० अ० १ ब्रा० ४ कं० १७) मुझे धन हो फिर मैं कर्म करूँ ।।१७।। इस श्रुति में कही हुई इच्छा को ही ग्रहण किया जाता है । और स्त्री, पुत्र वित्त कर्म साध्य समस्त लोक की इच्छा से अर्थात् तीन एषणाओं से क्योंकि लिखा है– **एतावान्वैकामः ॥** (बृ० उ० अ० १ ब्रा० ४ कं० १७) इतनी ही कामना है ।।१७।। इस प्रकार त्रिविध कामनाओं से विमुख हो परब्रह्म की ओर ऊपर उठकर शास्त्र की विधि के अनुसार तुरीयाश्रम को ग्रहण करके तब शरीर निर्वाह के लिये भिक्षाटन को करते हैं । "भिक्षाचर्यं चरन्ति" इस श्रुति से पारिव्राज्यैकान्तधर्म का विधान किया गया

है। भिक्षा के विषय में लिखा है– **परमात्मनि योरक्तोविरक्तोऽपरमात्मनि। सर्वैषणाविनिर्मुक्तः स भैक्षं भोक्तुमर्हति॥** (नारदपरिव्राजकोप० उपदेश० ३ श्रु० १८) जो परमात्मा में अनुरक्त और उससे भिन्न वस्तुओं की ओर से विरक्त है, जिसके मन में पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा– ये सभी एषणाएँ निकल गयी हैं वही भिक्षान्न भोजन करने का अधिकारी है।।१८।। **विधूमे सन्नमुसले व्यङ्गारे भुक्तवज्ने। वृत्ते शरावसंपाते भिक्षां नित्यं यतिश्चरेत्॥** (नारदपरि० उ० उपदे० ५ श्रु० ३५) (मनु० अ० ६ श्लो० ५६) रसोई का धुआँ दूर होने पर तथा मुसल के शब्द बन्द होने पर अग्नि बुत जाने पर तथा घर के लोगों के भोजन कर लेने पर और शरावसंपात हो जाने पर सन्यासी सदा भिक्षा करे।।५६।। **ब्राह्मणकुलं वा यल्लभेतद्भुञ्जीत यज्ञोपवीत्युदककमण्डलुहस्तः शुचिर्ब्राह्मणो बृषलान्नपानवर्जो न हीयेते ब्रह्मलोकात्॥** (वशिष्टस्मृ० अ० १०) निश्चय करके ब्राह्मणों के घर में जो मिल जाये उसको संन्यासी भोजन करे। यज्ञोपवीत धारण किये रहे और जलका कमण्डलु हाथ में रखे, सर्वदा पवित्र रहे तथा शूद्र के अन्न जल को त्याग कर दे, इस प्रकार आचरण करनेवाला ब्राह्मण सन्यासी ब्रह्मलोक से भ्रष्ट नहीं होता है।।१०।। **सर्वभूतहितः शान्तस्त्रिदण्डी सकमण्डलुः। एकारामः परिव्रज्य भिक्षार्थं ग्राममाविशेत्॥** (नारदपरि० उ० उपदे० ३ श्रु० ५५) (याज्ञवल्क्यस्मृ० अ० ३ श्लो० ५८) सन्यासी सम्पूर्ण जीवों का हितैषी हो, शान्तभाव से रहे, त्रिदण्ड और कमण्डलु धारण करे, एकमात्र आत्मा में हीं रमण करने वाला हो तथा सब कुछ छोड़कर अकेला घूमता रहे केवल भिक्षा के लिये ही वह गांव में प्रवेश करे।।५५।।५८।। **माधूकरमसंक्लृप्तं प्राक्प्रणीतमयाचितम्। तात्कालिकं चोपपन्नं भैक्षंपञ्चविधंस्मृतम॥** (संन्यासोप० श्रु० ६५) संकलप रहित माधूकर १, प्राक्प्रणीत २, अयाचित ३, तात्कालिक ४ और उपपन्न ५ इस भेद से पाँच प्रकार की भिक्षा कही गई है।।६५।। मनः संकल्परहितांस्त्रीन्गृहान्पञ्च सप्त वा। मधुमक्षिकवत्कृत्वा माधूकरमिति स्मृतम्।। (सन्यासोप० श्रु० ६६) मन में संकल्प से रहित तीन, पाँच, सात, घर, मधु–मक्खी के समान थोड़ी थोड़ी भिक्षा ग्रहण करना उसको "माधुकर" भिक्षा कहते हैं।।६६।। **प्रातः काले च पूर्वेद्युर्यद्भक्तैः प्रार्थितं मुहुः। तद्भैक्षं प्राक्प्रणीतं स्यात्स्थितिं कुर्यात्तथापि वा॥** (संन्या० उ० श्रु० ६७)पहले दिन प्रातः काल में जो बारम्बार भक्तों से प्रार्थना की जाती है उसको "प्राक्प्रणीत' भिक्षा कहते हैं।।।६७।। **भिक्षाटनसमुद्योगाद्येन केन निमंत्रितम्। अयाचितं तु तदभैक्षं भोक्तव्यं च मुमुक्षुभिः॥** (संन्या० उ० श्रु० ६८) भिक्षा माँगने से पहले जिसी किसी से निमंत्रित बिना माँगे जो मिले उसको "अयाचित" भिक्षा कहते हैं वह मुमुक्षुयतियों के भोजन करने योग्य भिक्षान्न है।।६८।। **उपस्थानेन यत्प्रोक्तं भिक्षार्थं**

ब्राह्मणेन तत् । तात्कालिकमितिख्यातं भोक्तव्यं यतिभिः सदा ॥ (संन्या० उ० श्रु० ६९) स्थान के पास में आकर ब्राह्मण से भिक्षा के लिये जो कहा गया हो उसको "तात्कालिक" भिक्षा कहते हैं वह सर्वदा संन्यासियों के द्वारा भोजन करने योग्य है ऐसा कहा गया है ॥६८॥ **सिद्धमन्नं यदानीतं ब्राह्मणेन मठं प्रति । उपपन्नमिति प्राहुर्मुनयो मोक्षकांक्षिभिः ॥** (संन्या० उ० श्रु० ७०) जो सिद्ध अन्न ब्राह्मण करके यति के मठ के प्रति लाया जाता है उसको मोक्ष चाहनेवाले मुनि सब "उपपन्न" भिक्षा कहते हैं ॥७०॥ इस प्रकार प्रतिपादन किया गया है । अपवर्जनीय परस्पर संबन्ध होने से निश्चय करके जो ही पुत्रैषणा है वही वित्तैषणा है वही लोकैषणा है क्योंकि वह फल के ही लिये है । क्योंकि निश्चय करके साध्य साधन विषयक ये दोनों एषणाएँ होती हैं । इस कारण से अधीतवेद-विद्यावान् ब्राह्मणत्वजातिविशिष्ट पुरुष औपदेशिक अर्थावगमरूप विवेक को अर्थात् उपास्य परिशुद्ध परिपूर्ण परब्रह्म नारायणतत्त्व को प्राप्त करके स्वमाहात्म्य अनाविष्करण बाल स्वभाव से युक्त परब्रह्म नारायण में स्थित होने की इच्छा करे । और स्वमाहात्म्य अनाविष्करण-बालस्वभाव को तथा औपदेशिक अर्थावगमरूप विवेक को अर्थात् उपास्य परिशुद्ध परिपूर्ण परब्रह्म नारायण तत्त्व को प्राप्त कर तदनन्तर आरम्बणसंशीलन लक्षण मननशील होवे । इसके बाद मौन से भिन्न पूर्वनिर्दिष्ट बाल्य को यानी स्वमाहात्म्य अनाविष्करण-बालस्वभाव को और पाण्डित्य को यानी औपदेशिक अर्थावगमरूप विवेक को अर्थात् उपास्य परिशुद्ध परिपूर्ण परब्रह्म नारायण को तथा आरम्बण संशीलनात्मक मुनि के भाव को प्राप्तकर तब ब्रह्मवेत्ता यानी निदिध्यासनरूपविद्या प्राप्तिवाला होता है । उस उपदेश को सुनकर फिर कहोल ने पूछा कि– हे याज्ञवल्क्य ! वह लब्धनिदिध्यासनवाला ब्रह्मवेत्ता पुरुष, उक्त उपाय से अन्य किस साधन से होगा । इस प्रश्न को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– जिस बाल्य तथा पाण्डित्य और मौनरूप साधन से लब्धनिदिध्यासन ब्रह्मवेत्ता होता है यह कहा गया है । उसी बाल्य तथा पाण्डित्य और मौनरूप साधन से ही ब्रह्मवेत्ता होगा अन्य किसी उपाय से नहीं ब्रह्मवेत्ता होगा । इस परब्रह्म नारायण से अतिरिक्त जो जीवजात है वह दुःखी है । तब अन्य प्रष्टव्य के अभाव होने से परमप्रसिद्ध कुषीतक ऋषि का पुत्र कहोल नामक ब्राह्मण चुप हो गया । इस कण्डिका में परिब्राजक भाव को प्राप्त होकर भिक्षाचर्या करते हैं । ऐसा स्पष्ट प्रतिपादन किया गया हे । इससे यहाँ पर यति के विषय में कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है **अथ खलु सौम्य कुटीचक बहूदको हंसः परमहंसइत्येते परिव्राजकाश्चतुर्विधा भवन्ति सर्व ऐते विष्णुलिङ्गिनः शिखिन उपवीतिनः ॥** (शाट्यायनीयोप० श्रु० ११) हे सोमार्ह ! प्रियदर्शन तदनन्तर निश्चय करके कुटीचक १, बहूदक २, हंस ३, परमहंस ४ भेद से चार प्रकार के

संन्यासी होते हैं, वे चारों विष्णुलिङ्ग यानी त्रिदण्ड धारण करने वाले और शिखा तथा याज्ञोपवीत वाले होते हैं ॥११॥ **चतुर्विधा भिक्षवस्तु प्रख्याता ब्रह्मणो मुखात् । कुटीचको बहूदकः हंसश्चैव तृतीयकः ॥** (भाल्लवीयब्राह्मणोप० अ० ३ श्रु० १) चुतुर्थो **परमहंसश्च संज्ञाभेदैः पृथक्कृतः । वृत्तिभेदन भिन्नास्ते नैव लिङ्गात्तु ते द्विजाः ॥२॥ सर्वेभिक्षवः विप्राः प्रोक्ता वेदे त्रिदण्डिनः । लिङ्गं तु वैष्णवं तेषा सजलं च पवित्रकम् ॥३॥** ब्रह्मा के मुख से प्रख्यात चार प्रकार के संन्यासी होते हैं । कुटीचक तथा बहूदक और तृतीय हंस ॥१॥ तथा चौथा परमहंस, वृत्ति के भेद से चार नाम अलग अलग किया गया है । लिङ्ग के भेद से नहीं ॥२॥ वेद में सब संन्यासी ब्राह्मणजाति के त्रिदण्डवाले कहे गये हैं चारों सन्यासियों के त्रिदण्ड, काषायवस्त्र और पवित्रा सहित जलयुक्त कमण्डलु बाह्य चिह्न हैं ॥३॥ **त्रिदण्डमुपवीतं च वासः कौपीनवेष्टनम् । शिक्यं पवित्रमित्येतद्बिभृयाद्यावदायुषम् ॥** (शाट्यायनीयोप० श्रु० ७) **पञ्चैतास्तु यतेर्मात्रास्ता मात्रा ब्राह्मणे श्रुताः । न त्यजेद्यावदुत्क्रान्तिरन्तेऽपि निखनेत्सह ॥८॥ विष्णुलिङ्गं द्विधा प्रोक्तं व्यक्तमव्यक्तमेव च । तयोरेकमपि त्यक्त्वा पतत्येव न संशयः ॥९॥ त्रिदण्डं वैष्णवं लिङ्गं विप्राणां मुक्तिसाधनम् । निर्वाणं सर्वधर्माणामिति वेदानुशासनम् ॥१०॥** संन्यासी जबतक जीता रहे तबतक त्रिदण्ड १ और यज्ञोपवीत २ तथा कौपीन वेष्टन काषायवस्त्र ३ और शिक्य ४ तथा जलपवित्रा ५ इन सबों को धारण करे ॥७॥ त्रिदण्ड १, यज्ञोपवीत २, काषायवस्त्र ३, शिक्य ४ और पवित्रा ५ ये पाँच संन्यासी की मात्रा हैं, ये पाँच पूर्वोक्त मात्रायें ब्राह्मण के विषय में श्रुति प्रतिपादित हैं । मरणपर्यन्त इन पांच चिह्नों को संन्यासी परित्याग न करे । मरने पर भी त्रिदण्ड आदिक पाँचों शरीर के साथ ही भूमि में गाड़ दे ॥८॥ व्यक्त और अव्यक्त के भेद से विष्णुलिङ्ग दो प्रकार का कहा गया हे । उन दोनों लिङ्गों में से एक को भी त्यागकर यति पतित हो जाता है इसमें सन्देह नहीं है ॥९॥ सब धर्मों के निर्वाण और ब्राह्मणों के मोक्ष का साधन वैष्णव चिह्न त्रिदण्ड है इस प्रकार वेद का अनुशासन है ॥१०॥ **कुटीचकः शिखायज्ञोपवीती दण्डकमण्डलुधरः कौपीनकन्थाधरः पितृमातृगुर्वाराधानपरः पिठरखनित्रशिक्यादि मंत्रसाधनपर एकत्रान्नादनपरः श्वेतोर्ध्वपुण्ड्रधारी त्रिदण्डः ॥** (नारदपरिव्रा० उ० उपदे० ५ श्रु० १) (संन्यासोप० अ० २ श्रु० १३) कुटीचक, संन्यासी, शिखा और यज्ञोपवीत से युक्त होता है । वह त्रिदण्ड, कमण्डलु, कौपीन और कन्था धारण करता है । पिता, माता और गुरु— तीनों की सेवा में संलग्न रहता है । पिठर यानी पात्र, खनती और झोली आदि साथ रखता है और मंत्र साधन में लगा रहता है एक ही जगह भोजन करता रहता है । और श्वेत ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण करता है तथा त्रिदण्डी होता है ॥१॥१३॥

अथ भिक्षूणां मोक्षार्थिनां कुटीचक बहूदकहंसपरमहंसाश्चेति चत्वारः । कुटीचका नाम गौतम भरद्वाजयाज्ञवल्क्यवशिष्ठप्रभृतयोऽष्टौ ग्रासांश्चरन्तो योगमार्गे मोक्षमेव प्रार्थयन्ते ॥ (भिक्षुकोप० श्रु० १) अब मोक्ष के चाहनेवाले संन्यासियों के भेद बतलाये जाते हैं कि– कुटीचक १, बहूदक २, हंस ३ और परमहंस ४ ये चार प्रकार के संन्यासी होते हैं । कुटीचक नामक गौतम १, भरद्वाज २, याज्ञवल्क्य ३, वशिष्ठ ४ प्रभृति आठ ग्रास भोजन करते हुए योगमार्ग में मोक्ष की प्रार्थना करते हैं ।।१।। **बहूदकः शिखादिकन्थाधरः कुटीचकवत्सर्वसमो मधुकरवृत्त्याष्टकवलाशी ॥** (नारदपरिव्रा० उ० उपदे० ५ श्रु० १) (संन्यासोप० अ० २ श्रु० १३) बहूदक भी कुटीचक की भाँति शिखा, यज्ञोपवीत, त्रिदण्ड, कमण्डलु, कौपीन और कन्था धारण करते हैं, सबके प्रति समभाव रखते हैं और मधुकरीवृत्ति से कई घरों से अन्न लाकर केवल आठ ग्रास भोजन करते हैं ।।१।।१३।। **अथ बहूदका नाम त्रिदण्ड-कमण्डलुशिखायज्ञोपवीतकाषायवस्त्रधारिणो ब्रह्मर्षिगृहे मधुमांसं वर्जयित्वाष्टौग्रासान्भैक्षाचरणं कृत्वा योगमार्गे मोक्षमेव प्रार्थयन्ते ॥** (भिक्षुको० श्रु० १) अनन्तर बहूदक नाम संन्यासी त्रिदण्ड, कमण्डलु, शिखा, यज्ञोपवीत और काषायवस्त्र धारण करते हैं और मद्य, मांस को बराकर ब्राह्मण के घर में आठ ग्रास भोजन करके योगमार्ग में मोक्ष की ही प्रार्थना करते हैं ।।१।। **त्रिदण्डं कुण्डिकां चैव भिक्षाधारं तथैव च । सूत्रं तथैव गृह्णीयान्नित्यमेव बहूदकः ॥** (विष्णुस्मृ० अ० ४ श्लो० १७) बहूदक संन्यासी त्रिदण्ड, कुण्डी, भिक्षापात्र, शिखा, यज्ञोपवीत और काषायवस्त्र को सर्वदा ग्रहण करे ।।१७।। **अथ हंसा नाम ग्राम एकरात्रं नगरे पञ्चरात्रं क्षेत्रे सप्तरात्रं तदुपरि न वसेयुः गोमूत्रगोमयाहारिणो नित्यं चान्द्रायणपरायणा योगमार्गे मोक्षमेव प्रार्थयन्ते ॥** (भिक्षुकोप० श्रु० १) और हंस नामक संन्यासी ग्राम में एक रात्रि तथा नगर में पाँच रात्रि और क्षेत्र में सात रात्रि से अधिक निवास न करे और समय समय पर गोमूत्र तथा गोमय आहार करते हुए सर्वदा चान्द्रायणव्रत में तत्पर रहे और योगमार्ग में मोक्ष की ही प्रार्थना करते हैं ।।१।। **यज्ञोपवीतं दण्डं च वस्त्रं जन्तुनिवारणम् । अयं परिग्रहो नान्यो हंसस्य श्रुतिवेदिनः ॥** (विष्णुस्मृ० अ० ४ श्लो० २१) यज्ञोपवीत, त्रिदण्ड, मक्खी, आदिक जीव को निवारण के लिये काषायवस्त्र, हंस सन्यासी का यही परिग्रह है, अन्य नहीं ।।२१।। **अथ परमहंसा नाम संवर्तकारुणिश्वेतकेतुजडभतरदत्तात्रेय शुक वामदेव हारीतकप्रभृतयोऽष्टौ ग्रासांश्चरन्तो योगमार्गे मोक्षमेव प्रार्थयन्ते ॥** (भिक्षुको० श्रु० १) और परमहंस नामक सन्यासी संवर्तक १, आरुणि २, श्वेतकेतु ३, जडभरत ४, दत्तात्रेय ५, शुकदेव ६, वामदेव ७ और हारीत ८ प्रभृति हैं । ये आठ ग्रास नित्य भोजन करते हुए योगमार्ग में मोक्ष की ही प्रार्थना

करते हैं ॥१॥ **तत्रपरमहंसा नाम संवर्तकारुणि श्वेतकेतुदुर्वासऋभु निदाघ-जडभरत-रैवतक-प्रभृतयः ॥** (जाबालोप० श्रु० ६) उसमें परमहंस नामक संन्यासी संवर्तक १, आरुणि २, श्वेतकेतु ३, दुर्वासा ४, ऋभु ५, निदाघ ६, जडभरत ७ और रैवतक ८ प्रभृति हैं ॥६॥ **त्रिदण्डमुपवीतं च शिखाकाषायमम्बरम् । कमण्डलुश्च भिन्नं हि यतीनां तु विधीयते ॥** (पराशरीयधर्मशास्त्र० उत्तरखं अ० ५ श्लो० १३) त्रिदण्ड तथा यज्ञोपवीत और शिखा तथा काषायवस्त्र और कमण्डलु ये सब संन्यासियों के लिये भिन्न विधान किये गये हैं ॥१३॥ **एकैक वीतं तु यतीनां ब्रह्मचारिणाम् । गृहिणां च वनस्थानामुपवीतद्वयं स्मृतम् ॥** (वृ हारी० अ० ८ श्लो० ४४) ब्रह्मचारी और संन्यासियों को एक यज्ञोपवीत कहा गया है और गृहस्थ तथा वनस्थों के दो यज्ञोपवीत कहे गये हैं ॥४४॥ **त्रयस्तु वैणवा दण्डा यतेः काषायवाससी ॥** (वृद्धहा० अ० ८ श्लो० ५०) संन्यासी के तीन वेणु के दण्ड और काषायवस्त्र विधान किया गया है ॥५०॥ **यतिस्तर्जन्या शिरोललाटहृदयेषु प्रणवेनैव धारयेत् । परमहंसो ललाटे प्रणवेनैकमूर्ध्वपुण्ड्रं वा धारयेत् ॥** (वासुदेवोप०) संन्यासी तर्जनी अंगुली से शिर तथा ललाट और हृदय में प्रणवमंत्र करके ऊर्ध्वपुण्ड्र को धारण करे और परमहंस संन्यासी ललाट पर प्रणवमंत्र से एक ऊर्ध्वपुण्ड्र को धारण करे ॥ **ऊर्ध्वपुण्ड्रधरोन्यासी भिक्षुकोयेन पूजितः । विष्णुः प्रपूजितस्तेन विष्णुलोके महीयते ॥** (ऊर्ध्वपुण्ड्रोप० खं० ५ श्रु० १३) **विष्णुचन्दनोर्ध्वपुण्ड्रं भाले स्वस्य च योलिखेत् । ब्रह्मविद् ब्राह्मणो विद्वान् त्रिदण्डी मोक्षमश्नुते ॥१४॥** ऊर्ध्वपुण्ड्रधारण करने वाले संन्यासी की जो पूजा करता है वह विष्णुभगवान् की पूजा करता है और वह पूजक विष्णुलोक में पूजित होता है ॥१३॥ जो ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण त्रिदण्डी सन्यासी अपने ललाट पर ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक धारण करता है वह संन्यासी मोक्ष को प्राप्त करता है ॥१४॥ इन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि सब संन्यासी त्रिदण्ड, कमण्डलु, शिखा, यज्ञोपवीत, काषायवस्त्र और ऊर्ध्वपुण्ड्र को सर्वदा धारण करें । श्रुति सदर्थकार भगवद्रामानुजाचार्य ने ॥ **अन्तराभूतग्रामवत्स्वात्मनोऽन्यथा भेदानुपपत्तिरिति चेन्नोपदेशवत् ॥** (शा० मी० अ० ३ पा० ३ सू० ३५) **व्यतिहारो विशिंषन्ति हीतरवत् ॥** (शा० मी० अ० ३ पा० ३ सू० ३६) **सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत् ॥** (शा० मी० अ० ३ पा० ४ सू० ४६) **मौनवदितरेषामप्युपदेशात् ॥** (शा० मी० अ० ३ पा० ४ सू० ४८) **अनाविष्कुर्वन्नन्वयात् ॥** (शा० मी० अ० ३ पा० ४ सू० ४९) इन पाँच सूत्रों के श्रीभाष्य में "बृहदारण्यकोपनिषद्" के तृतीय अध्याय के पञ्चमब्राह्मण की प्रथम कण्डिका के पदों को उद्धृत किया है। यहाँ पर "बृहदारण्यकोपनिषद्" के तृतीय अध्याय का पञ्चम कहोलब्राह्मण समाप्त हो

गया ॥१॥

॥ अथ षष्ठं ब्राह्मणम् ॥

अथ हैनं गार्गीवाचक्नवी पप्रच्छ । याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदं सर्वमप्स्वोतं च प्रोतं चेति कस्मिन्नु खल्वापओताश्च प्रोताश्चेति वायौ गार्गीति कस्मिन्नु खलु वायुरोतश्च प्रोतश्चेत्यन्तरिक्षलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खल्वन्तरिक्षलोका ओताश्च प्रोताश्चेति गन्धर्वलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु गन्धर्वलोका ओताश्च प्रोताश्चेत्यादित्यलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खल्वादित्यलोका ओताश्च प्रोताश्चेति चन्द्रलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु चन्द्रलोका ओताश्च प्रोताश्चेति नक्षत्रलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु नक्षत्रलोका ओताश्च प्रोताश्चेति देवलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु देवलोका ओताश्च प्रोताश्चेतीन्द्रलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खल्विन्द्रलोका ओताश्च प्रोताश्चेति प्रजापतिलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु प्रजापतिलोका ओताश्च प्रोताश्चेति ब्रह्मलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु ब्रह्मलोका ओताश्च प्रोताश्चेति । स होवाच गार्गि माऽतिप्राक्षी र्मा ते मूर्धा व्यपप्तत् । अनतिप्रश्न्यां वै देवतामतिपृच्छसि गार्गि माऽतिप्राक्षीरिति । ततो ह गार्गी वाचक्नव्युपरराम ॥१॥

॥ इति तृतीयाध्याये षष्ठं ब्राह्मणम् ॥

अन्वयार्थ— (अथ) कहोल के चुप होने के बाद (वाचक्नवी)

वचक्नुऋषि की पुत्री (गार्गी) गार्गी नाम वाली (ह) सुप्रसिद्ध (एनम्) इस याज्ञवल्क्य से (पप्रच्छ) पूछी की (याज्ञवल्क्य) हे याज्ञवल्क्य (इत्ति) ऐसा सम्बोधन करके (ह) सुप्रसिद्धा गार्गी देवी (उवाच) बोली कि (यत्) जो (इदम्) यह (सर्वम्) सब पार्थिव धातु समुदाय है वह (अप्सु) कारणभूत जलों में (ओतम्) वस्त्र की लम्बाई के तन्तु के समान ओत है (च) और (प्रोतम्) वस्त्र की चौड़ाई के तन्तु के समान प्रोत है, नहीं तो यह सत्तू की मुट्ठी के समान छिन्नभिन्न हो जाता (च) परन्तु (खलु) निश्चय करके (नु) वितर्क से (आप:; जल (कस्मिन्) किसमें (ओता:) ओत हैं (च) और (प्रोता:) प्रोत (च) भी हैं (इति) यह मेरा प्रश्न है (इति) इस प्रश्न को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (गार्गि) हे गार्गि (वायौ) वायु में जल ओत और प्रोत है (इति) इस उत्तर को सुनकर फिर गार्गी पूछी कि (वायु:) वायु (खलु) निश्चय करके (नु) वितर्क से (कस्मिन्) किस में (ओत:) ओत है (च) और (प्रोत:) प्रोत (च) भी है (इति) इस प्रश्न को सुनकर पुन: याज्ञवल्क्य ने कहा कि (गार्गि) हे गार्गि (अन्तरिक्षलोकेषु) अन्तरिक्ष लोकों में वायु ओत और प्रोत है (इति) इस उत्तर को सुनकर फिर गार्गी पूछी कि (अन्तरिक्षलोका:) अन्तरिक्षलोक (खलु) निश्चय करके (नु) वितर्क से (कस्मिन्) किस में (ओता:) ओत हैं (च) और (प्रोता:) प्रोत (च) भी हैं (इति) इस प्रश्न को सुनकर पुन: याज्ञवल्क्य ने कहा कि (गार्गि) हे गार्गि (गन्धर्वलोकषु) गन्धर्वलोकों में अन्तरिक्षलोक ओत और प्रोत हैं (इति) इस उत्तर को सुनकर फिर गार्गी पूछी कि (गन्धर्वलोका:) (खलु) निश्चय करके (नु) वितर्क से (कस्मिन्) किसमें (ओता:) ओत हैं (च) और (प्रोता:) प्रोत (च) भी हैं (इति) इस प्रश्न को सुनकर पुन: याज्ञवल्क्य ने कहा कि (गार्गि) हे गार्गि (आदित्यलोकेषु) आदित्यलोकों में गन्धर्वलोक ओत और प्रोत हैं (इति) इस उत्तर को सुनकर फिर गार्गी पूछी कि (आदित्यलोका:) आदित्यलोक (खलु) निश्चय करके (नु) वितर्क से (कस्मिन्) किसमें (ओता:) ओत हैं (च) और (प्रोता:) प्रोत (च) भी हैं (इति) इस प्रश्न को सुनकर पुन: याज्ञवल्क्य ने कहा कि (गार्गि) हे गार्गि (चन्द्रलोकेषु) चन्द्रलोकों में आदित्यलोक ओत और प्रोत हैं (इति) इस उत्तर को सुनकर फिर गार्गी पूछी कि (चन्द्रलोका:) चन्द्रलोक (खलु) निश्चय करके (नु) वितर्क से (कस्मिन्) किसमें (ओता:) ओत हैं (च) और (प्रोता:) प्रोत (च) भी हैं (इति) इस प्रश्न को सुनकर पुन: याज्ञवल्क्य ने कहा कि (गार्गि) हे गार्गि (नक्षत्रलोकेषु) नक्षत्रलोक में चन्द्रलोक ओत और प्रोत हैं (इति) इस उत्तर को सुनकर फिर गार्गी पूछी कि (नक्षत्रलोका:) नक्षत्रलोक (खलु) निश्चय करके (नु) वितर्क से (कस्मिन्) किस में (ओता:) ओत हैं (च) और (प्रोता:) प्रोत (च) भी हैं (इति) इस प्रश्न को

सुनकर पुनः याज्ञवल्क्य ने कहा कि (गार्गि) हे गार्गि (देवलोकेषु) देवलोकों में नक्षत्रलोक ओत और प्रोत हैं (इति) इस उत्तर को सुनकर फिर गार्गी पूछी कि (देवलोकाः) देवलोक (खलु) निश्चय करके (नु) वितर्क से (कस्मिन्) किसमें (ओताः) ओत हैं (च) और (प्रोताः) प्रोत (च) भी हैं (इति) इस प्रश्न को सुनकर पुनः याज्ञवल्क्य ने कहा कि (गार्गि) हे गार्गि (इन्द्रलोकेषु) इन्द्रलोकों में देवलोक ओत और प्रोत हैं (इति) इस उत्तर को सुनकर फिर गार्गी पूछी कि (इन्द्रलोकाः) इन्द्रलोक (खलु) निश्चय करके (नु) वितर्क से (कस्मिन्) किसमें (ओताः) ओत हैं (च) और (प्रोताः) प्रोत (च) भी हैं (इति) इस प्रश्न को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (गार्गि) हे गार्गि (प्रजापतिलोकेषु) प्रजापति के लोकों में इन्द्रलोक ओत और प्रोत हैं (इति) इस उत्तर को सुनकर फिर गार्गी पूछी कि (प्रजापतिलोकाः) प्रजापतिलोक (खलु) निश्चय करके (नु) वितर्क से (कस्मिन्) किसमें (ओताः) ओत हैं (च) और (प्रोताः) प्रोत (च) भी हैं (इति) इस प्रश्न को सुनकर पुनः याज्ञवल्क्य ने कहा कि (गार्गि) हे गार्गि (ब्रह्मलोकेषु) ब्रह्मलोक में प्रजापतिलोक ओत और प्रोत हैं (इति) इस उत्तर को सुनकर फिर गार्गी पूछी कि (ब्रह्मलोकाः) ब्रह्मलोक (खलु) निश्चय करके (नु) वितर्क से (कस्मिन्) किसमें (ओताः) ओत हैं (च) और (प्रोताः) प्रोत (च) भी हैं (इति) इस प्रश्न को सुनकर (ह) सुप्रसिद्ध (सः) उस याज्ञवल्क्य ने (उवाच) कहा कि (गार्गि) हे गार्गि (अति) ब्रह्मलोक को अतिक्रमण करके (मा प्राक्षीः) तू मत पूछ इस प्रकार पूछने से (ते) तेरा (मूर्धा) मस्तक (मा) मत (व्यपप्तत्) विस्पष्ट गिर जाय (वै) निश्चय करके (अनतिप्रश्न्याम्) आक्षेप मुख से नहीं जाननेयोग्य (देवताम्) देवता को (अतिपृच्छसि) आक्षेप मुख से अतिप्रश्न कर रही है (गार्गि) हे गार्गि (इति) इस प्रकार (अति) शास्त्र की मर्यादा को अतिक्रमण करके (मा प्राक्षीः) बहुत प्रश्न मत करो (ततः) उसके बाद (ह) प्रसिद्ध ब्रह्मवादिनी (वाचक्नवी) वचक्नुऋषि की पुत्री (गार्गी) गार्गी देवी (उपरराम) चुप हो गई ॥१॥

विशेषार्थ– कहोल नामक ब्राह्मण के चुप होने के पश्चात् वचक्नुऋषि की कन्या श्रीमती ब्रह्मवादिनी गार्गी ने सुप्रसिद्ध इस आचार्य याज्ञवल्क्य से पूछा कि– हे याज्ञवल्क्य ! ऐसा सम्बोधन करके सुप्रसिद्ध गार्गी ने कहा कि– यह जो कुछ पार्थिव धातु समुदाय है वह सब कारणभूतजलों में वस्त्र की लम्बाई के तन्तु के समान ओत है और वस्त्र की चौड़ाई के तन्तु के समान प्रोत है अर्थात् जिस प्रकार कपड़े में ताना और बाना दोनों प्रकार के सूत परस्पर ग्रथित रहते हैं वैसे ही जल में यह सब दृश्यमान पार्थिव पदार्थ ग्रथित हैं, नहीं तो यह सत्तू की मुट्ठी के समान छिन्न भिन्न हो जाता ।

ऐसा शास्त्र कहता है । परन्तु वह जल किसमें ओत और प्रोत है ? इस प्रश्न को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– हे गार्गि वह जल वायु में ओत और प्रोत है। इस उत्तर को सुनकर पुनः गार्गी ने पूछा कि– हे याज्ञवल्क्य ! वह वायु किसमें ओत और प्रोत है ? इस प्रश्न को सुनकर पुनः आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– हे गार्गि ! वह वायु अन्तरिक्षलोक में ओत और प्रोत है । इस उत्तर को सुनकर फिर गार्गी ने पूछा कि– हे याज्ञवल्क्य ! वह अन्तरिक्षलोक किसमें ओत और प्रोत है ? इस प्रश्न को सुनकर पुनः आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– हे गार्गि ! वह अन्तरिक्षलोक गन्धर्वलोक में ओत और प्रोत है । इस उत्तर को सुनकर फिर गार्गी ने पूछा कि– हे याज्ञवल्क्य ! वह गन्धर्वलोक किसमें ओत और प्रोत है ? इस प्रश्न को सुनकर पुनः आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– हे गार्गि ! वह गन्धर्वलोक आदित्यलोक में ओत और प्रोत है । इस उत्तर को सुनकर फिर गार्गी ने पूछा कि– हे याज्ञवल्क्य ! वह आदित्यलोक किसमें ओत और प्रोत है ? इस प्रश्न को सुनकर पुनः आचार्य याज्ञवल्क्य ने काह कि– हे गार्गि ! वह आदित्यलोक चन्द्रलोक में ओत और प्रोत है। इस उत्तर को सुनकर फिर गार्गी ने कहा कि– हे याज्ञवल्क्य ! वह चन्द्रलोक किसमें ओत और प्रोत है ? इस प्रश्न को सुनकर पुनः याज्ञवल्क्य ने कहा कि– हे गार्गि ! वह चन्द्रलोक नक्षत्रलोक में ओत और प्रोत है । इस उत्तर को सुनकर फिर गार्गि ने पूछा कि– हे याज्ञवल्क्य ! वह नक्षत्रलोक किसमें ओत और प्रोत है ? इस प्रश्न को सुनकर पुनः आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– हे गार्गि ! वह नक्षत्रलोक देवलोक में ओत और प्रोत है। इस उत्तर को सुनकर फिर गार्गी ने पूछा कि– हे याज्ञवल्क्य ! वह देवलोक किसमें ओत और प्रोत है । इस प्रश्न को सुनकर पुनः आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– हे गार्गि ! वह देवलोक इन्द्रलोक में ओत और प्रोत है। इस उत्तर को सुनकर फिर गार्गी ने पूछा कि– हे याज्ञवल्क्य ! वह इन्द्रलोक किसमें ओत और प्रोत है ? इस प्रश्न को सुनकर पुनः आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– हे गार्गि ! वह इन्द्रलोक प्रजापतिलोक में ओत और प्रोत है । इस उत्तर को सुनकर फिर गार्गी ने पूछा कि– हे याज्ञवल्क्य ! वह प्रजापतिलोक किसमे ओत और प्रोत है ? इस प्रश्न को सुनकर पुनः याज्ञवल्क्य ने कहा कि– हे गार्गि ! वह प्रजापतिलोक परब्रह्म–नारायणलोक में ओत.और प्रोत है । इस उत्तर को सुनकर फिर गार्गी ने पूछा कि– हे याज्ञवल्क्य ! वह परब्रह्मनारायणलोक किसमें ओत और प्रोत है ? इस प्रश्न को सुनकर दूरदृष्टियुक्त सुप्रसिद्ध आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– हे गार्गि ! परब्रह्म के लोक को अतिक्रमण करके अतिप्रश्न मत करो । अति सर्वत्र वर्जित है । ब्रह्मलोक से परे कोई लोक नहीं है । अतः जो प्रश्न नहीं करना चाहिये वह तुम पूछ रही हो

सो उचित नहीं है। इस प्रकार पूछने से तेरा मस्तक देह से पृथक् होकर गिर न जाय। नियमादि उपेत प्रश्न की मर्यादा को अतिक्रमण करके वर्तमान जो प्रश्न है उसको अति प्रश्न कहते हैं और अति प्रश्न के योग्य जो हो उसको अति प्रश्न्या कहते हैं जो अतिप्रश्न्या न हो उसको अनतिप्रश्न्या कहते हैं। अर्थात् हे गार्गि ! निश्चय करके आक्षेपमुख से नहीं जानने योग्य देवता को आक्षेपमुख से जानने के लिये इच्छा करती हो। क्योंकि अतिप्रश्न कर रही हो। हे गार्गि ! इस प्रकार शास्त्र की मर्यादा को अतिक्रमण करके बहुत प्रश्न मत करो। यद्यपि यहाँ पर गार्गी का प्रश्न ब्रह्मलोकाधारविषयक है पर देवता विषयक नहीं है तथापि त्रिकालज्ञ आचार्य याज्ञवल्क्य भविष्यको दूरदृष्टि के द्वारा समझ कर कि इस प्रश्न के बाद यह पर देवता विषयक प्रश्न करेगी। अतः याज्ञवल्क्य ने पूर्वोक्त उत्तर दिया है। याज्ञवल्क्य का इस प्रकार समाधान सुनकर वह ब्रह्मवादिनी वचक्नुऋषि की पुत्री गार्गी चुप हो गई। यहाँ पर "बृहदारण्योकोपनिषद्" के तृतीय अध्याय का षष्ठ गार्गीब्राह्मण समाप्त हो गया ॥१॥

॥ अथ सप्तमम् ब्राह्मणम् ॥

अथ हैनमुद्दालक आरुणिः पप्रच्छ। याज्ञवल्क्येति होवाच मद्रेष्वसाम पतञ्चलस्य काप्यस्य गृहेषु यज्ञमधीयानाः। तस्याऽऽसीद्भार्या गन्धर्वगृहीता तमपृच्छाम कोऽसीति सोऽब्रवीत् कबन्ध आथर्वण इति। साऽब्रवीत्पतञ्चलंकाप्यं याज्ञिकांश्च। वेत्थ नु त्वं काप्य तत्सूत्रं येनायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि भूतानि संदृब्धानि भवन्तीति। सोऽब्रवीत्पतञ्चलः काप्यो नाहं तद्भगवन्वेदेति। सोऽब्रवीत्पतञ्चलं काप्यं याज्ञिकांश्च वेत्थ नु त्वं काप्य तमन्तर्यामिणं य इमं च लोकं च परं च लोकं च सर्वाणि भूतानि चान्तरो यमयतीति सोऽब्रवीत्पतञ्चलः काप्यो नाहं तं भगवन्वेदेति सोऽब्रवीत्पतञ्चलं काप्यं याज्ञिकांश्च यो वै तत्काप्य सूत्रं विद्यात्तं चान्तर्यामिणमिति। स

ब्रह्मवित्सलोकवित्स देववित्स वेदवित्स भूतवित्स आत्मवित्स सर्वविदिति । तेभ्योऽब्रवीत्तदहं वेद । तच्चेत्त्वं याज्ञवल्क्य सूत्रमविद्वाँस्तं चान्तर्यामिणं ब्रह्मगवीरुदजसे मूर्धा ते विपतिष्यतीति वेद वा अहं गौतम तत्सूत्रं तं चान्तर्यामिणमिति । यो वा इदं कश्चिद् ब्रूयाद्वेद वेदेति । यथा वेत्थ तथा ब्रूहीति ॥१॥

अन्वयार्थ– (अथ) गार्गी के चुप हो जाने कि बाद (आरुणिः) अरुण ऋषि के पुत्र (उद्दालकः) उद्दालक नामक ब्राह्मण ने (ह) सुप्रसिद्ध (एनम्) इस याज्ञवल्क्य से (पप्रच्छ) पूछा कि (याज्ञवल्क्य) हे याज्ञवल्क्य (इति) ऐसा सम्बोधन करके (ह) प्रसिद्ध उद्दालक (उवाच) बोला कि हम (मद्रेषु) मद्रदेश में (काप्यस्य) कपिगोत्रोत्पन्न (पतञ्चलस्य) पतञ्चल नामक विद्वान् के (गृहेषु) घर पर (यज्ञम्) यज्ञशास्त्र को यानी कल्पसूत्र को (अधीयानः) पढ़ते हुए (अवसाम) ठहरे हुए थे (तस्य) उस पतञ्चल की (भार्या) धर्मपत्नी (गनधर्वगृहीता) गन्धर्व से गृहीत थी अर्थात् उसपर गन्धर्व का आवेश था (तम्) उस गन्धर्व से (अपृच्छाम) हमने पूछा कि (कः) कौन (असि) तू है (इति) इस वचन को सुनकर (सः) उस गन्धर्व ने (अब्रवीत्) कहा कि (आथर्वणः) अथर्वा ऋषि का पुत्र (कबन्धः) कबन्ध (इति) ऐसा नामवाला मैं हूँ (सः) वह गन्धर्व (काप्यम्) कपि गोत्रोत्पन्न (पतञ्चलम्) पतञ्चल नामक विद्वान् से (च) और (याज्ञिकान्) यज्ञशास्त्र के अध्ययन करने वाले हमसे तथा अध्यापकों से (अब्रवीत्) कहा कि (काप्य) हे कपिगोत्रोत्पन्न पतञ्चल (नु) क्या (त्वम्) तू (तत्) उस (सूत्रम्) सूत्र को (वेत्थ) जानता है (येन) जिस सूत्र से (अयम्) यह दृश्यमान (लोकः) लोक (च) और (परः) पर (लोकः) लोक (च) तथा (सर्वाणि) ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त सम्पूर्ण (भूतानि) जीव (संदृब्धानि) सूत्र से माला के समान सम्यक् प्रकार से ग्रथित (भवन्ति) होते हैं (इति) इस प्रश्न को सुनकर (सः) वह (काप्यः) कपिगोत्रोत्पन्न (पतञ्चलः) पतञ्चल ने (अब्रवीत्) कहा कि (भगवन्) हे षडैश्वर्यसंपन्न (अहम्) मैं (तत्) उस सूत्र को (न) नहीं (वेद) जानता हूँ (इति) इस प्रकार कहने पर तो फिर (सः) उस गन्धर्व ने (काप्यम्) कपिगोत्रोत्पन्न (पतञ्चलम्) पतञ्चल नारमक विद्वान् से (च) और (याज्ञिकान्) यज्ञशास्त्र के अध्ययन करनेवाले हम से तथा अध्यापकों से (अब्रवीत्) कहा कि (काप्य) हे कपिगोत्रोत्पन्नपतञ्चल (नु)

क्या (त्वम्) तुम (तम्) उस (अन्तर्यामिणम्) अन्तर्यामी को (वेत्थ) जानते हो (यः) जो अन्तर्यामी (इमम्) इस दृश्यमान (लोकम्) लोक को (च) और (परम्) पर (लोकम्) लोक को (च) तथा (सर्वाणि) ब्रह्मादिस्तम्ब पर्यन्तसंपूर्ण (भूतानि) प्राणियों को (च) भी (अन्तरः) भीतर रहकर (यमयति) काष्ठयंत्रके समान अपने अपने उचित नियम में रखता है (इति) इस प्रश्न को सुनकर (सः) वह (काप्यः) कपिगोत्रोत्पन्नः (पतञ्चलः) पतञ्चल ने (अब्रवीत्) कहा कि (भगवन्) हे षडैश्वर्यसंपन्न भगवन् (अहम्) मैं (तम्) उस अन्तर्यामी को (न) नहीं (वेद) जानता हूँ (इति) इस प्रकार कहने पर तो फिर (सः) उस गन्धर्व ने (काप्यम्) कपिगोत्रोत्पन्न (पतञ्चलम्) पतञ्चल से (च) और (याज्ञिकान्) यज्ञशास्त्र को अध्ययन करने वाले हमसे (अब्रवीत्) कहा कि (काप्य) हे कपिगोत्रोत्पन्न पतञ्चल तुममें से (वै) निश्चय करके (यः) जो कोई विद्वान् (तत्) उस (सूत्रम्)सूत्र को (च) और (तम्) उस (अन्तर्यामिणम्) अन्तर्यामी पुरुष को (इति) इस उक्त प्रकार से (विद्यात्) जान ले (सः) वह (ब्रह्मवित्) परब्रह्म नारायण को जाननेवाला है और (सः) वह (लोकवित्) भूरादिलोकों को जानता है तथा (सः) वह (देववित्)अग्नि, सूर्य आदिक देवों को जाननेवाला है और (सः) वह (वेदवित्) सब के प्रमाणभूत ऋग्, यजुः, साम, अथर्व वेदों को जानता है (सः) वह (भूतवित्) ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त समस्त प्राणियों को जानता है और (सः) वह (आत्मवित्) जीवात्मा और परमात्मा को जाननेवाला है तथा (सः) वह (सर्ववित्) सम्पूर्ण स्थावर, जङ्गम जगत् को जानता है (इति) इस प्रकार कहकर वह गन्धर्व (तेभ्यः) उन हमलोगों से उस सूत्र को और अन्तर्यामी को (अब्रवीत्) कहा (अहम्) मैं गन्धर्व के उपदेश से (तत्) उस सूत्र को और अन्तर्यामी पुरुष को (वेद) जानता हूँ (याज्ञवल्क्य) हे याज्ञवल्क्य (तत्) उस (सूत्रम्) सूत्र को (च) और (तम्) उस (अन्तर्यामिणम्) अन्तर्यामी को (अविद्वान्) नहीं जानते हुए (त्वम्) तुम (चेत्) यदि (ब्रह्मगवीः) ब्रह्मविद्या के पणबन्धभूत गौओं को (उदजसे) अन्याय से ले जाओगे तो मेरे शाप से (ते) तेरा (मूर्धा) शिर (विपतिष्यति) अवश्य ही गिर जायगा (इति) इस बात को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (गौतम) हे गौतमगोत्रोत्पन्न उद्दालक (वै) निश्चय करके (अहम्) मैं (तत्) उस (सूत्रम्) सूत्र को (च) और (तम्) उस (अन्तर्यामिणम्) अन्तर्यामी को (वेद) जानता हूँ (इति) इस वाक्य को सुनकर उद्दालक ने कहा कि (यः) जो (कश्चित्) कोई साधारण पुरुष भी (वै) निश्चय करके (इदम्) इस बात को (ब्रूयात्) कह सकता है कि (इति) इसको (वेद) मैं जानता हूँ (वेद) मैं जानता हूँ इस व्यर्थ गर्जन से क्या लाभ है (यथा) जैसा (वेत्थ) तुम जानते हो (तथा) वैसा (ब्रूहि) तुम कहो (इति) यह मेरा विज्ञापन है, वञ्चना मत करो ।।१।।

विशेषार्थ— श्रीमती गार्गी के चुप हो जाने के बाद अरुणऋषि के पुत्र उद्दालक नामक ऋषि ने सुप्रसिद्ध इस आचार्य याज्ञवल्क्य से पूछा कि— हे याज्ञवल्क्य ! ऐसा सम्बोधन करके उस सुप्रसिद्ध उद्दालक ने कहा कि— हम मद्रदेश में कपिगोत्रीय पतञ्चल नामक विद्वान् के गृह पर यज्ञशास्त्र यानी कल्पसूत्र का अध्ययन करते हुए रहते थे। उद्दालक के विषय में लिखा है— **उद्दारयतीति उद्रू तो भूत्वा दारयतीति उद्दालकः ॥** इस व्युत्पत्ति से जो उद्गत अर्थात् दृढसंनद्ध होके काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य को विदारित यानी विनष्ट करे उसे उद्दालक कहते हैं। उस पतञ्चल की धर्मपत्नी गन्धर्वगृहीत थी, अर्थात् उसपर गन्धर्व का आवेश था। देवगायाकों को गन्धर्व कहते हैं। गन्धर्व के विषय में लिखा है— **स्त्रीकामाः गन्धर्वाः ॥** (श्रुति) स्त्री की कामनावाले गन्धर्व होते हैं। उस गन्धर्व से हमने पूछा कि— "तुम कौन हो" इस वचन को सुनकर उस गन्धर्व ने उत्तर दिया कि— अथर्वा ऋषि का पुत्र कबन्ध नामवाला मैं हूँ। कबन्ध के विषय में लिखा है— **कं सुखं वा ब्रह्माण्डं वा बध्नातीति कबन्धः ॥** इस व्युत्पत्ति से, जो सुखी हो अथवा ब्रह्माण्ड के तत्त्व को जाने उसे कबन्ध कहते हैं। उस कबन्ध नामक गन्धर्व ने कपिगोत्रीय पतञ्चल नामक विद्वान् से और यज्ञशास्त्र यानी कल्पसूत्र को अध्ययन करनेवाले हमलोगों से कहा कि— हे कपिगोत्रोत्पन्न पतञ्चल ! क्या तुम उस सूत्र को जानते हो ? जिस सूत्र के द्वारा यह दृश्यमान भूलोक और परलोक तथा ब्रह्मा से लकर स्तम्बपर्यन्त सम्पूर्ण जीव सूत्र से माला के समान सम्यक् प्रकार से ग्रथित होते हैं ? इस प्रश्न को सुनकर उस कपिगोत्रोत्पन्न पतञ्चल ने कहा कि— हे षडैश्वर्यसम्पन्न भगवन् ! मैं इस सूत्र को नहीं जानता हूँ। इस प्रकार कहने पर तो फिर उस कबन्ध नामक गन्धर्व ने कपिगोत्रीय पतञ्चल नामक विद्वान् से और यज्ञशास्त्र यानी कल्पसूत्र को अध्ययन करनेवाले हमलोगों से कहा कि— हे कपिगोत्रोत्पन्न पतञ्चल ! क्या तुम उस अन्तर्यामी पुरुष को जानते हो ? जो अन्तर्यामी इस दृश्यमानलोक को और परलोक को तथा ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त सम्पूर्ण प्राणियों के भीतर रहकर काष्ठयंत्र के समान अपने अपने उचित नियम में रखता है ? इस प्रश्न को भी सुनकर कपिगोत्रीय पतञ्चल ने कहा कि— हे षडैश्वर्यसम्पन्न भगवन् ! मैं उस अन्तर्यामी पुरुष को नहीं जानता हूँ। इस प्रकार कहने पर तो फिर उस कबन्ध नामक गन्धर्व ने कपिगोत्रोत्पन्न पतञ्चल से और यज्ञशास्त्र यानी कल्पसूत्र को अध्ययन करनेवाले हमलोगों से कहा कि— हे कपिगोत्रीय पतञ्चल ! तुमलोगों में से निश्चय करके जो कोई भी उस सूत्र को और उस अन्तर्यामी पुरुष को इस उक्त प्रकार से जानता है वही परब्रह्मनारायण को जानता है। और वही अन्तर्यामी से नियम्यमान भूः, भुवः, स्वः प्रभृति लाकों को जानता है तथा वही अग्नि, वायु, सूर्य आदिक देवताओं को जानता है और वही सबके

प्रमाणभूत ऋग्, यजुः, साम, अथर्व वेदों को जानता है तथा वही जीवात्मा और परमात्मा को जाननेवाला है ; तथा वही समस्त चराचर जगत् को जानता है । इस प्रकार कहकर उस गन्धर्व ने अभिमुख हुए उन हमलोगों से उस सूत्र को और उस अन्तर्यामी पुरुष को कहा । हे याज्ञवल्क्य ! मै गन्धर्व आचार्य के उपदेश से उस सूत्र को और उस अन्तर्यामी पुरुष को जानता हूँ । अतः हे याज्ञवल्क्य ! उस सूत्र को और उस अन्तर्यामी पुरुष को नहीं जानते हुए तुम यदि ब्रह्मविद्या की पणबन्धभूत गौओं को अन्याय से ले जाओगे तो मेरे शाप से तुम्हारा मस्तक निश्चय ही गर्दन से टूटकर गिर पड़ेगा । इस वाक्य को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– हे गौतमगोत्रोत्पन्न उद्दालक ! तुमलोगों से जिस सूत्र को और जिस अन्तर्यामी पुरुष को गन्धर्व ने कहा है निश्चय करके उस सूत्र को और उस अन्तर्यामी पुरुष को भी मैं जानता हूँ। इस वाक्य को सुनकर उद्दालक ने कहा कि– जोकोई साधारण पुरुष भी है निश्चय करके वह इस बात को कह सकता है कि– उस सूत्र को मैं जानता हूँ; उस अन्तर्यामी पुरुष को मैं जानता हूँ । परन्तु उसके उस गर्जन से क्या लाभ है । तुम उसको स्पष्ट जैसा जानते हो वैसा कहो यही मेरा विज्ञापन है । सर्वदर्शनमर्मवेत्ताभगवद्रामानुजाचार्य ने । **अन्तर्याम्यधिदैवाधिलोकादिषु तद्धर्मव्यपदेशात्** ॥ (शा॰ मी॰ अ॰ १ पा॰ २ सू॰ १९) के श्रीभाष्य में "बृहदारण्यकोपनिषद्" के तृतीय अध्याय के सप्तम ब्राह्मण की प्रथम कण्डिका के पदों को उद्धृत किया है ॥१॥

स होवाच वायुर्वै गौतम तत्सूत्रं वायुना वै गौतम सूत्रेणायं च लोकः परश्चलोकः सर्वाणि च भूतानि संदृब्धानि भवन्ति तस्माद्वै गौतम पुरुषं प्रेतमाहु र्व्यस्त्रंसिषतास्याङ्गानीति वायुना हि गौतम सूत्रेण संदृब्धानि भवन्तीति । एवमेवैतद्याज्ञवल्क्य । अन्तर्यामिणं ब्रूहीति ॥२॥

अन्वयार्थ– (ह) सुप्रसिद्ध (सः) उस याज्ञवल्क्य ने (उवाच) कहा कि (गौतम) हे गौतमगोत्रोत्पन्न उद्दालक (वै) निश्चय करके (वायुः) वायु ही (तत्) वह (सूत्रम्) सूत्र है (वै) निश्चय करके (गौतम) हे गौतमगोत्रोत्पन्न उद्दालक (वायुना) वायुरूप (सूत्रेण) सूत्र से (अयम्) यह दृश्यमान (लोकः) लोक (च) और (परः) पर (लोकः) लोक (च) भी (च) और (सर्वाणि) ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तसंपूर्ण (भूतानि)

प्राणी (संदृब्धनि) संग्रथित (भवन्ति) हैं (तस्मात्) इसी कारण से (वै) निश्चय करके (गौतम) हे गौतमगोत्रोत्पन्न उद्दालक (प्रेतम्) मरे हुए (पुरुषम्) पुरुष को (इति) ऐसा (आहुः) मनुष्य कहते हैं कि (अस्य) इस मृतक पुरुष के (अङ्गानि) अवव्यव (व्यस्त्रंसिषत) विस्त्रस्त हो गये हैं अर्थात् जैसे माला से सूत्र के निकल जाने पर फूल इधर उधरछितरा जाते हैं वैसे ही वायुरूपसूत्र से रहित सब अङ्ग विशीर्ण हो जाते हैं (हि) क्योंकि (गौतम) हे गौतमगोत्रोत्पन्न उद्दालक (वायुना) वायुरूप (सूत्रेण) सूत्र से (संदृब्धानि) सब पदार्थ संग्रथित (भवन्ति) हैं (इति) इस समीचीन उत्तर को सुनकर उद्दालक ने कहा कि (याज्ञवल्क्य) है याज्ञवल्क्य (एतद्) यह उत्तर (एवम्) ठीक ऐसा (एव) ही है। अब (अन्तर्यामिणम्) अन्तर्यामी पुरुष को (ब्रूहि) तुम कहो (इति) यह मेरा दूसरा प्रश्न है।।२।।

विशेषार्थ— सुप्रसिद्ध उस आचार्य याज्ञवल्क्य ने सभा में कहा कि— हे गौतमगोत्रोत्पन्न उद्दालक! गन्धर्व ने आपलोगों से जिस सूत्र को कहा है वह वायु ही है इसमें सन्देह नहीं है। निश्चय करके हे गौतमगोत्रोत्पन्न उद्दालक! वायुरूप सूत्र से यह दृश्यमानलोक और परलोक तथा ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्तसम्पूर्ण प्राणी संग्रथित हैं। इसी कारण से निश्चय करके हे गौतमगोत्रोत्पन्न उद्दालक! मरे हुए पुरुष को देखकर सबलोग ऐसा कहते हैं कि— इस मृत पुरुष के अवयव विस्त्रस्त हो गये हैं। अर्थात् जैसे माला से सूत्र के निकल जाने पर पुष्प इधर उधर छितरा जाते हैं वैसे ही वायुरूप सूत्र से रहित समस्त अङ्ग विशीर्ण हो जाते हैं। यहाँ पर "अङ्ग" शब्द अवयव वाचक है। क्योंकि लिखा है— अङ्गं प्रतीकोऽवयवोऽपघनः।। (अमर० कां० २ व० ६ श्लो० ७०) अङ्ग १, प्रतीक २, अवयव ३, अपघन ४ ये अङ्ग के नाम हैं।।७०।। क्योंकि हे गौतमगोत्रोत्पन्न उद्दालक! ये सब पदार्थ वायुरूप सूत्र से संग्रथित हैं। इस प्रकार समीचीन उत्तर को सुनकर उद्दालक ऋषि ने कहा कि— हे याज्ञवल्क्य! यह ठीक ऐसा ही है अर्थात् आपने जो सूत्र का वर्णन किया सो बहुत ही ठीक है। एक प्रश्न का उत्तर तो हो गया। अब तुम अन्तर्यामी पुरुष का वर्णन करो। यह मेरा दूसरा प्रश्न है। यामुनाङ्गुलिमोचक भगद्रामानुजाचार्य ने। अन्तर्याम्यधिदैवाधिलोकादिषु तद्धर्मव्य-पदेशात्।। (शा० मी० अ० १ पा० २ सू० १९) के श्रीभाष्य में "बृहदारण्यकोपनिषद्" के तृतीय अध्याय के सप्तम ब्राह्मण की द्वितीय कण्डिका के "अन्तर्यामिणं ब्रूहि" इस वाक्य को उद्धृत किया है।।२।।

यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त

आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥३॥

अन्वयार्थ– (यः) जो (पृथिव्याम्) पृथ्वी में (तिष्ठन्) रहता हुआ (पृथिव्याः) पृथ्वी के (अन्तरः) भीतर प्रविष्ट है (यम्) जिसको (पृथिवी) पृथ्वी (न) नहीं (वेद) जानती है (यस्य) जिसका (पृथिवी) पृथ्वी (शरीरम्) शरीर है (यः) जो परमेश्वर (अन्तरः) पृथ्वी के भीतर रहकर (पृथिवीम्) पृथ्वी को (यमयति) प्रवृत्ति निवृत्ति लक्षण नियमन करता है (एषः) यही (अन्तर्यामी) अन्तर्यामी (ते) तेरा (अमृतः) निरुपाधिक अमृतत्वशाली (आत्मा) आत्मा यानी परमात्मा है ॥३॥

विशेषार्थ– आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– हे उद्दालक ! जो पृथ्वी में रहता हुआ पृथ्वी के भीतर प्रविष्ट है । जिसको पृथ्वी नहीं जानती है । अर्थात् मेरे अन्दर कोई मेरा शासक रहता है इसको पृथ्वी नहीं जानती है । जिस परमेश्वर का पृथ्वी शरीर है । जो नारायण पृथ्वी के भीतर रहकर पृथ्वी के प्रवृत्ति-निवृत्तिलक्षण नियमन को करता है वही यह अन्तर्यामी तुम्हारा निरुपाधिक अमृतत्वशाली आत्मा है । और "सुबालोपनिषद्" में लिखा है– **अन्तः शरीरे निहितो गुहायामज एको नित्यो यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरेसञ्चरन् यं पृथिवी न वेद ॥** (सुबालो० खं० ७) अजन्मा, नित्य, एक परमात्मा सबके के शरीर में भीतर हृदयरूप गुफा में स्थित है । जिस नारायण का पृथ्वी शरीर है । जो पृथ्वी के भीतर सञ्चार करता हुआ स्थित रहता है । जिसको पृथ्वी नहीं जानती है ॥७॥ मूकान्धमोक्ष -प्रदाता भगवद्रामानुजाचार्य ने । **अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॥** (शा० मी० अ० १ पा० १ सू० १) **आनन्दमयोऽभ्यासात् ॥** (शा० मी० अ० १ पा० १ सू० १३) **अन्तर्याम्यधिदैवाधिलोकादिषु तद्धर्मव्यपदेशात् ॥** (शा० मी० अ० १ पा० २ सू० १९) **प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् ॥** (शा० मी० अ० १ पा० ४ सू० २३) **परिणामात् ॥** (शा० मी० अ० १ पा० ४ सू० २७) **न तुदृष्टन्तभावात् ॥** (शा० मी० अ० २ पा० १ सू० ९) **तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात्सः ॥** (शा० मी० अ० २ पा० ३ सू० १४) **न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि ॥** (शा० मी० अ० ३ पा० २ सू० ११) **भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात् ॥** (शा० मी० अ० ३ पा० २ सू० १२) **अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वम् ॥** (शा० मी० अ० ३ पा० २ सू० १९) **शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथान्येष्विति जैमिनिः ॥** (शा० मी० अ० ३ पा० ४ सू० २) **जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च ॥** (शा० मी० अ० ४ पा० ४ सू० १७) इन बारह सूत्रों के श्रीभाष्य में "बृहदारण्यकोपनिषद्" के तृतीय अध्याय के सप्तम ब्राह्मण की तृतीयकण्डिका के पदों को उद्धृत किया है ॥३॥

योऽप्सु तिष्ठन्नद्भ्योऽन्तरो यमापो नविदु र्यस्याऽऽपः शरीरं योऽपोऽन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ।।४।।

अन्वयार्थ– (यः) जो (अप्सु) जल में (तिष्ठन्) रहता हुआ (अद्भ्यः) जल के (अन्तरः) भीतर प्रविष्ट है (यम्) जिसको (आपः) जल (न) नहीं (विदुः) जानता है (यस्य) जिसका (आपः) जल (शरीरम्) शरीर है (यः) जो परमेश्वर (अन्तरः) जल के भीतर रहकर (अपः) जल को (यमयति) प्रवृति निवृत्तिलक्षण नियमन करता है (एषः) यही (अन्तर्यामी) अन्तर्यामी (ते) तेरा (अमृतः) निरुपाधिक अमृतत्वशाली (आत्मा) आत्मा है यानी परमात्मा है ।।४।।

विशेषार्थ– आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– हे उद्दालक ! जो जल में रहता हुआ जल के भीतर प्रविष्ट है । जिसको जल नहीं जानता है । अर्थात् मेरे अन्दर कोई मेरा शासक रहता है इसको जल नहीं जानता है । जिस परमेश्वर का जल शरीर है । जो नारायण जल के भीतर रहकर जल के प्रवृत्ति निवृत्ति लक्षण नियमन को करता है वही यह अन्तर्यामी तुम्हारा निरुपाधिक अमृतत्वशाली आत्मा है । और ''सुबालोपनिषद्'' में लिखा है– **यस्यापः शरीरं योऽपोऽन्तरे सञ्चरन् यमापो न विदुः ॥** (सुबालोप० खं० ७) जिस नारायण का जल शरीर है । जो जल के भतर सञ्चार करता हुआ स्थित रहता है । जिसको जल नहीं जानता है ।।७।। ब्रह्मराक्षस-मोचक भगवद्रामानुजाचार्य ने । **पयोऽम्बुवच्चेत्तत्रापि ॥** (शा० मी० अ० २ पा० २ सू० २) **तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात्सः ॥** (शा० मी० अ० २ पा० ३ सू० १४) **अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वम् ॥** (शा० मीः अ० ३ पा० २ सू० १९) इन तीन सूत्रों के श्रीभाष्य में ''बृहदारण्यकोपनिषद्'' के तृतीय अध्याय के सप्तम ब्राह्मण की चतुर्थकण्डिका के ''योऽप्सु तिष्ठन्'' इस वाक्य को उद्धृत किया है ।।४।।

योऽग्नौ तिष्ठन्नग्नेरन्तरो यमग्नि र्न वेद यस्याग्निः शरीरं योऽग्निमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ।।५।।

अन्वयार्थ– (यः) जो (अग्नौ) अग्नि में (तिष्ठन्) रहता हुआ (अग्नेः) अग्नि के (अन्तरः) भीतर प्रविष्ट है (यम्) जिसको (अग्निः) अग्नि (न) नहीं (वेद) जानती है (यस्य) जिसका (अग्निः) अग्नि (शरीरम्) शरीर है (यः) जो परमेश्वर (अन्तरः) अग्नि के भीतर रहकर (अग्निम्) अग्नि को (यमयति) प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षण नियमन

करता है (एषः) यही (अन्तर्यामी) अन्तर्यामी (ते) तेरा (अमृतः) निरुपाधिक अमृतत्वशाली (आत्मा) आत्मा है यानी परमात्मा है ।।५।।

विशेषार्थ– आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– हे उद्दालक ! जो अग्नि में रहता हुआ अग्नि के भीतर प्रविष्ट है । जिसको अग्नि नहीं जानती है । अर्थात् मेरे अन्दर कोई मेरा शासक रहता है इसको अग्नि नहीं जानती है । जिस परमेश्वर का अग्नि शरीर है । जो नारायण अग्नि के भीतर रहकर अग्नि के प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षण नियमन को करता है वही यह अन्तर्यामी तुम्हारा निरुपाधिक अमृतत्वशाली आत्मा है । और लिखा है– **यस्य तेजः शरीरं यस्तेजोऽन्तरे सञ्चरन् यं तेजो न वेद ॥** (सुबालोप० खं० ७) जिस नारायण का तेज यानी अग्नि शरीर है। जो अग्नि के भीतर सञ्चार करता हुआ स्थित रहता है। जिसको तेज यानी अग्नि नहीं जानती है।।७।। गोपीमोक्षप्रदाता भगवद्रामानुजाचार्य ने। **ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननात्प्राणवता शब्दात् ॥** (शा० मीं० अ० २ पा० ४ सू० १३) **पूर्वं तु बादरायणो हेतुव्यपदेशात् ॥** (शा० मी० अ० ३ पा० २ सू० ४०) इन दोनों सूत्रों के श्रीभाष्य में "बृहदारण्यकोपनिषद्" के तृतीय अध्याय के सप्तम ब्राह्मण की पाँचवी कण्डिका के पदों को उद्धृत किया है ।।५।।

योऽन्तरिक्षे तिष्ठन्नन्तरिक्षादन्तरो यमन्तरिक्षं न वेद यस्यान्तरिक्षं शरीरं योऽन्तरिक्षमन्तरो यमयत्येष त अत्माऽन्तर्याम्यमृतः ।।६।।

अन्वयार्थ– (यः) जो (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में (तिष्ठन्) रहता हुआ (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष के (अन्तरः) भीतर प्रविष्ट है (यम्) जिसको (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष (न) नहीं (वेद) जानता है (यस्य) जिसका (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष (शरीरम्) शरीर है (यः) जो परमेश्वर (अन्तरः) अन्तरिक्ष के भीतर रहकर (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष को (यमयति) प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षण नियमन करता है (एषः) यही (अन्तर्यामी) अन्तर्यामी (ते) तेरा (अमृतः) निरुपाधिक अमृतत्वशाली (आत्मा) आत्मा है ।।६।।

विशेषार्थ– आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– हे उद्दालक ! जो अन्तरिक्ष में रहता हुआ अन्तरिक्ष के भीतर प्रविष्ट है । जिसको अन्तरिक्ष नहीं जानता है । अर्थात् मेरे अन्दर कोई मेरा शासक रहता है इसको अन्तरिक्ष नहीं जानता है । जिस परमेश्वर का अन्तरिक्ष शरीर है। जो नारायण अन्तरिक्ष के भीतर रहकर अन्तरिक्ष के प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षण नियमन को करता है, वही यह अन्तर्यामी तुम्हारा निरुपाधिक

अमृतत्वशाली आत्मा है। काषायवस्त्रधारी भगवद्रामानुजाचार्य ने। **अन्तर्याम्यधिदैवाधिलोकादिषु तद्धर्मव्यपदेशात्॥** (शा० मी० अ० १ पा० २ सू० १९) के श्रीभाष्य में ''बृहदारण्यकोपनिषद्'' के तृतीय अध्याय के सप्तम ब्राह्मण की छठवीं कण्डिका के ''एष त आत्मा'' इस खण्ड को उद्धृत किया है।।६।।

यो वायौ तिष्ठन्वायोरन्तरो यं वायु र्न वेद यस्य वायुः शरीरं यो वायुमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ।।७।।

अन्वयार्थ– (यः) जो (वायौ) वायु में (तिष्ठन्) रहता हुआ (वायोः) वायु के (अन्तरः) भीतर प्रविष्ट है (यम्) जिसको (वायुः) वायु (न) नहीं (वेद) जानती है (यस्य) जिसका (वायुः) वायु (शरीरम्) शरीर है (यः) जो परमेश्वर (अन्तरः) वायु के भीतर रहकर (वायुम्) वायु को (यमयति) प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षण नियमन करता है (एषः) यही (अन्तर्यामी) अन्तर्यामी (ते) तेरा (अमृतः) निरुपाधिक अमृतत्वशाली (आत्मा) आत्मा है।।७।।

विशेषार्थ– आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– हे उद्दालक! जो वायु में रहता हुआ वायु के भीतर प्रविष्ट है। जिसको वायु नहीं जानती है। अर्थात् मेरे अन्दर कोई मेरा शासक रहता है इसको वायु नहीं जानती है। जिस परमेश्वर का वायु शरीर है। जो नारायण वायु के भीतर रहकर वायु के प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षण नियमन को करता है, वही यह अन्तर्यामी तुम्हारा निरुपाधिक अमृतत्वशाली आत्मा है। और लिखा है– **यस्य वायुः शरीरं यो वायुमन्तरे सञ्चरन् यं वायु र्न वेद॥** (सुबालोप० खं० ७) जिस नारायण का वायु शरीर है जो वायु के भीतर सञ्चार करता हुआ स्थित रहता है। जिसको वायु नहीं जानती है।।७।। श्रीत्रिदण्डधारी भगवद्रामानुजाचार्य ने। **तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात्सः॥** (शा० मी० अ० २ पा० ३ सू० १४) **ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननात्प्राणवता शब्दात्॥** (शा० मी० अ० २ पा० ४ सू० १३) **पूर्वं तु बादरायणो हेतुव्यप-देशात्॥** (शा० मी० अ० ३ पा० २ सू० ४०) इन तीन सूत्रों के श्रीभाष्य में ''बृहदारण्यकोपनिषद्'' के तृतीय अध्याय के सप्तमब्राह्मण की सातवीं कण्डिका के पदों को उद्धृत किया है।।७।।

यो दिवि तिष्ठन्दिवोऽन्तरो यं द्यौ र्न वेद यस्य द्यौः शरीरं यो दिवमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः

।।८।।

अन्वयार्थ– (यः) जो (दिवि) द्युलोक में (तिष्ठन्) रहता हुआ (दिवः) द्युलोक के (अन्तरः) भीतर प्रविष्ट है (यम्) जिसको (द्यौः) द्युलोक (न) नहीं (वेद) जानता है (यस्य) जिसका (द्यौः) द्युलोक (शरीरम्) शरीर है (यः) जो परमेश्वर (अन्तरः) द्युलोक के भीतर रहकर (दिवम्) द्युलोक को (यमयति) प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षण नियमन करता है (एषः) यही (अन्तर्यामी) अन्तर्यामी (ते) तेरा (अमृतः) निरुपाधिकअमृतत्वशाली (आत्मा) आत्मा है ।।८।।

विशेषार्थ– आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– हे उद्दालक ! जो द्युलोक में रहता हुआ द्युलोक के भीतर प्रविष्ट है । जिसको द्युलोक नहीं जानता है । अर्थात् मेरे अन्दर कोई मेरा शासक रहता है इसको द्युलोक नहीं जानता है । जिस परमेश्वर का द्युलोक शरीर है । जो नारायण द्युलोक के भीतर रहकर द्युलोक के प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षण नियमन को करता है, वही यह अन्तर्यामी तुम्हारा निरुपाधिक अमृतत्वशाली आत्मा है ।।८।।

य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद यस्याऽऽदित्यः शरीरं य आदित्यमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ।।९।।

अन्वयार्थ– (यः) जो (आदित्ये) सूर्य में (तिष्ठन्) रहता हुआ (आदित्यात्) सूर्य के (अन्तरः) भीतर प्रविष्ट है (यम्) जिसको (आदित्यः) सूर्य (न) नहीं (वेद) जानता है (यस्य) जिसका (आदित्यः) सूर्य (शरीरम्) शरीर है (यः) जो परमेश्वर (अन्तरः) सूर्य के भीतर रहकर (आदित्यम्) सूर्य को (यमयति) प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षण नियमन करता है (एषः) यही (अन्तर्यामी) अन्तर्यामी (ते) तेरा (अमृतः) निरुपाधिक अमृतत्वशाली (आत्मा) आत्मा है ।।९।।

विशेषार्थ– आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– हे उद्दालक ! जो आदित्य में रहता हुआ आदित्य के भीतर प्रविष्ट है । जिसको आदित्य नहीं जानता है । अर्थात् मेरे अन्दर कोई मेरा शासक रहता है इसको आदित्य नहीं जानता है । जिस परमेश्वर का आदित्य शरीर है । जो नारायण आदित्य के भीतर रहकर आदित्य के प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षण नियमन को करता है । वही यह अन्तर्यामी तुम्हारा निरुपाधिक अमृतत्वशाली आत्मा है । काष्टकमण्डलुधारी भगवद्रामानुजाचार्य ने । **भेदव्यपदेशाच्चान्यः** ।। (शा० मी अ० १ पा० १ सू० २२) **ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननात्प्राणवता शब्दात्** ।। (शा० मी

अ० २ पा० ४ सू० १३) **पूर्वं तु बादरायणो हेतुव्यपदेशात्** ॥ (शा० मी अ० ३ पा० २ सू० ४०) इन तीन सूत्रों के श्रीभाष्य में "बृहदाण्यकोपनिषद्" के तृतीय अध्याय के सप्तम ब्राह्मण की नवमी कण्डिका के पदों को उद्धृत किय है ॥९॥

यो दिक्षु तिष्ठन्दिग्भ्योऽन्तरो यं दिशो न विदुर्यस्य दिशः शरीरं यो दिशोऽन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥१०॥

अन्वयार्थ– (यः) जो (दिक्षु) दिशाओं में (तिष्ठन्) रहता हुआ (दिग्भ्यः) दिशाओं के (अन्तरः) भीतर प्रविष्ट है (यम्) जिसको (दिशः) दिशाएँ (न) नहीं (विदुः) जानती हैं (यस्य) जिसकी (दिशः) दिशाएँ (शरीरम्) शरीर हैं (यः) जो परमेश्वर (अन्तरः) दिशाओं के भीतर रहकर (दिशः) दिशाओं को (यमयति) प्रवृतिनिवृत्तिलक्षण नियमन करता है (एषः) यही (अन्तर्यामी) अन्तर्यामी (ते) तेरा (अमृतः) निरुपाधिक अमृतत्वशाली (आत्मा) आत्मा है ॥१०॥

विशेषार्थ– आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– हे उद्दालक ! जो पूर्वादिक दिशाओं में रहता हुआ पूर्वादिक दिशाओं के भीतर प्रविष्ट है। जिसको पूर्वादिक दिशाएँ नहीं जानती हैं। अर्थात् मेरे अन्दर कोई मेरा शासक रहता है इसको दिशा नहीं जानती है। जिस परमेश्वर की दिशाएँ शरीर हैं। जो नारायण दिशाओं के भीतर रहकर पूर्वादिक दिशाओं के प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षण नियमन को करता है। वही यह अन्तर्यामी तुम्हारा निरुपाधिक अमृतत्वशाली आत्मा है ॥१०॥

यश्चन्द्रतारके तिष्टँश्चन्द्रतारकादन्तरो यं चन्द्रतारकं न वेद यस्य चन्द्रतारकं शरीरं यश्चन्द्रतारकमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥११॥

अन्वयार्थ– (यः) जो (चन्द्रतारके) चन्द्रमा और ताराओं में (तिष्ठन्) रहता हुआ (चन्द्रतारकात्) चन्द्रमा और ताराओं के (अन्तरः) भीतर प्रविष्ट है (यम्) जिसको (चन्द्रतारकम्) चन्द्रमा और तारा (न) नहीं (वेद) जानते हैं (यस्य) जिसके (चन्द्रतारकम्) चन्द्रमा और तारा (शरीरम्) शरीर है (यः) जो परमेश्वर (अन्तरः) चन्द्रमा तथा तराओं के भीतर रहकर (चन्द्रतारकम्) चन्द्रमा तथा तराओं को (यमयति) प्रवृति निवृत्तिलक्षण नियमन करता है (एषः) यही (अन्तर्यामी) अन्तर्यामी (ते) तेरा

(अमृत:) निरुपाधिक अमृतत्वशाली (आत्मा) आत्मा है ।।११।।

विशेषार्थ– आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– हे उद्दालक ! जो चन्द्रमा और ताराओं में रहता हुआ चन्द्रमा और ताराओं के भीतर प्रविष्ट है । जिसको चन्द्रमा और ताराएँ नहीं जानते हैं । अर्थात् मेरे अन्दर कोई मेरा शासक रहता है इसको चन्द्रमा और तारा नहीं जानते हैं । जिस परमेश्वर के चन्द्रमा और ताराएं शरीर हैं । जो नारायण चन्द्रमा और ताराओं के भीतर रहकर चन्द्रमा और ताराओं के प्रवृत्ति निवृत्तिलक्षण नियमन को करता है । वही यह अन्तर्यामी तुम्हारा निरुपाधिक अमृतत्वशाली आत्मा है । निरुपाधिक अमृतत्वशाली आत्मा परमात्मा ही है ।।११।।

य आकाशे तिष्ठन्नाकाशादन्तरो यमाकाशो न वेद यस्याकाशः शरीरं य आकाशमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ।।१२।।

अन्वयार्थ– (य:) जो (आकाशे) आकाश में (तिष्ठन्) रहता हुआ (आकाशात्) आकाश के (अन्तर:) भीतर प्रविष्ट है (यम्) जिसको (आकाश:) आकाश (न) नहीं (वेद) जानता है (यस्य) जिसका (आकाश:) आकाश (शरीरम्) शरीर है (य:) जो परमेश्वर (अन्तर:) आकाश के भीतर रहकर (आकाशम्) आकाश को (यमयति) प्रवृति निवृत्तिलक्षण नियमन करता है (एष:) यही (अन्तर्यामी) अन्तर्यामी (ते) तेरा (अमृत:) निरुपाधिक अमृतत्वशाली (आत्मा) आत्मा है ।।१२।।

विशेषार्थ– आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– हे उद्दालक ! जो आकाश में रहता हुआ आकाश के भीतर प्रविष्ट है । जिसको आकाश नहीं जानता है । अर्थात् मेरे अन्दर कोई मेरा शासक रहता है इसको आकाश नहीं जानता है । जिस परमेश्वर का आकाश शरीर है । जो नारायण आकाश के भीतर रहकर आकाश के प्रवृत्ति निवृत्तिलक्षण नियमन को करता है । वही यह अन्तर्यामी तुम्हारा निरुपाधिक अमृतत्वशाली आत्मा है । और लिखा है– **यस्याकाशः शरीरं आकाशमन्तरे सञ्चरन् यमाकाशो न वेद ।।** (सुबालोप० खं० ७) जिस नारायण का आकाश शरीर है जो आकाश के भीतर सञ्चार करता हुआ विराजमान रहता है जिसको आकाश नहीं जानता है । सितयज्ञसूत्रधारी भगवद्रामानुजाचार्य ने । **तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात्सः ।।** (शा० मी० अ० २ पा० ३ सू० १४) के श्रीभाष्य में "बृहदारण्यकोपनिषद्" के तृतीय अध्याय के सप्तम ब्राह्मण की बारहवीं कण्डिका के "य आकाशे तिष्ठन्" इस खण्ड को उद्धृत किया है ।।१२।।

यस्तमसि तिष्ठंस्तमसोऽन्तरो यं तमो न वेद यस्य तमः शरीरं यस्तमोऽन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥१३॥

अन्वयार्थ– (यः) जो (तमसि) अन्धकार में (तिष्ठन्) रहता हुआ (तमसः) अन्धकार के (अन्तरः) भीतर प्रविष्ट है (यम्) जिसको (तमः) अन्धकार (न) नहीं (वेद) जानता है (यस्य) जिसका (तमः) अन्धकार (शरीरम्) शरीर है (यः) जो परमेश्वर (अन्तरः) अन्धकार के भीतर रहकर (तमः) अन्धकार को (यमयति) प्रवृति निवृत्तिलक्षण नियमन करता है (एषः) यही (अन्तर्यामी) अन्तर्यामी (ते) तेरा (अमृतः) निरुपाधिक अमृतत्वशाली (आत्मा) आत्मा है ॥१३॥

विशेषार्थ– आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– हे उद्दालक ! जो अन्धकार में रहता हुआ अन्धकार के भीतर प्रविष्ट है । यहाँ पर "तमस्" शब्द अन्धकार वाचक है । क्योंकि लिखा है– **अन्धकारोऽस्त्रियां ध्वान्तं तमिस्त्रं तिमिरं तमः ॥** (अमर० कां० १ व० ८ श्लो० ३) अन्धकार १, ध्वान्त २, तमिस्र ३, तिमिर ४, तमस् ५ ये अन्धकार के नाम हैं ॥३॥ जिसको अन्धकार नहीं जानता है । अर्थात् मेरे अन्दर कोई मेरा शासक रहता है इसको अन्धकार नहीं जानता है । जिस परमेश्वर का अन्धकार शरीर है । जो नारायण अन्धकार के भीतर रहकर अन्धकार के प्रवृत्ति निवृत्तिलक्षण नियमन को करता है । वही यह अन्तर्यामी तुम्हारा निरुपाधिक अमृतत्वशाली आत्मा है ॥१३॥

यस्तेजसि तिष्ठंस्तेजसोऽन्तरो यं तेजो न वेद यस्य तेजः शरीरं यस्तेजोऽन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृत इत्यधिदैवतमथाधिभूतम् ॥१४॥

अन्वयार्थ– (यः) जो (तेजसि) प्रकाश में (तिष्ठन्) रहता हुआ (तेजसः) प्रकाश के (अन्तरः) भीतर प्रविष्ट है (यम्) जिसका (तेजः) प्रकाश (शरीरम्) शरीर है (यः) जो परमेश्वर (अन्तरः) प्रकाश के भीतर रहकर (तेजः) प्रकाश को (यमयति) प्रवृतिनिवृत्तिलक्षण नियमन करता है (एषः) यही (अन्तर्यामी) अन्तर्यामी (ते) तेरा (अमृतः) निरुपाधिक अमृतत्वशाली (आत्मा) आत्मा है । (इति) इस प्रकार (अधिदैवतम्) अधिदैवत अन्तर्यामीस्वरूप कहा गया (अथ) अब (अधिभूतम्) अधिभूत अन्तर्यामीस्वरूप कहा जाता है ॥१४॥

विशेषार्थ— आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि— हे उद्दालक ! जो प्रकाश में रहता हुआ प्रकाश के भीतर प्रविष्ट है। यहाँ पर "तेजस्" शब्द प्रकाश वाचक है। क्योंकि लिखा है— **तेजःप्रभावे दीप्तौ च बले शुक्रेऽपि ॥** (अमर० कां० ३ व० ३ श्लो० २३४) प्रभाव में, प्रकाश में, बल में और शुक्र में तेजस् शब्द का प्रयोग होता है ॥२३४॥ जिसको प्रकाश नहीं जानता है। अर्थात् मेरे अन्दर कोई मेरा शासक रहता है इसको प्रकाश नहीं जानता है। जिस परमेश्वर का प्रकाश शरीर है। जो नारायण प्रकाश के भीतर रहकर प्रकाश के प्रवृत्ति निवृत्तिलक्षण नियमन को करता है। वही यह अन्तर्यामी तुम्हारा निरुपाधिक अमृतत्वशाली आत्मा है। इस प्रकार यह अधिदैवत अन्तर्यामिस्वरूप प्रतिपादन किया गया अब आगे अधिभूत अन्तर्यामिस्वरूप वर्णन किया जाता है ॥१४॥

यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यं सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृत इत्यधिभूतमथाध्यात्मम् ॥१५॥

अन्वयार्थ— (यः) जो (सर्वेषु) समस्त (भूतेषु) भूतों में (तिष्ठन्) रहता हुआ (सर्वेभ्यः) सम्पूर्ण (भूतेभ्यः) भूतों के (अन्तरः) भीतर प्रविष्ट है (यम्) जिसको (सर्वाणि) समस्त (भूतानि) भूत (न) नहीं (विदुः) जानते हैं (यस्य) जिसके (सर्वाणि) सम्पूर्ण (भूतानि) भूत (शरीरम्) शरीर हैं (यः) जो परमेश्वर (अन्तरः) सब भूतों के भीतर रहकर (सर्वाणि) समस्त (भूतानि) भूतों को (यमयति) प्रवृत्ति निवृत्तिलक्षण नियमन करता है (एषः) यही (अन्तर्यामी) अन्तर्यामी (ते) तेरा (अमृतः) निरुपाधिक अमृतत्वशाली (आत्मा) आत्मा है। (इति) इस प्रकार (अधिभूतम्) अधिभूत अन्तर्यामिस्वरूप कहा गया (अथ) अब (अध्यात्मम्) अध्यात्म अन्तर्यामिस्वरूप कहा जाता है ॥१५॥

विशेषार्थ— आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि— हे उद्दालक ! जो सब भूतों में रहता हुआ सब भूतों के भीतर प्रविष्ट है। जिसको सब भूत नहीं जानते हैं। अर्थात् मेरे अन्दर कोई मेरा शासक रहता है इसको सब भूत नहीं जानते हैं। जिस परमेश्वर के सब भूत शरीर हैं। जो नारायण सब भूतों के भीतर रहकर सब भूतों के प्रवृत्ति निवृत्तिलक्षण नियमन को करता है। वही यह अन्तर्यामी तुम्हारा निरुपाधिक अमृतत्वशाली आत्मा है। इस प्रकार यह अधिभूत अन्तर्यामिस्वरूप प्रतिपादन किया गया। अब आगे अध्यात्म अन्तर्यामिस्वरूप वर्णन किया जाता है ॥१५॥

यः प्राणे तिष्ठन्प्राणादन्तरो यं प्राणो न वेद यस्य प्राणः शरीरं यः प्राणमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥१६॥

अन्वयार्थ– (यः) जो (प्राणे) प्राण में (तिष्ठन्) रहता हुआ (प्राणात्) प्राण के (अन्तरः) भीतर प्रविष्ट है (यम्) जिसको (प्राणः) प्राण (न) नहीं (वेद) जानता है (यस्य) जिसके (प्राणः) प्राण (शरीरम्) शरीर है (यः) जो परमेश्वर (अन्तरः) प्राण के भीतर रहकर (प्राणम्) प्राण को (यमयति) प्रवृत्ति निवृत्तिलक्षण नियमन करता है (एषः) यही (अन्तर्यामी) अन्तर्यामी (ते) तेरा (अमृतः) निरुपाधिक अमृतत्वशाली (आत्मा) आत्मा है ॥१६॥

विशेषार्थ– आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– हे उद्दालक ! जो प्राण में रहता हुआ प्राण के भीतर प्रविष्ट है । जिसको प्राण नहीं जानते हैं । अर्थात् मेरे अन्दर कोई मेरा शासक रहता है इसको प्राण नहीं जानता है । जिस परमेश्वर का प्राण शरीर है । जो नारायण प्राण के भीतर रहकर प्राण के प्रवृत्ति निवृत्तिलक्षण नियमन को करता है । वही यह अंन्तर्यामी तुम्हारा निरुपाधिक अमृतत्वशाली आत्मा है ॥१६॥

यो वाचि तिष्ठन्वाचोऽन्तरो यं वाङ् न वेद यस्य वाक् शरीरं यो वाचमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥१७॥

अन्वयार्थ– (यः) जो (वाचि) वाणी में (तिष्ठन्) रहता हुआ (वाचः) वाणी के (अन्तरः) भीतर प्रविष्ट है (यम्) जिसको (वाक्) वाणी (न) नहीं (वेद) जानती है (यस्य) जिसका (वाक्) वाणी (शरीरम्) शरीर है (यः) जो परमेश्वर (अन्तरः) प्राण के भीतर रहकर (वाचम्) वाणी को (यमयति) प्रवृत्ति निवृत्तिलक्षण नियमन करता है (एषः) यही (अन्तर्यामी) अन्तर्यामी (ते) तेरा (अमृतः) निरुपाधिक अमृतत्वशाली (आत्मा) आत्मा है ॥१७॥

विशेषार्थ– आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– हे उद्दालक ! जो वाणी में रहता हुआ वाणी के भीतर प्रविष्ट है । जिसको वाणी नहीं जानती है । अर्थात् मेरे अन्दर कोई मेरा शासक रहता है इसको वाणी नहीं जानती है । जिस परमेश्वर का वाणी शरीर हैं । जो नारायण वाणी के भीतर रहकर वाणी के प्रवृत्ति निवृत्तिलक्षण नियमन

को करता है । वही यह अन्तर्यामी तुम्हारा निरुपाधिक अमृतत्वशाली आत्मा है ॥१७॥

यश्चक्षुषि तिष्ठँश्चक्षुषोऽन्तरो यं चक्षुर्नवेद यस्य चक्षुः शरीरं यश्चक्षुरन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥१८॥

अन्वयार्थ– (यः) जो (चक्षुषि) नेत्र में (तिष्ठन्) रहता हुआ (चक्षुषः) नेत्र के (अन्तरः) भीतर प्रविष्ट है (यम्) जिसको (चक्षुः) नेत्र (न) नहीं (वेद) जानता है (यस्य) जिसका (चक्षुः) नेत्र (शरीरम्) शरीर है (यः) जो परमेश्वर (अन्तरः) नेत्र के भीतर रहकर (चक्षुः) नेत्र को (यमयति) प्रवृत्ति निवृत्तिलक्षण नियमन करता है (एषः) यही (अन्तर्यामी) अन्तर्यामी (ते) तेरा (अमृतः) निरुपाधिक अमृतत्वशाली (आत्मा) आत्मा है ॥१८॥

विशेषार्थ– आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– हे उद्दालक ! जो नेत्र में रहता हुआ नेत्र के भीतर प्रविष्ट है। यहाँ पर ''चक्षुष्'' शब्द नेत्र वाचक है। क्योंकि लिखा है– **लोचनं नयनं नेत्रमीक्षणं चक्षुरक्षिणी** ॥ (अ॰ का॰ २।६।७३) लोचन १, नयन २, नेत्र ३, ईक्षण ४, चक्षुष् ५, अक्षि ६ ये आँख के नाम हैं ॥९३॥ जिसको नेत्र नहीं जानता है। अर्थात् मेरे अन्दर कोई मेरा शासक रहता है इसको नेत्र नहीं जानता है। जिस परमेश्वर का नेत्र शरीर है। जो नारायण नेत्र के भीतर रहकर नेत्र के प्रवृत्ति निवृत्तिलक्षण नियमन को करता है। वही यह अन्तर्यामी तुम्हारा निरुपाधिक अमृतत्वशाली आत्मा है। कमनीय शिखाधारी भगवद्रामानुजाचार्य ने– **अन्तर्याम्यधिदैवाधिलोकादिषु तद्धर्मव्यपदेशात्** ॥ (शा॰ मी॰ अ॰ १ पा॰ २ सू॰ १९) **ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननात्प्राणवता शब्दात्** ॥ (शा॰ मी॰ अ॰ २ पा॰ ४ सू॰ १३) **न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि** ॥ (शा॰ मी॰ अ॰ ३ पा॰ २ सू॰ ११) इन तीन सूत्रों के श्रीभाष्य में ''बृहदारण्यकोपनिषद्'' के तृतीय अध्याय के सप्तम ब्राह्मण की अठारहवीं कण्डिका के ''यश्चक्षुषि तिष्ठन्'' इस खण्ड को उद्धृत किया है ॥१८॥

यः श्रोत्रे तिष्ठञ्छ्रोत्रादन्तरो यं श्रोत्रं न वेद यस्य श्रोत्रं शरीरं यः श्रोत्रमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥१९॥

अन्वयार्थ– (यः) जो (श्रोत्रे) कर्ण में (तिष्ठन्) रहता हुआ (श्रोत्रात्) कर्ण के (अन्तरः) भीतर प्रविष्ट है (यम्) जिसको (श्रोत्रम्) कर्ण (न) नहीं (वेद) जानता है (यस्य) जिसका (श्रोत्रम्) श्रवण (शरीरम्) शरीर है (यः) जो परमेश्वर (अन्तरः) श्रवण के भीतर रहकर (श्रोत्रम्) श्रवण को (यमयति) प्रवृत्ति निवृत्तिलक्षण नियमन करता है (एषः) यही (अन्तर्यामी) अन्तर्यामी (ते) तेरा (अमृतः) निरुपाधिक अमृतत्वशाली (आत्मा) आत्मा है ॥१९॥

विशेषार्थ– आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– हे उद्दालक ! जो कान में रहता हुआ कान के भीतर प्रविष्ट है । यहाँ "श्रोत्र" शब्द कान वाचक है । क्योंकि लिखा है– **कर्णशब्दग्रहौ श्रोत्रं श्रुतिः स्त्री श्रवणं श्रवः ॥** (अमर० कां० २ व० ६ श्लो० ९४) कर्ण १, शब्दग्रह २, श्रोत्र ३, श्रुति ४, श्रवण ५ और श्रवस् ६ ये कान के नाम हैं ॥९४॥ जिसको कान नहीं जानता है । अर्थात् मेरे अन्दर कोई मेरा शासक रहता है इसको कान नहीं जानता है । जिस परमेश्वर का श्रोत्र शरीर है । जो नारायण श्रोत्र के भीतर रह कर श्रोत्र के प्रवृत्ति निवृत्ति लक्षण नियमन को करता है । वही यह अन्तर्यामी तुम्हारा निरुपाधिक अमृतत्वशाली आत्मा है । निरुपाधिक अमृतत्वशाली आत्मा परमात्मा ही है ॥१९॥

यो मनसि तिष्ठन्मनसोऽन्तरो यं मनो न वेद यस्य मनः शरीरं यो मनोऽन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥२०॥

अन्वयार्थ– (यः) जो (मनसि) मन में (तिष्ठन्) रहता हुआ (मनसः) मन के (अन्तरः) भीतर प्रविष्ट है (यम्) जिसको (मनः) मन (न) नहीं (वेद) जानता है (यस्य) जिसके (मनः) मन (शरीरम्) शरीर है (यः) जो परमेश्वर (अन्तरः) मन के भीतर रहकर (मनः) मन को (यमयति) प्रवृत्ति निवृत्ति लक्षण नियमन करता है (एषः) यही (अन्तर्यामी) अन्तर्यामी (ते) तेरा (अमृतः) निरुपाधिक अमृतत्वशाली (आत्मा) आत्मा है ॥२०॥

विशेषार्थ– आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– हे उद्दालक ! जो मन में रहता हुआ मन के भीतर प्रविष्ट है । जिसको मन नहीं जानता है । अर्थात् मेरे अन्दर कोई मेरा शासक रहता है, इसको मन नहीं जानता है । जिस परमेश्वर का मन शरीर है । जो नारायण मन के भीतर रह कर मन के प्रवृत्ति निवृत्ति लक्षण नियमन को करता है । वही यह अन्तर्यामी तुम्हारा निरुपाधिक अमृतत्वशाली आत्मा है । और भी लिखा

है– **यस्य मनः शरीरं यो मनोऽन्तरे सञ्चरन् यं मनो न वेद ॥** (सुबालोप० खं० ७) जिस नारायण का मन शरीर है जो मन के भीतर सञ्चार करता हुआ विराजमान रहता है जिसको मन नहीं जानता है ।।७।। ऐसा कहा गया है ।।२०।।

यस्त्वचि तिष्ठंस्त्वचोऽन्तरो यं त्वङ् न वेद यस्य त्वक् शरीरं यस्त्वचमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ।।२१।।

अन्वयार्थ– (यः) जो (त्वचि) त्वचा में (तिष्ठन्) रहता हुआ (त्वचः) त्वचा के (अन्तरः) भीतर प्रविष्ट है (यम्) जिसको (त्वक्) त्वचा (न) नहीं (वेद) जानती है (यस्य) जिसकी (त्वक्) त्वचा (शरीरम्) शरीर है (यः) जो परमेश्वर (अन्तरः) त्वचा के भीतर रहकर (त्वचम्) त्वचा को (यमयति) प्रवृत्ति निवृत्ति लक्षण नियमन करता है (एषः) यही (अन्तर्यामी) अन्तर्यामी (ते) तेरा (अमृतः) निरुपाधिक अमृतत्वशाली (आत्मा) आत्मा है ।।२१।।

विशेषार्थ– आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– हे उद्दालक ! जो त्वचा में रहता हुआ त्वचा के भीतर प्रविष्ट है । जिसको त्वचा नहीं जानती है । अर्थात् मेरे अन्दर कोई मेरा शासक रहता है, इसको त्वचा नहीं जानती है । त्वचा जिस परमेश्वर का शरीर है । जो नारायण त्वचा के भीतर रहकर त्वचा के प्रवृत्ति निवृत्ति लक्षण नियमन को करता है । वही यह अन्तर्यामी तुम्हारा निरुपाधिक अमृतत्वशाली आत्मा है । त्वक् के विषय में लिखा है– **स्त्रियां तु त्वगसृग्धरा ॥** (अमर० कां० २ व० ६ श्लो० ६२) त्वच् १, असृग्धरा २ ये खाल के नाम हैं ।।६२।। इस प्रकार प्रतिपादन किया गया है ।।२१।।

यो विज्ञाने तिष्ठन्विज्ञानादन्तरो यं विज्ञानं न वेद यस्य विज्ञानं शरीरं यो विज्ञानमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ।।२२।।

अन्वयार्थ– (यः) जो (विज्ञाने) जीवात्मा में (तिष्ठन्) रहता हुआ (विज्ञानात्) जीवात्मा के (अन्तरः) भीतर प्रविष्ट है (यम्) जिसको (विज्ञानम्) जीवात्मा (न) नहीं (वेद) जानती है (यस्य) जिसका (विज्ञानम्) जीवात्मा (शरीरम्) शरीर है (यः) जो परमेश्वर (अन्तरः) जीवात्मा के भीतर रहकर (विज्ञानम्) जीवात्मा को (यमयति)

प्रवृत्ति निवृत्ति लक्षण नियमन को करता है (एषः) यही (अन्तर्यामी) अन्तर्यामी (ते) तेरा (अमृतः) निरुपाधिक अमृतत्वशाली (आत्मा) आत्मा है ।।२२।।

विशेषार्थ— आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि— हे उद्दालक ! जो जीवात्मा में रहता हुआ जीवात्मा के भीतर प्रविष्ट है । जिसको जीवात्मा नहीं जानती है । अर्थात् मेरे अन्दर कोई शासक रहता है इसको जीवात्मा नहीं जानती है । जिस परमेश्वर का जीवात्मा शरीर है । जो नारायण जीवात्मा के भीतर रह कर जीवात्मा के प्रवृत्ति निवृत्ति लक्षण नियमन को करता है । वही यह अन्तर्यामी तुम्हारा निरुपाधिक अमृतत्वशाली आत्मा है । यहाँ पर "विज्ञान" शब्द जीवात्मा वाचक है । क्योंकि समान प्रकारण में माध्यन्दिन शाखा में लिखा है— **य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥** (शतपथ १४।५।३०) जो जीवात्मा में रहता हुआ जीवात्मा के भीतर प्रविष्ट है । जिसको जीवात्मा नहीं जानती है । जो जीवात्मा के अन्दर रहकर जीवात्मा के प्रवृत्ति निवृत्ति लक्षण नियमन करता है । वह तेरा अन्तर्यामी निरुपाधिक अमृतत्वशाली आत्मा है ।।३०।। **अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा ॥** (तैत्ति० आरण्य ३।११।३) वह समस्त जीवों का शासक, सबका आत्मा, अन्तर में प्रविष्ठ है ।।३।। **ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ॥** (गी० अ० १८ श्लोक ६१) हे अर्जुन ! ईश्वर सभी प्राणियों के हृदय स्थान में स्थित रहता है ।।६१।। श्रीपादुकाधारी भगवद्रामानुजाचार्य ने— **अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा ॥** (शा० मी० अ० १ पा० १ सू० १) **आनन्दमयोऽभ्यासात् ॥** (शा० मी० अ० १ पा० १ सू० १३) **भेदव्यपदेशाच्चान्यः ॥** (शा० मी० अ० १ पा० १ सू० २२) **उभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते ॥** (शा० मी० अ० १ पा० २ सू० २१) **अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः ॥** (शा० मी० अ० १ पा० ४ सू० २२) **प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् ॥** (शा० मी० अ० १ पा० ४ सू० २३) **न तु दृष्टान्तभावात् ॥** (शा० मी० अ० २ पा० १ सू० ९) **अधिकं तु भेदनिर्देशात् ॥** (शा० मी० अ० २ पा० १ सू० २२) **ज्ञोऽत एव ॥** (शा० मी० अ० २ पा० ३ सू० १९) **तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत् ॥** (शा० मी० अ० २ पा० ३ सू० २९) **परात्तु तच्छ्रुतेः ॥** (शा० मी० अ० २ पा० ३ सू० ४०) **आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च** (शा० मी० अ० ४ पा० १ सू० ३) **अविभागेन दृष्टत्वात् ॥** (शा० मी० अ० ४ पा० ४ सू० ४) इन तेरह सूत्रों के श्रीभाष्य में "बृहदारण्यकोपनिषद्" के तृतीय अध्याय के सप्तम ब्राह्मण की बाईसवीं कण्डिका के पदों को उद्धृत किया है ।।२२।।

यो रेतसि तिष्ठन्रेतसोऽन्तरो यं रेतो न वेद यस्य रेतः शरीरंयो रेतोऽन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतोऽदृष्टो द्रष्टाऽश्रुतः

श्रोताऽमतो मन्ताऽविज्ञातो विज्ञाता। नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति श्रोता नान्योऽतोऽस्ति मन्ता नान्योऽतोऽस्ति विज्ञातैष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतोऽतोऽन्यदार्तं ततो होद्दालक आरुणिरुपरराम ॥२३॥

॥ इति तृतीयाध्याये सप्तमं ब्राह्मणम् ॥

अन्वयार्थ– (यः) जो (रेतसि) वीर्य में (तिष्ठन्) रहता हुआ (रेतसः) वीर्य के (अन्तरः) भीतर प्रविष्ट है (यम्) जिसका (रेतः) वीर्य (न) नहीं (वेद) जानता हे (यस्य) जिसका (रेतः) वीर्य (शरीरम्) शरीर है (यः) जो परमेश्वर (अन्तरः) वीर्य के भीतर रहकर (रेतः) वीर्य को (यमयति) प्रवृत्ति निवृत्ति लक्षण नियमन करता है (एषः) यही (अन्तर्यामी) अन्तर्यामी (ते) तेरा (अमृतः) निरुपाधिक अमृतत्वशाली (आत्मा) आत्मा है वह परमात्मा (अदृष्टः) नेत्र से नहीं देखा हुआ है परन्तु स्वयं (द्रष्टा) रूप को साक्षात्कार करने वाला है और (अश्रुतः) कान से नहीं सुना हुआ है परन्तु स्वयं (श्रोता) शब्द को साक्षात्कार करनेवाला है तथा (अमतः) मन से नहीं मनन किया हुआ है परन्तु स्वयं (मन्ता) मन्तव्यविषयक साक्षात्कार करने वाला है और (अविज्ञातः) बुद्धि के द्वारा विशेष रूप से नहीं ज्ञात हुआ है, परन्तु स्वयं (विज्ञाता) निदिध्यासन विषयक साक्षात्कार करनेवाला है (अतः) इस पूर्व निर्दिष्ट अदृष्ट अन्तर्यामी से (अन्यः) भिन्न कोई (द्रष्टा) रूप को साक्षात्कार करनेवाला (न) नहीं (अस्ति) है तथा (अतः) इस पूर्व निर्दिष्ट अश्रुत अन्तर्यामी से (अन्यः) भिन्न कोई (श्रोता) शब्द को साक्षात्कार करनेवाला (न) नहीं (अस्ति) है तथा (अतः) इस पूर्व निर्दिष्ट अमत अन्तर्यामी से (अन्यः) भिन्न कोई (मन्ता) मन्तव्यविषयक साक्षात्कार करनेवाला (न) नहीं (अस्ति) है और (अतः) इस पूर्व निर्दिष्ट अविज्ञात अन्तर्यामी से (अन्यः) भिन्न कोई (विज्ञाता) निदिध्यासन विषयक साक्षात्कार करने वाला (न) नहीं (अस्ति) है (एषः) यही (अन्तर्यामी) अन्तर्यामी (ते) तेरा (अमृतः) निरुपाधिक अमृतत्वशाली (आत्मा) आत्मा है (अतः) इस परब्रह्मनारायण से (अन्यत्) अतिरिक्त जो जीव जात है (आर्तम्) वह दुःखी है (ततः) तब अन्य प्रष्टव्य के अभाव होने से (ह) सुप्रसिद्ध (आरुणिः) अरुण ऋषि के पुत्र (उद्दालकः) उद्दालक नामक ऋषि (उपरराम) चुप हो गये ॥२३॥

विशेषार्थ– आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– हे उद्दालक! जो वीर्य में रहता हुआ वीर्य के भीतर प्रविष्ट है। जिसको वीर्य नहीं जानता है। अर्थात् मेरे अन्दर कोई

भेरा शासक रहता है इसको वीर्य नहीं जानता है। जिस परमेश्वर का वीर्य शरीर है। जो नारायण वीर्य के भीतर रह कर वीर्य के प्रवृत्ति निवृत्ति लक्षण नियमन को करता है। वही यह अन्तर्यामी तुम्हारा निरुपाधिक अमृतत्वशाली आत्मा है। यहाँ पर ''रेतस्'' शब्द वीर्य वाचक है। क्योंकि लिखा है– **शुक्रं तेजोरेतसी च बीजवीर्येन्द्रियाणि च ॥** (अमर० कां० २ व० ६ श्लोक ६२) शुक्र १, तेजस् २, रेतस् ३, बीज ४, वीर्य ५, इन्द्रिय ६ ये धातु के नाम हैं ॥६२॥ वह अन्तर्यामी परमात्मा, नेत्र से नहीं दिखाई देने वाला है, परन्तु स्वयं रूप को साक्षात्कार करने वाला है। और वह अन्तर्यामी परमात्मा श्रोत्र से नहीं सुनायी देना वाला है परन्तु स्वयं शब्द को साक्षात्कार करने वाला है। तथा वह अन्तर्यामी परमात्मा मन से मनन का विषय नहीं होनेवाला है परन्तु स्वयं मन्तव्य विषयक साक्षात्कार करनेवाला है। और वह अन्तर्यामी परमात्मा बुद्धि से विशेषतया नहीं ज्ञात होने वाला है परन्तु स्वयं निदिध्यासन विषयक साक्षात्कार करनेवाला है। इस पूर्व निर्दिष्ट अदृष्ट अन्तर्यामी नारायण से भिन्न कोई उसके सदृश रूप को साक्षात्कार करनेवाला नहीं है। और इस पूर्व निर्दिष्ट अश्रुत अन्तर्यामी नारायण से भिन्न कोई उसके सदृश शब्द को साक्षात्कार करनेवाला नहीं है। तथा इस पूर्व निर्दिष्ट अन्त–अन्तर्यामी नारायण से भिन्न कोई उसके सदृश मन्तव्य विषयक साक्षात्कार करनेवाला नहीं है। और इस पूर्व निर्दिष्ट अविज्ञात अन्तर्यामी नारायण से भिन्न कोई उसके सदृश निदिध्यासन विषयक साक्षात्कार करने वाला नहीं है। वही यह अन्तर्यामी तुम्हारा निरुपाधिक अमृतत्वशाली आत्मा है। इस अन्तर्यामी परब्रह्म नारायण से अतिरिक्त जो जीवजात है वह सब दुःखी है। इस बात को सुनकर तब अन्य प्रष्टव्य के अभाव होने से परम प्रसिद्ध अरुण ऋषि के पुत्र उद्दालक नामक ऋषि चुप हो गये। ''नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा'' इत्यादि वाक्य से नियन्ता के नियन्तान्तर निषेध किया गया है। श्रीचूर्णयुक्तश्वेतोर्ध्वपुण्ड्रधारी भगवद्रामानुजाचार्य ने– **अन्तर्याम्यधिदैवाधिलोकादिषु तद्धर्मव्यपदेशात् ॥** (शा० मी० अ० १ पा० २ सू० १९) **अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः ॥** (शा० मी० अ० १ पा० २ सू० २२) **गतिशब्दाभ्यां तथाहि दृष्टं लिङ्गं च ॥** (शा० मी० अ० १ पा० ३ सू० १४) **तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः ॥** (शा० मी० अ० २ पा० १ सू० १५) **न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि ॥** (शा० मी० अ० ३ पा० २ सू० ११) इन पाँच सूत्रों के श्रीभाष्य में 'बृहदारण्यकोपनिषद्' के तृतीय अध्याय के सप्तम ब्राह्मण की तेईसवीं कण्डिका के पदों को उद्धृत किया है। यहाँ पर ''बृहदारण्यकोपनिषद्'' के तृतीय अध्यय का सप्तम अन्तर्यामी ब्राह्मण समाप्त हो गया ॥२३॥

॥ अथाष्टमं ब्राह्मणम् ॥

अथ ह वाचक्नव्युवाच । ब्राह्मणा भगवन्तो हन्ताहमिमं द्वौ प्रश्नौ प्रक्ष्यामि तौ चेन्मे वक्ष्यति न जातु युष्माकमिमं कश्चिद्ब्रह्मोद्यं जेतेति । पृच्छ गार्गीति ॥१॥

अन्वयार्थ– (अथ) प्रसिद्ध ब्रह्मवेत्ता उद्दालक के चुप हो जाने के पश्चात् पुनः (ह) परम प्रसिद्धा (वाचक्नवी) वचक्नु ऋषि की पुत्री गार्गी (उवाच) बोली कि (भगवन्तः) हे षडैश्वर्य सम्पन्न परम पूजनीय (ब्राह्मणाः) हे ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण महात्माओं (हन्त) यदि आपलोगों की आज्ञा हो तो (अहम्) मैं (इमम्) इस याज्ञवल्क्य से (द्वौ) दो (प्रश्नौ) प्रश्न (प्रक्ष्यामि) पूछूँगी (चेत्) यदि ये याज्ञवल्क्य (मे) मेरे (तौ)उन दोनों प्रश्नों का उत्तर (वक्ष्यति) कह देवेंगे तो (युष्माकम्) आपलोगों के मध्य में (कश्चित्) कोई भी पुरुष (इमम्) इस याज्ञवल्क्य को (जातु) कभी भी (ब्रह्मोद्यम्) ब्रह्म सम्बन्धीवाद में (न) नहीं (जेता) जीत सकेगा (इति) इस प्रकार गार्गी के वचन सुनकर ब्राह्मणों ने (इति) ऐसा कहा कि (गार्गि) हे गार्गि (पृच्छ) तुम पूछो, हमलोग आज्ञा देते हैं ॥१॥

विशेषार्थ– अन्तर्यामिब्राह्मण में सुप्रसिद्ध ब्रह्मवेत्ता उद्दालक ऋषि के चुप हो जाने के पश्चात् पहले इसी अध्याय के षष्ठ ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य महर्षि के निषेध करने पर मस्तक गिर जाने के भय से मौन हुई परम प्रसिद्धा वचक्नु ऋषि की पुत्री गार्गी पुनः प्रश्न करने के लिये ब्राह्मणों से आज्ञा मांगती है कि– हे षडैश्वर्यसम्पन्न परम पूजनीय ! हे ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मवादी महात्माओं ! मेरी बात सुनिये, यदि आपलोगों की अनुमति हो तो मैं इन याज्ञवल्क्यजी से दो प्रश्न और पूछूँगी । हे ब्राह्मणों ! यदि ये याज्ञवल्क्य उन दोनों प्रश्नों का उत्तर मुझसे कह देवेंगे तो आपलोगों में से कोई भी इन याज्ञवल्क्य जी को ब्रह्म सम्बन्धीवाद में कभी किसी प्रकार भी जीतनेवाला नहीं हो सकेगा । यह मेरा निश्चय है ! आपलोगों की क्या सम्मति है ? गार्गी के इस वचन को सुनकर प्रसन्न हो सब ब्राह्मणों ने कहा कि– हे गार्गि ! तुम पूछो हमलोग आज्ञा देते हैं ॥१॥

सा होवाचाहं वै त्वा याज्ञवल्क्य यथा काश्यो वा वैदेहो वोग्रपुत्र उज्ज्यं धनुरधिज्यं कृत्वा द्वौ बाणवन्तौ सपत्नातिव्याधिनौ हस्ते कृत्वोपोत्तिष्ठेदेवमेवाहं त्वा द्वाभ्यां प्रश्नाभ्यामुपोदस्थां तौ मे ब्रूहीति । पृच्छ

गार्गीति ॥२॥

अन्वयार्थ– (ह) परम प्रसिद्ध (सा) वह गार्गी ब्राह्मणों की आज्ञा पा कर (उवाच) याज्ञवल्क्य से पुनः बोली कि (याज्ञवल्क्य) हे याज्ञवल्क्य (अहम्) मैं (वै) निश्चय करके (त्वा) तुम से (यथा) जैसे (काश्यः) काशी देश में उत्पन्न होनेवाला (वा) अथवा (वैदेहः) विदेह देश में उत्पन्न होनेवाला (वा) या (उग्रपुत्रः) शूर; वीर, योद्धा के वंश में उत्पन्न पुत्र (उज्ज्यम्) प्रत्यञ्चाहीन (धनुः) धनुष को (अधिज्यम्) प्रत्यञ्चा सहित (कृत्वा) करके (सपत्नातिव्याधिनौ) शत्रुओं को अत्यन्त पीड़ा देने वाले (बाणवन्तौ) तीक्ष्णाग्रवाले (द्वौ) दो शरों को (हस्ते) हाथ में (कृत्वा) लेकर (उपोत्तिष्ठेत्) शत्रुओं के समीप में उपस्थित होता है (एवम्) वैसे (एव) ही (अहम्) मैं (त्वा) तुम्हारे निकट (द्वाभ्याम्) दो (प्रश्नाभ्याम्) प्रश्नों से (उपोदस्थाम्) उपस्थित हुई हूँ (तौ) उन दोनों प्रश्नों का उत्तर (मे) मुझसे (ब्रूहि) तुम कहो (इति) इस प्रकार गार्गी के वचन को सुनकर याज्ञवल्क्य ने (इति) ऐसा कहा कि (गार्गि) हे गार्गि (पृच्छ) तुम अपनी इच्छा के अनुसार पूछो ॥२॥

विशेषार्थ– ब्राह्मणों की आज्ञा मिलने पर सुप्रसिद्धा ब्रह्मवादिनी उस गार्गी ने आचार्य याज्ञवल्क्य से पुनः कहा कि– हे याज्ञवल्क्य ! मैं निश्चय करके आपसे दो प्रश्न पूछूँगी । वे दोनों प्रश्न कौन से हैं ? ऐसी जिज्ञासा होने पर यह दिखलाने के लिये कि उनका उत्तर देना कठिन है, गार्गी उन्हें दृष्टान्त पूर्वक बतलाती है कि– हे याज्ञवल्क्य ! जिस प्रकार काशी देश में उत्पन्न होनेवाला काशीदेशाधिपति अथवा विदेह देश में उत्पन्न होनेवाला विदेहदेशेश्वर अथवा "वैदेह" जाति वाला । वैदेह जाति के विषय में लिखा है– **वैश्यान्मागधवैदेहौ ॥** (मनु० अ० १० श्लोक १७) क्षत्रियाणी में वैश्य से उत्पन्न हुए का नाम मागध है और ब्राह्मणी में वैश्य से उत्पन्न हुए का नाम वैदेह है ॥१७॥ **ब्राह्मण्यां क्षत्रियात्सूतः तस्यां वैदेहकोविशः ॥** (अमर० कां० २ व० १० श्लो० ३) ब्राह्मणी में क्षत्रिय से उत्पन्न का नाम सूत है और ब्राह्मणी में वैश्य से उत्पन्न हुए का नाम वैदेह है ॥३॥ "उग्रपुत्र" यानी उग्र= शूर, वीर, योद्धा के वंश में उत्पन्न पुत्र अथवा उग्र जाति के पुत्र । उग्र जाति के विषय में लिखा है– **क्षत्रियाच्छूद्रकन्यायां क्रूराचारविहारवान् । क्षत्रशूद्रवपुर्जन्तुरुग्रो नाम प्रजायते ॥** (मनु० अ० १० श्लोक ९) क्षत्रिये से शूद्र की कन्या में क्रूर आचार वाला और क्रूर कर्म में विहार करने वाला तथा क्षत्रिय और शूद्र के समान शरीर स्वभाववाला उग्र नाम का जन्तु उत्पन्न होता है ॥९॥ धनुष के गुण का नाम ज्या है । क्योंकि लिखा है– **मौर्वी ज्या शिञ्जिनी गुणः ॥** (अमर० कां० २ व० ८ श्लोक ८५) मौर्वी १, ज्या

२, शिञ्जिनी ३ और गुण ४ ये धनुष की प्रत्यञ्चा के नाम हैं ।।८५।। अर्थात् प्रत्यञ्चारहित धनुष को पुनः प्रत्यञ्चा युक्त करके शत्रुओं को अत्यन्त पीड़ा देनेवाले और तीक्ष्णाग्र वाले दो तीरों को हाथ में लेकर शत्रुओं के पास में उपस्थित होता है । उसी प्रकार मैं शरस्थानीय दो प्रश्न लेकर तुम्हारे निकट उपस्थित हुई हूँ । अतः यदि तुम ब्रह्मवेत्ता हो तो उन दोनों प्रश्नों का उत्तर मुझसे कहो । इस प्रकार गार्गी के वचन को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि हे गार्गि ! तू अपनी इच्छा के अनुसार पूछ । जिसका ज्या = गुण = रस्सी उतार लिया गया हे उसको "उज्ज्य" कहते हैं । और जिस पर ज्या = रस्सी चढ़ाई गयी हो उसको "अधिज्य" कहते हैं । शर के अग्र भाग में जो तीक्ष्ण लोहा लगाया जाता है उसको भी बाण ही कहते हैं । इसी से "बाणवन्तौ" ऐसा कहा गया है । इस प्रकार स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है ।।२।।

सा होवाच यदूर्ध्वं याज्ञवल्क्य दिवो यदवाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षते कस्मिँस्तदोतं च प्रोतं चेति ।।३।।

अन्वयार्थ– (ह) परमप्रसिद्धा (सा) वह गार्गी (उवाच) बोली कि (याज्ञवल्क्य) हे याज्ञवल्क्य (दिवः) द्युलोक से (यद्) जो (ऊर्ध्वम्) ऊपर लोकजात है (च) और (पृथिव्याः) पृथ्वी से (अवाक्) नीचे (यत्) जो वस्तुजात है (च) और (द्यावापृथिवी) द्युलोक तथा भूलोक के (अन्तरा) मध्य में (यत्) जो वस्तु जात है तथा (इमे) ये दोनों द्युलोक और पृथ्वी लोक हैं (च) और (यत्) जिसको (भूतम्) भूत (च) और (भवत्) वर्तमान तथा (भविष्यत्) भविष्य (इति) ऐसा (आचक्षते) विद्वान् लोग कहते हैं (तत्) वह सब वस्तु जात (कस्मिन्) किसमें (ओतम्) दीर्घ तिर्यक् तन्तु के समान ओत यानी ग्रथित है (च) और (प्रोतम्) प्रोत है यानी आश्रित है (इति) यह मेरा प्रथम प्रश्न है ।।३।।

विशेषार्थ– सुप्रसिद्धा ब्रह्मवादिनी उस गार्गी ने कहा कि– हे याज्ञवल्क्य ! द्युलोक से ऊपर जो लोकजात है और पृथ्वी से नीचे जो वस्तुजात है । तथा द्युलोक और पृथ्वीलोक के बीच में जो वस्तुजात है । और स्वयं जो ये द्युलोक तथा भूलोक हैं । द्युलोक तथा पृथ्वी के विषय में लिखा है– **ताभ्यां स शकलाभ्यां च दिवं भूमिं च निर्ममे ।।** (मनु० अ० १ श्लो० १३) उस प्रजापति ने उन दोनों अण्डखण्डों से अर्थात् ऊपर के अण्डखण्ड से द्युलोक को और नीचे के अण्डखण्ड से भूलोक को बनाया ।।१३।। और स्वयं जो ये द्युलोक तथा भूलोक हैं तथा जिसको भूत वर्तमान

तथा भविष्य ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं अर्थात् कालत्रयपरिछिन्न जो वस्तुजात है वह सब वस्तुजात किसमें दीर्घ, तिर्यक् तन्तु के समान ओत और प्रोत है अर्थात् ग्रथित है ? किसके आश्रित है ? यह मेरा प्रथम प्रश्न है ।।३।।

स होवाच यदूर्ध्वं गार्गि दिवो यदवाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षत आकाशे तदोतं च प्रोतं चेति ।।४।।

अन्वयार्थ– (ह) सुप्रसिद्ध (सः) उस आचार्य याज्ञवल्क्य ने (उवाच) कहा कि (गार्गि) हे गार्गि (दिवः) द्युलोक से (यत्) जो (ऊर्ध्वम्) ऊपर लोकजात है (च) और (पृथिव्याः) पृथ्वी से (अवाक्) नीचे (यत्) जो वस्तुजात है (च) और (द्यावापृथिवी) द्युलोक और भूलोक के (अन्तरा) मध्य में (यत्) जो वस्तुजात है तथा (इमे) ये दोनों द्युलोक और पृथ्वी लोक हैं (च) और जिसको (भूतम्) भूत (च) और (भवत्) वर्तमान तथा (भविष्यत्) भविष्य (इति) ऐसा (आचक्षते) विद्वान्लोग कहते हैं (तत्) वह सब वस्तुजात (आकाशे) अव्याकृत आकाश में (ओतम्) दीर्घ तिर्यक् तन्तु के सामान ओत यानी ग्रथित है (च) और (प्रोतम्) प्रोत है यानी आश्रित है (इति) यह तेरे प्रथम प्रश्न का उत्तर है ।।४।।

विशेषार्थ– गार्गी का पहला प्रश्न सुनकर सुप्रसिद्ध उस आचार्य याज्ञवल्क्य महर्षि ने कहा कि– हे गार्गि ! द्युलोक से ऊपर जो लोकजात है । और पृथ्वी से नीचे जो वस्तुजात है । तथा द्युलोक और पृथ्वीलोक के बीच में जो वस्तुजात है । और स्वयं जो ये द्युलोक तथा भूलोक हैं तथा जिसको वर्त्तमान और भविष्यऐसा विद्वान् लोग कहते हैं अर्थात् कालत्रयपरिछिन्न जो वस्तुजात है वह सम्पूर्ण वस्तुजात अव्याकृत आकाश में दीर्घ तिर्यक् तन्तु के समान ओत और प्रोत है । अर्थात् आकाश में ग्रथित है और आकाश के सब आश्रित हैं । यहाँ पर आकाश शब्द से वायुमत् आकाश नहीं ग्रहण किया जाता है । किन्तु भूत, सूक्ष्म, अव्याकृत आकाश ही ग्रहण किया जाता है । हे गार्गि यह तेरे पहले प्रश्न का उत्तर है । अनन्तरूपधारी भगवद्रामानुजाचार्य ने । **अक्षरमम्बरान्तधृतेः ॥** (शा० मी० अ० १ पा० ३ सू० ९) के श्रीभाष्य में "बृहदारण्यकोपनिषद्" के तृतीय अध्याय के अष्टम ब्राह्मण की चतुर्थ कण्डिका को उद्धृत किया है ।।४।।

सा होवाच नमस्तेऽस्तु याज्ञवल्क्य यो म एतं व्यवोचोऽपरस्मै धारयस्वेति । पृच्छ गार्गीति ॥५॥

अन्वयार्थ– (ह) परमप्रसिद्धा (सा) उस ब्रह्मवादिनी गार्गी ने (इति) ऐसा (उवाच) कहा कि (याज्ञवल्क्य) हे याज्ञवल्क्य महर्षे (ते) आपके लिये (नमः) मेरा नमस्कार (अस्तु) होवे (यः) जिन्होंने (मे) मेरे (एतम्) इस प्रश्न के उत्तर को (व्यवोचः) विशेषरूप से व्याख्यान किया है अब (अपरस्मै) दूसरे प्रश्न के लिये (धारयस्व) अपने को दृढ़तापूर्वक धारण कीजिये (इति) गार्गी के इस वचन को सुनकर सुप्रसिद्ध उस याज्ञवल्क्य ने कहा कि (गार्गि) हे गार्गि (पृच्छ) तुम अपनी इच्छा के अनुसार दूसरा प्रश्न भी पूछो ॥५॥

विशेषार्थ– आचार्य याज्ञवल्क्य के समीचीन उत्तर को सुनकर अतिप्रसन्न हो वह सुप्रसिद्धा ब्रह्मवादिनी गार्गी विनयपूर्वक बोली कि– हे याज्ञवल्क्य महर्षे ! आपके लिये मेरा नमस्कार हो । जिन आपने मेरे प्रश्न के उत्तर को सविशेषरूप से व्याख्यान किया है । अब दूसरे प्रश्न के लिये आप अपने को दृढ़तापूर्वक तैयार कीजिये । अर्थात् तैयार हो जाइये । गार्गी के इस वाक्य को सुनकर सुप्रसिद्ध उस महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा कि– हे गार्गि ! तुम अपनी इच्छा के अनुसार दुसरा प्रश्न भी पूछ लो ॥५॥

सा होवाच यदूर्ध्वं याज्ञवल्क्य दिवो यदवाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षते कस्मिंस्तदोतं च प्रोतं चेति ॥६॥

अन्वयार्थ– (ह) परमप्रसिद्धा (सा) वह गार्गी (उवाच) बोली कि (याज्ञवल्क्य) हे याज्ञवल्क्य (दिवः) द्युलोक से (यत्) जो (ऊर्ध्वम्) ऊपर लोकजात है (च) और (पृथिव्याः) पृथ्वी से (अवाक्) नीचे (यत्) जो वस्तुजात है (च) और (द्यावापृथ्वी) द्युलोक तथा भूलोक के (अन्तरा) मध्य में (यत्) जो वस्तुजात है तथा (इमे) ये दोनों द्युलोक तथा पृथ्वीलोक हैं (च) और (यत्) जिसको (भूतम्) भूत (च) और (भवत्) वर्तमान तथा (भविष्यत्) भविष्य (इति) ऐसा (आचक्षते) विद्वान् लोग कहते हैं (तत्) वह सब वस्तुजात (कस्मिन्) किसमें (ओतम्) दीर्घ तिर्यक् तन्तु के समान ओत यानी ग्रथित है (च) और (प्रोतम्) प्रोत है यानी आश्रित है (इति) यह मेरा प्रश्न है ॥६॥

विशेषार्थ– सुप्रसिद्ध उस ब्रह्मवादिनी गार्गी ने कहा कि– हे याज्ञवल्क्य ! द्युलोक से ऊपर जो लोक जात है और पृथ्वी से नीचे जो वस्तु जात है । तथा द्युलोक और पृथ्वीलोक के बीच में जो वस्तुजात है । और स्वयं जो ये द्युलोक तथा भूलोक हैं तथा जिसको भूत, वर्तमान और भविष्य ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं अर्थात् कालत्रय-परिछिन्न जो वस्तुजात है वह समस्त वस्तुजात किसमें दीर्घ, तीर्यक् तन्तु के समान ओत और प्रोत है अर्थात् ग्रथित है ? किसके आश्रित है ? यह मेरा प्रश्न है ? यह कण्डिका तृतीय कण्डिका के समान है । पूर्वोक्त अर्थ का ही निश्चय करने के लिये पुनः कहा गया है । यहाँ कोई दूसरा अपूर्व नूतन अर्थ नहीं कहा गया है ।।६।।

स होवाच यदूर्ध्वं गार्गि दिवो यदवाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षत आकाश एव तदोतं च प्रोतं चेति । कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्चेति ।।७।।

अन्वयार्थ– (ह) सुप्रसिद्ध (सः) उस आचार्य याज्ञवल्क्य ने (उवाच) कहा कि (गार्गि) हे गार्गि (दिवः) द्युलोक से (यत्) जो (ऊर्ध्वम्) ऊपर लोकजात है (च) और (पृथिव्याः) पृथ्वी से (अवाक्) नीचे (यत्) जो वस्तुजात है (च) और (द्यावापृथिवी) द्युलोक तथा भूलोक के (अन्तरा) मध्य में (यत्) जो वस्तुजात है तथा (इमे) ये दोनों द्युलोक और पृथ्वीलोक हैं (च) और (यत्) जिसको (भूतम्) भूत (च) और (भवत्) वर्तमान तथा (भविष्यत्) भविष्य (इति) ऐसा (आचक्षते) विद्वान् लोग कहते हैं (तत्) वह सब वस्तुजात (आकाशे) अव्याकृत आकाश में (एव) निश्चय करके (ओतम्) दीर्घ तिर्यक् तन्तु के समान ओत यानी ग्रथित है (च) और (प्रोतम्) प्रोत है यानी आकाश के आश्रित है (इति) इस उत्तर को सुनकर पुनः गार्गी (नु) प्रश्न करती है कि (खलु) वाक्यालङ्कार है । हे याज्ञवल्क्य (आकाशः) अव्याकृत आकाश (कस्मिन्) किसमें (ओतः) दीर्घ तिर्यक् तन्तु के समान ओत यानी ग्रथित है (च) और (प्रोतः) प्रोत (च) भी है यानी आश्रित है (इति) यह मेरा द्वितीय प्रश्न है ।।७।।

विशेषार्थ– गार्गी के वाक्य को सुनकर सुप्रसिद्ध उस आचार्य याज्ञवल्क्य महर्षि ने कहा कि– हे गार्गि ! द्युलोक से ऊपर जो लोकजात है । और पृथ्वी से नीचे जो वस्तुजात है तथा द्युलोक और पृथ्वीलोक के बीच में जो वस्तुजात है और स्वयं जो ये द्युलोक तथा भूलोक हैं । और जिसको भूत, वर्तमान तथा भविष्य ऐसा विद्वान् लोग

कहते हैं अर्थात् कालत्रय परिछिन्न जो वस्तु जात है वह सब वस्तुजात अव्याकृत आकाश में ही दीर्घ, तिर्यक् तन्तु के समान ओत और प्रोत है अर्थात् अव्याकृत आकाश में ग्रथित है और अव्याकृत आकाश के सब आश्रित है। यहाँ पर आकाश शब्द से वायुमत आकाश नहीं ग्रहण किया जाता है। किन्तु भूत, सूक्ष्म अव्याकृत आकाश ही ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार आचार्य याज्ञवल्क्य के उत्तर सुनकर पुनः गार्गी पूछती है कि– हे याज्ञवल्क्य ! वह अव्याकृत आकाश किसमें दीर्घ तिर्यक् तन्तु के समान ओत है यानी ग्रथित है और प्रोत यानी आश्रित है ? यह मेरा दूसरा प्रश्न है ? इस श्रुति में "नु" शब्द प्रश्न वाचक है और "खलु" शब्द वाक्यालङ्कार वाचक है। क्योंकि लिखा है– **नु पृच्छायां विकल्पे च ॥** (अमर० कां० ३ व० ३ श्लो० २४८) नु शब्द प्रश्न और विकल्प में प्रयुक्त होता है ।।२४८।। **निषेधवाक्यालङ्कारजिज्ञासानुनये खलु ॥** (अमर० कां० ३ व० ३ श्लो० २५५) निषेध १, वाक्यालङ्कार २ जिज्ञासा ३ और अनुनय में ४ खलु शब्द प्रयुक्त होता है ।।२५५।। यह कण्डिका चतुर्थ कण्डिका के समान है। लक्ष्मणरूपधारी भगवद्रामानुजाचार्य ने। **अक्षरमम्बरान्तधृतेः ॥** (शा० मी० अ० १ पा० ३ सू० ९) के श्रीभाष्य में "बृहदारण्यकोपनिषद्" के तृतीय अध्याय के अष्टम ब्राह्मण की सातवीं कण्डिका के पदों को उद्धृत किया है ।।७।।

स होवाचैतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणाअभिवदन्त्यस्थूल मनण्वह्रस्वमदीर्घलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशम सङ्गमरसमगन्धचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनो ऽतेजस्कम-प्राणमुखममात्रमनन्तरमबाह्यं न तदश्नाति किञ्चन न तदश्नाति कश्चन ।।८।।

अन्वयार्थ– (ह) सुप्रसिद्ध (सः) उस याज्ञवल्क्य ने (उवाच) कहा कि (गार्गि) हे गार्गि (ब्राह्मणाः) ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मवादी लोग (वै) निश्चक करके (तत्) उस समस्त उपनिषदों में प्रसिद्ध (एतत्) इस तत्त्व को (अक्षरम्) नहीं क्षरित होनेवाला ब्रह्म (अभिवदन्ति) अच्छी तरह कहते हैं (अस्थूलम्) वह ब्रह्म मोटा नहीं है और (अनणु) पतला भी नहीं है तथा (अह्रस्वम्) छोटा नहीं है और (अदीर्घम्) लम्बा भी नहीं है तथा (अलोहितम्) लाल नहीं है और (अस्नेहम्) सांसारिक जीव के समान स्नेहवाला भी नहीं है तथा (अच्छायम्) छाया से भिन्न है और (अतमः) अन्धकार भी नहीं है तथा (अवायु) वायु नहीं है और (अनाकाशम्) आकाश भी नहीं है तथा (असङ्गम्) संसारी जीव के समान किसी से सङ्ग करनेवाला नहीं है और (अरसम्)

प्राकृत मधुरादिरस नहीं है तथा (अगन्धम्) प्राकृत सुगन्धादि गन्ध नहीं है और (अचक्षुष्कम्) प्राकृत नेत्रेन्द्रिय नहीं है तथा (अश्रोत्रम्) श्रोत्रेन्द्रिय भी नहीं है और (अवाक्) वागिन्द्रिय नहीं है तथा (अमनः) मन भी नहीं और (अतेजस्कम्) प्राकृततेज से रहित है तथा (अप्राणम्) प्राकृत प्राणवायु रहित है और (अमुखम्) प्राकृतमुखरहित है तथा (अमात्रम्) परिच्छेद रहित है और (अनन्तरम्) उसमें छिद्र नहीं है तथा (अबाह्यम्) वह अबाह्य है अर्थात् स्वाव्याप्तत्देश शून्य है (तत्) वह परब्रह्म अवाप्तकाम होने से (किञ्चन) किसी वस्तु को भी (न) नहीं (अश्नाति) खाता है और (कश्चन) कोई भी (तत्) उस परब्रह्म नारायण को (न) नहीं (अश्नाति) खाता है ।।८।।

विशेषार्थ– सुप्रसिद्ध वह आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– हे गार्गि ! तू ने जिसके विषय में पूछा था कि– "अव्याकृत आकाश किसमें ओत प्रोत है" इसका उत्तर कहा जाता है, सावधान होकर श्रवण करो । हे गार्गि ! ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मवादीलोग निश्चय करके उस सम्पूर्ण उपनिषदों में प्रसिद्ध इस तत्त्व को अविनाशी परब्रह्म नारायण कहते हैं । "यन्न क्षीयते न क्षरतीति वाक्षरम्" जो क्षीण नहीं होता अथवा क्षरित नहीं होता वह अक्षर है । अथवा "अश्नुते व्याप्नोतीति अक्षरः" इस व्युत्पत्ति में "अशूङ् व्याप्तौ संघाते च" इस धातु से अक्षर शब्द निष्पन्न होता है, इससे जो व्यापक हो उसको अक्षर कहते हैं । यह यहाँ पर परब्रह्म नारायण वाचक है । क्योंकि लिखा है– **अव्ययः पुरुषः साक्षी क्षेत्रज्ञोऽक्षर एव च ॥** (महाभार० अनुशास० विष्णुसह० श्लो० १५) अव्यय १, पुरुष २, साक्षी ३, क्षेत्रज्ञ ४ और अक्षर ५ ये परब्रह्म नारायण के नाम हैं ।।१५।। आगे इसी अक्षर यानी परब्रह्म का अनेक विशेषण कहा जाता है कि– वह परब्रह्म नारायण स्थूल से भिन्न है अर्थात् मोटा नहीं है । तो क्या अणु है नहीं वह अनणु है अर्थात् पतला भी नहीं है । अच्छा तो क्या ह्रस्व यानी छोटा है नहीं वह ह्रस्व नहीं है अर्थात् छोटा नहीं है । तो क्या दीर्घ है ? नही वह अदीर्घ है अर्थात् लम्बा या बड़ा नहीं है । इस प्रकार उसके स्थूलत्व आदि परिमाण का प्रतिषेध करनेवाले इन चार पदों द्वारा प्राकृतद्रव्य धर्म का निषेध किया गया है । तो फिर वह लाल गुण है नहीं उससे भिन्न अलोहित है । लाल अग्नि का गुण है । अच्छा तो जल का गुण स्नेहन यानी द्रवीभाव है नहीं अस्नेह है । अथवा वह सांसारिक जीव के समान प्राकृत स्नेहवाला नहीं है । तो क्या छाया है ? नहीं, वह सर्वथा छाया से भिन्न है । तो फिर क्या तम है ? नहीं, वह अन्धकार नहीं है । अच्छा तो क्या वायु है ? नहीं, वह वायु से भिन्न है । तो फिर क्या आकाश है ? नहीं, वह आकाश भी नहीं है । तो क्या सङ्गवान् है ? नहीं, वह सांसारिक जीव के समान किसी से सङ्ग करनेवाला नहीं है । तो क्या रस है ? नहीं, अरस है अर्थात् प्राकृतमधुरादि रस वह नहीं है । अच्छा

तो क्या गन्ध है ? नहीं वह प्राकृतसुगन्धादि गन्ध नहीं है। तो फिर क्या चक्षु है ? नहीं वह नेत्रेन्द्रिय नहीं है। क्योंकि लिखा है— **पश्यत्यचक्षुः ॥** (श्वेता० उ० अ० ३ श्रु० १९) परमात्मा आँखों के बिना ही सब कुछ देखता है ॥१९॥ और वह प्राकृत श्रोत्रेन्द्रिय रहित है। क्योंकि लिखा है— **स शृणोत्यकर्णः ॥** (श्वेता० उ० अ० ३ श्रु० १९) वह परमात्मा कानों के बिना ही सब कुछ सुनता है ॥१९॥ तो फिर क्या वाक् है ? नहीं, वह अवाक् है। और वह अमन है। तथा इसी प्रकार वह प्राकृत तेज से रहित है। और प्राकृत प्राणादि वायु से भी वह रहित है। और वह परमात्मा प्राकृत मुख रहित है। तथा वह परिमाण रहित है। तो फिर क्या छिद्रवाला है ? नहीं, उस परमात्मा में छिद्र नहीं है। और वह अबाह्य है अर्थात् स्वाव्याप्तदेशशून्य है। अच्छा तो क्या वह भक्षण करने वाला है ? नहीं, अवाप्तकाम होने से वह परब्रह्म नारायण कुछ भी नहीं भोजन करता है तब वह स्वयं ही किसी दूसरे का भक्ष्य हो सकता है क्या ? नहीं, उस परब्रह्म नारायण को कोई भी नहीं भोजन करता है। इस श्रुति में "अश्रोत्रम्" "अमुखम्" इत्यादि पदों से प्राकृतहेय शरीरेन्द्रियादि परमात्मा का निषेध किया गया है। दिव्यमङ्गलमय विग्रहादिका निषेध नहीं किया गया है। क्योंकि लिखा है— **हिरणमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ॥** (ईशो० श्रु० १५) ज्योतिर्मय पात्र से सत्यस्वरूप सर्वेश्वर का श्रीमुखारबिन्द ढका हुआ है ॥१५॥ **यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि ॥** (ईशो० श्रु० १६) जो तुम्हारा मङ्गलमय रूप है उस तुम्हारे स्वरूप को मैं देखता हूँ ॥१६॥ **या ते तनूः ॥** (प्रश्नोप० प्रश्न० २ श्रु० १२) जो तुम्हारा शरीर है ॥१२॥ **यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णम् ॥** (मुण्डको० मु० ३ खं० १ श्रु० ३) जिस समय में साधक पुरुष हिरण्याकार परमात्मा को देखता है ॥३॥ **सहस्त्रशीर्षा पुरुषः सहस्त्राक्षः सहस्त्रपात् ॥** (श्वेता० उ० अ० ३ श्रु० १४) वह परब्रह्म नारायण हजारों सिर वाला, हजारों आँखवाला और हजारों पैरवाला है ॥१४॥ **सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् । सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥** (श्वे० उ० अ० ३ श्रु० १६) (गीता० अ० १३ श्लो० १३) वह परमपुरुष परमात्मा सब जगह हाथ, पैरवाला तथा सब जगह आंख, सिर और मुखवाला तथा सब जगह कानवाला है, वही ब्रह्माण्ड में सब को सब ओर से घेरकर स्थित है ॥१६॥१३॥ **अणोरणीयान्महतो महीयानात्मा ॥** (श्वे० उ० अ० ३ श्रु० २०) वह परमात्मा सूक्ष्म से भी अतिसूक्ष्म और बड़े से भी बहुत बड़ा है ॥२०॥ अब यहाँ पर हम उपनिषद् और श्रीरामानुजवेदान्तदर्शन का सामञ्जस्य बतलानेवाले एक श्लोक को उद्धृत करता हूँ कृपया सज्जन लोग अवलोकन करें। **नित्यं हेयगुणावधूननपरा नैर्गुण्यवादाः श्रुतौ मुख्यार्थाः सगुणोक्तयः शुभगुणप्रख्यापनाद् ब्रह्मणः । अद्वैतश्रुतयो विशिष्टविषया निष्कृष्टरूपाश्रया भेदोक्तिस्तदिहाखिलश्रुतिहितं रामानुजीयं मतम् ॥** श्रुति में जो निर्गुण स्वरूप के

प्रतिपादक वचन हैं उनका तात्पर्य परमात्मा में हेय गुणों का नित्य निराकरण मात्र है। सगुण स्वरूप के प्रतिपादक वचन अपने मुख्य अर्थ में ही तात्पर्य रखते हैं क्योंकि वे ब्रह्म के नित्य कल्याणमय गुणों का ही बखान करनेवाले हैं। अद्वैत श्रुतियाँ चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म से सम्बन्ध रखती हैं अर्थात् चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म से भिन्न दूसरी कोई वस्तु नहीं है यह बतलाती हैं। तथा भेद प्रतिपादक श्रुति ब्रह्म के ही चित् अचित् आदि स्वरूपों का पृथक् निरूपणमात्र करनेवाली है। इस प्रकार श्रीरामानुजाचार्य का मत सर्वश्रुति सम्मत है। बलरामरूपधारी भगवद्रामानुजाचार्य। **अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॥** (शा॰ मी॰ अ॰ १ पा॰ १ सू॰ १) **अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ॥** (शा॰ मी॰ अ॰ १ पा॰ १ सू॰ २१) **अक्षरमम्बरान्तधृतेः ॥** (शा॰ मी॰ अ॰ १ पा॰ ३ सू॰ ९) **अक्षरधियां त्ववरोध-स्सामान्यतद्भावाभ्यामौपसदवत्तदुक्तम् ॥** (शा॰ मी॰ अ॰ ३ पा॰ ३ सू॰ ३३) इन चार सूत्रों के श्रीभाष्य में "बृहदारण्यकोपनिषद्" के तृतीय अध्याय के अष्टम ब्राह्मण की आठवीं कण्डिका के पदों को उद्धृत किया है॥

एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठत एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृतौ तिष्ठतः। एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि निमेषा मुहूर्ता अहोरात्राण्यर्धमासा मासा ऋतवः संवत्सरा इति विधृतास्तिष्ठन्ति। एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि प्राच्यो नद्यः स्यन्दन्ते श्वेतेभ्यः पर्वतेभ्यः प्रतीच्योऽन्या यां यां च दिशमनु। एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ददतो मनुष्याः प्रशंसन्ति यजमानं देवा दर्वीं पितरोऽन्वायत्ताः ॥९॥

अन्वयार्थ– (गार्गि) हे गार्गि (वै) निश्चय करके (एतस्य) इस (अक्षरस्य) अविनाशी परब्रह्म के (प्रशासने) आज्ञा में ((सूर्याचान्द्रमसौ) सूर्य और चन्द्रमा (विधृतौ) विशेष रूप से धारण किये हुए (तिष्ठतः) स्थित रहते हैं (गार्गि) हे गार्गि (वै) निश्चय करके (एतस्य) इस (अक्षरस्य) अविनाशी परब्रह्म के (प्रशासने) प्रशासन में (द्यावापृथव्यौ) द्युलोक और पृथ्वी (विधृतौ) विशेषरूप से धारण किये हुए (तिष्ठतः) स्थित रहते हैं तथा (गार्गि) हे गार्गि (वै) निश्चय करके (एतस्य) इस (अक्षरस्य)

अविनाशी परब्रह्म की (प्रशासने) आज्ञा में (निमेषः) निमेष (मुहूर्ताः) मुहूर्त (अहोरात्राणि) दिन और रात (अर्धमासाः) पक्ष (मासाः) मास (ऋतवः) ऋतु (संवत्सराः) और संवत्सर (इति) ये कालविशेष (विधृताः) विशेष रूप से धारण किये हुए (तिष्ठन्ति) नियमित रूप से स्थित रहते हैं और (गार्गि) हे गार्गि (वै) निश्चय करके (एतस्य) इस (अक्षरस्य) अविनाशी परब्रह्म के (प्रशासने) प्रशासन में (प्राच्यः) पूर्व दिशा की ओर बहने वाली (नद्यः) प्रसिद्ध गङ्गा आदि नदियाँ (श्वेतेभ्यः) हिमालय आदि श्वेत (पर्वतेभ्यः) पर्वतों से निकल कर (स्यन्दन्ते) लोकोपकार के लिये बहती हैं ओर (प्रतीच्यः) पश्चिम दिशा की ओर बहने वाली प्रसिद्ध सिन्धु आदि नदियाँ हिमालय आदि श्वेतपर्वतों से निकलकर पश्चिम की ओर लोकोपकार के लिये बहती हैं (च) और (अन्याः)) अन्य उत्तर दिशा की ओर और दक्षिण दिशा की ओर बहने वाली नदियाँ (याम्) जिस (दिशम्) दिशा को (अनु) अनुसरण करती हैं वे सब उसी परब्रह्म नारायण की आज्ञा से बहती हैं और (गार्गि) हे गार्गि (वै) निश्चय करके (एतस्य) इस (अक्षरस्य) अविनाशी परब्रह्म की (प्रशासने) आज्ञा में (ददतः) कैंकर्यबुद्धि से दान देने वाले जनों को (अन्वायत्ताः) अनुवश होते हुए (मनुष्याः) मनुष्यगण (प्रशंसन्ति) प्रशंसा करते हैं तथा परमात्मा की आज्ञा से (यजमानम्) कैङ्कर्यबुद्धि करके याग करने वाले यजमान के अनुवश होते हुए (देवाः) देवगण प्रशंसा करते हैं और परमात्मा की आज्ञा से प्रवृत्त (दर्वीम्) दर्वी होम को अनुवश होते हुए (पितरः) पितृगण प्रशंसा करते हैं ॥९॥

विशेषार्थ– हे गार्गि ! जैसे कि राजा के प्रशासन में राज्य अखण्ड और नियमित रूप से रहता है वैसे ही इस अक्षर परब्रह्मनारायण की आज्ञा में सूर्य और चन्द्रमा विशेष रूप से धारण किये हुए स्थित रहते हैं । जो क्षीण नहीं होता है या क्षरित नहीं होता है अथवा सर्वत्र व्यापक होकर रहता है, वह अक्षर है । और हे गार्गि ! इस अक्षर परब्रह्म नारायण की आज्ञा में ही द्युलोक और पृथ्वी विशेष रूप से धारण किये हुए स्थित रहते हैं । तथा हे गार्गि ! इस अक्षर परब्रह्म नारायण की आज्ञा में ही निमेष मुहूर्त दिनरात पक्ष मास ऋतु वर्ष इत्यादि ये काल विशेषरूप से धारण किये हुए स्थित रहते हैं । निमेष आदिक के विषय में लिखा है– **अष्टादश निमेषास्तु काष्ठा त्रिंशत्तु ताः कला । तास्तु त्रिंशत्क्षणस्ते तु मुहूर्तो द्वादशास्त्रियाम्** (अमर० कां० १ व० ४ श्लो० ११) **ते तु त्रिंशदहोरात्रः पक्षस्ते दश पञ्च च । पक्षौ पूर्वापरौ शुक्लकृष्णौ मासस्तु तावुभौ ॥ १२॥ द्वौ द्वौ मार्गादिमासौ स्यादृतुस्तैरयनं त्रिभिः । अयने द्वे गतिरुदग्दक्षिणार्कस्य वत्सरः ॥१३॥** पलक मारने का नाम निमेष है, अठारह निमेषों का नाम क्षण है और बारह क्षणों का नाम मुहूर्त है ॥११॥ तथा तीस मुहूर्तों का नाम

अहोरात्र है और पन्द्रह दिन रात का नाम पक्ष है । शुक्ल और कृष्ण भेद से पक्ष दो हैं। तथा दो पक्षों का नाम मास है ।।१२। मार्गशीर्षादि दो दो मासों की ऋतु है तथा तीन ऋतुओं का नाम अयन है । उत्तरायण और दक्षिणायन भेद से अयन दो हैं। और दो अयनों का नाम वत्सर यानी वर्ष है ।।१३।। और गार्गि ! इस अक्षर परब्रह्म नारायण की आज्ञा में ही पूर्वदिशा की ओर बहने वाली प्रसिद्ध गङ्गा आदिक नदियाँ हिमालय आदि श्वेत पर्वतों से निकल कर सर्वदा पूर्व की ओर बहती हैं । तथा हे गार्गि ! इस अक्षर परब्रह्मनारायण की आज्ञा में ही पश्चिम दिशा की ओर बहने वाली प्रसिद्ध सिन्धु आदि नदियाँ हिमालयादि श्वेत पर्वतों से निकल कर सर्वदा लोकोपकार के लिये पश्चिम की ओर बहती हैं। और हे गार्गि ! अन्य जो उत्तर दिशा की ओर बहनेवाली नदियाँ हैं, वे सब इस अक्षर परब्रह्म नारायण की आज्ञा से सर्वदा लोकोपकार के लिए उत्तर की ओर बहती हैं। तथा हे गार्गि अन्य जो दक्षिणदिशा की ओर बहने वाली नदियाँ हैं वे सब इस अक्षर परब्रह्म नारायण की आज्ञा से ही सर्वदा लोकोपकार के लिये दक्षिण की ओर बहती हैं अर्थात् जो नदियाँ जिस दिशा को अनुसरण करती हैं वे सब इस अक्षर परब्रह्म नारायण की आज्ञा से ही बहती हैं। और हे गार्गि ! इस परब्रह्म नारायण की आज्ञा में कैङ्कर्य बुद्धि से सुवर्णादि दान देने वाले पुरुषों को अनुवश होते हुए मनुष्य सब प्रशंसा करते हैं । इस श्रुति में "अन्वायत्ताः" इस पदका और "प्रशंसन्ति" इस क्रिया का "मनुष्याः" "देवाः" "पितरः" इन तीनों के साथ अन्वय होता है। इससे यह अर्थ होता है कि– इस अक्षर परब्रह्म नारायण की आज्ञा से कैङ्कर्य बुद्धि करके यज्ञ करने वाले यजमान को अनुवश होते हुए अग्नि वायु आदि देवगण प्रशंसा करते हैं और इस अक्षर परब्रह्म नारायण की आज्ञा से कैङ्कर्य बुद्धि करके प्रवृत्तदर्वीहोमको अनुवश होते हुए अर्यमा प्रभृति पितृगण प्रशंसा करते हैं। अर्थात् जिस अक्षर परब्रह्म नारायण की आज्ञा से ही समस्त श्रौत और स्मार्त याग, दान, होमादिक कर्म प्रवृत्त होता है। और उसकी प्रशंसा सब लोग करते हैं। पतञ्जलिरूपधारी भगवद्रामानुजाचार्य ने ।। **सा च प्रशासनात्** (शा० मी० अ० १ पा० ३ सू० ११) **धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः** (शा० मी० अ० १ पा० ३ सू० १५) **कम्पनात्** (शा० मी० अ० १ पा० ३ सू० ४०) **प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्** (शा० मी० अ० १ पा० ४ सू० २३) **अक्षरधियां त्ववरोधस्सामान्यतद्भावाभ्यामौपसदवत्तदुक्तम्** (शा० मी० अ० ३ पा० ३ सू० ३३) **अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात्** (शा० मी० अ० ३ पा० ४ सू० ८) इन सात सूत्रों के श्रीभाष्य में "बृहदारण्यकोपनिषद्" के तृतीय अध्याय के अष्टम ब्राह्मण की नवमी कण्डिका के पदों को उद्धृत किया है ।।९।।

यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्मिँल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते वहूनि वर्षसहस्राण्यन्तवदेवास्य तद्भवतीति यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः । अथ यो वा एतदक्षरं गार्गि विदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स ब्राह्मणः ॥१०॥

अन्वयार्थ– हे गार्गि (वै) निश्चय करके (यः) जो कोई अज्ञानी पुरुष (एतत्) इस (अक्षरम्) अविनाशी परब्रह्म नारायण को (अविदित्वा) नहीं जानकर (अस्मिन्) इस (लोके) भूलोक में (जुहोति) हवन करता है तथा (यजते) यज्ञ करता है और (बहूनि) बहुत (वर्षसहस्राणि) सहस्र वर्षपर्यन्त (तपः) तप (तप्यते) करता है (तत्) वह सब कर्म (अस्य) उसका (अन्तवत्) विनश्वरफलसाधन (एव) निश्चय करके (भवति) होता है (इति) ऐसा श्रौत सिद्धान्त है और (गार्गि) हे गार्गि (यः) जो कोई (वै) निश्चय करके (एतत्) इस (अक्षरम्) अविनाशी परब्रह्म नारायण को (अविदित्वा) नहीं जानकर (अस्मात्) इस (लोकात्) लोक से (प्रैति) मरकर चला जाता है (सः) वह (कृपणः) क्षुद्र है (अथ) और (गार्गि) हे गार्गि (वै) निश्चय करके (यः) जो कोई पुरुष (एतत्) इस (अक्षरम्) अविनाशी परब्रह्म नारायण को (विदित्वा) जानकर (अस्मात्) इस (लोकात्) लोक से (प्रैति) मरकर जाता है (सः) वही (ब्राह्मणः) ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण है ॥१०॥

विशेषार्थ– हे गार्गि ! निश्चय करके जो अज्ञानी पुरुष इस अक्षर परब्रह्म नारायण को नहीं जानकर इस लोक में हवन करता है तथा यज्ञ करता है और अनेकों सहस्रवर्षपर्यन्त तप करता है, उस अज्ञानी का वह सम्पूर्ण कर्म नश्वरफल साधन ही होता है ऐसा श्रौत सिद्धान्त है । तप के विषय में लिखा है– **वेदोक्तेन प्रकारेण कृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः । शरीरशोषणं यत्तत्तप इत्युच्यते बुधैः ॥** (जाबालद० उ० खं० २ श्रु० ३) वेदोक्त प्रकार से और कृच्छ्रचान्द्रायणादिक से जो शरीर को सुखान है, उसी को बुधजन तप कहते हैं ।।३।। **तपः कृच्छ्रचान्द्रायणद्वादश्युपवासादेः भगवत्प्रीणनकर्मयोग्यतापादनस्य करणम् ॥** (रामानुजभाष्य गी० अ० १६ श्लो० १) भगवान् को प्रसन्न करने वाले कर्म करने की योग्यता उत्पन्न करनेवाले कृच्छ्रचान्द्रायण तथा द्वादशी उपवासादि व्रतों के करने का नाम "तप" है ।।१।। **कायेन्द्रियसिद्धि**

रशुद्धिक्षयात्तपसः ॥ (योग० अ० १ पा० २ सू० ४३) तप से अशुद्धि के नाश के द्वारा शरीर और इन्द्रियों की सिद्धि होती है ।।४३।। और तप के भेद के विषय में लिखा है– **देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् । ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥** (गी० अ० १७ श्लो० १४) देव, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानी का पूजन, शौच, आर्जव, ब्रह्मचर्य और अहिंसा यह शारीरिक तप कहलाता है ।।१४।। **अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् । स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥** (गी० अ० १७ श्लो० १५) उद्वेग न करनेवाले सत्य, प्रिय और हितकारक वाक्य तथा स्वाध्याय का अभ्यास यह वाचिक तप कहलाता है ।।१५।। **मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः । भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥** (गी० अ० १७ श्लो० १६) मन की प्रसन्नता, सौम्यता, मौन, आत्मविनिग्रह और भावसंशुद्धि– इतना यह मानस तप कहलाता है ।।१६।। **श्रद्धयापरया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरै । अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तःसात्विकं परिचक्षते ॥** (गी० अ० १७ श्लो० १७) फल की आकाँक्षा न रखनेवाले युक्त पुरुषों के द्वारा परम श्रद्धा के साथ तपा हुआ वह तीन प्रकार का तप सात्त्विक कहलाता है। **सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्। क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥** (गी० अ० १७ श्लो० १८) जो तप सत्कार, मान और पूजा के लिए तथा दम्भ के साथ किया जाता है वह चञ्चल और अस्थिर तप यहाँ राजस कहलाता है ।।१८।। **मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः। परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥** (गी० अ० १७ श्लो० १९) जो तप, मूढ–आग्रह से आत्मा को पीड़ा देकर अथवा दूसरे का अनिष्ट करने के लिये किया जाता है वह तामस कहा गया है ।।१९।। और हे गार्गि ! निश्चय करके जो अज्ञानी पुरुष इस अक्षर परब्रह्म नारायण को नहीं जानकर इस लोक से मरकर जाता है वह कृपण यानी क्षुद्र है। यहाँ पर "कृपण" शब्द क्षुद्र वाचक है। क्योंकि लिखा है– **कदर्ये कृपणक्षुद्रकिंपचानमितंपचाः ॥** (अमर० कां० ३ व० १ श्लो० ४८) कदर्य १, कृपण २,, क्षुद्र ३, किंपचान ४, मितंपच ५ ये कृपण के नाम हैं ।।४८।। और हे गार्गि ! निश्चयकरके जो कोई पुरुष इस अक्षर परब्रह्म नारायण को जानकर इस लोक से मरकार जाता है वह ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण है। चिद्यारूपधारी भगवद्रामानुजाचार्य ने– **अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॥** (शा० मी० अ० १ पा० १ सू० १) **अन्यभावव्यावृत्तेश्च ॥** (शा० मी० अ० १ पा० ३ सू० ११) इन दोनों सूत्रों के श्रीभाष्य में "बृहदारण्यकोपनिषद्" के तृतीय अध्याय के अष्टमब्राह्मण की दसवीं कण्डिका के पदों को उद्धृत किया है ।।१०।।

तद्वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं द्रष्टृश्रुतं श्रोत्रमतं मन्त्रविज्ञातं

विज्ञातृ । नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ नान्यदतोऽस्ति मन्तृ नान्यदतोऽस्ति विज्ञातृ । एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्चेति ॥११॥

अन्वयार्थ– (गार्गि) हे गार्गि (वै) निश्चय करके (तत्) वह (एतत्) यह (अक्षरम्) अविनश्वर परब्रह्म नारायण (अदृष्टम्) अयोगियों के द्वारा देखा नहीं गया है परन्तु स्वयं (द्रष्टृ) सब रूपों के साक्षात्कार करने वाला है और (अश्रुतम्) अयोगियों के द्वारा सुना नहीं गया है परन्तु स्वयं (श्रोतृ) सब शब्दों के साक्षात्कार करने वाला है तथा (अमतम्) अयोगियों के द्वारा मनन नहीं किया गया है परन्तु स्वयं (मन्तृ) सब मन्तव्यों के साक्षात्कार करनेवाला है और (अविज्ञातम्) अयोगियों के द्वारा विज्ञात नहीं है परन्तु स्वयं (विज्ञातृ) सब अध्यवसेयों के साक्षात्कार करने वाला है (अतः) इस अक्षर पर ब्रह्म नारायण से (अन्यत्) भिन्न अक्षर सदृश (द्रष्टृ) सब रूपों के साक्षात्कार करनेवाला (न) कोई नहीं (अस्ति) है और (अतः) इस अक्षर परब्रह्म नारायण से (अन्यत्) भिन्न अक्षर सदृश (श्रोतृ) सब शब्दों के साक्षात्कार करनेवाला (न) कोई नहीं (अस्ति) है तथा (अतः) इस अक्षर परब्रह्म नारायण से (अन्यत्) भिन्न अक्षर सदृश (मन्तृ) सब मन्तव्यों के साक्षात्कार करनेवाला (न) कोई नहीं (अस्ति) है और (अतः) इस अक्षर परब्रह्म नारायण से (अन्यत्) भिन्न अक्षर सदृश (विज्ञातृ) सब अध्यवसेयों के साक्षात्कार करनेवाला (न) कोई नहीं (अस्ति) है (च) और (गार्गि) हे गार्गि (नु) निश्चय करके (एतस्मिन्) इस (अक्षरे) अविन ्वर परमात्मा में (खलु) ही (आकाशः) अव्याकृत आकाश (ओतः) दीर्घ, तिर्यक् तन्तु के समान ओत यानी ग्रथित है (च) और (प्रोतः) प्रोत यानी आश्रित भी है (इति) यही तेरे प्रश्नों का उत्तर है ॥११॥

विशेषार्थ– आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– हे गार्गि ! वह यह अक्षर परब्रह्म नारायण अदृष्ट है अर्थात् प्राकृतदृष्टि का विषय न होने के कारण वह अयोगियों के द्वारा देखा नहीं गया है परन्तु स्वयं वह अक्षर परब्रह्म स्वरूपों को देखता है । और वह अक्षर परब्रह्म अश्रुत है अर्थात् प्राकृत श्रोत्र का विषय न होने के कारण वह अयोगियों के द्वारा सुना नहीं गया है परन्तु स्वयं वह अक्षर परमात्मा सब शब्दों को सुनता है । तथा वह अक्षर परब्रह्म अमत है अर्थात् प्राकृत मन का विषय न होनेके कारण वह अयोगियों द्वारा मनन नहीं किया गया है परन्तु स्वयं वह अविनाशी परमात्मा सब मन्तव्य वस्तु को मनन करता है । और वह अक्षर परब्रह्म नारायण अविज्ञात है अर्थात्

प्राकृत बुद्धि का विषय न होने के कारण वह अयोगियों द्वारा विज्ञात नहीं है परन्तु स्वयं वह अक्षर परब्रह्म नारायण सब अध्यवसेय वस्तु को विशेषरूपसे जाननेवाला है। इन पूर्वोक्त पदों से परब्रह्म नारायण की समानता का निषेध किया गया है और आगे के पदों से अधिकता का निषेध किया जाता है। इस अविनश्वर परब्रह्म नारायण से भिन्न परमात्मा के समान सब रूपों को देखने वाला कोई नहीं है। तथा इस अविनाशी परब्रह्म नारायण से भिन्न परमात्माके सदृश समस्त शब्दों को सुनने वाला कोई नहीं है। और इस अक्षर परब्रह्म नारायण से भिन्न परमेश्वर के समान सब मन्तव्य वस्तु को मनन करने वाला कोई नहीं है। तथा इस अविनाशी परब्रह्म नारायण से भिन्न परमात्मा के समान सब अध्यवसेय वस्तु को विशेषरूप से जानने वाला कोई नहीं है। क्योंकि लिखा है– **न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥** (गी० अ० ११ श्लो० ४३) हे अप्रतिमप्रभावशाली ! तीनों लोकों में आपके समान भी दूसरा नहीं है फिर आपसे बढ़कर कैसे हो सकता है ॥४३॥ हे गार्गि ! निश्चय करके इस अविनश्वर परब्रह्म नारायण में ही अव्याकृत आकाश दीर्घ, तिर्यक् तन्तु के समान ओत यानी ग्रथित है और प्रोत यानी आश्रित भी है। क्योंकि लिखा है– **मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥** (गी० अ० ७ श्लो० ७) यह सब जड़ चेतन पदार्थ सूत्र में पिरोये हुए मणियों की भाँति मुझ परमेश्वर में पिरोये हुए हैं – मेरे आश्रित हैं ॥७॥ हे गार्गि ! यही तेरे प्रश्नों का उत्तर है। यतीन्द्ररूपधारी भगवद्रामानुजाचार्य ने– **अन्यभावव्यावृत्तेश्च ॥** (शा० मी० अ० १ पा० ३ सू० ११) के श्रीभाष्य में "बृहदारण्यकोपनिषद्" के तृतीय अध्याय के अष्टम ब्राह्मण की ग्यारहवीं कण्डिका को उद्धृत किया है ॥११॥

सा होवाच ब्राह्मणा भगवन्तस्तदेव बहु मन्येध्वं यदस्मान्नमस्कारेण मुच्येध्वम्। न वै जातु युष्माकमिमं कश्चिद्ब्रह्मोद्यं जेतेति। ततो ह वाचक्नव्युपरराम ॥१२॥

॥ इति तृतीयाध्यायेऽष्टमं ब्राह्मणम् ॥

अन्वयार्थ– (ह) परमप्रसिद्धा (सा) वह गार्गी (उवाच) बोली कि (भगवन्तः) हे षडैश्वर्यसम्पन्न (ब्राह्मणाः) ब्राह्मणो (तत्) उसी को (एव) निश्चय करके (बहु) बहुत (मन्येध्वम्) आपलोग मानें (यत्) कि (नमस्कारेण) नमस्कार के द्वारा भी

(अस्मात्) इस याज्ञवल्क्य जी से (मुच्येध्वम्) छूट जाँय (युष्माकम्) आपलोगों में से (कश्चित्) कोई भी (जातु) कभी (इमम्) इस याज्ञवल्क्य को (वै) निश्चय करके (ब्रह्मोद्यम्) ब्रह्मसंबन्धीवाद में (जेता) जीतनेवाला (न) नहीं है (इति) ऐसा कहकर (ततः) तब (ह) सुप्रसिद्धा (वाचक्नवी) वचक्नुऋषि की पुत्री गार्गी (उपरराम) चुप हो गयी ॥१२॥

विशेषार्थ– सुप्रसिद्धा वह ब्रह्मवादिनी गार्गी बोली कि– हे षडैश्वर्यसम्पन्न परमपूज्य ब्राह्मणों ! आपलोग इसी को बहुत मानें कि इस याज्ञवल्क्य जी से नमस्कार के द्वारा ही आपलोगों को छुटकारा मिल जाय। इस याज्ञवल्क्य जी को जीतने की तो मन से भी आशा नहीं करनी चाहिये। कार्य द्वारा जीतने की तो बात ही क्या है। क्योंकि आपलोगों में से कोई भी कभी इस याज्ञवल्क्य जी को ब्रह्मसम्बन्धी वाद में जीतनेवाला नहीं है। ऐसा ब्राह्मणों से कहकर तदनन्तर वह परमप्रसिद्धा वचक्नुऋषि की कन्या चुप हो गई। यहाँ पर "बृहदारण्यकोपनिषद्" के तृतीय अध्याय का अष्टम अक्षरब्राह्मण समाप्त हो गया ॥१२॥

॥ अथ नवमं ब्राह्मणम् ॥

अथ हैनं विदग्धः शाकल्यः पप्रच्छ। कति देवा याज्ञवल्क्येति। सहैतयैवं निविदा प्रतिपेदे। यावन्तो वैश्वदेवस्य निविद्युच्यन्ते। त्रयश्च त्री च शता। त्रयश्च त्री च सहस्रेति। ओमिति होवाच। कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति। त्रयस्त्रिंशदिति। ओमिति होवाच। कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति। षडिति। ओमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति त्रय इत्योमिति होवाच। कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति द्वावित्योमिति होवाच। कत्येव देवा याज्ञवल्क्येत्यध्यर्ध्य इत्योमिति होवाच। कत्येव देवा याज्ञवल्क्येत्येक इत्योमिति होवाच। कतमे च ते त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रेति ॥१॥

अन्वयार्थ– (अथ) गार्गी के चुप होने के बाद (शाकल्यः) शकल ऋषि के पुत्र (विदग्धः) विदग्ध नामवाले ब्राह्मण ने (ह) सुप्रसिद्ध (एनम्) इस याज्ञवल्क्य से (पप्रच्छ) पूछा कि (याज्ञवल्क्य) हे याज्ञवल्क्य (देवाः) देवगण (कति) कितनी संख्या वाले हैं (इति) विदग्ध के इस प्रश्न को सुन कर (ह) सुप्रसिद्ध (सः) उस याज्ञवल्क्य ने (एवम्) इस प्रकार आगे कही जाने वाली (एतया) इस (निविदा) निविद् से ही (प्रतिपेदे) देवता की संख्या को प्रतिपादन किया (वैश्वदेवस्य) विश्वेदेव सम्बन्धी शास्त्रकी (निविदि) देवतासंख्यावाचकपदयुक्तमंत्रविशेष में (यावन्तः) जितने देव (उच्यन्ते) कहे गये हैं उतने ही सब देवता हैं। आगे निविद् दिखलाते हैं (त्रयः) तीन (च) और (त्री+शता) तीन सौ (च) और (त्रयः) तीन (च) तथा (त्री+सहस्रा) तीन हजार (च) ही देव हैं (इति) याज्ञवल्क्य के इस उत्तर को सुनकर (ह) सुप्रसिद्ध विदग्ध ब्राह्मण ने (ओम्) हाँ ठीक है (इति) ऐसा (उवाच) कहा, फिर सूक्ष्म दृष्टि से विदग्ध ने पूछा कि (याज्ञवल्क्य) हे याज्ञवल्क्य (एव) निश्चय करके (कति) कितने (देवाः) देव हैं (इति) इस प्रश्न को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि– (त्रयस्त्रिंशत्) तैंतीस देव हैं (इति) उस उत्तर को सुनकर (ह) सुप्रसिद्ध विदग्ध ब्राह्मण ने (ओम्) हाँ ठीक है (इति) ऐसा (उवाच) कहा, पुनः सूक्ष्म दृष्टि से विदग्ध ने पूछा कि (याज्ञवल्क्य) हे याज्ञवल्क्य (एव) निश्चय करके (कति) कितने (देवाः) देव हैं (इति) इस प्रश्न को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि–(षट्) छः देव हैं (इति) इस उत्तर को सुनकर (ह) सुप्रसिद्ध विदग्ध ब्राह्मण ने (ओम्) हाँ ठीक है (इति) ऐसा (उवाच) कहा और फिर सूक्ष्मदृष्टि से विदग्ध ने पूछा कि (याज्ञवल्क्य) हे याज्ञवल्क्य (एव) निश्चय करके (कति) कितने (देवाः) देव हैं (इति) इस प्रश्न को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (त्रयः) तीन देव हैं (इति) इस उत्तर को सुनकर (ह) सुप्रसिद्ध विदग्ध ब्राह्मण ने (ओम्) हाँ ठीक है (इति) ऐसा (उवाच) कहा पुनः सूक्ष्मदृष्टि से विदग्ध ने पूछा कि (याज्ञवल्क्य) हे याज्ञवल्क्य (एव) निश्चय करके (कति) कितने (देवाः) देव हैं (इति) इस प्रश्न को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (द्वौ) दो देव हैं (इति) इस उत्तर को सुनकर (ह) सुप्रसिद्ध विदग्ध ब्राह्मण ने (ओम्) हाँ ठीक है (इति) ऐसा (उवाच) कहा फिर सूक्ष्मदृष्टि से विदग्ध ने पूछा कि (याज्ञवल्क्य) हे याज्ञवल्क्य) (एव) निश्चय करके (कति) कितने (देवाः) देव हैं (इति) इस प्रश्न को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (अध्यर्धः) अध्यर्ध देव हैं (इति) इस उत्तर को सुनकर (ह) सुप्रसिद्ध विदग्ध ब्राह्मण ने (ओम्) हाँ ठीक है (इति) ऐसा (उवाच)कहा पुनः सूक्ष्मदृष्टि से विदग्ध ने पूछा कि (याज्ञवल्क्य) हे याज्ञवल्क्य (एव) निश्चय करके (कति) कितने (देवाः) देव हैं (इति) इस प्रश्न

को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (एकः) एक देव है (इति) इस उत्तर को सुनकर (ह) सुप्रसिद्ध विदग्ध नामक ब्राह्मण ने (ओम्) हाँ ठीक है (इति) ऐसा (उवाच) कहा, इस प्रकार देवताओं के संकोच और विकास विषयक संख्या को पूछकर फिर संख्येय स्वरूप को पूछा कि हे याज्ञवल्क्य (ते) वे (त्रयः) तीन (च) और (त्री+शता) तीन सौ (च) तथा (त्रयः) तीन (च) और (त्री+सहस्रा) तीन हजार (च) भी देव (कतमे) कौन से (इति) यह स्पष्ट आप बतलावें ॥१॥

विशेषार्थ– ब्रह्मवादिनी गार्गी के चुप होने के बाद शकल ऋषि के पुत्र विदग्ध नाम वाले एक बड़े विद्वान् ने सुप्रसिद्ध याज्ञवल्क्य महर्षि से पूछा। "शं कल्याणं कलयति" इस विग्रह से कल्याण के करने वाले को "शकल" कहते हैं उसका पुत्र शाकल्य है। अथवा शकल = खण्ड अवयव, एक देश आदि को कहते हैं। उसका पुत्र वा तत्सम्बन्धी शाकल्य है अर्थात् यह अवयव विद् = खण्ड विद् है। किसी पदार्थ के एक खण्ड को या एक अवयव को जानता है। इसी प्रकार "विदग्ध" शब्द भी द्व्यर्थ प्रतिपादक है। जैसे "वि+दग्ध" जो अच्छे प्रकार से जला हो उसे विदग्ध कहते हैं अर्थात् राजसभा में याज्ञवल्क्य की प्रतिष्ठा को न सहकर क्रोधाग्नि से प्रज्वलित हो गया। अथवा "विदग्ध" बड़े निपुण प्रकाण्ड विद्वान् को भी कहते हैं। हे याज्ञवल्क्य देवों की संख्या कितनी है ? विदग्ध के इस प्रश्न को सुनकर सुप्रसिद्ध उस आचार्य याज्ञवल्क्य ने आगे बतलायी जानेवाली इस निविद् से ही देवों की संख्या का प्रतिपादन किया। "निवेद्यते ज्ञाप्यते देवसंख्या यया सा निविद्" इस व्युत्पत्ति से जिससे देवताओं की संख्या जानी जाय वही निविद् है, अर्थात् देवताओं की संख्या बताने वाले मंत्रपदों को निविद् कहते हैं। विश्वेदेवसम्बन्धी शास्त्र के देवता संख्या वाचक पदयुक्त मंत्रविशेष में जितने देव कहे गये हैं उतने ही सब देवता हैं। आगे वे निविद् दिखलाये जाते हैं। देवगण तीन हैं और तीन सौ हैं। तथा इसी प्रकार वे तीन हैं और तीन हजार हैं। अर्थात् तीन हजार तीन सौ छः देव हैं। इस उत्तर को सुनकर सुप्रसिद्ध विदग्ध ब्राह्मण ने कहा कि हाँ ठीक है। आप देव संख्या जितनी कहते हैं। उतनी ही देव संख्या है। यहाँ पर अङ्गीकारवाचक "ओम्" शब्द है। क्योंकि लिखा है– **ओमेवं परमं मते** ॥ (अमर० कां० ३ व० ४ श्लो० १२) ओम् १, एवम् २, परमम् ३, ये शब्द अङ्गीकारवाचक हैं ॥१२॥ पुनः सूक्ष्म दृष्टि से विदग्ध ने पूछा कि– हे याज्ञवल्क्य कितने ही देव हैं ? इस प्रश्न को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– तैंतीस देव हैं। इस उत्तर को सुन कर सुप्रसिद्ध विदग्ध ब्राह्मण ने कहा कि हाँ ठीक है फिर सूक्ष्म दृष्टि से विदग्ध ने पूछा कि– हे याज्ञवल्क्य कितने ही देव हैं ? इस प्रश्न को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि छः देव हैं। इस

उत्तर को सुन कर सुप्रसिद्ध विदग्ध ब्राह्मण ने कहा कि हाँ ठीक है। पुनः सूक्ष्म दृष्टि से विदग्ध ने पूछा कि– हे याज्ञवल्क्य कितने ही देव हैं ? इस प्रश्न को सुन कर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि तीन देव हैं। इस उत्तर को सुन कर सुप्रसिद्ध विदग्ध ब्राह्मण ने कहा कि हाँ ठीक है। फिर सूक्ष्म दृष्टि से विदग्ध ने पूछा कि– हे याज्ञवल्क्य कितने ही देव हैं ? इस प्रश्न को सुन कर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि दो देव हैं। इस उत्तर को सुनकर सुप्रसिद्ध विदग्ध ब्राह्मण ने कहा हाँ ठीक है। पुनः सूक्ष्म दृष्टि से विदग्ध ने पूछा कि– हे याज्ञवल्क्य कितने ही देव हैं ? इस प्रश्न को सुन कर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि अध्यर्ध यानी डेढ़ देव हैं। इस उत्तर को सुन कर सुप्रसिद्ध विदग्ध ब्राह्मण ने कहा हाँ ठीक है। फिर सूक्ष्म दृष्टि से विदग्ध ने पूछा कि– हे याज्ञवल्क्य कितने ही देव हैं ? इस प्रश्न को सुन कर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि एक देव हैं। इस उत्तर को सुनकर सुप्रसिद्ध विदग्ध ब्राह्मण ने कहा हाँ ठीक है। इस प्रकार देवताओं के संकोच और विकास विषयक संख्या को पूछ कर फिर संख्येय के स्वरूप को पूछा कि– हे याज्ञवल्क्य वे तीन सौ तीन और तीन हजार तीन देव कौन से हैं, उनके नाम आप बतलावें ॥१॥

स होवाच महिमान एवैषामेते त्रयस्त्रिंशत्त्वेव देवा इति। कतमे ते त्रयस्त्रिंशदिति। अष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्यास्त एकत्रिंशदिन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिंशाविति ॥२॥

अन्वयार्थ– (ह) परमप्रसिद्ध (सः) उस याज्ञवल्क्य ने (उवाच) कहा कि (एषाम्) इन देवों की (एते) ये सब (महिमानः) महिमाएँ (एव) निश्चय करके हैं (देवाः) देवगण (तु) तो (त्रयस्त्रिंशत्) तैंतीस (एव) ही हैं (इति) इस वचन को सुनकर विदग्ध ने पूछा कि (ते) वे (त्रयस्त्रिंशत्) तैंतीस देव (कतमे) कौन हैं (इति) इस प्रश्न को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (अष्टौ) आठ (वसवः) वसु देव हैं (एकादश) ग्यारह (रुद्राः) रुद्रदेव हैं और (द्वादश) बारह (आदित्याः) आदित्य देव हैं (ते) वे सब मिलकर (एकत्रिंशत्) ईक्कतीस देव हैं (च) और (इन्द्रः) इन्द्र (एव) निश्चय करके बत्तीसवाँ देव हैं (च) तथा (प्रजापतिः) प्रजापति देव (त्रयस्त्रिंशौ) तैंतीस की पूर्ति करने वाला हैं (इति) ये तैंतीस देव हैं ॥२॥

विशेषार्थ– उस सुप्रसिद्ध आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि – हे विदग्ध ! इन तैंतीस देवों के ही ये तीन हजार तीन सौ छः देव विभूति हैं। वास्तव में तैंतीस ही

देव हैं क्योकि लिखा है— **त्रयस्त्रिंशाः सुराधसः ॥** (यजु० अ० २० मं० ११) श्रेष्ठधनवाले तैंतीस देव हैं ॥११॥ याज्ञवल्क्य से कही हुई तैंतीस संख्या को स्वीकार करके पुनः विदग्ध ब्राह्मण ने पूछा कि— वे तैंतीस देव कौन से हैं ? इस प्रश्न को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि— आठ वसु देव हैं तथा ग्यारह रुद्रदेव हैं और बारह आदित्य देव हैं, ये सब मिलकर इकत्तीस देव होते हैं । और लिखा है — **वसवो देवता रुद्रा देवतादित्या देवताः ॥** (यजु० अ० १४ मं० २०) आठ वसु देव हैं, ग्यारह रुद्रदेव हैं और बारह आदित्य देव हैं ॥२०॥ यह सब मिलकर इकत्तीस देव होते हैं । और बत्तीसवाँ इन्द्र देव हैं । क्योंकि लिखा है— **इन्द्रो देवता ॥** (यजु० अ० १४ मं० २०) इन्द्र देव हैं ॥२०॥ और तैंतीसवाँ प्रजापति देव हैं । ये ही तैंतीस देव हैं ॥२॥

कतमे वसव इति । अग्निश्च पृथ्वी च वायुश्चान्तरिक्षं चाऽऽदित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चैते वसव एतेषु हीदं वसु सर्वं हितमिति तस्माद्वसव इति ॥३॥

अन्वयार्थ— (वसवः) आठ वसु (कतमे) कौन हैं (इति) ऐसा विदग्ध ने पूछा (इति) इस प्रश्न को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (अग्निः) अग्नि (च) और (पृथ्वी) पृथ्वी (च) और (वायुः) वायु (च) और (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष (च) तथा (आदित्यः) सूर्य (च) और (द्यौः) द्युलोक (च) तथा (चन्द्रमाः) चन्द्रमा (च) और (नक्षत्राणि) नक्षत्र (च) भी (एते) ये आठ (वसवः) वसु हैं (हि) क्योंकि (एतेषु) इन अग्नि आदिक में (इदम्) यह (सर्वम्) सब (वसु) धन (हितम्) निहित है (तस्मात्) इस कारण से (वसवः) ये वसु (इति) ऐसा कहे जाते हैं ॥३॥

विशेषार्थ— विदग्ध ब्राह्मण ने आचार्य याज्ञवल्क्य से पूछा कि — हे याज्ञवल्क्य ! आठ वसु कौन हैं । इस प्रश्न को सुनकर महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा कि— अग्नि १, पृथ्वी २, वायु ३, आकाश ४, सूर्य ५, द्युलोक ६, चन्द्रमा ७ और नक्षत्र ८ ये आठ वसु हैं । क्योंकि इन अग्नि आदि में ही यह सम्पूर्ण धन निहित है । यहाँ पर अग्नि पृथिव्यादिशब्द तत्तदभिमानी देवता वाचक है । इस श्रुति में "वसु" शब्द धन वाचक है । क्योंकि लिखा है— **देवभेदेऽनले रश्मौ वसू रत्ने धने वसु ॥** (अमर० कां० ३ व० ३ श्लो० २२८) देवभेद १, अग्नि २, किरण ३ रत्न ४ और धन में ५ वसु शब्द प्रयुक्त होता है ॥२२८॥ इन अग्नि प्रभृति में यह सब धन निहित है । इसी कारण से ये वसु कहलाते हैं । अथवा इनके आश्रय से ही जीव बसते हैं अथवा ये सब अग्नि आदिक अपने ऊपर सब जीवों को बसाये हुए हैं इस हेतु से ये वसु कहलाते

हैं ।।३।।

कतमे रुद्रा इति दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशः । ते यदाऽस्माच्छरीरान्मर्त्यादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति तद्यद्रोदयन्ति तस्माद्रुद्रा इति ।।४।।

अन्वयार्थ– (रुद्राः) ग्यारह रुद्र (कतमे) कौन हैं (इति) ऐसा विदग्ध ब्राह्मण ने पूछा । इस प्रश्न को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (पुरुषे) पुरुष में जो (इमे) ये कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय (दश) दस (प्राणाः) इन्द्रियाँ हैं और (एकादशः) ग्यारहवाँ (आत्मा) मन है ये ग्यारह रुद्र हैं (ते) वे इन्द्रिय गण (यदा) जब (अस्मात्) इस (मर्त्यात्) मरणधर्मवाले (शरीरात्) शरीर से (उत्क्रामन्ति) उत्क्रमण करती हैं (अथ) तब (रोदयन्ति) मृत पुरुष के पुत्र बन्धु बान्धवादि सम्बन्धियों को रुला देती हैं (तत्) उस समय में (यत्) जिस हेतु (रोदयन्ति) ये अपने सम्बन्धियों को रुलाती हैं (तस्मात्) इस कारण से (रुद्राः) ये रुद्र (इति) ऐसा कहलाती हैं ।।४।।

विशेषार्थ– विदग्ध ब्राह्मण ने आचार्य याज्ञवल्क्य से पूछा कि– हे याज्ञवल्क्य ! ग्यारह रुद्र कौन हैं ? इस प्रश्न को सुनकर महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा कि– इस पुरुष में श्रोत्र १, त्वचा २, चक्षु ३, रसना ४, और घ्राण ५ ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और वाक् १, हाथ २, पैर ३, गुदा ४, तथा उपस्थ ५ ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ, सब मिलकर ये दस इन्द्रियाँ और ग्यारहवाँ मन ये ग्यारह रुद्र हैं। और भी लिखा है– **इन्द्रियाणि दशैकं च ॥** (गी० अ० १३ श्लो० ५) दस इन्द्रियाँ और एक मन ये ग्यारह हैं ।।५।। **तैजसानीन्द्रियाण्याहुर्देवा वैकारिका दश । एकादशं मनश्चात्र ॥** (विष्णु० पु० अंश० १ अध्या० २ श्लो० ४७) इस शरीर में तैजस दस इन्द्रियाँ और मन ग्यारहवाँ कहा जाता है। वे ये इन्द्रियाँ और मन जिस समय में इस मरणशील शरीर से ऊपर निकल जाते हैं उस समय ये उस मृतक पुरुष के सुत, नारी, बन्धु, बान्धवादि संबंधियों को रुलाते हैं। उस समय ये सम्बन्धियों को रुलाते हैं, इस कारण से ये रुद्र कहलाते हैं। अर्चावताररूपधारी भगवद्रामानुजाचार्य ने – **हस्तादयस्तु स्थितेऽतो नैवम् ॥** (शा० मी० अ० २ पा० ४ सू० ५) के श्रीभाष्य में "बृहदारण्यकोपनिषद्" के तृतीय अध्याय के नवम ब्राह्मण की चतुर्थ कण्डिका के "दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशः" इस खण्ड को उद्धृत किया है ।।४।।

कतम आदित्या इति द्वादश वै मासाः संवत्सरस्यैत

आदित्या एते हीदं सर्वमाददाना यन्ति ते यदिदं सर्वमाददाना यन्ति तस्मादादित्या इति ॥५॥

अन्वयार्थ– (आदित्या:) बारह आदित्य (कतमे) कौन हैं (इति) ऐसा विदग्ध ब्राह्मण ने पूछा। इस प्रश्न को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (संवत्सरस्य) वर्ष के (वै) निश्चय करके जो (द्वादश) बारह मेषादि (मासा:) महीने हैं (एते) ये बारह मास ही (आदित्या:) बारह आदित्य हैं (हि) क्योंकि (एते) ये बारह मास (इदम्) उत्पत्ति वाले प्राणियों के इस (सर्वम्) संपूर्ण जीवित को (आददाना:) ग्रहण करते हुए (यन्ति) जा रहे हैं (यत्) जिस हेतु (ते) वे बारह मास (इदम्) प्राणियों के इस (सर्वम्) सम्पूर्ण जीवित को (आददाना:) लेते हुए (यन्ति) जा रहे है। (तस्मात्) इस कारण से (आदित्या:) ये आदित्य (इति) ऐसा कहलाते हैं ॥५॥

विशेषार्थ– विदग्ध ब्राह्मण ने क्रम के अनुसार आचार्य याज्ञवल्क्य से पूछा कि– हे याज्ञवल्क्य! बारह आदित्य कौन हैं? इस प्रश्न को सुनकर महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा कि– वर्ष रूप काल के अवयव जो वैशाख १, ज्येष्ठ २, आषाढ़ ३, श्रावण ४, भादो ५, क्वार ६, कार्तिक ७, अगहन ८, पूस ९, माघ १०, फाल्गुन ११ और चैत्र १२ ये बारह महीने हैं। ये बारह मास ही बारह आदित्य हैं। क्योंकि ये बारह मास प्राणियों की सम्पूर्ण आयु को ग्रहण करते हुए चलते हैं। जिस हेतु वे बारह मास प्राणियों के इस सम्पूर्ण आयु को लेते हुए घूम रहे हैं इस कारण से ये आदित्य कहलाते हैं ॥५॥

कतम इन्द्रः कतमः प्रजापतिरिति स्तनयित्नुरेवेन्द्रो यज्ञः प्रजापतिरिति कतमः स्तनयित्नुरित्यशनिरिति कतमो यज्ञ इति पशव इति ॥६॥

अन्वयार्थ– (इन्द्र:) इन्द्र (कतम:) कौन है और (प्रजापति:) प्रजापति (कतम:) कौन है (इति) ऐसा विदग्ध ब्राह्मण ने पूछा इस प्रश्न को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (स्तनयित्नु:) स्तनयित्नु (एव) ही (इन्द्र:) इन्द्र है और (यज्ञ:) यज्ञ ही (प्रजापति:) प्रजापति है (इति) इस उत्तर को सुनकर पुनः विदग्ध ने पूछा कि (स्तनयित्नु:) स्तनयित्नु (कतम:) कौन है (इति) इस प्रश्न को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (अशनि:) अशनि यानी वज्र है (इति) इस उत्तर को सुनकर पुनः विदग्ध ने पूछा कि (यज्ञ:) यज्ञ (कतम:) कौन है (इति) इस प्रश्न को सुनकर याज्ञवल्क्य

ने कहा कि (पशवः) यज्ञ के साधन होने से पशुगण यज्ञ हैं (इति) ऐसा कहा जाता है ।।६।।

विशेषार्थ-- विदग्ध ब्राह्मण ने आचार्य याज्ञवल्क्य से पूछा कि-- हे याज्ञवल्क्य ! दूसरी कण्डिका में बत्तीसवाँ देव इन्द्र और तैंतीसवाँ प्रजापति आपने कहा है । अतः इस विषय में मेरा प्रश्न है कि-- इन्द्र कौन है ? और प्रजापति कौन है ? इस प्रश्न को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि-- स्तनयित्नु ही इन्द्र है और यज्ञ ही प्रजापति है । इस उत्तर को सुनकर फिर विदग्ध ब्राह्मण ने पूछा कि-- स्तनयित्नु कौन है ? इस प्रश्न को सुनकर याज्ञवल्क्य महर्षि ने कहा कि अशनि यानी वज्र ही स्तनयित्नु है यहाँ पर "अशनि" शब्द वज्र वाचक है । क्योंकि लिखा है-- **ह्लादिनी वज्रमस्त्री स्यात्कुलिशं भिदुरं पविः । शतकोटिः स्वरुः शम्बो दम्भोलिरशनिर्द्वयोः ।।** (अमर० कां० १ व० १ श्लोक ४७) ह्लादिनी १, वज्र २, कुलिश ३, भिदुर ४, पवि ५, शतकोटि ६, स्वरु ७, शम्ब ८, दम्भोलि ९ और अशनि १० ये वज्र के नाम हैं ।।४७।। इस उत्तर को सुनकर फिर विदग्ध ब्राह्मण ने पूछा कि-- यज्ञ कौन हैं ? इस प्रश्न को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि-- यज्ञ का साधन होने से पशु ही यज्ञ हैं ऐसा कहा जाता है ।।६।।

कतमे षडित्यग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्चैते षडेते हीदं सर्वं षडिति ।।७।।

अन्वयार्थ-- (षट्) छः देवगण(कतमे) कौन हैं (इति) ऐसा विदग्ध **ब्राह्मण** ने पूछा इस प्रश्न को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (अग्निः) अग्नि (च) और (पृथ्वी) पृथ्वी (च) और (वायुः) वायु (च) और (अन्तरिक्षम्) अनतरिक्ष (च) तथा (आदित्यः) सूर्य (च) और (द्यौः) द्युलोक (च) भी (एते) ये (षट्) छः देव हैं (हि) क्योंकि (इदम्) यह पूर्वोक्त (सर्वम्) समस्त देव (एते) ये अग्नि आदिक (षट्) छः ही हैं (इति) ऐसा कहा जाता है ।।७।।

विशेषार्थ-- विदग्ध ब्राह्मण ने आचार्य याज्ञवल्क्य से पूछा कि-- हे याज्ञवल्क्य पहली कण्डिका में छः देव आपने कहा है वे छः देव कौन हैं ? इस प्रश्न को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि-- अग्नि १, पृथ्वी २, वायु ३, आकाश ४, सूर्य ५ और द्युलोक ६ ये ही छः देव हैं । क्योंकि पूर्वोक्त सम्पूर्ण तैंतीस देव ये अग्नि आदिक छः ही हैं, अर्थात् इन छः के ही अन्तर्गत सब देव हैं । पहले तृतीय कण्डिका में पढ़े हुए जो आठ वसु हैं उनमें चन्द्रमा और नक्षत्र को छोड़ कर शेष छः देव का ही यहाँ पर प्रतिपादन किया गया है ।।७।।

कतमे ते त्रयो देवा इतीम एव त्रयो लोका एषु हीमे सर्वे देवा इति । कतमौ तौ द्वौ देवावित्यन्नं चैव प्राणश्चेति कतमोऽध्यर्ध इति योऽयं पवत इति ॥८॥

अन्वयार्थ– (ते) वे (त्रयः) तीन (देवाः) देव (कतमे) कौन हैं (इति) ऐसा विदग्ध ब्राह्मण ने पूछा । इस प्रश्न को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (इमे) ये (त्रयः) तीन (लोकाः) लोक (एव) ही तीन देव हैं (हि) क्योंकि (एषु) इन तीनों लोकों में (इमे) ये (सर्वे) सब (देवाः) देव हैं (इति) इस उत्तर को सुनकर फिर विदग्ध ब्राह्मण ने पूछा कि (तौ) वे (द्वौ) दो (देवौ) देव (कतमौ) कौन हैं (इति) इस प्रश्न को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (अन्नम्) अन्न (च) और (प्राणः) प्राण (च) भी (एव) निश्चय करके ये दो देव हैं (इति) इस उत्तर को सुन कर पुनः विदग्ध ब्राह्मण ने पूछा कि (अध्यर्धः) अध्यर्ध देव (कतमः) कौन है (इति) इस प्रश्न को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (यः) जो (अयम्) यह (पवते) बहती है वह पवन अध्यर्ध देव है (इति) ऐसा समझा जाता है ॥८॥

विशेषार्थ– विदग्ध ब्राह्मण ने आचार्य याज्ञवल्क्य से पूछा कि– हे याज्ञवल्क्य ! पहली कण्डिका में तीन देव आपने कहा है, वे तीन देव कौन कौन हैं ? इस प्रश्न को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि – सब देवों के आश्रय होने से ये भूर्लोक १, भुवर्लोक २, स्वर्लोक ३ नाम से प्रसिद्ध तीन लोक ही तीन देव हैं । क्योंकि इन तीनों लोकों में ही ये समस्त देव अन्तर्भाव होते हैं । इस उत्तर को सुनकर फिर विदग्ध ब्राह्मण ने पूछा कि– हे याज्ञवल्क्य ! पहली कण्डिका में दो देव आपने कहा है वे दो देव कौन कौन हैं ? इस प्रश्न को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि– अन्न १ और प्राण २ ये दो देव हैं । इन्हीं में पूर्वोक्त सभी देवताओं का अन्तर्भाव हो जाता है । इस उत्तर को सुनकर पुनः विदग्ध ब्राह्मण ने पूछा कि– हे याज्ञवल्क्य ! पहली कण्डिका में "अध्यर्ध" देव आपने कहा है वह अध्यर्ध देव कौन हैं ? इस प्रश्न को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि जो यह बहती है वह वायु अध्यर्ध देव है ऐसा शास्त्र में कहा जाता है ॥८॥

तदाहुर्यदयमेक इवैव पवतेऽथ कथमध्यर्ध इति । यस्मिन्निदंसर्वमध्यार्ध्नोत्तेनाध्यर्ध इति । कतम एको देव इति प्राण इति । स ब्रह्मत्यदित्याचक्षते ॥९॥

अन्वयार्थ– (तत्) उस विषय में (इति) ऐसा (आहु:) कोई कहते हैं कि (यत्) जिस हेतु (अयम्) यह वायु (एक:) अकेला (इव) सी (एव) ही (पवते) बहती है (अथ) तब इस वायु को (अध्यर्ध:) अध्यर्ध (कथम्) कैसे कहते हैं (इति) इस प्रश्न को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (यस्मिन्) जिस वायु में (इदम्) यह (सर्वम्) समस्त स्थावर जङ्गम पदार्थ (अध्याध्नोत्) अधिक वृद्धि को प्राप्त होता है (तेन) इस कारण से (अध्यर्ध:) इस वायु को अध्यर्ध कहते हैं (इति) इस उत्तर को सुनकर पुन: विदग्ध ब्राह्मण ने पूछा कि (एक:) एक (देव:) देव (कतम:) कौन है (इति) इस प्रश्न को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (प्राण:) प्राण (इति) यही एक देव है (स:) वह प्राण (ब्रह्म) परब्रह्म है उस परब्रह्म नारायण को (त्यत्) त्यत् (इति) इस शब्द से (आचक्षते) तत्त्ववेत्ता लोग कहते हैं ।।९।।

विशेषार्थ– वायु को अध्यर्ध क्यों कहते हैं ? इसका कारण अब दिखला रहे हैं– इस वायु के विषय में कोई ऐसा कहते हैं कि जिस कारण से यह वायु अकेली ही बहती रहती है तब इस वायु को अध्यर्ध कैसे कहते हैं ? "अधि–अर्ध" इस शब्द में अर्ध शब्द का आधा अर्थ जानकर यह शङ्का की गई है । विदग्ध ब्राह्मण के इस प्रश्न को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– इस वायु में ही यह स्थावर और जङ्गम सब पदार्थ अधिक वृद्धि को प्राप्त होता है । इस कारण से इस वायु को अध्यर्ध कहते हैं। यहाँ पर "अधि" शब्द का अर्थ अधिक है । और "ऋधु वृधौ" धातु से "आर्ध्नोत्" पद निष्पन्न होता है इससे इसका "वृद्धि को प्राप्त होता है" यह अर्थ होता है। इस उत्तर को सुनकर पुन: विदग्ध ब्राह्मण ने आचार्य याज्ञवल्क्य से पूछा कि – हे याज्ञवल्क्य ! पहली कण्डिका में एक देव आपने कहा है सो वह एक देव कौन है ? इस प्रश्न को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– प्राण ही एक देव है और वह प्राण परब्रह्म नारायण है उस परब्रह्म नारायण को "त्यत्" इस परोक्ष नाम से पुकारते हैं। क्योंकि लिखा है– **परोक्षप्रिया इव हि देवा: ॥** (ऐत० उ०अ० १ खं० ३ श्रु० १४) क्योंकि देवता लोग परोक्ष से प्रेम करने वाले के समान होते हैं ।।१४।। एक ही परब्रह्म नारायण परमदेवता हैं यह अन्त में याज्ञवल्क्य ने निर्णय किया और भी लिखा है– **दिव्यो देव एको नारायण: ॥** (सुबालोप० खं० ६) दिव्यदेव एक नारायण हैं ।।६।। और सब देव परब्रह्म नारायण की महिमा हैं ।।९।।

पृथिव्येव यस्याऽऽयतनमग्निर्लोको मनो ज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्याऽऽत्मन: परायणं स वै वेदिता स्यात् । याज्ञवल्क्य । वेद वा अहं त्वं पुरुषं

सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं यमात्थ य एवायं शारीरः पुरुषः स एषः। वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति। अमृतमिति होवाच ॥१०॥

अन्वयार्थ– (यस्य) जिस देव का (पृथिवी) पृथ्वी (एव) ही (आयतनम्) शरीर है तथा (अग्निः) अग्नि (लोकः) दर्शन साधन है और (मनः) मन ही (ज्योतिः) ज्योति है यानी संकल्प विकल्पादि कार्य करता है तथा (सर्वस्य) समस्त (आत्मनः) जीवात्मा के (परायणम्) उत्तम आश्रय है (तम्) उस (पुरुषम्) उत्तम पुरुष परमात्मा को (वै) निश्चय करके (यः) जो (विद्यात्) जानता है (याज्ञवल्क्य) हे याज्ञवल्क्य (सः) वही (वै) निश्चय करके (वेदिता) ज्ञाता (स्यात्) हो सकता है दूसरा नहीं। इस वाक्य को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (वै) निश्चय करके (अहम्) मैं (पुरुषम्) उस पर पुरुष को (वेद) जानता हूँ (त्वम्) तुम (यम्) जिस पुरुष को (सर्वस्य) सब (आत्मनः) जीवात्मा की (परायणम्) उत्तम शरण (आत्थ) बतलाते हो यदि तुम उस पुरुष को जानते हो तो बताओ वह कौन है ? इस वचन को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (यः) जो (अयम्) यह (शारीरः) जगत्शरीरक (पुरुषः) पुरुष परब्रह्म नारयण है (सः) वही (एव) निश्चय करके (एषः) यह है (शाकल्य) हे शकलपुत्र विदग्ध (एव) निश्चय करके (वद) और जो प्रष्टव्य हो उसको पूछो (इति) इस बात को सुनकर विदग्ध ने पूछा कि (तस्य) उस पृथिव्यायतनत्ववेदिता पुरुष के (देवता) उपास्य देवता (का) कौन है (इति) इस प्रश्न को सुनकर (ह) सुप्रसिद्ध याज्ञवल्क्य ने (अमृतम्) अमृत संज्ञा है (उवाच) ऐसा कहा अर्थात् अमृतसंज्ञा विशिष्टध्यान करने योग्य है ॥१०॥

विशेषार्थ– आचार्य याज्ञवल्क्य से विदग्ध ने पूछा कि– जिस देव का पृथ्वी ही शरीर है तथा अग्निदर्शनसाधन है अर्थात् वह अग्नि से देखता है। और जो मनरूपीज्योति से संकल्प विकल्पादि कार्य करता है। तथा सम्पूर्ण जीवात्मा का जो उत्तम आश्रय है उस पुरुष परब्रह्म नारायण को जो निश्चय करके विधिपूर्वक जानता है। हे याज्ञवल्क्य! वही निश्चय करके ज्ञाता हो सकता है। दूसरा नहीं। विदग्ध के इस प्रश्न को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– निश्चय करके मैं उस पुरुष को जानता हूँ तुम जिस पुरुष को समस्त जीवात्मा का उत्तम आश्रय कहते हो। अर्थात् पृथिव्यादि आयतनत्व आदिक रूप से उपास्य जिसको तुम कहते हो उसको मैं जानता हूँ। इस उत्तर को सुनकर विदग्ध ब्राह्मण ने फिर पूछा कि– यदि तुम उस पुरुष को

जानते हो तो कहो वह कौन है ? इस प्रश्न को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– जो यह जगत् शरीरक पुरुष परब्रह्म नारायण है वही निश्चय करके यह है । परमात्मा का समस्त जड़ चेतन स्वरूप जगत् शरीर है । क्योंकि लिखा है– **यस्य पृथिवी शरीरम् ॥** (बृह० उ० अ० ३ ब्रा० ७ कं० ३) **यस्यापः शरीरम् ॥४॥ यस्याग्निः शरीरम् ॥५॥ यस्यान्तरिक्षं शरीरम् ॥६॥ यस्य वायुः शरीरम् ॥७॥ यस्य द्यौः शरीरम् ॥८॥ यस्यादित्यः शरीरम् ॥९॥ यस्य दिशः शरीरम् ॥१०॥ यस्य चन्द्रतारकं शरीरम् ॥११॥ यस्याकाशः शरीरम् ॥१२॥ यस्य तमः शरीरम् ॥१३॥ यस्य तेजः शरीरम् ॥१४॥ यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरम् ॥१५॥ यस्य प्राणः शरीरम् ॥१६॥ यस्य वाक् शरीरम् ॥१७॥ यस्य चक्षुः शरीरम् ॥१८॥ यस्य श्रोत्रं शरीरम् ॥१९॥ यस्य मनः शरीरम् ॥२०॥ यस्य त्वक् शरीरम् ॥२१॥ यस्य विज्ञानं शरीरम् ॥२२॥ यस्य रेतः शरीरम् ॥२३॥** जिस परब्रह्म नारायण का पृथ्वी शरीर है ॥३॥ जिसका जल शरीर है ॥४॥ जिसका अग्नि शरीर है ॥५॥ जिसका अन्तरिक्ष शरीर है ॥६॥ जिसका वायु शरीर है ॥७॥ जिसका दिव्लोक शरीर है ॥८॥ जिसका आदित्य शरीर है ॥९॥ जिसका दिशा शरीर है ॥१०॥ जिसका चन्द्रमा और तारा शरीर है ॥११॥ जिसका आकाश शरीर है ॥१२॥ जिसका तम शरीर है ॥१३॥ जिसका तेज शरीर है ॥१४॥ जिसका सब भूत शरीर है ॥१५॥ जिसका प्राण शरीर है ॥१६॥ जिसकी वाणी शरीर है ॥१७॥ जिसका नेत्र शरीर है ॥१८॥ जिसका श्रोत्र शरीर है ॥१९॥ जिसका मन शरीर है ॥२०॥ जिसका त्वक् शरीर है ॥२१॥ जिसका विज्ञान यानी जीवात्मा शरीर है ॥२२॥ जिस नारायण का वीर्य शरीर है ॥२३॥ और भी लिखा है– **यस्य पृथिवी शरीरम् ॥ यस्यापः शरीरम् । यस्य तेजः शरीरम् । यस्याकाशः शरीरम् । यस्य मनः शरीरम् । यस्य बुद्धिः शरीरम् । यस्याहङ्कारः शरीरम् । यस्य चित्तं शरीरम् । यस्याव्यक्तं शरीरम् ॥ यस्याक्षरं शरीरम् । यस्य मृत्युः शरीरम् ॥** (सुबालोप० खं० ७) जिस परब्रह्म नारायण का पृथ्वी शरीर है । जिसका जल शरीर है । जिसका तेज शरीर है । जिसका आकाश शरीर है । जिसका बुद्धि शरीर है । जिसका अहङ्कार शरीर है । जिसका चित्त शरीर है । जिसका अव्यक्त शरीर है । जिस नारायण का अक्षर यानी जीवात्मा शरीर है । जिसका मृत्यु शरीर है ॥७॥ **जगत्सर्वं शरीरं ते ॥** (वाल्मीकिरामा० युद्धकां० ६ सर्ग० १२१) समस्त संसार आपका शरीर है ॥१२१॥ फिर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि-- हे शाकल्य विदग्ध ! तुमको जो कुछ कठिन प्रश्न पूछना हो वह पूछ लो । इस वचन को सुनकर पुनः विदग्ध ब्राह्मण ने पूछा कि– उस पृथिव्यायतनत्व ज्ञाता पुरुष का उपास्य देवता कौन है ? इस प्रश्न को सुनकर सुप्रसिद्ध आचार्य याज्ञवल्क्य ने "अमृत" नाम है ऐसा कहा । अमृत के विषय में लिखा

है– **एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥** (बृ॰ उ॰ अ॰ ३ ब्रा॰ ७ कं॰ ३) यही अन्तर्यामी तेरा निरुपाधिक अमृतत्वशाली आत्मा है ॥३॥ यहाँ अन्तर्यामी परब्रह्म नारायण ही "अमृत" शब्द से प्रतिपादन किया गया है ॥१०॥

काम एव यस्याऽऽयतनं हृदयं लोको मनो ज्योतिर्यो वैतं पुरुषं विद्यात्सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं स वै वेदिता स्याद् याज्ञवल्क्य । वेद वा अहं तं पुरुषं सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं यमात्थ य एवायं काममयः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति स्त्रियइति होवाच ॥११॥

अन्वयार्थ– (यस्य) जिस पुरुष का (कामः) स्त्रीप्रसङ्ग की अभिलाषा (एव) ही (आयतनम्) शरीर है तथा (हृदयम्) हृदय (लोकः) दर्शन साधन है और (मनः) मन ही (ज्योतिः) ज्योति है यानी संकल्प विकल्पादि कार्य करता है तथा (सर्वस्य) समस्त (आत्मनः) जीवात्मा के (परायणम्) उत्तम आश्रय है (तम्) उस (पुरुषम्) पुरुष को (वै) निश्चय करके (यः) जो (विद्यात्) जानता है (याज्ञवल्क्य) हे याज्ञवल्क्य (सः) वही (वै) निश्चय करके (वेदिता) ज्ञाता (स्यात्) हो सकता है दूसरा नहीं; इस वाक्य को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (वै) निश्चय करके (अहम्) मैं (तम्) उस (पुरुषम्) पर पुरुष को (वेद) जानता हूँ (यम्) जिस पुरुष को (सर्वस्य) सम्पूर्ण (आत्मनः) जीवात्मा की (परायणम्) उत्तम शरण (आत्थ) तुम कहते हो (यः) जो (अयम्) यह (काममयः) काममय (पुरुषः) पुरुष परब्रह्मनारायण है (सः)) वही (एव) निश्चय करके (एषः) यह हे (शाकल्य) हे शकलऋषि के पुत्र विदग्ध (एव) निश्चय करके (वद) और जो प्रष्टव्य हो उसको पूछो (इति) इस बात को सुनककर विदग्ध ने पूछा कि (तस्य) उस कामायतनत्ववेदिता पुरुष के (देवता) उपास्य देवता (का) कौन हैं (इति) इस प्रश्न को सुनकर (ह) सुप्रसिद्ध याज्ञवल्क्य ने (स्त्रियः) स्त्रियाँ हैं (उवाच) ऐसा कहा अर्थात् स्त्रीशरीरकतया ध्यान करने योग्य है ॥११॥

विशेषार्थ– आचार्य याज्ञवल्क्य से विदग्ध ने पूछा कि – जिस देव का काम ही शरीर है। विधि पूर्वक गृहाश्रम का अवलम्बन से स्त्री प्रसङ्ग की अभिलाषा का नाम काम है। तथा हृदय दर्शन साधन है अर्थात् वह हृदय से देखता है। हृदय के विषय में लिखा है– **पद्मकोशप्रतीकाशं हृदयं चाप्यधोमुखम्। अधो निष्ठ्या**

वितस्त्यान्ते नाभ्यामुपरि तिष्ठति। हृदयं तद्विजानीयाद्विश्वस्यायतनं महत् ॥ (तैत्तिरीयार॰ प्रपा॰ १॰० अनु॰ ११ श्रु॰ ८) नीचे मुख वाला लाला कमल के कोश के सम्मान नाभि के ऊपर एक बीत्ता के भीतर अधोनिष्ठा से युक्त जो मांस का पिण्ड देह में स्थित है उसी को हृदय जानना चाहिये। वह हृदय सब प्राणादिक का बड़ा स्थान है ॥८॥ और जो मन रूप ज्योति से संकल्प विकल्पादि काम करता है तथा सम्पूर्ण जीवात्मा का जो उत्तम आश्रय है उस पुरुष परब्रह्म नारायण को जो निश्चय करके विधिपूर्वक जानता है, हे याज्ञवल्क्य! वही निश्चय करके ज्ञाता हो सकता है दूसरा नहीं। विदग्ध ब्राह्मण के इस प्रश्न को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि निश्चय करके मैं उस पुरुष को जानता हूँ। तुम जिस पुरुष को समस्त जीवात्मा का उत्तम आश्रय कहते हो। अर्थात् कामादि आयतनत्व आदिक रूप से उपास्य जिस को तुम कहते हो उसको मैं जानता हूँ। इस उत्तर को सुनकर विदग्ध ब्राह्मण ने फिर पूछा कि यदि तुम उस पुरुष को जानते हो तो कहो वह कौन है? इस प्रश्न को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि जो यह काममय पुरुष नारायण है वही निश्चय करके यह है। फिर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि हे शकल ऋषि के पुत्र विदग्ध! तुमको जो कुछ कठिन प्रश्न पूछना हो वह पूछ लो। इस वचन को सुनकर पुनः विदग्ध ब्राह्मण ने पूछा कि उस कामायतनत्व ज्ञाता पुरुष के उपास्य देवता कौन है? इस प्रश्न को सुनकर सुप्रसिद्ध याज्ञवल्क्य ने "स्त्रियाँ" हैं ऐसा कहा। क्योंकि स्त्री से ही काम का उद्दीपन होता है, इससे स्त्री शरीरकतया परमात्मा ध्यान करने योग्य है। स्त्री के विषय में लिखा है– स्तनकेशवती स्त्री स्यात् (महाभाष्य॰) स्तन, केश और योनि जिसको हो वह स्त्री है। ऐसा स्पष्ट वर्णन किया गया है ॥११॥

रूपाण्येव यस्याऽऽयतनं चक्षुर्लोको मनो ज्योतिर्यो वैतं पुरुषं विद्यात्सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं स वै वेदिता स्याद्याज्ञवल्क्य। वेद वा अहं तं पुरुषं सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं यमात्थ य एवासावादित्ये पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति सत्यमिति होवाच ॥१२॥

अन्वयार्थ– (यस्य) जिस देव का (रूपाणि) शुक्ल कृष्ण आदि रूप (एव) ही (आयतनम्) शरीर है तथा (चक्षुः) नेत्र ही (लोकः) दर्शन साधन है और (मनः) मन ही (ज्योतिः) प्रकाश है यानी संकल्प विकल्पादि कार्य करता

है तथा (सर्वस्य) समस्त (आत्मनः) जीवात्मा के (परायणम्) उत्तम आश्रय है (तम्) उस (पुरुषम्) उत्तम पुरुष परमात्मा को (वै) निश्चय करके (यः) जो (विद्यात्) जानता है (याज्ञवल्क्य) हे याज्ञवल्क्य (सः) वही (वै) निश्चय करके (वेदिता) ज्ञाता (स्यात्) हो सकता है दूसरा नहीं इस वाक्य को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (वै) निश्चय करके (अहम्) मैं (तम्) उस (पुरुषम्) पर पुरुष को (वेद) जानता हूँ (यम्) जिस पुरुष को (सर्वस्य) सब (आत्मनः) जीवात्मा की (परायणम्) उत्तम शरण (आत्थ) तुम बतलाते हो, यदि तुम उस पुरुष को जनते हो तो बताओ वह कौन है ? इस वचन को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (यः) जो (असौ) यह (आदित्ये) सूर्य में (पुरुषः) पुरुष परब्रह्म नारायण है (सः) वही (एव) निश्चय करके (एषः) यह है (शाकल्य) हे शकल पुत्र विदग्ध (एव) निश्चय करके (वद) और जो प्रष्टव्य हो उसको पूछो (इति) इस बात को सुनकर विदग्ध ने पूछा कि (तस्य) उस रूपायतनत्व वेदिता पुरुषके (देवता) उपास्य देवता (का) कौन है (इति) इस प्रश्न को सुनकर (ह) सुप्रसिद्ध याज्ञवल्क्य ने (सत्यम्) सत्य यानी परब्रह्म है (उवाच) ऐसा कहा अर्थात् सत्यत्व विशिष्ट ध्यान करने योग्य है ।।१२।।

विशेषार्थ– आचार्य याज्ञवल्क्य से विदग्ध ने पूछा कि– जिस देव का शुक्ल, नील, पीत, रक्त, हरित, कपिश ओर चित्र ये ही सात रूप शरीर है। नेत्र से जो देखा जाता है उसको रूप कहते हैं । तथा नेत्रदर्शन साधन है अर्थात् वह नेत्र से देखता है। और जो मन रूप ज्योति से संकल्प विकल्पादि कार्य करता है । तथा सम्पूर्ण जीवात्मा का जो उत्तम आश्रय है उस पुरुष परब्रह्म नारायण को जो निश्चय करके विधि पूर्वक जानता है, हे याज्ञवल्क्य ! वही निश्चय करके ज्ञाता हो सकता है । दूसरा नहीं । विदग्ध के इस प्रश्न को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– निश्चय करके मैं उस पुरुष को जानता हूँ। तुम जिस पुरुष को समस्त जीवात्मा का उत्तम आश्रय कहते हो । अर्थात् रूपादि आयतनत्व आदिक रूप से उपास्य जिसको तुम कहते हो उसको मैं जानता हूँ। इस उत्तर को सुनकर विदग्ध ब्राह्मणने फिर पूछा कि– यदि तुम उस पुरुष को जानते हो तो कहो वह कौन है ? इस प्रश्न को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि – जो यह आदित्य में पुरुष परब्रह्म नारायण है वही निश्चय करके यह है। क्योंकि लिखा है– **तद्यत्सत्यमसौ स आदित्यो य एष एव तस्मिन्मण्डले पुरुषः ॥** (श्रुति) वह जो सत्यत्वविशिष्ट यह अदिति नन्दन है वही यह पुरुष नारायण निश्चय करके उस सूर्यमण्डल में है ॥ फिर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– हे शकलनन्दन विदग्ध ! तुमको जो कुछ कठिन प्रश्न पूछना हो वह पूछ लो । इस वचन को सुनकर पुनः विदग्ध ब्राह्मण ने पूछा कि– उस रूपायतनत्वज्ञाता पुरुष

के उपास्य देवता कौन है ? इस प्रश्न को सुनकर सुप्रसिद्ध आचार्य याज्ञवल्क्य ने "सत्य" यानी परब्रह्म नारायण है ऐसा कहा। यहाँ पर "सत्य" शब्द परब्रह्म नारायण का वाचक है। क्योंकि लिखा है– **हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ॥** (ईशोप० श्रु० १५) ज्योतिर्मय सूर्यमण्डलरूप पात्र से सत्यस्वरूप परब्रह्म नारायण का श्रीमुखारविन्द ढका हुआ है ॥१५॥ **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ॥** (तैत्ति० उ० क० २ अनुवा०.१ श्रु० १) सत्य यानी निरुपाधिक सत्तायोगी ज्ञान यानी नित्य असंकुचित ज्ञानैकाकार अनन्त यानी देश, काल और वस्तु के परिच्छेद से रहित परब्रह्म नारायण है ॥१॥ **सत्यवान् सात्त्विकः सत्यः सत्यधर्मपरायणः ॥** (महाभारत अनुशासन विष्णुसह० श्लोक १०६) सत्यवान् १, सात्त्विक २, सत्य ३ और सत्य धर्मपरायण ४ ये नारायण के नाम हैं ॥१०६॥ इन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि "सत्य" शब्द परब्रह्म नारायण वाचक है। इससे सत्यत्व विशिष्ट परब्रह्म नारायण का ध्यान करने योग्य है ॥१२॥

आकाश एव यस्याऽऽयतनं श्रोत्रं लोको मनो ज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं स वै वेदितास्याद्याज्ञवल्क्य । वेद वा अहं तं पुरुषं सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं यमात्थ य एवायं श्रौत्रः प्रातिश्रुत्कः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति दिश इति होवाच ॥१३॥

अन्वयार्थ– (यस्य) जिस देव का (आकाशः) आकाश (एव) ही (आयतनम्) शरीर है तथा (श्रोत्रम्) कान ही (लोकः) दर्शन साधन है और (मनः) मन ही (ज्योतिः) ज्योति है यानी संकल्प विकल्पादि कार्य करता है तथा (सर्वस्य) समस्त (आत्मनः) जीवात्मा का (परायणम्) उत्तम आश्रय है (तम्) उस (पुरुषम्) उत्तम पुरुष परमात्मा को (वै) निश्चय करके (यः) जो (विद्यात्) जानता है (याज्ञवल्क्य) हे याज्ञवल्क्य (सः) वही (वै) निश्चय करके (वेदिता) ज्ञाता (स्यात्) हो सकता है दूसरा नहीं इस वाक्य को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (वै) निश्चय करके (अहम्) मैं (तम्) उस (पुरुषम्) परम पुरुष को (वेद) जानता हूँ (यम्) जिस पुरुष को (सर्वस्य) सब (आत्मनः) जीवात्मा की (परायणम्) उत्तम शरण (आत्थ) तुम बतलाते हो, यदि तुम उस पुरुष को जानते हो तो बताओ वह कौन है, इस वचन को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (यः) जो (अयम्) यह (श्रौत्रः) श्रोत्र से अनुभूयमान (प्रातिश्रुत्कः) प्रतिध्वनिविशिष्ट (पुरुषः)

पुरुष परब्रह्म नारायण है (सः) वही (एव) निश्चय करके (एषः) यह है (शाकल्य) हे शकल ऋषि के पुत्र विदग्ध (एव) निश्चय करके (वद) और जो प्रष्टव्य हो उसको पूछो (इति) इस बात को सुनकर विदग्ध ने पूछा कि (तस्य) उस आकाशायतनत्व वेदिता पुरुष के (देवता) उपास्य देवता (का) कौन है (इति) इस प्रश्न को सुनकर (ह) सुप्रसिद्ध याज्ञवल्क्य ने (दिशः) दिशायें हैं (उवाच) ऐसा कहा अर्थात् दिशा शरीरकतया ध्यान करने योग्य है ॥१३॥

विशेषार्थ– आचार्य याज्ञवल्क्य से विदग्ध ब्राह्मण ने पूछा कि जिस देव का आकाश ही शरीर है तथा श्रोत्र दर्शन साधन है अर्थात् वह श्रोत्र से देखता है और जो मन रूप ज्योति से संकल्प विकल्पादि कार्य करता है तथा सम्पूर्ण जीवात्मा का जो उत्तम आश्रय है उस पुरुष परब्रह्म नारायण को जो निश्चय करके विधिपूर्वक जानता है, हे याज्ञवल्क्य! वही निश्चय करके ज्ञाता हो सकता है, दूसरा नहीं। विदग्ध के इस प्रश्न को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि निश्चय करके मैं उस पुरुष को जानता हूँ। तुम जिस पुरुष को समस्त जीवात्मा का उत्तम आश्रय कहते हो। अर्थात् आकाशादि आयतनत्व आदिक रूप से उपास्य जिसको तुम कहते हो उसको मैं जानता हूँ। इस उत्तर को सुनकर विदग्ध ब्राह्मण ने फिर पूछा कि यदि तुम उस पुरुष को जानते हो तो कहो वह कौन है ? इस प्रश्न को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि जो यह श्रोत्र से अनुभूयमान प्रतिध्वनिविशिष्ट पुरुष परब्रह्म नारायण है वही निश्चय करके यह है। फिर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि हे शकलनन्दन विदग्ध! तुमको जो कुछ कठिन प्रश्न पूछना हो वह पूछ लो। इस वचन को सुनकर पुनः विदग्ध ब्राह्मण ने पूछा कि उस आकाशायतनत्व ज्ञाता पुरुष का उपास्य देवता कौन है ? इस प्रश्न को सुनकर परम प्रसिद्ध आचार्य याज्ञवल्क्य ने "दिशाएँ" हैं, ऐसा कहा अर्थात् दिशा शरीरकतया ध्यान करने योग्य है। प्राच्यादि व्यवहार हेतु को दिशा कहते हैं ॥१३॥

तम एव यस्याऽऽयतनं हृदयं लोको मनो ज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं स वै वेदिता स्याद्याज्ञवल्क्य। वेद वा अहं तं पुरुषं सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं यमात्थ य एवायं छायामयः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति मृत्युरिति

होवाच ॥१४॥

अंन्वयार्थ– (यस्य) जिस देव का (तमः) अन्धकार (एव) ही (आयतनम्) शरीर है तथा (हृदयम्) हृदय (लोकः) दर्शनसाधन है और (मनः) मन ही (ज्योतिः) ज्योति है यानी संकल्प विकल्पादि कार्य करता है तथा (सर्वस्य) समस्त (आत्मनः) जीवात्मा का (परायणम्) उत्तम आश्रय है (तम्) उस (पुरुषम्) उत्तम पुरुष परमात्मा को (वै) निश्चय करके (यः) जो (विद्यात्) जानता है (याज्ञवल्क्य) हे याज्ञवल्क्य (सः) वही (वै) निश्चय करके (वेदिता) ज्ञाता (स्यात्) हो सकता है दूसरा नहीं इस वाक्य को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (वै) निश्चय करके (अहम्) मैं (तम्) उस (पुरुषम्) पर पुरुष को (वेद) जानता हूँ (यम्) जिस पुरुष को (सर्वस्य) सब (आत्मनः) जीवात्मा की (परायणम्) उत्तम शरण (आत्थ) तुम बतलाते हो, यदि तुम उस पुरुष को जानते हो तो बताओ वह कौन है, इस वचन को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (यः) जो (अयम्) यह (छायामयः) छायामय (पुरुषः) पुरुष परब्रह्म नारायण है (सः) वही (एव) निश्चय करके (एषः) यह है (शाकल्य) हे शकलऋषि के पुत्र विदग्ध (एव) निश्चय करके (वद) और जो प्रष्टव्य हो उसको पूछो (इति) इस बात को सुनकर विदग्ध ने पूछा कि (तस्य) उस तम आयतनत्ववेदिता पुरुष के (देवता) उपास्य देवता (का) कौन है (इति) इस प्रश्न को सुनकर (ह) सुप्रसिद्ध याज्ञवल्क्य ने (मृत्युः) मृत्यु है (उवाच) ऐसा कहा अर्थात् मृत्यु शरीरकतया ध्यान करने योग्य है ॥१४॥

विशेषार्थ– आचार्य याज्ञवल्क्य से विदग्ध ब्राह्मण ने पूछा कि– जिस देव का तम यानी अन्धकार ही शरीर है। यहाँ पर "तमस्" शब्द अन्धकार वाचक है। क्योंकि लिखा है– राहौ ध्वान्ते गुणे तमः ॥ (अमर० कां० ३ व० ३ श्लो० २३१) राहुग्रह में १, अन्धकार में २, और तमोगुण में ३ तमस् शब्द प्रयुक्त होता है ॥२३१॥ तथा हृदय दर्शन साधन है अर्थात् वह हृदय से देखता है। और जो मनरूप ज्योति से संकल्प विकल्पादि कार्य करता है। तथा सम्पूर्ण जीवात्मा का जो उत्तम आश्रय है उस पुरुष परब्रह्म नारायण को जो निश्चय करके विधिपूर्वक जानता है, हे याज्ञवल्क्य ! वही निश्चय करके ज्ञाता हो सकता है। दूसरा नहीं। विदग्ध के इस प्रश्न को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– निश्चय करके मैं उस पुरुष को जानता हूँ। तुम जिस पुरुष को उत्तम आश्रय कहते हो। अन्धकारादि आयतनत्व आदिक रूप से उपास्य जिसको तुम कहते हो उसको मैं जानता हूँ। इस उत्तर को सुनकर विदग्ध ब्राह्मण ने फिर पूछा कि– यदि तुम उस पुरुष को जानते हो तो कहो वह कौन है ? इस

प्रश्न को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– जो यह छायामय पुरुष नारायण है वही निश्चय करके यह है । प्रचुर छाया को छायामय कहते हैं । फिर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– हे शकल नन्दन विदग्ध ! तुमको जो कुछ कठिन प्रश्न पूछना हो वह पूछ लो । इस वचन को सुनकर पुनः विदग्ध ब्राह्मण ने पूछा कि– उस तम आयतनत्वज्ञाता पुरुष का उपास्य देवता कौन है ? इस प्रश्न को सुनकर सुप्रसिद्ध आचार्य याज्ञवल्क्य ने 'मृत्यु' यानी मरण है ऐसा कहा । यहाँ पर "मृत्यु" शब्द मरण वाचक है ॥ क्योंकि लिखा है– अन्तो नाशो द्वयोर्मृत्युर्मरणं निधनोऽस्त्रियाम् ॥ (अमर० कां० २ व० ९ श्लो० ११६) अन्त १, नाश २, मृत्यु ३, मरण ४, निधन ५ ये मृत्यु के नाम हैं ॥११६॥ अर्थात् मृत्यु शरीरकतया ध्यान करने योग्य है ॥१४॥

रूपाण्येव यस्याऽऽयतनं चक्षुर्लोको मनो ज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्याऽत्मनः परायणं स वै वेदिता स्याद्याज्ञवल्क्य । वेद वा अहं तं पुरुषं सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं यमात्थ य एवायमादर्शे पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेत्यसुरिति होवाच ॥१५॥

अन्वयार्थ– (यस्य) जिस देव का (रूपाणि) रूप (एव) ही (आयतनम्) शरीर है तथा (चक्षुः) नेत्र ही (लोकः) दर्शनसाधन है और (मनः) मन ही (ज्योतिः) ज्योति है यानी संकल्प विकल्पादि कार्य करता है तथा (सर्वस्य) समस्त (आत्मनः) जीवात्मा के (परायणम्) उत्तम आश्रय है (तम्) उस (पुरुषम्) उत्तम पुरुष परमात्मा को (वै) निश्चय करके (यः) जो (विद्यात्) जानता है (याज्ञवल्क्य) हे याज्ञवल्क्य (सः) वही (वै) निश्चय करके (वेदिता) ज्ञाता (स्यात्) हो सकता है दूसरा नहीं इस वाक्य को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (वै) निश्चय करके (अहम्) मैं (तम्) उस (पुरुषम्) पर पुरुष को (वेद) जानता हूँ (यम्) जिस पुरुष को (सर्वस्य) सब (आत्मनः) जीवात्मा के (परायणम्) उत्तमशरण (आत्थ) तुम बतलाते हो, यदि तुम उस पुरुष को जानते हो तो बताओ वह कौन है इस वचन को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (यः) जो (अयम्) यह (आदर्शे) दर्पण में (पुरुषः) पुरुष परब्रह्म नारायण है (सः) वही (एव) निश्चय करके (एषः) यह है (शाकल्य) हे शकलपुत्र विदग्ध (एव) निश्चय करके (वद) और जो प्रष्टव्य हो उसको पूछो (इति) इस बात को सुनकर विदग्ध ने पूछा कि (तस्य) उस रूपायतनत्ववेदिता पुरुष का (देवता) उपास्य देवता (का) कौन है (इति) इस प्रश्न को सुनकर (ह) सुप्रसिद्ध याज्ञवल्क्य ने (असुः)

प्राण है (उवाच) ऐसा कहा अर्थात् प्राणशरीरकतयाध्यान करने योग्य है ॥१५॥

विशेषार्थ– आचार्य याज्ञवल्क्य से विदग्ध ने पूछा कि– जिस देव का रूप ही शरीर है। नेत्र से जिसको देखा जाता है उसको रूप कहते हैं। तथा नेत्र दर्शन साधन है अर्थात् वह नेत्र से देखता है। और जो मनरूप ज्योति से संकल्पविकल्पादि कार्य करता है। तथा सम्पूर्ण जीवात्मा का जो उत्तम आश्रय है उस पुरुष परब्रह्म नारायण को जो निश्चय करके विधिपूर्वक जानता है, हे याज्ञवल्क्य! वही निश्चय करके ज्ञाता हो सकता है। दूसरा नहीं। विदग्ध के इस प्रश्न को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– निश्चय करके मैं उस पुरुष को जानता हूँ। तुम जिस पुरुष को समस्त जीवात्मा का उत्तम आश्रय कहते हो अर्थात् रूपादि आयतनत्व आदिक रूप से उपास्य जिसको तुम कहते हो उसको मैं जानता हूँ। इस उत्तर को सुनकर विदग्ध ब्राह्मण ने फिर पूछा कि– यदि तुम उस पुरुष को जानते हो तो कहो वह कौन है? इस प्रश्न को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– जो यह दर्पण के भीतर पुरुष परब्रह्म नारायण है वही निश्चय करके यह है। यहाँ पर "आदर्श" शब्द का अर्थ दर्पण है क्योंकि लिखा है– **दर्पणे मुकुरादर्शौ ॥** (अमर० कां० २ व० ७ श्लो० १४०) दर्पण १, मुकुर २, आदर्श ३ ये दर्पण के नाम हैं ॥१४०॥ फिर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– हे शकल ऋषि के पुत्र विदग्ध! तुमको जो कुछ कठिन प्रश्न पूछना हो वह पूछ लो। इस वचन को सुनकर पुनः विदग्ध ब्राह्मण ने पूछा कि– उस रूपायतनत्वज्ञाता पुरुष का उपास्य देवता कौन है? इस प्रश्न को सुनकर सुप्रसिद्ध आचार्य याज्ञवल्क्य ने "प्राण" है ऐसा कहा। यहाँ पर "असु" शब्द का अर्थ प्राण है। क्योंकि लिखा है– पुंसि भूम्न्यसवः प्राणाः ॥ (अमर० कां० २ व० ९ श्लोक ११९) असु १, प्राण २ ये प्राण के नाम हैं ॥११९॥ अर्थात् प्राण शरीरकतया ध्यान करने योग्य है ॥१५॥

आप एव यस्याऽऽयतनं हृदयं लोको मनो ज्योति र्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं स वै वेदिता स्याद्याज्ञवल्क्य। वेद वा अहं तं पुरुषं सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं यमात्थ य एवायमप्सु पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति वरुण इति होवाच ॥१६॥

अन्वयार्थ– (यस्य) जिस देव का (आपः) जल (एव) ही (आयतनम्) शरीर है तथा (हृदयम्) हृदय (लोकः) दर्शन साधन है और

(मनः) मन ही (ज्योतिः) ज्योति है यानी सङ्कल्पविकल्पादिकार्य करता है तथा (सर्वस्य) समस्त (आत्मनः) जीवात्मा का (परायणम्) उत्तम आश्रय है (तम्) उस (पुरुषम्) उत्तम पुरुष परमात्मा को (वै) निश्चय करके (यः) जो (विद्यात्) जानता है (याज्ञवल्क्य) हे याज्ञवल्क्य (सः) वही (वै) निश्चय करके (वेदिता) ज्ञाता (स्यात्) हो सकता है दूसरा नहीं। इस वाक्य को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (वै) निश्चय करके (अहम्) मैं (तम्) उस (पुरुषम्) परम पुरुष को (वेद) जानता हूँ (यम्) जिस पुरुष को (सर्वस्य) सब (आत्मनः) जीवात्मा की (परायणम्) उत्तम शरण (आत्थ) तुम बतलाते हो, यदि तुम उस पुरुष को जानते हो तो बताओ वह कौन है, इस वचन को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (यः) जो (अयम्) यह (अप्सु) जल में (पुरुषः) पुरुष परब्रह्म नारायण है (सः) वही (एव) निश्चय करके (एषः) यह है (शाकल्य) हे शकल पुत्र विदग्ध (एव) निश्चय करके (वद) और जो प्रष्टव्य हो उसको पूछो (इति) इस बात को सुनकर विदग्ध ने पूछा कि (तस्य) उस जलायतनत्ववेदिता पुरुष के (देवता) उपास्य देवता (का) कौन है (इति) इस प्रश्न को सुनकर (ह) सुप्रसिद्ध याज्ञवल्क्य ने (वरुणः) वरुण है (उवाच) ऐसा कहा, अर्थात् वरुण शरीरकतया ध्यान करने योग्य है ॥१६॥

विशेषार्थ— आचार्य याज्ञवल्क्य से विदग्ध ने पूछा कि— जिस देव का जल ही शरीर है तथा हृदय दर्शन साधन है अर्थात् वह हृदय से देखता है। और जो मनरूप ज्योति से सङ्कल्पविकल्पादि कार्य करता है तथा सम्पूर्ण जीवात्मा का जो उत्तम आश्रय है उस पुरुष परब्रह्म नारायण को निश्चय करके जो विधिपूर्वक जानता है, हे याज्ञवल्क्य! वही निश्चय करके ज्ञाता हो सकता है। दूसरा नहीं। विदग्ध के इस प्रश्न को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि— निश्चय करके मैं उस पुरुष को जानता हूँ। तुम जिस पुरुष को समस्त जीवात्मा का उत्तम आश्रय कहते हो। अर्थात् जलादि आयतनत्व आदिक रूप से उपास्य जिसको तुम कहते हो उसको मैं जानता हूँ। इस उत्तर को सुनकर विदग्ध ब्राह्मण ने फिर पूछा कि— यदि तुम उस पुरुष को जानते हो तो कहो वह कौन है? इस प्रश्न को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि— जो यह जल में पुरुष परब्रह्म नारायण है वही निश्चय करके यह है। फिर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि— हे शकल नन्दन विदग्ध! तुमको जो कुछ कठिन प्रश्न पूछना हो वह पूछ लो। इस वचन को सुनकर पुनः विदग्ध ब्राह्मण ने पूछा कि— उस जलायतनत्वज्ञाता पुरुष का उपास्य देवता कौन है? इस प्रश्न को सुनकर सुप्रसिद्ध आचार्य याज्ञवल्क्य "वरुण" देव है ऐसा कहा। वरुण के विषय में लिखा है— वरुणो देवता ॥ (यजु० अ० १४ मं० २०) वरुण देव हैं ॥२०॥ **वरुणो यादसामहम्** ॥ (गी० अ० १० श्लो०

२९) जलचरों में मैं उनका राजा वरुण हूँ ।।२९।। अर्थात् वरुण शरीरकतया ध्यान करने योग्य है ।।१६।।

रेत एव यस्याऽऽयतनं हृदयं लोको मनो ज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं स वै वेदिता स्याद्याज्ञवल्क्य । वेद वा अहं तं पुरुषं सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं यमात्थ य एवायं पुत्रमयः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति प्रजापतिरिति होवाच ।।१७।।

अन्वयार्थ– (यस्य) जिस देव का (रेतः) वीर्य (एव) ही (आयतनम्) शरीर है तथा (हृदयम्) हृदय (लोकः) दर्शन साधन है और (मनः) मन ही (ज्योतिः) ज्योति है यानी संकल्पविकल्पादिकार्य करता है तथा (सर्वस्य) समस्त (आत्मनः) जीवात्मा के (परायणम्) उत्तम आश्रय है (तम्) उस (पुरुषम्) उत्तम पुरुष परमात्मा को (वै) निश्चय करके (यः) जो (विद्यात्) जानता है (याज्ञवल्क्य) हे याज्ञवल्क्य (सः) वही (वै) निश्चय करके (वेदिता) ज्ञाता (स्यात्) हो सकता है दूसरा नहीं इस वाक्य को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (वै) निश्चय करके (अहम्) मैं (तम्) उस (पुरुषम्) पर पुरुष को (वेद) जानता हूँ (यम्) जिस पुरुष को (सर्वस्य) सब (आत्मनः) जीवात्मा की (परायणम्) उत्तम शरण (आत्थ) तुम बतलाते हो यदि तुम उस पुरुष को जानते हो तो बताओ वह कौन है, इस वचन को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (यः) जो (अयम्) यह (पुत्रमयः) पुत्रमय (पुरुषः) पुरुष परब्रह्म नारायण है (सः) वही (एव) निश्चय करके (एषः) यह है (शाकल्य) हे शकलपुत्र विदग्ध (एव) निश्चय करके (वद) और जो प्रष्टव्य हो उसको पूछो (इति) इस बात को सुनकर विदग्ध ने पूछा कि (तस्य) उस वीर्यायतनत्ववेदिता पुरुष का (देवता) उपास्य देवता (का) कौन है (इति) इस प्रश्न को सुनकर (ह) सुप्रसिद्ध याज्ञवल्क्य ने (प्रजापतिः) प्रजापति देव है (उवाच) ऐसा कहा अर्थात् प्रजापति शरीरकतया ध्यान करने योग्य है ।।१७।।

विशेषार्थ– आचार्य याज्ञवल्क्य से विदग्ध ब्राह्मण ने पूछा कि– जिस देव का वीर्य ही शरीर है । यहाँ पर "रेतस्" शब्द वीर्य वाचक है । क्योंकि लिखा है– **शुक्रं तेजो रेतस् च बीजवीर्येन्द्रियाणि च ।।** (अमर० कां० २ व० ६ श्लो० ६२)

शुक्र १, तेजस् २, रेतस् ३, बीज ४, वीर्य ५, इन्द्रिय ६ ये धातु के नाम हैं ॥६२॥ तथा हृदय दर्शन साधन है अर्थात् वह हृदय से देखता है । और जो मन रूप ज्योति से संकल्प विकल्पादि कार्य करता है । तथा सम्पूर्ण जीवात्मा का जो उत्तम आश्रय है उस पुरुष परब्रह्म नारायण को जो निश्चय करके जानता है, हे याज्ञवल्क्य ! वही निश्चय करके ज्ञाता हो सकता है । दूसरा नहीं । विदग्ध के इस प्रश्न को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– निश्चय करके मैं उस पुरुष को जानता हूँ । तुम जिस पुरुष को समस्त जीवात्मा का उत्तम आश्रय कहते हो । अर्थात् वीर्यादि आयतनत्व आदिक रूप से उपास्य जिसको तुम कहते हो उसको मैं जानता हूँ । इस उत्तर को सुनकर विदग्ध ब्राह्मण ने फिर पूछा कि– यदि तुम उस पुरुष को जानते हो तो कहो वह कौन है ? इस प्रश्न को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– जो यह पुत्रमय पुरुष परब्रह्म नारायण है वही निश्चय करके यह है । फिर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– हे शकलनन्दन विदग्ध ! तुमको जो कुछ कठिन प्रश्न पूछना हो वह पूछ लो । इस वचन को सुनकर पुनः विदग्ध ब्राह्मण ने पूछा कि– उस वीर्यायतनत्व ज्ञाता पुरुष का उपास्य देवता कौन है ? इस प्रश्न को सुनकर सुप्रसिद्ध आचार्य याज्ञवल्क्य ने "प्रजापति" देव है ऐसा कहा । अर्थात् प्रजापति शरीरकतया ध्यान करने योग्य है । उक्त आठ पुरुषों में "मनो ज्योतिः" सर्वत्र अनुगत समान है । और आयतन तथा लोक और धर्म में भेद है ॥१७॥

शाकल्येति होवाच याज्ञवल्क्यस्त्वां स्विदिमे ब्राह्मणा अङ्गारावक्षयणमकृता३इति ॥१८॥

अन्वयार्थ– (ह) सुप्रसिद्ध (याज्ञवल्क्यः) याज्ञवल्क्य ने (शाकल्य) हे शकल पुत्र विदग्ध (इति) ऐसा (उवाच) कहा कि (इमे) ये डरे हुए (ब्राह्मणाः) ब्राह्मणों ने (स्वित्) वितर्क द्वारा निश्चय करके (त्वाम्) तुमको (अङ्गारावक्षयणम्) अङ्गारे निकालने का पात्र चिमटा (अकृता३) बना रखा है (इति) इस बात का तुम्हें पता नहीं है परन्तु मेरे द्वारा तुम्हारा दाह हो रहा है ॥१८॥

विशेषार्थ– सुप्रसिद्ध आचार्य याज्ञवल्क्य ने– हे शकलऋषिनन्दन विदग्ध ! ऐसा सम्बोधन करके कहा कि निश्चय करके स्वयं भयभीत इन ब्राह्मणों ने आग में जलने वाला पात्र चिमटा ही तुमको बना रखा है । मेरे द्वारा तुम्हारा दाह हो रहा है– किन्तु तुम्हें इसका पता नहीं है । यहाँ पर "स्वित्" यह निपात वितर्क अर्थ में है । क्योकि लिखा है– **स्वित्प्रश्ने च वितर्के च** ॥ (अमर० कां० ३ व० ३ श्लो० २४२) प्रश्न में और वितर्क में स्वित् का प्रयोग होता है ॥२४२॥ जिस पात्र से आग

ग्रहण किया जाता है उसको अङ्गारावक्षयण कहते हैं ॥१८॥

याज्ञवल्क्येति होवाच शाकल्यो यदिदं कुरुपञ्चालानां ब्राह्मणानत्यवादीः किं ब्रह्म विद्वानिति दिशो वेद सदेवाः सप्रतिष्ठा इति यद्दिशो वेत्थ सदेवाः सप्रतिष्ठाः ॥१९॥

अन्वयार्थ– (याज्ञवल्क्य) हे याज्ञवल्क्य (इति) ऐसा (ह) प्रसिद्ध (शाकल्यः) शकल ऋषि के पुत्र विदग्ध ने (उवाच) कहा कि (यत्) जो (इदम्) यह (कुरुपञ्चालानाम्) कुरुपाञ्चालदेशीय (ब्राह्मणान्) ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मणों को (अत्यवादीः) तुम अतिवाद के द्वारा आक्षेप करते हो सो (किम्) क्या (ब्रह्म) परब्रह्म नारायण को (विद्वान्) तुम जानते हो (इति) इस वाक्य को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (सदेवाः) दिशाओं के अधिष्ठाता देवताओं के साथ और (सप्रतिष्ठः) प्रतिष्ठा के सहित (दिशः) सम्पूर्ण दिशाओं को (वेद) मैं जानता हूँ (इति) इस उत्तर को सुनकर विदग्ध ब्राह्मण ने कहा कि (यत्) यदि (सदेवाः) दिशाओं के अधिष्ठाता देवताओं के साथ और (सप्रतिष्ठः) प्रतिष्ठा के सहित (दिशः) सम्पूर्ण दिशाओं को (वेत्थ) तुम जानते हो तो आगे वक्ष्यमाण मेरे प्रश्नों का उत्तर दो ॥१९॥

विशेषार्थ– हे याज्ञवल्क्य ! ऐसा प्रसिद्ध शकलऋषि के पुत्र विदग्ध ने कहा कि– तुमने जो यह कुरुपाञ्चालदेशीय ब्राह्मणों का अतिवाद– आक्षेप द्वारा तिरस्कार किया है कि "ये स्वयं भयग्रस्त होने के कारण तुम्हें अङ्गारे निकालने का पात्र चिमटा बनाये हुए हैं" सो क्या तुम ब्रह्मवेत्ता होने के कारण इस प्रकार ब्राह्मणों का तिरस्कार करते हो ? इस वाक्य को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि दिशाओं के अधिष्ठाता देवताओं के साथ और दिशाओं की प्रतिष्ठा सहित सम्पूर्ण दिशाओं को मैं भलीभाँति जानता हूँ। इस उत्तर को सुनकर विदग्ध ब्राह्मण ने कहा कि यदि तुम दिशाओं के अधिष्ठाता देवताओं के साथ और देवताओं की प्रतिष्ठा सहित सम्पूर्ण दिशाओं को जानते हो तो आगे कहे जाने वाले मेरे प्रश्नों का यथार्थ उत्तर दो ॥१९॥

किं देवतोऽस्यां प्राच्यां दिश्यसीति । आदित्यदेवत इति । स आदित्यः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति चक्षुषीति कस्मिन्नु चक्षुः प्रतिष्ठितमिति । रूपेष्विति चक्षुषा

हि रूपाणि पश्यति । कस्मिन्नु रूपाणि प्रतिष्ठितानीति। हृदय इति होवाच । हृदयेन हि रूपाणि जानाति हृदये ह्येव रूपाणि प्रतिष्ठितानि भवन्ति । इत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥२०॥

अन्वयार्थ– (अस्याम्) इस (प्राच्याम्) पूर्व (दिशि) दिशा में (किंदेवत:) कौन देवता वाले (असि) तुम हो (इति) इस प्रश्न को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (आदित्यदेवत:) आदित्य देवता वाला मैं हूँ अर्थात् पूर्वदिशा में अधिष्ठाता रूप से मैं आदित्य की उपासना करता हूँ (इति) इस उत्तर को सुनकर फिर विदग्ध ने पूछा कि (स:) वह (आदित्य:) सूर्य (कस्मिन्) किसमें (प्रतिष्ठित:) प्रतिष्ठित है (इति) इस प्रश्न को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (चक्षुषि) नेत्र में सूर्यदेव प्रतिष्ठित है (इति) इसको सुनकर विदग्ध ने कहा कि (नु) यह प्रश्न है कि (चक्षु:) नेत्र (कस्मिन्) किसमें (प्रतिष्ठितम्) प्रतिष्ठित है (इति) इस प्रश्न को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा (रूपेषु) रूपों में (इति) यह नेत्र प्रतिष्ठित है (हि) क्योंकि पुरुष (चक्षुषा) नेत्र से ही (रूपाणि) रूपों को (पश्यति) देखता है (इति) इस उत्तर को सुनकर पुन: विदग्ध ने पूछा कि (नु) प्रश्न है (रूपाणि) शुक्ल आदिक रूप (कस्मिन्) किसमें (प्रतिष्ठितानि) प्रतिष्ठित हैं (इति) इस प्रश्न को सुनकर (ह) सुप्रसिद्ध याज्ञवल्क्य ने (हृदये) हृदय में (इति) ऐसा (उवाच) कहा (हि) क्योंकि पुरुष (हृदयेन) हृदय से (हि) निश्चय करके (रूपाणि) रूपों को (जानाति) जानता है अत: (हृदये) हृदय में (एव) ही (रूपाणि) समस्त रूप (प्रतिष्ठितानि) प्रतिष्ठित (भवन्ति) हैं (इति) इस उत्तर को सुनकर विदग्ध ने कहा कि (याज्ञवल्क्य) हे याज्ञवल्क्य (एतत्) यह बात (एवम्) ऐसी (एव) ही है ॥२०॥

विशेषार्थ– आचार्य याज्ञवल्क्य से विदग्ध ब्राह्मण ने पूछा कि– इस पूर्व दिशा में तुम किस देवता वाले हो ? अर्थात् पूर्व दिशा के अधिष्ठाता रूप से किस देव की उपासना तुम करते हो ? इस प्रश्न को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– पूर्व दिशा में अधिष्ठाता रूप से अदितिनन्दन सूर्य देव की मैं उपासना करता हूँ । सूर्य के विषय में लिखा है– सूर्यो देवता ॥ (यजु० अ० १४ मं० २०) सूर्य देव हैं ॥२०॥ इस उत्तर को सुनकर फिर विदग्ध ब्राह्मण ने पूछा कि– वह अदितिनन्दन सूर्य देव किसमें प्रतिष्ठित हैं ? इस प्रश्न को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– नेत्र में सूर्य देव प्रतिष्ठित हैं । क्योंकि लिखा है– **चक्षो: सूर्यो अजायत ॥** (यजु० अ०

३१ मं० १२) चक्षु से सूर्य उत्पन्न हुआ ।।१२।। चक्षुष आदित्यः ।। (ऐत० उ० अ० १ खं० १ श्रु० ४) नेत्र से आदित्य उत्पन्न हुआ ।।४।। और कार्य कारण में ही प्रतिष्ठित होता है । अतः आदित्य चक्षु में प्रतिष्ठित है । इस उत्तर को सुनकर फिर विदग्ध ब्राह्मण ने पूछा कि– नेत्र किसमें प्रतिष्ठित है ? इस श्रुति में "नु" शब्द प्रश्नवाचक है । क्योंकि लिखा है– नु पृच्छायां विकल्पे च ।। (अमर० कां० ३ व० ३ श्लोक २४८) नु प्रश्न में और विकल्प में प्रयुक्त होता है ।।२४८।। इस प्रश्न को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि– शुक्ल कृष्ण आदिक रूपों में चक्षु प्रतिष्ठित है । क्योंकि पुरुष नेत्र से ही शुक्लादि रूपों को देखता है। इस उत्तर को सुनकर फिर विदग्ध ब्राह्मण ने पूछा कि– वे शुक्लादि रूप किसमें प्रतिष्ठित हैं ? इस प्रश्न को सुनकर सुप्रसिद्ध आचार्य याज्ञवल्क्य ने हृदय में रूप प्रतिष्ठित है ऐसा कहा । क्योंकि सब लोग हृदय से ही रूप को जानते हैं । अन्तःकरण ही वासना रूप से प्रतिष्ठित होते हैं, अतः हृदय में ही सब रूप प्रतिष्ठित है । इस उत्तर को सुनकर विदग्ध ब्राह्मण ने कहा कि– हे याज्ञवल्क्य ! यह बात ऐसी ही है ।।२०।।

किंदेवतोऽस्यां दक्षिणायां दिश्यसीति । यमदेवत इति स यमः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति यज्ञ इति कस्मिन्नु यज्ञः प्रतिष्ठत इति दक्षिणायामिति कस्मिन्नु दक्षिणा प्रतिष्ठितेति श्रद्धायामिति यदा ह्येव श्रद्धत्तेऽथ दक्षिणां ददाति श्रद्धायां ह्येव दक्षिणा प्रतिष्ठितेति कस्मिन्नु श्रद्धा प्रतिष्ठितेति हृदय इति होवाच हृदयेन हि श्रद्धां जानाति हृदये ह्येव श्रद्धा प्रतिष्ठिता भवतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ।।२१।।

अन्वयार्थ– (अस्याम्) इस (दक्षिणायाम्) दक्षिण (दिशि) दिशा में (किंदेवतः) कौन देवता वाले (असि) तुम हो (इति) इस प्रश्न को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (यमदेवतः) यम देवता वाला मैं हूँ अर्थात् दक्षिण दिशा में अधिष्ठाता रूप से मैं यम देवता की उपासना करता हूँ (इति) इस उत्तर को सुनकर फिर विदग्ध ने पूछा कि (सः) वह (यमः) यम देवता (कस्मिन्) किस में (प्रतिष्ठितः) प्रतिष्ठित है (इति) इस प्रश्न को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (यज्ञे) यज्ञ में (इति) इस उत्तर को सुनकर विदग्ध ने फिर (नु) प्रश्न किया कि (यज्ञः) यज्ञ (कस्मिन्) किस

में (प्रतिष्ठितः) प्रतिष्ठित है (इति) इस प्रश्न को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा (दक्षिणायाम्) दक्षिणा में (इति) इस उत्तर को सुनकर विदग्ध ने पूछा (नु) प्रश्न किया कि (दक्षिणा) दक्षिणा (कस्मिन्) किस में (प्रतिष्ठिता) प्रतिष्ठित है (इति) इस प्रश्न को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (श्रद्धायाम्) श्रद्धा में (इति) यह दक्षिणा प्रतिष्ठित है (हि) क्योंकि (यदा) जब (एव) निश्चय करके (श्रद्धत्ते) श्रद्धा करता है (अथ) तभी (दक्षिणाम्) दक्षिणा को (ददाति) देता है (हि) इस कारण से (एव) निश्चय करके (श्रद्धायाम्) श्रद्धा में (दक्षिणा) दक्षिणा (प्रतिष्ठिता) प्रतिष्ठित है (इति) इस उत्तर को सुनकर विदग्ध ने फिर (नु) प्रश्न किया कि (श्रद्धा) श्रद्धा (कस्मिन्) किस में (प्रतिष्ठिता) प्रतिष्ठित है (इति) इस प्रश्न को सुनकर (ह) सुप्रसिद्ध याज्ञवल्क्य ने (हृदये) हृदय में (इति) ऐसा (उवाच) कहा (हि) क्योंकि (हृदयेन) हृदय से ही (श्रद्धाम्) श्रद्धा को (जानाति) पुरुष जानता है (हि) इस कारण से (एव) निश्चय करके (हृदये) हृदय में (श्रद्धा) श्रद्धा (प्रतिष्ठिता) प्रतिष्ठित (भवति) है (इति) इस उत्तर को सुनकर विदग्ध ने कहा कि (याज्ञवल्क्य) हे याज्ञवल्क्य (एतत्) यह बात (एवम्) ऐसी (एव) ही है ।।२१।।

विशेषार्थ– आचार्य याज्ञवल्क्य से विदग्ध ब्राह्मण ने पूछा कि– इस दक्षिण दिशा में तुम किस देवता वाले हो । अर्थात् दक्षिण दिशा के अधिष्ठातारूप से किस देव की उपासना तुम करते हो ? इस प्रश्न को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– दक्षिणदिशा में अधिष्ठातारूप से यमदेव की उपासना मैं करता हूँ । यमदेव के विषय में लिखा है– **यो ममार प्रथमो मर्त्यानां यः प्रेयाय प्रथमो लोकमेतम् । वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा सपर्यत ॥** (अथर्व० कां० १८ अ० ३ मं० १) जो मनुष्यों में पहले मरा है जो इस लोक को पहले ले जाता है सुख के लिये उस जनों के संगमन करने वाले सूर्यपुत्र यमराज को हविष्य से सत्कार किया जाता है ।।१।। इस उत्तर को सुनकर फिर विदग्ध ब्राह्मण ने पूछा कि– वह सूर्यनन्दन यमदेव किसमें प्रतिष्ठित है ? इस प्रश्न को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– यज्ञ में यमदेव प्रतिष्ठित है । देवता के उद्देश्य से अग्नि में हविष्य आदिकद्रव्यत्याग को यज्ञ कहते हैं । इस उत्तर को सुनकर पुनः विदग्ध ब्राह्मण ने पूछा कि– यज्ञ किसमें प्रतिष्ठित है ? इस प्रश्न को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– दक्षिणा में यज्ञ प्रतिष्ठित है । इस उत्तर को सुनकर फिर विदग्ध ब्राह्मण ने पूछा कि– इक्षिणा किसमें प्रतिष्ठित है ? इस प्रश्न को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– श्रद्धा में, क्योंकि जब पुरुष श्रद्धा करता है तभी दक्षिणा देता है, श्रद्धा किये बिना दक्षिणा नहीं देता है । इस लिये श्रद्धा में ही दक्षिणा प्रतिष्ठित है । श्रद्धा के विषय में लिखा है– **श्रद्धा**

ही "स्वाभिमतं साधयति एतत्" इति विश्वासपूर्विका साधनेत्वरा ॥ (रामानुजभाष्यगी० अ० १७ श्लो० २) अमुक साधन अपने अभिमत कार्य को सिद्ध कर सकेगा " इस विश्वास के साथ जो साधन में शीघ्रता होती है उसका नाम श्रद्धा है ।।२।। इस उत्तर को सुनकर पुनः विदग्ध ब्राह्मण ने पूछा कि– श्रद्धा किसमें प्रतिष्ठित है ? इस प्रश्न को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– हृदय में श्रद्धा प्रतिष्ठित है। क्योंकि हृदय से ही पुरुष श्रद्धा को जानता है। इससे हृदय में ही श्रद्धा प्रतिष्ठित है। इस उत्तर को सुनकर शकलपुत्र विदग्ध ब्राह्मण ने कहा कि– हे याज्ञवल्क्य ! यह बात ऐसी ही है। अर्थात् आपका उत्तर बहुत समीचीन है ।।२१।।

किंदेवतोऽस्यां प्रतीच्यां दिश्यसीति वरुणदेवत इति स वरुणः कस्मिन्प्रतिष्ठित इत्यप्स्विति कस्मिन्वापः प्रतिष्ठिता इति रेतसीति कस्मिन् रेतः प्रतिष्ठितमिति हृदय इति । तस्मादपि प्रतिरूपं जातमाहुर्हृदयादिव सृप्तो हृदयादिव निर्मित इति हृदये ह्येव रेतः प्रतिष्ठितं भवति । इत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ।।२२।।

अन्वयार्थ– (अस्याम्) इस (प्रतीच्याम्) पश्चिम (दिशि) दिशा में (किंदेवतः) कौन देवता वाले (असि) तुम हो (इति) इस प्रश्न को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (वरुणदेवतः) वरुणदेवतावाला मैं हूँ अर्थात् पश्चिमदिशा में अधिष्ठातारूप से मैं वरुणदेवता की उपासना करता हूँ (इति) इस उत्तर को सुनकर फिर विदग्ध ने पूछा कि (सः) वह (वरुणः) वरुणदेव (कस्मिन्) किसमें (प्रतिष्ठितः) प्रतिष्ठित है (इति) इस प्रश्न को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (अप्सु) जल में (इति) इस उत्तर को सुनकर विदग्ध ने फिर (नु) प्रश्न किया कि (आपः) जल (कस्मिन्) किसमें (प्रतिष्ठिताः) प्रतिष्ठित हैं (इति) इस प्रश्न को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (रेतसि) वीर्य में जल प्रतिष्ठित है (इति) इस उत्तर को सुनकर फिर विदग्ध ने पूछा कि (रेतः) वीर्य (कस्मिन्) किसमें (प्रतिष्ठितम्) प्रतिष्ठित है (इति) इस प्रश्न को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (हृदये) हृदय में (इति) यह वीर्य प्रतिष्ठित है (तस्मात्) इस कारण से (अपि) ही (प्रतिरूपम्) पिता के सदृश (जातम्) उत्पन्न हुए पुत्र को (आहुः) लोग कहते हैं कि यह पुत्र (इव) मानो (हृदयात्) पिता के हृदय से (सृप्तः) निकला है (इव) मानो (हृदयात्) पिता के हृदय से ही (निर्मितः) बना हुआ है (इति) इस

कारण से (हि) क्योंकि (एव) निश्चय करके (रेतः) वीर्य (हृदये) हृदय में (प्रतिष्ठितम्) प्रतिष्ठित (भवति) है (इति) उस उत्तर को सुनकर विदग्ध ने कहा कि (याज्ञवल्क्य) हे याज्ञवल्क्य (एतत्) यह बात (एवम्) ऐसी (एव) ही है ।।२२।।

विशेषार्थ– आचार्य याज्ञवल्क्य से विदग्ध ब्राह्मण ने पूछा कि– इस पश्चिम दिशा में तुम किस देवता वाले हो ? अर्थात् पश्चिम दिशा के अधिष्ठाता रूप से किस देवता की उपासना तुम करते हो ? इस प्रश्न को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– पश्चिम दिशा में अधिष्ठाता रूप से वरुण देव की उपासना मैं करता हूँ । वरुण देव के विषय में लिखा है– **वरुणो देवता ॥** (यजु॰ अ॰ १४ मं॰ २०) वरुण देवता है ।।२०।। इस उत्तर को सुनकर फिर विदग्ध ब्राह्मण ने पूछा कि– वह वरुणदेव किसमें प्रतिष्ठित है ? इस प्रश्न को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– जल में वरुणदेव प्रतिष्ठित है। इस उत्तर को सुनकर पुनः विदग्ध ब्राह्मण ने पूछा कि– जल किसमें प्रतिष्ठित है ? इस प्रश्न को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– वीर्य में जल प्रतिष्ठित है। क्योंकि लिखा है– **रेतसो ह्यापः सृष्टाः ॥** (श्रुति) वीर्य से जल की रचना हुई। इस उत्तर को सुनकर फिर विदग्ध ब्राह्मण ने पूछा कि– वीर्य किसमें प्रतिष्ठित है ? इस प्रश्न को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– हृदय में वीर्य प्रतिष्ठित है। क्योंकि कामी के हृदय से ही वीर्य स्खलित होता है। इसी से पिता के अनुरूप उत्पन्न हुए पुत्र को देखकर लोग कहते हैं कि यह पुत्र मानो पिता के हृदय से ही निकला है। मानो पिता के हृदय से ही यह निर्मित हुआ है। अतः हृदय में ही वीर्य प्रतिष्ठित है। इस उपपत्ति को सुनकर विदग्ध ब्राह्मण ने कहा कि– हे याज्ञवल्क्य ! यह बात ऐसी ही है। अर्थात् आपका समाधान अत्यन्त समीचीन है ।।२२।।

किंदेवतोऽस्यामुदीच्यां दिश्यसीति सोमदेवत इति स सोमः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति दीक्षायामिति कस्मिन्नु दीक्षा प्रतिष्ठितेति सत्य इति तस्मादपि दीक्षितमाहुः सत्यं वदेति सत्ये ह्येव दीक्षा प्रतिष्ठितेति कस्मिन्नु सत्यं प्रतिष्ठितमिति हृदय इति होवाच हृदयेन हि सत्यं जानाति हृदये ह्येव सत्यं प्रतिष्ठितं भवतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ।।२३।।

अन्वयार्थ– (अस्याम्) इस (उदीच्याम्) उत्तर (दिशि) दिशा में

(किंदेवतः) कौन देवता वाले (असि) तुम हो (इति) इस प्रश्न को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (सोमदेवतः) सोम देवता वाला मैं हूँ। अर्थात् उत्तर दिशा में अधिष्ठाता रूप से मैं सोमदेवता की उपासना करता हूँ (इति) इस उत्तर को सुनकर फिर विदग्ध ने कहा कि (सः) वह (सोमः) सोमदेव (कस्मिन्) किसमें (प्रतिष्ठितः) प्रतिष्ठित है (इति) इस प्रश्न को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (दीक्षायाम्) दीक्षा में सोम प्रतिष्ठित है (इति) इस उत्तर को सुनकर विदग्ध ने फिर (नु) प्रश्न किया कि (दीक्षा) दीक्षा (कस्मिन्) किसमें (प्रतिष्ठिता) प्रतिष्ठित है (इति) इस प्रश्न को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (सत्ये) सत्य में (इति) यह दीक्षा प्रतिष्ठित है (तस्मात्) इसी कारण से (अपि) ही (दीक्षितम्) दीक्षितपुरुष को (आहुः) आचार्य कहते हैं कि (सत्यम्) सत्य (वद) तुम बोलो (हि) क्योंकि (इति) यह (दीक्षा) दीक्षा (सत्ये) सत्य में (एव) निश्चय करके (प्रतिष्ठिता) प्रतिष्ठित है (इति) इस उत्तर को सुनकर फिर विदग्ध ने (नु) प्रश्न किया कि (सत्यम्) सत्य (कस्मिन्) किसमें (प्रतिष्ठितम्) प्रतिष्ठित है (इति) इस प्रश्न को सुनकर (ह) सुप्रसिद्ध याज्ञवल्क्य ने (हृदये) हृदय में सत्य प्रतिष्ठित है (इति) ऐसा (उवाच) कहा (हि) क्योंकि (हृदयेन) हृदय से ही (सत्यम्) सत्य को (जानाति) पुरुष जानता है (हि) क्योंकि (हृदये) हृदय में (एव) निश्चय करके (सत्यम्) सत्य (प्रतिष्ठितम्) प्रतिष्ठित (भवति) है (इति) इस उत्तर को सुनकर विदग्ध ने कहा कि (याज्ञवल्क्य) हे याज्ञवल्क्य (एतत्) यह बात (एवम्) ऐसी (एव) ही है ॥२३॥

विशेषार्थ– आचार्य याज्ञवल्क्य से विदग्ध ब्राह्मण ने पूछा कि– इस उत्तर दिशा में तुम किस देवतावाले हो अर्थात् उत्तर दिशा के अधिष्ठातारूप से किस देव की उपासना तुम करते हो ? इस प्रश्न को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– उत्तर दिशा में अधिष्ठातारूप से चन्द्रमा देव की उपासना मैं करता हूँ। चन्द्र देव के विषय में लिखा है– **चन्द्रमा देवता ॥** (यजु० अ० १४ मं० २०) चन्द्र देव है ॥२०॥ इस उत्तर को सुनकर फिर विदग्ध ब्राह्मण ने पूछा कि– वह सोमदेव किसमें प्रतिष्ठित है ? इस प्रश्न को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– दीक्षा में सोमदेव प्रतिष्ठित है। इस उत्तर को सुनकर फिर विदग्ध ब्राह्मण ने पूछा कि– दीक्षा किसमें प्रतिष्ठित है ? इस प्रश्न को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– दीक्षा सत्य में प्रतिष्ठित है। इसी कारण से दीक्षित पुरुष को आचार्य उपदेश देते हैं कि– तुम सत्य बोलो। अतः सत्य में ही दीक्षा प्रतिष्ठित है। सत्य के विषय में लिखा है– **चक्षुरादीन्द्रियैर्दृष्टं श्रुतं घ्रातं मुनीश्वर। तस्यैवोक्तिर्भवेत्सत्यं विप्र तन्नान्यथा भवेत् ॥** (जाबालद० उ० खं० १ श्रु० ९) हे विप्र नेत्र आदिक इन्द्रियों से जो जैसा देखा गया

तथा सुना गया और सूँघा गया उसको ठीक जैसे के तैसे जो कहना है उसी को सत्य कहते हैं ।।९।। **सत्यं यथा दृष्टार्थगोचरभूतहितवाक्यम् ॥** (रामानुजभाष्यगी० अ० १६ श्लो० २) देख सुनकर समझी हुई बात को ठीक वैसे ही बतलाने के लिये कहे जाने वाले प्राणियों के हितकर वचन का नाम "सत्य" है ।।२।। सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ।। (योग० अ० १ पा० २ सू० ३६) सत्य की प्रतिष्ठा होने पर क्रियाओं का फल अधीन हो जाता है ।।३६।। इस उत्तर को सुनकर पुनः विदग्ध ब्राह्मण ने पूछा कि– सत्य किसमें प्रतिष्ठित है ? इस प्रश्न को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– हृदय में सत्य प्रतिष्ठित है। क्योंकि पुरुष हृदय से ही सत्य को जानता है। इसलिये सत्य हृदय में ही प्रतिष्ठित है। इस उत्तर को सुनकर विदग्ध ने कहा कि– हे याज्ञवल्क्य ! यह बात ऐसी ही है। अर्थात् आपका उत्तर बहुत समीचीन है ।।२३।।

किंदेवतोऽस्यां ध्रुवायां दिश्यसीति । अग्निदेवत इति सो ऽग्निः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति वाचीति कस्मिन्नु वाक् प्रतिष्ठितेति हृदय इति कस्मिन्नु हृदयं प्रतिष्ठितमिति ।।२४।।

अन्वयार्थ– (अस्याम्) इस (ध्रुवायाम्) स्थिरा भूमिरूपा (दिशि) अधोदिशा में (किंदेवतः) कौन देवता वाले (असि) तुम हो (इति) इस प्रश्न को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (अग्निदेवतः) अग्निदेवता वाला मैं हूँ। अर्थात् भूमिरूपा अधोदिशा में अधिष्ठातारूप मैं अग्नि देवता की उपासना करता हूँ (इति) इस उत्तर को सुनकर विदग्ध ने फिर पूछा कि (सः) वह (अग्निः) अग्निदेव (कस्मिन्) किसमें (प्रतिष्ठितः) प्रतिष्ठित है (इति) इस प्रश्न को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (वाचि) वाणी में अग्निदेव प्रतिष्ठित है (इति) इस उत्तर को सुनकर फिर विदग्ध ने (नु) प्रश्न किया कि (वाक्) वाणी (कस्मिन्) किसमें (प्रतिष्ठिता) प्रतिष्ठित है (इति) इस प्रश्न को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (हृदये) हृदय में वाक् प्रतिष्ठित है (इति) इस उत्तर को सुनकर पुनः विदग्ध ने (नु) प्रश्न किया कि (इति) यह (हृदयम्) हृदय (कस्मिन्) किस में (प्रतिष्ठितम्) प्रतिष्ठित है ।।२४।।

विशेषार्थ– आचार्य याज्ञवल्क्य से विदग्ध ब्राह्मण ने पूछा कि– इस ध्रुवा यानी स्थिरा– अचला भूमिरूपा अधोदिशा में तुम किस देवता वाले हो अर्थात् ध्रुवा– भूमिरूपा अधोदिशा के अधिष्ठाता रूप से किस देव की उपासना तुम करते हो ? यहाँ पर "ध्रुवा" शब्द का अर्थ स्थिरा या अचला होता है। और

स्थिरा अथवा अचला पृथ्वी का नाम है । क्योंकि लिखा है– **भूर्भूमिरचलानन्ता रसा विश्वम्भरा स्थिरा** (अमर॰ कां॰ २ व॰ १ श्लो॰ २) भू १, भूमि २, अचला ३, अनन्ता ४, रसा ५, विश्वम्भरा ६ और स्थिरा ७ ये पृथी के नाम हैं ।।२।। इससे भूमिरूपा अधोदिशा को ही ध्रुवा दिशा कहते हैं । पूर्वोक्त प्रश्न को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– ध्रुवा यानी स्थिरा भूमिरूपा अधोदिशा में अधिष्ठातारूप से अग्निदेव की उपासना मैं करता हूँ । अग्नि देव के विषय में लिखा है– **अग्निर्देवता** (यजु॰ अ॰ १४ मं॰ २०) अग्नि देव है ।।२०।। **त्रीणि शतानि त्री सहस्राण्यग्निं त्रिंशच्च देवा नव चासपर्यन् । औक्षन्घृतैरास्तृणन्बर्हिस्मा आदिद्धोतारं न्यसादयन्त** (यजु॰ अ॰ ३२ मं॰ ७) तीन हजार, तीन सौ उन्तालीस देवता अग्निदेव की परिचर्या करते हैं । उन्होंने घृत से अग्निदेव को सींचा और इस अग्निदेव के लिये कुशा को आच्छादन करते हुए होता को होतृकर्म में नियुक्त किया ।।७।। **अग्निः पृथ्वीस्थानः** (निरुक्त॰ दैवत॰ कां॰ अ॰ ७ खं॰ ५) पुथ्वी स्थान में अग्निदेव हैं ।।५।। इस उत्तर को सुनकर फिर विदग्ध ब्राह्मण ने पूछा कि– वह अग्निदेव किसमें प्रतिष्ठित है ? इस प्रश्न को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– वाणी में अग्निदेव प्रतिष्ठत है । इस उत्तर को सुनकर फिर विदग्ध ब्राह्मण ने पूछा कि– वह वाणी किसमें प्रतिष्ठित है ? इस प्रश्न को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– हृदय में वाणी प्रतिष्ठित है । इस उत्तर को सुनकर पुनः विदग्ध ब्राह्मण ने पूछा कि– सम्पूर्ण दिग्देवताओं के प्रतिष्ठाभूत हृदय किसमें प्रतिष्ठित है ।।२४।।

अहल्लिकेति होवाच याज्ञवल्क्यः । यत्रैतदन्यत्रास्मन्मन्यासै । तद्ध्येतदन्यत्रास्मत्स्याच्छ्वानो वैनदद्युर्वयांसि वैनद्विमथ्नीरन्निति ।।२५।।

अन्वयार्थ– (ह) सुप्रसिद्ध (याज्ञवल्क्यः) याज्ञवल्क्य महर्षि ने (अहल्लिक) हे अहल्लिक (इति) ऐसा सम्बोधन करके (उवाच) कहा कि (अस्मत्) इस शरीर से (अन्यत्र कहीं दूसरी जगह (यत्र) जहाँ पर (एतत्) इस हृदय को प्रतिष्ठित (मन्यासै) तुम मानते हो तो (हि) निश्चय करके यदि (अस्मत्) इस शरीर से (एतत्) यह हृदय (अन्यत्र) अलग (स्यात्) हो जाय (तत्) तो (एनत्) इस शरीर को (वा) या तो (श्वानः) कुत्ते (अद्युः) खा जाते (वा) अथवा (वयांसि) गृध्र आदि पक्षी (एनत्) इस शरीर को (विमथ्नीरन्) चोंच मार मार कर नोंच डालते (इति) इससे सिद्ध हुआ कि शरीर में ही हृदय प्रतिष्ठित है ।।२५।।

विशेषार्थ– हृदय किसमें प्रतिष्ठित है ? इस प्रश्न को सुनकर याज्ञवल्क्य महर्षि को बड़ा क्रोध हुआ और अतिशय कुपित हो विदग्ध या शाकल्य आदिक नामों से सम्बोधन न करके अरे अहल्लिक ! ऐसा सम्बोधन करके कहा । "अहनि लीयते इति अहल्लिकः" इस व्युत्पत्ति से जो दिन में लीन हो जाता है और रात्रि में दीखता है उसे अहल्लिक कहते हैं । निशाचर, प्रेत प्रभृति । हे अहल्लिक ! जो तुम मानते हो कि यह हृदय इस शरीर से अन्यत्र कहीं दूसरी जगह प्रतिष्ठित है तो यदि यह हृदय इस शरीर से कहीं अन्यत्र होता तो इस शरीर को या तो कुत्ते खा जाते अथवा गृध्र आदि पक्षी चोंच मार मार कर नोंच डालते । यहाँ पर "श्वानः" पद कुत्ता वाचक है । क्योंकि लिखा है– **कौलेयकः सारमेयः कुक्कुरो मृगदंशकः** (अमर० कां० २ व० १० श्लो० २१) **शुनको भशकः श्वा स्यात्** ॥२२॥ कौलेयक १, सारमेय २, कुक्कुर ३, मृगदंशक ४ ॥२१॥ शुनक ५, भषक ६, श्वन् ७ ये कुत्ते के नाम हैं ॥२॥ और "वयस्" शब्द पक्षी वाचक है । क्योंकि लिखा है कि– **खगबाल्यादिनोर्वयः** (अमर० कां० ३ व० ३ श्लो० २३१) वयस् शब्द पक्षी और बाल्यादि अवस्था वाचक है ॥२३१॥ इससे सिद्ध हुआ कि मुझ शरीर में ही यह हृदय प्रतिष्ठित है । अरे अहल्लिक ! क्या तू इसे भी नहीं जानता था जो ऐसा प्रश्न किया है ? इससे ज्ञात होता है कि तेरी यह जान बूझ कर धृष्टता है ॥२५॥

कस्मिन्नुत्वं चात्मा च प्रतिष्ठितौ स्थ इति । प्राण इति कस्मिन्नु प्राणः प्रतिष्ठित इत्यापान इति कस्मिन्न्वपानः प्रतिष्ठित इति व्यान इति कस्मिन्नु व्यानः प्रतिष्ठित इत्युदान इति कस्मिन्नुदानः प्रतिष्ठित इति समान इति । स एष नेति नेत्यात्मा । अगृह्यो न हि गृह्यते । अशीर्योन हि शीर्यते । असङ्गो न हि सज्जते । असितो न व्यथते न रिष्यति । एतान्यष्टावायतनान्यष्टौ लोका अष्टौ देवा अष्टौ पुरुषाः स यस्तान्पुरुषान्निरुह्य प्रत्युह्यात्यक्रामत्तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि तं चेन्मे न विवक्ष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति । तं ह न मेने शाकल्यः । तस्य ह मूर्धा विपपातापि हास्य

परिमोषिणोऽस्थीन्यपजहरुरन्यन्मन्यमाना: ॥२६॥

अन्वयार्थ– फिर शाकल्य ने (नु) प्रश्न किया कि (त्वम्) हृदय प्रतिष्ठाधारभूत तुम्हारा शरीर (च) और (आत्मा) हृदय (च) भी (कस्मिन्) किसमें (प्रतिष्ठितौ) प्रतिष्ठित (स्थ:) हैं (इति) इस प्रश्न को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (प्राणे) प्राण में शरीर और हृदय दोनों प्रतिष्ठित हैं (इति) इस उत्तर को सुनकर फिर विदग्ध ने (नु) प्रश्न किया कि (प्राण:) प्राण (कस्मिन्) किसमें (प्रतिष्ठित:) प्रतिष्ठित है (इति) इस प्रश्न को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (अपाने) अपान में वह प्राण प्रतिष्ठित है (इति) इस उत्तर को सुनकर फिर विदग्ध ने (नु) प्रश्न किया कि (अपान:) अपान (कस्मिन्) किसमें (प्रतिष्ठित:) प्रतिष्ठित है (इति) इस प्रश्न को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (व्याने) व्यान में अपान प्रतिष्ठित है (इति) इस उत्तर को सुनकर पुन: विदग्ध ने (नु) प्रश्न किया कि (व्यान:) व्यान (कस्मिन्) किसमें (प्रतिष्ठित:) प्रतिष्ठित है (इति) इस प्रश्न को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (उदाने) उदान में व्यान प्रतिष्ठित है (इति) इस उत्तर को सुनकर फिर विदग्ध ने (नु) प्रश्न किया कि (उदान:) उदान (कस्मिन्) किसमें (प्रतिष्ठित:) प्रतिष्ठित है (इति) इस प्रश्न को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (समाने) समान में उदान प्रतिष्ठित है (इति) इस उत्तर को सुनकर विदग्ध चुप हो गया तब स्वयं समान के प्रतिष्ठाधार को याज्ञवल्क्य ने कहा कि (स:) वह (एष:) यह समान प्रतिष्ठाधारभूत (आत्मा) आत्मा (न) नहीं (इति) इयत्तालक्षण प्रकारयुक्त है (न) नहीं (इति) इयत्तालक्षण प्रकारयुक्त है ऐसा मधुकाण्ड में कहा गया है वह आत्मा (अगृह्य:) इन्द्रियग्रहण के अयोग्य है (हि) क्योंकि इन्द्रिय से (न) नहीं (गृह्यते) वह ग्रहण किया जा सकता है और वह आत्मा (अशीर्य:) विशरण योग्य अवयवशून्य है (हि) क्योंकि कभी वह (न) नहीं (शीर्यते) शीर्ण यानी नष्ट होता है तथा वह आत्मा (असङ्ग:) निर्लेप है (हि) क्योंकि कभी वह (न) नहीं (सज्जते) पाप के फल को अनुभव करता है और वह परमात्मा (असित:) कर्म के बन्धन से शून्य है (हि) क्योंकि वह (न) सर्वदेहान्तरार्त भी नहीं (व्यथते) व्यथित होता है और (न) नहीं (रिश्यति) वह हिंसित होता है (एतानि) येजो पहले कहे हुए (अष्टौ) पृथ्वी आदि आठ (आयतनानि) आयतन हैं और (अष्टौ) अग्नि आदि आठ (लोका:) लोक हैं तथा (अष्टौ) अमृत आदि आठ (देवा:) देव हैं और (अष्टौ) शरीर आदि आठ (पुरुषा:) पुरुष हैं (स:) वह (य:) जो कोई (तान्) उन (पुरुषान्) पुरुषों को (निरुह्य) निश्चय करके अच्छे प्रकार जानकर (प्रत्युह्य) तत्तत्स्वरूप को अपने हृदय में स्थापित कर (अत्यक्रामत्) जो पुरुष सकलकार्य वर्गविलक्षणता से

निश्चित किया हुआ है (तम्) उस सर्वविलक्षण (औपनिषदम्) उपनिषदेकगम्य (पुरुषम्) पुरुष परब्रह्म नारायण को (त्वा) तुमसे (पृच्छामि) मैं पूछता हूँ (चेत्) यदि (तम्) उस पुरुष परमात्मा को (मे) मुझसे (न) नहीं (विवक्ष्यसि) तुम विशेष रूप से बतला सकोगे तो (ते) तुम्हारा (मूर्धा) मस्तक (विपतिष्यति) इस सभा में विस्पष्ट रूप से गिर जायगा (इति) ऐसा याज्ञवल्क्य ने शाप दिया (शाकल्यः) शकल ऋषि का पुत्र विदग्ध (ह) सुप्रसिद्ध (तम्) उस उपनिषदेकगम्य पुरुष को (न) नहीं (मेने) जानता था अतः शापवश (ह) प्रसिद्ध (तस्य) उस विदग्ध का (मूर्धा) मस्तक (विपपात) गर्दन से टूट कर गिर पड़ा (ह) और प्रसिद्ध (अस्य) इस विदग्ध की (अस्थीनि) हड्डियों को (अपि) भी संस्कार के लिए शिष्यों से ले जाते हुए देखकर (अन्यत्) अन्य उत्तम धन (मन्यमानाः) समझकर (परिमोषिणः) चोर लोग (अपजहरुः) चुरा ले गये ।।२६।।

विशेषार्थ— आचार्य याज्ञवल्क्य से विदग्ध ब्राह्मण ने पूछा कि— हे याज्ञवल्क्य ! हृदयप्रतिष्ठाधारभूत तुम्हारा शरीर और हृदय किसमें प्रतिष्ठित है ? यहाँ पर "आत्मा" पद हृदय वाचक है । इस प्रश्न को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि— प्राण में देह और हृदय दोनों प्रतिष्ठित हैं । प्राण के विषय में लिखा है— **चक्षुःश्रोत्रे मुखनासिकाभ्यां प्राणः स्वयं प्रतितिष्ठते ॥** (प्रश्नोप० प्र० ३ श्रु० ५) अपने आप प्राण मुख और नासिका से निकला हुआ नेत्र और श्रोत्र में स्थित होता है ।।५।। इस उत्तर को सुनकर फिर विदग्ध ब्राह्मण ने पूछा कि— प्राण किसमें प्रतिष्ठित है ? इस प्रश्न को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि— अपान में वह प्राण प्रतिष्ठित है । अपान के विषय में लिखा है— **पायूपस्थेऽपानम् ॥** (प्रश्नोप० प्र० ३ श्रु० ५) मुख्य प्राण मलद्वार और मूत्रद्वार में अपान को रखता है ।।५।। इस उत्तर को सुनकर विदग्ध ब्राह्मण ने पूछा कि— अपान किसमें प्रतिष्ठित है ? इस प्रश्न को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि— व्यान में वह अपान प्रतिष्ठित है । व्यान के विषय में लिखा है— **अत्रैकशतं नाडीनां तासां शतं शतमेकैकस्यां द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखानाडीसहस्त्राणि भवन्ति । तासु व्यानश्चरति ॥** (प्रश्नो० प्र० ३ श्रु० ६) इस हृदय में एक सौ मूल भूत प्रधान नाड़ियाँ हैं । उनमें से प्रत्येक नाड़ी की एक एक सौ शाखा नाड़ियाँ हैं । प्रत्येक शाखा नाड़ी की बहत्तर बहत्तर हजार प्रतिशाखा नाड़ियाँ हैं । इन बहत्तर करोड़ नाड़ियों में व्यान वायु विचरती है ।।६।। इस उत्तर को सुनकर फिर विदग्ध ब्राह्मण ने पूछा कि— व्यान किसमें प्रतिष्ठित है ? इस प्रश्न को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि उदान में वह व्यान प्रतिष्ठित है ।उदान के विषय में लिखा है— **अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति । पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम् ॥** (प्रश्नो० प्र०

३ श्रु० ७) इसके अनन्तर बहत्तर करोड़ नाड़ियों से अलग सर्वश्रेष्ठ सुषुम्ना नाड़ी के द्वारा ऊर्ध्वमुख उदान वायु ऊपर की ओर विचरती है। और पुण्य कर्म करके पु... यानी स्वर्ग लोक ले जाती है। और पाप कर्म करके पाप यानी नरकादि लोक ... ले जाती है। और निश्चय करके पुण्य और पाप इन दोनों प्रकार के कर्मों को ... मनुष्य लोक को ले जाती है ॥७॥ इस उत्तर को सुनकर फिर विदग्ध ब्राह्मण ने पूछा कि– उदान किसमें प्रतिष्ठित है ? इस प्रश्न को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– समान में उदान प्रतिष्ठित है। समान के विषय में लिखा है– **मध्ये समानः। एष ह्येतद्धुतमन्नं समं नयति ॥** (प्रश्नो० प्र० ३ श्रु० ५) शरीर के मध्य भाग में समान रहता है। निश्चय करके यह समान वायु इस प्राणाग्नि में हवन किये हुए यानी भोजन किये हुए खाद्य अन्न को सब शरीर में समान रूप से पहुँचाती है ॥५॥ इस उत्तर को सुनकर विदग्ध चुप हो गया तब स्वयं समान वायु के प्रतिष्ठाधार को आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– वह यह समान प्रतिष्ठाधारभूत मधुकाण्ड में– **अथात आदेशो नेति नेति ॥** (बृह० उ० अ० २ ब्रा० ३ कं० ६) इस कण्डिका में पठित "नेति नेति" अर्थात् परमात्मा इयत्तालक्षणप्रयुक्त नहीं है इस प्रकार निर्देश किया हुआ आत्मा है। यहाँ पर "आत्मा" पद परब्रह्म नारायण् वाचक है। क्योंकि लिखा है–**आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् ॥** (ऐत० अ० १ खं० १ श्रु० १) ब्रह्मादिस्तबपर्यन्त स्थावर जङ्गम स्वरूप जगत् सृष्टि से पहले एक मात्र प्रसिद्ध हेय गुणों से रहित एकतान कल्याणमय यह परमात्मा ही था ॥१॥ और व्याप्ति बोधक "आप्" भक्षणार्थक "अद्" अथवा सतत गमन बोधक "अत्" धातु से "आत्मा" पद निष्पन्न होने से आत्मा का अर्थ परब्रह्म नारायण है। क्योंकि वह आत्मा प्राकृत इन्द्रिय ग्रहण के अयोग्य होने से अगृह्य है इसलिए प्राकृत इन्द्रिय से नहीं ग्रहण किया जा सकता है। और वह आत्मा विशरण योग्य अवयवशून्य होने से अशीर्य है इसलिये कभी शीर्ण नहीं होता है। तथा वह आत्मा निर्लेप होने से असङ्ग है इसलिये कभी पाप के फल को नहीं अनुभव करता है। और वह आत्मा कर्मबन्धनशून्य होने से सर्वदेहान्तरार्त भी नहीं सोचता है और नहीं हिंसा को प्राप्त होता है। एतादृश समान प्रतिष्ठाधारभूत परमात्मा को मन में रखकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– जो मैं तुमसे पूर्व कण्डिकाओं में पृथ्वी १, काम २, रूप ३, आकाश ४, तम ५, रूप ६ आप ७, रेत ८ ये आठ आयतन कहा हूँ और अग्नि १, हृदय २, चक्षु ३, श्रोत्र ४, तम ५, चक्षु ६, हृदय ७ और हृदय ८ ये आठ लोक कहा हूँ। तथा अमृत १, स्त्री २, सत्य ३, दिशा ४, मृत्यु ५, असु ६, वरुण ७ प्रजापति ८ ये आठ देव कहा हूँ और शरीर १, काममय २, आदित्य पुरुष ३, प्रातिश्रुत्क ४, छायामय ५, आदर्श पुरुष ६, जलमय ७, पुत्रमय ८ ये आठ पुरुष

कहा हूँ। सो जो कोई उन कहे हुए पुरुषों को निश्चय करके अच्छे प्रकार जानकर और तत्तत्स्वरूप को अपने हृदय में स्थापित कर जो तत्त्व सम्पूर्ण कार्यवर्ग विलक्षणता से निश्चित किया हुआ है उस सर्व विलक्षण उपनिषदेकगम्य किसी अन्य प्रमाण से नहीं जानने योग्य पुरुष परब्रह्म नारायण को विद्या के अभिमान रखने वाले तुमसे मैं पूछता हूँ। यदि शास्त्रैकसमधिगम्य उस परम पुरुष को मुझसे तुम नहीं कह सकोगे तो तुम्हारा शिर इस सभा में विस्पष्टरूप से गिर जायगा। ऐसा याज्ञवल्क्य महर्षि ने शाप दिया। शकलनन्दन विदग्ध उपनिषदेकगम्य उस परब्रह्म नारायण को नहीं जानता था, अतः शापवश सुप्रसिद्ध उस विदग्ध का मस्तक गर्दन से टूट कर गिर गया। और शकलनन्दन का शरीर याज्ञवल्क्य महर्षि की कोपाग्नि से भस्म हो गया। और शाकल्य के शिष्यगण जो विदग्ध की अस्थियों को संस्कार के लिये घर की ओर ले जा रहे थे उन्हे अन्य उत्तम धन समझ कर चोर लोग चुरा ले गये। यहाँ पर "अस्थि" शब्द हड्डी वाचक है। क्योंकि लिखा है– **कीकसं कुल्यमस्थि च**॥ (अमर० कां० २ व०·६ श्लोक ६८) कीकस १, कुल्य २, अस्थि ३ ये हड्डी के नाम हैं॥६८॥ यह आख्यायिका यहाँ आचार प्रदर्शन करती है कि– ब्रह्मवेत्ता श्रेष्ठ होता है। इसलिये उसका तिरस्कार कभी नहीं करना चाहिये॥२६॥

अथ होवाच ब्राह्मणा भगवन्तो यो वः कामयते स मा पृच्छतु सर्वे वा मा पृच्छत यो वः कामयते तं वः पृच्छामि सर्वान् वा वः पृच्छामीति ते ह ब्राह्मणा न दधृषुः॥२७॥

अन्वयार्थ– (अथ) विदग्ध के मस्तक गिर जाने के अनन्तर (ह) सुप्रसिद्ध याज्ञवल्क्य ने (उवाच) कहा कि (भगवन्तः) हे षडैश्वर्य सम्पन्न पूज्य (ब्राह्मणाः) ब्राह्मणो (वः) आपलोगों में से (यः) जो कोई (कामयते) मुझसे प्रश्न करना चाहता हो (सः) वह (मा) मुझसे (पृच्छतु) प्रश्न करे (वा) अथवा (सर्वे) आप सब कोई (मा) मुझसे (पृच्छत) प्रश्न करें अथवा (वः) आपलोगों में से (यः) जो कोई (कामयते) प्रत्युत्तर देने की चाहना करता हो (वः) आपलोगों के मध्य में (तम्) उससे (पृच्छामि) मैं प्रश्न करता हूँ (वा) अथवा (वः) आप (सर्वान्) सबों से (पृच्छामि) मैं प्रश्न करता हूँ आपलोग समाधान करें (इति) इस वाक्य को सुनकर भी (ह) प्रसिद्ध (ते) वे (ब्राह्मणाः) ब्राह्मण जल्पकथा में (न) नहीं (दधृषुः) धृष्टता कर सके॥२७॥

विशेषार्थ– शकल पुत्र विदग्ध के सिर गिर जाने के बाद सुप्रसिद्ध आचार्य याज्ञवल्क्य ने हे षडैश्वर्यसम्पन्न पूज्य ब्राह्मणों ! इस प्रकार सम्बोधन करके कहा कि– आपलोग में से जिसकी ऐसी इच्छा हो कि मैं याज्ञवल्क्य से प्रश्न करूँ वह मुझसे पूछ सकता है । अथवा आप सभी मुझसे पूछ सकते हैं । और आपलोगों में से जिसकी ऐसी इच्छा हो कि मैं प्रत्युत्तर दूँगा याज्ञवल्क्य मुझसे प्रश्न करे उससे मैं पूछता हूँ । अथवा आप सभी से मैं पूछता हूँ । आपलोग समाधान करें । इस वाक्य को सुनकर भी वे ब्राह्मण किसी प्रकार का प्रत्युत्तर देने की प्रगल्भता नहीं कर सके ।।२७।।

तान् हैतैः श्लोकैः पप्रच्छ– यथा वृक्षो वनस्पतिस्तथैव पुरुषोऽमृषा । तस्य लोमानि पर्णानि त्वगस्योत्पाटिका बहिः ।।१।।

अन्वयार्थ– (ह) सुप्रसिद्ध याज्ञवल्क्य ने (तान्) उन जनक की सभा में मौन स्थित ब्राह्मणों को (एतैः) इन वक्ष्यमाण सात (श्लोकैः) श्लोकों से (पप्रच्छ) अठाईसवीं कण्डिका में पूछा कि (यथा) जैसे (वनस्पतिः) वन का पति विशाल (वृक्षः) फल और पुष्प से युक्त वृक्ष होता है (तथा) वैसा (एव) ही (पुरुषः) सब प्राणियों में पुरुष होता है (अमृषा) यह बिल्कुल सत्य है (तस्य) उस पुरुष नामक वृक्ष के (लोमानि) जो रोएं हैं वे ही मानो (पर्णानि) वृक्ष के पत्ते हैं और ((अस्य) इस मनुष्य का (त्वक्) जो शरीर में चाम है वही मानो वृक्ष की (बहिः) बाहरी (उत्पाटिका) छाल है ।।१।।

विशेषार्थ– जब जनक महाराज की सभा में स्थित वे ब्राह्मण कुछ बोलने का साहस न कर सके तब सुप्रसिद्ध आचार्य याज्ञवल्क्य ने उन मौन स्थित ब्राह्मणों से इन आगे अठाईसवीं कण्डिका में कहे जानेवाले सात श्लोकों से पूछा । प्रथम यहाँ तीन श्लोकों से वृक्ष और पुरुष की समानता बतलायी गयी है । ''जिस प्रकार वन का पति यानी विशाल या महान् फल और फूलों से युक्त वृक्ष होता है'' यहाँ वनस्पति यह वृक्ष का विशेषण मात्र है । वृक्ष के विषय में लिखा है– **पुष्पिणः फलिनश्चैव वृक्षाः ।।** (मनु० अ० १ श्लो० ४७) जिसमें फूल और फल ये दोनों होते हैं उसे वृक्ष कहते हैं ।।४७।। उसी प्रकार निश्चय करके सब प्राणियों में पुरुष यानी मनुष्य होता है'' इसमें सन्देह नहीं है यह बिल्कुल सत्य है । यहाँ पर ''पुरुष'' शब्द मनुष्य वाचक है । क्योंकि लिखा है–**पुरुषो धातृ पुन्नाम नरात्मपरमात्मसु ।।** (अभिधानको०) धाता में १, पुन्नाम में २, नर में ३, जीवात्मा में ४ और परमात्मा में ५ पुरुष शब्द का प्रयोग

होता है । **मनुष्या मानुषा मर्त्या मनुजा मानवा नराः । स्युः पुमांसः पञ्चजनाः पुरुषाः पूरुषा नरः ॥** (अमर० कां० २ व० ६ श्लो० १) मनुष्य १, मानुष २, मर्त्य ३, मनुज ४, मानव ५ और नर ६ ये मनुष्यमात्र के नाम हैं और पुंस् १, पंचजन २, पूरुष ३, पूरुष ४, और नृ ५ ये मनुष्य जाति पुरुष के नाम हैं ॥१॥ आगे पुरुष और वृक्ष की समानता दिखलाते हैं। इस पुरुष के जो रोएँ हैं वे ही मानो वृक्ष के पत्ते हैं । यहाँ पर "लोमन्" शब्द का अर्थ रोवाँ है । क्योंकि लिखा है– **तनूरुहं रोम लोम ॥** (अमर० कां० २ व० ६ श्लो ९९) तनूरुह १, रोमन् २, लोमन् ३ ये रोवें के नाम हैं ॥९९॥ और इस मनुष्य के शरीर में जो चर्म है वही मानो वृक्ष की बाहरी छाल है। यहाँ पर "त्वक्" पद का अर्थ खाल होता है । क्योकि लिखा है–**स्त्रियां तु त्वगसृग्धरा ॥** (अमर० कां० २ व० ६ श्लो० ६२) त्वच् १, असृग्धरा २ ये खाल के नाम हैं ॥६२॥ ऐसा कहा गया है ॥१॥

त्वच एवास्य रुधिरं प्रस्यन्दि त्वच उत्पटः ।
तस्मात्तदातृण्णात् प्रैति रसो वृक्षादिवाऽऽहतात् ॥२॥

अन्वयार्थ– (अस्य) इस मनुष्य के (त्वचः) चर्म से (एव) ही (रुधिरम्) रक्त (प्रस्यन्दि) चूता है और (त्वचः) वृक्ष के छाल से (उत्पटः) क्षीरादिसार निकलता है (आहतात्) कटे हुए (वृक्षात्) वृक्ष से (रसः) निकला हुआ क्षीरादि रस के (इव) समान (आतृण्णात्) हिंसित (तस्मात्) उस पुरुष के शरीर से (तत्) वह रुधिर (प्रैति) निकलता है ॥२॥

विशेषार्थ– जैसे इस पुरुष के चाम से ही रुधिर निकलता है वैसे ही वृक्ष के बल्कल से क्षीरादिसार निकलता है । जैसे छिन्न वृक्ष से क्षीरादि रस निकलता है वैसे ही चोट खाये हुए पुरुष के शरीर से भी वह रक्त निकलता है । इन कारणों से वृक्ष और पुरुष दोनों समान हैं ॥२॥

मांसान्यस्य शकराणि किनाटं स्नाव तत्स्थिरम् ।
अस्थीन्यन्तरतो दारूणि मज्जोपमा कृता ॥३॥

अन्वयार्थ– (अस्य) इस पुरुष के (मांसानि) जो मांस हैं वे ही मानो (शकराणि) वृक्ष के शकल हैं यानी त्वचा के भीतर का अंश हैं और पुरुष के जो (तत्) वह (स्थिरम्) स्थिर (स्नाव) शिरा है वही मानो (किनाटम्) वृक्ष का किनाट है अर्थात् शकलों से भीतर काठ से लगी हुई छाल है और (अस्थीनि) मनुष्य कि जो हड्डियाँ

हैं वे ही मानो (अन्तरतः) वृक्ष के भीतर का (दारूणि) काष्ठ है और (मज्जा) पुरुष की जो मज्जा है वह मानो (मज्जोपमा) वृक्ष की मज्जा के समान ही (कृता) निश्चत की गयी है ।।३।।

विशेषार्थ– इस पुरुष के शरीर में मांस हैं और वृक्ष में मांस स्थानीय शकर यानी शकल हैं। त्वचा के भीतर के अंश को शकल कहते हैं। और मनुष्य के शरीर में वे स्थिर शिराएँ हैं तथा वृक्ष में शिरास्थानीय स्थिर वह किनाट है। शकलों से भीतर काठ से लगी हुई जो छाल होती है उसे किनाट कहते हैं। और पुरुष की शिराओं के भीतर हड्डियाँ होती है। तथा वृक्ष में अस्थि स्थानीय किनाट के भीतर काष्ठ होता है। यहाँ पर "दारु" शब्द का अर्थ काठ होता है। क्योंकि लिखा है–**काष्ठं दारु ॥** (अमर० कां० २ व० ४ श्लो० १३) काष्ठ १, दारु २ ये काठ के नाम हैं ।।१३।। और मज्जा तो पुरुष में और वृक्ष में मज्जा के ही समान निश्चित की गयी है। जैसे पुरुष की मज़्जा होती है वैसे ही वृक्ष की होती है। उनमें कोई अन्य भेद नहीं है। इस प्रकार पुरुष और वृक्ष तुल्य हैं। ऐसा प्रतिपादन किया गया है ।।३।।

यद् वृक्षो वृक्णो रोहति मूलान्नवतरः पुनः । मर्त्यः स्विन्मृत्युना वृक्णः कस्मान्मूलात् प्ररोहति ।।४।।

अन्वयार्थ– (यत्) यदि (वृक्षः) वृक्ष (वृक्णः) हथियार से काट दिया जाता है तो वह (मूलात्) अपनी जड़ से (पुनः) फिर (नवतरः) नवीन वृक्ष (रोहति) प्रादुर्भूत हो जाता है (स्वित्) परन्तु (मृत्युना) मृत्यु से (वृक्णः) काटा हुआ (मर्त्यः) मरण धर्मी मनुष्य (कस्मात्) किस (मूलात्) मूल से (प्ररोहति) पुनः उत्पन्न होता है ।।४।।

विशेषार्थ– वृक्ष और पुरुष की समानता दिखलाकर अब आचार्य याज्ञवल्क्य ने पुरुष के कारण को पूछा कि– हे ब्राह्मणों ! जब जड़ छोड़ कर वृक्ष हथियार से काटा जाता है तब वह अपनी जड़ से पुनः नवीनतर वृक्ष उत्पन्न होता है। यहाँ पर "मूल" शब्द जड़ और आदिकारण वाचक है। क्योंकि लिखा है– **मूलमाद्ये शिफाभयोः ॥** (अमर० कां० ३ व० ३ श्लो० २००) जड़ पहले वृक्ष की जटा तथा आभा और आदिकारण में मूल शब्द का प्रयोग होता है ।।२००।। परन्तु जब मरणधर्मी मनुष्य मृत्यु से मारा जाता है तब वह पुरुष किस मूल से पुनः उत्पन्न होता है। अर्थात् मरे हुए पुरुष की उत्पत्ति कहाँ से होती है ।।४।।

रेतस इति मा वोचत जीवतस्तत् प्रजायते । धानारुह

इव वृक्षोऽञ्जसा प्रेत्य संभवः ॥५॥

अन्वयार्थ– (रेतसः) वह पुरुष वीर्यरूप मूल से उत्पन्न होता है (इति) ऐसा (मां वोचत) मत कहो क्योंकि (तत्) वह वीर्य तो (जीवतः) जीवित पुरुष से ही (प्रजायते) उत्पन्न होता है (वृक्षः) वृक्ष (धानारुहः) बीज से उत्पन्न होनेवाला (इव) भी है केवल काण्डरुह ही नहीं है। यह प्रसिद्ध है कि वृक्ष (प्रेत्य) मरकर (अञ्जसा) शीघ्र ही साक्षात् (संभवः) बीज से उत्पन्न हो जाता है ॥५॥

विशेषार्थ– यदि तुम ऐसा कहो कि वह मनुष्य वीर्यरूप मूल से उत्पन्न होता है– तो ऐसा मत कहो। क्योंकि वीर्य जीवित पुरुष से ही उत्पन्न होता है। मरे हुए से नहीं। यहाँ पर "धाना" शब्द बीज वाचक है और "इव" शब्द अपि अर्थ में प्रयुक्त होता है कि– बीज से उत्पन्न होनेवाला भी वृक्ष होता है वह केवल तने से ही उत्पन्न होने वाला नहीं होता। क्योंकि लिखा है– **बीजकाण्डरुहाण्येव ॥** (मनु० अ० १ श्लो० ४८) कुछ श्रीफल आदि वृक्ष बीज से उत्पन्न होते हैं और गुलाबचिन तथा सिसम के वृक्ष काण्ड से यानी तने से उत्पन्न होते हैं ॥४८॥ यह प्रसिद्ध है कि वृक्ष मरकर भी पुनः साक्षात् शीघ्र ही उत्पन्न बीज से ही हो जाता है परन्तु मरने के पश्चात् मनुष्य का कोई भी मूल कारण नहीं दीखता जिससे उसकी उत्पत्ति कही जाय। इस श्रुति में "अञ्जसा" शब्द शीघ्रता वाचक है। क्योंकि लिखा है– **स्राग्झटित्यञ्जसाह्नाय द्राङ्मंक्षु सपदि द्रुते ॥** (अमर० कां० ३ व० ४ श्लो० २) स्राक् १, झटिति २, अंजसा ३, अह्नाय ४, द्राक् ५, मंक्षु ६, सपदि ७ और द्रुतम् ८ ये अव्यय शब्द शीघ्रता वाचक हैं ॥२॥ इस प्रकार प्रतिपादन किया गया है ॥५॥

यत् समूलमावृहेयुर्वृक्षं न पुनराभवेत्। मर्त्यः स्विन्मृत्युना वृक्णः कस्मान्मूलात् प्ररोहति ॥६॥

अन्वयार्थ– (यत्) यदि (समूलम्) मूल सहित (वृक्षम्) वृक्ष को (आवृहेयुः) अच्छी तरह से उखाड़ दिया जाय तो (पुनः) फिर वह वृक्ष (आ) कहीं से आकर (न) नहीं (भवेत्) उत्पन्न होगा (स्वित्) किन्तु (मृत्युना) मृत्यु से (वृक्णः) छिन्न (मर्त्यः) मनुष्य (कस्मात्) किस (मूलात्) मूल से (प्ररोहति) उत्पन्न होता है ॥६॥

विशेषार्थ– यदि जड़ अथवा बीज सहित वृक्ष को अच्छी तरह से उखाड़ दे तो वह वृक्ष फिर कहीं से आकर उत्पन्न नहीं होगा। परन्तु मृत्यु से छेदन किया हुआ मनुष्य किस मूल से उत्पन्न होता है। यहाँ पर "वृक्ण" शब्द का अर्थ छिन्न होता

है। क्योंकि लिखा है– **छिन्नं छातं लूनं कृत्तं दातं दितं छितं वृक्णम् ॥** (अमर० कां० ३ व० १ श्लो० १०४) छिन्न १, छात २, लून ३, कृत्त ४, दात ५, दित ६ छित ७ और वृक्ण ८ ये काटे हुए के नाम हैं ॥१०४॥६॥

जात एव न जायते को न्वेनं जनयेत् पुनः । विज्ञानमानन्दं ब्रह्म रातिर्दातुः परायणं तिष्ठमानस्य तद्विद इति ॥७॥२८॥

॥ इति तृतीयाध्याये नवमं ब्राह्मणम् ॥

॥ इति बृहदारण्यकोपनिषदि तृतीयोऽध्यायः ॥

अन्वयार्थ– (जातः) यदि ऐसा मानो कि– पुरुष तो उत्पन्न हो चुका है (एव) निश्चय करके वह फिर (न) नहीं (जायते) उत्पन्न होता है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि मरकर वह पुनः उत्पन्न होता ही है इससे (नु) तुम लोगों से मैं प्रश्न करता हूँ कि (एनम्) इस मृत पुरुष को (पुनः) फिर (कः) कौन (जनयेत्) उत्पन्न करेगा अर्थात् सम्पूर्ण जगत् का मूल कौन है ? यह प्रश्न है । ब्राह्मणों ने इसका कोई उत्तर नहीं दिया । इसलिये श्रुति स्वयं ही उसका उत्तर कहती है कि (रातिः) धन के (दातुः) देनेवाले यानी कर्म करनेवाले यजमान की (परायणम्) परा गति और (तिष्ठमानस्य) ब्रह्मसंस्थ का तथा (तद्विदः) उस ब्रह्मवेत्ता पुरुष का परम प्राप्य (विज्ञानम्) विज्ञान (आनन्दम्) आनन्दरूप (ब्रह्म) परब्रह्म नारायण है (इति) इस प्रकार के नवम शाकल्य ब्राह्मण और तृतीय अध्याय समाप्त हो गया ।।७।।२८।।

विशेषार्थ– यदि तुम ऐसा मानो कि– पुरुष तो उत्पन्न हो ही गया है । इस लिये इसके विषय में प्रश्न करना उचित नहीं है । क्योंकि वह फिर नहीं उत्पन्न होता है। ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि मरकर वह पुरुष पुनः उत्पन्न होता ही है । नहीं तो बिना किये की प्राप्ति और किये हुए के नाश का प्रसङ्ग आ जायेगा । इसी से मैं तुमलोगों से पूछता हूँ कि – मरने पर इस पुरुष को पुन: कौन उत्पन्न करेगा? अर्थात् समस्त जगत् का मूल कौन है ? यह याज्ञवल्क्य महर्षि का प्रश्न है । उस जगत् के मूल का ब्राह्मणों को पता नहीं था । अतः ब्रह्मिष्ठ होने के कारण याज्ञवल्क्य से वे ब्राह्मण जीत लिये गये। आख्यायिका समाप्त हुई । जो जगत् का मूल है और जिसके विषय में आचार्य याज्ञवल्क्य ने ब्राह्मणों से पूछा था उसको परमकरुणामयी श्रुति स्वयं ही उपदेश देती है कि– विज्ञान आनन्दरूप परब्रह्म नारायण है । वह धनदाता यानी

कर्म करने वाले यजमान की परमा गति है । "रतिः" पद में षष्ठी के अर्थ में प्रथमा विभक्ति है और ब्रह्मसंस्थ ब्रह्मवेत्ता प्रपन्न जन का वह परब्रह्म नारायण परम प्राप्य है । यहाँ पर "ब्रह्म" पद नारायण वाचक है । क्योंकि लिखा– **ब्रह्मण्यो ब्रह्मकृद् ब्रह्मा ब्रह्म ब्रह्मविवर्धनः** (महाभार० अनुशास० विष्णुसह० श्लो० ८४) ब्रह्मण्य १, ब्रह्मकृद् २, ब्रह्मा ३ ब्रह्म ४, और ब्रह्मविवर्धन ५ ये परब्रह्म नारायण के नाम हैं ॥८४॥ नवम शाकल्य ब्राह्मण और तृतीय अध्याय की समाप्ति सूचित करने के लिये इस कण्डिका के अन्त में "इति" शब्द प्रयुक्त हुआ है। श्री वरवरमुनीन्द्ररूपधारी भगवद्रामानुजाचार्य ने– **अथातो ब्रह्मजिज्ञासा** (शा० मी० अ० १ पा० १ सू० १) **अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्** (शा० मी० अ० १ पा० १ सू० २१) **तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः** (शा० मी० अ० २ पा० १ सू० १५) इन तीन सूत्रों के श्रीभाष्य में "बृहदारण्यकोपनिषद्" के तृतीय अध्याय के नवम ब्राह्मण की अठाईसवीं कण्डिका के "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इस खण्ड को उद्धृत किया है । "बृहदारण्यकोपनिषद्" के तृतीय अध्याय के प्रथम ब्राह्मण में दस कण्डिका और द्वितीय ब्राह्मण में तेरह कण्ड्का तथा तृतीय ब्राह्मण में दो कण्डिका और चतुर्थ ब्राह्मण में भी दो कण्डिका तथा पञ्चम ब्राह्मण में एक कण्डिका और षष्ठ ब्राह्मण में भी एक कण्डिका तथा सप्तम ब्राह्मण में तेईस कण्डिका और अष्टम ब्राह्मण में बारह कण्डिका तथा नवम ब्राह्मण में अठाईस कण्डिका हैं । इस प्रकार सब परिगणन करने से इस तृतीय अध्याय में बानबे ९२ कण्डिकाएँ हैं । यहाँ पर "बृहदारण्यकोपनिषद्" के तृतीय अध्याय का नवम शाकल्य ब्राह्मण और तृतीय अध्याय भी समाप्त हो गया ॥७॥ ॥२८॥

॥ अथ चतुर्थोऽध्यायः ॥

॥ अथ प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

जनको ह वैदेह आसाञ्चक्रे । अथ याज्ञवल्क्य आवव्राज । तं होवाच याज्ञवल्क्य किमर्थमचारीः पशूनिच्छन्नण्वन्तानिति । उभयमेव सम्राडिति होवाच ॥१॥

अन्वयार्थ– (वैदेहः) विदेह देश के अधिपति (ह) सुप्रसिद्ध (जनकः) जनक महाराज (आसाञ्चक्रे) दर्शन करने की इच्छावालों के लिये दर्शन देने के लिये सभा में आसन पर बैठे हुए थे (अथ) उसी समय में (याज्ञवल्क्यः) याज्ञवल्क्य जी (आवव्राज

वहाँ आ गये (ह) सुप्रसिद्ध (तम्) उस याज्ञवल्क्य जी से (उवाच) जनक राजा ने कहा कि (याज्ञवल्क्य) हे याज्ञवल्क्य (किमर्थम्) किसलिये (अचारीः) आप यहाँ आये हैं ? क्या पुनः (पशून्) पशुओं की (इच्छन्) इच्छा करते हुए अथवा (अण्वन्तान्) अणु-जीवात्मा आदि सूक्ष्मतत्त्वों के निश्चय करने कि लिये यहाँ आये हैं (इति) इस वचन को सुनकर (ह) सुप्रसिद्ध आचार्य याज्ञवल्क्य ने (इति) ऐसा (उवाच) कहा कि (सम्राट्) हे सम्राट् (एव) निश्चय करके (उभयम्) दोनों के लिये मैं यहाँ आया हूँ ।।१।।

विशेषार्थ– राजा के दर्शन करने की इच्छावालों के लिये दर्शन देने की इच्छा से एक दिन विदेह देश का राजा सुप्रसिद्ध जनक महाराज सभा में आसन पर स्थित थे । तब उसी काल में राजा जनक के ऊपर कृपा करके आचार्य याज्ञवल्क्य जी वहाँ आये । अनवसर आये हुए उनको देखकर साष्टाङ्ग प्रणिपात तथा विधिवत् पूजा करके आसन पर बैठाकर याज्ञवल्क्य जी से जनक महाराज ने हास्य से कहा कि– हे याज्ञवल्क्य ! किस निमित्त आप अनवसर यहाँ आये हैं ? क्या गोधन की इच्छा करते हुए आप पुनः इस समय आये हुए हैं ? अथवा अणु यानी जीवात्मा आदिक सूक्ष्म तत्त्वों के निर्णय करने के लिये मेरे ऊपर अनुकम्पा कर आप यहाँ पधारे हैं। इस प्रकार जनक महाराज के वचन को सुनकर सुप्रसिद्ध आचार्य याज्ञवल्क्य ने ऐसा कहा कि– हे सम्राट् ! दोनों ही के लिये अर्थात् गोधन ग्रहणार्थ और अणुतत्त्वनिर्णयार्थ इन दोनों के लिये मैं यहाँ आया हूँ । जो अच्छी तरह से सब प्रकार से सुशोभित हो उसे "सम्राट्" कहते हैं । अथवा **राजा तु प्रणताशेषसामन्तः स्यादधीश्वरः ॥ चक्रवर्ती सार्वभौमः नृपोऽन्यो मण्डलेश्वरः ॥** (अमर० कां० २ क० ८ श्लो० २) **येनेष्टं राजसूयेन मण्डलस्येश्वरश्च यः शास्ति यश्चाज्ञयाराज्ञः स सम्राट् ॥३॥** जो बहुत राजाओं का मालिक हो उसका नाम अधीश्वर है । और समुद्रपर्यन्त पृथ्वी का जिसका राज्य हो उसका नाम चक्रवर्ती तथा सार्वभौम है । और चार हजार कोश के भूमण्डल के राजा का नाम मण्डलेश्वर है ।।२।। जिसने राजसूय नाम के यज्ञ से ब्रह्म याजन किया है तथा जो मण्डलेश्वर है और आप जो अपनी आज्ञा से अन्यान्य सब राजाओं को शासन करता है वह सम्राट् कहलाता है ।।३।। इस प्रकार सम्राट् का लक्षण कहा गया है ।।१।।

यत्ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेति । अब्रवीन्मे जित्वा शैलिनिर्वाग्वै ब्रह्मेति । यथा मातृमान् पितृमानाचार्यवान् ब्रूयात्तथा तच्छैलिनिरब्रवीद्वाग्वै ब्रह्मेत्यवदतो हि किं

स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्याऽऽयतनं प्रतिष्ठाम् । न मेऽब्रवीदिति । एकपाद्वा एतत्सम्राडिति । स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य । वागेवाऽऽयतनमाकाशः प्रतिष्ठा प्रज्ञेत्येतदुपासीत। का प्रज्ञता याज्ञवल्क्येति । वागेव सम्राडिति होवाच । वाचा वै सम्राड् बन्धुः प्रज्ञायते। ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानीष्टं हुतमाशितं पायितमयं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि वाचैव सम्राट् प्रज्ञायन्ते वाग्वै सम्राट् परमं ब्रह्म । नैनं वाग्जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिरक्षन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते । हस्त्यृषभं सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः । स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति ॥२॥

अन्वयार्थ– (कश्चित्) किसी आचार्य ने (ते) तुमसे (यत्) जो कुछ (अब्रवीत्) कहा है (तत्) उसको (शृणवाम) हम सुनें क्योंकि तुम बहुत से आचार्यों की सेवा करने वाले हो (इति) याज्ञवल्क्य के इस वचन को सुनकर जनक महाराज ने कहा कि (शैलिनिः) शिलिनाचार्य के पुत्र (जित्वा) जित्वा नामक ऋषि ने (मे) मुझसे (अब्रवीत्) कहा था कि (वाक्) वाणी (एव) ही (ब्रह्म) ब्रह्म है । अर्थात् ब्रह्म के प्रतीक रूप से वाक् उपास्या है (इति) इस वचन को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (यथा) जैसे (मातृमान्) अनुशासन करनेवाली अच्छी मातावाला (पितृमान्) अनुशासन करने वाले अच्छे पिता वाला (आचार्यवान्) अनुशासन करने वाले अच्छे आचार्य वाला पुरुष (ब्रूयात्) अपने शिष्य को उपदेश करे (तथा) वैसे ही (तत्) वह (शैलिनिः) शिलिनी के पुत्र जित्वा ऋषि ने (इति) यह (अब्रवीत्) तुमसे कहा कि (वाक्) वाणी (वै) ही (ब्रह्म) ब्रह्म है (हि) क्योंकि (अवदतः) नहीं बोलने वाले गूँगे पुरुष को (किम्) क्या लौकिक या पारलौकिक लाभ (स्यात्) हो सकता

है (तु) किन्तु (तस्य) उस वाणीरूप ब्रह्म के (आयतनम्) शरीर को और (प्रतिष्ठाम्) तीनों कालों में आश्रय को (ते) आपसे (अब्रवीत्) जित्वा नामक आचार्य ने कहा है (इति) इस वचन को सुनकर जनक महाराज ने कहा कि (मे) मुझसे शरीर को और आश्रय को (न) नहीं (अब्रवीत्) जित्वा ऋषि ने कहा है (इति) इस वचन को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (सम्राट्) हे सम्राट् तब (वै) निश्चय करके (एतत्) यह वाक् रूप ब्रह्म (एकपाद्) एक पैरवाला है। अतः वह तीन पादों से शून्य ब्रह्म उपासना किये जाने पर भी फलप्रद नहीं होता है। (इति) इस वाक्य को सुनकर फिर जनक महाराज ने कहा कि (याज्ञवल्क्य) हे याज्ञवल्क्य (वै) तब निश्चय करके (सः) वह परम माननीय तत्त्ववेत्ता आप ही (नः) हमलोगों को (ब्रूहि) उसका उपदेश देवें इस वचन को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि वागधिष्ठाता देव में अध्यस्यमान ब्रह्म का (वाक्) वाणी (एव) ही (आयतनम्) शरीर है और (आकाशः) अव्याकृत आकाश ही (प्रतिष्ठा) तीनों कालों में इसका आश्रय है (एतत्) इस वाणीरूप ब्रह्म को (प्रज्ञां) प्रज्ञा (इति) ऐसा मानकर (उपासीत) भक्त उपासना करे। इस वचन को सुनकर जनक महाराज ने पूछा कि (याज्ञवल्क्य) हे आचार्य याज्ञवल्क्य (प्रज्ञता) प्रज्ञता (का) क्या है (इति) इस प्रश्न को सुनकर (ह) सुप्रसिद्ध याज्ञवल्क्य ने (इति) ऐसा (उवाच) कहा कि (सम्राट्) हे सम्राट् (वाक्) वाक् (एव) ही प्रज्ञा है (सम्राट्) हे सम्राट् (वै) निश्चय करके (वाचा) वाणी से (बन्धुः) बन्धु (प्रज्ञायते) प्रकर्ष रूप से जाना जाता है (ऋग्वेदः) ऋग्वेद (यजुर्वेदः) यजुर्वेद (सामवेदः) सामवेद (अथर्वाङ्गिरसः) अथर्ववेद (इतिहासः) वाल्मीकिरामायण महाभारत आदि इतिहास (पुराणम्) विष्णुपुराण आदिक पुराण (विद्याः) भूतविद्या गन्धर्व विद्या आदि विद्यायें (उपनिषदः) ईशादिक अध्यात्मविद्यायें (श्लोकाः) श्लोकवद्ध पांचरात्र (सूत्राणि) अतिसंक्षिप्त सारवाले सूत्र (अनुव्याख्यानानि) अनुव्याख्यान यानी वृत्तिग्रन्थ (व्याख्यानानि) व्याख्यान यानी महाभाष्यादि ग्रन्थ और (इष्टम्) यागनिमित्तधर्म (हुतम्) होमनिमित्तधर्म (आशितम्) अन्न दान निमित्तधर्म (पायितम्) पानीयदान निमित्तधर्म (च) और (अयम्) यह (लोकः) भूलोक (च) तथा (परः) पर (लोकः) स्वर्गादि लोक (च) और (सर्वाणि) सम्पूर्ण (भूतानि) प्राणी अथवा पृथ्वी आदि महाभूत ये सब (सम्राट्) हे सम्राट् (वाचा) वाणी से (एव) ही (प्रज्ञायन्ते) अच्छे प्रकार से जाने जाते हैं। अतः (सम्राट्) हे सम्राट् (वाक्) वाणी (वै) ही (परमम्) परम (ब्रह्म) ब्रह्म है। अर्थात् वाग्देवता में परब्रह्म की उपासना करने योग्य है। आगे इस उपासना का फल कहा जाता है कि (यः) जो कोई उपासक (एवम्) इस प्रकार (विद्वान्) जानते हुए (एतत्) इस वाणी रूप ब्रह्म की (उपास्ते) उपासना करता है (एनम्)

इस ब्रह्मवेत्ता उपासक को (वाक्) अधीत ब्रह्मविद्या (न) नहीं (जहाति) त्याग करती है अर्थात् अध्ययन की हुई विद्या का विस्मरण नहीं होता है और (सर्वाणि) समस्त (भूतानि) प्राणी (एनम्) इस उपासक को (अभिरक्षन्ति) बलिदानादि के द्वारा रक्षा करते हैं और वह इस लोक में (देवः) उपास्यमान वागधिष्ठातृ देव (भूत्वा) होकर अर्थात् देवता के सायुज्य को पाकर (देवान्) शरीरपात के बाद देवों को (अप्येति) प्राप्त होता है। अर्थात् आजानसिद्ध देवतान्तर्गत होता है (इति) इस वचन को सुनकर (ह) सुप्रसिद्ध (वैदेहः) विदेह देश के अधिपति (जनकः) जनक महाराज ने (उवाच) कहा कि इस विद्या की दक्षिणा में आपके लिये (हस्त्यृषभम्) हाथी के समान एक सांड के साथ (सहस्रम्) एक हजार गायें (ददामि) देता हूँ (इति) इस वाक्य को सुनकर (ह) सुप्रसिद्ध (सः) उस आचार्य (याज्ञवल्क्यः) याज्ञवल्क्य ने (उवाच) कहा कि (मे) मेरे (पिता) पिताजी (अमन्यत) ऐसा मानते थे कि (अननुशिष्य) शिष्य को सम्यक् अनुशासन किये बिना (न) शिष्य से कुछ भी द्रव्य नहीं (हरेत) लेना चाहिये। मेरा भी यही सिद्धान्त है ॥२॥

विशेषार्थ– आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– हे सम्राट्! तुम से किसी आचार्य ने जो कुछ उपदेश दिया है उसको हम सुनें। क्योंकि तुम बहुत से आचार्यों की सेवा करने वाले हो। अतः सुनने के बाद उपदेष्टव्य अंश का मैं उपदेश करूँगा। याज्ञवल्क्य महर्षि के इस वचन को सुनकर जनक महाराज ने कहा कि– शिलिनाचार्य के पुत्र– जित्वा नामक आचार्य ने मुझसे कहा कि वाणी ही ब्रह्म है। अर्थात् परब्रह्म के प्रतीक रूप से वाणी उपास्या है। जो सभा में विजयी होवे या जिसने सभा जीती है उसे "जित्वा" कहते हैं। यह बात प्रसिद्ध है कि जिसको वाणी विद्या में निपुणता प्राप्त होगी वह अवश्य ही विजयी होगा। जनक महाराज के इस वाक्य को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– जिस प्रकार मातृमान् पितृमान् और आचार्यवान् पुरुष अपने शिष्य को उपदेश करे उसी प्रकार शिलिनाचार्य के पुत्र जित्वा नामक ऋषि ने तुमसे यह उपदेश किया है कि "वाक्" ही ब्रह्म है। जिस पुत्र का सम्यक् प्रकार से अनुशासन करनेवाली पाँचवर्षपर्यन्त अच्छी विदुषी माता विद्यमान हो उसे "मातृमान्" कहते हैं। "प्रशस्ता माता यस्य स मातृमान्" इस विग्रह में– **भूमनिन्दा-प्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने। सम्बन्धेऽस्ति विवक्षायां भवन्ति मतुबादयः ॥** (सिद्धान्तकौमु०) इस कारिका से मतुप् प्रत्यय होता है और जिस पुत्र का सम्यक् प्रकार से अनुशासन करनेवाला उपनयन संस्कारपर्यन्त अच्छा विद्वान् पिता विद्यमान हो उसे "पितृमान्" कहते हैं। और उपनयन संस्कार के पश्चात् आचार्य जिसका अनुशासन करनेवाला विद्यमान हो उसे "आचार्यवान्" कहते हैं। माता पिता और आचार्य के विषय में

लिखा है– **मातृदेवो भव । पितृदेवो भव । आचार्यदेवो भव ।** (तैत्ति० उ० व० १ अनु० ११ श्रु० २) तुम माता में देवबुद्धि करने वाले बनो, तुम पिता में देवबुद्धि करने वाले बनो, तुम आचार्य को देवरूप समझने वाले होवो ।।२।। **आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः । माता पृथिव्या मूर्तिस्तु भ्राता स्वो मूर्तिरात्मनः ॥** (मनु० अ० २ श्लो० २२६) **यं माता पितरो क्लेशं सहेते संभवे नृणाम् । न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि ।।२२७।।** आचार्य परब्रह्म नारायण की मूर्ति हैं और पिता ब्रह्मा की मूर्ति हैं तथा माता पृथ्वी की मूर्ति हैं और सहोदर भ्राता जीवात्मा की मूर्ति है ।।२२६।। अपत्य उत्पन्न होने में जो क्लेश माता और पिता सहते हैं उसकी निष्कृति सौ वर्ष में भी अपत्य करने के लिये समर्थ नहीं है ।।२२७।। **तेषां त्रयाणां शुश्रूषा परमं तप उच्यते । न तैरभ्यनुज्ञातो धर्ममन्यं समाचरेत् ॥** (मनु० अ० २ श्लो० २२९) **त एव हि त्रयोलोकास्त एव त्रय आश्रमाः । त एव हि त्रयो वेदास्त एवोक्तास्त्रयोऽग्नयः ।।२३०।। पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्मातारग्निर्दक्षिणः स्मृतः । गुरुराहवनीयस्तु साग्नित्रेता गरीयसी ।।२३१।। त्रिष्वप्रमाद्यन्नेतेषु त्रींल्लोकान्विजयेद् गृही । दीप्यमानः स्ववपुषा देववद्दिवि मोदते ।।२३२।। इमं लोकं मातृभक्त्या पितृभक्त्या तु मध्यमम् । गुरुशुश्रूषया त्वेवं ब्रह्मलोकं समश्नुते ।।२३३।।** माता, पिता और आचार्य की परिचर्या सबसे श्रेष्ठ तप कहा जाता है, बिना माता, पिता तथा आचार्य की अनुमति से दूसरा कोई धर्म भी न करे ।।२२९।। वे माता, पिता और आचार्य निश्चय करके तीन लोक, तीन आश्रम, तीन वेद और तीन अग्नि कहे गये हैं ।।२३०।। पिता ही गार्हपत्य अग्नि है तथा माता ही दक्षिणाग्नि है और आचार्य ही आहवनीय अग्नि हैं ये तीन माता, पिता, आचार्य सब अग्नियों से श्रेष्ठ हैं ।।२३१।। इन माता, पिता, आचार्य के विषय में प्रमाद नहीं करता हुआ गृहस्थ तीन लोकों को जीत लेता है और अन्त में अपने शरीर से प्रकाशमान सूर्यादिदेव के समान द्युलोक में हर्ष पाता है ।।२३२।। माता की भक्ति से इस भूलोक को तथा पिता की भक्ति से अन्तरिक्षलोक को और आचार्य की भक्ति से ब्रह्मलोक को मनुष्य पा लेता है ।।२३३।। **उपनीय तु यः शिष्यै वेदमध्यापयेद् द्विजः । सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥** (मनु० अ० २ श्लो० १४०) जो ब्राह्मण शिष्य का यज्ञोपवीत करके कल्प और रहस्य सहित वेद को पढ़ाता है उसको आचार्य कहते हैं ।।१४०।। **विश्वात्मन्यात्मनोन्यासं धिया वृत्तिं च शाश्वतीम् । मंत्रेणोच्चारयेद्यस्तु स आचार्यः परो मतः ॥** (भरद्वाजसंहि० अ० १ श्लो० ४५) जो ब्राह्मण विश्वम्भर के विषय में बुद्धि से मंत्रोच्चारण करता हुआ अपने शिष्यों का आत्म-समर्पण कराता है और अपनी वृत्ति का सदा पालन करता है वही श्रेष्ठ आचार्य कहा गया है ।।४५।। **आचार्य आचारं ग्राहयति आचिनोत्यर्थान्**

आचिनोति बुद्धिमिति वा ॥ (निरुक्त० नैघण्टुककां० अ० १० पा० २ खं० २) जो आचार को ग्रहण कराता है और शास्त्र के अर्थों को एकत्रित करता है तथा ज्ञान का सम्पादन करता है वही आचार्य है ।।२।। **यस्तु मंत्रद्वयं सम्यगध्यापयति वैष्णवः । स आचार्यस्तु विज्ञेयो भवबन्धविनाशकः ॥** (पद्मपु० उत्तरखं० ६ अ० २२६ श्लो० ४) संसार के बन्धन को विनाश करने वाला जो श्रीवैष्णव ब्राह्मण द्वयमंत्र को अच्छे प्रकार से पढ़ाता है उसको आचार्य जानना चाहिये ।।४।। स्वयं मुनि याज्ञवल्क्य ने उपपत्ति कही कि– क्योंकि नहीं बोलने वाले मूक पुरुष को ऐहिक अथवा पारलौकिक लाभ क्या हो सकता है। इस कारण से "वाणी ही ब्रह्म है" जित्वा का यह कथन उचित है। परन्तु उस वाणीरूप ब्रह्म के शरीर को और तीनों कालों में आश्रय को आप से जित्वा नामक आचार्य ने कहा है क्या ? इस वचन को सुनकर जनक महाराज ने कहा कि– मुझसे वाक् ब्रह्म के शरीर को और आश्रय को तो जित्वा आचार्य ने नहीं उपदेश दिया है। इस वचन को सुनकर फिर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– यदि ऐसी बात है तो हे सम्राट् जनक ! यह वाक्रूप ब्रह्म एक पैर वाला है। वह तीन चरणों से हीन ब्रह्म उपासना किये जाने पर भी फलप्रद नहीं होता है। इस वाक्य को सुनकर पुनः जनक महाराज ने कहा कि– यदि ऐसी बात है तो हे आचार्य याज्ञवल्क्य ! वह परममाननीय तत्त्ववेता आप ही हमारे प्रति उसका वर्णन कीजिये। इस वचन को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– वागधिष्ठातृ देव में अध्यस्यमान परब्रह्म की वाणी ही शरीर है और अव्याकृत आकाश ही इसका तीनों कालों में आश्रय है। अथवा परमव्योम ही प्रतिष्ठा यानी आश्रय है। हे सम्राट्। इस वाणीरूप ब्रह्म को प्रज्ञा ऐसा मान कर उपासक उपासना करे। प्रज्ञा ही वाक् ब्रह्म का चतुर्थ पाद है। इस उपदेश को सुनकर फिर जनक महाराज ने पूछा कि– हे आचार्य ! प्रज्ञता क्या है ? अर्थात् जिस प्रकार प्रतिष्ठांश वाणी से अभिन्न है उसी प्रकार प्रज्ञा भी है क्या ? इस प्रश्न को सुनकर सुप्रसिद्ध आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– हे सम्राट् ! वाणी ही प्रज्ञा है। अर्थात् वाणी से अभिन्न ही प्रज्ञा है। क्योंकि हे सम्राट् ! वाणी से ही "यह हमारा बन्धु है" ऐसा कहने पर ही निश्चय करके बन्धु जाना जाता है। यहाँ पर "बन्धु" शब्द का अर्थ सगोत्र है। क्योंकि लिखा है– **सगोत्रबान्धवज्ञाति बन्धु-स्व-स्वजनाः समाः ॥** (अमर० कां० २ व० ६ श्लो० ३४) सगोत्र १, बान्धव २, ज्ञाति ३, बन्धु ४, स्व ५ और स्वजन ६ ये समगोत्रियों के नाम हैं ।।३४।। इसी प्रकार ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद ये चारों वेद श्रीरामायण, महाभारतादि इतिहास तथा विष्णुपुराण आदिक अठारह महापुराण, भूतविद्या, गन्धर्वविद्या पशुविद्या इत्यादि विद्याएँ ईशादिक उपनिषदें यानी अध्यात्मविद्याएँ और श्लोकबद्धपञ्चरात्रतंत्र, ब्रह्मसूत्र आदिक अतिसंक्षिप्त

सारवालेसूत्र, अनुव्याख्यान यानी बोधायनवृत्ति प्रभृत्ति ग्रन्थ, और महाभाष्य, व्यासभाष्य, श्रीभाष्य आदि व्याख्यान, ये सब वाणी से ही जाना जाता है। और विविध यागनिमित्त धर्म, होमनिमित्तधर्म, अन्नदाननिमित्तधर्म, जलदाननिमित्तधर्म और यह पृथ्वीलोक तथा परलोक यानी स्वर्गादिलोक और सब प्राणी अथवा पृथ्वी आदि महाभूत ये सब पदार्थ हे सम्राट् ! वाणी से ही अच्छे प्रकार से जाने जाते हैं। अतः हे सम्राट् ! वाक् ही परम ब्रह्म है। अर्थात् वाग्देवता में परब्रह्म की उपासना करने योग्य है। अब आगे इस उपासना का फल बतलाया जाता है कि– जो कोई उपासक इस प्रकार जानते हुए इस वाणीरूप ब्रह्म की उपासना करता है इस ब्रह्मवेत्ता उपासक को अधीत ब्रह्मविद्या नहीं त्याग करती है। अर्थात् अध्ययन की हुई विद्या का विस्मरण नहीं होता है। और समस्त प्राणी इस उपासक को उपहारादि के द्वारा उपहार करते हैं। तथा वह उपासक इस लोक में उपास्यमान वागधिष्ठातृदेव होकर अर्थात् देवता के सायुज्य को पाकर फिर शरीरपात के अनन्तर देवों को प्राप्त होता है। अर्थात् आजानसिद्ध देवतान्तर्गत होता है। इस उपदेश को सुनकर सुप्रसिद्ध विदेह देश के अधिपति जनक महाराज ने कहा कि– इस उपदिष्ट विद्या की दक्षिणा में हाथी के समान एक वृषभ के साथ सहस्र गायें मैं देता हूँ। आप इसे ग्रहण करें। "हस्त्यृषभम्" यहाँ पर "हस्तिसमो ऋषभोयस्मिन्" ऐसा विग्रह होता है। जिसका अर्थ यह है कि– गज के समान ऋषभ है जिसमें। इस श्रुति में "ऋषभ" शब्द वृषभ वाचक है। क्योंकि लिखा है कि– **उक्षा भद्रोबलीवर्द ऋषभो वृषभे वृषः ॥** (अमर० कां० २ व० ९ श्लोक ५९) उक्षन् १, भद्र २, बलीवर्द ३, ऋषभ ४, वृषभ ५, वृष ६ ये बैल के नाम हैं ॥५९॥ महाराज जनक के वचन को सुनकर सुप्रसिद्ध आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– मेरे पिताजी का यह मत था कि शिष्य को अच्छे प्रकार समझाये बिना शिष्य के यहाँ से कुछ भी धन नहीं लेना चाहिये। पिता के मतानुसार ही मेरा भी सिद्धान्त है। इस हेतु से अभी आप से धन लेना नहीं चाहता हूँ ॥२॥

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्म उदङ्कः शौल्बायनः प्राणो वै ब्रह्मेति । यथा मातृमान् पितृमानाचार्यवान् ब्रूयात्तथा शौल्बायनोऽब्रवीत्प्राणो वै ब्रह्मेत्यप्राणतो हि किं स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्याऽऽयतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत् सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य प्राण एवाऽऽयतनमाकाशः प्रतिष्ठा

प्रियमित्येतदुपासीत का प्रियता याज्ञवल्क्य प्राण एव सम्राडिति होवाच । प्राणस्य वै सम्राट् कामायायाज्यं याजयत्यप्रतिगृह्यस्य प्रतिगृह्णात्यपि तत्र वधाशङ्कं भवति यां दिशमेति प्राणस्य वै सम्राट् कामाय प्राणो वै सम्राट् परमब्रह्म नैनं प्राणो जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिरक्षन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृषभं सहस्रं ददामीति होवाच जनको ह वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पितामेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति ॥३॥

अन्वयार्थ– (कश्चित्) किसी आचार्य ने (ते) तुमसे (यत्) जो कुछ (एव) निश्चय करके (अब्रवीत्) कहा है (तत्) उसको (शृणवाम) हम सुनें क्योंकि तुम बहुत से आचार्यों की सेवा करने वाले हो (इति) याज्ञवल्क्य के इस वचन को सुनकर जनक महाराज ने कहा कि (शौल्बायनः) शुल्बाचार्य के पुत्र (उदङ्कः) उदङ्काचार्य ने (मे) मुझसे (अब्रवीत्) कहा था कि (प्राणः) प्राण (वै) ही (ब्रह्म) ब्रह्म है अर्थात् ब्रह्म के प्रतीक रूप से प्राण उपास्य है (इति) इस वचन को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (यथा) जैसे (मातृमान्) अनुशासन करनेवाली अच्छी माता वाला (पितृमान्) अनुशासन करनेवाले पितावाला (आचार्यवान्) और अनुशासन करनेवाले अच्छा आर्चवाला पुरुष ((ब्रूयात्) अपने शिष्य को उपदेश करे (तथा) वैसे ही (शौल्बायनः) शुल्बाचार्य के पुत्र उदङ्काचार्य ने (इति) यह (अब्रवीत्) तुमसे कहा कि (प्राणः) प्राण (वै) ही (ब्रह्म) ब्रह्म है (हि) क्योंकि (अप्राणतः) बिना प्राण के मनुष्य को (किम्) क्या लौकिक या पारलौकिक लाभ (स्यात्) हो सकता है (तु) किन्तु (तस्य) उस प्राणरूप ब्रह्म का (आयतनम्) शरीर को और (प्रतिष्ठम्) तीनों कालों में आश्रय को (ते) आपसे (अब्रवीत्) उदङ्काचार्य ने कहा है (इति) इस वचन को सुनकर जनक महाराज ने कहा कि (मे) मुझसे शरीर को और आश्रय को (न) नहीं (अब्रवीत्) उदङ्काचार्य ने कहा है (इति) इस वचन को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (सम्राट्) हे सम्राट् तब (वै) निश्चय करके (एतत्) यह प्राणरूप ब्रह्म (एकपाद्) एक पैरवाला है । अतः वह तीन पादों से शून्य ब्रह्म उपासना किये जाने पर भी फलप्रद नहीं होता

है (इति) इस वाक्य को सुनकर फिर जनक महाराज ने कहा कि (याज्ञवल्क्य) हे याज्ञवल्क्य (वै) तब निश्चय करके (सः) वह परम माननीय तत्त्ववेत्ता आपही (नः) हमलोगों को (ब्रूहि) उसका उपदेश दें। इस वचन को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि प्राणाधिष्ठाता देव में अध्यस्यमान ब्रह्म के (प्राणः) प्राण (एव) ही (आयतनम्) शरीर है और (आकाशः) अव्याकृत आकाश ही (प्रतिष्ठा) तीनों कालों में इसका आश्रय है (एतत्) इस प्राणरूप ब्रह्म को (प्रियम्) प्रिय (इति) ऐसा मानकर (उपासीत) भक्त उपासना करे इस वचन को सुनकर जनक महाराज ने पूछा कि (याज्ञवल्क्य) हे आचार्य याज्ञवल्क्य (प्रियता) प्रियता (का) क्या है (इति) इस प्रश्न को सुनकर (ह) सुप्रसिद्ध याज्ञवल्क्य ने (इति) ऐसा (उवाच) कहा कि (सम्राट्) हे सम्राट् (प्राणः) प्राण (एव) ही प्रियता है अब आगे इसमें अनेक कारण दिखलाया जाता है (सम्राट्) हे सम्राट् (वै) निश्चय करके (प्राणस्य) प्राण यानी जीवन की (कामाय) कामना के लिये (अयाज्यम्) जिसको यज्ञ नहीं करवाना चाहिये उस पतितादिक पुरुष को भी (याजयति) ब्राह्मण यज्ञ करवाता है और (अप्रतिगृह्यस्य) जिसका दान नहीं लेना चाहिये उस पुरुष के (अपि) भी (प्रतिगृह्णाति) दान लेता है और (याम्) जिस (दिशम्) दिशा में (वधाशङ्कम्) चोर व्याघ्रादि से मरने की आशङ्का (भवति) रहती है (तत्र) उस दिशा में भी (एति) पुरुष जाता है (सम्राट्) हे सम्राट् (प्राणस्य) प्राणकी (वै) ही (कामाय) कामना के लिये यह सब कार्य मनुष्य करता है। अतः (सम्राट्) हे सम्राट् (प्राणः) प्राण (वै) ही (परमम्) परम (ब्रह्म) ब्रह्म है अर्थात् प्राणदेवता में परब्रह्म की उपासना करने योग्य है आगे इस उपासना का फल कहा जाता है कि (यः) जो कोई उपासक (एवम्) इस प्रकार (विद्वान्) जानते हुए (एतत्) इस प्राणरूप ब्रह्म की (उपास्ते) उपासना करता है (एनम्) इस उपासक को (प्राणः) प्राण (न) नहीं (जहाति) छोड़ता है और (सर्वाणि) समस्त (भूतानि) प्राणी (एनम्) इस उपासक को (अभिरक्षन्ति) बलिदानादि के द्वारा रक्षा करते हैं और इस लोक में वह (देवः) उपास्यमान प्राणाधिष्ठातृदेव (भूत्वा) होकर अर्थात् देवता के सायुज्य को पाकर (देवान्) शरीरपात के बाद देवों को (अप्येति) प्राप्त हो जाता है। अर्थात् आजानसिद्धदेवतान्तर्गत होता है (इति) इस वचन को सुनकर (ह) सुप्रसिद्ध (वैदेहः) विदेह देश के अधिपति (जनकः) जनक महाराज ने (उवाच) कहा कि इस विद्या की दक्षिणा में आपके लिये (हस्त्यृषभम्) हाथी के समान एक सांड के साथ (सहस्रम्) एक हजार गायें (ददामि) देता हूँ (इति) इस वाक्य को सुनकर (ह) सुप्रसिद्ध (सः) उस आचार्य (याज्ञवल्क्यः) याज्ञवल्क्य ने (उवाच) कहा कि (मे) मेरे (पिता) पिताजी (अमन्यत) ऐसा मानते थे कि (अननुशिष्य) शिष्य

को सम्यक् अनुशासन किये बिना (न) शिष्य से कुछ भी द्रव्य नहीं (हरेत) लेना चाहिये। मेरा भी यही सिद्धान्त है ।।३।।

विशेषार्थ– आचार्य याज्ञवल्क्य ने द्वितीय बार कहा कि– हे सम्राट्! तुम से किसी आचार्य ने जो कुछ उपदेश दिया है उसको हम सुनें। क्योंकि तुम बहुत से आचार्यों को सेवा करने वाले हो। अतः सुनने के बाद उपदेष्टव्य अंश का मैं उपदेश करूँगा। याज्ञवल्क्य महर्षि के इस वचन को सुनकर जनक महाराज ने कहा कि– शुल्बाचार्य के पुत्र उदङ्काचार्य ने मुझसे कहा कि– जिस प्रकार मातृमान् और आचार्यवान् पुरुष अपने शिष्य को उपदेश करे, उसी प्रकार शुल्बाचार्य के पुत्र उदङ्काचार्य ने तुमसे यह उपदेश किया है कि "प्राण" ही ब्रह्म है। जिस पुत्र का सम्यक् प्रकार से अनुशासन करनेवाली पाँचवर्षपर्यन्त अच्छी विदुषी माता विद्यमान हो उसे "मातृमान्" कहते हैं। और जिस पुत्र का सम्यक् प्रकार से अनुशासन करनेवाला उपनयनसंस्कारपर्यन्त अच्छा विद्वांन् पिता विद्यमान् हो उसे "पितृमान्" कहते हैं। और उपनयन संस्कार के पश्चात् अनुशासन करनेवाला आचार्य जिसका विद्यमान हो उसे "आचार्यवान्" कहते हैं। स्वयं मुनि याज्ञवल्क्य ने उपपत्ति कही कि– क्योंकि बिना प्राण के मनुष्य को ऐहिक अथवा पारलौकिक लाभ क्या हो सकता है ? इस कारणसे "प्राण" ही ब्रह्म है उदङ्काचार्य का यह कथन उचित है। परन्तु उस प्राणरूप ब्रह्म के शरीर को और तीनों कालों में आश्रय को आप से उदङ्काचार्य ने कहा है क्या ? इस वचन को सुनकर जनक महाराज ने कहा कि– मुझ से प्राण ब्रह्म के शरीर को और आश्रय को तो उदङ्काचार्य ने नहीं उपदेश दिया है। इस वचन को सुनकर फिर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– यदि ऐसी बात है, तो हे सम्राट् जनक! यह प्राणरूप ब्रह्म एक पैर वाला है। वह तीन चरणों से हीन ब्रह्म उपासना किये जाने पर भी फलप्रद नहीं होता है। इस वाक्य को सुनकर पुनः जनक महाराज ने कहा कि– यदि ऐसी बात है तो, हे आचार्य याज्ञवल्क्य! वह परम माननीय तत्त्ववेत्ता अप ही हमारे प्रति उसका वर्णन कीजिये। इस वचन को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्यने कहा कि– प्राणाधिष्ठाता देव में अध्यस्यमान परब्रह्म का प्राण ही शरीर है और अव्याकृत आकाश ही उसका तीनों कालों में आश्रय है। अथवा परमव्योम ही प्रतिष्ठा यानी आश्रय है। हे सम्राट्! इस प्राण रूप ब्रह्म को प्रिय ऐसा मानकर उपासक उपासना करे। प्रिय ही प्राण ब्रह्म का चतुर्थ पाद है। इस उपदेश को सुनकर फिर जनक महाराज ने पूछा कि– हे आचार्य याज्ञवल्क्य! प्रियता क्या है ? अर्थात् जिस प्रकार प्रतिष्ठांश प्राण से अभिन्न है उसी प्रकार प्रिय भी क्या है ? इस प्रश्न को सुनकर सुप्रसिद्ध आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– हे सम्राट्! प्राण ही प्रियता है। अर्थात् प्राण से अभिन्न प्रियता है। अब आगे इसमें अनेक

कारण दिखलाया जाता है । हे सम्राट् ! प्राण यानी जीवन की ही कामना के लिये जिसको यज्ञ नहीं करवाना चाहिये उस पतित अयाज्य पुरुष को भी लोग यज्ञ करवाते हैं। और जिससे दान नहीं लेना चाहिये उस अप्रतिगृह्य पुरुष से भी दान लेते हैं। तथा जिस दिशा में चोर व्याघ्रादि से मरने की आशंका रहती है उस दिशा में भी पुरुष जाता है। हे सम्राट् ! प्राण ही परब्रह्म है अर्थात् प्राण देवता में परब्रह्म की उपासना करने योग्य है । अब आगे इस उपासना का फल बतलाया जाता है कि– जो कोई उपासक इस प्रकार जानते हुए इस प्राणरूप ब्रह्म की उपासना करता है इस ब्रह्मवेत्ता उपासक को प्राण नहीं परित्याग करता है। और समस्त प्राणी इस उपासक को उपहारादि के द्वारा उपहार करते हैं। तथा वह उपासक इस लोक में उपास्यमान प्राणाधिष्ठातृदेव होकर अर्थात् देवता के सायुज्य को पाकर फिर शरीरपात के अनन्तर देवों को प्राप्त होता है। अर्थात् आजानसिद्धदेवतान्तर्गत होता है। इस उपदेश को सुनकर सुप्रसिद्ध विदेह देश के अधिपति जनक महाराज ने कहा कि– इस उपदिष्टविद्या की दक्षिण में हाथी के समान एक वृषभ के साथ सहस्र गायें मैं देता हूँ। आप इसे ग्रहण करें। महाराज जनक के इस वचन को सुनकर सुप्रसिद्ध आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– मेरे पिताजी का यह मत था कि शिष्य को अच्छे प्रकार समझाये बिना शिष्य के यहाँ से कुछ भी धन नहीं लेना चाहिये। पिता के मतानुसार ही मेरा भी सिद्धान्त है । इस हेतु से अभी आप से धन लेना नहीं चाहता हूँ ।।३।।

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे बर्कुर्वार्ष्णश्चक्षुर्वै ब्रह्मेति यथा मातृमान् पितृमानाचार्यवान् ब्रूयात्तथा तद्वार्ष्णोऽब्रवीच्चक्षुर्वै ब्रह्मेत्यपश्यतो हि किं स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्याऽऽयतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य चक्षुरेवाऽऽयतनमाकाशः प्रतिष्ठा सत्यमित्येतदुपासीत का सत्यता याज्ञवल्क्य चक्षुरेव सम्राडिति होवाच चक्षुषा वै सम्राट् पश्यन्तमाहुरद्राक्षीरिति स आहाद्राक्षमिति तत्सत्यं भवति चक्षुर्वै सम्राट् परमं ब्रह्म नैनं चक्षुर्जहाति सर्वाण्येनं

भूतान्यभिरक्षन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृषभं सहस्रं ददामीति होवाच जनको ह वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति ॥४॥

अन्वयार्थ– (कश्चित्) किसी आचार्य ने (ते) तुम से (यत्) जो कुछ (एव) निश्चय करके (अब्रवीत्) कहा है (तत्) उसको (शृणवाम) हम सुनें क्योंकि तुम बहुत से आचार्यों की सेवा करने वाले हो (इति) याज्ञवल्क्य के इस वचन को सुनकर जनक महाराज ने कहा कि (वार्ष्णः) वृष्णाचार्य के पुत्र (बर्कुः) बर्कु नामक आचार्य ने (मे) मुझ से (अब्रवीत्) कहा था कि (चक्षुः) नेत्र (वै) ही (ब्रह्म) ब्रह्म है अर्थात् ब्रह्म के प्रतीक रूप से नेत्र उपास्य है (इति) इस वचन को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (यथा) जैसे (मातृमान्) अनुशासन करने वाली अच्छी माता वाला तथा (पितृमान्) अनुशासन करने वाले अच्छा पिता वाला (आचार्यवान्) और अनुशासन करने वाले अच्छे आचार्य वाला पुरुष (ब्रूयात्) अपने शिष्यों को उपदेश करे (तथा) वैसे ही (वार्ष्णः) वृष्णाचार्य के पुत्र बर्कु नामक आचार्य ने (तत्) उसको तुमसे (इति) यह (अब्रवीत्) कहा कि (चक्षुः) नेत्र (वै) ही (ब्रह्म) ब्रह्म है (हि) क्योंकि (अपश्यतः) नहीं देखते हुए मनुष्य को (किम्) क्या लौकिक या पारलौकिक लाभ (स्यात्) हो सकता है (तु) किन्तु (तस्य) उस नेत्र रूप ब्रह्म के (आयतनम्) शरीर को और (प्रतिष्ठाम्) तीनों कालों में आश्रय को (ते) आपसे (अब्रवीत्) बर्कु नामक आचर्य ने कहा है (इति) इस वचन को सुनकर जनक महाराज ने कहा कि (मे) मुझसे शरीर को और आश्रय को (न) नहीं (अब्रवीत्) बर्कु नामक आचार्य ने कहा है (इति) इस वचन को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (सम्राट्) हे सम्राट् तब (वै) निश्चय करके (एतत्) यह नेत्र रूप ब्रह्म (एकपाद्) एक पैर वाला है। अतः तीन पादों से शून्य ब्रह्म उपासना किये जाने पर भी फलप्रद नहीं होता है (इति) इस वाक्य को सुनकर फिर जनक महाराज ने कहा कि (याज्ञवल्क्य) हे याज्ञवल्क्य (वै) निश्चय करके (सः) वह परम माननीय तत्ववेत्ता आपही (नः) हम लोगों को (ब्रूहि) उसका उपदेश दें इस वचन को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि नेत्राधिष्ठात्री देवता में अध्यस्यमान ब्रह्म का (चक्षुः) नेत्र (एव) ही (आयतनम्) शरीर है और (आकाशः) अव्याकृत आकाश ही (प्रतिष्ठा) तीनों कालों में इसका आश्रय है (एतत्) इस नेत्र रूप ब्रह्म को (सत्यम्) सत्य (इति) ऐसा मानकर (उपासीत) भक्त उपासना करे।

इस वचन को सुनकर जनक महाराज ने पूछा कि (याज्ञवल्क्य) हे आचार्य याज्ञवल्क्य (सत्यता) सत्यता (का) क्या है (इति) इस प्रश्न को सुनकर (ह) सुप्रसिद्ध याज्ञवल्क्य ने (इति) ऐसा (उवाच) कहा कि (सम्राट्) हे सम्राट् (चक्षुः) नेत्र (एव) ही सत्यता है (सम्राट्) हे सम्राट् (वै) निश्चय करके (चक्षुषा) नेत्र से (पश्यन्तम्) देखते हुए पुरुष को (आहुः) लोग पूछते हैं कि (इति) इसको (अद्राक्षीः) क्या तूने देखा है (इति) इसके बाद यदि (सः) वह द्रष्टा पुरुष (आह) कहता है कि (अद्राक्षम्) मैंने देखा है (इति) तो (तत्) वह (सत्यम्) सत्य (भवति) होता है। अतः (सम्राट्) हे सम्राट् (चक्षुः) नेत्र (वै) ही (परमम्) परम (ब्रह्म) ब्रह्म है। अर्थात् नेत्र देवता में परब्रह्म की उपासना करने योग्य है । आगे इस उपासना का फल कहा जाता है कि (यः) जो कोई उपासक (एवम्) इस प्रकार (विद्वान्) जानते हुए (एतत्) इस नेत्र रूप ब्रह्म की (उपास्ते) उपासना करता है तो (एनम्) इस उपासक को (चक्षुः) नेत्र (न) नहीं (जहाति) त्यागता है और (सर्वाणि) समस्त (भूतानि) प्राणी (एनम्)इस उपासक को (अभिरक्षन्ति) बलिदानादि के द्वारा रक्षा करते हैं और इस लोक में वह (देवः) उपास्यमान नेत्राधिष्ठातृदेव (भूत्वा) होकर अर्थात् देवता के सायुज्य को पाकर (देवान्) शरीरपात के बाद देवों को (अप्येति) प्राप्त हो जाता हैं। अर्थात् आजानसिद्ध देवतान्तर्गत होता है (इति) इस वचन को सुनकर (ह) सुप्रसिद्ध (वैदेहः) विदेह देशके अधिपति (जनकः) जनक महाराज ने (उवाच) कहा कि इस विद्या की दक्षिणा में आप के लिये (हस्त्यृषभम्) हाथी के समान एक सांड के साथ (सहस्रम्) एक हजार गायें (ददामि) देता हूँ (इति) इस वाक्य को सुनकर (ह) सुप्रसिद्ध (सः) उस आचार्य (याज्ञवल्क्यः) याज्ञवल्क्य ने (उवाच) कहा कि (मे) मेरे (पिता) पिता जी (अमन्यत) ऐसा मानते थे कि (अननुशिष्य) शिष्य को सम्यक् अनुशासन किये बिना (न) शिष्य से कुछ भी द्रव्य नहीं (हरेत) लेना चाहिये । मेरा भी यही सिद्धान्त है ।।४।।

विशेषार्थ– आचार्य याज्ञवल्क्य ने तृतीयबार कहा कि– हे सम्राट् ! तुम से किसी आचार्य ने जो कुछ उपदेश दिया है उसको हम सुनें । क्योंकि तुम बहुत से आचार्यों की सेवा करने वाले हो । अतः सुनने के बाद उपदेष्टव्य अंश का मैं उपदेश करूँगा । याज्ञवल्क्य महर्षि के इस वचन को सुनकर जनक महाराज ने कहा कि– वृष्णाचार्य के पुत्र बर्कु नामक आचार्य ने मुझसे कहा कि– नेत्र ही ब्रह्म है । अर्थात् परब्रह्म के प्रतीक रूपसे नेत्र उपास्य है । यहाँ पर "चक्षुष्" शब्द का अर्थ नेत्र है । क्योंकि लिखा है– **लोचनं नयनं नेत्रमीक्षणं चक्षुरक्षिणी ॥** (अमर० कां० २ व० ६ श्लो० ९३) लोचन १, नयन २, नेत्र ३, ईक्षण ४, चक्षुष् ५, अक्षि ६ ये आँख के नाम हैं ।।९३।। जनक महाराज के इस वाक्य को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने

कहा कि– जिस प्रकार मातृमान्, पितृमान् और आचार्यवान् पुरुष अपने शिष्य को उपदेश करे उसी प्रकार वृष्णाचार्य के पुत्र बर्कु नामक आचार्य ने तुमसे यह उपदेश दिया है कि "चक्षु ही ब्रह्म है"। जिस पुत्र का सम्यक् प्रकार से अनुशासन करनेवाली पाँच वर्ष पर्यन्त अच्छी विदुषी माता विद्यमान हो उसे "मातृमान्" कहते हैं। और जिस पुत्र का सम्यक् प्रकार से अनुशासन करनेवाला उपनयन संस्कार पर्यन्त अच्छा विद्वान् पिता विद्यमान हो उसे "पितृमान्" कहते है। और उपनयन संस्कार के पश्चात् जिसका सम्यक् प्रकार से अनुशासन करनेवाला अच्छा विद्वान् आचार्य विद्यमान हो उसे "आचार्यवान्" कहते हैं। स्वयं मुनि याज्ञवल्क्य ने उपपत्ति कही कि– क्योंकि नहीं देखते हुए मनुष्य का ऐहिक अथवा पारलौकिक लाभ क्या हो सकता है ? इस कारण से "नेत्र ही ब्रह्म है" बर्कु नामक आचार्य का यह कथन उचित है। परन्तु उस नेत्ररूप ब्रह्म के शरीर को और तीनों कालों में आश्रय को आपसे बर्कु ऋषि ने कहा है क्या ? इस वचन को सुनकर जनक महाराज ने कहा कि– मुझसे, नेत्रब्रह्म के शरीर को और आश्रय को तो बर्कु नामक आचार्य ने नहीं उपदेश दिया है। इस वचन को सुनकर फिर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– यदि ऐसी बात है तो, हे सम्राट्! यह नेत्ररूप ब्रह्म एक पैरवाला है। वह तीन चरणों से हीन ब्रह्म उपासना किये जाने पर भी फलप्रद नहीं होता है। इस वाक्य को सुनकर पुनः जनक महाराज ने कहा कि– यदि ऐसी बात है तो हे आचार्य याज्ञवल्क्य ! वह परम माननीय तत्त्ववेत्ता आपही हमारे प्रति उसका उपदेश कीजिये। इस वचन को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– नेत्राधिष्ठाता देव में अध्यस्यमान परब्रह्म का नेत्र ही शरीर है और अव्याकृत आकाश ही इसका तीनों कालों में आश्रय है। अथवा परम व्योम ही प्रतिष्ठा यानी आश्रय है। हे सम्राट् ! इस नेत्ररूप ब्रह्म का सत्य ऐसा मानकर उपासक उपासना करे। सत्य ही नेत्रब्रह्म का चतुर्थ पाद है। इस उपदेश को सुनकर फिर जनक महाराज ने पूछा कि– हे आचार्य याज्ञवल्क्य ! सत्यता क्या है ? अर्थात् जिस प्रकार प्रतिष्ठांश नेत्र से अभिन्न है उसी प्रकार सत्य भी है क्या ? इस प्रश्न को सुनकर सुप्रसिद्ध आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– हे सम्राट् ! नेत्र ही सत्यता है। अर्थात् नेत्र से अभिन्न सत्यता है। हे सम्राट् ! निश्चय करके नेत्र से देखनेवाले पुरुष से लोग पूछते हैं कि इसको क्या तूने अपने नेत्र से देखा है ? इसके बाद यदि वह कहता है कि मैंने इसको अपनी आँखों से देखा है तब उसका वह कथन सत्य होता है। अतः हे सम्राट् ! नेत्र ही परम ब्रह्म है। अर्थात् नेत्र देवता में परब्रह्म की उपासना करने योग्य है। अब आगे इस उपासना का फल बतलाया जात है कि– जो कोई उपासक इस प्रकार जानते हुए इस नेत्र रूप ब्रह्म की उपासना करता है, इस ब्रह्मवेत्ता उपासक को नेत्र नहीं परित्याग

करता है और समस्त प्राणी इस उपासक को उपहारादि के द्वारा उपहार करते हैं। तथा वह उपासक इस लोक में उपास्यमान नेत्राधिष्ठतृदेव होकर अर्थात् देवता के सायुज्य को पाकर फिर शरीर पात के अनन्तर देवों को प्राप्त होता है अर्थात् आजानसिद्धदेवतान्तर्गत होता है। इस उपदेश को सुनकर सुप्रसिद्ध विदेह देश के अधिपति जनक महाराज ने कहा कि– इस उपदिष्ट विद्या की दक्षिणा में हाथी के समान एक वृषभ के साथ सहस्र गायें मैं देता हूँ। आप इसे ग्रहण करें। महाराज जनक के इस वचन को सुनकर सुप्रसिद्ध आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– मेरे पिताजी का यह मत था कि शिष्य को अच्छे प्रकार समझाये बिना शिष्य के यहाँ से कुछ भी धन नहीं लेना चाहिये। पिता के मतानुसार ही मेरा भी सिद्धान्त है। इस हेतु से अभी आपसे धन लेना नहीं चाहता हूँ ॥४॥

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे गर्दभीविपीतो भारद्वाजः श्रोत्रं वै ब्रह्मेति यथा मातृमान् पितृमानाचार्यवान् ब्रूयात्तथा तद्भारद्वाजोऽब्रवीच्छ्रोत्रं वै ब्रह्मेत्यशृण्वतो हि किं स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्याऽऽयतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य श्रोत्रमेवाऽऽयतनमाकाशः प्रतिष्ठाऽनन्त इत्येतदुपासीत काऽनन्तता याज्ञवल्क्य दिश एव सम्राडिति होवाच तस्माद्वै सम्राडपि यां कां च दिशं गच्छति नैवास्या अन्तं गच्छत्यनन्ता हि दिशो दिशो वै सम्राट् श्रोत्रं श्रोत्रं वै सम्राट् परमंब्रह्म नैनं श्रोत्रं जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिरक्षन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृषभं सहस्रं ददामीति होवाच जनको ह वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति ॥५॥

अन्वयार्थ– (कश्चित्) किसी आचार्य ने (ते) तुमसे (यत्) जो कुछ (एव) निश्चय करके (अब्रवीत्) कहा है (तत्) उसको (शृणवाम) हम सुनें क्योंकि तुम ब्रहुत से आचार्यों की सेवा करनेवाले हो (इति) याज्ञवल्क्य के इस वचन को सुनकर जनक महाराज ने कहा कि (भारद्वाजः) भारद्वाज गोत्रोत्पन्न (गर्दभीविपीतः) गर्दभीविपीताचार्य ने (मे) मुझसे (अब्रवीत्) कहा था कि (श्रोत्रम्) कर्ण (वै) ही (ब्रह्म) ब्रह्म है। अर्थात् ब्रह्म के प्रतीकरूप से कर्ण उपास्य है (इति) इस वचन को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (यथा) जैसे (मातृमान्) अनुशासन करनेवाली अच्छी माता वाला तथा (पितृमान्) अनुशासन करनेवाले अच्छे पिता वाला और (आचार्यवान्) अनुशासन करनेवाले अच्छा आचार्य वाला पुरुष (ब्रूयात्) अपने शिष्य को उपदेश करे (तथा) वैसे ही (भारद्वाजः) भारद्वाज गोत्रोत्पन्न गर्दभीविपीताचार्य ने (तत्) उसको तुमसे (इति) यह (अब्रवीत्) कहा कि (श्रोत्रम्) कर्ण (वै) ही (ब्रह्म) ब्रह्म है (हि) क्योंकि (अशृण्वतः) नहीं सुनते हुए वधिर मनुष्य को (किम्) क्या लौकिक या परलौकिक लाभ (स्यात्) हो सकता है (तु) किन्तु (तस्य) उस कर्णरूप ब्रह्म का (आयतनम्) शरीर को और (प्रतिष्ठाम्) तीनों कालों में आश्रय को (ते) आपसे (अब्रवीत्) गर्दभीविपीताचार्य ने कहा है (इति) इस वचन को सुनकर जनक महाराज ने कहा कि (मे) मुझसे शरीर को और आश्रय को (न) नहीं (अब्रवीत्) गर्दभीविपीताचार्य ने कहा है (इति) इस वचन को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (सम्राट्) हे सम्राट् तब (वै) निश्चय करके (एतत्) यह कर्णरूप ब्रह्म (एकपाद्) एक पैरवाला है। अतः वह तीन पादों से शून्य ब्रह्म उपासना किये जाने पर भी फलप्रद नहीं होता है (इति) इस वाक्य को सुनकर फिर जनक महाराज ने कहा कि (याज्ञवल्क्य) हे याज्ञवल्क्य (वै) तब निश्चय करके (सः) वह परम माननीय तत्त्ववेत्ता आपही (नः) हमलोगों को (ब्रूहि) उसका उपदेश देवें इस वचन को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि कर्णाधिष्ठाता देव में अध्यस्यमान ब्रह्म का (श्रोत्रम्) कर्ण (एव) ही (आयतनम्) शरीर है और (आकाशः) अव्याकृत आकाश ही (प्रतिष्ठा) तीनों कालों में इसका अश्रय है (एतत्) इस कर्णरूप ब्रह्म को (अनन्तः) अनन्त (इति) ऐसा मानकर (उपासीत) भक्त उपासना करे इस वचन को सुनकर जनक महाराज ने पूछा कि (याज्ञवल्क्य) हे आचार्य याज्ञवल्क्य ! (अनन्तता) अनन्तता (का) क्या है (इति) इस प्रश्न को सुनकर (ह) सुप्रसिद्ध याज्ञवल्क्य ने (इति) ऐसा (उवाच) कहा कि (सम्राट्) हे सम्राट् (दिशः) दिशायें (एव) ही अनन्तता हैं (तस्मात्) इसी से (वै) निश्चय करके (सम्राट्) हे सम्राट् (अपि) कोई भी पुरुष (याम्) जिस (काम्) किसी (च) भी (दिशम्) दिशा को (गच्छति) जाता है वह (अस्याः) इस दिशा को (अन्तम्)

पार को (न) नहीं (एव) ही (गच्छति) जाता है। अर्थात् दिशा का अन्त नहीं पाता है। (हि) क्योंकि (दिशः) दिशाएँ (अनन्ताः) अनन्त हैं (सम्राट्) हे सम्राट् ! (दिशः) दिशाएँ (वै) ही (श्रोत्रम्) कर्ण हैं (सम्राट्) हे सम्राट् (श्रोत्रम्) श्रोत्र (वै) ही (परमम्) परम (ब्रह्म) ब्रह्म है। अर्थात् श्रोत्र देवता में परब्रह्म की उपासना करने योग्य है। आगे इस उपासना का फल कहा जाता है कि (यः) जो कोई उपासक (एवम्) इस प्रकार (विद्वान्) जानते हुए (एतत्) इस श्रोत्ररूप ब्रह्म की (उपास्ते) उपासना करता है तो (एनम्) इस उपासक को (श्रोत्रम्) श्रोत्र (न) नहीं (जहाति) त्यागता है और (सर्वाणि) समस्त (भूतानि) प्राणी (एनम्) इस उपासक को (अभिरक्षन्ति) बलिदानादि के द्वारा रक्षा करते हैं और इस लोक में वह (देवः) उपास्यमान श्रोत्राधिष्ठातृदेव (भूत्वा) होकर अर्थात् देवता के सायुज्य को पाकर (देवान्)शरीरपात के बाद देवों को (अप्येति) प्राप्त हो जाता है। अर्थात् आजानसिद्ध देवतान्तर्गत होता है (इति) इस वचन को सुनकर (ह) सुप्रसिद्ध (वैदेहः) विदेह देश के अधिपति (जनकः) जनक महाराज ने (उवाच) कहा कि इस विद्या की दक्षिणा में आपके लिये (हस्त्यृषभम्) हाथी के समान एक सांड के साथ (सहस्रम्) एक हजार गायें (ददामि) देता हूँ (इति) इस वाक्य को सुनकर (ह) सुप्रसिद्ध (सः) उस आचार्य (याज्ञवल्क्यः) याज्ञवल्क्य ने (उवाच) कहा कि (मे) मेरे (पिता) पिताजी (अमन्यत) ऐसा मानते थे कि (अननुशिष्य) शिष्य को सम्यक् अनुशासन किये बिना (न) शिष्य से कुछ भी द्रव्य नहीं (हरेत) लेना चाहिये । मेरा भी यही सिद्धान्त है ।।५।।

विशेषार्थ– आचार्य याज्ञवल्क्य ने चतुर्थ वार कहा कि– हे सम्राट् तुमसे किसी आचार्य ने जो कुछ उपदेश दिया है उसको हम सुनें । क्योंकि तुम बहुत से आचार्यों की सेवा करने वाले हो । अतः सुनने के बाद उपदेष्टव्य अंश का मैं उपदेश करूँगा। याज्ञवल्क्य महर्षि के इस वचन को सुनकर जनक महाराज ने कहा कि– भारद्वाज गोत्रोत्पन्न गर्दभीविपीताचार्य ने मुझसे कहा कि– श्रोत्र ही ब्रह्म है । अर्थात् परब्रह्म के प्रतीक रूप से श्रोत्र उपास्य है। यहाँ पर "श्रोत्र" शब्द का अर्थ कान है । क्योंकि लिखा है– **कर्णशब्दग्रहौ श्रोत्रं श्रुतिः स्त्री श्रवणं श्रवः ॥** (अमर० कां० २ व० ६ श्लो० ९४) कर्ण १, शब्दग्रह २, श्रोत्र ३, श्रुति ४, श्रवण ५, श्रवस् ६ ये कान के नाम हैं ।।९४।। जनक महाराज के इस वाक्य को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– जिस प्रकार मातृमान् पितृमान् और आचार्यवान् पुरुष अपने शिष्य को उपदेश करे उसी प्रकार भारद्वाजगोत्रोत्पन्न गर्दभीविपीताचार्य ने तुमसे यह उपदेश दिया है कि "श्रोत्र ही ब्रह्म है" । जिस पुत्र का सम्यक् प्रकार से अनुशासन करने वाली पांचवर्षपर्यन्त अच्छी विदुषी माता विद्यमान हो उसे "मातृमान्" कहते हैं और जिस पुत्र का सम्यक्

प्रकार से अनुशासन करने वाला उपनयनसंस्कार पर्यन्त अच्छा विद्वान् पिता विद्यमान हो उसे "पितृमान्" कहते हैं। और उपनयनसंस्कार के पश्चात् जिसका सम्यक् प्रकार से अनुशासन करने वाला अच्छा विद्वान् आचार्य विद्यमान हो उसे "आचार्यवान्" कहते हैं। स्वयम् मुनि याज्ञवल्क्य ने उपपत्ति कही कि– क्योंकि नहीं सुनते हुए वधिर मनुष्य को ऐहिक अथवा पारलौकिक लाभ क्या हो सकता है ? इस कारण से "श्रोत्र ही ब्रह्म है" गर्दभीविपीताचार्य का यह कथन उचित है। परन्तु उस श्रोत्र रूप ब्रह्म के शरीर को और तीनों कालों में आश्रय को आप से गर्दभीविपीताचार्य ने कहा है क्या ? इस वचन को सुनकर जनक महाराज ने कहा कि– मुझे श्रोत्र ब्रह्म के शरीर को और आश्रय को तो गर्दभीविपीताचार्य ने नहीं उपदेश दिया है। इस वचन को सुनकर फिर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– यदि ऐसी बात है तो, हे सम्राट् ! यह श्रोत्ररूप ब्रह्म एक पैर वाला है। वह तीन चरणों से हीन ब्रह्म उपासना किये जाने पर भी फल-प्रद नहीं होता है। इस वाक्य को सुनकर पुनः जनक महाराज ने कहा कि यदि ऐसी बात है, तो हे आचार्य याज्ञवल्क्य वह परममाननीय तत्त्ववेत्ता आप ही हमारे प्रति उसका उपदेश कीजिये। इस वचन को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– श्रोत्राधिष्ठाता देव में अध्यस्यमान पर ब्रह्म का श्रोत्र ही शरीर है और अव्याकृत आकाश ही इसका तीनों कालों में आश्रय है। अथवा परमव्योम ही प्रतिष्ठा यानी आश्रय है। हे सम्राट् ! इस श्रोत्र रूप को अनन्त ऐसा मानकर उपासक उपासना करे। अनन्त ही श्रोत्रब्रह्म का चतुर्थपाद है। इस उपदेश को सुनकर फिर जनक महाराज ने पूछा कि– हे आचार्य याज्ञवल्क्य ! अनन्तता क्या है ? अर्थात् जिस प्रकार प्रतिष्ठांश श्रोत्र से अभिन्न है उसी प्रकार अनन्त भी है क्या ? इस प्रश्न को सुनकर सुप्रसिद्ध आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– हे सम्राट् ! दिशाएँ ही अनन्तता हैं। इसी से हे सम्राट् ! निश्चय करके जब कोई पुरुष पूर्व दक्षिण पश्चिम उत्तर ध्रुव ऊर्ध्व इन सबों में से कसी दिशा को जाता है तब वह इस दिशा के पारको कदापि भी नहीं जाता है। अर्थात् दिशा का अन्त नहीं पाता है। क्योंकि दिशाएँ अनन्त हैं। जिसका अन्त न हो उसे अनन्त कहते हैं। और हे सम्राट् ! दिशाएँ ही श्रोत्र हैं। क्योंकि लिखा है– दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्॥ (ऐतरेयो० अ० १ खं० २ श्रु० ४) दिशाएँ श्रोत्रेन्द्रिय होकर दोनों कान के छिद्रों में प्रवेश कीं ॥४॥ और हे सम्राट् ! श्रोत्र ही परम ब्रह्म है। अर्थात् श्रोत्र देवता में पर ब्रह्म की उपासना करने योग्य है। अब आगे इस उपासना का फल बतलाया जाता है कि– जो कोई उपासक इस प्रकार जानते हुए इस श्रोत्र रूप ब्रह्म की उपासना करता है उस ब्रह्मवेत्ता उपासक को श्रोत्र नहीं परित्याग करता है। और समस्त प्राणी इस उपासक को उपहारादि के द्वारा उपहार करते हैं। तथा

वह उपासक इस लोक में उपास्यमान श्रोत्राधिष्ठातृदेव होकर अर्थात् देवता के सायुज्य को पाकर फिर शरीरपात के अनन्तर देवों को प्राप्त होता है । अर्थात् आजानसिद्धदेवतान्तर्गत होता है । इस उपदेश को सुनकर विदेह देश अधिपति जनक महाराज ने कहा कि— इस उपदिष्ट विद्या की दक्षिणा में हाथी के समान एक वृषभ के साथ सहस्र गायें मैं देता हूँ । आप इसे ग्रहण करें । महाराज जनक के इस वचन को सुनकर सुप्रसिद्ध आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि— मेरे पिताजी का यह मत था कि शिष्य को अच्छे प्रकार समझाये बिना शिष्य के यहाँ से कुछ भी धन नहीं लेना चाहिये । पिता के मतानुसार ही मेरा भी सिद्धान्त है । इस हेतु से अभी आपसे धन नहीं लेना चाहता हूँ ॥५॥

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे सत्यकामो जाबालो मनो वै ब्रह्मेति यथा मातृमान् पितृमानाचार्यवान् ब्रूयात्तथा जाबालोऽब्रवीन्मनो वै ब्रह्मेत्यमनसो हि किं स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्याऽऽयतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति होवाच स नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य मन एवाऽऽयतनमाकाशः प्रतिष्ठानन्द इत्येतदुपासीत काऽऽनन्दता याज्ञवल्क्य मन एव सम्राडिति होवाच मनसा वै सम्राट् स्त्रियमभिहार्यते तस्यां प्रतिरूपः पुत्रो जायते स आनन्दो मनो वै सम्राट् परमं ब्रह्म नैनं मनो जहाति सर्वाणि भूतान्यभिरक्षन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृषभं सहस्रं ददामीति होवाच जनको ह वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति ॥६॥

अन्वयार्थ— (कश्चित्) किसी आचार्य ने (ते) तुमसे (यत्) जो कुछ (एव) निश्चय करके (अब्रवीत्) कहा है (तत्) उसको (शृणवाम) हम सुनें क्योंकि तुम

बहुत से आचार्यों की सेवा करने वाले हो (इति) याज्ञवल्क्य के इस वचन को सुनकर जनक महाराज ने कहा कि (जाबाल:) जबालादेवी के पुत्र (सत्यकाम:) सत्यकामाचार्य ने (मे) मुझसे (अब्रवीत्) कहा था कि (मन:) मन (वै) ही (ब्रह्म) ब्रह्म है अर्थात् ब्रह्म के प्रतीकरूप से मन उपास्य है (इति) इस वचन को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (यथा) जैसे (मातृमान्) अनुशासन करनेवाली अच्छी माता वाला तथा (पितृमान्) अनुशासन करनेवाले अच्छा पिता वाला और (आचार्यवान्) अनुशासन करनेवाले अच्छा आचार्य वाला पुरुष (ब्रूयात्) अपने शिष्य को उपदेश करे (तथा) वैसे ही (जाबाल:) जबालादेवी के पुत्र सत्यकामाचार्य ने (तत्) उसको तुमसे (इति) यह (अब्रवीत्) कहा कि (मन:) सङ्कल्प विकल्पात्मक मन (वै) ही (ब्रह्म) ब्रह्म है (हि) क्योंकि (अमनस:) बिना मन के पुरुष को (किम्) क्या लौकिक या पारलौकिक लाभ (स्यात्) हो सकता है (तु) किन्तु (तस्य) उस मनोरूप ब्रह्म का (आयतनम्) शरीर को और (प्रतिष्ठाम्) तीनों कालों में आश्रय को (ते) आपसे (अब्रवीत्) सत्यकामाचार्य ने कहा है (इति) इस वचन को सुनकर जनक महाराज ने कहा कि (मे) मुझसे शरीर को और आश्रय को (न) नहीं (अब्रवीत्) सत्कामाचार्य ने कहा है (इति) इस वचन को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (सम्राट्) हे सम्राट् तब (वै) निश्चय करके (एतत्) यह मनोरूप ब्रह्म (एकपाद्) एक पैर वाला है। अत: वह तीन पादों से शून्य ब्रह्म उपासना किये जाने पर भी फलप्रद नहीं होता है (इति) इस वाक्य को सुनकर फिर जनक महाराज ने कहा कि (याज्ञवल्क्य) हे याज्ञवल्क्य (वै) तब निश्चय करके (स:) वह परम माननीय तत्त्वेत्ता आपही (न:) हमलोगों को (ब्रूहि) उसका उपदेश देवें, इस वचन को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि मनोधिष्ठात्री देवता में अध्यस्यमान ब्रह्म का (मन:) मन (एव) ही (आयतनम्) शरीर है और (आकाश:) अव्याकृत आकाश ही (प्रतिष्ठा) तीनों कालों में इसका आश्रय है (एतत्) इस मनोरूप ब्रह्म को (आनन्द:) आनन्द (इति) ऐसा मानकर (उपासीत) भक्त उपासना करे। इस वचन को सुनकर जनक महाराज ने पूछा कि (याज्ञवल्क्य) हे याज्ञवल्क्य (आनन्दता) आनन्दता (का) क्या है (इति) इस प्रश्न को सुनकर (ह) सुप्रसिद्ध याज्ञवल्क्य ने (इति) ऐसा (उवाच) कहा कि (सम्राट्) हे सम्राट् (मन:) मन (एव) ही आनन्दता है (सम्राट्) हे सम्राट् (मनसा) मन से (वै) ही (स्त्रियम्) स्त्रीसम्भोग की इच्छा करते हुए (अभिहार्यते) उसका अभिहरण यानी प्रार्थना करता है तब (तस्याम्) उस स्त्री में (प्रतिरूप:) अपने रूप के समान (पुत्र:) पुत्र (जायते) उत्पन्न होता है (स:) वह पुत्र (आनन्द:) मन को आनन्दप्रद होने से आनन्द है। अत: (सम्राट्) हे सम्राट् (मन:) मन (वै) ही (परमम्) परम (ब्रह्म) ब्रह्म है अर्थात् मनोदेवता में परब्रह्म की उपासना करने योग्य है। आगे इस उपासना का फल कहा जाता है कि (य:) जो कोई उपासक

(एवम्) इस प्रकार (विद्वान्) जानते हुए (एतत्) इस मनोरूप ब्रह्म की (उपास्ते) उपासना करता है तो (एनम्) इस उपासक को (मनः) सङ्कल्प विकल्पात्मक मन (न) नहीं (जहाति) त्यागता है और (सर्वाणि) समस्त (भूतानि) प्राणी (एनम्) इस उपासक को (अभिरक्षन्ति) बलिदानादि के द्वारा रक्षा करते हैं और इस लोक में वह (देवः) उपास्यमान मनोधिष्ठातृदेव (भूत्वा) होकर अर्थात् देवता के सायुज्य को पाकर (देवान्) शरीरपात के बाद देवों को (अप्येति) प्राप्त हो जाता है अर्थात् आजानसिद्धदेवतान्तर्गत होता है (इति) इस वचन को सुनकर (ह) सुप्रसिद्ध (वैदेहः) विदेह देश के अधिपति (जनकः) जनक महाराज ने (उवाच) कहा कि इस विद्या की दक्षिणा में आपके लिये (हस्त्यृषभम्) हाथी के समान एक सांड के साथ (सहस्रम्) एक हजार गायें (ददामि) देता हूँ (इति) इस वाक्य को सुनकर (ह) सुप्रसिद्ध (याज्ञवल्क्यः) याज्ञवल्क्य ने (उवाच) कहा कि (मे) मेरे (पिता) पिताजी (अमन्यत) ऐसा मानते थे कि (अननुशिष्य) शिष्य को सम्यक् अनुशासन किये बिना (न) शिष्य से कुछ भी द्रव्य नहीं (हरेत) लेना चाहिये । मेरा भी यही सिद्धान्त है ॥६॥

विशेषार्थ– आचार्य याज्ञवल्क्य ने पञ्चमबार कहा कि– हे सम्राट् तुम से किसी आचार्य ने जो कुछ उपदेश दिया है उसको हम सुनें । क्योंकि तुम बहुत से आचार्यों की सेवा करने वाले हो । अतः सुनने के बाद उपदेष्टव्य अंश का मैं उपदेश करूँगा । याज्ञवल्क्य महर्षि के इस वचन को सुनकर जनक महाराज ने कहा कि– जबाला स्त्री के पुत्र सत्यकामाचार्य ने मुझसे कहा कि– मन ही ब्रह्म है । अर्थात् परब्रह्म के प्रतीक रूप से मन उपास्य है । जनक महाराज के इस वाक्य को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– जिस प्रकार मातृमान् पितृमान् और आचार्यवान् पुरुष अपने शिष्य को उपदेश करे उसी प्रकार जबाला देवी के पुत्र सत्यकामाचार्य ने तुम से यह उपदेश दिया है कि "मन ही ब्रह्म है" । जिस पुत्र का सम्यक् प्रकार से अनुशासन करने वाली पाँचवर्ष पर्यन्त अच्छी विदुषी माता विद्यमान हो उसे "मातृमान्" कहते हैं । और जिस पुत्र का सम्यक् प्रकार से अनुशासन करने वाला उपनयन संस्कार पर्यन्त अच्छा विद्वान् पिता विद्यमान हो उसे "पितृमान" कहते हैं । और उपनयन संस्कार के पश्चात् जिसका सम्यक् प्रकार से अनुशासन करने वाला अच्छा विद्वान् आचार्य विद्यमान हो उसे "आचार्यवान्" कहते हैं । स्वयं मुनि याज्ञवल्क्य ने उपपत्ति कही कि– क्योंकि मनोहीन पुरुष को ऐहिक अथवा पारलौकिक लाभ क्या हो सकता है ? इस कारण से "मन ही ब्रह्म है" सत्यकामाचार्य का यह कथन उचित है । परन्तु उस मनोरूप ब्रह्म के शरीर को और तीनों कालों में आश्रय को आप से सत्यकामाचार्य ने कहा है क्या ? इस वचन को सुनकर जनक महाराज ने कहा कि– मुझको मनोरूप

ब्रह्म के शरीर को और आश्रयको तो सत्यकामाचार्य ने नहीं उपदेश दिया है। इस वचन को सुनकर फिर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– यदि ऐसी बात है तो हे सम्राट् ! यह मनोरूप ब्रह्म एक पैर वाला है । वह तीन चरणों से हीन ब्रह्म उपासना किये जाने पर भी फलप्रद नहीं होता है । इस वाक्य को सुनकर पुनः जनक महाराज ने कहा कि– यदि ऐसी बात है तो हे आचार्य याज्ञवल्क्य ! वह परममाननीय तत्त्ववेत्ता आप ही हमारे प्रति उसका उपदेश कीजिये । इस वचन को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– मनोधिष्ठातृ देव में अध्यस्यमान पर ब्रह्म का मन ही शरीर है और अव्याकृत आकाश ही इसका तीनों कालों में आश्रय है । अथवा परम्व्योम ही प्रतिष्ठा यानी आश्रय है । हे सम्राट् ! इस मनोरूप ब्रह्म को आनन्द ऐसा मानकर उपासक उपासना करे । आनन्द ही मनोरूप ब्रह्म का चतुर्थपाद है । इस उपदेश को सुनकर फिर जनक महाराज ने पूछा कि– हे आचार्य याज्ञवल्क्य ! आनन्दता क्या है ? अर्थात् जिस प्रकार प्रतिष्ठांश मनसे अभिन्न है उसी प्रकार आनन्द भी है क्या ? इस प्रश्न को सुनकर सुप्रसिद्ध आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– हे सम्राट् ! मन ही आनन्दता है । क्योंकि हे सम्राट् मन से ही स्त्री संभोग की इच्छा करते हुए मनुष्य उसका अभिहरण यानी प्रार्थना करता है तब उस स्त्री में अपने रूप के समान पुत्र उत्पन्न होता है । वह पुत्र मन को आनन्द प्रद होने से आनन्द है । इसलिये हे सम्राट् ! मन ही परम ब्रह्म है । अर्थात् मनोदेवता में परब्रह्म की उपासना करने योग्य है । अब आगे इस उपासना का फल बतलाया जाता है कि– जो कोई उपासक इस प्रकार जानते हुए इस मनोरूप ब्रह्म की उपासना करता है उस ब्रह्मवेत्ता उपासक को मन नहीं परित्याग करता है और समस्त प्राणी इस उपासक को उपहारादि के द्वारा उपहार करते हैं । तथा वह उपासक इस लोक में उपास्यमान मनोधिष्ठातृ देव होकर अर्थात् देवता सायुज्य को पाकर फिर शरीरपात के अनन्तर देवों को प्राप्त होता है । अर्थात् आजानसिद्ध देवतान्तर्गत होता है । इस उपदेश को सुनकर सुप्रसिद्ध विदेह देश के अधिपति जनक महाराज ने कहा कि– इस उपदिष्ट विद्या की दक्षिणा में हाथी के समान एक वृषभ के साथ सहस्त्र गायें मैं देता हूँ । आप इसे ग्रहण करें । महाराज जनक के इस वचन को सुनकर सुप्रसिद्ध आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– मेरे पिताजी का यह मत था कि शिष्य को अच्छे प्रकार समझाये बिना शिष्य के यहाँ से कुछ भी नहीं लेना चाहिये । पिता जी के मतानुसार ही मेरा भी सिद्धान्त है । इस हेतु से अभी आप से धन लेना नहीं चाहता हूँ ॥६॥

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे विदग्धः

शाकल्यो हृदयं वै ब्रह्मेति यथा मातृमान् पितृमानाचार्यवान् ब्रूयात्तथा तच्छाकल्योऽब्रवीद्धृदयं वै ब्रह्मेत्यहृदयस्य हि किं स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्याऽऽयतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य हृदयमेवाऽऽयतनमाकाशः प्रतिष्ठा स्थितिरित्येतदुपासीत का स्थितता याज्ञवल्क्य हृदयमेव सम्राडिति होवाच हृदयं वै सम्राट् सर्वेषां भूतानामायतनं हृदयं वै सर्वेषां भूतानां प्रतिष्ठा हृदये ह्येव सम्राट् सर्वाणि भूतानि प्रतिष्ठितानि भवन्ति हृदयं वै सम्राट् परमं ब्रह्म नैनं हृदयं जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिरक्षन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते, हस्त्यृषभं सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति ॥७॥

॥ इति चतुर्थाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

अन्वयार्थ– (कश्चित्) किसी आचार्य ने (ते) तुम से (यत्) जो कुछ (एव) निश्चय करके (अब्रवीत्) कहा है (तत्) उसको (शृणवाम) हम सुनें क्योंकि तुम बहुत से आचार्यों की सेवा करने वाले हो (इति) याज्ञवल्क्य के इस वचन को सुनकर जनक महाराज ने कहा कि (शाकल्यः) शकलाचार्य के पुत्र (विदग्धः) विदग्धाचार्य ने (मे) मुझसे (अब्रवीत्) कहा था कि (हृदयं) हृदय (वै) ही (ब्रह्म) ब्रह्म है अर्थात् ब्रह्म के प्रतीक रूप से हृदय उपास्य है (इति) इस वचन को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (यथा) जैसे (मातृमान्) अनुशासन करने वाली अच्छी माता वाला तथा (पितृमान्) अनुशासन करने वाले अच्छा पिता वाला और (आचार्यवान्) अनुशासन करने वाले अच्छा आचार्य वाला पुरुष (ब्रूयात्) अपने शिष्य को उपदेश करे (तथा) वैसे ही (शाकल्यः) शकलाचार्य के पुत्र विदग्धाचार्य ने (तत्) उसको तुमसे (इति)

यह (अब्रवीत्) कहा कि (हृदयम्) हृदय (वै) ही (ब्रह्म) ब्रह्म है (हि) क्योंकि (अहृदयस्य) हृदय रहित पुरुष को (किम्) क्या लौकिक या पारलौकिक लाभ (स्यात्) हो सकता है (तु) किन्तु (तस्य) उस हृदय रूप ब्रह्म का (आयतनम्) शरीर को और (प्रतिष्ठाम्) तीनों कालों में आश्रय को (ते) आपसे (अब्रवीत्) विदग्धाचार्य ने कहा है (इति) इस वचन को सुनकर जनक महाराज ने कहा कि (मे) मुझसे शरीर को और आश्रय को (न) नहीं (अब्रवीत्) विदग्धाचार्य ने कहा है (इति) इस बचन को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि (सम्राट्) हे सम्राट् तब (वै) निश्चय करके (एतत्) यह हृदय रूप ब्रह्म (एकपाद्) एक पैरवाला है। अतः वह तीन पादों से शून्य ब्रह्म उपासना किये जाने पर भी फलप्रद नहीं होता है (इति) इस वाक्य को सुनकर फिर जनक महाराज ने कहा कि (याज्ञवल्क्य) हे याज्ञवल्क्य (वै) तब निश्चय करके (सः) वह परम माननीय तत्त्ववेत्ता आपही (नः) हमलोगों को (ब्रूहि) उसका उपदेश देवें, इस वचन को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि हृदयाधिष्ठातृ देव में अध्यस्यमान ब्रह्म का (हृदयम्) हृदय (एव) ही (आयतनम्) शरीर है और (आकाशः) अव्याकृत आकाश ही (प्रतिष्ठा) तीनों कालों में इसका आश्रय है (तत्) इस हृदयरूप ब्रह्म को (स्थितिः) स्थिति (इति) ऐसा मानकर (उपासीत) भक्त उपासना करे, इस वचन को सुनकर जनक महाराज ने पूछा कि (याज्ञवल्क्य) हे आचार्य याज्ञवल्क्य (स्थितता) स्थितता (का) क्या है (इति) इस प्रश्न को सुनकर (ह) सुप्रसिद्ध याज्ञवल्क्य ने (इति) ऐसा (उवाच) कहा कि (सम्राट्) हे सम्राट् ! (हृदयम्) हृदय (एव) ही स्थितता है (सम्राट्) हे सम्राट्! (हृदयम्) हृदय (वै) ही (सर्वेषाम्) समस्त (भूतानाम्) भूतों का (आयतनम्) शरीर है और (हृदयम्) हृदय (वै) ही (सर्वेषाम्) सम्पूर्ण (भूतानाम्) भूतों के (प्रतिष्ठा) तीनों कालों में आश्रय है (सम्राट्) हे सम्राट् ! (हि) क्योंकि (हृदये) हृदय में (एव) ही (सर्वाणि) समस्त (भूतानि) भूत (प्रतिष्ठितानि) प्रतिष्ठित (भवन्ति) होते हैं (सम्राट्) हे सम्राट् ! (हृदयम्) हृदय (वै) ही (परमम्) परम (ब्रह्म) ब्रह्म है अर्थात् हृदय देवता में परब्रह्म की उपासना करने योग्य है आगे इस उपासना का फल कहा जाता है कि (यः) जो कोई उपासक (एवम्) इस प्रकार (विद्वान्) जानते हुए (एतत्) इस हृदयरूप ब्रह्म की (उपास्ते) उपासना करता है तो (एनम्) इस उपासक को (हृदयम्) हृदय (न) नहीं (जहाति) त्यागता है और (सर्वाणि) समस्त (भूतानि) प्राणी (एनम्) इस उपासक को (अभिरक्षन्ति) बलिदानादि के द्वारा रक्षा करते हैं और इस लोक में वह (देवः) उपास्यमान हृदयाधिष्ठातृदेव (भूत्वा) होकर अर्थात् देवता के सायुज्य को पाकर (देवान्) शरीरपात के बाद देवों को (अप्येति) प्राप्त हो जाता है अर्थात् आजानसिद्ध देवतान्तर्गत होता है (इति) इस वचन को सुनकर (ह) सुप्रसिद्ध (वैदेहः) विदेह देश के अधिपति (जनकः) जनक महाराज ने (उवाच)

कहा कि इस विद्या की दक्षिणा में आपके लिये (हस्त्यृषभम्) हाथी के समान एक सांड के साथ (सहस्रं) एक हजार गायें (ददामि) देता हूँ (इति) इस वाक्य को सुनकर (ह) सुप्रसिद्ध (स:) उस आचार्य (याज्ञवल्क्य:) याज्ञवल्क्य ने (उवाच) कहा कि (मे) मेरे (पिता) पिता जी (अमन्यत) ऐसा मानते थे कि (अननुशिष्य) शिष्य को सम्यक् अनुशासन किये बिना (न) शिष्य से कुछ भी द्रव्य नहीं (हरेत) लेना चाहिये। मेरा भी यही सिद्धान्त है (इति) यहाँ पर यह कण्डिका और चतुर्थ अध्याय का प्रथम ब्राह्मण समाप्त हो गया ॥७॥

विशेषार्थ— आचार्य याज्ञवल्क्य ने षष्ठ बार कहा कि— हे सम्राट् तुमसे किसी आचार्य ने जो कुछ उपदेश दिया है उसको हम सुनें। क्योंकि तुम बहुत से आचार्यों की सेवा करने वाले हो। अत: सुनने के बाद उपदेष्टव्य अंश का मैं उपदेश करूँगा। याज्ञवल्क्य महर्षि के इस वचन को सुनकर जनक महाराज ने कहा कि— शकलाचार्य के पुत्र विदग्धाचार्य ने मुझ से कहा कि— हृदय ही ब्रह्म है। अर्थात् परब्रह्म के प्रतीक रूप से हृदय उपास्य है। जनक महाराज के इस वाक्य को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि— जिस प्रकार मातृमान् पितृमान् और आचार्यवान् पुरुष आपने शिष्य को उपदेश करे उसी प्रकार शकलाचार्य के पुत्र विदग्धाचार्य ने तुम से यह उपदेश दिया है कि— हृदय ही ब्रह्म है। जिस पुत्र का सम्यक् प्रकार से अनुशासन करने वाली पाँच वर्षपर्यन्त अच्छी विदुषी माता विद्यमान हो उसे "मातृमान्" कहते हैं और जिस पुत्र का सम्यक् प्रकार से अनुशासन करने वाला उपनयनसंस्कारपर्यन्त अच्छा विद्वान् पिता विद्यमान हो उसे "पितृमान्" कहते हैं। और उपनयनसंस्कार के पश्चात् जिसका सम्यक् प्रकार से अनुशासन करने वाला अच्छा विद्वान् आचार्य विद्यमान हो उसे "आचार्यवान्" कहते हैं। आचार्य का लक्षण लिखा है—**आचार्यो वेदसम्पन्नो विष्णुभक्तो विमत्सर: । योगज्ञो योगनिष्ठश्च सदा योगात्मक: शुचि: ॥ गुरुभक्तिसमायुक्त: पुरुषज्ञो विशेषत: । एवं लक्षणसम्पन्नो गुरुरित्यभिधीयते ॥ गुशब्दस्त्वन्धकार: स्याद्रुशब्दस्तन्निरोधक: ।अन्धकारनिरोधित्वाद्गुरुरित्यभिधीयते ॥** (अद्वयतारकोप०) जो वेद पढ़ा हो तथा विष्णुभगवान् का भक्त हो और मत्सर रहित हो तथा योग को जाननेवाला हो ओर योगनिष्ठ हो तथा सर्वदा योगात्मक हो और पवित्र हो ॥ तथा अपने गुरु का भक्त हो और पुरुष को सविशेष रूप से जाननेवाला हो तो इन लक्षणों से युक्त को आचार्य कहते हैं ॥ और 'गु' कहते हैं अन्धकार को तथा 'रु' कहते है प्रकाश को, तो अविद्या रूप अन्धकार को ज्ञानरूप सदुपदेश के प्रकाश से जो दूर करता है उसको गुरु कहते हैं ॥ **सत्सम्प्रदायस्थं श्रद्धावन्तं सत्कुलभवं श्रोत्रियं शास्त्रवात्सल्यं गुणवन्तमकुटिलं सद्गुरुमासाद्य ॥** (नारदपरिव्राजकोप०

उपदेश २) सत्यसम्प्रदय में स्थित, श्रद्धावाले, अच्छे ब्राह्मण कुल में उत्पन्न, वेदपाठी, शास्त्र तथा वात्सल्य से युक्त, दया आदि गुण वाले, अकुटिल सद्गुरु का आश्रयण करके तत्त्वज्ञान प्राप्त करे ।।२।। **वेदवेदान्ततत्त्वज्ञो विद्यास्थानविचक्षणः । ऊहापोहविधानज्ञो दैवपित्र्यक्रियापरः ॥ (अहिर्बु० संहि० अ २० श्लो० १) अवक्ता चापवादानामकर्ता पापकर्मणाम् । अमत्सरी परोत्कर्षे परदुःखे घृणापरः ॥२॥ दयावान्सर्वभूतेषु हृष्टः परसुखोदये । पुण्येषु मुदितायुक्त उपेक्षावान् कुबुद्धिषु ॥३॥ तपः सन्तोषशौचाढ्यो योगस्वाध्यायतत्परः । पाञ्चरात्रविधानज्ञस्तंत्रान्तरविचक्षणः ॥४॥ तंत्राणामन्तरज्ञश्च मंत्राणां कृत्यतत्त्ववित् । पदवाक्यप्रमाणज्ञो हेतुवादविचक्षणः ॥५॥ सामान्यस्यापवादस्यवेत्ता यंत्रविचक्षणः । कुण्डमण्डपभेदज्ञः क्रियाकारविचक्षणः ॥६॥ अध्यात्मज्ञानकुशलः शान्तो दान्तो जितेन्द्रियः । सदन्ववायसंभूत आचार्यो नाम वैष्णवः ॥७॥** जो वेद तथा वेदान्त के तत्त्व को जानने वाला हो, विद्या के स्थान का पण्डित हो और ऊहापोह के विधान को जानने वाला हो तथा देवता और पितरों की क्रियाओं में तत्पर हो ।।१।। तथा किसी के अपवाद को नहीं कहने वाला हो और पापकर्मों को नहीं करने वाला हो तथा दूसरे के उत्कर्ष में मत्सर नहीं करने वाला हो और दुःख का उदय होने पर दयायुक्त हो ।।२।। और सब प्राणियों में दया वाला हो तथा दूसरे के सुख के उदय होने पर प्रसन्न हो और पुण्य में मोद से युक्त हो तथा कुबुद्धियों में उपेक्षा वाला हो और अन्यतंत्रों का पण्डित हो ।।४।। तथा सब तंत्रों के अन्तर को जानने वाला हो और मंत्रों के कृत्य के तत्त्व को जानने वाला हो तथा पद वाक्य और प्रमाणों का ज्ञाता हो और कारणवाद में विचक्षण हो ।।५।। तथा सामान्य अपवाद का जानने वाला हो और यंत्र का विद्वान् हो तथा कुण्ड और मण्डप के भेद को जानने वाला हो और क्रिया करने में निपुण हो ।।६।। तथा अध्यात्म में निपुण हो और शान्त हो तथा दान्त हो और जितेन्द्रिय हो तथा सुन्दरवंश में जन्म लिया हो और श्रीवैष्णव हो तो इन लक्षणों से युक्त को आचार्य कहते हैं ।।७।। **स्वयं वा भक्तिसम्पन्नो ज्ञानवैराग्यभूषितः । स्वकर्मनिरतोनित्यमर्हत्याचार्यतां द्विजः ॥** (भारद्वाजसंहि० अ० १ श्लो० ४०) अथवा स्वयं भक्ति संपन्न हो और ज्ञान तथा वैराग्य से भूषित हो, नित्य ही अपने कर्म में निरत हो तो ब्राह्मणआचार्य हो सकता है ।।४०।। **आचार्यं संश्रयेत्पूर्वमनवद्यं च वैष्णवम् । शुद्धसत्त्वगुणोपेतं नवेज्याकर्मकारकम् ॥** (वृद्धहारीतस्मृ० अ० २ श्लो० ४) **सत्सम्प्रदायसंयुक्तं मंत्ररत्नार्थकोविदम् ज्ञानवैराग्यसंपन्नं वेदवेदाङ्गपारगम् ॥५॥ शासितारं सदाचारैः सर्वधर्मविदां वरम् । महाभागवतं विप्रं सदाचारनिषेविणम् ॥६॥ आलोक्य सर्वशास्त्राणि पुराणानि च वैष्णवः । तदर्थमाचरेद्यस्तु स आचार्य इतीरितः ॥७॥** पहले अनवद्य वैष्णव शुद्धसत्त्वगुणों से युक्त नवेज्या कर्म करने वाले आचार्य का आश्रयण करे ।।४।। सत्यम्प्रदाय से युक्त

और द्वयमंत्र के अर्थ को जानने वाला, ज्ञान तथा वैराग्य से युक्त, वेद और वेदाङ्ग को पार किये हुये ।।५।। सदाचारों से शिक्षादेने वाले, सम्पूर्ण धर्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ महाभागवत सदाचार सेवी ब्राह्मण को आचार्य के लिये आश्रयण करे ।।६।। जो वैष्णव सम्पूर्ण शास्त्र और पुराणों को देखकर भगवत् के लिये आचरण करता है उसको आचार्य कहते हैं ।।७।। नवेज्या के विषय में लिखा है— **अर्चनं मंत्रपठनं ध्यानं होमश्च वन्दनम् । स्तुतिर्योगः समाधिश्च तथा मन्त्रार्थचिन्तनम् ॥** (वृद्धहारीतस्मृ० अ० ११ श्लो० १५०) **एवं नवविधा प्रोक्ता चेज्या वैष्णवसत्तमैः ॥१५१॥** श्रीमन्नारायण का अर्चन करना १, मंत्र पढ़ना २, ध्यान करना ३, हवन करना ४, वन्दना करना ५, स्तुति करना ६, योगाभ्यास करना ७, समाधि करना ८, और मंत्रार्थ का अनुसंधान करना ९ ।।१५०।। इस प्रकार से नौ प्रकार का यज्ञ वैष्णवसत्तमों ने कहा है ।।१५१।। **कृष्णसारचरे देशे उत्पन्नश्च शुभाकृतिः । शौचाचाररतो नित्यं पाखण्डकुलनिस्पृहः ॥** (मत्स्यपु० अध्या० २६५ श्लो० २) **समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः । ऊहापोहार्थतत्त्वज्ञो वास्तुशास्त्रपरायणः ॥३॥ सर्वावयवसम्पूर्णो वेदमंत्रविशारदः । पुराणवेत्ता तत्त्वज्ञो लोभमोहविवर्जितः ॥४॥ आचार्यश्च भवेन्नित्यं सर्वदोषविवर्जितः ॥५॥** जो कृष्णसार मृग के विचरने वाला देश भारतवर्ष में जन्म लिया हो और सुन्दर आकार वाला हो तथा शौचाचार में निरत हो और सर्वदा पाखण्ड कुल की स्पृहा से रहित हो ।।२।। तथा शत्रु, मित्र और मान, अपमान में एक समान हो और ऊहापोह के अर्थ के तत्त्व को जानने वाला हो तथा वास्तुशस्त्र परायण हो ।।३।। सब देह के अङ्गों से सम्पन्न हो ओर वैदिक मंत्रों का विशारद हो तथा पुराणों को जानने वाला हो और तत्त्वत्रय को जानने वाला हो तथा लोभ, मोह से रहित हो ।।४।। और सर्वदा सब दोषों से हीन हो तो वह आचार्य हो सकता है ।।५।। **स्वयमाचरते यस्मादाचारं स्थापयत्यपि । आचिनोति च शास्त्राणि आचार्यस्तेन चोच्यते ॥** (ब्रह्माण्डपु० पूर्वभा० आनुषङ्गिकपाद अ० ३२ श्लो० ३२) शास्त्रानुसार स्वयं जो आचरण करता है और आचरण करवाता है तथा शास्त्रों को एकत्रित करता है उसे आचार्य कहते हैं ।।३२।। **आचार्यो वेदसम्पन्नो विष्णुभक्तो विमत्सरः । मंत्रज्ञो मंत्रभक्तश्च सदा मंत्रात्मकः शुचिः ॥** (पाद्मपु० उत्तरखं० ६ अ० २२३ श्लो० ५०) **सत्सम्प्रदायसंयुक्तो ब्रह्मविद्याविशारदः । अनन्यसाधनश्चैव तथानन्यप्रयोजकः ॥५१॥ ब्राह्मणो वीतरागश्च क्रोधलोभविवर्जितः । सद्वृत्तोपासिता चैव मुमुक्षुः परमार्थवित् ॥५२॥ एवमादिगुणोपेत आचार्यः स उदाहृतः ॥५३॥** आचार्य वेद पढ़ा हो तथा विष्णु का भक्त हो और मंत्र जानने वाला हो तथा मंत्रों का भक्त हो और सर्वदा मंत्र के अधीन हो तथा पवित्र रहता हो ।।५०।। सत्सम्प्रदाय से युक्त हो और ब्रह्मविद्या में निपुण हो

तथा अनन्योपाय हो और अनन्यप्रयोजक हो ॥५१॥ और राग रहित ब्राह्मण हो तथा क्रोध और लोभ से रहित हो तथा शुद्ध आचार वाला हो और मोक्ष की इच्छा वाला हो तथा श्रेष्ठतत्त्व को जानने वाला हो ॥५२॥ इन पूर्वोक्त गुणों से युक्त को आचार्य कहते हैं ॥५३॥ **सिद्धं सत्सम्प्रदाये स्थिरधियमनघं श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं सत्यवाचं समनियमतया साधुवृत्त्या समेतम् । दम्भासूयादिमुक्तं जितविषयगणं दीर्घवन्धुं दयालुं स्खालित्ये शासितारं स्वपरहितपरं देशिकं भूष्णुरीप्सेत् ॥** (न्यासविंशति० श्लोक १) श्रीमन्नारायण के शरणागत होनेवाला पुरुष, सत्सम्प्रदाय में निष्पन्न, स्थिर बुद्धिवाला, पाप रहित, वेदपाठी, परब्रह्म को साक्षात्कार करनेवाला, सत्त्वगुण में स्थित, सत्य भाषण करनेवाला, समय नियत होने से सर्वदा साधु की वृत्ति से युक्त रहनेवाला, दम्भ, पाखण्ड, असूया आदिक से रहित, विषय गणों की जीतने वाला, दीर्घवन्धु वाला, दयालु, सन्मार्ग से स्खलित जनों के शासक और अपना तथा दूसरे का हित करने में तत्पर आचार्य को प्राप्त करने की इच्छा करे ॥१॥ अब स्वयं मुनि याज्ञवल्क्य ने उपपत्ति कहीं कि– क्योंकि हृदय रहित मनुष्य को ऐहिक अथवा पारलौकिक लाभक्या हो सकता है ? इस कारण से "हृदय ही ब्रह्म है" विदग्धाचार्य का यह कथन उचित है । परन्तु उस हृदय रूप ब्रह्म के शरीर को और तीनों कालों में आश्रय को आप से विदग्धाचार्य ने कहा है क्या ? इस वचन को सुनकर जनक महाराज ने कहा कि– मुझसे हृदय ब्रह्म के शरीर को और आश्रय को तो विदग्धाचार्य ने नहीं उपदेश दिया है । इस वचन को सुनकर फिर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– यदि ऐसी बात है तो, हे सम्राट् ! यह हृदयरूप ब्रह्म एक पैरवाला है । वह तीन चरणों से हीन ब्रह्म उपासना किये जाने पर भी फलप्रद नहीं होता है । इस वाक्य को सुनकर पुनः जनक महाराज ने कहा कि– यदि ऐसी बात है तो हे आचार्य याज्ञवल्क्य ! वह परम माननीय तत्त्ववेत्ता आपही हमारे प्रति उसका उपदेश कीजिये । इस वचन को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– हृदयाधिष्ठातृदेव में अध्यस्यमान परब्रह्म का हृदय ही शरीर है और अव्याकृत आकाश ही इसका तीनों कालों में आश्रय है । अथवा परम व्योम ही प्रतिष्ठा यानी आश्रय है । हे सम्राट् ! इस हृदयरूप ब्रह्म की स्थिति ऐसा मानकर उपासक उपासना करे। स्थिति ही हृदयरूप ब्रह्म का चतुर्थपाद है । इस उपदेश को सुनकर फिर जनक महाराज ने पूछा कि– हे आचार्य याज्ञवल्क्य ! स्थितता क्या है ? अर्थात् जिस प्रकार प्रतिष्ठांश हृदय से अभिन्न है उसी प्रकार स्थिति भी है क्या? इस प्रश्न को सुनकर सुप्रसिद्ध आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– हे सम्राट् ! हृदय ही सब भूतों का शरीर है । और हृदय ही समस्त भूतों के तीनों कालों में आश्रय है । हे सम्राट् । क्योंकि हृदय में ही सब भूत प्रतिष्ठित होते हैं । और हे सम्राट् ! हृदय

ही परम ब्रह्म है। अर्थात् हृदय देवता में परब्रह्म की उपासना करने योग्य है। अब आगे इस उपासना का फल बतलाया जाता है कि– जो कोई उपासक इस प्रकार जानते हुए इस हृदयरूप ब्रह्म की उपासना करता है उस ब्रह्मवेत्ता उपासक को हृदय नहीं परित्याग करता है। और समस्त प्राणी इस उपासक को उपहारादि के द्वारा उपहार करते हैं। तथा वह उपासक इस लोक में उपास्यमान हृदयाधिष्ठातृदेव होकर अर्थात् देवता के सायुज्य को पाकर फिर शरीरपात के अनन्तर देवों को प्राप्त होता है। अर्थात् आजानसिद्ध देवतान्तर्गत होता है। इस उपदेश को सुनकर सुप्रसिद्ध विदेह देश के अधिपति जनक महाराज ने कहा कि– इस उपदिष्ट विद्या की दक्षिणा में हाथी के समान एक वृषभ के साथ सहस्र गायें मैं देता हूँ। आप इसे ग्रहण करें। महाराज जनक के इस वचन को सुनकर सुप्रसिद्ध आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– मेरे पिताजी का यह मत था कि शिष्य को अच्छे प्रकार समझाये बिना शिष्य के यहाँ से कुछ भी धन नहीं लेना चाहिये। पिताजी के मतानुसार ही मेरा भी सिद्धान्त है। इस हेतु से आपसे मैं अभी कुछ भी नहीं ले सकता। यहाँ पर "इति" शब्द प्रकृत कण्डिका के और चौथे अध्याय के पहले ब्राह्मण की समाप्ति का सूचक है। क्योंकि लिखा है– इति-हेतु-प्रकरण- प्रकाशादि-समाप्तिषु ॥ (अमर० कां० ३ व० ३ श्लोक २४५) इति शब्द हेतु १, प्रकरण २, प्रकाश आदि ३ और समाप्ति ४ में प्रयुक्त होता है ॥२४५॥ यहाँ पर "बृहदारण्यकोपनिषद्" के चतुर्थ अध्याय का प्रथम षडाचार्यब्राह्मण समाप्त हो गया ॥७॥

॥ अथ द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

जनको ह वैदेहः कूर्चादुपावसर्पन्नुवाच । नमस्तेऽस्तु याज्ञवल्क्यानु मा शाधीति । स होवाच यथा वै सम्राण् महान्तमध्वानमेष्यन् रथं वा नावं वा समाददीतैवमेवैताभिरुपनिषद्भिः समाहितात्माऽसि । एवं वृन्दारक आढ्यः सन्नधीत वेद उक्तोपनिषत्क इतो विमुच्यमानः क्व गमिष्यसीति । नाहं तद्भगवन् वेद यत्र गमिष्यामीति । अथ वै तेऽहं तद्वक्ष्यामि यत्र गमिष्यसीति । ब्रवीतु मे भगवानिति ॥१॥

अन्वयार्थ– (ह) सुप्रसिद्ध (वैदेहः) विदेह देश के अधिपति (जनकः) जनक महाराज ने (कूर्चात्) कूर्च नामक एक विशेष प्रकार के सिंहासन से उठकर (उपावसर्पन्) आचार्य याज्ञवल्क्य के समीप जाकर (उवाच) कहा कि (याज्ञवल्क्य) हे आचार्य याज्ञवल्क्य (ते) आपके लिये (नमः) मेरा नमस्कार (अस्तु) हो (मा) शिष्य मुझको (अनुशाधि) उपदेश कीजिये (इति) इस विनम्र वचन को सुनकर (ह) सुप्रसिद्ध उस आचार्य याज्ञवल्क्य ने (उवाच) कहा कि (सम्राट्) हे सम्राट् (वै) नि य करके (यथा) जैसे कोई (महान्तम्) बहुत दूर (अध्वानम्) मार्ग को (एष्यन्) जानेवाला पुरुष (रथम्) रथ को (वा) अथवा (नावम्) नौका को (वा) निश्चय करके (समाददीत) सम्यक् प्रकार से आश्रय ले (एवम्) वैसे (एव) ही (एताभिः) इन आचार्योपदिष्ट देवताओं से और (उपनिषद्भिः) उपनिषदों से (समाहितात्मा) सम्पन्न परलोक साधन (असि) तू है (एवम्) इस प्रकार (वृन्दारकः) पूज्यमान मुख्य (आढ्यः) धनाढ्य (सन्) होता हुआ (अधीतवेदः) वेदों का अध्ययन किया हुआ और (उक्तोपनिषत्कः) आचार्यों से उपनिषदों का उपदेश प्राप्त किया हुआ तू है अर्थात् सर्वपुरुषार्थ सम्पत्तिमान् तू (इतः) इस शरीर से (विमुच्यमानः) छूटकर (क्व) किस मार्ग में (गमिष्यसि) जायगा (इति) इस वचन को सुनकर जनक महाराज ने कहा कि (भगवन्) हे षडैश्वर्य सम्पन्न पूज्य भगवन् (अहम्) मैं (तत्) उस मार्ग को (न) नहीं (वेद) जानता हूँ (यत्र) जिस मार्ग में (गमिष्यामि) शरीर छोड़ने पर जाऊँगा (इति) इस वाक्य को सुनकर (अथ) तब याज्ञवल्क्य ने कहा कि हे राजन् (अहम्) मैं (वै) निश्चय करके (ते) तुमसे (तत्) उस मार्ग को (वक्ष्यामि) कहूँगा (यत्र) जिस मार्ग में देह छूटने पर (गमिष्यसि) तू जायगा (इति) इस वचन को सुनकर जनक महाराज ने कहा कि (भगवान्) षडैश्वर्यसम्पन्न पूज्य आप (मे) मुझे (ब्रवीतु) कृपा करके उपदेश करें (इति) यही मेरी प्रार्थना है ॥१॥

विशेषार्थ– विदेह देश के अधिपति सुप्रसिद्ध जनक महाराज याज्ञवल्क्य महर्षि के ज्ञानवैशद्य को देखकर कूर्च नामक एक विशेष प्रकार के सिंहासन से उठकर आचार्य याज्ञवल्क्य के निकट जाकर साष्टाङ्ग प्रणिपात करते हुए बोले कि– हे आचार्य याज्ञवल्क्य! आपके लिये मेरा नमस्कार हो । क्योंकि लिखा है– **तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ॥** (गी० अ० ४ श्लोक ३४) ज्ञानियों को दण्डवत् साष्टाङ्गप्रणाम करने से तथा जिज्ञासुभाव से प्रश्न करने से और सेवा करने से उस आत्मविषयक ज्ञानको तुम जानो ॥३४॥ तथा मुझ शिष्य को आप उपदेश दीजिये । जनक महाराज के इस विनम्र वचन को सुनकर वे सुप्रसिद्ध आचार्य याज्ञवल्क्य ऋषि बोले कि– हे सम्राट् ! लोक में जिस प्रकार बहुत दूर मार्ग को जाने वाला पुरुष, स्थल से जाने

पार रथ और जल से जाने पर नौका आदिक योग्य सवारी का सम्यक् प्रकार से आश्रय लेता है । उसी प्रकार निश्चय करके तत्तत् आचार्योपदिष्ट देवताओं से और उपनिषदों से आप भी सम्पन्न परलोक साधनवाले हैं । यहाँ पर "अध्वन्" शब्द मार्ग वाचक है । क्योंकि लिखा है– **अयनं वर्त्ममार्गाध्वन्पथानः पदवीसृतिः ॥** (अमर० कां० २ व० १ श्लोक १५) अयन १, वर्त्मन् २, मार्ग ३, अध्वन् ४ पथिन् ५ पदवी ६, सृति ७ ये मार्ग के नाम हैं ॥१५॥ इस प्रकार आप लोकों से पूज्य हैं । यहाँ पर "वृन्दारक" शब्द मुख्य वाचक है । क्योंकि लिखा है– **वृन्दारकौ रूपिमुख्यौ ॥** (अमर० कां० ३ व० ३ श्लोक १६) वृन्दारक शब्द देवता तथा सुन्दर और मुख्य वाचक होता हे ॥१६॥ और आपने धनाढ्य होने पर भी वेदों का अध्ययन किया है । यहाँ पर "आढ्य" शब्द धनी वाचक है । क्योंकि लिखा है– **इभ्य आढ्यो धनी ॥** (अमर० कां० ३ व० १ श्लोक १०) इभ्य १, आढ्य २, धनिन् ३ ये धनी पुरुष के नाम हैं ॥१०॥ और आपको आचार्यों ने उपनिषदों का उपदेश कर दिया है । ऐसे आप हैं अर्थात् सर्वपुरुषार्थ सम्पत्तिमान् आप हैं ? अतः आपसें मैं पूछता हूँ कि इस शरीर से निकल कर आप किस मार्ग में जायेंगे । इस वचन को सुनकर जनक महाराज ने कहा कि– हे षडैश्वर्यसम्पन्न शास्त्रदृष्टविधि से पूज्य भगवन् ! मैं उस मार्ग को नहीं जानता हूँ, जिस मार्ग में मैं देह छोड़ने पर जाऊँगा । इस वचन को सुनकर फिर आचार्य याज्ञवल्क्य मुनि बोले कि– हे सम्राट् ! निश्चय करके मैं आपसे उस मार्ग का उपदेश करूँगा, जहाँ शरीर छूटने पर आप जायेंगे । इस वाक्य को सुनकर पुनः जनक महाराज ने कहा कि– हे आचार्यदेव ! यदि मुझ पर आप प्रसन्न हैं तो, षडैश्वर्य सम्पन्न शास्त्रदृष्टविधि से पूजयआप कृपा करके मुझे उसका उपदेश करें । यही मेरी प्रार्थना है । इस श्रुति में– यथा देवे तथा गुरौ ॥ (श्वे० उ० अ० ६ श्रु० २३) जिस प्रकार परमात्मा देव में उसी प्रकार गुरुदेव में भी ॥२३॥ इस श्रौत सिद्धान्त को जनाने के लिये आचार्य याज्ञवल्क्य में "भगवत्" शब्द का प्रयोग हुआ है ॥१॥

इन्धो ह वै नामैष योऽयं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषस्तं वा एतमिन्धं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेणैव परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः ॥२॥

अन्वयार्थ– (वै) निश्चय करके (यः) जो (अयम्) यह (दक्षिणे) दाहिने (अक्षन्) आँख में (पुरुषः) पुरुष है (एषः) यह (इन्धः) इन्ध (नाम) नाम वाला (ह) प्रसिद्ध है (वै) निश्चय करके (तम्) उसी (एतम्) इस पुरुष को (इन्धम्)

इन्ध (सन्तम्) होते हुए भी (इन्द्रः) इन्द्र (इति) ऐसा (परोक्षेण) परोक्षनाम से (एव) ही (आचक्षते) ब्रह्मवेत्ता लोग कहते हैं (हि) क्योंकि (देवाः) देवता लोग (परोक्षप्रियाः) परोक्ष से प्रेम करने वाले के (इव) समान होते हैं और (प्रत्यक्षद्विषः) प्रत्यक्ष से द्वेष करने वाले होते हैं ॥२॥

विशेषार्थ– जो यह दक्षिण नेत्र में पुरुष है यह दीप्ति गुण वाला होने से "इन्ध" इस नाम से निश्चय करके प्रसिद्ध है। "ञिइन्धी दीप्तौ" इस धातु से "इन्ध" शब्द निष्पन्न होता है। ब्रह्मवेत्ता लोग उसी इन्ध को ही अत्यन्त पूज्य होने से और उसका प्रत्यक्ष नाम लेने के भय से सम्यक् व्यवहार के निमित्त "इन्द्र" इस परोक्ष नाम से ही पुकारते हैं। "इदि परमैश्वर्ये" इस धातु से "इन्द्र" शब्द निष्पन्न होता है। इस कारण से लक्ष्मीपति परब्रह्म नारायण ही "इन्द्र" शब्द वाच्य हैं। क्योंकि लिखा है– **इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥** (ऋग्वे॰ मण्डल॰ १ सूक्त १६ मं॰ ४६) इन्द्र, सूर्य, वरुण, अग्नि, दिव्य, गरुड, गरुत्मान्, दीप्तिमान्, यम, वायु, एक, सद् इत्यादि अनेक प्रकार से विप्रगण नारायण को कहते हैं ॥४६॥ **स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट् ॥** (तैत्ति॰ आरण्य॰ प्रपा॰ १० अनुवा॰ ११ श्रु॰ १४) वह परब्रह्म नारायण ही ब्रह्मा, शिव, इन्द्र और अविनाशी परम स्वतंत्र परमात्मा है ॥१४॥ **स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट्। स एव विष्णुः सः प्राणः सः कालोऽग्निः स चन्द्रमाः ॥** (कैवल्योप॰ खं॰ १ श्रु॰ ८) वह परब्रह्म नारायण ही ब्रह्मा है, वही शिव है वही इन्द्र है, वही अविनाशी परम स्वतन्त्र परमात्मा है, वही विष्णु है वही प्राण है वही काल है वही अग्नि है और वही चन्द्रमा है ॥८॥ **एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्। इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥** (मनु॰ अ॰ १२ श्लो॰ १२३) कुछ लोग इस परब्रह्म नारायण को अग्नि कहते हैं, कुछ लोग प्रजापति कहते हैं तथा कुछ लोग इन्द्र कहते हैं, कुछ लोग प्राण कहते हैं, और लोग शाश्वत ब्रह्म कहते हैं ॥१२३॥ इन श्रुति स्मृति के प्रमाणों से पर ब्रह्म नारायण को ही इन्द्र इस परोक्ष नाम से कहते हैं। निश्चय ही देवता लोग अपना परोक्ष नाम ग्रहण किया जाना ही प्रिय मानते हैं। और प्रत्यक्ष नाम ग्रहण से द्वेष करते हैं। तो सब देवताओं के भी देव परब्रह्म नारायण के विषय में कहना ही क्या है। क्योंकि लिखा है ॥ **तं देवतानां परमं च दैवतम् ॥** (श्वे॰ उ॰ अ॰ ६ श्रु॰ ७) उस संपूर्ण देवताओं के भी परम देवता नारायण को ॥७॥ **दिव्यो देव एको नारायणः ॥** (सुबालोप॰ खं॰ ७) दिव्य देव एक नारायण हैं ॥७॥ यहाँ पर दक्षिण नेत्र में स्थित पर ब्रह्म नारायण ही प्रतिपादन किया गया है ॥२॥

अथैतद्वामेऽक्षणि पुरुषरूपमेषाऽस्य पत्नी विराट् तयोरेष संस्तावो य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः । अथैनयोरेतदन्नम् । य एषोऽन्तर्हृदये लोहितपिण्डः अथैनयोरेतत्प्रावरणं यदेतदन्तर्हृदये जालकमिव । अथैनयोरेषा सृतिः सञ्चरणी यैषा हृदयादूर्ध्वा नाड्युच्चरति । यथा केशः सहस्रधा भिन्न एवमस्यैता हिता नाम नाड्योऽ न्तर्हृदये प्रतिष्ठिता भवन्त्येताभिर्वा एतदास्रवति । तस्मादेषः प्रविविक्ताहारतर इवैव भवत्यस्माच्छारीरादात्मनः ॥३॥

अन्वयार्थ– (अथ) दक्षिण नेत्र में स्थित नारायण के वर्णन के बाद अब (एतत्) यह ज़ो (वामे) वायें (अक्षणि) नेत्र में (पुरुषरूपम्) मनुष्याकार व्यक्ति है (एषा) यह (अस्य) इस इन्द्र शब्द वाच्य नारायण की (विराट्) विशेष रूप से प्रकाशमान (पत्नी) स्त्री लक्ष्मी है (तयोः) उन दोनों दम्पति लक्ष्मीनारायण के (एषः) यह वक्ष्यमाण (संस्तावः) एकान्त संभोग भूमि है (यः) जो (एषः)यह (अन्तर्हृदये) हृदय कमल के मध्य में (आकाशः) आकाश है (अथ) और (यः) जो (एषः) यह (अन्तर्हृदये) हृदयकमल के मध्य में (लोहितपिण्डः) कमलकर्णिकाकार लाल मासपिण्ड है (एतत्) यह (एनयोः) उन दोनों लक्ष्मीनारायण का (अन्नम्) भोग्य प्रसाद स्थानीय है (अथ) और (यत्) जो (एतत्) यह (अन्तर्हृदये) हृदय के मध्य में (ज़ालकम्) जाल के (इव) समान वक्ष्यमाण हित नामक नाडी के निचय संपन्न अनेकानेक छिद्र युक्त चादर है (एतत्) यह (एनयोः) उन दोनों लक्ष्मी नारायण का (प्रावरणम्) पट्ट वस्त्र है (अथ) और (या) जो (एषा) यह (हृदयात्) हृदय से (ऊर्ध्वा) ऊपर की ओर (नाडी) नाडी (उच्चरति) जाती है (एषा) यह (एनयोः) उन दोनों लक्ष्मी नारायण के (संचरणी) ब्रह्मलोक सौधगत दंपति प्राप्ति हेतु भूत चलने फिरने का (सृतिः) निरवग्रह मार्ग है (यथा) जैसे (सहस्रधा) सहस्र भागों में (भिन्नः) विभक्त हुआ (केशः) एक केश अत्यन्त सूक्ष्म होता है (एवम्) वैसे ही (अस्य) इस पुरुष के (एताः) ये (हिताः) हित (नाम) नामक (नाड्यः) नाड़ियाँ (अन्तर्हृदये) हृदयकमल के भीतर (प्रतिष्ठिताः) प्रतिष्ठित (भवन्ति) हैं (वै) निश्चय करके (एताभिः) इन अति सूक्ष्म हित नाम की नाडियों से (एतत्) यह सम्पूर्ण जीव जात (आस्रवति) भली भाँति संसार को प्राप्त करता है जिस कारण से दक्षिण नेत्र में स्थित परब्रह्म नारायण विग्रह गुणादिकों से

दीप्यमान रहता है (तस्मात्) इसी कारण से (एव) निश्चय करके (अस्मात्) इस (शारीरात्) शरीर भूत (आत्मनः) जीवात्मा से (एषः) यह दक्षिण नेत्र में स्थित परमात्मा (प्रविविक्ताहारतरः) अति प्रकृष्ट अन्न यानी अमृत भोजन करने वाला (इव) सा (भवति) होता है ॥३॥

विशेषार्थ– पूर्व कण्डिका में जिस "इन्द्र" शब्द वाच्य परब्रह्म नारायण का निरूपण किया गया है अब उनकी स्त्री, भोजन, विश्राम आदि का वर्णन प्रारम्भ किया जाता है कि– वाम नयन में जो यह मनुष्याकार व्यक्ति प्रतीत है यह इस इन्द्र शब्द वाच्य परब्रह्म नारायण के विशषरूप से देदीप्यमान स्त्री लक्ष्मी देवी हैं। "विशेषेण राजत इति विराट्" इस व्युत्पत्ति में "राजृ दीप्तौ" इस धातु से "विराट्" पद निष्पन्न होता हे। इससे इसका अर्थ होता है कि– विशेष रूप से प्रकाशमान। क्योंकि लक्ष्मी देवी के विषय में लिखा है ॥ **ज्वलन्तीं तृप्तां तर्पयन्तीम्** ॥ (श्रीसूक्त० मं० ४) तेजोमयी पूर्णकामा भक्तानुग्रहकारिणी लक्ष्मी देवी को ॥४॥ **चन्द्रां प्रभासाम्** ॥५॥ चन्द्रमा के समान शुभ्र कान्तिवाली सुन्दर द्युतिवाली लक्ष्मीदेवी को ॥५॥ **आदित्यवर्णे** ॥६॥ हे सूर्य के समान प्रकाश स्वरूपे ॥६॥ **विद्यु ल्लेखेव भास्वरा** ॥ (तैत्ति० आर ७ प्रपाठ० १०. अनुवा० ११ श्रु० १२) बिजली की रेखा के समान भास्वर यानी प्रकाशमान लक्ष्मी देवी हैं ॥१२॥ इन मन्त्रों से सिद्ध होता है कि लक्ष्मीदेवी अत्यन्त प्रकाशमान हैं। और ॥ **श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ** ॥ (यजुर्वे० अ० ३१ मं० २२) लक्ष्मीदेवी तथा भूमिदेवी नारयण की पत्नी हैं ॥२२॥ और जो यह हृदय कमल के मध्यमें आकाश है यह इन दोनों दम्पति लक्ष्मी नारायण की एकान्त संभोग भूमि है तथा जो यह हृदय कमल के मध्य में कमल-कर्णिकाकार लाल मांस का पिण्ड है यह इन दोनों दम्पति लक्ष्मी नारायण के अन्न यानी भोग्य प्रसाद स्थानीय है। और जो यह हृदय के मध्य में लूते के जाल के समान आगे कहे जाने वाली हित नामक नाड़ी के निचय संपन्न अनेकानेक छिद्र युक्त चादर है यह इन दोनों दम्पति लक्ष्मीनारायण का पट्टवस्त्र है। जो यह हृदय देश से ऊपर की ओर नाड़ी गई है यह इन दोनों दम्पति लक्ष्मी नारायण के ब्रह्मलोक सौधगत दम्पति प्राप्ति हेतु भूत चलने फिरने का रास्ता है। यहाँ पर "संचरणी" और "सृति" शब्द से गमन मार्ग कहा गया है। जिस प्रकार सहस्त्र हिस्सों में विभक्त एक केश अत्यन्त सूक्ष्म होता है इसी प्रकार इस पुरुष के अत्यन्त सूक्ष्म ये हित नामक नाड़ियाँ हृदय कमल के भीतर प्रतिष्ठित हैं। निश्चय करके इन हित नाम की नाड़ियों से यह समस्त जीव जात भली भाँति संसार को प्राप्त करता है। या गमन करता है। जिस कारण से दक्षिण नयन में स्थित परब्रह्म नारायण मङ्गलमय विग्रह तथा दिव्य गुणादिकों से दीप्यमान "इन्ध" नाम से प्रसिद्ध रहता है, इसी कारण

से ही इस शरीर भूत जीवात्मा से यह दक्षिण नेत्र में स्थित परब्रह्म नारायण बहुत शुद्धाहारी सा प्रतीत होता है अर्थात् अतिप्रकृष्ट अन्न यानी अमृत भोजन करने वाले के समान होता है ।।३।।

तस्य प्राची दिक् प्राञ्चः प्राणा दक्षिणा दिग् दक्षिणे प्राणाः प्रतीची दिक् प्रत्यञ्चः प्राणा उदीची दिगुदञ्चः प्राणा ऊर्ध्वा दिगूर्ध्वाः प्राणा अवाची दिगवाञ्चः प्राणाः सर्वा दिशः सर्वे प्राणाः । स एष नेति नेतीत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसङ्गो न हि सज्जतेऽसितो न व्यथते न रिष्यत्यभयं वै जनक प्राप्तोऽसीति होवाच याज्ञवल्क्यः । स होवाच जनको ह वैदेहोऽभयं त्वा गच्छताद् याज्ञवल्क्य यो नो भगवन्नभयं वेदयसे नमस्तेऽस्त्विमे विदेहा अयमहमस्मि ।।४।।

॥ इति चतुर्थाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

अन्वयार्थ– (तस्य) उस जीवात्मा के (प्राची) पूर्व (दिक्) दिशा (प्राञ्चः) पूर्व (प्राणाः) प्राण हैं और (दक्षिणा) दक्षिण (दिक्) दिशा (दक्षिणे) दक्षिण (प्राणाः) प्राण हैं तथा (प्रतीची) पश्चिम (दिक्) दिशा (प्रत्यञ्चः) पश्चिम (प्राणाः) प्राण हैं और (उदीची) उत्तर (दिक्) दिशा (उदञ्चः) उत्तर (प्राणाः) प्राण हैं तथा (ऊर्ध्वा) ऊपर की (दिक्) दिशा (ऊर्ध्वाः) ऊपर के (प्राणाः) प्राण हैं और (अवाची) नीचे की (दिक्) दिशा (अवाञ्चः) नीचे के (प्राणाः) प्राण हैं तथा (सर्वाः) सम्पूर्ण (दिशः) दिशाएँ (सर्वे) सब (प्राणाः) प्राण हैं अर्थात् सम्पूर्ण दिशाओं में प्राणेन्द्रिय प्रचुर जीवात्मा है इस प्रकार जीव के स्वरूप को कहकर अब परपुरुष का वर्णन किया जाता है (सः) वह (एषः) यह दक्षिण नेत्र में स्थित (आत्मा) परमात्मा (न) नहीं (इति) इस शब्द से वर्णन किया हुआ (न) नहीं (इति) इस शब्द से वर्णन किया हुआ परब्रह्म नारायण (अगृह्यः) अगृह्य है (इति) इस कारण से (हि) क्योंकि (न) नहीं (गृह्यते) प्राकृत इन्द्रिय से ग्रहण किया जाता है और (अशीर्यः) विशरण योग्य अवयव शून्य है (हि)

क्योंकि (न) नहीं (शीर्यते) वह शीर्ण होता है तथा (असङ्गः) निर्लेप है (हि) क्योंकि (न) नहीं (स्ज्जते) पाप फल को अनुभव करता है और (असितः) कर्मबन्ध शून्य है इससे देहान्तरार्त भी (न) नहीं (व्यथते) शोक करता है तथा (न) नहीं (रिष्यति) हिंसित होता है (इति) इस प्रकार उपदेश देते हुए (ह) सुप्रसिद्ध (याज्ञवल्क्यः) आचार्य याज्ञवल्क्य ने (उवाच) कहा कि (जनक) हे जनक महाराज (वै) निश्चय करके (अभयम्) जन्म मरणादिभयरहित परमात्मा को तू (प्राप्तः) प्राप्त (असि) हो गया है इस उपदेश को सुनकर (ह) सुप्रसिद्ध (सः) उस (वैदेहः) विदेह देश के अधिपति (जनकः) जनक महाराज ने (तु) तो (ह स्पष्ट (उवाच) कहा कि (याज्ञवल्क्य) हे याज्ञवल्क्य (अभयम्) आप के आशीर्वाद से भय रहित परब्रह्म नारायण (आगच्छतात्) भली भाँति मुझे प्राप्त होवे (भगवन्) हे षडैश्वर्य संपन्न परमपूज्य आचार्यदेव (यः) जो आप (नः) हम लोगों को (अभयम्) भयशून्य परब्रह्म नारायण को (वेदयसे) प्राप्त करा रहे हैं (ते) परमात्मप्रापक आपके लिये (नमः) मेरा नमस्कार (अस्तु) प्राप्त हो, इस विद्या की दक्षिणा में आप की सेवा के लिये (इमे) ये सम्पूर्ण (विदेहाः) विदेहदेश समर्पित करता हूँ और (अयम्) यह विदेह अधिपति (अहम्) जनक नाम वाला मैं भी (अस्मि) आपका दास हूँ ।।४।।

विशेषार्थ– दक्षिण नेत्र में स्थित प्रकृत पुरुषोत्तम के प्रकारान्तर से शरीरगत जीव से वैलक्षण्य प्रतिपादन किया जाता है कि उस जीवात्मा का पूर्वदिशा पूर्व प्राण हैं। और दक्षिणदिशा दक्षिण प्राण हैं। तथा पश्चिमदिशा पश्चिम प्राण हैं। और उत्तरदिशा उत्तर प्राण हैं। तथा ऊपर की दिशा ऊपर के प्राण हैं। और नीचे की दिशा नीचे के प्राण हैं। और समस्त दिशाएँ समस्त प्राण अर्थात् सब दिशाओं में प्राणेन्द्रिय प्रचुर जीवात्मा है। इस प्रकार जीवात्मा के स्वरूप को कह कर अब जीव से वैलक्षण्य परब्रह्म नारायण का वर्णन किया जाता है। वह यह दक्षिण नयन में स्थित जो परब्रह्म नारायण है सो "बृहदारण्यकोपनिषद्" के द्वितीय अध्याय के तृतीय ब्राह्मण की छठवीं कण्डिको में और तृतीय अध्याय के नवम ब्राह्मण की छब्बीसवींकण्डिका में "नेति नेति" इस शब्द से सर्वविलक्षण कहा गया है। वह परमात्मा इन्द्रिय ग्रहण के अयोग्य होने से प्राकृत इन्द्रियों से नहीं ग्रहण किया जाता है। और विशरण योग्य अवयवशून्य होने से वह पुरुषोत्तम शीर्ण नहीं होता है। तथा निर्लेप होने से वह नारायण पापफल को नहीं अनुभव करता है। और कर्मबन्धन शून्य होने से वह परमात्मा, सर्वदेहान्तरार्त भी नहीं शोक करता है तथा नहीं हिंसित होता है। इस प्रकार उपदेश देते हुए सुप्रसिद्ध आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– हे जनक महाराज निश्चय करके जन्म मरणादि भयरहित परब्रह्म नारायण को आप प्राप्त कर चुके हैं। इस उपदेश को सुनकर सुप्रसिद्ध

विदेहदेश के अधिपति उस जनक महाराज ने स्पष्ट कहा कि– हे आचार्य याज्ञवल्क्य ! आपके मङ्गलाशासन से मुझे भय रहित परब्रह्म नारायण प्राप्त हो । हे षडैश्वर्य सम्पन्न परम पूज्य गुरुदेव ! जो आप हम लोगों को अभय यानी परब्रह्म नारायण प्राप्त कराते हैं । उस परब्रह्म नारायण प्रापक आपके लिये मेरा साष्टाङ्ग प्रणिपात प्राप्त हो । हे प्रभो ! विशेष मैं क्या कहूँ । इस विद्या की दक्षिणा में आप की सेवा के लिये यह समस्त विदेहदेश श्री चरणों में समर्पित करता हूँ । और यह विदेहदेश का अधिपति जनक महाराज मैं भी आप का दास उपस्थित हूँ । आपकी जो आज्ञा हो सो कहें । यहाँ पर "बृहदारण्यकोपनिषद्" के चतुर्थ अध्याय का द्वितीय कूर्चब्राह्मण समाप्त हो गया ।।४।।

॥ अथ तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

जनकं ह वैदेहं याज्ञवल्क्यो जगाम । स मेने न वदिष्य इति । अथ ह यज्जनकश्च वैदेहो याज्ञवल्क्यश्चाग्निहोत्रे समूदाते । तस्मै ह याज्ञवल्क्यो वरं ददौ । स ह कामप्रश्नमेव वव्रे । तं हास्मै ददौ । तं ह सम्राडेव पूर्वः पप्रच्छ ।।१।।

अन्वयार्थ– (ह) सुप्रसिद्ध (याज्ञवल्क्यः) आचार्य याज्ञवल्क्य एक समय (वैदेहम्) विदेहदेश के अधिपति (जनकम्) जनक महाराज के निकट योगक्षेम के लिये (जगाम) गये (सः)उन्होंने जाते हुए (इति) ऐसा (मेने) मन में विचार किया कि आज मैं अध्यात्मविषय में कुछ भी (न) नहीं (वदिष्ये) उपदेश करूँगा ! इस प्रकार संकल्प वाले होने पर भी याज्ञवल्क्य ने, जो भी जनक ने पूछा वह सभी बतलाया इस विषय में श्रुति आख्यायिका बतलाती है (अथ) एक समय (यत्) जब (ह) सुप्रसिद्ध (वैदेहः) विदेहदेश के अधिपति (जनकः) जनक महाराज (च) और (याज्ञवल्क्यः) आचार्य याज्ञवल्क्य ने (च) भी (अग्निहोत्रे) अग्निहोत्र के विषय में (समूदाते) परस्पर संवाद किया था उसमें जनक के कर्म विषयक विज्ञानवैशद्य को देखकर उससे परितुष्ट (याज्ञवल्क्यः) याज्ञवल्क्य मुनि नें (तस्मै) उस जनक महाराज के लिये (वरम्) वर को (ददौ) दिया था (ह) यह बात सब लोगों में प्रसिद्ध है और (ह) सुप्रसिद्ध (सः) उस जनक महाराज ने (कामप्रश्नम्) अपेक्षितांश प्रश्न को (एव) ही (वव्रे) वर माँगा (ह) सुप्रसिद्ध याज्ञवल्क्य महर्षि ने (अस्मै) इस जनक

महाराज के लिये (तम्) उस अपेक्षितांश प्रश्न रूप वर को (ददौ) दे दिया उस वरदान के सामर्थ्य से (ह) सुप्रसिद्ध चुप बैठे हुए (तम्) उस याज्ञवल्क्य से (पूर्वः) पहले (सम्राट्) सम्राट् जनक ने (एव) ही (पप्रच्छ) प्रश्न किया ॥१॥

विशेषार्थ– एक समय की बात है कि– सुप्रसिद्ध याज्ञवल्क्य विदेहदेश के अधिपति जनकमहाराज के पास योगक्षेम के लिये गये । क्योंकि लिखा है– **योगक्षेमार्थमीश्वरमभिगच्छेत्** ॥ स्मृति० ॥ योगक्षेम के लिये राजा के पास जाय ॥ मार्ग में जाते हुए आचार्य याज्ञवल्क्य ने अपने मन में ऐसा विचार किया कि– आज मैं अध्यात्म विषय में राजा से कुछ भी नहीं बोलूँगा । केवल चुप-चाप बैठकर कुछ सुना करूँगा । इस प्रकार संकल्प करने पर भी, आचार्य याज्ञवल्क्य से जो जो भी जनक महाराज ने पूछा वह सभी बतलाया । इस विषय में श्रुति आख्यायिका बतलाती है कि– एक समय आचार्य याज्ञवल्क्य और विदेहदेश के अधिपति जनक महाराज का परस्पर संवाद अग्निहोत्र के विषय में हुआ था । उस समय जनक महाराज के अग्निहोत्र विषयक विज्ञान वैशद्य को देखकर, संतुष्ट हो याज्ञवल्क्य महर्षि ने उस जनक महाराज को वरदान दिया । यह बात सब लोगों में प्रसिद्ध है और उस जनक महाराज ने अपेक्षितांश प्रश्न को ही वर माँगा । और आचार्य याज्ञवल्क्य ने उन्हें यह अपेक्षितांश प्रश्न रूप वर दे दिया । उस वरदान के सामर्थ्य से कुछ कहने की इच्छा वाले न होने और चुप बैठे रहने पर भी पहले सम्राट् जनक ने ही आचार्य याज्ञवल्क्य से पूछा ॥१॥

याज्ञवल्क्य किंज्योतिरयं पुरुष इति । आदित्यज्योतिः सम्राडिति होवाच । आदित्येनैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीति । एवमेवैतद् याज्ञवल्क्य ॥२॥

अन्वयार्थ– (याज्ञवल्क्य) हे आचार्य याज्ञवल्क्य (अयम्) यह (पुरुषः) पुरुष (किंज्योतिः) किस ज्योतिवाला है (इति) इस प्रश्न को सुनकर (ह) सुप्रसिद्ध याज्ञवल्क्य ने (इति) ऐसा (उवाच) कहा कि (सम्राट्) हे सम्राट् (आदित्यज्योतिः) सूर्यज्योति वाला यह पुरुष है (अयम्) यह पुरुष (आदित्येन) सूर्यरूप (ज्योतिषा) ज्योति से (एव) ही (आस्ते) बैठता है और (पल्ययते) इधर उधर जाता है तथा (कर्म) विविध लौकिक वैदिक कर्मको (कुरुते) करता है (विपल्येति) पुनः लौट कर आता है (इति) इस वचन को सुनकर जनक महाराज ने कहा कि (याज्ञवल्क्य)

हे आचार्य याज्ञवल्क्य (एतत्) यह बात (एवम्) ऐसी (एव) ही है ॥२॥

विशेषार्थ– जनक महाराज ने पूछा कि–हे आचार्य ! याज्ञवल्क्य यह पुरुष किस ज्योति वाला है ? अर्थात् इस पुरुष के आसन गमन कर्म और निवृत्ति की आदि साधन भूत ज्योति क्या है ? यहाँ पर "ज्योतिष्" शब्द प्रकाश वाचक है । क्योंकि लिखा है– ज्योतिर्भद्योतदृष्टिषु ॥ (अमर० कां० ३ व० ३ श्लो० २३०) ज्योतिष् शब्द, ज्योतिर्विद्या १, तारा २, प्रकाश ३, और दृष्टि ४ में प्रयुक्त होता है ॥२३०॥ जनक महाराज के प्रश्न को सुनकर सुप्रसिद्ध आचार्य याज्ञवल्क्य ने ऐसा कहा कि– हे सम्राट् जनक ! आदित्य ज्योति वाला यह पुरुष है । क्योंकि आदित्यरूप ज्योति से ही यह पुरुष बैठता है और इधर उधर सब ओर जाता है तथा अनेक प्रकार के लौकिक, वैदिक कर्म को करता है । और पुनः अपने स्थान पर लौट आता है । यह सब व्यवहार आदित्यरूप ज्योति से ही करता है इस कारण से यह पुरुष आदित्य ज्योतिवाला है । इस उत्तर को सुनकर जनक महाराज ने कहा कि– हे आचार्य याज्ञवल्क्य ! जैसा आप कहते हैं, यह ऐसा ही है ॥२॥

अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य किंज्योतिरेवायं पुरुष इति चन्द्रमा एवास्य ज्योतिर्भवतीतिचन्द्रमसैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीत्येवमेव याज्ञवल्क्य ॥३॥

अन्वयार्थ– (याज्ञवल्क्य) हे आचार्य याज्ञवल्क्य (आदित्ये) सूर्य के (अस्तमिते) अस्त हो जाने पर (अयम्) यह (पुरुषः) पुरुष (किंज्योतिः) किस ज्योति वाला (एव) निश्चय करके रहता है (इति) इस प्रश्न को सुन कर सुप्रसिद्ध याज्ञवल्क्य मुनि ने कहा कि उस समय (चन्द्रमा) चन्द्रमा (एव) ही (अस्य) इस पुरुष की (ज्योतिः) ज्योति (भवति) होता है (इति) क्योंकि (अयम्) यह पुरुष (चन्द्रमसा) चन्द्रमा रूप (ज्योतिषा) ज्योति से (एव) ही (आस्ते) बैठता है और (पल्ययते) इधर उधर जाता है तथा (कर्म) विविध लौकिक वैदिक कर्म को (कुरुते) करता है और (विपल्येति) पुनः लौटकर आता है (इति) इस वचन को सुनकर जनक महाराज ने कहा कि (याज्ञवल्क्य) हे आचार्य याज्ञवल्क्य (एतत्) यह बात (एवम्) ऐसी (एव) ही है ॥३॥

विशेषार्थ– जनक महाराज ने पूछा कि– हे आचार्य याज्ञवल्क्य ! सूर्य के अस्त हो जाने पर यह पुरुष किस ज्योतिवाला होता है ? अर्थात् सूर्यास्त होने पर इस पुरुष

के आसन गमन कर्म और निवृत्ति के आदि साधनभूत ज्योति क्या है ? जनक महाराज के इस प्रश्न को सुनकर सुप्रसिद्ध याज्ञवल्क्याचार्य ने कहा कि, सूर्यास्त होने पर चन्द्रमा ही इस पुरुष की ज्योति होता है । क्योंकि चन्द्रमारूपज्योति से ही यह पुरुष बैठता है और इधर उधर सब ओर जाता है । तथा अनेक प्रकार के लौकिक वैदिक कर्म को करता है । और पुनः अपने स्थान पर लौट आता है । यह सब व्यवहार चन्द्रमा रूप ज्योति से ही करता है, इस कारण से यह पुरुष चन्द्रमा ज्योति वाला है । इस उत्तर को सुनकर जनक महाराज ने कहा कि– हे आचार्य याज्ञवल्क्य ! जैसा आप कहते हैं यह ऐसा ही है ॥३॥

अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमस्यस्तमिते किंज्योतिरेवायं पुरुष इत्यग्निरेवास्य ज्योतिर्भवतीत्यग्निनैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥४॥

अन्वयार्थ– (याज्ञवल्क्य) हे आचार्य याज्ञवल्क्य (आदित्ये) सूर्य के (अस्तमिते) अस्त हो जाने पर और (चन्द्रमसि) चन्द्रमा के (अस्तमिते) अस्त हो जाने पर (अयम्) यह (पुरुषः) पुरुष (किंज्योतिः) किस ज्योति वाला (एव) निश्चय करके रहता है (इति) इस प्रश्न को सुनकर सुप्रसिद्ध याज्ञवल्क्यमुनि ने कहा कि उस समय (अग्निः) अग्नि (एव) ही (अस्य) इस पुरुष की (ज्योतिः) ज्योति (भवति) होती है (इति) क्योंकि (अयम्) यह पुरुष (अग्निना) अग्निरूप (ज्योतिषा) ज्योति से (एव) ही (आस्ते) बैठता है और (पल्ययते) इधर उधर जाता है तथा (कर्म) विविध लौकिक वैदिक कर्म को (कुरुते) करता है और (विपल्येति) पुनः लौटकर आता है (इति) इस वचन को सुनकर जनक महाराज ने कहा कि (याज्ञवल्क्य) हे आचार्य याज्ञवल्क्य (एतत्) यह बात (एवम्) ऐसी (एव) ही है ॥४॥

विशेषार्थ– जनक महाराज ने पूछा कि– हे आचार्य याज्ञवल्क्य ! सूर्य के अस्त हो जाने पर और चन्द्रमा के अस्त हो जाने पर रात्रि में यह पुरुष किस ज्योति वाला होता है ? अर्थात् सूर्यास्त होने पर और चन्द्रास्त होने पर कृष्णरात्रि में इस पुरुष को आसन गमन कर्म और निवृत्ति का आदि साधन भूत ज्योति क्या है ? जनक महाराज के इस प्रश्न को सुनकर सुप्रसिद्ध याज्ञवल्क्याचार्य ने कहा कि सूर्यास्त होने पर और चन्द्रास्त होने पर उस समय कृष्णरात्रि में अग्नि ही इस पुरुष की ज्योति होती है क्योंकि अग्निरूप ज्योति से ही यह पुरुष बैठता है । और इधर उधर सब ओर

जाता है। तथा अनेक प्रकार का लौकिक, वैदिक कर्म करता है। और पुनः अपने स्थान पर लौट आता है। यह सब व्यवहार उस समय अग्निरूप ज्योति से ही करता है इस कारण से यह पुरुष अग्नि ज्योति वाला है। इस उत्तर को सुनकर जनक महाराज ने कहा कि– हे आचार्य याज्ञवल्क्य ! जैसा आप कहते हैं। यह ऐसा ही है ।।४।।

अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमस्यस्तमिते शान्तेऽग्नौ किं ज्योतिरेवायं पुरुष इति वागेवास्य ज्योतिर्भवतीति वाचैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीति । तस्माद्वै सम्राडपि यत्र स्वः पाणिंर्न विनिर्ज्ञायतेऽथ यत्र वागुच्चरत्युपैव तत्रन्येतीत्येव-मेवैतद्याज्ञवल्क्य ।।५।।

अन्वयार्थ– (याज्ञवल्क्य) हे आचार्य याज्ञवल्क्य (आदित्ये) सूर्य के (अस्तमिते) अस्त हो जाने पर और (चन्द्रमसि) चन्द्रमा के (अस्तमिते) अस्त हो जाने पर तथा (अग्नौ) अग्नि के भी (शान्ते) शान्त हो जाने पर (अयम्) यह (पुरुषः) पुरुष (किंज्योतिः) किस ज्योतिवाला (एव) निश्चय करके रहता है (इति) इस प्रश्न को सुनकर सुप्रसिद्ध याज्ञवल्क्य मुनि ने कहा कि– (वाक्) शब्द (एव) ही (अस्य) इस पुरुष की (ज्योतिः) ज्योति (भवति) होता है (इति) क्योंकि (अयम्) यह पुरुष (वाचा) शब्दरूप (ज्योतिषा) ज्योति से (एव) ही (आस्ते) बैठता है और (पल्ययते) इधर उधर जाता है तथा (कर्म) विविध लौकिक वैदिक कर्म को (कुरुते) करता है और (विपल्येति) पुनः लौट कर आता है (इति) इस विषय में उपपत्ति बतलायी जाती है (सम्राट्) हे सम्राट् जनक (तस्मात्) उसी कारण से (वै) निश्चय करके (यत्र) जिस समय वर्षाकाल में मेघ के अन्धकार में (स्वः) अपना (पाणिः) हाथ (अपि) भी (न) नहीं (विनिर्ज्ञायते) विशेष रूप से जाना जाता है (अथ) और (यत्र) जहाँ देवदत्त के पास मैं बैठा हूँ ऐसा (वाक्) शब्द (उच्चरति) उच्चारण किया जाता है (तत्र) वहाँ (एव) ही (उप) उसके समीप में (न्येति) पुरुष निश्चय चला जाता है (इति) इस वचन को सुनकर जनक महाराज ने कहा कि (याज्ञवल्क्य) हे आचार्य याज्ञवल्क्य (एतत्) यह बात (एवम्) ऐसी (एव) ही है ।।५।।

विशेषार्थ– जनक महाराज ने पूछा कि– हे आचार्य याज्ञवल्क्य ! सूर्य के अस्त हो जाने पर और चन्द्रमा के अस्त हो जाने पर तथा अग्नि के भी शान्त हो जाने पर

यह पुरुष किस ज्योति वाला होता है ? अर्थात् सूर्यास्त होने पर और चन्द्रास्त होने पर तथा आग बुझ जाने पर इस पुरुष के आसन गमन कर्म और निवृत्ति के आदि साधनभूत ज्योति क्या है ? जनक महराज के इस प्रश्न को सुनकर सुप्रसिद्ध याज्ञवल्क्याचार्य ने कहा कि– शब्द ही इस पुरुष की ज्योति होता है। यहाँ पर "वाक्" इस शब्द से शब्द ग्रहण किया जाता है। और शब्द रूप विषय से श्रोत्र प्रकाशक होता है। क्योंकि यह पुरुष शब्द रूप ज्योति से ही बैठता है। और इधर उधर सब ओर जाता है तथा अनेक प्रकार के लौकिक, वैदिक कर्म को करता है। और पुनः अपने स्थान पर लौट आता है। यह सब व्यवहार उस समय शब्द रूप ज्योति से ही करता है, इस कारण से यह पुरुष शब्द ज्योति वाला है। इस विषय में आगे उपपत्ति अब बतलायी जाती है कि– हे सम्राट् जनक ! उसी कारण से निश्चय करके जिस समय वर्ष काल में मेघ के अन्धकार में अपने हाथ का भी स्पष्टतया भास नहीं होता है, उस समय समस्त बाह्य ज्योतियों के अभाव होने से जहाँ शब्द का उच्चारण होता है अर्थात् मैं देवदत्त नाम वाला यहाँ पर बैठा हूँ। ऐसा शब्द जहाँ उच्चारण होता है। वहाँ उस देवदत्त के पास शब्द की सहायता से पुरुष चला जाता है। इस उत्तर को सुनकर जनक महाराज ने कहा कि– हे आचार्य याज्ञवल्क्य ! जैसा आप कहते हैं यह ऐसा ही है ॥५॥

अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमस्यस्तमिते शान्तेऽग्नौ शान्तायां वाचि किं ज्योतिरेवायं पुरुष इत्यात्मैवास्य ज्योतिर्भवत्यात्मनैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥६॥

अन्वयार्थ– (याज्ञवल्क्य) हे आचार्य याज्ञवल्क्य (आदित्ये) सूर्य के (अस्तमिते) अस्त हो जाने पर और (चन्द्रमसि) चन्द्रमा के (अस्तमिते) अस्त हो जाने पर तथा (अग्नौ) अग्नि के (शान्ते) शान्त हो जाने पर और (वाचि) शब्द के (शान्तायाम्) शान्त हो जाने पर (अयम्) यह (पुरुषः) पुरुष (किंज्योतिः) किस ज्योति वाला (एव) निश्चय करके रहता है (इति) इस प्रश्न को सुनकर सुप्रसिद्ध याज्ञवल्क्य मुनि ने कहा कि उस स्वप्न समय में (आत्मा) आत्मा (एव) ही (अस्य) इस पुरुष की (ज्योतिः) ज्योति (भवति) होती है क्योंकि (आत्मना) आत्मारूप (ज्योतिषा) ज्योति से (एव) ही (अयम्) यह पुरुष (आस्ते) बैठता है और (पल्ययते) इधर

उधर जाता है तथा (कर्म) विविध लौकिक वैदिक कर्म को (कुरुते) करता है और (विपल्येति) पुनः लौट कर आता है (इति) इस वचन को सुनकर जनक महाराज ने कहा कि (याज्ञवल्क्य) हे आचार्य याज्ञवल्क्य (एतत्) यह बात (एवम्) ऐसी (एव) ही है ॥६॥

विशेषार्थ– जनक महाराज ने पूछा कि– हे आचार्य याज्ञवल्क्य ! सूर्य के अस्त हो जाने पर और शब्द के भी शान्त हो जाने पर स्वप्न में यह पुरुष किस ज्योतिवाला होता है ? जनक महाराज के इस प्रश्न को सुनकर सुप्रसिद्ध आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– हे सम्राट् ! उस स्वप्न में आत्मा ही इस पुरुष की ज्योति होती है । क्योंकि यह पुरुष आत्म रूप ज्योति से ही बैठता है । और इधर उधर सब ओर जाता है । तथा अनेक प्रकार के लौकिक, वैदिक कर्म को करता है । और फिर अपने स्थान पर लौट आता है । यह सब व्यवहार स्वप्नावस्था में आत्मारूप ज्योति से ही करता है, इस कारण से यह पुरुष आत्मरूप ज्योति वाला है । इस उत्तर को सुनकर जनक महाराज ने कहा कि– हे आचार्य याज्ञवल्क्य ! जैसा आप कहते हैं यह ऐसा ही है ॥६॥

कतम आत्मेति । योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः । स समानः सन्नुभौ लोकावनुसंचरति ध्यायतीव लेलायतीव । स हि स्वप्नो भूत्वेमं लोकमतिक्रामति मृत्यो रूपाणि ॥७॥

अन्वयार्थ– (आत्मा) आत्मा (कतमः) कौन है (इति) इस प्रश्न को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि (यः) जो (अयम्) यह (प्राणेषु) इन्द्रियों में (विज्ञानमयः) अत्यन्त ज्ञानवान् है तथा (हृदि) हृदय में रहती है ओर (अन्तर्ज्योतिः) अभ्यन्तर में प्रकाश वाला (पुरुषः) पुरुष जीवात्मा है (सः) परमात्मायत्तकर्तृत्व भी वह जीव (समानः) स्वातन्त्र्याभिमानयुक्त (सन्) होता हुआ गोपुरधारी के समान (ध्यायति) ध्यान करते हुए के (इव) समान तथा (लेलायति) अभिलाषा करते हुए के (इव) समान अथवा अधिक चलते हुए के समान अर्थात् स्वतन्त्रकर्ता के समान (उभौ) दोनों (लोकौ) लोकों में अर्थात् इस लोक में और परलोक में (अनु) पश्चात् (संचरति) गमन करता है (हि) निश्चय करके (सः) वह जीव (स्वप्नः) स्वप्नावस्थ यानी व्याघ्रादि शरीरग (भूत्वा) होकर (इमम्) इस (लोकम्) परिदृश्यमान जाग्रत् प्रपञ्च को और (मृत्योः) संसार के (रूपाणि) दुःखरूप मानुषादि शरीरों को (अतिक्रामति)

लाँघ जाता है यानी नहीं देखता है ।।७।।

विशेषार्थ— जनक महाराज ने पूछा कि— हे आचार्य याज्ञवल्क्य ! आपने पूर्व में कहा है कि इस पुरुष की आत्मा ही ज्योति होती है । अतः यहाँ सन्देह होता है कि— आत्मा कौन है ? क्या इन्द्रिय है अथवा अन्तःकरण अथवा इन्द्रिय सहित यह समुदाय शरीर आत्मा है या इनसे कोई भिन्न आत्मा है । इस प्रश्न को सुनकर आचार्य याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि— जो यह इन्द्रियों के मध्य में विराजता हुआ अत्यन्त ज्ञानवान् है, वह आत्मा है । "विज्ञानमय" यहाँ पर प्राचुर्य अर्थ में मयट्प्रत्यय होता है । प्राचुर्य का आधिक्य अर्थ होता है । और "प्राणेषु" यहाँ यह सप्तमी व्यतिरेक प्रदर्शित करने के लिये है । तथा "प्राण" शब्द इन्द्रिय वाचक है । और जो सबके हृदय में रहता है तथा जिनके अभ्यन्तर में सूर्यादिक के समान ज्योति हो वह पुरुष जीवात्मा है । परमात्मायत्तकर्तृत्व भी जीवात्मा **अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥** (गी० अ० ३ श्लोक २७) अहंकार से विमूढ मनवाला मैं करनेवाला हूँ ऐसा मानता है ।।२७।। इस उक्त रीति से स्वातन्त्र्याभिमानयुक्त होता हुआ गोपुरधारी के सदृश, ध्यान करते हुए के सदृश और अभिलाषा करते हुए के समान अथवा अधिक चञ्चल हुए के समान अर्थात् स्वतन्त्रकर्ता के सदृश दोनों लोकों में संचार करता है । और निश्चय करके वह जीवात्मा स्वप्नावस्था में व्याघ्रादि शरीरग होकर इस परिदृश्यमान जाग्रत् प्रपञ्च को और संसार के दुखः रूप मानुषादिशरीरों को अतिक्रमण करता है अर्थात् नहीं देखता है । इससे सिद्ध हो गया कि शरीर, इन्द्रिय, मन, प्राण, बुद्धि प्रभृति से भिन्न जीवात्मा है । श्रीभाष्यनिर्माता भगवद्रामानुजाचार्यने— **अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॥** (शा० मी० अ० १ पा० १ सू० १) **सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन ॥** (शा० मी० अ० १ पा० ३ सू० ३४) ज्ञोऽतएव (शा० मी० अ० २ पा० ३ सू० १९) **नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात् ॥** (शा० मी० अ० २ पा० ३ सू० २२) **अवस्थितिवैशेष्यादिति चेन्नाभ्युपगमाद्धृदि हि ॥** (शा० मी० अ० २ पा० ३ सू० २५) इन पाँचों सूत्रों के श्रीभाष्य में "बृहदारण्यकोपनिषद्" के चतुर्थ अध्याय के तृतय ब्राह्मण की सातवीं कण्डिका के पूर्वार्ध को उद्धृत किया है ।।७।।

स वा अयं पुरुषो जायमानः शरीरमभिसंपद्यमानः पाप्मभिः संसृज्यते स उत्क्रामन् म्रियमाणः पाप्मनो विजहाति ।।८।।

अन्वयार्थ— (वै) निश्चय करके (सः) वह (अयम्) यह (पुरुषः) पुरुष यानी

जीवात्मा (जायमानः) उत्पन्न होती हुई अर्थात् (शरीरम्) शरीर को (अभिसंपद्यमानः) भलीभाँति प्राप्त करती हुई (पाप्मभिः) सब पापों से (संसृज्यते) सम्मिलित हो जाती है और (सः) वह जीवात्मा (म्रियमाणः) मरता हुआ अर्थात् (उत्क्रामन्) शरीर से निकल कर ऊपर को जाती है तब (पाप्मनः) सब पापों को (विजहाति) विशेष रूप से छोड़ देती है ॥८॥

विशेषार्थ– अब यहाँ पर जीवात्मा का पाप सम्बन्ध औपाधिक कहा जाता है कि– वह यह प्रकृत पुरुष (जीवात्मा) उत्पन्न होता हुआ अर्थात् शरीर को प्राप्त करता हुआ सब पापों से संश्लिष्ट हो जाता है। अर्थात् जीवात्मा के शरीर संबन्धोपाधिक पापसंबन्ध होता है। यहाँ पर "जायमानः" इसी का "शरीरम् + अभिसंपद्यमानः" व्याख्यान है जीवात्मा को शरीर संबन्ध ही जन्म है। क्योंकि लिखा है– न जायते म्रियते वा कदाचिद् (गी० अ० २ श्लो० २०) जीवात्मा न कभी जन्मती है और न मरती ही है ॥२०॥ और जब वह जीवात्मा मरती है अर्थात् चरम शरीर से निकल कर ऊपर को जाती है तब सब पापों को त्याग कर देती है ॥८॥

तस्य वा एतस्य पुरुषस्य द्वे एव स्थाने भवत इदं च परलोकस्थानं च। संध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानम्। तस्मिन् सन्ध्ये स्थाने तिष्ठन्नेते उभे स्थाने पश्यतीदं च परलोकस्थानञ्च। अथ यथाक्रमोऽयं परलोकस्थाने भवति तमाक्रममाक्रम्योभयान् पाप्मन आनन्दाँश्च पश्यति। स यत्र प्रस्वपित्यस्य लोकस्य सर्वावतो मात्रामपादाय स्वयं विहत्य स्वयं निर्माय स्वेन भासा स्वेन ज्योतिषाप्रस्वपित्यत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवति ॥९॥

अन्वयार्थ– (वै) निश्चय करके (तस्य) उस (एतस्य) इस (पुरुषस्य) पुरुष नामधारी जीवात्मा के (द्वे) दो (एव) ही (स्थाने) स्थान (भवतः) होते हैं (इदम्) यह लोक स्थान (च) और (परलोकस्थानम्) परलोकस्थान (च) तथा (सन्ध्यम्) जाग्रत् और सुषुप्ति की सन्धि में होने वाला (स्वप्नस्थानम्) स्वप्नरूपस्थान (तृतीयम्) तृतीयस्थान होता है क्योंकि जाग्रत् पुरुष केवल प्रत्यक्षदृश्यमान इस लोक को ही देखता

है और स्वप्नावस्थपुरुष तो कभी इस लोक को ही देखता है तथा कभी परलोक यानी स्वर्गनरकादिक को देखता है इससे स्थानद्वयदर्शनयोग्य विलक्षण यह स्वप्नावस्था है (तस्मिन्) उस (सन्ध्ये) जाग्रत् ओर सुषुप्ति की सन्धि में होने वाले (स्थाने) तृतीय स्वप्नस्थान में (तिष्ठन्) स्थित रहता हुआ (एते) इस (उभे) दोनों (स्थाने) स्थानों को (पश्यति) देखता है । अब दोनों स्थानों को बतलाया जाता है कि (इदम्) यह प्रत्यक्ष दृश्यमान लोकस्थान (च) और (परलोकस्थानम्) परलोकस्थान (च) ये दो स्थान हैं (अथ) और (अयम्) यह पुरुष (परलोकस्थाने) परलोक स्थान में (यथा) जैसा (आक्रमः) पुण्यपापरूपआश्रयविशिष्ट (भवति) सुख और दुःख का अनुभव करता है वैसे ही (तम्) उस पुण्यपापफल लक्षण (आक्रमम्) आश्रय को (आक्रम्य) लेकर स्वप्न में (पाप्मनः) पाप के फलरूप दुःख (च) और (आनन्दान्) आनन्दों को (उभयान्) अर्थात् प्रतिकूल तथा अनुकूल दोनों प्रकार के पदार्थों को (पश्यति) देखता है (सः) वह पुरुष (यत्र) जिस काल में (प्रस्वपिति) स्वप्नक्रीडा करना आरंभ करता है । उस समय (सर्वावतः) समस्त भोग्य भेगोपकारणादियुक्त (अस्य) इस (लोकस्य) जगत् के (मात्राम्) प्रकाशक इन्द्रियवर्ग को (अपादाय) लेकर (स्वयम्) अपने से ही (विहत्य) इन्द्रियवर्ग को निश्चेष्ट यानी निर्व्यापार करके पुनः (स्वयम्) अपने से ही (निर्माय) अदृष्ट द्वारा स्वप्न के पदार्थों को निमार्ण कर (स्वेन)) अपने (भासा) प्रकाश से अर्थात् (स्वेन) निज (ज्योतिषा) ज्योति से (प्रस्वपिति) स्वप्नक्रीडा को आरंभ करता है या शयन करता है (अत्र) इस स्वप्नदशा में (अयम्) यह (पुरुषः) जीवात्मा (स्वयम्) अपने से (ज्योतिः) प्रकाश (भवति) होता है ॥९॥

विशेषार्थ— निश्चय करके उस पुरुष नामधारी जीवात्मा के दो ही स्थान होते हैं ! एक तो यह प्रत्यक्षतया दृश्यमान भोग के लिये प्राप्त जो इस जन्म में गृहीत स्थान है और दूसरा आगामी जन्म का प्राप्तव्य परलोकस्थान है । यद्यपि प्रधानतया ये ही दो स्थान हैं। । तथापि तृतीयस्थान भी होता है । इससे आगे कहा जाता है कि— जाग्रत् सुषुप्ति की सन्धि में होने वाला स्वप्नरूपस्थान तृतीयस्थान होता है । क्योंकि जाग्रत् पुरुष केवल प्रत्यक्ष दृश्यमान इसलोक को ही देखता है । और स्वप्नावस्थपुरुष तो कभी इस लोक को देखता है तथा कभी परलोक को यानी स्वर्ग नरकादिक को देखता है । इससे स्थानद्वयदर्शनयोग्य विलक्षण यह स्वप्नावस्था है । उस जाग्रत् और सुषुप्ति की सन्धि में होने वाले तृतीय स्वप्नस्थान में स्थित रहता हुआ यह पुरुष इस प्रत्यक्षदृश्यमान लोकरूपस्थान और परलोक स्थान इन दोनों को देखता है । और यह पुरुष परलोक स्थान में जैसा पुण्यपापरूपआश्रयविशिष्ट सुख और दुःख का अनुभव करता है, वैसे ही उस पुण्य पाप फललक्षण आश्रय को लेकर स्वप्न में पाप के फलरूप

दु:ख को और पुण्य के फलरूपसुख को अर्थात् प्रतिकूल तथा अनुकूल दोनों प्रकार के पदार्थों को देखता है। यहाँ पर "आनन्द" शब्द सुख वाचक है क्योंकि लिखा है– **स्यादानन्दथुरानन्दः शर्मशातसुखानि च ॥** (अमर॰ कां॰ १ व॰ ४ श्लो॰ २५) आनन्दथु १, आनन्द २, शर्मन् ३, शात ४ और सुख ५ ये हर्ष के नाम हैं ॥२५॥ और वह जीवात्मा जिसकाल में स्वप्नक्रीडा करना आरम्भ करती है उस समय समस्त भोग्य भोगोपाकरणदियुक्त इस जगत् के प्रकाशक इन्द्रियवर्ग को लेकर अपने से ही इन्द्रियवर्ग को निश्चेष्ट यानी निर्व्यापार करके पुनः अपने से ही अदृष्ट द्वारा स्वप्न के पदार्थों को बना कर अपनी दीप्ति से और अपने प्रकाश से विशेष स्वप्न की क्रीडा करना आरम्भ करती है। यहाँ पर "भास्" शब्द दीप्ति वाचक है। क्योंकि लिखा है– **स्युः प्रभारुग्रुचिस्त्विड्भाभाश्छविद्युतिदीप्तयः ॥** (अमर॰ कां॰ १ व॰ ३ श्लो॰ ३४) प्रभा १, रुच् २, रुचि ३, त्विष् ४, भा ५,भास् ६, छवि ७, द्युति ८ और दीप्ति ९ ये दीप्ति के नाम हैं ॥३४॥ इस स्वप्नावस्था में यह जीवात्मा स्वयं ज्योति होती है। अर्थात् इस अवस्था में सूर्यादि ज्योति की अपेक्षा न करके जीवात्मा में जो स्वाभाविक ज्योति है उसी की सहायता से सब क्रीडा करता है। भगवद्गीताभाष्यकर्ता भगवद्रामानुजाचार्य ने– **अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॥** (शा॰ मी॰ अ॰ १ पा॰ १ सू॰ १) के श्रीभाष्य में "बृहदारण्यकोपनिषद्" के चतुर्थ अध्याय के तृतीय ब्राह्मण की नवमी कण्डिका के "अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवति" इस वाक्य को उद्धृत किया है ॥९॥

न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते । न तत्राऽऽनन्दा मुदः प्रमुदो भवन्त्यथाऽऽनन्दान् मुदः प्रमुदः सृजते । न तत्र वेशान्ताः पुष्करिण्यः स्रवन्त्यो भवन्त्यथ वेशान्तान् पुष्करिणीः स्रवन्तीः सृजते स हि कर्त्ता ॥१०॥

अन्वयार्थ– (तत्र) उस स्वप्नावस्था में (रथाः) रथ (न) नहीं हैं और (रथयोगाः) रथ में जोते जाने वाले घोड़े आदिक (न) नहीं हैं और (पन्थानः) रथ के चलने के लिये मार्ग भी (न) नहीं (भवन्ति) हैं (अथ) परन्तु (रथान्) रथों को तथा (रथयोगान्)रथ में जोते जाने वाले घोड़े आदिकों को और (पथः) रथ के चलने के लिये मार्गों को (सृजते) परमात्मा बनाता है और (तत्र) उस स्वप्नावस्था में (आनन्दाः) अनुकूलदर्शन से उत्पन्नप्रीति ओर (मुदः) स्वकीयत्वबुद्धि से उत्पन्नप्रीति तथा (प्रमुदः) विनियोग से उत्पन्न प्रीति (न) नहीं (भवन्ति) हैं (अथ) परन्तु

(आनन्दान्) अनुकूल दर्शन जन्या प्रीति को तथा (मुदः) स्वकीयत्वबुद्धि से उत्पन्नप्रीति को और (प्रमुदः) विनियोग से उत्पन्न प्रीति को (सृजते) परब्रह्म नारायण बनाता है और (तत्र) उस स्वप्नावस्था मं (वेशान्ताः) छोटीतलैया और (पुष्करिण्यः) खात यानी चौकोने तालाब तथा (स्रवनत्यः) नदियाँ (न) नहीं (भवन्ति) हैं (अथ) तथापि (वेशान्तान्) छोटे सरोवरों को तथा (पुष्करिणीः) पुष्यकरिणियों को और (स्रवन्तीः) नदियों को (सृजते) परमेश्वर बना लेता है (हि) निश्चय करके (सः) वह सकलप्रपञ्चनाटक सूत्रधार सर्वेश्वर (कर्त्ता) स्वप्नावस्था में तत्पुरुषकालमात्रानुभाव्यअर्थों का कर्त्ता है ॥१०॥

विशेषार्थ– उस स्वप्नदशा में जाग्रत् दशा के अनुभव के योग्य प्रसिद्ध रथ नहीं हैं। और रथ में जोते जाने वाले अश्वादि वहाँ तैयार नहीं हैं। तथा रथ के चलने के लिये मार्ग भी वहाँ नहीं हैं परन्तु रथों को तथा रथ में जोते जाने वाले घोड़े आदिकों को और रथ के चलने के लिये मार्गों को परब्रह्म नारायण बनाता है। और उस स्वप्नावस्था में जाग्रत् दशा के अनुभव के योग्य अनुकूल दर्शनजन्याप्रीति नहीं है। और स्वकीयत्वबुद्धिजा प्रीति वहाँ मौजूद नहीं है। तथा विनियोगजा प्रीति भी वहाँ नहीं है। परन्तु अनुकूलदर्शन से उत्पन्न प्रीतियों को और स्वकीयत्वबुद्धि से उत्पन्न प्रीतियों को तथा विनियोग से उत्पन्न प्रीतियों को श्रीमन्नारायण ही बनाता है। यहाँ पर अनुकूलदर्शन से उत्पन्नप्रीति को "आनन्द" कहते हैं और स्वकीयत्वबुद्धि से उत्पन्नप्रीति को "मुद्" कहते हैं तथा विनियोग से उत्पन्नप्रीति को "प्रमुद्" कहते हैं। और उस स्वप्नावस्था में जाग्रत् दशा के अनुभव के योग्य छोटीतलैया नहीं हैं। तथा मनुष्य रचित चौकोने तालाब वहाँ मौजूद नहीं हैं। और नदियाँ भी वहाँ नहीं हैं। परन्तु छोटी तलैयों को तथा चौकोने तालाबों को और नदियों को भी परब्रह्म नारायण ही बनाता है। यहाँ पर "वेशान्त" शब्द का अर्थ छोटी तलैया है। क्योंकि लिखा है– **वेशान्तः पल्वलं चाल्पसरः ॥** (अमर० कां० १ व० १० श्लो० २८) वेशान्त १, पल्वल २ और अल्पसरस् ३ ये छोटी तलैया के नाम हैं ॥२८॥ और "पुष्करिणी" शब्द का अर्थ चौकोना तालाब है। क्योंकि लिखा है– **पुष्करिण्यां तु खातं स्यात् ॥** (अमर० कां० १ व० १० श्लो० २७) पुष्करिणी, खात, ये चौकोने तालाब के नाम हैं ॥२॥ तथा "स्रवन्ती" शब्द का अर्थ नदी है क्योंकि लिखा है– **स्रोतस्वती द्वीपवती स्रवन्ती निम्नगापगा ॥** (अमर० कां० १ व० १० श्लो० ३०) स्रोतस्वती १, द्वीपवती २, स्रवन्ती ३, निम्नगा ४ और अपगा ५ ये नदी के नाम है ॥३०॥ जो परब्रह्म नारायण– **विश्वस्य कर्त्ता ॥** (मुण्डको० मुं० १ खं० १ श्रु० १) समस्त भुवन का रचयिता है ॥१॥ वही निश्चय करके सकलप्रपञ्चनाटक सुत्रधार सर्वेश्वर स्वप्नावस्था में तत्तपुरुषकालमात्रानुभाव्य

अर्थों का निमार्ण कर्ता है। स्वप्नार्थ, शुभाशुभ सूचक होता है। क्योंकि लिखा है— **यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति । समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन् स्वप्ननिदर्शने ॥** (छां० उ० प्र० ५ खं० २ श्रु० ८) जिस समय काम्यकर्मों में स्वप्न में सुन्दर स्त्री को उपासक देखे तो उस स्वप्नदर्शन के होने पर उस काम्यकर्म में कर्मफल निष्पत्ति को जाने ॥८॥ **स्वप्ने पुरुषं कृष्णं कृष्णदन्तं च पश्यति स एनं हन्ति ॥** (आर० ३।३।४।१७) स्वप्न में काले पुरुष को और काले दातों को कोई देखता है उसको वह मारता है ॥१७॥ वेदार्थसंग्रहग्रन्थनिर्माता भगवद्रामानुजाचार्यने— **अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॥** (शा० मी० अ० १ पा० १ सू० १) **सन्ध्ये सृष्टिराह हि ॥** (शा० मी० अ० ३ पा० २ सू० १) **मायामात्रं तु कात्स्न्र्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात् ॥** (शा० मी० अ० ३ पा० २ सू० ३) **तन्वभावे सन्ध्यवदुपपत्तेः ॥** (शा० मी० अ० ४ पा० ४ सू० १३) इन् चार सूत्रों के श्रीभाष्य में "बृहदारण्यकोपनिषद्" के चतुर्थ अध्याय के तृतीय ब्राह्मण की दसवीं कण्डिका के पदों को उद्धृत किया है ॥१०॥

तदेते श्लोका भवन्ति । स्वप्नेन शारीरमभिप्रहत्यासुप्तः सुप्तानभिचाकशीति । शुक्रमादाय पुनरैति स्थानं हिरणमयः पुरुष एक हंसः ॥११॥

अन्वयार्थ— (तत्) उस सुप्तविषय में (एते) ये आगे कहे जानेवाले (श्लोकाः) श्लोकरूपमंत्र प्रमाण (भवन्ति) प्रवृत्त होते हैं (स्वप्नेन) स्वप्न से उपलक्षित आत्मा (शरीरम्) पाञ्चभौतिक शरीर को (अभिप्रहत्य) भलीभाँति निश्चेष्ट बनाकर (असुप्तः) अपने अलुप्तप्रकाश हुआ (सुप्तान्) सोये हुए समस्त प्राणों को (अभिचाकशीति) चारों तरफ से पर्यटन करता है वह (हिरण्मयः) प्रकाशमय (पुरुषः) शरीररूप में शयन करनेवाला पुरुष (एकहंसः) अकेला ही चलता है इसलिये एकहंस आत्मा (शुक्रम्) ज्योतिष्मत्प्रकाश मनआदिक इन्द्रियवर्ग को (आदाय) लेकर स्वप्नान्त में (पुनः) फिर भी (स्थानम्) अपने जागरणस्थान को (आ+एति) आता है ॥११॥

विशेषार्थ— उस पूर्वोक्त सुप्त के विषय में ये आगे कहे जाने वाले श्लोकरूप मंत्र प्रमाण प्रवृत्त होते हैं। अब आगे मन्त्रार्थ कहा जाता है। स्वप्न से उपलक्षित आत्मा पाञ्चभौतिक शरीर को इन्द्रियों के सहित निश्चेष्ट कर स्वयं अलुप्त प्रकाश हुई सोये हुए सम्पूर्ण प्राणों को चारों तरफ से पर्यटन करती है। "कश गतिशासनयोः" इस धातु से यङ् लुगन्त में "चाकशीति" प्रयोग होता है। वह प्रकाशमय, शरीररूप पुर में शयन करने वाला पुरुष, अकेला ही चलता है, इसलिये एकहंस, आत्मा ज्योतिष्मत् प्रकाश स्वरूपमन आदिक इन्द्रियवर्ग को लेकर स्वप्न के अन्त में पुनः अपने

जागरणस्थान को आता है ॥११॥

प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायं बहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा। स ईयतेऽमृतो यत्र कामं हिरणमयः पुरुष एकहंसः ॥१२॥

अन्वयार्थ– (सः) वह (अमृतः) मरणधर्म से रहित (हिरण्मयः) प्रकाशमय (पुरुषः) शरीर रूप पुर में निवास करनेवाला पुरुष (एकहंसः) अकेला ही चलता है इसलिये एकहंस जीवात्मा (अवरम्) निकृष्ट स्थूल शरीर रूप (कुलायम्) घोसले को (प्राणेन) पाँचवृत्तिवाले प्राण से (रक्षन्) रक्षा करता हुआ (कुलायात्) जाग्रत् शरीर रूप नीड़ से (बहिः) बाहर निकल कर (यत्र) जहाँ (कामम्) भोग्यवस्तु है वहाँ सर्वत्र (चरित्वा) विचर कर फिर भी (अमृतः) अमरधर्मा जीवात्मा अपने स्थान को (ईयते) चली जाती है ॥१२॥

विशेषार्थ– वह मरणधर्मशून्य प्रकाशमय सब प्रकार के शरीर में निवास करनेवाला पुरुष एकाकी सर्वत्र विचरण करनेवाला एकहंस जीवात्मा नीच निकृष्ट स्थूल शारीररूप घोसले को प्राण अपान आदिक पाँच वृत्तियों वाले प्राण से परिपालन करता हुआ जाग्रत् शरीररूप घोंसले से बाहर निकल कर जहाँ भोग्य वस्तु है वहाँ विचरण करके मरणधर्मशून्य जीवात्मा अपने स्थान को चली जाती है। इस श्रुति में "कुलाय" शब्द का अर्थ घोसला है। क्योंकि लिखा है– **कुलायो नीडमस्त्रियाम्** ॥ (अमर० कां० २ व० ५ श्लोक ३७) कुलाय १, नीड २ ये घोसले के नाम हैं ॥३७॥ "एकः हन्तीति एकहंसः" इस व्युत्पत्ति में सकार वर्ण का आगम होकर "एकहंसः" पद निष्पन्न होता है। इससे इसका यह अर्थ होता है कि– अकेला चलता है ॥११॥

स्वप्नान्त उच्चावचमीयमाने रूपाणि देवः कुरुते बहूनि। उतेव स्त्रीभिः सह मोदमानो जक्षदुतेवापि भयानि पश्यन् ॥१३॥

अन्वयार्थ– (स्वप्नान्ते) स्वप्न के मध्य में (उच्चावचम्) पुण्य पाप लक्षण उत्कृष्ट और अपकृष्ट भाव को (ईयमानः) प्राप्त होता हुआ (देवः) द्योतमान जीवात्मा (बहूनि) बहुत से देवादि के (रूपाणि) रूपों को (कुरुते) बनाता है (उत) कभी (स्त्रिभिः) स्त्रियों के (सह) साथ (मोदमानः) आनन्द अनुभव करता हुआ (इव) सा (अपि) और (उत) कभी (जक्षत्) हंसता हुआ (इव) सा तथा कभी (भयानि) भय जनक

व्याघ्रादिकों को (पश्यन्) देखता हुआ सा रहता है ॥१३॥

विशेषार्थ– स्वप्न के मध्य में पुण्य पाप लक्षण उत्कृष्ट और अपकृष्ट भाव को अर्थात् ऊँच तथा नीच भाव को प्राप्त होता हुआ वह द्योतमान जीव अनेक प्रकार के देवादिकों के रूपों को बनाता है । इसी को आगे स्पष्ट श्रुति कहती है कि– कभी स्त्रियों के आनन्द अनुभव करता हुआ सा रहता है तथा कभी भयजनक सिंह, व्याघ्र, हाथी और सर्पादिकों को देखता हुआ सा जीव रहता है ॥१३॥

आराममस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चनेति । तं नाऽऽयतं बोधयेदित्याहुः । दुर्भिषज्यं हास्मै भवति यमेष न प्रतिपद्यते । अथो खल्वाहुर्जागरितदेश एवास्यैष इति यानि ह्येव जाग्रत् पश्यति तानि सुप्त इति । अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवति । सोऽहं भगवते सहस्रं ददामि । अत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीति ॥१४॥

अन्वयार्थ– (अस्य) इस जीवात्मा के (आरामम्) उपकरणभूत उपवन आदिक को और देह इन्द्रिय आदिक को (पश्यन्ति) सब लोग देखते हैं परन्तु (कश्चन) कोई भी (तम्) उस देहेन्द्रियादिविविक्त तथा बाहर भीतर संचरण करनेवाली जीवात्मा को (न) नहीं (पश्यति) देखता है (इति) यहाँ पर मन्त्र रूप श्लोक समाप्त हो गया (तम्) उस (आयतम्) गाढसुप्त पुरुष को सहसा (न) नहीं (बोधयेत्) जगावे (इति) ऐसा (आहुः) चिकित्सक लोग लोक में कहते हैं उसमें यह दोष भी देखते हैं कि बाहर गयी हुई (एषः) यह जीवात्मा (यम्) जिस देश को (न) नहीं (प्रतिपद्यते) प्राप्त होती है (ह) तो सुप्रसिद्ध यह बात है कि (अस्मै) इस देह के लिये (दुर्भिषज्यम्) कष्टकर वैद्यक्रिया (भवति) हो जाती है (अथो) और (खलु) निश्चय करके कोई अन्य आचार्य (इति) ऐसा (आहुः) कहते हैं कि (जागरितदेशे) जाग्रत् स्थान में (एव) ही (अस्य) इस जीवात्मा के (एषः) यह स्वप्न होता है (हि) क्योंकि (जाग्रत्) जाग्रत दशाओं में लौकिक पुरुष (यानि) जिन स्त्री, माला, चन्दन, अन्न, गज आदिकों को (पश्यति) देखता है (तानि) उन्हीं वनिता स्रक्, चन्दन, अन्न, गजादिकों को (एव) निश्चय करके (सुप्ते) स्वप्न में भी देखता है (इति) इस कारण से परब्रह्म नारायण से बनाया हुआ स्वप्नार्थ है । हे जनक (अत्र) इस स्वप्नावस्था में (अयम्) यह (पुरुषः) जीवात्मा (स्वयम्) अपने से (ज्योतिः) प्रकाश (भवति) होता है इस उपदेश को सुनकर जनक महाराज ने कहा कि हे गुरुदेव इस विद्या की दक्षिणा में (सः) वह आपका

शिष्य (अहम्) जनक नामवाला मैं (भगवते) षडैश्वर्य सम्पन्न पूज्य आपके लिये (सहस्रम्) एक हजार गाय (ददामि) देता हूँ (अतः) इसके (ऊर्ध्वम्) आगे (विमोक्षाय) विशेषरूप से मोक्ष के लिये (एव) ही (ब्रूहि) साधन कहिये (इति) यही मेरी प्रार्थना है अन्य कुछ भी अपेक्षित नहीं है ॥१४॥

विशेषार्थ– सब लोग इस जीवात्मा के उपकरणभूत कृत्रिम उपवन आदिक को और शरीर इन्द्रियादि को ही देखते हैं। परन्तु कोई भी पुरुष उस शरीर इन्द्रिय आदिक से विविक्त और बाहर भीतर सञ्चार करनेवाली जीवात्मा को नहीं देखता है। क्योंकि वह बहुत सूक्ष्म है। यहाँ पर "आराम" शब्द उपवन वाचक है। क्योंकि लिखा है कि– आरामः स्यादुपवनं कृत्रिमं वनमेव यत् ॥ (अमर० कां० २ व० ४ श्लोक २) जो कृत्रिम वन है उसका नाम आराम १ और उपवन २ है ॥२॥ इस वाक्य में "इति" शब्द मन्त्ररूप श्लोक की समाप्ति में प्रयुक्त हुआ है। अब करुणामयी श्रुति लोक की प्रसिद्धि को बतलाती है कि– निश्चय ही देखते हैं कि जीवात्मा स्वप्न में इन्द्रियों को निश्चेष्ट करके बाहर निकलती है इस कारण से उस गाढसुप्त पुरुष को सहसा शीघ्रता में न जगावें। ऐसा लोक में वैद्य लोग कहते हैं। उनमें वे यह दोष भी देखते हैं। सहसा जगाये जाने पर वह एकाएकी जगाया हुआ जिस देश से बाहर गया था उस इन्द्रिय देश को फिर प्राप्त नहीं होता है। यदि कभी विपरीत रूप से इन्द्रियों को प्रविष्ट कर देता है तो अन्धता, बधिरता, शून्यता आदि दोष की प्राप्ति हो जाती है। तब दोष की प्राप्ति होने पर इस देह के लिये दुर्भिषज्य यानी कष्टकर वैद्यक्रिया हो जाती है अर्थात् यह देह कठिनता से चिकित्सा के योग्य हो जाता है और अन्य कोई आचार्य ऐसा कहते हैं कि निश्चय करके जाग्रत् स्थान में ही इस जीवात्मा का यह स्वप्न होता है। क्योंकि जागता हुआ यह पुरुष जिन जिन सिंह, गज, मनुष्यादिकों को देखता है सोता हुआ भी पुरुष उनको ही देखता है। अथवा यह अर्थ है कि– जाग्रत् दशा में लौकिक पुरुष उनको ही देखता है। अथवा यह अर्थ है कि– जाग्रत् दशा में लौकिक पुरुष जिस स्त्री, माला, चन्दन, अन्न, पान, हाथी आदि पदार्थों को देखता है उन्हीं को वह स्वप्न में भी देखता है। इस कारण से स्वप्न के पदार्थों को भी परब्रह्मनारायण ही बनाता है। हे जनक महाराज! इस स्वप्नावस्था में यह जीवात्मा स्वयं ज्योति होती है। इस उपदेश को सुनकर जनक महाराज ने कहा कि– हे आचार्य याज्ञवल्क्य! इस विद्या की दक्षिणा में वह श्रीचरणों का शिष्य जनक नामवाला मैं षडैश्वर्यसम्पन्न पूज्य आपको एक सहस्र गायें देता हूँ। अब उसके आगे मोक्ष के लिये उपदेश कीजिये। जिससे कि आपकी कृपा से मैं संसार से विमुक्त हो जाऊँ। यही मेरी प्रार्थना है। और अन्य कुछ भी नहीं मैं चाहता हूँ ॥१४॥

स वा एष एतस्मिन् संप्रसादे रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं व पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति स्वप्नायैव । स यत्तत्र किञ्चित् पश्यति । अनन्वागतस्तेन भवति । असङ्गो ह्ययं पुरुष इति । एवमेवैतद्याज्ञवल्क्य सोऽहं भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीति ॥१५॥

अन्वयार्थ– (वै) निश्चय करके (सः) वह (एषः) यह जीवात्मा (एतस्मिन्) इस (संप्रसादे) स्वप्नस्थान में जाने की इच्छा होने पर (रत्वा) स्त्रियों के साथ क्रीड़ा कर (च) और (चरित्वा) बन्धु बान्धवों के साथ भ्रमण कर अथवा भक्षण कर (एव) निश्चय करके (पुण्यम्) पुण्य के फल सुख को (च) और (पापम्) पाप के फल दुःख को (दृष्ट्वा) देखकर यानी अनुभव कर (पुनः)) फिर (प्रतिन्यायम्) जिस प्रकार आया था उसी प्रकार उलटे वापस होता हुआ (प्रतियोनि) उसी स्थान के प्रति (स्वप्नाय) स्वप्न अनुभवकरने के लिये (एव) ही (आद्रवति) लौट आता है (तत्र) उस जाग्रत् दशा में (सः) वह पुरुष (यत्) जो (किञ्चित्) कुछ मनुष्य व्याघ्रशरीरादिक को आत्मीयत्वेन (पश्यति) देखता है (तेन) उस देखे हुए शरीरादिक से (अनन्वागतः) संबन्धरहित जीवात्मा (भवति) होता है (हि) क्योंकि (अयम्) यह (पुरुषः) जीवात्मा (असङ्गः) कर्माविद्योपाधिक शरीरेन्द्रियसंघातादि से असंग है (इति) इस उपदेश को सुनकर जनक महाराज ने कहा कि (याज्ञवल्क्य) हे आचार्य याज्ञवल्क्य (एतत्) यह बात (एवम्) ऐसी (एव) ही है। हे गुरुदेव इस विद्या की दक्षिणा में (सः) वह आपका शिष्य (अयम्) जनक नामवाला मैं (भगवते) षडैश्वर्य संपन्न पूज्य आपके लिये (सहस्रम्)) एक हजार गायें (ददामि) देता हूँ (अतः) इसके (ऊर्ध्वम्) आगे (विमोक्षाय) विशेषरूप से मोक्ष के लिये (एव) ही (ब्रूहि) साधन कहिये (इति) यही मेरी प्रार्थना है अन्य कुछ भी अपेक्षित नहीं है ॥१५॥

विशेषार्थ– आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– निश्चय करके वही यह जीवात्मा इस संप्रसाद यानी स्वप्नस्थान में जाने की इच्छा होने पर जीवात्मा जिस स्थान में अधिक प्रसन्न हो उसे संप्रसाद कहते हैं। जागरित अवस्थाा में जो देह और इन्द्रियों के सैकड़ों व्यापारों के सम्बन्ध से क्लेश हुआ था, उसे छोड़कर उन देह और इन्द्रियों से मुक्त हो जाने के कारण स्वप्न में वह थोड़ा प्रसन्न होता है। तथापि यहाँ पर "सुषुप्ति

वाचक "संप्रसाद" शब्द नहीं है। क्योंकि यहाँ से पहले स्वप्न विषय प्रस्तुत है और "एतत्" शब्द का समानाधिकरण भी है। इस कारण से इस कण्डिका में "संप्रसाद" शब्द का अर्थ स्वप्न स्थान ही करना उचित है। स्वप्न स्थान में जिगमिषा होने पर जीवात्मा वनिताओं के साथ क्रीडा कर और बन्धुओं के साथ भ्रमण कर अथवा भक्षण कर निश्चय करके पुण्य के फल सुख को तथा पाप के फल दुःख को अनुभव कर फिर प्रतिन्याय यानी यथान्याय– जिस प्रकार आया था। निश्चित आय को न्याय कहते हैं तथा अयन यानी निर्गमन का नाम आय है। पहले जाने के विपरीत क्रम से अर्थात् जाकर जो फिर उलटे लौट आना है उसे तिन्याय कहते हैं। प्रतियोनि, यहाँ पर योनि शब्द स्थानवाची है। तो यह अर्थ हुआ कि– जैसे आया था वैसी ही उलटे वापस होता हुआ उसी स्थान के प्रति स्वप्न अनुभव करने के लिये लौट आता है। वह जीवात्मा जाग्रत् अवस्था में जो कुछ मनुष्य, व्याघ्र शरीरादिक को अत्मीय रूप से देखती है। उस देखे हुए शरीरादिक के संबन्ध से रहित जीवात्मा होती है। क्योंकि यह जीवात्मा कर्म अविद्या उपाधिक शरीरेन्द्रियसंघातादि से असंग है। इस उपदेश को सुनकर जनक महाराज ने कहा कि– हे आचार्य याज्ञवल्क्य ! यह बात ऐसी ही है। हे गुरुदेव ! इस विद्या की दक्षिणा में वह श्रीचरणों का शिष्य जनक नाम वाला मैं षडैश्वर्यसंपन्न पूज्य आपको एक सहस्त्र गायें देता हूँ। अब इसके आगे मोक्ष के लिये उपदेश कीजिये। जिससे कि आप की कृपा से मैं संसार से विमुक्त हो जाऊँ। यही मेरी प्रार्थना है। और अन्य कुछ भी मैं नहीं चाहता हूँ ॥१५॥

स वा एष एतस्मिन् स्वप्नान्ते रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति बुद्धान्तायैव स यत्तत्र किञ्चित् पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसङ्गो ह्ययं पुरुष इति। एवमेवैतद् याज्ञवल्क्य सोऽहं भगवते सहस्त्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीति ॥१६॥

अन्वयार्थ– (वै) निश्चय करके (सः) वह (एषः) यह जीवात्मा (एतस्मिन्) इस (स्वप्नान्ते) स्वप्नस्थान में (रत्वा) स्त्रियों के साथ क्रीडाकर (च) और (चरित्वा) बन्धु बानधवों के साथ भ्रमण कर अथवा भक्षण कर (एव) निश्चय करके (पुण्यम्) पुण्य के फल सुख को (च) और (पापम्) पाप के फल दुःख को (दृष्ट्वा) देख

कर यानी अनुभव कर (पुनः) फिर (प्रतिन्यायम्) जिस प्रकार आया था उसी प्रकार उलटे वापस होता हुआ (प्रतियोनि) उसी स्थान के प्रति (बुद्धान्ताय) जाग्रत् स्थान के लिये (एव) ही (आद्रवति) लौट आता है (तत्र) उस जाग्रत्दशा में (सः) वह जीवात्मा (यत्) जो (किञ्चित्) कुछ मनुष्यव्याघ्रशरीरादिक को आत्मीयत्वेन (पश्यति) देखता है (तेन) उस देखे हुए शरीरादिक से (अनन्वागतः) संबन्ध रहित जीवात्मा (भवति) होता है (हि) क्योंकि (अयम्) यह (पुरुषः) जीवात्मा (असङ्गः) कर्मोविद्योपाधिक शरीरेन्द्रियसंघातादि से असंग है (इति) इस उपदेश को सुनकर सम्राट् जनक ने कहा कि (याज्ञवल्क्य) हे आचार्य याज्ञवल्क्य (एतत्) यह बात (एवम्) ऐसी (एव) ही है । हे गुरुदेव इस विद्या की दक्षिणा में (सः) वह आपका शिष्य (अहम्) जनक नामवाला मैं (भगवते) षडैश्वर्यसंपन्न पूज्य आपके लिये (सहस्त्रम्) एक हजार गायें (ददामि) देता हूँ (अतः) इसके (ऊर्ध्वम्) आगे (विमोक्षाय) विशेषरूप से मोक्ष के लिये (एव) ही (ब्रूहि) साधन कहिये (इति) यही मेरी प्रार्थना है, अन्य कुछ भी अपेक्षित नहीं है ॥१६॥

विशेषार्थ– आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– निश्चय करके वह जीवात्मा इस स्वप्नस्थान में । "स्वप्नान्ते" इस पद में अन्त शब्द स्थान वाचक है । क्योंकि लिखा है कि– **अन्तः समाप्तौ स्थाने च निर्णयेऽभ्यन्तरेऽपि च ॥** (नैघण्टुक) समाप्ति में, स्थान में, निर्णय में, और अभ्यन्तर में अन्त शब्द प्रयुक्त होता है । स्वप्नस्थान में महिलाओं के साथ क्रीडा कर और बन्धु बान्धवों के साथ भ्रमण कर अथवा भक्षण कर निश्चय करके पुण्य के फल सुख को और पाप के फल दुःख को अनुभव कर, प्रतिन्याय यानी जैसे आया था वैसे ही उलटे वापस होता हुआ प्रतियोनि यानी उसी स्थान के प्रति जाग्रत् स्थान के लिये ही लौट आता है । "प्रति+नि+आय" तीन शब्द मिलकर प्रतिन्याय शब्द बनता है "नि" माने निश्चित और "आय" माने गमन तब न्याय का अर्थ जाना है तथा "प्रतिन्याय" का लौटना है । "प्रति+योनि" यहाँ पर योनि का अर्थ स्थान होता है । वह जीवात्मा उस जाग्रत् अवस्था में जो कुछ मनुष्य, व्याघ्रशरीररादिक को आत्मीय रूप से देखती है । उस देखे हुए शरीरादिक के सम्बन्ध से रहित जीवात्मा होती है । क्योंकि यह जीवात्मा कर्म अविद्या उपाधिक शरीरेन्द्रिय संघातादि से असङ्ग है । इस उपदेश को सुनकर जनक महाराज ने कहा कि– हे आचार्य याज्ञवल्क्य ! यह बात ऐसी ही है । हे गुरुदेव ! इस विद्या की दक्षिणा में वह श्रीचरणों का शिष्य जनक नामवाला मैं, षडैश्वर्य सम्पन्न पूज्य आपको एक सहस्त्र गायें देता हूँ । अब इसके आगे मोक्ष के लिये उपदेश कीजिये । जिससे कि आपकी कृपा से मैं संसार से विमुक्त हो जाऊँ । यही मेरी प्रार्थना है । और अन्य कुछ भी

मैं नहीं चाहता हूँ ॥१६॥

स वा एष एतस्मिन् बुद्धान्ते रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति स्वप्नान्तायैव ॥१७॥

अन्वयार्थ– (वै) निश्चय करके (सः) वह (एषः) यह जीवात्मा (एतस्मिन्) इस (बुद्धान्ते) जाग्रत् स्थान में (रत्वा) स्त्रियों के साथ क्रीडा कर (च) और (चरित्वा) बन्धु बान्धवों के साथ भ्रमण कर अथवा भक्षण कर (एव) निश्चय करके (पुण्यम्) पुण्य के फल सुख को (च) और (पापम्) पाप के फल दुःख को (दृष्ट्वा) देखकर यानी अनुभव कर (पुनः) फिर (प्रतिन्यायम्) जिस प्रकार आया था उसी प्रकार उलटे वापस होता हुआ (प्रतियोनि) उसी स्थान के प्रति (स्वप्नान्ताय) स्वप्नस्थान के लिये (एव) ही (आद्रवति) लौट आता है ॥१७॥

विशेषार्थ– आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा कि– निश्चय करके वह जीवात्मा इस जाग्रत् स्थान में युवतियों के साथ क्रीडा कर और बन्धु बान्धवों के साथ भ्रमण कर अथवा भक्षण कर निश्चय करके पुण्य के फल सुख को और पाप के फल दुःख को देखकर यानी अनुभव कर फिर जैसे आयी थी वैसे ही उलटे वापस होती हुई उसी स्थान के प्रति स्वप्न स्थान के लिये ही लौट आती है। यहाँ पर "बुद्धान्त" और "स्वप्नान्त" शब्द में अन्त शब्द स्थानवाचक है। क्योंकि लिखा है कि– **अन्तः समाप्तौ स्थाने च निर्णयेऽभ्यन्तरेऽपि च ॥** (नैघण्टुक) समाप्ति १, स्थान २, निर्णय ३ और अभ्यन्तर ४ में अन्त शब्द प्रयुक्त होता है ॥ यहाँ पर जाग्रत् स्थान से स्वप्नस्थान को और स्वप्नस्थान से पुनः जाग्रत् स्थान को तथा जाग्रत् स्थान से फिर स्वप्नस्थान को जीवात्मा जाती है ऐसा आरोहावरोह सञ्चार प्रदर्शन से चक्रभ्रमण के समान संसारचक्र की प्रवृत्ति वैराग्य के लिये दिखलायी गई है। पूर्वोक्त व्यापारचक्र भ्रमण के समान सदा हुआ ही करता है ॥१७॥

तद् यथा महामत्स्य उभे कूले अनुसंचरति पूर्वं चापरं चैवमेवायं पुरुष एतावुभावन्तावनुसञ्चरति स्वप्नान्तं च बुद्धान्तं च ॥१८॥

अन्वयार्थ– (तत्) उस पूर्वोक्त विषय में यह दृष्टान्त है कि (यथा) जैसे (महामत्स्यः) बड़ा भारी मत्स्य (पूर्वम्) नदी के पूर्व (च) और (अपरम्) अपर (च)

भी (उभे) दोनों (कूले) तीरों पर (अनु) क्रम से (सञ्चरति) जाता आता रहता है (एवम्) वैसे (एव) ही (अयम्) यह (पुरुषः) जीवात्मा (स्वप्नान्तम्) स्वप्न स्थान (च) और (बुद्धान्तम्) जागरित स्थान (च) भी (एतौ) इन (उभौ) दोनों स्वप्न तथा जाग्रत् (अन्तौ) स्थानों में (अनु) क्रम से (संचरति) जाती आती रहती है ॥१८॥

विशेषार्थ– उस ऊपर दिखाये हुए विषय में यह दृष्टान्त बताया जाता है कि– जिस प्रकार लोक में बड़ा भारी मत्स्य नदी के पूर्व और अपर दोनों तटों पर क्रम से संचार करता रहता है। उसी प्रकार यह जीवात्मा स्वप्नस्थान और जाग्रत् स्थान इन दोनों स्थानों में क्रम से संचार करती है। नदी के वेग से जिसकी गति अवरुद्ध न हो ऐसा जो बलिष्ठ बड़ा मत्स्य, उसे महामत्स्य कहते हैं। अर्थात् मत्स्यराज को ही महामत्स्य कहते हैं। और "कूल" शब्द नदी का तीर वाचक है। क्योंकि लिखा है–' **कूलं रोधश्च तीरं च प्रतीरं च तटं त्रिषु** ॥ (अमर० कां० १ व० १० श्लो० ७) कूल १ रोधस् २, तीर ३, प्रतीर ४, तट ५ ये नदी के किनारे के नाम हैं ॥७॥ ऐसा कहा गया है ॥१८॥

तद्यथाऽस्मिन्नाकाशे श्येनो वा सुपर्णो वा विपरिपत्य श्रान्तः संहत्य पक्षौ संलयायैव ध्रियत एवमेवायं पुरुष एतस्मा अन्ताय धावति यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति ॥१९॥

अन्वयार्थ– (तत्) उस सुषुप्ति के विषय में यह दृष्टान्त है कि (यथा) जैसे (अस्मिन्) इस भौतिक महान् (आकाशे) आकाश में (श्येनः) बाज नाम का पक्षी (वा) अथवा (सुपर्णः) गरुड नाम का पक्षी (विपरिपत्य) विशेष रूप से सब ओर उड़ कर (श्रान्तः) थक जाने पर (पक्षौ) अपने पंखों को (संहत्य) फैला कर (संलयाय) समीचीन नीड के लिये (एव) ही (ध्रियते) अवस्थित होता है (एवम्) वैसे (एव) ही (अयम्) यह (पुरुषः) जीवात्मा (एतस्मै) इस सुप्रसिद्ध (अन्ताय) स्थान के लिये (धावति) दौड़ती है (यत्र) जिस सुषुप्ति में (सुप्तः) शयन करने पर (कञ्चन) किसी भी (कामम्) पदार्थ को (न) नहीं (कामयते) चाहता है और (कञ्चन) किसी भी (स्वप्नम्) स्वप्न को (न) नहीं (पश्यति) देखता है ॥१९॥

विशेषार्थ– जाग्रत् और स्वप्न दोनों स्थानों में जीवात्मा का संचार दिखला कर अब सुषुप्ति दशा का वर्णन किया जाता है। उस सुषुप्ति के विषय में यह दृष्टान्त है कि –जिस प्रकार इस प्रसिद्ध भौतिक महान् आकाश में श्येन यानी बाज नामक

पक्षी। यहाँ पर "श्येन" शब्द बाज वाचक है क्योंकि लिखा है– पत्री श्येनः (अमर० कां० २ व० ५ श्लोक १५) पत्रिन् १, श्येन २ ये बाज पक्षी के नाम हैं ॥१५॥ और सुपर्ण यानी गरुड़ नामक पक्षी । यहाँ पर सुपर्णः शब्द गरुड़वाचक है । क्योंकि लिखा है– नागान्तको विष्णुरथः सुपर्णः पन्नागाशनः ॥ (अमर० का० १ व० १ श्लो० २९) नागान्तक १, विष्णुरथ २, सुपर्ण ३, पन्नगाशन ४ ये गरुड़जी के नाम हैं ॥२९॥ ये पूर्वोक्त दोनों पक्षी विशेष रूप से सब ओर उड़कर श्रान्त होने पर अपने दोनों पंखों को पसार कर अपने घोसले के लिये ही अवस्थित होते हैं । यहाँ पर "पक्ष" शब्द पंख वाचक है । क्योंकि लिखा है– गरुत्पक्षच्छदाः पत्रं पतत्रं च तनूरुहम् ॥ (अमर० का० १ व० १ श्लो० २९) नागान्तक १, विष्णुरथ २, सुपर्ण ३, पन्नगाशन ४ ये गरुड़जी के नाम हैं ॥२९॥ ये पूर्वोक्त दोनों पक्षी विशेष रूप से सब ओर उड़कर श्रान्त होने पर अपने दोनो पंखों को पसार कर अपने घोसले के लिये ही अवस्थित होते हैं । यहाँ पर "पक्ष" शब्द पंख वाचक है । क्योंकि लिखा है–गरुत्पक्षच्छदाः पत्रं पतत्रं च तनूरुहम् ॥ (अमर० कां० २ व० ५ श्लो० ३६) गरुत् १, पक्ष २, छद ३, पत्र ४, पतत्र ५, तनुरुह ६ ये पक्षियों के पंखों के नाम हैं ॥३६॥ जिसमें सम्यक् प्रकार से खग लीन होता है उस घोसले का नाम संलय है । "धृङ् अवस्थाने " इस धातु से "ध्रियते" पद निष्पन्न होता है । इसी दृष्टान्त के समान यह प्राणी जाग्रत् और स्वप्न स्थान में सञ्चार करने से थका हुआ इस सुप्रसिद्ध सुषुप्तिरूप स्थान के लिए ही दौड़ता है । जिस सुषुप्ति में सोकर यह जीवात्मा किसी भी पदार्थ की इच्छा नहीं करती है। और न कोई स्वप्न ही देखती है ॥१९॥

ता वा अस्यैता हिता नाम नाड्यो यथा केशः सहस्रधा भिन्नस्तावताऽणिम्ना तिष्ठन्ति शुक्लस्य नीलस्य पिङ्गलस्य हरितस्य लोहितस्य पूर्णा अथ यत्रैनं घ्नन्तीव जिनन्तीव हस्तीव विच्छाययति गर्त्तमिव पतति । यदेव जाग्रद्भयं पश्यति तदत्राविद्यया मन्यते । अथ यत्र देव इव राजेवाहमेवेदं सर्वोऽस्मीति मन्यते सोऽस्य परमोलोकः ॥२०॥

अन्वयार्थ–(वै) निश्चयकरके (अस्य) इस पुरुष के (ताः) वे (एताः) ये (नाड्यः) शिराएँ (हिताः) हिता नाम की (नाम) प्रसिद्ध हैं (यथा) जिस प्रकार

(सहस्रधा) हजार भागों में (भिन्नः) विभक्त (केशः) केश होता है (तावता) उतने ही (अणिम्ना) सूक्ष्मता से (तिष्ठन्ति) रहती हैं और वे (शुक्लस्य) श्वेतवर्ण वाले अति सूक्ष्म अन्न के रस से और (नीलस्य) कृष्ण वर्ण वाले अति सूक्ष्म अन्न के रस से तथा (पिङ्गलस्य) पिङ्गलवर्ण वाले अति सूक्ष्म अन्न के रस से तथा (हरितस्य) हरेवर्ण वाले अति सूक्ष्म अन्न के रस से तथा (लोहितस्य) लालवर्ण वाले अति सूक्ष्म अन्न के रस से (पूर्णः) पूर्ण है (अथ) और (यत्र) जिस स्वप्नावस्था में (एनम्) इस स्वप्नद्रष्टा पुरुष को (इव) मानो (घ्नन्ति) कोई शत्रु मार रहे हैं तथा (इव) मानो (जिनन्ति) कोई इसको अपने वश में कर रहे हैं तथा (इव) मानो (हस्ती) हाथी (विच्छाययति) इसको चारो तरफ भगा रहा है और इव (इव) मानो यह स्वप्नद्रष्टा (गर्तम्) गढे में (पतति) गिर रहा है और (एव) निश्चय करके (यत्) जो (जाग्रत्) जाग्रत दशा में (भयम्) भय के साधन को (पश्यति) देखता है (तत्) यह सब वस्तु (अत्र) इन हित नामक नाड़ियों में (अथ) और (यत्र) जिस स्थान में (अहम्) मैं (देवः) देवता के (इव) समान हूँ मैं (राजा) राजा के (इव) समान हूँ मैं (एव) ही (इदम्) यह (सर्वः) सब कुछ (अस्मि) हूँ (इति) ऐसा (मन्यते) मानता है। अर्थात् देवादिवत् आनन्दानुभव करता है (सः) वह (अस्य) इस जीवात्मा के (परमः) परम (लोकः) धाम यानी मुख्याश्रय परमात्मा है ॥२०॥

विशेषार्थ– निश्चय करके इस पुरुष के हृदय में वे ये हित नामक नाड़ियाँ सुप्रसिद्ध हैं। देह की शिराओं को नाड़ी कहते हैं। क्योंकि लिखा है– **नाडी तु धमनिः शिरा ॥** (अमर० का० २ व० ६ श्लोक ६५) नाड़ी १, धमनि २, शिरा ३ ये नाड़ी के नाम हैं ॥ ६५॥ सूक्ष्म नाड़ियों से शरीर का हित होता है इससे इनको हित नाड़ी कहते हैं । उन नाड़ियों का परिमाण बतलाया जाता है कि– एक केश के हजारवाँ भाग जितना सूक्ष्म हो सकता है उतनी ही सूक्ष्म वे हित करने वाली नाड़ियाँ देह में विद्यमान हैं। वे हित नामक नाड़ियाँ शुक्ल रङ्ग के अति सूक्ष्म अन्न के रस से और कृष्ण वर्ण के अतिसूक्ष्म अन्न के रस से तथा लाल रंग के अतिसूक्ष्म अन्न के रस से पूर्ण हैं। पीत से भिन्न पिङ्गलवर्ण है। क्योंकि लिखा है **॥ कडारः कपिल पिङ्गपिशङ्गौ कद्रुपिङ्गलौ ॥** (अमर० का० १ व० ५ श्लोक १६ ॥ कडार १, कपिल २, पिङ्ग ३, पिशङ्ग ४, और कद्रु ५ पिङ्गल ६ ये (वानर के रंग के सदृश) भूरापन लिये हुए लाल रंग का नाम है ॥१६॥ और जिस स्वप्नावस्था में इस स्वप्न द्रष्टा पुरुष को प्रतीत होता है कि– मानो कोई शत्रु चोर आदिक आकर मुझे मारते हैं। और मानो कोई तान्त्रिक अपने वश में ही मुझे करते हैं। तथा मानो कोई हाथी मुझे चारो तरफ दौड़ाता है। और मानो अपने को स्वप्नद्रष्टा गढे में गिरता सा देखता है। यहाँ

पर "गर्त" शब्द गढ़ा वाचक है। क्योंकि लिखा है ॥ **गर्तावटौ भुवि श्वभ्रे** ॥ (अमर॰ का॰ १ व॰ ८ श्लोक २ ॥ गर्त १, अवट २, ये पृथ्वी के गढ़े के नाम हैं ॥२॥ और निश्चय करके जो जाग्रदवस्थामें भयके के साधन को देखता है वह सब इन हित नामक नाडियों में कर्म संबन्ध से भान होता है। और जिस स्थान में स्थित देवता के समान मैं हूँ राजा के समान मैं हूँ, मैं सर्व शब्दवाच्य परब्रह्म नारायण वाला हूँ यह ब्रह्मात्मक है ऐसा मानता है वह देवादिवत् आनन्दानुभव करता है। वह आनन्द धन इस जीवात्मा का परम लोक है। यानी मुख्याश्रय परब्रह्मनारायरा है। और लिखा है कि—**अथ यदा सुषुप्तो भवति । यदा न कस्यचन वेद । हिता नाम नाड्यो द्वासप्ततिः सहस्त्रारिाा हृदयात्पुरीततमभि प्रतिष्ठन्ते ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते । स यथा कुमारो वा महाराजो वा महाब्राह्मणो वाऽतिघ्नोमानन्दस्य गत्वा शयीतैवमेवैष एतच्छेते** ॥ (बृह॰ उ॰ अ॰ २ ब्रा॰ १ कं॰ १९) स्वप्न के अनन्तर जब यह जीवात्मा सुषुप्त होती है। और जिस समय यह किसी के विषय में कुछ भी नहीं जानती, उस समय जीवात्मा के हित करने वाली हित नाम की बहत्तर हजार नाड़ियाँ हृदय से पुरीतत् शब्दित हृदयान्तर्वर्ती मांसपिण्ड को अभिमुख करके संपूर्णशरीर में फैली हुई हैं उन नाड़ियों के द्वारा इन्द्रिय गरा को समेट कर द्वारभूत उन नाड़ियों के द्वारा इधर उधर जाकर अन्त में पुरीतत् स्थान मे वर्तमान परब्रह्म नारायरा में सोती है। वह जैसे स्तनंधय कुमार अथवा महाराज अथवा महाब्राह्मरा आनन्द की पराकाष्ठा को प्राप्त होकर सोवे उसी प्रकार यह जीवात्मा पुरीतत् स्थान में वर्तमान परब्रह्म नारायरा में सो जाती है ॥ १९॥ **यथा केशः सहस्त्रधा भिन्न एवमस्यैता हिता नाम नाड्योऽन्तर्हृदये प्रतिष्ठिता भवन्ति** ॥ (बृ॰ उ॰ अ॰ ४ ब्रा॰ २ कं॰ ३) जैसे सहस्त्र हिस्सों में विभक्त एक केश अत्यन्त सूक्ष्म होता है वैसे ही इस जीवात्मा के हित नाम की नाड़ियाँ हृदय के भीतर प्रतिष्ठित हैं ॥१३॥ इस प्रकार प्रतिपादन किया गया है ॥२०॥

तद्वा अस्यैतदतिच्छन्दा अपहतपाप्माभयं रूपम् । तद्यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नाऽऽन्तरमेवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनाऽऽत्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम् । तद्वा अस्यैतदाप्तकाममात्मकाममकामं रूपं शोकान्तरम् ॥२१॥

अन्वयार्थ—(वै) निश्चय करके (अस्य) इस जीवात्मा (तत्) वह (एतत्) यह

(अतिच्छन्दा) इच्छारहित और (अपहतपाप्मा) पापरहित (अभयम्) निर्भय प्रिय प्राप्य (रूपम्) रूप परमात्माही है (तत्) उस अवस्थामें (यथा) जैसे (प्रियया) मनोहारिणी अनुकूला अपनी प्रिया (स्त्रिया) भार्या से (संपरिष्वक्तः) अच्छे प्रकार आलिङ्गन करने वाला पुरुष (बाह्यम्) बाहरी (किञ्चन) किसी भी पदार्थ को (न) नहीं (वेद) जानता है और (आन्तरम्) भीतर के दुःखादिक को भीं (न) नहीं जानता है (एवम्) वैसे (एव) ही (अयम्) यह (पुरुषः) जीवात्मा (प्राज्ञेन) प्राज्ञ यानी सर्वज्ञ (आत्मना) परमात्मा से (संपरिष्वक्तः) सम्यक् प्रकार से सम्मिलित (बाह्यम्) बाहरी (किञ्चन) किसी भी पदार्थ को (न) नहीं (वेद) जानती है और (आन्तरम्) भीतर के दुःखादिक को भी (न) नहीं जानती है (वै) निश्चय करके (तत्) वह प्रज्ञात्मलक्षरा (अस्य) इस पुरुष के (एतत्)यह (आप्तकामम्) अवाप्तसमस्तकाम तथा (आत्मकामम्) आत्मव्यतिरिक्तकामना शून्य और (अकामम्) निष्काम तथा (शोकान्तरम्) शोकबाह्य यानी शोक रहित (रूपम्) रूप है ॥२१॥

विशेषार्थ—निश्चय करके इस सुषुप्त जीवात्मा की अभिलाषा रहित और पाप रहित तथा निर्भय प्रिय प्राप्य रूप परब्रह्म नारायरा ही है। लोक में "स्वछन्द" इत्यादि शब्दों में छन्द शब्द का इच्छा या काम अर्थ में प्रयोग प्रसिद्ध है। इससे यहाँ छन्द अभिलाषा को कहते हैं। उस सुषुप्ति अवस्था के विषय में दृष्टान्त बतलाया जाता है कि—जिस प्रकार लोक में मनोहारिणी अनुकूला निजप्रिया धर्मपत्नी से अच्छे प्रकार आलिङ्गित कोई पुरुष बाहरी किसी वस्तु को नहीं जानता है और भीतर के भी दुःखको नहीं जानता है। इसी दृष्टान्त के अनुसार यह सुषुप्त जीवात्मा प्राज्ञ परब्रह्म नारायरा से अच्छे प्रकार आलिङ्गित होने पर बाहरी किसी भी पदार्थ को नहीं जानती है और भीतर के दुःखादिक को भी नहीं जानती है। अब अन्त में इसके वास्तविक रूप को कहते हैं— कि निश्चय करके वह प्राज्ञात्म लक्षरा, इस पुरुष का यह अवाप्तसमस्तकाम और आत्मकाम तथा निष्काम और शोक शून्य प्राप्त रूप है। वेदान्तदीपग्रन्थनिर्माता भगवद्रामानुजाचार्य ने ॥ अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॥ शा॰ मी॰ अ॰ १ पा॰ १ सू॰ १ ॥ **सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन** ॥ शा॰ मी॰ अ॰ १ पा॰ ३ सू॰ ३४ ॥ **अन्यार्थं तु जैमिनिः प्रश्नव्याख्यानाभ्यामपि चैवमेके** ॥ शा॰ मी॰ अ॰ १ पा॰ ४ सू॰ १८ ॥ अधिकंतु भेदनिर्देशात् ॥ शा॰ मी॰ अ॰ २ पा॰ १ सू॰ २२ ॥ **स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि** ॥ शा॰ मी॰ अ॰ ४ पा॰ ४ सू॰ १६ ॥ इन पाँच सूत्रों के श्रीभाष्य में "बृहदारण्यकोपनिषद्" के चतुर्थ अध्याय के तृतीय ब्राह्मरा की इक्कीसवीं कण्डिका के उत्तरार्ध के पदों को उद्धृत किया है ॥२१॥

अत्र पिताऽपिता भवति माताऽमाता। लोका अलोकाः

देवा अदेवाः । वेदा अवेदाः । अत्र स्तेनोऽ स्तेनोभवति भ्रूणाहाऽभ्रूणाहा चाण्डालोऽचाण्डालः पौल्कसोऽपौल्कसः श्रमणोऽश्रमणस्तापसोऽतापसः । अनन्वागतं । पुण्येनानन्वागतं पापेन । तीर्णो हि तदा सर्वाञ्छोकान् हृदयस्य भवति ॥२२॥

अन्वयार्थ– (अत्र) इस सुषुप्तिस्थान परमात्मा में लीन पुरुष के (पिता) जनक तद्रूप के शरीरसंबंधघटक कर्मसंबन्धशून्य हो उसे (अपिता) अपिता (भवति) होता है और (माता) माता यानी जननी तद्रूप के शरीर संबन्ध घटककर्मसंबन्ध शून्य होने से (अमाता) अमाता होती है (लोकाः) समस्तलोक उसके आश्रयशून्य होने से (अलोकाः) अलोक होते हैं और (देवाः) सबदेव अनुग्राहक शून्य होने से (अदेवाः) अदेव होते हैं तथा (वेदाः) चारोवेद अनुशासनीय स्वरूपशून्य होने से (अवेदाः) अवेद होते हैं और (अत्र) इस परिशुद्धात्मस्वरूप में (स्तेनः) स्तैन्यकर्तृत्व असंभव होने से चोर (अस्तेनः) अचोर (भवति) होता है तथा (भ्रूणहा) बालघाती (अभ्रूणहा) अबालघाती होता है तथा (पौल्कसः) महानीच पौल्कस (अपौल्कसः) अपौल्कस होता है और (श्रमणः) संन्यासी (अश्रमणः) अतापस होता है और उस समय यह पुरुष (पुण्येन) शरीर सम्बन्ध घटकपुण्य से (अनन्वागतम्) सम्बन्ध रहित होता है और (पापेन) शरीरसम्बन्धघटकपाप से भी (अनन्वागतम्) सम्बन्ध रहित होता है (हि) क्योंकि (तदा) उस अवस्था में (हृदयस्य) हृदय के (सर्वान्) सम्पूर्ण (शोकान्) शोकों को (तीर्णः) पार उतर जाता (भवति) है ॥२२॥

विशेषार्थ–इस सुषुप्तिस्थान परब्रह्म नारायण में लीन सुषुप्त पुरुष का पिता तद्रूप के शरीर सम्बन्ध घटक कर्मसम्बन्ध रहित होने से अपिता हो जाता है और माता तद्रूप के शरीर सम्बन्ध घटक कर्मसम्बन्ध शून्य होने से अमाता हो जाती है तथा तीनों लोक सुषुप्त पुरुष के आश्रयशून्य होने से अलोक हो जातें हैं । तीन ही लोक हैं । क्योंकि लिखा है ॥ त्रयोलोकाः ॥ मनु० अ० १२ श्लो० ९७ ॥ स्वर्गलोक १ पाताललोक २ मर्त्यलोक ३ ये तीन लोक हैं ॥९७॥ और तैंतीस करोड़ तैंतीस लाख तैंतीस हजार तीन सौ तैंतीसदेव सुषुप्तपुरुष के अनुग्राहक शून्य होने से अदेव हो जाते हैं तथा चार वेद सुषुप्त पुरुष के अननुशासनीय स्वरूप होनेसे अवेद हो जाते हैं । चारवेद हैं । क्योंकि लिखा है॥ चत्वारो वेदाः ॥ महाभाष्य० अ० १ पा० १ आह्नि० १ ॥ ऋग्वेद १, यजुर्वेद २, सामवेद ३, अथर्ववेद ४ ये चारवेद हैं ॥१॥ और यहाँ परिशुद्धात्म स्वरूप

में चोर स्तैन्यकर्तृत्व असंभव होने से अचोर हो जाता है। "स्तेन" शब्द चोर वाचक है। क्योंकि लिखा है ॥ **चौरैकागारिकस्तेनदस्युतस्करमोषकाः** । अमर० कां० २, व० १० श्लो० २४ ॥ चौर १, ऐकागारिक २, स्तेन ३, दस्यु ४, तस्कर ५, मोषक ६ ये चोर के नाम हैं ॥२४॥ तथा बालघाती या स्त्री के गर्भघाती सुषुप्त पुरुष के भ्रूणहननकर्तृत्व असंभव होने से अबालघाती या स्त्री की गर्भहत्या नहीं करने वाला हो जाता है। "भ्रूण" शब्द के विषय में लिखा है ॥ **भ्रूणोऽर्भके स्त्रैणगर्भे** ॥ अमर० कां० ३, व० ३ श्लो० ४५ ॥ बालक तथा स्त्री के गर्भ में भ्रूण शब्द का प्रयोग होता है ॥ ४५॥ और चाण्डाल सुषुप्ति में अपने जाति सम्बन्धी कर्म से असम्बद्ध होने से अचाण्डाल हो जाता है। शूद्र से ब्राह्मणी में उत्पन्न हुए को चण्डाल कहते है। क्योंकि लिखा है ॥ **शूद्रादायोगवः क्षत्ता चाण्डालश्चाधमो नृणाम्** । **वैश्यराजन्यविप्रासु जायन्ते वर्णसंकराः** ॥ मनु० अ० १० श्लो १२ ॥ शूद्र से वैश्या स्त्री में मनुष्यों में नीच चाण्डाल ये वर्णसंकर उत्पन्न होते हैं ॥१२॥ तथा पौल्कस अपने जाति सम्बन्धी कर्मसे असंबद्ध होने के कारण अपौल्कस हो जाता है। शूद्र निषाद से क्षत्राणी में उत्पन्न हुए को पुल्कस कहते हैं। और पुल्कस ही पौल्कस कहलाता है। और श्रमण यानी संन्यासी अपने तुरीयाश्रम सम्बन्धी कर्मसे असम्बद्ध होने के कारण असंन्यासी हो जाता है। तथा तपस्वीवानप्रस्थाश्रमी अपने आश्रम सम्बन्धी कर्म से असंबद्ध होने के कारण अतपस्वी– अवानप्रस्थाश्रमी हो जाता है। यहाँ पर "तापस" शब्द तपस्वी वाचक है। क्योंकि लिखा है ॥ **तपस्वी तापसः पारिकांक्षी** ॥ अमर० का० २, व० ७ श्लो०४२ ॥ तपस्विन् १, तापस २, पारिकांक्षिन् ३ ये तपस्वी के नाम हैं ॥ ४२॥ बहुत क्या कहें। उस समय यह सुषुप्त पुरुष शरीरसंबन्ध घटकपुण्य से असंबद्ध हो जाता है और शरीरसंबन्धघटकपाप से भी असंबद्ध हो जाता है। क्योंकि उस अवस्था में हृदय के समस्त शोकों को पार कर लेता है ॥२२॥

यद्वै तन्न पश्यति पश्यन् वै तन्न पश्यति नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात् । न तु तद द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येत् ॥२३॥

अन्वयार्थ–यह जीवात्मा (वै) निश्चय करके (यत्) उस सुषुप्ति में बाह्य तथा अभ्यन्तर को (न) नहीं (पश्यति) देखती है (तत्) वह (पश्यन्) बाह्याभ्यन्तर को देखते हुए (वै) ही (न) नहीं (पश्यति) देखती है (हि) क्योंकि (द्रष्टुः) बाह्याभ्यन्तर के द्रष्ट्रा के (दृष्टेः) धर्मभूत ज्ञान के (अविनाशित्वात्) नित्य होने से (विपरिलोपः) ज्ञान स्वरूपाभावनिबन्धन बाह्याभ्यन्तर द्वितीयज्ञानाभाव (न) नहीं (विद्यते) है (तु)

परन्तु (तत्) उस सुषुप्ति में (तत्) उस प्राज्ञात्मा से (विभक्तम्) पृथक्सिद्ध (द्वितीयम्) दूसरी (अन्यत्) अन्यवस्तु (न) नहीं (अस्ति) है (यत्) जिसको (पश्येत्) वह सुषुप्त जीव देखे ।।२३।।

विशेषार्थ–वह जीवात्मा निश्चय करके जो उस सुषुप्ति में बाह्य तथा अभ्यन्तर को नहीं देखती है । सो ठीक नहीं क्योंकि बाह्याभ्यन्तर को देखते हुए ही वह आत्मा उसको नहीं देखती है । क्योंकि बाह्याभ्यन्तर के देखने वाले ज्ञाता के धर्मभूत ज्ञान के नित्य होने से ज्ञान स्वरूपाभावनिबन्धन बाह्याभ्यन्तर द्वितीयज्ञानाभाव नहीं है । परन्तु उस सुषुप्ति में उस प्राज्ञात्मा से पृथक् सिद्ध दूसरी अन्यवस्तु नहीं है जिसको वह सुषुप्त जीव देखे । अर्थात् देखने को वहाँ कोई सामग्री नहीं इसहेतु अन्यवस्तु को वह नही देखती है ।।२३।।

यद्वै तन्न जिघ्रति जिघ्रन् वै तन्न जिघ्रति न हि घ्रातुर्घ्रातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात् । न तु तद् द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यज्जिघ्रेत् ।।२४।।

अन्वयार्थ– वह जीवात्मा (वै) निश्चय करके (यत्) जो (तत्) उस सुषुप्ति समय में बाह्याभ्यन्तर को (न) नहीं (जिघ्रति) सूँघती है (तत्) सो (जिघ्रन्) बाह्याभ्यन्तर को सूँघते हुए (वै) ही (न) नहीं (जिघ्रति) सूँघती है (हि) क्योंकि (घ्रातुः) बाह्याभ्यन्तर के सूँघने वाले की (घ्रातेः) घ्राणशक्ति का (अविनाशित्वात्) नित्य होने से (विपरिलोपः) सर्वथाविनाश (न) नहीं (विद्यते) होता है (तु) परन्तु (तत्)उस सुषुप्ति में (ततः) उस प्राज्ञात्मा से (विभक्तम्) पृथक्सिद्ध (द्वितीयम्) दूसरी (अन्यत्) अन्यवस्तु (न) नहीं (अस्ति) है (यत्) जिसको (जिघ्रेत्) वह सुषुप्त जीव सूँघे ।।२४।।

विशेषार्थ–वह जीवात्मा निश्चय करके जो उस सुषुप्ति में बाह्य तथा अभ्यन्तर को नही सूँघती है । सो ठीक नहीं–क्योंकि बाह्याभ्यन्तर को सूँघती हुई ही वह आत्मा उसको नही सूँघती है । क्योंकि बाह्याभ्यन्तर के सूँघने वाले की गन्धग्रहण शक्ति को नित्य होने से सर्वथा नाश नहीं होता है । परन्तु उस सुषुप्ति में उस प्राज्ञात्मा से पृथक्सिद्ध दूसरी अन्य वस्तु नहीं है जिसको वह सुषुप्त जीव सूँघे । अर्थात् सुषुप्ति में प्राज्ञात्मा से भिन्न कोई वस्तु ही नहीं है फिर सूँघे तो किसको सूँघे । इस हेतु अन्यवस्तु को वह नहीं सूँघता है ।।२४।।

यद्वै तन्न रसयते रसयन् वै तन्न रसयते न हि रसयितृ रसयतेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीय-मस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्रसयेत् ॥२५॥

अन्वयार्थ–वह जीव (वै) निश्चय करके (यत्) जो (तत्) उस सुषुप्ति समय में (न) नहीं (रसयते) रसास्वाद लेता है (तत्) सो (रसयन्) रसास्वाद लेता हुआ (वै) ही (न) नहीं (रसयते) रसास्वाद लेता है (हि) क्योंकि (रसयितुः) रसास्वाद लेने वाले की (रसयतेः) रसास्वाद लेने की शक्ति का (अविनाशित्वात्) नित्य होने से (विपरिलोपः) सर्वथा विनाश (न) नहीं (विद्यते) होता है (तु) परन्तु (तत्) उस सुषुप्ति में (तत्) उस प्राज्ञात्मा से (विभक्तम्) पृथक् सिद्ध (द्वितीयम्) दूसरी (अन्यत्) अन्य वस्तु (न) नहीं (अस्ति) है (यत्) जिसको (रसयेत्) वह सुषुप्त जीव स्वाद ले ॥२५॥

विशेषार्थ– वह जीवात्मा निश्चय करके उस सुषुप्ति समय में बाह्य तथा अभ्यन्तर की नहीं जो रसास्वाद करता है। सो ठीक नहीं– क्योंकि बाह्याभ्यन्तर को रसास्वाद करती हुई ही वह आत्मा उसको नही रसास्वाद करती है। क्योंकि बाह्याभ्यन्तर के रसास्वाद करने वाले की रसग्रहरा-शक्ति का नित्य होने से सर्वथा विनाश नहीं होता है। परन्तु उस सुषुप्ति में उस प्राज्ञात्मा से पृथक्सिद्ध दूसरी अन्यवस्तु नहीं है। जिसका यह सुषुप्त जीव रस ग्रहरा करे। अर्थात् सुषुप्ति में प्राज्ञात्मा से भिन्न कोई वस्तु ही नहीं है फिर स्वाद ले तो किसका ले ॥२५॥

यद्वै तन्न वदति वदन् वै तन्न वदति न हि वक्तुर्वक्तेर्विपरिलोपो विद्यतेऽ विनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तंयद्वदेत् ॥२६॥

अन्वयार्थ–वह जीवात्मा (वै) निश्चय करके (यत्) जो (तत्) उस सुषुप्ति समय में (न) नहीं (वदति) बोलती है (तत्) सो (वदन्) बोलते हुए (वै) ही (न) नहीं (वदति) बोलती है (हि) क्योंकि (वक्तुः) बोलने वाले की (वक्तेः) भाषरा करने की शक्ति का (अविनाशित्वात्) नित्य होने से (विपरिलोपः) सर्वथा विनाश (न) नहीं (विद्यते) होता है (तु) परन्तु (तत्) उस सुषुप्ति में (ततः) उस प्राज्ञात्मा से (विभक्तम्) पृथक्सिद्ध (द्वितीयम्) दूसरी (अन्यत्) अन्य वस्तु (न) नहीं (अस्ति) है (यत्) जिसको (वदेत्) वह सुषुप्त पुरुष बोले ॥२६॥

विशेषार्थ– वह जीवात्मा निश्चय करके जो उस सुषुप्ति समय में नहीं बोलती है। सो ठीक नहीं–क्योंकि बोलते हुए ही वह आत्मा उसको नहीं बोलती है। क्योंकि बोलेने वाली जीवात्मा के भाषरा करने की शक्ति का नित्य होने से सर्वथा विनाश नहीं होता है। परन्तु उस सुषुप्ति में उस प्राज्ञात्मा से पृथक् सिद्ध दूसरी अन्य वस्तु नहीं है जिसको कि वह सुषुप्त जीव भाषरा करे ॥२६॥

यद्वै तन्न श्रृणोति श्रृण्वन् वै तन्न श्रृणोति न हि श्रोतुः श्रुतेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद् द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यच्छृणुयात् ॥२७॥

अन्वयार्थ–वह जीवात्मा (वै) निश्चय करे (यत्) जो (तत्) उस सुषुप्तिसमय में (न) नहीं (श्रृणोति) सुनती है (तत्) वह (श्रृण्वन्) सुनते हुए (वै) ही (न) नहीं (श्रृणोति) सुनती है (हि) क्योंकि (श्रोतुः) सुनने वाले की (श्रुतेः) श्रवणशक्ति के (अविनाशित्वात्) नित्य होने से (विपरिलोपः) सर्वथा विनाश (न) नहीं (विद्यते) होता है (तु) परन्तु (तत्) उस सुषुप्ति में (ततः) उस प्राज्ञात्मा से (विभक्तम्) पृथक् सिद्ध (द्वितीयम्) दूसरी (अन्यत्) अन्यवस्तु (न) नहीं (अस्ति) है (यत्) जिसको (श्रृणुयात्) वह सुषुप्त जीव सुने ॥२७॥

विशेषार्थ–वह जीवात्मा निश्चय करके जो उस सुषुप्ति समय में बाह्य तथा अभ्यन्तर को नहीं सुनती है। सो ठीक नहीं–क्योंकि बाह्याभ्यन्तर को सुनती हुई ही वह आत्मा उसको नहीं सुनती है। क्योंकि बाह्याभ्यन्तर के सुनने वाले की श्रवराशक्ति का नित्य होने से सर्वथा विनाश नहीं होता है। परन्तु उस सुषुप्ति में उस प्राज्ञात्मा से पृथक् सिद्ध दूसरी अन्यवस्तु नहीं है। जिसको वह सुषुप्त जीव सुने। अर्थात् सुषुप्ति में प्राज्ञात्मा से भिन्न कोई वस्तु ही नहीं है फिर सुने तो किसको सुने। इस हेतु अन्यवस्तु को वह नहीं सुनती है ॥२७॥

यद्वै तन्न मनुते मन्वानो वै तन्न मनुते न हि मन्तुर्मतेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यन्मन्वीत ॥२८॥

अन्वयार्थ– वह जीवात्मा (वै) निश्चय करके (यत्) जो (तत्) उस सुषुप्ति समय में (न) नहीं (मनुते) मनन करती है (तत्) सो (मन्वानः) मनन करते हुए (वै) ही (न) नहीं (मनुते) मनन करती है (हि) क्योंकि (मन्तुः) मनन करने वाले

की (मतेः) मननशक्ति का (अविनाशित्वात्) नित्य होने से (विपरिलोपः) सर्वथा विनाश (न) नहीं (विद्यते) होता है (तु) परन्तु (तत्) उस सुषुप्ति में (ततः) उस प्राज्ञात्मा से (विभक्तम्) पृथक् सिद्ध (द्वितीयम्) दूसरी (अन्यत्) अन्यवस्तु (न) नहीं (अस्ति) है (यत्) जिसको (मन्वीत) वह सुषुप्त जीव मनन करे ॥२८॥

विशेषार्थ—वह जीवात्मा निश्चय करके उस सुषुप्ति समय में बाह्य तथा अभ्यन्तर को नहीं मनन करती है। सो ठीक नहीं—क्योंकि बाह्याभ्यन्तर को मनन करती हुई ही वह आत्मा उसको नही मनन करती है। क्योंकि बाह्याभ्यन्तर के मनन करने वाले की मनन शक्ति का नित्य होने से सर्वथा विनाश नहीं होता है। परन्तु उस सुषुप्ति में उस प्राज्ञात्मा से पृथक् सिद्ध दूसरी अन्य वस्तु नहीं है। जिसको वह सुषुप्त जीव मनन करे ॥२८॥

यद्वै तन्न स्पृशति स्पृशन् वै तन्न स्पृशति न हि स्प्रष्टुः स्पृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद् द्वितीय-मस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत् स्पृशेत् ॥२९॥

अन्वयार्थ—वह जीवात्मा (वै) निश्चय करके (यत्) जो (तत्) उस सुषुप्ति समय में (न) नहीं (स्पृशति) स्पर्श करती है (तत्) सो (स्पृशन्) स्पर्श करते हुए (वै) ही (न) नहीं (स्पृशति) स्पर्श करती है (हि) क्योंकि (स्प्रष्टुः) स्पर्श करने वाले की (स्पृष्टेः) स्पर्श करने की शक्ति का (अविनाशित्वात्) नित्य होने से (विपरिलोपः) सर्वथा विनाश (न) नहीं (विद्यते) होता है (तु) परन्तु (तत्) उस सुषुप्ति में (ततः) उस प्राज्ञात्मा से (विभक्तम्) पृथक् सिद्ध (द्वितीयम्) दूसरी (अन्यत्) अन्य वस्तु (न) नहीं (अस्ति) है (यत्) जिसको (स्पृशेत्) वह सुषुप्त जीव स्पर्श करे ॥२९॥

विशेषार्थ—वह जीवात्मा निश्चय करके उस सुषुप्ति समय में स्पर्श नहीं करती है। सो ठीक नहीं—क्योंकि स्पर्श करती हुई ही वह आत्मा उसको स्पर्श नही करती है। क्योंकि स्पर्श करने वाले की स्पर्श शक्ति का नित्य होने से सर्वथा विनाश नहीं होता है। परन्तु उस सुषुप्ति में उस प्राज्ञात्मा से पृथक् सिद्ध दूसरी अन्यवस्तु नहीं है। जिसको वह सुषुप्त जीव स्पर्श करे ॥२९॥

यद्वै तन्न विजानाति विजानन् वै तन्न विजानाति न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद

द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्विजानीयात् ॥३०॥

अन्वयार्थ–वह जीवात्मा (वै) निश्चय करके (यत्) जो (तत्) उस सुषुप्ति समय में बाह्याभ्यन्तर को (न) नहीं (विजानाति) जानती है (हि) क्योंकि (विज्ञातुः) बाह्याभ्यन्तर के जाननेवाले की (विज्ञातेः) विज्ञान शक्ति को (अविनाशित्वात्) नित्य होने से (विपरिलोपः) सर्वथा विनाश (न) नहीं (विद्यते) होता है (तु) परन्तु (तत्) उस सुषुप्ति में (ततः) उस प्राज्ञात्मा से (विभक्तम्) पृथक् सिद्ध (द्वितीयम्) दूसरी (अन्यत्) अन्य वस्तु (न) नहीं (अस्ति) है (यत्) जिसको (विजानीयात्) वह सुषुप्त जीव विशेष रूप से जाने ॥३०॥

विशेषार्थ–वह जीवात्मा निश्चय करके जो उस सुषुप्ति में बाह्य तथा अभ्यन्तर को नही जानती है। सो ठीक नहीं–क्योंकि बाह्याभ्यन्तर को जानती हुई ही वह आत्मा उन पदार्थों को नहीं जानती है। क्योंकि बाह्याभ्यन्तर केजाननेवाले की विज्ञान शक्ति का नित्य होने से सर्वथा विनाश नहीं होता है। परन्तु उस सुषुप्ति में उस प्राज्ञात्मा से पृथक् सिद्ध दूसरी अन्य वस्तु नहीं है। जिसको वह सुषुप्त जीव विशेष रूप से जाने। अर्थात् सुषुप्ति में प्राज्ञात्मा से भिन्न कोई वस्तु ही नहीं है फिर जाने तो किसको जाने। इस हेतु विज्ञान तो नहीं विदित होता है परन्तु विज्ञान है। वेदान्तसारनिर्माता भगवद्रामानुजाचार्यने–अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॥ (शा० मी० अ० १ पा० १ सू० १) पृथगुपदेशात् ॥ (शा० मी० अ० २ पा० ३ सू० २८) इन दोनों सूत्रों के श्रीभाष्य में "बृहदारण्यकोपनिषद्" के चतुर्थ अध्याय के तृतीय ब्राह्मरा की तीसवीं कण्डिका के "न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते" इस वाक्य को उद्धृत किया है ॥३०॥

यत्र वा अन्यदिव स्यात्तत्रान्योऽन्यत् पश्येदन्योऽन्यज्जिघ्रेदन्योऽन्यद्रसयेदन्योऽन्यद्वदेदन्योऽन्यच्छृरगुयादन्योऽन्यन्मन्वीतान्योऽन्यत्स्पृशेदन्योऽन्यद्विजानीयात्॥३१॥

अन्वयार्थ-(वै) निश्चय करके (यत्र) जिस जाग्रत् या स्वप्नस्थान में स्थित पुरुष के (अन्यत्) अपने से अन्य के (इव) समान वस्तु (स्यात्) होवे (तत्र) उस अवस्था में (अन्यः) अन्य पुरुष (अन्यत्) अपने से अन्य कुसुमादि को (जिघ्रेत्) सूँघे तथा (अन्यः) अन्य पुरुष (अन्यत्) अपने से अन्य दुग्धादि को (रसयेत्) रस लेवे और (अन्यः) अन्य पुरुष (अन्यत्) अपने से अन्य शब्दों को (वदेत्) बोले तथा (अन्यः) अन्य पुरुष (अन्यत्) अपने से अन्य संहिता को (शृणुयात्) सुने तथा (अन्यः) अन्य पुरुष (अन्यत्) अपने से अन्य गौ आदि को (स्पृशेत्) छूवे तथा

(अन्यः) अन्य पुरुष (अन्यत्) अपने से अन्य शास्त्र आदि को (विजानीयात्) विशेष रूप से जाने ॥३१॥

विशेषार्थ- निश्चय करके जिस जागरित या स्वप्नस्थान में स्थित पुरुष को अपने से भिन्न अन्य के समान कोई वस्तु होती है उस अवस्था में अन्य पुरुष अपने से अन्य वस्तु को देख सकता है। और अन्य पुरुष अपने से अन्य फूल आदि को सूँघ सकता है। तथा अन्य पुरुष अपने से अन्य दूध आदि को चख सकता है। और अन्य पुरुष अपने से अन्य शब्द को बोल सकता है। तथा अन्य पुरुष अपने से अन्य संहिता को सुन सकता है। और अन्य पुरुष अपने से अन्य वस्तु को मनन कर सकता है। तथा अन्य पुरुष अपने से अन्य गौ आदि को स्पर्श कर सकता है। तथा अन्य पुरुष अपने से अन्य शास्त्र आदि को विशेष रूप से जान सकता है। और सुषुप्ति में तो पृथक् सिद्ध दृश्य पदार्थ के अभाव होने से तथा कर्म सम्बन्ध के उपराम हो जाने पर कारण के सहित भूतेन्द्रिय सम्बन्ध के अभाव होने से अन्यवस्तु का दर्शन नहीं होता है ॥१३१॥

सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवत्येष ब्रह्मलोकः सम्राडिति हैनमनुशशास याज्ञवल्क्यः। एषाऽस्य परमा गतिः। एषाऽस्य परमा सम्पत्। एषोऽस्य परमो लोकः। एषोऽस्य परमानन्दः। एतस्यैवाऽऽनन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति ॥३२॥

अन्वयार्थ- जैसे (सलिले) जल में प्रक्षिप्त जल एक हो जाता है वैसे ही सुषुप्ति में जल के समान स्वच्छ स्वभावयुक्त परमात्मा में लीन यह (द्रष्य) देखने वाला जीव (एकः) प्राज्ञात्मा के परिष्वङ्ग में एक हुआ (अद्वैतः) देवादि लक्षण भेदक आकार शून्य (भवति) होता है। (सम्राट्) हे सम्राट् (एषः) यह सुषुप्त्याधार ही (ब्रह्मलोकः) ब्रह्मलोक है यानी परमात्मा है (इति) इस प्रकार (ह) सुप्रसिद्ध (याज्ञवल्क्यः) आचार्य याज्ञवल्क्य ने (एनम्) इस जनक महाराज को (अनुशशास) उपदेश दिया। हे सम्राट् (अस्य) इस जीवात्मा को अर्चिरादिगति से (परमा) परम प्राप्या (गतिः) गति (एषा) यह सुषुप्त्याधर परमात्मा ही है और (अस्य) इस जीवात्मा की (परमा) तत्त्वज्ञानादि से परम प्राप्य (सम्पत्) सम्पत्ति (एषा) यह सुषुप्त्याधार परमात्मा ही है तथा (अस्य) इस जीवात्मा के (परमः) शाश्वत (लोकः) भोगस्थान (एषः) यह सुषुप्त्याधार परमात्मा ही है और (अस्य) इस जीवात्मा के (परमानन्दः) निरतिशयानुकूल परमानन्द (एषः) यह सुषुप्त्याधार परमात्मा ही है (एव) निश्चय करके (एतस्य) इस (आनन्दस्य)

निरतिशयानुकूल आनंद की (मात्राम्) सहस्रांश की एक कला को लेकर (अन्यानि) स्वर्गादिवैषयिक सुखों को अनुभव करनेवाले अन्य सब (भूतानि) प्राणी (उपजीवन्ति) उपजीवन धारण करते हैं यानी अनुभव करते हैं ॥३२॥

विशेषार्थ- जैसे जल में प्रक्षिप्त जल एक हो जाता है। वैसे ही सुषुप्ति स्थान में जल के समान स्वच्छस्वभाव परब्रह्म नारायण में लीन यह द्रष्टा जीवात्मा, प्राज्ञात्मा के परिष्वङ्ग से एक हुआ देवादि लक्षण भेदक आकार से रहित हो जाती है। हे सम्राट्! यह सुषुप्त्याधार ही ब्रह्मलोक है यानी परमात्मा है। इस प्रकार सुप्रसिद्ध आचार्य याज्ञवल्क्य ने इस जनक महाराज को उपदेश दिया। हे सम्राट् इस जीवात्मा की अर्चिरादिगति से परमप्राप्य गति यह सुषुप्त्याधार परब्रह्म नारायण ही है। और इस जीवात्मा की परमप्राप्य सम्पत्ति यह सुषुप्त्याधार परमेश्वर ही है। तथा इस जीवात्मा का शाश्वतभोगस्थान यह सुषुप्त्याधार परब्रह्म नारायण ही है। और इस जीवात्मा के निरतिशयानुकूल परम आनंद यह सुषुप्त्याधार परमात्मा ही है। क्योंकि लिखा है- **यो वै भूमा तत्सुखम्॥** (छा० उ० प्र० ७ खं० २३ श्रु० १) निश्चय करके जो विपुल यानी बहुत गुणोत्कर्ष है वही अत्यन्तानुकूल सुख है ॥१॥ और निश्चय करके इस निरतिशयानुकूल आनन्द के सहस्रांश की एक कला को लेकर स्वर्गादिवैषयिकसुख को अनुभव करनेवाले अन्य सब जीव अनुभव करते हैं यानी भोग करते है ॥३२॥

स यो मनुष्याणां राद्धः समृद्धो भवत्यन्येषामधिपतिः सर्वैर्मानुष्यकैर्भोगैः संपन्नतमः स मनुष्याणां परम आनन्दः । अथ ते ये शतं मनुष्याणामानन्दाःस एकः पितृणां जितलोकानामानन्दः । अथ ते ये शतं पितृणां जितलोकानामानन्दाः स एको गन्धर्वलोकआनन्दोऽथ ते ये शतं गन्धर्वलोकआनन्दाः स एकः कर्मदेवानामानन्दः। ये कर्मणा देवत्वमभिसंपद्यन्ते। अथ ते ये शतं कर्मदेवानामानन्दाः स एक आजानदेवानामानन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतः । अथ ते ये शतमाजानदेवानामानन्दाः स एकः प्रजापतिलोकआनन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतोऽथ ते ये शतं

प्रजापतिलोकआनन्दाः स एको ब्रह्मलोकआनन्दः। यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतोऽथैष एव परमानन्द एष ब्रह्मलोकः समाडिति होवाच याज्ञवल्क्यः सोऽहं भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीति । अत्र ह याज्ञवल्क्यो बिभयाञ्चकार मेधावी राजा सर्वेभ्योमाऽन्तेभ्य उदरौत्सीदिति ॥३३॥

अन्वयार्थ–(सः) वह (यः) जो कोई (मनुष्याणाम्) मनुष्यों के बीच (राद्धः) सिद्धोपायसिद्ध (समृद्धः) युवत्वादिगुरों से समृद्ध (अन्येषाम्) अन्य पृथ्वी के सब मनुष्यों का (अधिपतिः) स्वतन्त्र राजा और (मानुष्यकैः) मनुष्य सम्बन्धी (सर्वैः) समस्त (भोगैः) भोगों से (संपन्नतमः) अतिशय संपन्न (भवति) होता है (सः) वह उत्तमलक्षरा आनन्द (मनुष्याणाम्) मनुष्यों के मध्य में (परमः) श्रेष्ठ (आनन्दः) आनन्द है (अथ) और (ते) वे (ये) जो (शतम्) एक सौ (मनुष्याणाम्) मनुष्यों के (आनन्दाः) आनन्द हैं (सः) वह (जितलोकानाम्) श्राद्धादिकर्मों से पितरों को संतुष्ट कर पितृलोक को जीतने वाले (पितृणाम्) पितरों का (एकः) एक (आनन्दः) आनन्द है (अथ) और (ते) वे (ये) जो (शतम्) एक सौ (जितलोकानाम्) श्राद्धादिकर्मों से पितरों को संतुष्टकर पितृलोक को जितने वाले (पितृणाम्) पितरों के (आनन्दाः) आनन्द हैं, (सः) वह (गन्धर्वलोके) गन्धर्वलोक में (एकः) एक (आनन्दः) आनन्द है (अथ) और (ते) वे (ये) जो (शतम्) एक सौ (गन्धर्वलोके) गन्धर्वलोक में (आनन्दाः) आनन्द हैं (सः) वह (कर्मदेवानाम्) अग्निहोत्रादिवैदिक कर्म से अग्नि इन्द्र आदिक के सायुज्य प्राप्त हुए कर्म देवों का (एकः) एक (आनन्दः) आनन्द है (ये) जो लोग (कर्मणा) वेदोक्त अग्निहोत्रादि कर्मों से (देवत्वम्) देवत्व को (अभिसंपद्यन्ते) भलीभाँति प्राप्त होते हैं वे कर्मदेव कहलाते हैं (अथ) और (ते) वे (ये) जो (शतम्) एक सौ (कर्मदेवानाम्) अग्निहोत्रादिवैदिककर्म से अग्नि इन्द्र आदिक के सायुज्य प्राप्त हुए कर्म देवों के (आनन्दाः) आनन्द हैं (सः) वह (आजानदेवानाम्) कल्पके आदि में प्रसिद्ध आजान देवों का (एकः) एक (आनन्दः) आनन्द है (च) और (यः) जो (अवृजिनः) निष्पाप तथा (अकामहतः) विषयभोग की कामना से रहित (श्रोत्रियः) श्रोत्रिय वेदवेत्ता है उसका भी आनन्द आजान देव के बराबर है (अथ) और (ते) वे (ये) जो (शतम्) एक सौ (आजानदेवनाम्) कल्पके आदि में प्रसिद्ध अजानदेवों के (आनन्दाः) आनन्द हैं (सः) वह (प्रजापतिलोके) चतुर्मुखब्रह्मा के लोक में (एकः)

एक (आनन्दः) आनन्द है (च) और (यः) जो (अवृजिनः) पापरहित तथा (अकामहतः) विषयभोग की कामना से रहित (श्रोत्रियः) श्रोत्रिय वेदवेत्ता है उसका भी आनन्द चतुर्मुखब्रह्मा के समान ही है (अथ) और (ते) वे (ये) जो (शतम्) एकसौ (प्रजातिलोके) चतुर्मुखब्रह्मा के लोक में (आनन्दाः) आनन्द है (सः) वह (ब्रह्मलोके)पर ब्रह्मनारायण के लोक में (एकः) एक (आनन्दः)आनन्द हैं (च) और (यः) जो (अवृजिनः) पापरहित तथा (अकामहतः) विषय भोग की कामना से रहित (श्रोत्रियः) श्रोत्रिय वेदवेत्ता है उसका भी आनन्द परब्रह्मनारायरा के समान है (अथ) और (सम्राट्) हे सम्राट् (एषः) यही (ब्रह्मलोकः) ब्रह्मलोक है (इति) ऐसा (ह) सुप्रसिद्ध आचार्य (याज्ञवल्क्यः) याज्ञवल्क्य ने (उवाच) कहा (इति) इस उपदेश को सुनकर जनकमहाराज ने कहा कि हे गुरुदेव इस विद्या की दक्षिण में (सः) वह आपका शिष्य (अहम्) जनकनाम वाला मैं (भगवते) षडैश्वर्य सम्पन्न पूज्य आपके लिये (सहस्रम्) एक हजार गाय (ददामि) देता हूँ (अतः) इसके (ऊर्ध्वम्) आगे (विमोक्षय) विशेष रूपसे मोक्ष के लिये (एव) ही (ब्रूहि) साधन कहिये यही मेरी प्रार्थना है अन्य कुछ भी अपेक्षित नहीं है (इति) इस बात को सुनकर (अत्र) यहाँ पर (ह) सुप्रसिद्ध आचार्य (याज्ञवल्क्यः) याज्ञवल्क्य जी (बिभयाञ्चकार) डर गये कि (मेधावी) कही हुई वार्ता को धारण करने वाली बुद्धिवाला (राजा) यह राजा जनक (मा) मुझको (सर्वेभ्यः) संपूर्ण प्रश्नों के (अन्तेभ्यः) निर्णयों के लिए (उदरौत्सीत्) उपरोध कर दिया अर्थात् रोक दिया इसके आगे अब प्रश्न न करे इस कारण से भयभीत हो गये ।।३३।।

विशेषार्थ—अब आनन्द की मीमांसा की जाती है कि—वह जो कोई मनुष्यों के बीच में सिद्धोपायसिद्ध तथा नवयुवकादिगुणों से समृद्ध अर्थात् हृष्ट, पुष्ट, बलिष्ट, धनधान्य, पशु, स्त्री, पुत्रपौत्रादिभरपूर अन्य पृथ्वी के सब मनुष्यों के स्वतंत्र राजा और मनुष्य सम्बन्धी संपूर्ण भोग की सामग्रियों से अतिशय संपन्न होता है। वह उत्तम लक्षरा आनन्द मनुष्यों के मध्य में श्रेष्ठ आनन्द है इससे बढ़कर मनुष्यों में आनन्द नहीं और वे पूर्वोक्त मनुष्यों के एक सौ आनन्द हैं वही श्राद्धादिकर्मों से पितरों को संतुष्ट कर पितृलोक को जीतने वाले पितृगण का एक आनन्द है। जिन्होंने श्राद्धादि कर्मों से पितरों को संतुष्टकर उस कर्म से पितृलोक को जीता है, वे जितलोक पितृगरा कहे जाते हैं। पितर मनुष्य से अलग हैं। क्योंकि लिखा है **अथैनं पितरः प्राचीनावीतिनः सव्यं जान्वाच्योपासीदंस्तानब्रवीन्मासि मासि वोऽशनं स्वधा वो मनोजवश्चन्द्रमा वो ज्योतिः ॥** (शतपथ० २/४/२/२) पितर अपसव्य हो बाई जाँघ झुकाकर बैठे, प्रजापति ने कहा महीने महीने यज्ञ तुम्हारा स्वधायुक्त भोजन का अन्न, मन के समान

वेग और चन्द्रमा ज्योति होगा ।।२।। **तिर इव हि पितरो मनुष्येभ्यः ॥** (शतप० २/३/४/२) मनुष्यों से पितर अन्तर्हित रहते हैं ।।२।। **तृतीया ह प्रद्यौरिति यस्यां पितर आसते।।** (अथर्व० कां० १८ सू० २ मं० ४८) सबसे ऊपर अन्तरिक्षका तीसरा भाग सूर्यादि के प्रखर प्रकाशवाला होने से प्रद्यौ कहलाता है । यहाँ पितरों का लोक है । वहाँ ही पितर लोग रहते हैं ।।४८।। और वे जो पूर्वोक्त एक सौं, श्राद्धादिकर्मों से पितरों को संतुष्ट कर पितृलोक को जीतने वाले पितरों के आनन्द हैं वही गन्धर्वों का एक आनन्द है । गन्धर्व के विषय में लिखा है– **याज्ञवल्क्येति होवाच । मद्रेषु चरका पर्यव्रजाम । ते पतञ्चलस्य काप्यस्य गृहानैम । तस्यासीद्दुहिता गन्धर्वगृहीता । तमपृच्छाम । कोऽसीति सोऽब्रवीत्सुधन्वाङ्गिरस इति ॥** (बृह० उ० अ० ३ ब्रा० ३ कं० १) लाभ्यायनि भुज्यु ने याज्ञवल्क्य से कहा कि–हे याज्ञवल्क्य! हम अध्ययनार्थ व्रताचरण करते हुए मद्रदेश में विचरते थे कि कपिगोत्रोत्पन्न पतञ्चल नामक के घर पहुँचे, उसकी पुत्री गन्धर्व से गृहीत थी । हमने उससे पूछा तू कौन है ? वह बोला मैं आङ्गिरस गोत्रवाला सुधन्वा नाम वाला हूँ ।।१।। **यक्षरक्ष:पिशाचांश्च गन्धर्वाप्सरसोऽसुरान् । नागान्सर्पान्सुपर्णांश्च पितृणां च पृथग्गणान् ॥** (मनु० अ० १श्लो० ३७) यक्ष, राक्षस, पिशाच, गन्धर्व, अप्सरा, असुर, नाग, सर्प, गरुड़ और पितृगणो को भी अलग अलग उत्पन्न किया ।।३७।। **गन्धर्वाणां देवगायकानाम् ॥** (रामानुजभाष्यगी० १० श्लो० २६) गन्धर्वों में यानी देवगायकों में ।।२६।। स्त्री की कामना करनेवाले देवगायकों को गन्धर्व कहते हैं । और गन्धर्वों के वे जो एक सौ आनंद हैं वही कर्मदेवों का एक आनंद है । आगे कर्मदेव को स्वतः श्रुति कहती है कि–जो लोग श्रौत अग्निहोत्रादि कर्मों से देवत्व प्राप्त करते हैं वे कर्मदेव कहलाते हैं और अग्निहोत्रादि वैदिक कर्म से अग्नि, इन्द्र आदिक के सायुज्य प्राप्त हुए कर्मदेवों के जो एक सौ आनंद हैं । वही कल्प के आदि में प्रसिद्ध आजान देवों का एक आनंद है । कल्प के आदि में उत्पत्ति से ही जो देवता होते हैं वे आजानादेव कहलाते हैं । देवगण मनुष्य से अलग हैं क्योंकि लिखा है–**देवा यज्ञोपवीतिनो भूत्वा दक्षिणां जान्वाच्योपासीदंस्तानब्रवीद्यज्ञा वोऽन्नममृतत्वं व ऊर्ग्वः सूर्यो वो ज्योतिः ॥** (शतपथ २/४/२/१) देवता यज्ञोपवीति होकर दक्षिण जाँघ झुका कर बैठे । प्रजापति ने कहा कि–यज्ञ तुम्हारा अन्न, अमृत तेज, और सूर्य ज्योति होगा ।।१।। और जो जन्मसिद्ध आजानदेव का आनंद है । वह आनंद पापरहित तथा विषयभोग की कामना रहित श्रोत्रिय--वेदवेत्ता विरक्त पुरुष को तो स्वाभाविक प्राप्त है । यहाँ पर "वृजिन" शब्द पाप वाचक है । क्योंकि लिखा है–**कलुषं वृजिनैनोघमंहो दुरितदुष्कृतम् ॥** (अमर० का० १ व० ४ श्लो० २३) कलुष १, वृजिन २, एनस् ३, अघ ४, अंहस् ५ दुरित ६, दुष्कृत ७ ये पाप के नाम हैं ।।२३।। **श्रोत्रिय के लक्षण**

श्रोत्रियान् ॥ (कात्यायनश्राद्धक० कण्डिका १ सू० ७) के भाष्य में लिखा है—**एकशाखां सकल्पाञ्च षड्भिरङ्गैरधीत्य च । षट्कर्मनिरतो विप्रः श्रोत्रियो नाम धर्मवित् ॥ (देवल०) जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्कारैर्द्विज उच्यते । विद्यया याति विप्रत्वं त्रिभिः श्रोत्रिय उच्यते ॥** व्याकरण १, शिक्षा २, कल्प ३, छन्द ४, निरुक्त ५ और ज्योतिष् ६ इन छः अङ्गों के साथ केवल एक अपने वेद की शाखा को पढ़कर जो वेदपाठी धर्मवेत्ता ब्राह्मण अध्ययन १, अध्यापन २, यजन ३, याजन ४, दान ५, प्रतिग्रह ६ इन छः कर्मों में निरत रहता है उसको श्रोत्रिय कहते हैं ।। शुद्ध ब्राह्मण से शुद्ध ब्राह्मणी धर्मपत्नी में जन्म होने से ब्राह्मण कहा जाता है और यज्ञोपवीत आदिक संस्कारों से द्विज कहा जाता है तथा विद्या से विप्रत्व को प्राप्त करता है और पूर्वोक्त तीनों से श्रोत्रिय कहा जाता है । अर्थात् जिसका शुद्ध ब्राह्मण जाति में जन्म हो तथा उपनयन आदिक संस्कार हुआ हो और विद्या अध्ययन किया हो उसको श्रोत्रिय कहते हैं ।। और कल्प के आदि में प्रसिद्ध आजान देवों के वे जो एक सौ आनंद हैं वही चतुर्मुख ब्रह्मा का एक आनंद है । यहाँ पर "प्रजापति" शब्द चतुर्मुख ब्रह्मा का वाचक है । क्योंकि लिखा है—स्रष्टा प्रजापतिर्वेधा विधाता विश्वसृड्विधिः ।। (अमर० कां० १ व१ श्लो १७) स्रष्टा १, प्रजापति २, वेधा ३, विधाता ४, विश्वसृट् ५, विधि ६ ये चतुर्मुख ब्रह्मा के नाम हैं ।।१७।। और जो चतुर्मुख ब्रह्मा का आनन्द है, वह आनन्द पापरहित तथा विषयभोग की कामनारहित श्रुतवेदांतमुक्त पुरुष को तो स्वाभाविक प्राप्त है और चतुर्मुख ब्रह्म के वे जो एक सौ आनंद हैं वह परब्रह्म नारायण का एक आनंद है । और वह आनंद पाप रहित तथा प्राकृत विषयभोग की कामना से रहित श्रुतवेदांत मुक्तपुरुष को तो भगवान्की दया से स्वाभाविक ही प्राप्त होता है । और हे सम्राट् जनक ! यही निश्चय करके परम आनंद है तथा यही ब्रह्मलोक है । ऐसा सुप्रसिद्ध आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा । इस उपदेश को सुनकर जनक महाराज ने कहा कि—हे आचार्यदेव ! इस विद्या की दक्षिणा में वह श्रीचरणों का शिष्य जनक नामवाला मैं षडैश्वर्य सम्पन्न पूज्य आपको एक सहस्र गायें देता हूँ । अब इसके आगे मोक्ष के लिये उपदेश कीजिये । जिससे कि आपकी कृपा से मैं संसार से विमुक्त हो जाऊँ । यही मेरी प्रार्थना है ! और अन्य कुछ भी मैं नही चाहता हूँ । इस बात को सुनकर यहाँ पर सुप्रसिद्ध आचार्य याज्ञवल्क्य जी डर गये कि—इस अत्यंत मेधावी जनकराजा ने मुझको समस्त प्रश्नों के निर्णय के लिए उपरोध कर दिया । अर्थात् रोक दिया । इसके आगे अब प्रश्न न करे इस कारण से भयभीत हो गये । और तैत्तिरीयोपनिषद् में भी लिखा है—**सैषानन्दस्य मीमांसा भवति । युवास्यात्साधु युवाध्यायकः । आशिष्ठो दृढिष्ठो बलिष्ठः । तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात् । स एको मानुष आनन्दः । ते ये शतं मानुषा आनन्दाः ॥** (तैत्ति० उ० व० २ अनु० ८ श्रु०

१) स एकोमनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते येशतं मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दाः स एको देवगन्धर्वाणामानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतंदेवगन्धर्वाणामानन्दाः । स एकः पितृणां चिरलोकलोकानामानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं पितृणां चिरलोकलोकानामानन्दाः । स एक आजानजानां देवानामानन्दः ॥२॥ श्रोत्रियस्य चकामहतस्य । ते ये शतमाजानजानां देवानामानन्दाः । स एकः कर्मदेवानां देवानामानन्दः । ये कर्मणा देवानपियन्ति । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं कर्मदेवानां देवानामानन्दाः । स एको देवानामानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं देवानामानन्दाः । स एक इन्द्रस्यानन्दः ॥३॥ श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतमिन्द्रस्यानन्दाः । स एको बृहस्पतेरानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहातस्य । ते ये शतं बृहस्पतेरानन्दाः । स एकः प्रजापतेरानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः । स एको ब्रह्मरा आनन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ॥४॥ वह आगे कहा जानेवाला यह आनंद विषय का विचार आरम्भ होता है । जो कोई नवयुवक हो वह भी ऐसा वैसा नहीं, श्रेष्ठ आचरणों वाला नवयुवक हो और यथाविधि सम्प्रदाय के अनुसार स्वरवर्ण, विभ्रंश रहित वेदों का अध्ययन कर चुका हो और शासन में अत्यन्त कुशल हो अथवा आशुतर क्रियावाला हो या अशनक्षम रोगरहित हो तथा उसके सम्पूर्ण अङ्ग और इन्द्रियाँ सर्वथा दृढ़ हों या अव्यवस्थित स्वभाववाला न हो तथा वह सब प्रकार से शारीरिक और मानस आत्मिक बल से युक्त हो और यह धन गुण विभूति से परिपूर्ण भरी हुई सब की सब भूमि उसे ही प्राप्त हो जाय तो वह मनुष्य का एक आनंद है । और वे जो एक सौ मनुष्य सम्बन्धी आनंद हैं ॥१॥ वह सौ मानव आनंद मनुष्य गन्धर्वों का एक आनंद होता है । और विषयभोग की कामना से रहित वेदवेत्ता पुरुष का भी वह स्वाभाविक आनंद है । और वे पूर्वोक्त जो मनुष्य गन्धर्वों के एक सौ आनंद हैं, वह देव गन्धर्वों का एक आनंद है । और विषयभोग की कामना से रहित वेदज्ञ ज्ञानी पुरुष का भी वह स्वाभाविक आनंद है । तथा वे पूर्वोक्त जो देवगन्धर्वों के एक सौ आनंद हैं । वह चिरस्थायी पितृलोक में रहनेवाले पितरों का एक आनंद है । और विषय भोग की कामना से रहित वेदवेत्ता पुरुष का भी वह स्वाभाविक आनन्द है । तथा वे पूर्वोक्त जो चिरस्थायी पितृलोक में रहनेवाले पितरों के एक सौ आनंद हैं। वह स्मार्त कर्म विशेष से देवलोक में उत्पन्न होनेवाले आजानज नामक देवताओं का एक आनंद है ॥२॥ विषयभोग की कामना से रहित वेदवेत्ता पुरुष का भी वह स्वाभाविक आनंद है । तथा वे पूर्वोक्त जो स्मार्त कर्म विशेष से देवलोक में उत्पन्न होनेवाले आजानज नामक देवताओं के एक सौ आनंद हैं । वह अग्निहोत्रादि वैदिककर्म

से अग्नि, इन्द्र आदिक के सायुज्य प्राप्त हुए कर्मदेव नामक देवताओं का एक आनंद है। जो वेदोक्त अग्होत्रादिक कर्मों से देवताओं को प्राप्त करते हैं। वे कर्मदेव कहलाते हैं। और विषय भोग की कामना से रहित श्रोत्रिय–वेदवेत्ता पुरुष का तो वह स्वाभाविक आनंद है। तथा वे पूर्वोक्त जो अग्होत्रादि वैदिककर्म से अग्नि, इन्द्र आदिक के सायुज्य प्राप्त हुए कर्मदेव नामक देवताओं के एक सौ आनंद है। वह यज्ञ में हविर्भाग लेनेवाले वसु, रुद्र आदिक देवताओं का एक आनन्द है। और विषय भोग की कामना से रहित वेदवेत्ता पुरुष का तो वह आनन्द स्वभाव से ही प्राप्त है। और वे पूर्वोक्त जो वसु, रुद्रादिक देवताओं को एक सौ आनंद है। वह देवराज इन्द्र का एक आनंद है ॥३॥ और इन्द्र तक के विषय भोग की कामना से रहित वेदवेत्ता पुरुष का तो वह स्वाभाविक आनंद है। वे पूर्वोक्त जो देवराज इन्द्र के एक सौ आनंद हैं। वह देव पुरोहित बृहस्पति का एक आनंद है और बृहस्पति तक के विषय भोग की कामना से रहित वेदवेत्ता ज्ञानी पुरुष का तो वह स्वाभाविक आनंद है। वे पूर्वोक्त जो देवाचार्य बृहस्पति के एक सौ आनंद हैं। वह चतुर्मुख ब्रह्मा का एक आनंद है। वह चतुर्मुख ब्रह्मा तक के विषय भोग की कामना से रहित वेदवेत्ता ज्ञानी पुरुष को तो वह स्वाभाविक आनंद है। तथा वे पूर्वोक्त जो चतुर्मुख ब्रह्मा के एक सौ आनंद हैं। वह परब्रह्म नारायरा का एकआनन्द गुरा है। और प्राकृत विषय भोगों की कामना से रहित वेदवेत्ता ज्ञानी पुरुष को तो वह भगवत्कृपा से स्वाभाविक आनंद है ॥४॥ पूर्वोक्त प्रकृत श्रुति के आधार पर ही योगीन्द्र श्रीमद्यामुनाचार्यने कहा है कि–**उपर्युपर्य्यब्जभुवोऽपि पुरुषान् प्रकल्प्य ते ये शतमित्यनुक्रमात्। गिरस्त्वदेकैकगुणावधीप्सया सदा स्थिता नोद्यमतोऽतिशेरते ॥** स्तोत्ररत्न० श्लोक २२) हे भगवन्! सम्पूर्ण वेदवाराी आपके एक एक गुरा के अंत को प्राप्त करने की इच्छा करके कमल से उत्पन्न प्रजापति यानी ब्रह्मा के भी ऊपर "वे जो सौ आनंद हैं" इस प्रकार अनुक्रम से समस्त पुरुषों की कल्पना करके निरंतर स्थित हुईं उद्योग से नही निवृत्ति को प्राप्त हुईं ॥२२॥ इस श्लोक का विशेष अर्थ जिसको जानना हो तो वह मेरी बनायी हुई स्तोत्ररत्न की "भावप्रकाशिका" व्याख्या को देख ले। गद्यत्रयनिर्माता भगवद्रामानुजाचार्यने–अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॥ (शा० मी० अ० १ पा० १ सू० १) के श्रीभाष्य में "बृहदारण्यकोपनिषद्" के चतुर्थ अध्याय के तृतीय ब्राह्मरा की तैतीसवीं कण्डिका के "ते ये शतम्" इस खण्ड को उद्धृत किया है ॥२३॥

स वा एष एतस्मिन् स्वप्नान्ते रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति

बुद्धान्तायैव ॥३४॥

अन्वयार्थ– (वै) निश्चय करके (सः) वह (एषः) यह जीवात्मा (एतस्मिन्) इस (स्वप्नान्ते) स्वप्नस्थान में (रत्वा) स्त्रियों के साथ क्रीडाकर (च) और (चरित्वा) बन्धु बान्धवों के साथ भ्रमरा कर अथवा भक्षरा कर (एव) निश्चय करके (पुण्यम्) पुण्य के फल सुख को (च) और (पापम्) पाप फल दुःख को (दृष्ट्वा) देखकर यानी अनुभव कर (पुनः) फिर (प्रतिन्यायम्) जिस प्रकार आया था उसी प्रकार उलटे वापस होता हुआ (प्रतियोनि) उसी स्थान के प्रति (बुद्धान्ताय) जाग्रत् स्थान के लिये (एव) ही (आद्रवति) लौट आता है ॥३४॥

विशेषार्थ– निश्चय करके वही यह जीवात्मा इस स्वप्नस्थान में "स्वप्नान्ते" इस पद में अन्त शब्द स्थान वाचक है। क्योंकि लिखा है कि **अन्तः समाप्तौ स्थाने च निर्णयेऽभ्यन्तरेऽपिच ॥** नैघण्टुक०॥ समाप्ति में, स्थान में, निर्णय में और अभ्यन्तर में अन्त शब्द प्रयुक्त होता है ॥ स्वप्न स्थान में वनिताओं के साथ क्रीडाकर और बन्धु बान्धवों के साथ भ्रमरा कर निश्चय करके पुण्य के फल सुख को और पाप के फल दुःख को अनुभवकर प्रातिन्याय यानी जैसे आया था वैसे ही उलटे वापस होता हुआ प्रतियोनि यानी उसी स्थान के प्रति अर्थात् जाग्रत् स्थान के लिये ही लौट आता है ॥३४॥

तद् यथाऽनः सुसमाहितमुत्सर्जद् यायादेवमेवायं शरीर आत्मा प्राज्ञेनाऽऽत्मनाऽन्वारूढ उत्सर्जद् याति । यत्रैतदूर्ध्वोच्छ्वासी भवति ॥३५॥

अन्वयार्थ– (तत्) उस विषय में दृष्टांत कहा जाता है कि (यथा) लोक में जिस प्रकार (सुसमाहितम्) अधिक बोझ लदा हुआ (अनः) छकड़ा (उर्त्सजत्) पूर्वदेश को छोड़कर (यायात्) चलता है (एवम्) उसी प्रकार (एव) निश्चक करके (अयम्) यह शकट स्थानीय (शरीरः) शरीर में रहने वाली (आत्मा) जीवात्मा (प्राज्ञेन) सारथिस्थानीय प्राज्ञ (आत्मना) परमात्मासे (अन्वारूढः) अधिष्ठित हो अर्थात् संबन्ध विशेषको पाकर (उत्सर्जत्) पूर्वशरीर को छोड़कर (याति) जाता है (यत्र) जब (एतत्) यह शरीर (उर्ध्वोच्छ्वासी) ऊर्ध्वोच्छ्वास छोड़नेवाला (भवति) हो जाता है ॥३५॥

विशेषार्थ– उस जीवात्मा के विषय में दृष्टांत कहा जाता है कि जैसे इसलोक में गृहसामग्री तथा खाद्य सामग्री आदि बहुत अधिक बोझे से लदा हुआ छकड़ा पूर्वदेश को परित्यागकर चीं चीं आदि शब्दों को करता हुआ मार्ग में चलता है। यहाँ पर "अनस्"

शब्द छकड़ावाचक है । क्योंकि लिखा है **॥ क्लीवेऽनः शकटोऽस्त्री स्यात् ॥** अमर॰ कां॰ २ व॰ ८ श्लो॰ ५२ ॥ अनस १, शकट २ ये छकड़े के नाम हैं ॥५२॥ वैसे ही यह शकटस्थानीय शरीर में रहने वाली जीवात्मा सारथि स्थानीय प्राज्ञ परब्रह्म नारायरा से अधिष्ठित हो यानी संबन्ध विशेष को पाकर पूर्वशरीर को परित्याग कर आर्त शब्द करती हुई जाती है । किस समय में जाती है सो आगे बतलाया जाता है कि जिस समय में यह शरीर ऊपर की श्वास छोड़ने वाला होता है । भगवदाराधनग्रन्थसंस्कर्ता भगवद्रामानुजाचार्यने–**अथातो ब्रह्मजिज्ञासा** ॥ (शा॰ मी॰ अ॰ १ पा॰ १ सू॰ १॥ सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन ॥ (शा॰ मी॰ अ॰ १ पा॰ ३ सू॰ ३४ ॥ **अधिकं तुभेदनिर्देशात्** ॥ (शा॰ मी॰ अ॰ २ पा॰ १ सू॰ २२ ॥ इन तीनों सूत्रों के श्रीभाष्य में "बृहदारण्यकोपनिषद्" के चतुर्थ अध्याय के तृतीय ब्राह्मरा की पैंतीसवीं कण्डिका के "प्राज्ञेनात्मनाऽन्वारूढ़:" इस खण्ड को उद्धृत किया है ॥३५॥

स यत्रायमणिमानं न्येति जरया वोपतपता वाऽणिमानं निगच्छति । तद् यथाऽम्रं वोदुम्बरं वा पिप्पलं वा बन्धनात्प्रमुच्यत एवमेवायं पुरुष एभ्योऽङ्गेभ्यः संप्रमुच्य पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति प्राणायैव ॥३६॥

अन्वयार्थ– (सः) वह (अयम्) यह प्राकृत सिर हाथ पांव आदि अवयवों वाला पिण्ड (यत्र) जिस समय में (अणिमानम्) कृशता को (न्येति) निश्चय करके प्राप्त होता है (जरया) वृद्धावस्था से (वा) अथवा (उपतपता) ज्वरादिरोग के कारण से (वा) ही (अणिमानम्) कृशता को (निगच्छति) निश्चय करके प्राप्त होता है तदनन्तर ऊर्ध्वश्वासी होता है (तत्) उस समय में (यथा) जैसे (आम्रम्) आम का फल (वा) अथवा (उदुम्बरम्) गूलर का फल (वा) अथवा (पिप्पलम्) पीपल का (वा) ही फल (बन्धनात्) अपने वृक्षरूप बन्धन से कालवश जीर्ण हो (प्रमुच्यते) छूट कर गिर पड़ता है (एवम्) वैसे (एव) ही (अयम्) यह प्राण करणग्राम सहित (पुरुषः) पुरुष (एभ्यः) इन हस्तपादादिक (अङ्गेभ्यः)अवयवों से (संप्रभुच्य) अच्छे प्रकार छूटकर (पुनः) अवयवोंफिर (प्रतिन्यायम्) जैसे पहले आया था वैसे ही (प्रतियोनी) ब्राह्मणादियोनि के प्रति (प्राणाय) जीवन के लिये (एव) ही (आद्रवति) चला जाता है ॥२६॥

विशेषार्थ–वही यह प्राकृत शिर, हाथ पांव आदि अवयवों वाला पिण्ड, जिस काल में वृद्धावस्था से–काल द्वारा पकाये हुए फलके समान स्वयं ही जीर्ण हो कृशता

को प्राप्त होता है। अथवा ज्वरादि रोग के कारण से कृशता को प्राप्त होता है। क्योंकि ज्वरादिरोग से उपतप्त हुआ पुरुष विषम अग्नि हो जाने के कारण खाये हुए अन्न को नहीं पचा सकता, अतः अन्न के रस से वृद्धि को प्राप्त न करने वाला पिण्ड कृशता को प्राप्त हो जाता है। जिस समय वृद्धावस्थादि कारणों से शरीर अत्यन्त कृशता को प्राप्त हो जाता है, उस समय जीव ऊर्ध्वोच्छ्वास लेने लगता है। और उस समय में आम का फल या गूलर का फल अथवा पीपल का फल अपने वृन्तरूप बन्धन से काल वश जीर्ण हो छूटकर गिर पड़ता है। इसी दृष्टांत के अनुसार यह प्राणेन्द्रियग्राम सहित पुरुष इन हाथ पांव आदिक अवयवों से अच्छे प्रकार छूटकर फिर जैसे आया था वैसे ही ब्रह्मणादि योनि के प्रति जीवन के लिये निश्चय करके चला जाता है ॥३६॥

तद् यथा राजानमायान्तमुग्राः प्रत्येनसः सूतग्रामण्योऽन्नैः पानैरावसथैः प्रतिकल्पन्तेऽयमायात्ययमागच्छतीत्येवं हैवंविदं सर्वाणि भूतानि प्रतिकल्पन्त इदं ब्रह्माऽऽयातीदमागच्छतीति ॥३७॥

अन्वयार्थ– (तत्) उस विषय में यह दृष्टांत है कि (यथा) जिस प्रकार (आयान्तम्) अपने राष्ट्र में आते हुए (राजानम्) राज्याभिषिक्त राजा को सुनकर (उग्राः) उग्र जाति विशेष अथवा भयङ्कर कर्म करने वाले और (प्रत्येनसः) पापकर्म में नियुक्त यानी चोरादि को दण्ड देने में नियुक्त (सूतग्रामण्यः) सूत नामक वर्णसंकर जातिविशेष और ग्राम के नेता लोग (अन्नैः) खाने के योग्य विविध भक्ष्य भोज्यादि अन्नों से तथा (पानैः) पीने के योग्य दूध, मधु, आदि पानों से और (आवसथैः) विविध प्रकार के रहने के योग्य महल प्रासाद आदिक राजसामग्रियों से युक्त हो (अयम्) यह राजा (आयाति) आता है (अयम्) यह राजा (आगच्छति) आता है (इति) इस प्रकार ससंभ्रम कहते हुए (प्रतिकल्पन्ते) आगमन की प्रतीक्षा करते हैं (एवम्) उसी प्रकार (ह) यह प्रसिद्ध है कि (एवंविदम्) इस प्रकार कर्म फलवेत्ता को (सर्वाणि) सम्पूर्ण (भूतानि) प्राणी (इदम्) यह (ब्रह्म) ब्रह्मवेत्ता जीव (आयाति) आ रहा है (इदम्) यह ब्रह्मवेत्ता जीव (आगच्छति) आता है (इति) इस प्रकार कहते हुए (प्रतिकल्पन्ते) राह देखते रहते हैं अथवा इस शरीर के त्याग करने के बाद परमात्मा के सत्यसंकल्प के द्वारा शरीरान्तर सद्भोग्य तथा भोगस्थान और भोगोपकरण ये समग्र पदार्थ जीव के प्रति हो जाते हैं ॥३७॥

विशेषार्थ– उस विषय में यह दृष्टांत कहा जाता है कि–जैसे अपने राष्ट्र में

आते हुए राज्याभिषिक्त राजा को जानकर राष्ट्रवर्ती सब उग्रजाति विशेष । उग्रजाति के विषय में लिखा है ॥ **क्षत्रियाच्छूद्रकन्यायां क्रूराचार विहारवान् । क्षत्रशूद्रवपुर्जन्तुरुग्रो नाम प्रजायते** ॥ मनु॰ अ॰ १० श्लो॰ ९ ॥ क्षत्रिय पुरुष से शूद्र की कन्या में क्रूर आचरण और क्रूर विहार वाला क्षत्रिय और शूद्र के स्वाभाव से युक्त उग्र नाम वाला पुत्र उत्पन्न होता है ।।९।। अर्थात् क्षत्रिय से शूद्र की कन्या में जो लड़का उत्पन्न होता है वह उग्र जाति वाला है ॥ **शूद्राक्षत्रिययोरुग्रः** ॥ अमर॰ कां॰ २ व॰ १० श्लो॰ २ ।। शूद्रा कन्या में क्षत्रिय से उत्पन्न हुए का नाम उग्र है ।।२।। अथवा उग्र यानी भयङ्कर कर्म करने वाले पुलिस आदिक, और पाप कर्म में नियुक्त यानी तस्करादिक को दण्ड देने में नियुक्त सूत नामक वर्गासंकरजाति विशेष और ग्रामाधिप लोग । सूत जाति के विषय मे लिखा है ।। **क्षत्रियाद्विप्रकन्यायां सूतो भवति जातितः** ॥ मनु॰ अ॰ १० श्लो॰ ११ ।। क्षत्रिय से ब्राह्मरा की कन्या में उत्पन्न पुत्र सूत जाति का होता है ।। ३ ।। और यहाँ पर "ग्रामरागी" शब्द ग्रामाधिप वाचक है । क्योंकि लिखा है ।। ग्रामरागीर्नापिते पुंसि श्रेष्ठे ग्रामाधिप त्रिषु ।। अमर॰ कां॰ ३ व॰ ३ श्लो॰ ४९ ।। नाई तथा श्रेष्ठपुरुष और ग्रामाधिप में ग्रामरागी शब्द प्रयुक्त होता है ।।४९।। अथवा सूत यानी सारथि हय गज के निरीक्षरा करने वाले और ग्रामरागी यानी ग्राम के अधिष्ठाता पंचलोग खाने योग्य विविध भक्ष्यभोज्यादि अन्नों से तथा पीने के योग्य दूध मधु, आदिक पानों से और विविध प्रकार के रहने के योग्य महल, प्रासाद, हर्म्य, खेमे, तम्बू आदिक स्थानों से तथा अन्य राजसामग्रियों से ये युक्त हो, हे इष्टमित्रो! यह राजा आ रहा है यह अब आना ही चाहता है । इस प्रकार संभ्रम कहते हुए राजा के आगमन की प्रतीक्षा करते हैं । वैसे ही यह प्रसिद्ध बात है कि इस प्रकार कर्मफलवेत्ता को सम्पूर्ण प्राणी "यह ब्रह्म यानी ब्रह्मविद् जीव आ रहा है" "यह ब्रह्मविद पुरुष आता है" इस प्रकार ससंभ्रम कहते हुए उसके आगमन की राह देखते रहते हैं । अथवा इस शरीर के त्याग करने के बाद परब्रह्म नारायरा के सत्यसङ्कल्प से शरीरान्तरसद्भोग्य तथा भोगस्थान और भोगोपकरण ये समस्तपदार्थ जीव के प्रति हो जाते हैं । इस कण्डिका में "ब्रह्मविद्" के स्थान में "विनापि प्रत्ययं पूर्वोत्तरपदयोर्लोपो वा वाच्यः" इस वाक्य के द्वारा "विद्" का लोप होकर ब्रह्म पद निष्पन्न होता है। इससे "ब्रह्म" पद का ब्रह्मवेत्ता यानी ब्रह्म को जाननेवाला जीवात्मा अर्थ होता है ।।३७।।

तद् यथा राजानं प्रयियासन्तमुग्रा प्रत्येनसः सूतग्राम-ण्योऽभिसमायन्त्येवमेवेममात्मानमन्तकाले सर्वे प्राणा अभिसमायन्ति यत्रैतदूर्ध्वोच्छ्वासी भवति ।।३८।।

॥ इति चतुर्थाध्याये तृतीयं ब्राह्मराम् ॥

अन्वयार्थ– (तत्) उस विषय में यह दृष्टांत है कि (यथा) जिस प्रकार (प्रयियासन्तम्) वहाँ से जाने की अत्यन्त इच्छा रखनेवाले (राजानम्) राजा को जानकर (उग्राः) उग्र जातिविशेष अथवा भयङ्कर कर्म करने वाले और (प्रत्येनसः) पापकर्म में नियुक्त यानी चौरादि को दण्ड देने में नियुक्त (सूतग्रामण्यः) सूत नामक ज़ातिविशेष तथा ग्रामके नेता लोग एक साथ मिलकर (अभिसमायन्ति) राजा के सामने आते हैं (एवम्) उसी प्रकार (एव) निश्चय करके (अन्तकाले) मरग़ा समय में (यत्र) जब (एतत्) यह शरीर (ऊर्ध्वोच्छ्वासी) ऊर्ध्वोच्छ्वासछ्छोड़ने वाला (भवति) हो जाता है तब (सर्वे) सम्पूर्ग़ा (प्राणाः) वागादिक इन्द्रियगग़ा (इमम्) इस (आत्मानम्) जीवात्मा के (अभिसमायन्ति) सामने आ जाती हैं ॥३८॥

विशेषार्थ– मरग़ा काल में जीवात्मा के साथी कौन होते हैं ? यह दृष्टान्त से कहा जाता है कि–जैसे वहाँ से प्रस्थान करने की इच्छा करते हुए राजा को जानकर उसको आदर करने के लिये उग्र जातिविशेष अथवा भयङ्कर कर्म कराने वाले पुलिस आदिक (शूद्र की कन्या में क्षत्रिय से उत्पन्न हुए को उग्र जाति कहते हैं) और पापकर्म में नियुक्त यानी तस्करादिक को दण्ड देने में नियुक्त सूतनामक जातिविशेष तथा ग्राम के पञ्चप्रभृति । ब्राह्मग़ी में क्षत्रिय से उत्पन्न हुए को सूत जाति कहते हैं । ये सब कोई मिल कर राजा की आज्ञा के बिना ही राजा के सामने आते हैं । वैसे ही मरग़ा समय में जब यह शरीर ऊर्ध्वश्वास लेना आरम्भ करता है तब सारे वागादिक प्राग़ा एकत्रित होकर इस जीवात्मा के निकट सामने आ जाते हैं । ये ही वागादिप्राग़ाअन्तसमय में साथी होते हैं । पदवाक्यप्रमाग़ाज्ञ भगवद्रामानुजाचार्यने– **सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः** ॥ (शा० मी० अ० ४ पा० २ सू० ४) के श्रीभाष्य में "बृहदारण्यकोपनिषद्" के चतुर्थ अध्याय के तृतीय ब्राह्मग़ा की अन्तिम कण्डिका के "एवमेवेममात्मानमन्तकाले सर्वे प्राणी अभिसमायन्ति" इस वाक्य को उद्धृत किया है । यहाँ पर चतुर्थ अध्याय का तृतीय ज्योतिर्ब्राह्मग़ा समाप्त हो गया ॥३८॥

॥ अथ चतुर्थं ब्राह्मराम् ॥

स यत्रायमात्माऽबल्यं न्येत्य संमोहमिव न्येत्यथैनमेते प्राणा अभिसमायन्ति । स एतास्तेजो मात्राः समभ्याददानो हृदयमेवान्ववक्रामति । स यत्रैष चाक्षुषः पुरुषः पराङ् पर्यावर्तते । अथारूपज्ञो भवति ॥१॥

अन्वयार्थ– (सः) वह (अयम्) यह (आत्मा) जीवात्मा (यत्र) जिस काल में (आबल्यम्) अबल के भाव को (नि+एत्य) अतिशय प्राप्त कर (इव) अल्प (संमोहम्) मरण के लिये अर्धसम्पत्ति को (न्येति) निश्चय करके प्राप्त करता है (अथ) तब (एते) ये वागादिक (प्राणाः) प्राण यानी इन्द्रियाँ (एनम्) इस जीवात्मा के (अभिसमायन्ति) समीप में सामने आ जाती हैं तब (सः) वह जीवात्मा (एताः) इन (तेजोमात्राः) प्रकाशकांश इन्द्रियों को (समभ्याददानः) वासनासहित सम्यक् प्रकार से ग्रहण करके (हृदयम्) पुण्डरीकाकार हृदय में (एव) ही (अन्वक्रामति) पीछे से आ जाता है (सः) वह (एषः) यह (चाक्षुषः) नेत्र में संनिहित म्रियमाण (पुरुषः) जीवात्मा (यत्र) जिस समय में (पराङ्) रूपादिविषय पराङ् मुख होती हुई (पर्यावर्तते) हृदयदेश में सब ओर से लौट आती है (अथ) तब उसके उत्तरकाल में यह मुमूर्षु पुरुष (अरूपज्ञः) रूप को नही पहचानने वाला (भवति) हो जाता है ॥१॥

विशेषार्थ– वही यह प्रस्तुत जीवात्मा जिस समय में दुर्बलता को बहुत अधिक प्राप्तकर मानो संमोह को यानी मरण के लिये अर्धसम्पत्ति को अर्थात् मूर्छावस्था को प्राप्त करता है । तब उस समय में ये वागादिक प्राण यानी इन्द्रियाँ इस जीवात्मा के समीप में सामने आ जाती हैं । तब वह जीवात्मा प्रकाशकांश इन्द्रियों को वासना सहित अच्छे प्रकार से शरीर की सब ओर से लेती हुई पुण्डरीकाकार हृदय में ही आ जाती है । हृदय के विषय में लिखा है–पद्मकोशप्रतीकाशं हृदयं चाप्यधोमुखम् । अधोनिष्ठ्या वितस्त्यान्ते नाभ्यामुपरि तिष्ठति । हृदयं तद्विजानीयाद्विश्वस्यायतनं महत् ॥ (तैत्तिरीयारण्य० प्रपा० १० अनु० ११ श्रु० ८) नीचे मुखवाला, लाल कमल के कोश के समान, नाभि से ऊपर एक बित्ते के भीतर अधोनिष्ठा से युक्त हो मांस का पिण्ड देह में स्थित है उसी को हृदय जानना चाहिए । वह हृदय सब प्राणादिक का बड़ा स्थान है ॥८॥ वही यह नेत्र में संनिहित म्रियमाण जीव जिस कालमें रूपादिविषय पराङ्मुख होता हुआ यानी बाह्य विषयों से विमुख होता हुआ पुण्डरीकाकार हृदय देश में सब ओर से व्यावृत्त होता है अर्थात् लौट आता है । तब उस समय में यह मुमूर्षु पुरुष रूपज्ञानहीन हो जाता है । अर्थात् रूप को नहीं पहचानने वाला हो जाता है । श्रीभट्टनाथमुखाब्जमित्र भगवद्रामानुजाचार्यने प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात्स्पष्टो ह्येकेषाम् ॥ (शा० मी० अ० ४ पा० २ सू० १२) के श्रीभाष्य में "बृहदारण्यकोपनिषद्" के चतुर्थ अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण की प्रथम कण्डिका के "स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानो हृदयमेवान्ववक्रामति" इस वाक्य को उद्धृत किया है ॥१॥

एकीभवति न पश्यतीत्याहुः । एकीभवति न जिघ्रतीत्याहुरेकीभवति न रसयत इत्याहुरेकीभवति न,

वदतीत्याहुरेकीभवति न शृणोतीत्याहुरेकीभवति न मनुत इत्याहुरेकीभवति न स्पृशतीत्याहुरेकीभवति न विजानातीत्याहुः । तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुषो वा मूर्ध्नो वाऽन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः । तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राराामनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति । सविज्ञानो भवति सविज्ञानमेवान्ववक्रामति । तं विद्याकर्मराीी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च ॥२॥

अन्वयार्थ– (एकीभवति) स्वप्नकाल के समान मुमूर्षु पुरुष इन्द्रियों के साथ हृदय में एक हो जाता है तब हमलोगों को (न) नहीं (पश्यति) देखता है (इति) ऐसा (आहुः) पार्श्वस्थ लोग कहते हैं और घ्राणेन्द्रिय के साथ हृदय में (एकीभवति) मुमूर्षु पुरुष एक हो जाता है तब पुष्पादिकों को (न) नहीं (जिघ्रति) सूँघता है (इति) ऐसा (आहुः) पार्श्वस्थ लोग कहते हैं तथा (एकीभवति) रसनेन्द्रिय के साथ हृदय में मुमूर्षु पुरुष एक हो जता है तब किसी पदार्थ का (न) नहीं (रसयते) स्वाद ले सकता है (इति) ऐसा (आहुः) पार्श्वस्थ लोग कहते हैं तथा (एकीभवति) वागिन्द्रिय के साथ मुमूर्षुपुरुष हृदय में एक हो जाता है तब कुछ (न) नहीं (वदति) बोलता है (इति) ऐसा (आहुः) पार्श्वस्थ लोग कहते हैं और (एकीभवति) श्रोत्रेन्द्रिय के साथ मूमूर्षुपुरुष हृदय में एक हो जाता है तब शब्द को (न) नहीं (शृणोति) सुनता है (इति) ऐसा (आहुः) पार्श्वस्थ लोग कहते हैं तथा (एकीभवति) मनके साथ मुमूर्षु पुरूष हृदय में एक हो जाता है तब किसी वस्तु को (न) नहीं (मनुते) मनन करता है (इति) ऐसा (आहुः) पार्श्वस्थ लोग कहते है और (एकीभवति) त्वगिन्द्रिय के साथ मुमूर्षु पुरूष हृदय में एक हो जाता है तब कुछ (न) नहीं (स्पृशति) स्पर्श करता है (इति) ऐसा (आहुः) पार्श्वस्थ लोग कहते हैं तथा (एकीभवति) बुद्धि के साथ मुमूर्षुपुरूष हृदय में एक हो जाता है तब कुछ (न) नहीं (विजानाति) जानता है (इति) ऐसा (आहुः) पार्श्वस्थ लोग कहते हैं और (ह) सुप्रसिद्ध (तस्य) उस (एतस्य) इस म्रियमाराा पुरुष के (हृदयस्य) हृदय का (अग्रम्) अग्रभाग यानी नाडीमुख अर्थात्, बाहर निकलने का द्वार (प्रद्योतते) अत्यन्त प्रकाशित होने लगता है (तेन) उस संहृतेन्द्रिय तेजः प्रज्वलित (प्रद्योतेन) महाप्रकाश से (एषः) यह (आत्मा) जीव (चक्षुषः) नेत्र

से (वा) अथवा (मूर्ध्नः) मूर्धाद्वार से (वा) अथवा (अन्येभ्यः) अन्यान्य कर्ण नासिका आदिक (शरीरेभ्यः) शरीर के भागों से (निष्क्रामति) बाहर निकलता है (तम्) उस अध्यक्ष जीवात्मा के (उत्क्रामन्तम्) शरीर से उत्क्रमण करने पर (अनु) पीछे (प्राणः) मुख्य प्राण (उत्क्रामति) शरीर से बाहर निकलता है और (प्राराम्) मुख्यप्रारा के (उतक्रामन्तम्) उत्क्रमरा करने पर (अनु) पश्चात् (सर्वे) प्रारााधीन समस्त (प्राणाः) प्रारा इन्द्रियवर्ग (अनु + उत्क्रामन्ति) पीछे पीछे गमन करते हैं उस दशा में उत्क्रमरा करती हुई जीवात्मा (सविज्ञानः) प्राप्तव्ययोनि विषयक स्मृतिवाली (भवति) होती है और (एव) निश्चय करके (विज्ञानम्) वि न सहित पुरुष को (अन्ववक्रामति) प्राराावर्ग पीछे से प्रस्थान करता है । अब आगे परलोक का पाथेय बतलाया जाता है कि (तम्) तादृश उस पुरुष के पीछे (विद्याकर्मराी) विद्या तथा कर्म (समन्वारभेते) सम्यक् प्रकार से जाते हैं (च) और (पूर्वप्रज्ञा) पूर्वजन्मानुभूत विषयों की वासना उस जीवात्मा के साथ जाती है ॥२॥

विशेषार्थ– स्वापकाल के सदृश मुमूर्षुपुरुष नेत्रेन्द्रिय के साथ पुराडरीकाकार हृदय में एक हो जाता है । तब यह पुरुष हमलोगों को नहीं देखता है । इस प्रकार चारो ओर बैठे बन्धु, मित्र, ज्ञाति आदिक कहते हैं । और घ्राारोन्द्रिय के साथ मुमूर्षुपुरुष पुराडरीकाकार हृदय में एक हो जाता है तब यह मुमूर्षुजन कुसुमादिकों को नहीं सूँघता हैं । इस प्रकार सब बैठे हुए मनुष्य बोलते हैं । तथा जिह्वा इन्द्रिय के साथ मुमूर्षुपुरुष पुण्डरीकाकार हृदय में एक हो जाता है तब यह मुमूर्षुजन किसी पदार्थ को नहीं स्वाद लेता है इस प्रकार आस पास बैठे हुए लोग कहते हैं । और वागिन्द्रिय के साथ मुमूर्षुपुरूष पुण्डरीकाकार हृदय में एक हो जाता है तब यह मुमूर्षुपुरुष कुछ नहीं बोलता है। इस प्रकार चारो ओर बैठे हुए भाई दायाद कहते हैं। तथा श्रवणेन्द्रिय के साथ मुमूर्षुपुरुष पुण्डरीकाकार हृदय में एक हो जाता है तब यह मुमूर्षुपुरुष कुछ नहीं सुनता है। इस प्रकार आस पास बैठे हुए लोग कहते हैं। और सब इन्द्रियों का अधिपति मन के साथ मुमूर्षुपुरुष पुण्डरीकाकार हृदय में एक हो जाता है तब यह मुमूर्षुपुरुष किसी वस्तु का नहीं मनन करता है। इस प्रकार सब बैठे हुए मनुष्य बोलते हैं। तथा त्वगिन्द्रिय के साथ मुमूर्षुपुरुष पुण्डरीकाकार हृदय में एक हो जाता है तब यह मुमूर्षुपुरुष कुछ नहीं स्पर्श करता है इस प्रकार आस पास बैठे हुए लोग कहते हैं। और बुद्धि के साथ मुमूर्षुपुरुष पुण्डरीकाकार हृदय में एक हो जाता है तब यह मुमूर्षुपुरुष कुछ भी नहीं जानता है, इस प्रकार चारों ओर बैठे हुए इष्ट मित्र लोग कहते हैं। उसी इस म्रियमाण पुरुष के पुण्डरीकाकार हृदय का अग्रभाग यानी नाड़ीमुख अर्थात् बाहर निकलने का द्वार अत्यन्त प्रकाशित होने लगता है। उस प्रद्योत से यानी हृदयाग्र के प्रकाश से

निकलनेवाली आत्मा किस मार्ग से निकलती है सो आगे कहा जाता है कि– उस संहृतेन्द्रिय तेज: प्रज्वलित महाप्रकाश से यह जीवात्मा नेत्रद्वार से निकलती है। अथवा मूर्धदेश यानी दशमद्वार से निकलती है। अथवा शरीर के अन्यान्य कर्णद्वार, घ्राणद्वार आदि मार्गों से यह जीवात्मा निकलती है। उस अध्यक्ष जीवात्मा के इस शरीर से बाहर उत्क्रमण करने पर राजा के सर्वाधिकारी के समान मुख्य प्राण जीवात्मा के साथ साथ उत्क्रमण करता है। और मुख्य प्राण के उत्क्रमण करने पर प्राणाधीन सम्पूर्ण इतर प्राण यानी वागादि सारे इन्द्रिय वर्ग पीछे पीछे गमन करते हैं। क्योंकि लिखा है– **स ईक्षाञ्चक्रे। कस्मिन्नहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामीति कस्मिन् वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामीति॥** (प्रश्नोप० प्र० ६ श्रु० ३) स प्राणमसृजत॥४॥ उस पुरुष ने इस प्रकार विचार किया कि मैं शरीर से किसके निकलने पर बाहर निकला हुआ हो जाऊँगा और किसके इस प्रकार शरीर में स्थित रहने पर मैं स्थित रहूँगा ॥३॥ उस पुरुष ने मुख्यप्राण की रचना की॥४॥ **मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥** (गी० अ० १५ श्लोक ७) **शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः। गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्** ॥८॥ प्रकृति में स्थित मन सहित छः इन्द्रियों को जीवात्मा खींचती है॥७॥ इन्द्रियों का ईश्वर जीव . जिस शरीर को छोड़ता है, उससे जिस शरीर में जाता है वहां इन इन्द्रियों को वैसे ही पकड़ कर ले जाता है जैसे वायु गन्ध के स्थानों से गन्धों को ले जाती है॥८॥ उस अन्तिम समय में शरीर से उत्क्रमण करता हुआ जीवात्मा "जिस जिस भाव को स्मरण करता हुआ" उस उक्त न्याय से प्राप्तव्ययोनिविषयक स्मृतिमान् हो जाता है। क्योंकि लिखा है– **यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्। तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥** (गी० अ० ८ श्लोक ६) हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! जिस जिस भी भाव को अन्तकाल में स्मरण करता हुआ मनुष्य शरीर छोड़ता है वह सदा पूर्व से ही उस भाव से भावित हुआ उस भाव को ही प्राप्त होता है॥६॥ निश्चय करके प्राप्तव्ययोनिविषयक विज्ञान सहित जीवात्मा को सव प्राणवर्ग पीछे से प्रस्थान यानी गमन करता है। कर्माधीन जीवात्मा का ज्ञान होता है। क्योंकि लिखा है– **पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन॥** (बृ० उ० अ० ३ ब्रा० २ कं० १३) पुण्यकर्म से पुरुष पुण्यवान होता है और पाप कर्म से पापी होता है॥ १३ अब आगे शाकटिक संभारस्थानीय परलोक का पाथेय कहा जाता है कि–उस जीवात्मा के साथ विद्या तथा कर्म और पूर्व जन्मानुभूत विषयों की वासना भी जाते हैं! अर्थात् गाड़ीवान राह खर्च की सामग्री के समान ये विद्या, कर्म और पूर्ववासना नामक तीन पदार्थ ही परलोक के मार्ग की भोजन-सामग्री है। परकाल मुखाब्जमित्र भगवद्रामानुजाचार्य ने **उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम्॥** शा० मी० अ० २ पा० ३ सू० २०॥ **अणवश्च॥** शा० मी० अ०

मी० अ० ३ पा० १ सू० ३।। **समन्वारम्भणात्** शा० मी० अ० ३ पा० ४ सू० ५।। **विभागश्शतवत्।।** शा० मी० अ० ३ पा० ४ सू० ११।। **सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः ।।** शा०. मी० अ० ४ पा० २ सू० ४ ।। **समानाचासृत्युपक्रमादमृतत्वं चानुपोष्य ।।** शा० मी० अ० ४ पा० २ सू० ७।। **प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात्स्पष्टो ह्येकेषाम्।।** ४। २। १२।। इन नव सूत्रों के श्रीभाष्य में "बृहदारण्यकोपनिषद्" के चतुर्थ अध्याय के चतुर्थब्राह्मण की द्वितीयकण्डिका के पदों को उद्धृत किया है ।।२।।

तद् यथा तृणजलायुका तृणस्यान्तं गत्वा ऽन्यमाक्रम-माक्रम्याऽऽत्मानुपसंहरत्येवमेवायमात्मेदं शरीरंनिहत्या-ऽविद्यां गमयित्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्याऽऽत्मानमुपसंहरति ।।३।।

अन्वयार्थ–(तत्) उस देहान्तरसंचार में यह दृष्टान्त है कि (यथा) जिस प्रकार (तृराजलायुका) घास पर चलने वाली जोंक (तृरास्य) तृरा के (अन्तम्) अन्तिम भागपर (गत्वा) जाकर दूसरे तृरापर जाने की इच्छा करती हुई (अन्यम्) दूसरे तृणरूप (आक्रमम्) आश्रय को (आक्रम्य) पकड़ कर (आ मानम्) अपने शरीर के पिछले भाग को (उपसंहरति) उस तृरास्थान से उठाकर अग्रिन तृरास्थान में रखती है (एवम्) इसी प्रकार (एव) निश्चय करके (अयम्) यह संसारी (आत्मा) जीव (इदम्) इस पूर्वप्राप्त (शरीरम) शरीर को (निहत्य) भारकर यानी (अविद्याम्) अविद्या को (गर्मायत्वा) प्राप्त कराकर अर्थात् निःसंबोध्यता को प्राप्त कराकर (अन्यम्) दूसरे शरीररूप (आक्रमम्) आश्रय को (आक्रम्य) पकड़कर उपसंहार कर लेता है यानी पृथक् कर लेता है ।।३।।

विशेषार्थ–यह जीवात्मा एक देह से दूसरे देहको किस प्रकार से प्राप्त करती है । इस विषय को दृष्टांत पूर्वक बतलाया जाता है । उस विषय में यह लोक में प्रसिद्ध दृष्टांत है कि–जैसे घास पर चलने वाली जोंक तृरा के अन्तिम भाग पर पहुँचकर दूसरे तृरा पर जाने की इच्छा करती हुई दूसरे तृरा रूप आश्रय को अपने अग्रिम भाग से दृढ़ता पूर्वक पकड़कर तब अपने शरीर के पिछले भाग को उस तृण–स्थान से उठाकर–अग्रिम तृण-स्थान में रखती है। अर्थात् जब दूसरे तृण को दृढ़ता से पकड़ लेती है तब पिछले तृरा को छोड़ती है । जो आक्रान्त किया जाय उसे आक्रम कहते हैं । आक्रम का अर्थ आधार या आश्रय होता है। वैसे ही यह संसारी जीवात्मा इस प्राक्तन शरीर को मार कर यानी अविद्या को प्राप्तकराकर अर्थात् निःसंबोध्यता को

प्राप्तकराकर दूसरे शरीर रूप आश्रय को अपनी फैली हुई वासना से ग्रहरा कर तब अपनी आत्मा को पूर्वदेह से उपसंहार कर लेती है। यानी पृथक् कर लेती है ॥३॥

यद् यथा पेशस्कारी पेशसो मात्रामुपादायान्यन्नवतरं कल्यारातरंरूपंकुरुत एवमेवायमात्मेदं शरीरं निहत्याविद्यां गमयित्वाऽन्यन्नवतरं कल्यारातरं रूपं कुरुते पित्र्यं वा गान्धर्वं वा दैवं वा प्राजापत्यं वा ब्राह्मं वाऽन्येषां वा भूतानाम् ॥४॥

अन्वयार्थ–(तत्) उस विषय में यह दृष्टान्त है कि लोक में (यथा) जिस प्रकार (पेशस्कारी) सुवर्रा का भूषरा बनाने वाला सोनार (पेशसः) सुवर्रा का (मात्राम्) एकदेश हिस्से को (उपादाय) लेकर (अन्यत्) पूर्वरचना से भिन्न दूसरी (नवतरम्) पहले भूषरा की अपेक्षा अधिक नूतन और (कल्याणतरम्) अधिक सुन्दर (रूपम्) रूप को (कुरुते) बनाता है (एवम्) इसी प्रकार (एव) निश्चय करके (अयम्) यह (आत्मा) जीवात्मा (इदम्) इस पूर्वप्राप्त (शरीरम्) शरीर को (निहत्य) मारकर यानी (अविद्याम्) अविद्या को (गमयित्वा) प्राप्तकराकर अर्थात् निःसंबोध्यता को प्राप्तकराकर (अन्यम्) पूर्वदेह से भिन्न दूसरा (नवतरम्) अधिक नूतन और (कल्याणतरम्) अधिक सुन्दर (रूपम्) रूपको (कुरुते) कर्म द्वारा रच लेता है (पित्र्यम्) पितृलोक के उपभोग के योग्य को (वा) अथवा (गान्धर्वम्) गन्धर्वों के उपभोग के योग्य को (वा) या (दैवम्) देवताओं के उपभोग के योग्य को (वा) अथवा (प्राजापत्यम्) प्रजापति के उपभोग के योग्य को (वा) अथवा (ब्राह्मम्) परब्रह्म के उपभोग के योग्य को (वा) अथवा (वा) निश्यच करके (अन्येषाम्) अन्य पशु पक्षी सरीसृपादिक (भूतानाम्) प्रारिायों के उपभोग के योग्य शरीर को जीवात्मा कर्मद्वारा बना लेती है ॥४॥

विशेषार्थ– जीवात्मा देहान्तर परिग्रह कैसे करती है इस विषय को दृष्टान्त के साथ बतलाया जाता है। उस विषय में यह लोक में प्रसिद्ध दृष्टांत है कि–जैसे सुवर्रा का भूषण बनाने वाला निपुरा स्वर्राकार सोने कीमात्रा यानी कुछ हिस्से या खण्ड को लेकर पूर्वरचना से भिन्न दूसरा पहले भूषरा की अपेक्षा अधिक सुन्दर रूपको बनाता है। वैसे ही यह जीवात्मा इस पूर्वगृहीत देहको मारकर यानी अविद्या को प्राप्त कराकर अर्थात् निःसंबोध्यता को प्राप्त कराकर पूर्व शरीर से भिन्न अधिक नवीन और अधिक सुन्दर रूप को कर्मद्वारा बना लेती है। वे रूप कौन कौन हैं सो आगे श्रुति कहती

है कि– अर्यमा आदिक पितरों के उपभोग के योग्य शरीर को जीवात्मा कर्मद्वारा बनाती है। अथवा चित्ररथ आदिक गन्धर्वों के उपभोग के योग्य देह को जीवात्मा बनाती है। अथवा इन्द्र आदिक देवाताओं के उपभोग के योग्य मङ्गलमय विग्रह को जीवात्मा बनाती है। अथवा प्रजापति यानी चतुर्मुख ब्रह्मा के उपभोग के योग्य शरीर को जीवात्मा बनाती है। अथवा परब्रह्म नारायण प्राप्ति साधन योग्य देह को जीवात्मा बनाती है। अथवा अन्य पशु, पक्षी, कृमि, कीट आदिक प्राणियों के उपभोग के योग्य शरीर को जीवात्मा कर्मद्वारा बनाती है। इस कण्डिका से जीवात्मा के देहान्तर परिग्रह का प्रतिपादन किया गया है। **भूतयोगिमतपोषकाचार्य भगवद्रामानुजाचार्यने** ॥ **प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात्स्पष्टो ह्येकेषाम्** ॥ शा॰ मी॰ अ॰ ४ पा॰ २ सू॰ १२ ॥ के श्रीभाष्य में "बृहदारण्यकोपनिषद्" के चतुर्थ अध्याय के चतुर्थब्राह्मण की चतुर्थ कण्डिका के "अन्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं कुरुते" इस वाक्य को उद्धृत किया है ॥ ४ ॥

स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः पृथिवीमय आपोमयो वायुमय आकाशमयस्तेजोमयोऽतेजोमयः काम-मयोऽकाममयः क्रोधमयोऽक्रोधमयो धर्ममयोऽधर्ममयः सर्वमयस्तद् यदेतदिदंमयोऽदोमय इति। यथाकारी यथाचारी तथा भवति। साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापो भवति। पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापःपापेन। अथो खल्वाहुः काममय एवायं पुरुष इति स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते यत्कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते ॥५॥

अन्वयार्थ– (वै) निश्चय करके (सः) वह (अयम्) यह (विज्ञानमयः) विज्ञानमय (आत्मा) जीवात्मा (ब्रह्म) अपहत पाप्मत्वादि ब्रह्मरूप युक्त होता हुआ भी (मनोमयः) मनः प्रचुर है यानी मन उपकरणक है और (प्राणमयः) प्राणमय है यानी प्राणप्रचुर है (चक्षुर्मयः) नेत्रमय है (श्रोत्रमयः) श्रोत्रमय है (पृथिवीमयः) पृथ्वीमय है (आपोमयः) जलमय है (वायुमयः) वायुमय है (आकाशमयः) आकाशमय है

(तेजोमयः) तेजोमय है और (अतेजोमयः) तेज से व्यतिरिक्त महत्तत्त्वमय अहंकारादिमय है और यह जीवात्मा (काममयः) काममय है तथा (अकाममयः) क्रोधव्यतिरिक्त प्रीतिमय है (धर्ममयः) धर्ममय है (अधर्ममयः) अधर्ममय है और (सर्वमयः) सर्वमय है (तत्) वह प्रकृत (यत्) जो (एतत्) यह चेतन जीवात्मा है वही (इदम्मयः) इस मृत्युलोकमय है और (अदोमयः) परलोकमय है (इति) ऐसा श्रुति कहती है (यथाकरी) जिस प्रकार के कर्मों को करने वाला है (तथा) वह जीवात्मा वैसे ही फल से युक्त (भवति) होती है और (यथाचारी) जिस प्रकार के आचरणों को करने वाला है वह जीवात्मा वैसे ही फल से युक्त होती है (साधुकारी) सत्कर्म करने वाला (साधुः) ब्राह्मणादि रमग़ीय शरीर युक्त (भवति) होता है और (पापकारी) पापकर्म करने वाला (पापः) चाण्डालादि कुत्सित शरीर युक्त (भवति) होता है (पुण्येन) पवित्र (कर्मणा) वैदिक कर्मसे (पुण्यः) पुण्यात्मा (भवति) होता है और (पापेन) वेद विरुद्ध कर्म से (पापः) पापी होता है (अथो) इसके अनन्तर (खलु) निश्चित रूप से (आहुः) कोई बन्ध मोक्षकुशल पुरुष कहते हैं कि यद्यपि पुण्य और पाप ही शरीर ग्रहग़ के कारग़ हैं तथापि (अयम्) यह (पुरुषः) जीवात्मा (एव) निश्चय करके (काममयः) काममय है क्योंकि कामना से प्रेरित हुआ पुरुष ही पुण्य पाप रूप कर्मों का संग्रह करता है (इति) इस कारग़ से (सः) वह कामनामय पुरुष (यथाकामः) जिस प्रकार की कामना से युक्त (भवति) होता है (तत्क्रतुः) उसी प्रकार का क्रतु यानी अध्यवसाय (भवति) होता है और (यत्क्रतुः) जिस प्रकार के अध्यवसाय से युक्त पुरुष (भवति) होता है (तत्) उस अध्यवसित योग्य (कर्म) कर्म को (कुरुते) करता है और (यत्) जैसा (कर्म) कर्म (कुरुते) करता है (तत्)वैसा ही फल (अभिसंपद्यते) अच्छी तरह प्राप्त करता है ।।५।।

विशेषार्थ– निश्चय करके वही यह जीव अपहतपाप्मत्वादि ब्रह्म के समानरूप से युक्त होता हुआ भी विज्ञानमय है । क्योंकि लिखा है– **कतम आत्मेति। योऽयं विज्ञानमयः प्राग़ेषु ॥** (बृ० उ० अ० ४ ब्रा० ३ कं० ७) आत्मा कौन है, जो यह प्राणों में विज्ञानमय है ।।७।। और जीवात्मा मनोमय हैं यानी मन उपकरग़क है । तथा प्राणमय है यानी प्राग़प्रचुर है। और रूप ज्ञान से जीवात्मा नयनमय है । तथा शब्द ज्ञान से श्रोत्रमय है । और इसी प्रकार गन्धज्ञान से घ्राणमय है । तथा स्वादग्रहग़ से रसनामय है । और स्पर्शज्ञान से जीवात्मा त्वङ्मय है । और स्थूल शरीर से यह जीवात्मा पृथ्वीमय है । तथा रक्त वीर्य आदिक से यह जीवात्मा जलमय है । और प्राग़, अपान, व्यान, समान, उदान तथा बाह्य वायु से यह वायुमय है । और अभ्यन्तर अवकाश के कारग़ यह आकाशमय है । तथा संपूर्ग़ शरीर में उष्ग़ता के कारग़ यह तेजोमय है ।

चतुर्विंशतितत्त्वमय शरीर के होने से अतेजोमय यानी महत्तत्त्वमय और अहंकारमय तथा अव्यक्तमय यह जीवात्मा है । और विषयों की अभिलाषा वाली होने से यह जीवात्मा काममय है । तथा काम से व्यतिरिक्त संकल्पश्रद्धामय है । और क्रोधमय यह जीवात्मा है । तथा क्रोध से व्यतिरिक्त प्रीतिमय जीवात्मा है । वेद विहितकर्म करने से धर्ममय है । विशेष कहाँ तक वर्णन करे यह जीवात्मा सर्वमय है । और जो यह चेतन जीवात्मा है वही इस लोकमय है । तथा जीवात्मा ही परलोकमय भी है । इस प्रकार श्रुति कहती है । वह जीवात्मा जैसा अग्निहोत्रादिकर्मों को करनेवाली होती है वैसा ही फल से युक्त होती है । और जीवात्मा जैसा कर्मयोग्यतापादक सन्ध्यावन्दनादिक आचरणों को करने वाली होती है वैसे ही फल से युक्त होती है । इसी विषय को आगे विस्पष्ट किया जाता है कि –सत्कर्म करने वाला ब्राह्मणादि रमणीयशरीरयुक्त होता है । और पापकर्म करने वाला चण्डालादि कुत्सित शरीर युक्त होता है । पवित्र वैदिककर्म के अनुष्ठान से पुण्यात्मा होता है । और पाप यानी वेदरुिद्धकर्म के अनुष्ठान से पापी होता है । अर्थात् प्राक्तन पुण्यपापप्रयुक्त सत्कर्मकारी और पापकारी होता है । और छान्दोग्योपनिषद् में लिखा है– **तद्य इहरमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिंवा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिंवा शूकरयोनिंवा चण्डालयोनिं वा ॥** (छां० उ० प्र० ५ खं० १० श्रु० ७) उन अनुशयी जीवों में जो जीव परलोक से इस भूलोक में आने वाले प्रसिद्ध जब भुक्तशिष्ट परिपक्वसुकृतकर्मयुक्त होता है तब वे जीव उत्तम सुन्दर योनिको प्राप्त होते हैं। किस सुन्दर योनि को प्राप्त होते हैं सो आगे कहा जाता है कि– ब्राह्मण योनि को अथवा क्षत्रिययोनि को अथवा वैश्ययोनि को ही प्राप्त होते हैं । और जो जीव परलोक से इसलोक में आने वाले प्रसिद्ध जब भुक्तशिष्ट परिपक्वकुत्सितकर्मयुक्त होते हैं तब वे जीव कुत्सित निन्दित योनि को प्राप्त होते हैं । किस निन्दित योनि को प्राप्त होते हैं सो आगे कहा जाता है कि–कूकुरयोनिको अथवा शूकरयोनि को अथवा चण्डालयोनि को प्राप्त होते हैं ।।७।। और इसके बाद निश्चितरूप से दूसरे कोई बन्धमोक्ष कुशल पुरुष कहते है कि–यद्यपि पुण्य और पाप ही शरीर ग्रहण के कारण हैं तौभी यह जीवात्मा निश्चय करके काममय है क्योंकि कामना से प्रेरित हुआ पुरुष ही पुण्यपापरूपकर्मों का संग्रह करता है । और काम ही इस संसार का मूल है । ऐसाही आथर्वण श्रुति में भी कहा है– **कामान् यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र ॥** (मुण्ड० उ० मुं० ३ खं० २ श्रु० २) जो पुरुष देवत्व मनुष्यत्व आदिकाम्यभोगों को भोग्यतया मान करता हुआ उन विषयों की चाहना करता है वह कामकामी पुरुष देवत्व मनुष्यत्व आदि कामनाओं के कारण उन उन स्थानों में देव मनुष्य आदिरूप से उत्पन्न होता है । ।।२।। अतः यह पुरुष

काममय ही है । इस कारण से वह कामनामय पुरुष जिस प्रकार की कामना से युक्त होता है उसी प्रकार के क्रतु यानी अध्यवसाय होता है । यहाँ क्रतु अध्यवसाय यानी निश्चय को कहते हैं । और जैसे अध्यवसाय से युक्त पुरुष होता है वैसे ही उस अध्यवसित योग्य कर्म को करता है और जैसा कर्म करता है वैसा ही फल पाता है । इस कण्डिका में "अयमात्मा ब्रह्म" यह वाक्य है । यहाँ पर "ब्रह्म" पद के समान "अयम्" "आत्मा" ये पद भी जीव शरीरक परब्रह्म नारायण का वाचक होने से एकार्थाभिधायी होता है । ब्रह्मन् शब्द के विषय में लिखा है ॥ **वेदस्तत्त्वं तपो ब्रह्म ब्रह्मा विप्रः प्रजापतिः** ॥ अमर० कां० ३ व० ३ श्लो० ११४ ॥ वेद १, तत्त्व २, तप ३, ब्रह्मा ४ परब्रह्म ५, ब्राह्मण ६, प्रजापति ७, इतने अर्थों में ब्रह्मन् शब्द का प्रयोग होता है । प्रकृत श्रुति ब्रह्माभेद प्रतिपादनकरने वाली है । अथवा "अयम् + आत्मा + अब्रह्म" ऐसा इसका पदच्छेद होता है और "आत्मा" तथा "अब्रह्म" के साथ ॥ अकः सवर्णे दीर्घः ॥ पा० व्या० अ० ६ पा० १ सू० १०१ ॥ इस सूत्र से दीर्घ होकर "अयमात्माब्रह्म" निष्पन्न होता है । इससे इस वाक्य का यह अर्थ होता है कि– यह जीवात्मा परमात्मा नहीं हैं। मायावादियों ने सब महर्षियों से विरुद्ध जीव ब्रह्माभेदपरक इस श्रुति का अर्थ किया है सो आस्तिक विद्वानों से अनादरणीय है । क्योंकि लिखा है ॥ **मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्ध उच्यते । मयैव कथितं देवि कलौ ब्राह्मणरूपिणा** ॥ पाद्मपु० उत्तरखं० ६ अ० २३६ श्लो० ७ ॥ **अपार्थं श्रुतिवाक्यानां दर्शयन् लोकगर्हितम्। स्वकर्मरूपं त्याज्यत्वमत्रैव प्रतिपाद्यते ॥८॥ सर्वकर्मपरिभ्रष्टै र्वैधर्मत्वं तदुच्यते । परेश जीवयोरैक्यं मया तु प्रतिपाद्यते ॥९॥ ब्रह्मणोऽस्य स्वयं रूपं निर्गुणं वक्ष्यते मया । सर्वस्य जगतोऽप्यत्र मोहनार्थं कलौ युगे ॥१०॥ वेदार्थवन्महाशास्त्रं मायया यदवैदिकम् । मयैव कल्पितं देवि जगतां नाशकारणात् ॥११॥** मायाबाद जो असत् शास्त्र है उसको प्रच्छन्न् बौद्ध कहते हैं। हे देवि पार्वति ! कलि में ब्राह्मण का रूप धारण करके मैंने ही मायावाद को कहा ॥७॥ वेद वाक्यों का असत्य अर्थ दिखाते हुए लोक से निन्दित अपने कर्म का परित्याग करना चाहिये ऐसा मायावाद में मैंने कहा है ॥८॥ सब कर्मो से परिभष्ट होने से वह मायावाद धर्म से विरुद्ध कहा जाता है और मायावाद में परमेश्वर तथा जीव एक ही हैं ऐसा मैंने कहा है ॥९॥ कलियुग में समस्त आसुर जीवों को मोहने के लिये मैं रुद्र, परब्रह्म के गुण से रहित स्वरूप कहूँगा ॥१०॥ वेदार्थ के तुल्य जो अवैदिक महाशास्त्र मायावाद है उसको माया द्वारा, हे देवि ! संसार का नाश करनेके लिये मैंने ही बनया ॥११॥ सरोयोगिसिद्धान्तप्रतिष्ठापनाचार्य भगवद्रामानुजाचार्यने ॥ **अथातो ब्रह्मजिज्ञासा** ॥ शा० मी० अ० १ पा० १ सू० १ ॥ **तत्तु समन्वयात्** ॥ शा० मी० अ० १ पा० १ सू० ४ ॥ **वैषम्यनैर्घृण्येन सापेक्षत्वात्तथाहि दर्शयति** ॥ शा० मी० अ० २ पा० १ सू० ३४ ॥

अंशोनानाव्यपेदशादन्यथा चापिदासकितवादित्वमधीयत एके ॥ शा० मी० अ० २ पा० ३ सू० ४२ ॥ **प्रकाशादिवत्तु नैवंपरः** ॥ शा० मी० अ० २ पा० ३ सू० ४५ **भूतेषुतच्छ्रुतेः** ॥ शा० मी० अ० ४ पा० २ सू० ५॥ **नैकस्मिन् दर्शयतो हि** ॥ शा० मी० अ० ४ पा० २ सू० ६ ॥ इन सात सूत्रों के श्रीभाष्य में "बृहदारण्यकोपनिषद्" के चतुर्थ अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मरा की पाँचवी कण्डिका के पदों को उद्धृत किया है ॥५॥

तदेष श्लोको भवति । तदेव सक्तः सह कर्मणैति लिङ्गमनो यत्र निषिक्तमस्य । प्राप्यान्तं कर्मरास्तस्य यत्किञ्चेह करोत्ययम् । तस्माल्लोकात् पुनरैत्यस्मै लोकाय कर्मरा इति नुकामयमानः । अथाकमायमानो योऽकामो निष्कामआप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति ॥६॥

अन्वयार्थ–(तत्) उस पूर्वोक्त विषय में (एषः) यह वक्ष्यमारा (श्लोकः) श्लोक खण्डरूपमंत्र (भवति) प्रमारा होता है (अस्य) इस जीवात्मा के (लिङ्गम्) गमक (मनः) मन (यत्र) जिस फलमें (निषक्तम्) अतिशय आसक्त हो जाता है । देहवियोगकाल में (सक्तः) आसक्त होता हुआ जीव (कर्मणा) फलारम्भक कर्म के (सह) साथ (एव) निश्चय करके (तत्) उसी फल को (एति) प्राप्त करता है यही श्लोक खण्ड है (अयम्) फलभोगासक्त जीव (इह) इस लोक में फल को उद्देश्य करके (यत्) जो (किं + च) कुछ भी कर्म (करोति) करता है (तस्य) उस (कर्मराः) कर्म के फलों के भोग से (अन्तम्) समाप्ति को (प्राप्य) प्राप्त कर अर्थात् सम्पूर्णफल को भोग कर (तस्मात्) उस (लोकात्) लोक से (अस्मै) इस मनुष्य (लोकाय) लोक में (कर्मरो) कर्म करने के लिये (पुनः) फिर (एति) आ जाता है (इति) इस प्रकार (नु) निश्चय करके (कामयमानः) कामना करने वाला जीव संसार में मारा फिरता है (अथ) अब (अकामयमानः) अखिलकामना रहित वीतराग के विषय में कहा जाता है कि (यः) जो (अकामः) काम शून्य है, कामशून्यता कैसे होती है सो बतलाया जाता है (निष्कामः) जो निष्काम है अर्थात् जिससे कामनाएँ निकल गयी हैं वह पुरुष निष्काम कहलाता है । कामनाएँ किस प्रकार निकल जाती हैं (आप्तकामः) जो आप्त काम होता है अर्थात् जिसने सब कामनाओं को प्राप्त कर लिया है वह आप्त काम है, आप्तकामना कैसे होती है सो बतलाया जाता है (आत्मकामः) जो आत्मकाम है जिसकी कामना का विषय आत्मा ही होती है कोई अन्य वस्तु नही

होती वह आत्मकाम है (तस्य) उस आत्मकाम पुरुष से (प्राराा:) प्राराा (न) नहीं (उत्क्रामन्ति) उत्क्रमराा करते हैं (ब्रह्म +आ + इव) अपहतपाप्मत्वादिरूप परब्रह्म नारायराा के कुछ अंश में समान (सन्) हो करके (ब्रह्म) परब्रह्म नारायराा में (अप्येति) लीन हो जाता है अर्थात् परब्रह्म नारायराा से अलग जीवात्मा का दर्शन नहीं होता है ॥ ६ ॥

विशेषार्थ– उस पूर्व कथित जीवात्मा के विषय में यह आगे कहे जाने वाला श्लोक खण्ड रूप मन्त्र प्रमाराा होता है। इस काममय पुरुष के मरराा समय में लिङ्गयानी गमक मन जिस गन्तव्य फल में अतिशय आसक्त हो जाता है। "लिङ्ग्यते अनेन" इस व्युत्पत्ति से लिङ्ग शब्द का अर्थ गमक होता है। देहवियोगकाल में अत्यन्त आसक्त होता हुआ जीव फलारम्भक कर्म के साथ ही उसी फलको प्राप्त कर लेता है। यही श्लोक खण्ड रूप मन्त्र है। अब आगे प्रकृत विषय कहा जाता है कि– यह फलभोगासक्त जीवात्मा इस भूलोक में फल को उद्देश्य करके जो कुछ भी कर्म करती है उस कर्म के फलको भोग करती हुई अन्त तक पहुँचकर अर्थात् समस्त फल को भोगकर उस लोक से इस मनुष्य लोक में कर्म करने के लिये फिर आ जाती है। इस प्रकार निश्चय करके कामना करनेवाला जीव संसार में इधर उधर जाया करता है। इस प्रकार अविद्वद्विषयक संसार को प्रपञ्च के सहित वर्ग़ान करके अब विद्वद्विषयक प्रतिपादन किया जाता है कि– जो वीतराग कामशून्य है। कामशून्यता कैसे होती है ? सो बतलाया जाता है कि जो निष्काम है अर्थात् जिससे कामनायें निकल गयी हैं वह पुरुष निष्काम कहलाता है। कामनाएँ किस प्रकार निकल जाती हैं ? जो आप्तकाम होता है अर्थात् जिसने सब कामनाओं को प्राप्त कर लिया है वह आप्तकाम है। आप्त कामता कैसे होती है ? सो बतलाया जाता है कि– जो आत्मकाम है अर्थात् जिसकी कामना का विषय आत्मा ही है, कोई अन्यवस्तु नहीं होती है, वह आत्मकाम है। उस आत्म पुरुष से प्राण नहीं उत्क्रमण करते हैं। अपहतपाप्मत्वादिरूप परब्रह्म नारायण के समान होकरके परब्रह्म नारायराा में लीन हो जाता हैं। अर्थात् परब्रह्म नारायण से अलग जीवात्मा का दर्शन नहीं होता है। महायोगिमतपोषकाचार्य भगवद्रामनुजाचार्य ने॥ **उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम्** ॥ शा० मी० अ० २ पा० ३ सू० २० ॥ **कृतात्ययेऽनुशयवान् दृष्टस्मृतिभ्यां। यथेतमनेवंच** ॥ शा० मी० अ० ३ पा० १ सू० ८ ॥ **अतोऽन्यापि ह्येकेषामुभयोः** ॥ शा० मी० अ० ४ पा० १ सू० १७ ॥ **प्रतिषेधादितिचेन्न शारीरात्स्पष्टो ह्येकेषाम्** ॥ शा० मी० अ० ४ पा० २ सू० १२ ॥ इन चार सूत्रों केश्रीभाष्य में "बृहदारण्यकोपनिषद्" के चतुर्थ ब्राह्मण की छठवीं कण्डिका के पदों को उद्धृत किया है॥ ६ ॥

तदेष श्लोको भवति। यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा ये

ऽस्य हृदि श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुत इति।। तद्यथाऽहिनिर्ल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीतैवमेवेदं शरीरं शेते। अथायमशरीरोऽमृतः प्राणो ब्रह्मैव तेज एव। सोऽहंभगवते सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः।। ७।।

अन्वयार्थ- (तत्) उस ब्रह्मवेत्ता के विषय में (एषः) यह आगे वक्ष्यमाण (श्लोकः) श्लोकरूपमंत्र प्रमाण (भवति) होता है (ये) जो (कामाः) विषय- विषयक मनोरथ (अस्य) इस उपासक के (हृदि) हृदय में (श्रिताः) आश्रित या स्थित हैं (सर्वे) वे सब विषयविषयक मनोरथ (यदा) जब (प्रमुच्यन्ते) समूल नष्ट हो जाते हैं अर्थात् शान्त हो जाते हैं (अथ) इसके अनन्तर (मर्त्यः) मरणधर्मा उपासक मनुष्य (अमृतः) उत्तर और पूर्व अघके अश्लेष तथा विनाशरूप अमृत (भवति) हो जाता है और (अत्र) यहाँ उपासना वेला में (ब्रह्म) परब्रह्म को (समश्नुते) वह उपासक अनुभव भलीभाँति कर लेता है (इति) इस प्रकार यहाँ पर श्लोकरूप मंत्र समाप्त हो गया (तत्) उस विषय में यह दृष्यन्त है कि (यथा) जिस प्रकार लोक में (अहिनिर्ल्वयनी) सर्पकी कैंचुली (वल्मीके) दीमक की मिट्टी में (प्रत्यस्ता) सर्पद्वारा परित्याग कि हुई (मृता) विना प्राण की पड़ी हुई दूर से देखने वालों के सर्प के समान अवभासमान होती हुई (शयीत) पड़ी रहती है (एवम्) उसी प्रकार (एव) निश्चय करके ब्रह्मवेत्ता के (इदम्) यह (शरीरम्) पाञ्चभौतिक शरीर अहंबुद्धि के अगोचरतया परित्याग कर दिया गया है तो भी देखने वालों की दृष्टि में ब्रह्मवेत्ता का शरीर सब के शरीर के समान अवभासमान होता हुआ (शेते) पड़ा रहता है (अथ) और (अयम्) यह ब्रह्मवेत्ता अप्ययदर्शन समानाकार ब्रह्म विद्यागमोत्तरकाल में (अमृतः) मरण रहित है तौभी मरण से पहले (अशरीरः) अशरीरकल्प है और (प्राणः) प्राण धारण करने पर भी उस समय में तात्त्विक ब्रह्मानुभव होने से (ब्रह्म) आविर्भूत ब्रह्मस्वरूप (एव) ही है तथा ब्रह्मवेत्ता पुरुष (तेजः) अज्ञानलक्षण अन्धकार प्रतिभट (एव) ही है इस प्रकार विद्या को पाकर (ह) सुप्रसिद्ध (वैदेहः) विदेहदेशाधिपति (जनकः) जनक महाराज ने (इति) ऐसा (उवाच) कहा है कि हे गुरुदेव इस विद्या की दक्षिणा में (सः) वह आपका शिष्य (अहम्) जनक नामवाला मैं (भगवते) षडैश्वर्य सम्पन्न आप के लिए (सहस्रं) एक हजार गायें (ददामि) देता हूँ।। ७।।

विशेषार्थ - उस ब्रह्मवेत्ता के विषय में यह आगे कहे जानेवाला श्लोक रूप

मन्त्र प्रमाण है कि – जो समस्त विषयविषयक मनोरथ इस उपासक के हृदय में चिपटे हुए हैं। वे सम्पूर्ण विषयविषयक मनोरथ जिस समय समूल नष्ट हो जाते हैं। अर्थात् हृद्गत शान्त हो जाते हैं। इसके अनन्तर वह मरणधर्मा उपासक मनुष्य उत्तर और पूर्व अघ के अश्लेष तथा विनाश रूप अमृत हो जाता है और यहाँ शरीरेन्द्रियादि सम्बन्ध को बिना भस्म किये ही उपासना समय में परब्रह्मविषयक अनुभव को वह उपासक पुरुष भलीभाँति कर लेता है। इस प्रकार यहाँ पर श्लोकरूपमन्त्र समाप्त हो गया। यह श्लोकरूप मन्त्र (कठोपनिषद् अध्याय २ वल्ली ३ श्रु० १४) में भी है। महायोगिमतप्रतिष्ठापनाचार्य भगवद्रामानुजाचार्यने– **समानाचासृत्युपक्रमादमृतत्वं चानुपोष्य॥** (शा० मी० अ० ४ पा० २ सू० ७) **नोपमर्देनातः॥** (शा० मी० अ० ४ पा० २ सू० १०) इन दोनों सूत्रों के श्रीभाष्य में प्रकृत श्लोकरूपमन्त्र के पदों को उद्धृत किया है। इस विषय में यह दृष्यन्त है कि– जैसे सर्प की केंचुली बाँबी यानी दीमक की मिट्टी में सर्पद्वारा परित्याग की हुई बिना प्राण की पड़ी हुई दूर से देखनेवालों को सर्प सा अवभासमान होती हुई पड़ी रहती है। वैसे ही ब्रह्मवेत्ता पुरुष को यह पाञ्चभौतिकशरीर अहंबुद्धि के अगोचररूप से परित्याग कर दिया गया है तो भी देखनेवालों की दृष्टि में ब्रह्मवेत्ता का शरीर सबके देह के समान अवभासमान होता हुआ पड़ा रहता है। और यह ब्रह्मवेत्ता अप्ययदर्शन समानाकार ब्रह्मविद्यागमोत्तरकाल में मरण रहित है तो भी मरण से पहले शरीर रहित सा है। क्योंकि शरीर को स्पर्श करनेवाले परपरिवादादिजनित विषादादिशून्य ब्रह्मवेत्ता होता है। और प्राण धारण करने पर भी उस समय में तात्त्विक ब्रह्मानुभव होने से आविर्भूत ब्रह्मस्वरूप सा हो जाता है तथा ब्रह्मवेत्ता पुरुष अज्ञानलक्षण अन्धकार प्रतिभट हो जाता है। इस उपदेश को सुनकर सुप्रसिद्ध विदेहदेश के अधिपति जनक महाराज ने कहा कि – हे आचार्यदेव! इस विद्या की दक्षिणा में वह श्रीचरणों का शिष्य जनक नामवाला मैं षडैश्वर्यसम्पन्न पूज्य आपको एक सहस्र गायें देता हूँ॥ ७॥

तदेते श्लोका भवन्ति। अणुः पन्था विततः पुराणो मां स्पृष्टोऽनुवित्तो मयैव। तेन धीरा अपि यन्ति ब्रह्मविदः स्वर्गं लोकमित ऊर्ध्वं विमुक्ताः॥ ८॥

अन्वयार्थ– (तत्) उस विषय में (एते) ये वक्ष्यमाण (श्लोकाः) श्लोकरूपमन्त्र प्रमाण (भवन्ति) हैं (अणुः) दुर्विज्ञान मानान्तरानधिगम्य अतिसूक्ष्म और (विततः) वेदान्त में विस्तार से प्रतिपादित (पुराणः) अनादि पुरातन (पन्थाः) यह अर्चिरादिमार्ग है। वह (माम्) मुझको (स्पृष्टः) शताधिक नाडी द्वारा स्वदेह में स्पर्श किया है और

(मया) मैंने (एव) ही (अनुवित्त:) भोगदशा में उसका अनुभव प्राप्त किया है (तेन) उस अर्चिरादिमार्ग से (धीरा:) प्रज्ञाशाली (ब्रह्मविद:) ब्रह्मवेत्ता लोग (इत:) इस स्थूल शरीर से (विमुक्ता:) विमुक्त यानी विशेष रूप से छूटे हुए पुरुष (ऊर्ध्वम्) सब लोकों से ऊपर (स्वर्गम्) सुखमय भगवत् (लोकम्) लोक को (अपियन्ति) प्राप्त करते हैं।। ८।।

विशेषार्थ- उस पूर्वोक्त ब्रह्मवेत्ता के विषय में ये आगे कहे जानेवाले श्लोकरूपमन्त्र प्रमाण हैं। दुर्विज्ञान मानान्तरानधिगम्य अतिसूक्ष्म और वेदान्तों में विस्तार से प्रतिपादित तथा अनादि पुरातन यह अर्चिरादिमार्ग है। वह मुझको शताधिक नाडी द्वारा शरीर में स्पर्श करनेवाला है। और निश्चय करके मैंने भोग दशा में उसका अनुभव प्राप्त किया है। उस अर्चिरादिमार्ग से धीर यानी प्रज्ञाशाली ब्रह्मवेत्ता पुरुष इस पांचभौतिक स्थूल शरीर के छूटने के अनन्तर ही सब बन्धनों से विमुक्त हो सब लोकों से ऊपर सुखमय प्रकाशस्वरूप परब्रह्म नारायण के लोक-मोक्षस्थान को प्राप्त करते हैं। "स्वर्गलोक" शब्द देवलोक का वाचक होने पर भी यहाँ प्रकरणवश मोक्षस्थान यानी भगवल्लोक का वाचक है। क्योंकि लिखा है- **स्वर्गे लोके न भयं किञ्चनास्ति न तत्र त्वं न जरया बिभेति। उभे तीर्त्वाशनायापिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके॥** (कठोप० अ० १ व० १ श्रु १२) **स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्ते॥१३॥** मोक्षस्थान में कुछ भी भय नहीं है। वहाँ मोक्षस्थान में मृत्यु आप नहीं हैं और वहाँ पर कोई भी बुढापे से नहीं डरता है। मोक्षस्थान में रहनेवाले पुरुष भूख और प्यास इन दोनों को पार करके शोकरहित होकर आनन्द भोगते हैं।।१२।। परंपद प्राप्त करनेवाले ब्रह्मप्राप्तिपूर्वक स्वरूपाविर्भावरूप अमृत को सेवन करते हैं या प्राप्त होते हैं।।१३।। इस प्रकार से प्रतिपादन किया गया है।।८।।

तस्मिञ्छुक्लमुत नीलमाहुः पिङ्गलं हरितं लोहितं च। एषः पन्था ब्रह्मणा हानुवित्तस्तेनैति ब्रह्मवित्पुण्यकृत्तै-जसश्च।।९।।

अन्वयार्थ- (तस्मिन्) उस अर्चिरादिक मार्ग में (शुक्लम्) सफेद (उत) अथवा (नीलम्) कृष्णवर्ण या (पिङ्गलं) पिङ्गलवर्ण (हरितम्) हरितवर्ण (च) और (लोहितम्) रक्तवर्ण (आहु:) वेद कहते हैं (ह) सुप्रसिद्ध (एष:) यह (पन्था:) अर्चिरादिक मार्ग (ब्रह्मणा) परब्रह्म नारायण से (अनुवित्त:) सम्बद्ध है (तेन) उस अर्चिरादिक मार्ग से (पुण्यकृत्) पहले पुण्य करनेवाला शुद्धान्तःकरण होकर (ब्रह्मवित्) ब्रह्मवेत्ता पुरुष (च) और (तैजस:) तेज: सम्बन्धी यानी तेज उपासक पञ्चाग्निविद्यानिष्ट

जन (एति) मोक्षस्थान को प्राप्त करता है।।९।।

विशेषार्थ- उस पूर्वोक्त अर्चिरादिक मार्ग में दूध के समान श्वेतवर्ण है और नीलसरोरुह के समान कृष्णवर्ण है तथा वानर के रङ्ग के समान पिङ्गलवर्ण है और वैदूर्यमणि के तुल्य हरितवर्ण है तथा जपापुष्प के तुल्य रक्तवर्ण है ऐसा सब श्रुतियाँ बतलाती हैं। क्योंकि लिखा है- **असौ वा आदित्यः पिङ्गल एष शुक्ल एष नील एषः पीत एष लोहितः॥** (छां० उ० प्र० ८ खं० ६ श्रु० १) निश्चय करके यह सूर्य पिङ्गल है तथा यह सूर्य श्वेतवर्ण है और यह सूर्य कृष्णवर्ण है तथा यह सूर्य पीतवर्ण है और यह सूर्य रक्तवर्ण है।।१।। श्रुति स्मृति द्वारा सुप्रसिद्ध यह अर्चिरादिक मार्ग पर ब्रह्म नारायण से सम्बद्ध है। इससे इस मार्ग को ब्रह्मपथ भी कहते हैं। उस अर्चिरादिक मार्ग से पहले पुण्य कर्म करके उसके द्वारा शुद्धान्तःकरणवाला होकर ब्रह्मवेत्ता पुरुष मोक्षस्थान को यानी भगवल्लोक को प्राप्त करता है। और तेजः सम्बन्धी यानी तेज उपासक-पञ्चाग्निविद्यानिष्ठ पुरुष मोक्षस्थान को यानी भगवल्लोक को प्राप्त करता है। क्योंकि पञ्चाग्निवेत्ता और ब्रह्मवेत्ता इन दोनों की अर्चिरादिगति का छान्दोग्योपनिषद् में प्रतिपादन किया गया है कि- **तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते-तेऽर्चिषमभिसंभवन्ति॥** (छां० उ० प्र० ५ खं० १० श्रु० १) जो विद्वान् उस प्रत्यगात्मस्वरूप चित् तत्त्व को इस पूर्वोक्त प्रकार से अर्थात् पञ्चाग्निविद्या के अनुसार प्रकृति विनिर्मुक्त ब्रह्मात्मक जानते हैं और जो ये विरक्त वन में रहकर सात्त्विकी श्रद्धापूर्वक परब्रह्म नारायण की उपासना करते हैं वे मरने के बाद अर्चिअभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं।।१।। अथवा जो ब्रह्मवेत्ता उस अर्चिरादिकमार्ग से जाता है वह पुण्यकर्मा और तैजस है- इस प्रकार यह ब्रह्मवेत्ता की स्तुति है। पुण्यकृत् और तैजस योगी में महाभाग्य रहता है- यह लोक में प्रसिद्ध है। अतः लोक में प्रख्यात महाभाग्यशाली होने के कारण इन दोनों विशेषणों से ब्रह्मवेत्ता की स्तुति की जाती है।।९।।

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः।।१०।।

अन्वयार्थ- (ये) जो भोगैश्वर्यप्रसक्त मनुष्य (अविद्याम्) विद्या से भिन्न केवल कर्ममात्र को (उपासते) अनुष्ठान करते हैं वे (अन्धम्) अतिगाढ़ (तमः) अन्धकार को (प्रविशन्ति) प्रवेश करते हैं और (ये) जो लोग (उ) निश्चय करके (विद्यायाम्) स्वाधिकारोचित नित्य नैमित्तिक कर्म परित्याग करके विद्या में (रताः) तत्पर रहते हैं। (ते) वे विद्यारत (ततः) उस कर्ममात्रनिष्ठ से प्राप्य गम्भीर अन्धकार से (भूयः) अधिकतर के (इव) समान (तमः) अन्धकार को प्राप्त होते हैं।।१०।।

विशेषार्थ- जो स्वर्गादिभोग तथा ऐश्वर्य में प्रसक्त हैं, वे लोग केवल इष्टापूर्तादिक कर्म को करके अन्धतामिस्त्र नरक में या शूकर, कूकर आदि योनि में प्रवेश करते हैं। मुण्डकोपनिषद् में लिखा है- **पल्वा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म। एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापियन्ति॥** (मुण्डको० मु० १ खं० २ श्रु० ७) **इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः। नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति॥१०॥** निश्चय करके होता १, अध्वर्यु २, ब्रह्म ३, उद्गाता ४, प्रशास्ता ५, प्रतिप्रस्थाता ६, ब्राह्मणाच्छंसी ७, प्रस्तोता ८, अच्छावाक ९, नेष्टा १०, आग्नीध्र ११, प्रतिहर्ता १२, ग्रावस्तुत् १३, नेता १४, होता १५, सुब्रह्मण्य १६, यजमान १७, और यजमान की स्त्री १८ इन अठारह से सिद्ध होने वाले यज्ञरूप डोंगे अधिक समय रहने वाले दृढ नहीं हैं। जिनमें फलाभिसन्धियुक्त नीची श्रेणी का उपासनारहित सकामकर्म कहा गया है। जो मूढ़ पुरुष उपासना रहित केवल यज्ञादिकर्म को ही कल्याण का साधन मानकर इसकी प्रशंसा करते हैं, वे मूढ मुनष्य बारंबार इस लोक में आकर जरा, मरण आदिक दुःख को प्राप्त होते रहते हैं॥७॥ अज्ञानी पुरुष यज्ञ आदि इष्ट और वापी कूप आदि खुदवाना रूप पूर्त कर्म को परमश्रेष्ठ मोक्ष का मुख्य साधन मानते हैं। और दूसरे भगवदुपासनारूप वास्तविकश्रेय को नहीं जानते हैं। वे इष्टापूर्त कर्म करने वाले अपने शुभकर्म से प्राप्त हुए स्वर्गलोक से ऊपर लोक में कर्मफल को भोगकर इस मनुष्य लोक को अथवा इससे भी हीन पशु, पक्षी आदि योनि को या रौरवादि नरक को प्रवेश करते हैं॥१०॥ और जो लोग अपने वर्णाश्रमोचित नित्य, नैमित्तिक कर्म का परित्याग करके विद्या में तत्पर रहते हैं वे विद्यारत लोग उस कर्ममात्रनिष्ठ से प्राप्य अतिगाढ अन्धकार से भी अधिकतर अन्धकार को अर्थात् मलमूत्र की कृमियोनि को प्राप्त करते हैं। क्योंकि लिखा है कि- **नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते। मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः॥** (गी० अ० १८ श्लो० ७) शास्त्रनियत नित्य, नैमित्तिकादिक कर्म का त्याग नहीं बन सकता, अतः उसका मोह से त्याग करना तामस त्याग कहलाता है॥७॥ "बृहदारण्यकोपनिषद्" के चतुर्थ अध्याय के चतुर्थब्राह्मण की दसवीं कण्डिका शुक्लयजुर्वेद (अध्या० ४० मं० १२) में और ईशोपनिषद् श्रु० ९ में भी है॥१०॥

अनन्दा नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः। तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्त्यविद्वांसोऽबुधो जनाः॥११॥

अन्वयार्थ- (अनन्दा) सुखलेशशून्य (नाम) शास्त्र प्रसिद्ध (अन्धेन) अतिगाढ

(तमसा) अन्धकार से (आवृता:) ढके हुए (ते) वे (लोका:) नरकलोक हैं (अविद्वांस:) जो ब्रह्मज्ञानहीन (जना:) मनुष्य हैं और (अबुध:) जो प्रत्यगात्मविद्याशून्य यानी पञ्चाग्निविद्याशून्य मनुष्य है (ते) वे अज्ञानी मनुष्य (प्रेत्य) मरकर (तान्) उन आनन्दरहित रौरवादि लोकों को (अभिगच्छन्ति) बार बार प्राप्त होते हैं।।११।।

विशेषार्थ- आनन्द के लेश से रहित नरक नाम से गरुडादिक महापुराणों में प्रसिद्ध अतिगाढ अन्धकार से आच्छदित जो नरकलोक हैं। उन आनन्दलेशशून्य रौरवादिकलोकों को वे इस शरीर को त्यागकर बारंबार प्राप्त होते हैं। वे कौन हैं सो आगे बतलाया जाता है कि- जो ब्रह्मज्ञान रहित मनुष्य हैं। और जो प्रत्यगात्मविद्यारहित यानी पञ्चाग्निविद्या हीन मनुष्य हैं। "अबुध:" यह अवगमनार्थक "बुध्" धातु का क्विप् प्रत्ययान्त प्रथमा के बहुवचन का रूप है। नरक के विषय में लिखा है- **भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्॥** (योगद० अ० १ पा० ३ सू० २४) **तत्रावीचेरुपर्य्युपरि निविष्टा: षण्महानरकभूमयो घनसलिलानलानिलकाशतम: प्रतिष्ठा: महाकालाम्बरीष-रौरव-महारौरव- कालसूत्रान्धतामिस्त्रा: । यत्र स्वकर्मोपार्जितदु:खवेदना: प्राणिन: कष्टमायुर्दीर्घमाक्षिप्य जायन्ते॥** (व्यासभाष्य) सूर्य में संयम करने से भुवन का ज्ञान होता है।।२४।। वहाँ पर अवीची नाम के स्थल से ऊपर ऊपर रचित छ: महानरक स्थान हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश तथा अन्धकार में प्रतिष्ठित हैं। महाकाल १, अम्बरीष २, रौरव ३, महारौरव ४, कालसूत्र ५, अन्धतामिस्त्र ६, ये नाम हैं। जिन स्थानों में अपने कर्मजन्य दु:ख वेदनायुक्त प्राणी कष्टरूप दीर्घायु को प्राप्त होकर जन्म लेते हैं। इससे सिद्ध होता है कि नरक कोई पृथक् स्थान है।।११।।

आत्मानं चेद् विजानीयादयमस्मीति पूरुष:। किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्॥१२॥

अन्वयार्थ-(अयम्) देह, इन्द्रिय, मन, प्राण और बुद्धि से विलक्षण यह (अस्मि) मैं ब्रह्मात्मकहूँ (इति) इस प्रकार (चेत्) यदि (पुरुष:) पुरुष (आत्मानम्) अपनी आत्मा को (विजानीयात्) विशेषरूप से जान जाये तो फिर (किम्) क्या (इच्छन्) इच्छा करता हुआ और (कस्य) किस अनुबन्धी के (कामाय) अभीष्टकामना के लिये (शरीरम्) शरीरानुबन्धि फलके (अनु) पीछे (संज्वरेत्) सन्तप्त होवे।।१२।।

विशेषार्थ- यदि यह पुरुष अपनी आत्मा को शरीरेन्द्रिय, मन:, प्राण और बुद्धि से विलक्षण मैं ब्रह्मात्मक हूँ ऐसा विशेषरूप से जान लेवे तो वह फिर किस फल की इच्छा करता हुआ और किस अनुबन्धी के अभीष्ट कामना के लिए शरीरानुबन्धिफल के लिए पीछे संतप्त होवे। अत: यह पुरुष कृतकृत्य हो जाता है।।१२।।

यस्यानुवित्तः प्रतिबुद्ध आत्माऽस्मिन् संदेह्ये गहने प्रविष्टः। स विश्वकृत् स हि सर्वस्य कर्ता तस्य लोकः स उ लोक एव॥१३॥

अन्वयार्थ- (यस्य) जिस उपासक की (आत्मा) आत्मा (अस्मिन्) इस (संदेह्ये) अनेकों अनर्थ संकट समूहों के पुञ्ज (गहने) विषम बड़े ही दुःख से प्राप्त होने योग्य शरीर में (प्रविष्टः) प्रविष्ट है और (अनुवित्तः) वह आत्मा मननाभ्यास से अवगत है तथा (प्रतिबुद्धः) ध्यात है अथवा ज्ञात हो गया है (सः) वह (विश्वकृत्) विश्वका कर्ता यानी रचने वाला है (हि) क्योंकि (सर्वस्य) सबका (कर्ता) कर्ता और (लोकः) आश्रयभूत (सः) वह (उ) निश्चय करके परमेश्वर है और (तस्य) उस परमात्मा के (सः) वह ब्रह्मवेत्ता-ज्ञानी (एव) ही (लोकः) आधार है॥१३॥

विशेषार्थ- इस कण्डिका में पुनः ब्रह्मवेत्ता की स्तुति की जाती है कि जिस उपासक प्रपन्न की आत्मा इस अनेकों अनर्थसंकट समूहों के पुञ्ज तथा कठिन या विषम यानी बड़े ही दुःख से प्राप्त होने योग्य देहमें प्रविष्ट हुई है। गहन के विषय में लिखा है॥ **कलिलं गहनं समे॥** अमर० कां० ३ व० १ श्लो० ८५॥ जो बड़े ही दुःख से प्राप्त होने के योग्य हो उसका नाम कलिल १ और गहन २ है॥ ८५॥ वह देहमें प्रविष्ट आत्मा मनन के अभ्यास से प्राप्त होता है और ज्ञात भी होता है। वही आत्मा विश्व का कर्ता यानी रचने वाला है। क्योंकि लिखा है॥ **विश्वस्य कर्ता॥** मुण्डको० मु० १ खं० १ श्रु० १॥ समस्त भुवन का रचयिता परमात्मा है॥१॥ क्योंकि वही परब्रह्म नारायण सबका कर्त्ता और आश्रयभूत निश्चय करके है। और उस परब्रह्म नारायण का वह ब्रह्मवेत्ता-ज्ञानी महात्मा निश्चय करके आधार है। क्योंकि लिखा है॥ **प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥** गी० अ० ७ श्लो० १७॥ **ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्। आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥** १८॥ क्योंकि मैं ज्ञानी का अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मेरा प्रिय है॥१७॥ ज्ञानी तो मेरी आत्मा ही है अर्थात् मैं अपनी स्थिति उसी के आधार पर मानता हूँ। क्योंकि वह युक्तात्मा मुझ सर्वोतम प्राप्य वस्तु में ही स्थित है, इसलिये मैं उसके बिना जीवन धारण करने में असमर्थ हूँ॥१८॥ **भक्तिसारसूरिसिद्धान्तपोषकाचार्य भगवद्रामानुजाचार्यने- नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात्॥** शा० मी० अ० २पा० ३ सू० २२॥ के श्रीभाष्य में "बृहदारण्यकोपनिषद्" के चतुर्थ अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण की तेरहवीं कण्डिका के "यस्यानुवित्तः प्रतिबुद्ध आत्मा" इस खण्ड को उद्धृत किया है॥१३॥

इहैव सन्तोऽथ विद्मस्तद्वयं न चेदवेदिर्महती विनष्टिः। ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापियन्ति॥१४॥

अन्वयार्थ- (वयम्) हमलोग (इह) इस मनुष्यलोक में (एव) निश्चय करके (सन्तः) वर्तमान रहते हुए यदि (तत्) उस परब्रह्म को (विद्मः) जानलेते हैं तो महान् लाभ है (अथ) और (चेत्) यदि यहाँ रहकर उस परब्र को (न) नहीं (अवेदिः) हम जानते हैं तो (महती) बड़ी भारी (विनष्टिः) विशेष हानि है (ये), जो मुमुक्षु (तत्) उस परमात्मा को (विदुः) जानलेते हैं (ते) वे ब्रह्मवेत्ता (अमृताः) परब्रह्म को पाकर मरण रहित (भवन्ति) हो जाते हैं (अथ) और (इतरे) दूसरे जो लोग परमात्मा को नहीं जानते हैं वे (एव) निश्चय करके (दुःखम्) जन्म मरणादिक दुःख को (अपियन्ति) प्राप्त होते हैं॥१४॥

विशेषार्थ- यदि हमलोग इस मनुष्यलोक में रहते हुए ही उस परब्रह्म नारायण को जानते हैं तो बड़ा लाभ है और यदि यहाँ रहकर उस परब्रह्म नारायण को नहीं जानते हैं तो बड़ी भारी विशेष हानि है। क्योंकि अन्यत्र भी लिखा है॥ **इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः**॥ केनोप० खं० २ श्रु० ५॥ यदि इस ज्ञानयोग्य मनुष्य शरीर में परब्रह्म नारायण को जान लिया तब तो पूर्वोक्त अमृत परब्रह्म प्राप्ति रूप फल सत्य है और यदि इस शरीर के रहते रहते नहीं उस परब्रह्म को जान लिया तो बड़ी भारी विशेष हानि है॥ ५॥ प्रकृत कण्डिका में "तत्" पद परब्रह्म नारायण का वाचक है। क्योंकि लिखा है॥ **अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते**॥ ऋग्वे० अष्टक० ७ मण्डल० ९ सूक्त ८४ मं० १॥ चक्र से अदग्धबाहुमूल अपरिपक्व जन उस परब्रह्म को नहीं प्राप्त करता है॥१॥ यह श्रुति- सामवेद० पूर्वार्च्चिक० प्रपाठक० ६ द्वितीयार्ध० मं० १२॥ में और कृष्णयजुर्वेद० तैत्तिरीयारण्यक० प्रपाठक० १ अनुवाक० ११ मं० २॥ में भी है॥ **तद्ध तद्वनं नाम**॥ केनो० खं० ४ श्रु० ६॥ वह परब्रह्म नारायण प्रसिद्ध है कि व्यापक होने से "तत्" और भजनीय होने से 'वन' नाम वाला है॥ ६॥ **ओं तत् सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिवधःस्मृतः**॥ गी० अ० १७ श्लो० २३॥ ओम् १, तत् २, सत् ३ यह तीन प्रकार का ब्रह्म का नाम कहा है॥२३॥ **किं यत्तत्पदमनुत्तमम्**॥ विष्णुसहस्त्रना० श्लो० ९१॥ किम् १, यत् २, तत् ३, पद ४, अनुत्तम ५ ये परब्रह्म नारायण के नाम हैं॥९१॥ पूर्वोक्त श्रुति, स्मृति तथा इतिहास से सिद्ध होता है कि परब्रह्म का "तत्" नाम है। जो उपासक उस परब्रह्म नारायण को जानते हैं वे परब्रह्म को पाकर अमृत यानी मरण रहित हो जाते हैं और जो दूसरे लोग उस परमात्मा को नहीं जानते हैं वे अज्ञानी बारंबार जन्ममरण आदि दुःख को ही पाते हैं॥१४॥

यदैतमनुपश्यत्यात्मानं देवमञ्जसा। ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते॥१५॥

अन्वयार्थ- (यदा) जब (भूतभव्यस्य) बीते हुए अतीत संसार का और आने वाले भविष्य संसार का तथा वर्तमान चेतनाचेतनात्मक संसार का (ईशानम्) अधिपति स्वामी (देवम्) द्योतमान (एतम्) इस (आत्मानम्) परमात्मदेव को (अनु) आचार्य के उपदेश के पश्चात् (अञ्जसा) शीघ्र (पश्यति) उपासक पुरुष देखता है (ततः) उस परमात्मा के साक्षात्कार के कारण से (न) नहीं (विजुगुप्सते) किसी जीव से घृणा करता है अथवा किसी जीव की निन्दा करता है॥ १५॥

विशेषार्थ- जिस समय में उपासक पुरुष परम करुणामय आचार्य के उपदेश के बाद बीते हुए अतीत संसार का तथा आने वाले भविष्य संसार का और वर्तमान चेतनाचेतनात्मक संसार के अधिपति यानी स्वामी तथा प्रकाशमान सब भूतों की अन्तरात्मा परब्रह्म नारायण देव को शीघ्र साक्षात्कार कर लेता है। यहाँ पर ''अञ्जसा'' पद शीघ्रता वाचक है क्योंकि लिखा है॥ **स्राग्झटित्यञ्जसाह्नाय द्राङ् मंक्षुसपदि द्रुते॥** अमर० कां० ३ व० ४ श्लो० २॥ स्राक् १, झटिति २, अञ्जसा ३, अह्नाय ४, द्राक् ५ मंक्षु ६, सपदि ७, द्रुत ८ ये शीघ्रता वाचक अव्यय शब्द हैं॥२॥ उस परब्रह्म नारायणदेव के साक्षात्कार के कारण से वह उपासक किसी जीव से घृणा नहीं करता है। अथवा किसी जीव की निन्दा नहीं करता है क्योंकि सबको एक ब्रह्मात्मक देखता है॥१५॥

यस्मादर्वाक् संवत्सरोऽहोभिः परिवर्तते। तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्॥१६॥

अन्वयार्थ- (यस्मात्) जिस भूतभव्येशान परमात्मा से (अर्वाक्) दूसरा विषयवाला नीचे (संवत्सरः) कालात्मा संवत्सर (अहोभिः) अहोरात्रादि अवयवों के सहित (परिवर्तते) परिच्छेदक रूप से चक्कर लगाता रहता है (ज्योतिषाम्) आदित्यादि प्रकाशकों के (ज्योतिः) प्रकाशक और (अमृतम्) काल से अपरिच्छिन्न (आयुः) सर्वप्राणियों के प्राणनहेतुभूत (ह) सुप्रसिद्ध (तत्) उस परब्रह्म की (देवाः) अग्नि, ब्रह्मा रुद्र, इन्द्र, आदिकदेवगण (उपासते) उपासना करते हैं॥१६॥

विशेषार्थ- जिस भूत, भविष्य, वर्तमानकाल के स्वामी परब्रह्म नारायण से अन्य विषय वाला कालात्मा, संवत्सर, रात दिन रूप अपने अवयवों के साथ परिच्छेदक

रूप से परमात्मा के पीछे ही घूमता रहता है। सूर्य, अग्नि आदिक प्रकाशकों के भी प्रकाशक और अमृत यानी काल से अपरिच्छिन्न तथा सम्पूर्ण प्राणियों के प्राण हेतुभूत-आयु देनेवाला वेद, शास्त्र में सुप्रसिद्ध उस परब्रह्म नारायण की ब्रह्मा, रुद्र आदिक समस्त देवगण उपासना करते हैं। कुलशेखरमतप्रकाशक भगवद्रामानुजाचार्यने- **ज्योतिषि भावाच्च।।** शा० मी० अ० १ पा० ३ सू० ३१।। **भावं तु बादरायणोऽस्ति हि।।** शा० मी० अ० १ पा० ३ सू० ३२।। **ज्योतिर्दर्शनात्** शा० मी० अ० १ पा० ३ सू० ४१।। **ज्योतिरूपक्राम तु तथा ह्यधीयत एके** शा० मी० अ० १ पा० ४ सू० ९।। **ज्योतिषैकेषामसत्यन्ने।।** शा० मी० अ० १ पा० ४ सू० १३।। इन पांच सूत्रों के श्रीभाष्य में "बृहदारण्यकोपनिषद्" के चतुर्थ अध्याय के चतुर्थब्राह्मण की सोलहवीं कण्डिका के उत्तरार्ध के पदों को उद्धृत किया है।।१६।।

यस्मिन् पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः। तमेवमन्य आत्मानं विद्वान् ब्रह्मामृतोऽमृतम्।।१७।।

अन्वयार्थ- (यस्मिन्) जिस परब्रह्म में (पञ्चजनाः) पञ्चजन संज्ञा वाली इन्द्रियाँ (च) और (आकाशः) आकाशादिक महाभूत (प्रतिष्ठितः) प्रतिष्ठित हैं (तम्) उस (आत्मानम्) परमात्मा को (अमृतम्) अमृत (ब्रह्म) ब्रह्म (एवम्) इस प्रकार के (विद्वान्) जानने वाला (अन्यः) दूसरा भी उपासकजन (अमृतः) यानी मरण रहित हो जाता है।।१७।।

विशेषार्थ- जिस परब्रह्म नारायण में पाँच पञ्चजन नामक प्रकाशक प्राण यानी स्पर्शनेन्द्रिय १, नेत्रेन्द्रिय २, श्रोत्रेन्द्रिय ३ तथा अन्न यानी घ्राणेन्द्रिय रसनेन्द्रिय ४ और मन ५ ये प्रतिष्ठित हैं। "सप्त सप्तर्षयो मताः" इस वाक्य के समान "पञ्चजनाः" यहां पर संज्ञा में।। **दिक्संख्ये संज्ञायाम्।।** पा० व्या० अ० २ पा० १ सू० ५० इस सूत्र से समास होता है। वे पञ्चजन कौन है? इस शंका का समाधान साक्षात् वेदव्यासमुनि ने किया है कि- **प्राणादयो वाक्यशेषात्।।** शा० मी० अ० १ पा० ४ सू० १२।। वाक्य शेष से ब्रह्माश्रय प्राणादिक ही पञ्चजन शब्द से जाने जाते हैं।।१२।। अर्थात् पञ्चजन शब्द निर्दिष्ट पूर्वोक्त पाँच इन्द्रियाँ और आकाश शब्द प्रदर्शित महाभूत भी परब्रह्म नारायण में प्रतिष्ठित हैं। क्योंकि लिखा है।। **एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाशः।।** बृ० उ० अ० ३ ब्रा० ८ कं० ११।। हे गार्गि! इस अक्षर परब्रह्म नारायण में ही आकाश ओत प्रोत है।।११।। उस मरण रहित बृहत्वगुणयुक्त सब से बड़े परमात्मा-परब्रह्म नारायण को इस प्रकार से जानने वाला दूसरा भी प्रपन्नजन अमृत यानी मरणरहित हो जाता है। **योगिवाहनसिद्धान्तप्रतिष्ठापनाचार्य भगवद्रामानुजाचार्य ने- न संख्योपसंग्रहादपि**

नानाभावादतिरेकाच्च।। शा॰ मी॰ अ॰ १ पा॰ ४ सू॰ ११।। **प्राणादयो वाक्यशेषात्**।। शा॰ मी॰ अ॰ १ पा॰ ४ सू॰ १२।। **ज्योतिषैकेषामसत्यन्ने**।। शा॰ मी॰ अ॰ १ पा॰ ४ सू॰ १३।। इन तीन सूत्रों के श्रीभाष्य में ''बृहदारण्यकोपनिषद्'' के चतुर्थ अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण की सतरहवीं कण्डिका के पूर्वार्ध के पदों को उद्धृत किया है।। १७।।

प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो ये मनो विदुः। ते निचिक्युर्ब्रह्म पुराणमग्र्यम्।। १८।।

अन्वयार्थ- (ये) जो उपासक उस परमात्मा को (प्राणस्य) प्राण के यानी स्पर्शनेन्द्रिय के (प्राणम्) प्राण यानी स्पर्शेन्द्रिय (उत) और (चक्षुषः) कर्णेन्द्रिय और (मनसः) संकल्पविकल्पात्मक मन के (मनः) मन (विदुः) जानते हैं (ते) वे उपासक (पुराणम्) पुरातन (अग्रयम) आगे रहने वाले (ब्रह्म) उस परब्रह्म को (निचिक्युः) निश्चय किये हैं, इसमें सन्देह नहीं है।।१८।।

विशेषार्थ- जो उपासक उस परब्रह्म नारायण को प्राण के यानी स्पर्शनेन्द्रिय के प्राण यानी स्पर्शनेन्द्रिय, यहाँ पर वायु से आप्यायित होने के ''प्राण'' शब्द से स्पर्शनेन्द्रिय का ग्रहण होता है। और नेत्रेन्द्रिय के नेत्रेन्द्रिय, तथा श्रोत्रेन्द्रिय के श्रोत्रेन्द्रिय तथा इसी प्रकार घ्राणेन्द्रिय के घ्राणेन्द्रिय और रसनेन्द्रिय के रसनेन्द्रिय, तथा संकल्प विकल्पात्मक मन से मन, जानते हैं। क्योंकि लिखा है- **श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनः ..... चक्षुषश्चक्षुः** केनोप॰ खं॰ १ श्रु॰ २।। जो परमात्मा श्रोत्रेन्द्रिय का श्रोत्र है तथा मन का मन है और नेत्रेन्द्रिय का नेत्र है।।२।। वे ब्रह्मवेत्ता लोग पुरातन तथा आगे रहने वाले उस परब्रह्म नारायण को निश्चय किये हुए हैं। इसमें संदेह नहीं है। भक्ताङ्घ्रिरेणुमतपोषक भगवद्रामानुजाचार्यने- **प्राणादयो वाक्यशेषात्**।। शा॰ मी॰ अ॰ १ पा॰ ४ सू॰ १२।। **ज्योतिषैकेषामसत्यन्ने**।। शा॰ मी॰ अ॰ १ पा॰ ४ सू॰ १३।। इन दोनों सूत्रों के श्रीभाष्य में ''बृहदारण्यकोपनिषद्'' के चतुर्थ अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण की अठारहवीं कण्डिका के पूर्वार्ध के पदों को उद्धृत किया है।।१८।।

मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानाऽस्ति किञ्चन। मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति।।१९।।

अन्वयार्थ- (अनु) श्रवण मनन के पश्चात् (मनसा) एकाग्र विशुद्ध वशीकृत मनसे (एव) ही (द्रष्टव्यम्) दर्शनसमानाकार स्मृतिसंततिरूप ध्यान संपादन करने योगय है (इह) इस द्रष्टव्य परब्रह्म में (किञ्चन) कुछ भी (नाना) अनेकत्व भेदलेश भी

(न) नहीं (अस्ति) है (य:) जो अज्ञानी (इह) इस निखिलप्रपञ्चाधारभूत परमात्मा में (नाना) अनेकत्वभेदलेशके (इव) समान (पश्यति) देखता है (स:) वह अज्ञानी (मृत्यो:) मरणरूप संसार से (मृत्युम्) मृत्युरूप संसार को (आप्नोति) प्राप्त होता है।।१९।।

विशेषार्थ- परब्रह्म नारायण के ज्ञान में अब साधन श्रुति बतलाती है कि- सदाचार्य से श्रवण के पश्चात् मननानन्तर एकाग्र विशुद्ध वशीकृत मन से ही दर्शनसमानाकारस्मृति सन्ततिरूपध्यान सम्पादन करने योग्य है। इस श्रुति में "अनु" शब्द पश्चात् वाचक है। क्योंकि लिखा है- **पश्चात्सादृश्ययोरनु**।। (अमर॰ कां॰ ३ व॰ ३ श्लोक २४८) पीछे तथा सादृश्य में अनु शब्द का प्रयोग होता है।।२४८।। इस द्रष्टव्य परब्रह्म नारायण में कुछ भी अनेकत्व-भेदलेश भी नहीं है। यहाँ पर "नाना" शब्द अनेक वाचक है। क्योंकि लिखा है- नानानेकोभयार्थयो:।। (अमर॰ कां॰ ३ व॰ ३ श्लोक २४७) अनेक तथा उभयार्थ में नाना शब्द का प्रयोग होता है।।२४७।। अब आगे नानात्व देखनेवाले की निन्दा श्रुति प्रतिपादन करती है कि- जो अज्ञानी पुरुष इस निखिलप्रपञ्चाधारभूत परब्रह्म नारायण में अनेक के समान भेदभाव देखता है वह मनुष्य जन्म मरण रूप संसार से मृत्यु यानी जन्म मरण रूप संसार को बारंबार प्राप्त होता है। इस श्रुति में "इव" शब्द समान वाचक है। क्योंकि लिखा है- **व वा यथा तथेवैवं साम्ये**।। (अमर॰ कां॰ ३ व॰ ३ श्लो॰ ९) व १, वा २, यथा ३ तथा ४, इव ५, एवम् ६ ये समता वाचक हैं।।९।। और भी लिखा है- **मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन। मृत्यो: स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति**।। (कठोप॰ अध्याय २ व॰ १ श्रु॰ ११) आचार्य और शास्त्र के उपदेश के द्वारा विशुद्ध हुए मन से ही यह परमात्म- स्वरूप प्राप्त करने योग्य है। इस परमात्मा में अनेक कुछ भी नहीं है। जो पुरुष इस परमात्मा में अनेक के समान भेद को देखता है वह अज्ञानी पुरुष जन्म-मरण रूप संसार से जन्म-मरण रूप संसार को बारंबार प्राप्त होता है।।११।। प्रकृत कण्डिका का उत्तरार्द्ध कठोपनिषद्- अ॰ २ व॰ १ श्रु॰ १० में भी है। मधुरकविसूक्तिप्रचारकाचार्य भगवद्रामानुजाचार्यने- **अथातो ब्रह्मजिज्ञासा**।। (शा॰ मी॰ अ॰ १ पा॰ १ सू॰ १) **तत्तु समन्वयात्**।। (शा॰ मी॰ अ॰ १ पा॰ १ सू॰ ४) **तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्य:**।। (शा॰ मी॰ अ॰ २ पा॰ १ सू॰ १५) **कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्य:**।। (शा॰ मी॰ अ॰ ३ पा॰ ३ सू॰ ३८) **आदरादलोप:**।। (शा॰ मी॰ अ॰ ३ पा॰ ३ सू॰ ३९) इन पाँच सूत्रों के श्रीभाष्य में "बृहदारण्यकोपनिषद्" के चतुर्थ अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण की उन्नीसवीं कण्डिका के पदों को उद्धृत किया है।।१९।।

एकधैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमेयं ध्रुवम्। विरजः पर आकाशादज आत्मा महान् ध्रुवः॥२०॥

अन्वयार्थ- (अनु) श्रवण मनन के पश्चात् (अप्रमेयम्) अपरिच्छेद्य (ध्रुवम्) स्थिर यानी विचलित न होनेवाला (एतत्) यह सर्वभूतात्मभूत ब्रह्म (एकधा) एक प्रकार से (एव) ही (द्रष्टव्यम्) दर्शन समानाकारस्मृति-सन्ततिरूपध्यान सम्पादन करने योग्य है। वह (विरजः) रागादिदोषरहित तथा (आकाशात्) आकाश से भी (परः) परे कारणभूत (ध्रुवः) स्थिर-अविनाशी (अजः) उत्पत्तिरहित (महान्) परिमाण में सबसे बड़ा (आत्मा) परमात्मा है॥२०॥

विशेषार्थ- सदाचार्योपदेशश्रवण के पश्चात् मननानन्तर अपरिच्छेद्य और स्थिर यानी विचलित नहीं होनेवाला यह सर्वभूतात्मभूत परब्रह्म नारायण एक प्रकार से ही दर्शन समानाकार स्मृतिसन्ततिरूप ध्यान सम्पादन करने योग्य हैं। वह परमात्मा रागादिदोषरहित और आकाश से भी परे कारणभूत तथा स्थिर-अविनाशी और उत्पत्तिरहित और गुण वैभवादि परिमाण में सबसे महान् यानी बड़ा है। इस श्रुति से परब्रह्म नारायण का कार्य चराचर समस्त संसार के ब्रह्मात्मक होने से एकधा अनुदर्शन विधान किया गया है। गोदामनोरथपूर्णकर्ता भगवद्रामानुजाचार्यने- **आदरादलोपः॥** (शा० मी० अ० ३ पा० ३ सू० ३९) के श्रीभाष्य में "बृहदारण्यकोपनिषद्" के चतुर्थ अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण की बीसवीं कण्डिका के पूर्वार्द्ध को उद्धृत किया है॥२०॥

तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः। नानुध्यायाद् बहूञ् छब्दान् वाचो विग्लापनं हि तदिति॥२१॥

अन्वयार्थ- (धीरः) प्रज्ञाशाली (ब्राह्मणः) अधीतवेद-द्विजाति (तम्) उस परब्रह्म नारायण को (एव) ही (विज्ञाय) श्रवण मनन से विशेष जान कर (प्रज्ञाम्) निदिध्यासन को (कुर्वीत) करे (बहून्) बहुत (शब्दान्) शब्दों को (न) नहीं (अनुध्यायात्) निरन्तर चिन्तन करे (हि) क्योंकि (तत्) वह अधिक शब्दों का अनुध्यान (वाचः) वाणी का (विग्लापनम्) विशेषरूप से ग्लानि करनेवाला श्रमजनक है (इति) इस प्रकार यह मन्त्र समाप्त हो गया॥२१॥

विशेषार्थ- धीर यानी प्रज्ञाशाली बुद्धिमान् वेदाध्ययन किया हुआ मुमुक्षु द्विजाति-ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य उस रागादि दोषरहित अप्रमेय सबके कारणभूत अजन्मा अविनाशी महान् परब्रह्म नारायण को निश्चय करके श्रवण मनन से जानकर

तब निदिध्यासन करे। यहाँ पर "ब्राह्मण" शब्द द्विजाति का उपलक्षण है। इससे ब्रह्मण, क्षत्रिय और वैश्य अर्थ होता है। बहुत से शब्दों का अनुचिन्तन न करे। यहाँ पर थोड़े से शब्दों के अनुशीलन के लिए अनुमति सूचित होती है। क्योंकि लिखा है- **ओमित्येवं ध्यायथात्मानम्**।। (मुण्ड० उ० मुं० २ खं २ श्रु० ६) ओम् इस नाम के द्वारा इस प्रकार परब्रह्म नारायण का ध्यान करो।।६।। क्योंकि वह अधिक शब्दों का अनुचिन्तनादिक वाणी का विशेषरूप से ग्लानि करनेवाला है, अर्थात् श्रम उत्पन्न करनेवाला है। इसी से आथर्वणश्रुति में भी कहा है- **अन्या वाचो विमुञ्चथ**।। (मुण्डको० मुं० २ खं २ श्रु० ५) दूसरी अनात्मविषयक वाणियों को सर्वथा छोड़ दो।।५।। इस कण्डिका के अन्त में "इति" शब्द मन्त्र का समाप्ति-सूचक है। रंगेश विमलपताका भगवद्रामानुजाचार्यने- **अथातो ब्रह्मजिज्ञासा**।। (शा० मी० अ० १ पा० १ सू० १) के श्रीभाष्य में "बृहदारण्यकोपनिषद्" के चतुर्थ अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण की इक्कीसवीं कण्डिका के "विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत" इस वाक्य को उद्धृत किया है।।२१।।

स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ् छेते। सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः। स न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कनीयान्। एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसंभेदाय। तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन। एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति। एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः परिव्रजन्ति। एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोक इति। ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति या ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा या वित्तैषणा सा लोकैषणोभे ह्येते एषणे एव भवतः। स एष नेति

नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसङ्गो न हि सज्जतेऽसितो न व्यथते न रिष्यति। एतमु हैवैतौ न तरत इत्यतः पापमकरवमित्यतः कल्याण-मकरवमित्युभे। उ हैवैष एते तरति नैनं कृताकृते तपतः॥२२॥

अन्वयार्थ- (वै) निश्चय करके (सः) वह पूर्वोक्त (एषः) यह ध्रुव (अजः) उत्पत्ति रहित (महान्) परिमाण में सब से बड़ा (आत्मा) परमात्मा है (यः) जो (अयम्) यह (विज्ञानमयः) प्रचुर ज्ञानवाला (प्राणेषु) प्राणशब्दित इन्द्रियों के मध्य में है (यः) जो (एषः) यह (हृदये) हृदय कमल के (अन्तः) मध्य में (आकाशः) प्रकाशस्वरूप जीवात्मा है (तस्मिन्) उस जीवात्मा में (शेते) परमात्मा शयन करता है (सर्वस्य) वह ब्रह्मा रुद्र इन्द्रादिक सबको (वशी) अपने वश में रखने वाला है तथा (सर्वस्य) सब ब्रह्मा रुद्र इन्द्रादि सबका (ईशानः) नियन्ता भी है और (सर्वस्य) सब ब्रह्मा रुद्र इन्द्रादि का (अधिपतिः) अधिक पालन करने वाला शेषी है (सः) वह परमात्मा (साधुना) शास्त्रविहित शुभ (कर्मणा) कर्म से (भूयान्) अधिक-बड़ा (न) नहीं होता है और (एव) निश्चय करके (असाधुना) शास्त्रप्रतिषिद्ध अशुभ कर्म से (कनीयान्) बहुत छोटा (नो) नहीं होता है (एषः) यह परमात्मा (सर्वेश्वरः) सब ब्रह्मा रुद्रादि का ईश्वर है यानी नियन्ता है (एषः) यह परमात्मा (भूताधिपतिः) ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त समस्तभूतों का अधिपति है यानी शेषी है और (एषः) यह परमात्मा (भूतपालः) ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त संपूर्णभूतों का रक्षक है (एषाम्) इन भूलोक से लेकर ब्रह्मलोकपर्यन्त (लोकानाम्) समस्तलोकों के (असंभेदाय) असांकर्य के लिए अर्थात् मर्यादा का भेदन न होने के लिए (विधरणः) धारण करने वाला (सेतुः) सेतुस्वरूपपुल (एषः) यह परमात्मा है (तम्) उस (एतम्) इस वेदान्तप्रतिपाद्य परमात्मा को (ब्राह्मणः) ब्रह्मवेत्ता मुमुक्षु लोग (वेदानुवचनेन) मंत्र ब्राह्मणरूप वेदों के अध्ययन से और (यज्ञेन) अश्वमेध आदिक यज्ञ से तथा (दानेन) गोदानादिक से और (तपसा) कृच्छ्रचान्द्रायणादि तपसे तथा (अनाशकेन) अनशनव्रत से अथवा फलाभिसन्धि रहित के द्वारा (विविदिषन्ति) जानने की इच्छा करते हैं (एतम्) इस प्रकार मंत्र और ब्राह्मण द्वारा बतलाये हुए इस परमात्मा को (एव) ही (विदित्वा) जानकर (मुनिः) मननशील योगी (भवति) होता है किसी और को नहीं और (एतम्) इस (लोकम्) दर्शनयोग्य परमात्मा को (एव) ही (इच्छन्तः) इच्छा करने वाले

(प्रव्राजिनः) संन्यासी लोग (परिव्रजन्ति) संपूर्णपरित्याग कर संन्यासाश्रम को ग्रहण करते हैं (तत्) उस पारिव्राज्य के विषय में (वै) निश्चय करके (ह) सुप्रसिद्ध (एतत्) यह कारण (स्म) है कि (विद्वांसः) ब्रह्मवेत्ता विद्वान् लोग (पूर्वे) पूर्व समय में (प्रजाम्) सन्तति को (न) नहीं (कामयन्ते) चाहते थे (इति) क्योंकि वे ऐसा सोचते थे कि-(प्रजया) संतति से (किम्) क्या (करिष्यामः) हम करेंगे प्रजासाध्य (अयम्) यह दृश्यमान (लोकः) मनुष्यलोक भी (येषाम्) जिन (नः) हमलोगों का (अयम्) यह (आत्मा) परब्रह्मनारायण ही है इसी कारण से (ह) सुप्रसिद्ध (ते) वे ब्रह्मवेत्ता संन्यासी (पुत्रैषणायाः) पुत्रैषणा से (च) और (वित्तैषणायाः) वित्तैषणा से (च) तथा (लोकैषणायाः) जाया प्रजावित्तकर्मसाध्यसंपूर्णलोक की इच्छा से (च) भी (व्युत्थाय) शास्त्रविधि से संन्यासद्वारा पृथक् होकर (अथ) अनन्तर (भिक्षाचर्यम्) देहयात्रार्थ भिक्षाटन् (चरन्तिस्म) किया करते थे। यह उपलक्षणमात्र है। समस्त संन्यासाश्रमधर्मानुष्ठान के यहाँ प्राप्त होने से पारिव्राज्य विधान किया गया है (हि) निश्चक करके (या) जो (पुत्रैषणा) पुत्रैषणा है (सा) वही (एव) निश्चय करके (वित्तैषणा) वित्तैषणा है और (या) जो (वित्तैषणा) वित्तैषणा है (सा) वही (लोकैषणा) लोकैषणा है अर्थात् स्त्रीसुत वित्तकर्मसाध्यसकललोक की कामना है (हि) निश्चय करके (एते) ये (उभे) दोनों साध्य साधन विषयक (एषणे) एषणाएँ (एव) ही (भवतः) होती हैं (सः) वह (एषः) यह (आत्मा) परमात्मा (नेति) नेति (नेति) नेति इस श्रुति से निर्देश किया गया है। वह परमात्मा (अगृह्यः) इन्द्रियों के ग्रहण के अयोग्य है इससे (हि) निश्चय करके इन्द्रिय से (न) नहीं (गृह्यते) ग्रहण किया जाता है और वह परमात्मा (अशीर्यः) विशरणयोग्य अवयवशून्य है इससे (हि) निश्चय करके (न) नहीं (शीर्यते) विशीर्ण होता है तथा वह परमेश्वर (असङ्गः) निर्लेप है इससे (हि) निश्चय करके (न) नहीं (सज्जते) पाप के फल को अनुभव करता है और वह परमात्मा (असितः) कर्मबन्धशून्य है इससे सर्व देहान्तरार्तभी (न) नहीं (व्यथते) सोचता है और (न) नहीं (रिष्यति) कदापि हिंसित होता है (एव) निश्चय करके (अतः) इस शरीरयात्रादि के कारण से (पापम्) पापकर्म को (अकरवम्) मैंने किया (इति) यह बड़ा ही कष्ट का कारण है और (उ) निश्चय करके (अतः) इस फलविषयक कामनारूप निमित्त से (कल्याणम्) पुण्य यानी शुभ कर्म को (अकरवम्) मैंने किया (इति) यह बड़ा ही सुख का कारण है (इति) इस प्रकार कि (एते) ये (उभे) दोनों चिन्तायें (ह) प्रसिद्ध (एतम्) इस ब्रह्मवेत्ता पुरुष को (न) नहीं (तरतः) प्राप्त होती हैं क्योंकि (उ) निश्चय करके (ह) प्रसिद्ध (एषः) यह ब्रह्मवेत्ता इस लोक में रहता हुआ (एते) इन दोनों पुण्य पाप कर्मों को (तरति) पार हो जाता है (एनम्) इस ब्रह्मवेत्ता के (एव) निश्चय करके (कृताकृते) सुकृत और दुष्कृत कर्म (न) नहीं (तपतः) ताप पहुँचाते

हैं अर्थात् फल सम्बन्धी करने के लिए नहीं समर्थ होते हैं।।२२।।

विशेषार्थ- निश्चय करके वह पूर्वोक्त। वह पूर्वोक्त कौन है सो आगे बतलाया जाता है कि- **अज आत्मा महान् ध्रुवः।।** (बृ० उ० अ० ४ ब्रा ४ कं० २०) उत्पत्तिरहित तथा स्थिर यानी अविनाशी और परिमाण में सबसे बड़ा परमात्मा है।।२०।। वही यह ध्रुव अजन्मा सबसे महान् परब्रह्म नारायण है। और पहले **कतम आत्मेति। योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः।।** (बृ० उ० अ० ४ ब्रा० ३ कं० ७) आत्मा कौन है? ऐसा जनक के प्रश्न करने पर याज्ञवल्क्य महर्षि ने कहा कि- हृदयकमल मध्यगत प्राणशब्दित इन्द्रियमध्यग विज्ञानधर्मक प्रकाशक जो यह पुरुष है वही आत्मा है।।७।। इस श्रुति से निर्दिष्ट जो यह प्रचुरविज्ञानवाला प्राण शब्दित इन्द्रियों के मध्य में है तथा जो यह हृदयकमल के मध्य में प्रकाश स्वरूप जीवात्मा है। उस प्रकाशस्वरूप जीवात्मा में परब्रह्म नारायण शयन करता है अर्थात् रहता है। वह नारायण, ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्रादि सबको अपने वश में रखनेवाला है। क्योंकि लिखा है- **एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः।।** (बृ० उ० अ० ३ ब्रा ८ कं० ९) हे गार्गि! इस अक्षर नारायण के प्रशासन में सूर्य और चन्द्रमा विशेष रूप से धारण किये हुए स्थित रहते हैं।।९।। इस प्रशासन से धारकत्वलक्षण आत्मत्व कहा गया है। और वह परमेश्वर ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्रादि सबका ईशान है यानी नियन्ता है। इससे नियन्तृत्वलक्षण आत्मत्व प्रतिपादन किया गया है। और सब ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्रादि का वह परमात्मा अधिपति है यानी शेषी है। इससे शेषित्वलक्षण आत्मत्व कहा गया है। और वह परब्रह्म नारायण शास्त्रविहित शुभकर्म से अधिक बड़ा नहीं होता है। तथा शास्त्र प्रतिषिद्ध अशुभ कर्म से बहुत छोटा भी नहीं होता है। अर्थात् साधु असाधु कर्मकृत उत्कर्षापकर्ष शून्य है। और यह परब्रह्म नारायण सब ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्रादि का ईश्वर है यानी नियन्ता है। तथा यह परमेश्वर ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त सब भूतों का अधिपति है यानी शेषी है। और यह नारायण ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त समस्त भूतों का रक्षक है। और यह परमात्मा इन भूलोक से लेकर ब्रह्मलोकपर्यन्त सम्पूर्ण लोकों के असांकर्य के लिए अर्थात् मर्यादा का भेदन न होने के लिए धारण करनेवाला सेतुस्वरूप-पुल है। यदि नारायण सेतु के समान लोकों का विधारण न करें तो उनकी मर्यादा टूट जाय। यहाँ ''सेतु'' शब्द पुल वाचक है। क्योंकि लिखा है- **सेतुरालौ स्त्रियाम्।।** (अमर का० २ व ० २ श्लोक १४) सेतु १, आलि २ ये पुल के नाम हैं।।१४।। उसी इस उपनिषदेकगम्य परब्रह्म नारायण को। क्योंकि लिखा है- **तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि।।** (बृ० उ० अ० ३ ब्रा० ९ कं० २६) उस सर्व विलक्षण उपनिषदेकगम्य परम पुरुष को पूछता हूँ।।२६।। ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, मुमुक्षु लोग, मन्त्र ब्राह्मणरूप वेदों के अध्ययन से और श्रौत,

स्मार्त यज्ञ से तथा गोदानादिक दान से और कृच्छ्रचान्द्रायणादि तपस्या से तथा अनशन व्रत से अथवा "अनाशकेन" यह पद "तमसा" इस पद का विशेषण है। तब यह अर्थ होता है कि– मनमाना भोजन नहीं करना रूप अनाशक तप से। भोजन का सर्वथा त्याग नहीं करना चाहिए। क्योंकि भोजन को सर्वथा त्याग देने पर तो मनुष्य मर ही जाता है, इससे ब्रह्मज्ञान नहीं होता है। अथवा फलाभिसन्धि रहित तप से जानने की इच्छा करते हैं। भगवद्गीता में भी लिखा है– **यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्। यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥** (गी॰ अ॰ १८ श्लोक ५) यज्ञ, दान, तप आदि वैदिक कर्म त्यागने योग्य नहीं हैं बल्कि वे तो करने योग्य ही हैं। क्योंकि यज्ञ, दान और तप आदि कर्म मनन करनेवाले बुद्धिमानों को भी पवित्र करनेवाले हैं।।५।। इस प्रकार मन्त्र और ब्राह्मण द्वारा बतलाये हुए इस परब्रह्म नारायण को ही जानकर मननशील योगी होता है। किसी और को नहीं। और इस दर्शन योग्य परब्रह्म नारायण को ही इच्छा करनेवाले संन्यासीगण सब वस्तु परित्याग कर तुरीयाश्रम को ग्रहण करते हैं। "एतमेव" यहाँ पर "एव" शब्द निश्चयार्थक होने से जाना जाता है कि– अन्य स्वर्गादिलोकों की इच्छा करने वालों का संन्यास में अधिकार नहीं है। गङ्गाद्वार पहुँचने की इच्छा वाला कोई सिद्धाश्रम यानी बक्सर निवासी पूर्वाभिमुख होकर नहीं जाता है। उस पारिव्राज्य में यह कारण बतलाया जाता है कि–निश्चय करके पूर्वसमय के विद्वान् आत्मज्ञ प्रजा यानी सन्तति को नहीं चाहते थे। यहाँ पर "प्रजा" शब्द सन्तति वाचक है। क्योंकि लिखा है– प्रजा स्यात्संततौ जने।। (अमर॰ कां॰ ३ व॰ ३ श्लो॰ ३२) सन्तान और जनसमूह में प्रजा शब्द का प्रयोग होता है।।३२।। क्योंकि वे ब्रह्मवेत्ता लोग ऐसा समझते थे कि संतान से क्या हम करेंगे। संतान साध्य यह दृश्यमान मनुष्यलोक भी जिन हम लोगों का यह परब्रह्म नारायण ही है। क्योंकि लिखा है– **मनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा** (बृ॰ उ॰ अ॰ १ ब्रा ५ कं॰ १६) मनुष्य लोक पुत्र से ही प्राप्तव्य है, किसी अन्य कर्म से नहीं।।१६।। अर्थात् परब्रह्म नारायण से प्राप्त हो जाने पर इस मनुष्यलोकरूप फलसाधनभूत संतान से क्या हम करेंगे? इस प्रकार जानने वाले वे सुप्रसिद्ध ब्रह्मवेत्ता निश्चय ही पुत्रैषणा से अर्थात्– **जाया मे स्यादथ प्रजायेय॥** (बृ॰ उ॰ अ॰ १ ब्रा ४ कं॰ १७) मेरी स्त्री हो फिर मैं पुत्ररूप से उत्पन्न होऊँ।।१७।। इस श्रुति से कही हुई जो पुत्र की कामना है उससे और वित्तैषणा से अर्थात्– **वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीय** (बृ॰ उ॰ अ॰ १ ब्रा ४ कं॰ १७) मुझे धन हो और फिर उस धन से मैं यज्ञादिकर्म करूँ।।१७।। इस श्रुति से कही हुई जो धन की कामना है उससे और लोकैषणा से अर्थात् स्त्री, पुत्र, धन, कर्म साध्यसमस्त लोक की इच्छा से शास्त्रविधि करके संन्यास द्वारा पृथक् होकर शरीर यात्रार्थ भिक्षाटन किया

करते थे। क्योंकि लिखा है- **परमात्मनि ये रक्तो विरक्तोऽपरमात्मनि। सर्वैषणा विनिर्मुक्तः सभैक्षं भोक्तुमर्हति॥** (नारदपरिव्रा० उ० उपदेश० ३ श्रु० १८) जो परमात्मा में अनुरक्त और उनसे भिन्न वस्तुओं की ओर से विरक्त है और जिसके मन से पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा ये सभी एषणाएँ निकल गयी हैं वही भिक्षान्नभोजन करने का अधिकारी है॥१८॥ **सर्वभूतहितः शान्तस्त्रिदण्डी सकमण्डलुः॥ एकारामः परिव्रज्य भिक्षार्थी ग्राममाश्रयेत्॥** (याज्ञवल्क्यस्मृ० अ० ३ श्लो० ५८) सब जीवों का हित करे, शान्त रहे त्रिदण्ड और कमण्डलु धारण करे, एकाराम हो सब को त्यागकर भिक्षा के लिए गाँव में जाय॥५८॥ यह भिक्षाटन उपलक्षण मात्र है। समस्त संन्यासाश्रमधर्मानुष्ठान के यहाँ प्राप्त होने से पारिव्राज्य विधान किया गया है। निश्चय करके जो पुत्रैषणा है वही वित्तैषणा है और जो वित्तैषणा है वही लोकैषणा है अर्थात् स्त्री, पुत्र, धन, कर्म साध्य समस्त लोक की कामना है। निश्चय करके ये दोनों साध्य, साधन विषयक एषणाएँ हैं। जो यह परब्रह्म नारायण-**अथात आदेशो नेति नेति॥** (बृ० उ० अ० २ ब्रा ३ कं० ६) अब उस परमात्मा का उपदेश इयत्ता लक्षणप्रकारयुक्त नहीं है, इयत्ता लक्षण प्रकारयुक्त नहीं है॥६॥ इस श्रुति में नेति नेति इस प्रकार निर्देश किया गया है। अर्थात् इयत्तालक्षण प्रकार युक्त परमात्मा नहीं है। वह परमेश्वर इन्द्रियों से ग्रहण के योग्य नहीं है इससे निश्चय करके इन्द्रियों से यह नारायण पकड़ा नहीं जाता है। और वह परमात्मा विशरणयोग्य अवयवशून्य है। इससे निश्चय करके यह नारायण विशीर्ण नहीं होता है। तथा वह परमेश्वर निर्लेप है इससे निश्चय करके यह नारायण पाप के फल को अनुभव नहीं करता है। और वह परमात्मा कर्म के बन्धन से रहित है इससे निश्चय करके यह सर्वदेहान्तरार्त भी नहीं सोचता है और नहीं कभी हिंसित ही होता है। अब आगे यह बतलाया जाता है कि-ब्रह्मवेत्ता को पाप पुण्य नहीं लगते हैं। निश्चय करके इस शरीरयात्रादि के कारण से पापकर्म को मैंने किया यह मेरे लिए बड़े ही क्लेश का कारण है और निश्चय करके इस फल विषयक कामनारूप निमित्त से पुण्य यानी शुभकर्म को मैंने किया यह मेरे लिये बड़े ही सुख का कारण है। इस प्रकार की ये दोनों चिन्तायें इस सुप्रसिद्ध ब्रह्मवेत्ता पुरुष को नहीं प्राप्त होती हैं। क्योंकि निश्चय करके यह ब्रह्मवेत्ता महात्मा इस भूलोक में रहता हुआ इन दोनों पुण्य पाप कर्मों को पार हो जाता है। निश्चय करके सुकृत और दुष्कृत कर्म इस ब्रह्मवेत्ता पुरुष को ताप नहीं पहुँचाते हैं अर्थात् फल सम्बन्धी करने के लिए नहीं समर्थ होते हैं। क्योंकि लिखा है- **यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन। ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥** (गी० अ० ४ श्लो० ३७) हे अर्जुन! जैसे प्रज्वलित अग्नि, इन्धन को भस्म कर देती है वैसे ही ज्ञानाग्नि सारे कर्मों को भस्म कर देती है॥३७॥ **श्रीरङ्गनायकीकैङ्कर्यनिरत भगवद्रामानुजाचार्यने- अथातो ब्रह्मजिज्ञासा॥** (शा० मी०

अ० १ पा० १ सू० १) **तत्तु समन्वयात्॥** (शा० मी० अ० १ पा० १ सू० ४) **विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ॥** (शा० मी० अ० १ पा० २ सू० २३) **धृतेश्च महिमोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः॥** (शा० मी० अ० १ पा० ३ सू० १५) **पत्यादिशब्देभ्यः॥** (शा० मी० अ० १ पा० ३ सू० ४४) **पत्युरसाम- ञ्जस्यात्॥** (शा० मी० अ० २ पा० २ सू० ३५) **नाणुरतछ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात्॥** (शा० मी० अ० २ पा० ३ सू० २२) **कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्यः॥** (शा० मी० अ० ३ पा० ३ सू० ३८) **आदरादलोपः॥** (शा० मी० अ० ३ पा० ३ सू० ३९) **अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात्॥** (शा० मी० अ० ३ पा० ४ सू० ८) **कामकारेण चैके॥** (शा० मी० अ० ३ पा० ४ सू० १५) **ऊर्ध्वरेतस्सु च शब्दे हि॥** (शा० मी० अ० ३ पा० ४ सू० १७) **अत एव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा॥** (शा० मी० अ० ३ पा० ४ सू० २५) **सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्॥** (शा० मी० अ० ३ पा० ४ सू० २६) **अन्तरा चापि तु तद्दृष्टेः॥** (शा० मी० अ० ३ पा० ४ सू० ३६) **सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत्॥** (शा० मी० अ० ३ पा० ४ सू० ४६) **अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात्॥** (शा० मी० अ० ३ पा० १ सू० १६) **परं जैमिनिर्मुख्यत्वात्॥** (शा० मी० अ० ४ पा० ३ सू० ११) **दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने॥** (शा० मी० अ० ४ पा० ४ सू० २०) इन उन्नीस सूत्रों के श्रीभाष्य में "बृहदारण्यकोपनिषद्" के चतुर्थ अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण की बाईसवीं कण्डिका के पदों को उद्धृत किया है॥२२॥

तदेतदृचाऽभ्युक्तम्। एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न वर्धते कर्मणा नो कनीयान्। तस्यैव स्यात् पदवित्तं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेनेति। तस्मादेवं विच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवाऽऽत्मानं पश्यति सर्वमात्मानं पश्यति। नैनं पाप्मा तरति सर्वं पाप्मानं तरति। नैनं पाप्मा तपति सर्वं पाप्मानं तपति। विपापो विरजोऽविचिकित्सो ब्राह्मणो भवति। एष ब्रह्मलोकः सम्राडिति होवाच याज्ञवल्क्यः। सोऽहं भगवते विदेहान् ददामि मां चापि सह दास्यायेति॥२३॥

अन्वयार्थ- (तत्) वह (एतत्) यह पुण्यपापसंतरण को अभिमुख करके (ऋचा) ऋचा से (अभ्युक्तम्) अच्छी तरह कहा गया है (ब्राह्मणस्य) ब्रह्मवेत्ता पुरुषका (एषः) यह वक्ष्यमाण (महिमा) महिमा ब्रह्मज्ञानान्तर (नित्यः) यावत् आत्मभावितया नित्य अनुवर्तमान रहती है, वह महिमा (कर्मणा) शुभकर्म से (न) नहीं (वर्धते) बढ़ती है और (नो) नहीं अशुभकर्म से (कनीयान्) अल्प ही होती है (एव) निश्चय करके (तस्य) उस परब्रह्म के (पदवित्) स्वरूप को जानने वाला (स्यात्) होना चाहिए (तम्) ब्रह्मवेत्ता पुरुष उस महिमा को (विदित्वा) जानकर (पापकेन) पाप (कर्मणा) कर्म से (न) नहीं (लिप्यते) लिप्त होता है (इति) यहाँ पर यह मंत्र समाप्त हो गया (तस्मात्) इस कारण से (एवंवित्) इस प्रकार शास्त्रजन्य ज्ञानवाला पुरुष (शान्तः) बाहरी इन्द्रियों के नियमन के द्वारा शान्त (दान्तः) अन्तः करण के नियमन द्वारा अभ्यन्तर की तृष्णासे निवृत्त (उपरतः) संपूर्ण निषिद्ध और काम्यादि कर्मों में सर्वथा विनिर्मुक्त (तितिक्षुः) सुख, दुःख सर्दी, गर्मी आदि सहन करने वाला अथवा क्षमा (समाहितः) ऐकाग्ग्ररूप से समाहितचित्तवाला (भूत्वा) होकर (आत्मनि) जीवात्मा में (एव) ही (आत्मानम्) परमात्मा को (पश्यति) देखे और (आत्मानम्) परमात्मा को (सर्वम्) सर्वशरीरक (पश्यति) देखे (पाप्मा) पुण्यपापलक्षण कर्म (एनम्) इस ब्रह्मवेत्ता पुरुष को (न) नहीं (तरति) प्राप्त होता है किन्तु यह ब्रह्मवेत्ता (सर्वम्) सम्पूर्ण (पाप्मानम्) पाप को (तरति) तैर जाता है (पाप्मा) पुण्यपापलक्षण कर्म (एनम्) इस ब्रह्मवेत्ता को (न) नहीं (तपति) ताप पहुँचाता है परन्तु यह ब्रह्मवेत्ता (सर्वम्) सम्पूर्ण (पाप्मानम्) पाप को (तपति) ज्ञानाग्नि से भस्मकर देता है, (विपापः) पापशून्य (विरजः) रागरहित (अविचिकित्सः) संशयहीन (ब्राह्मणः) ब्रह्मवेत्ता-ब्राह्मण (भवति) होता है (सम्राट्) हे सम्राट्! जनक महाराज (एषः) यह द्रष्टव्यरूप कहा हुआ परमात्मा (ब्रह्मलोकः) ब्रह्मलोक है (इति) ऐसा (ह) सुप्रसिद्ध (याज्ञवल्क्यः) आचार्य याज्ञवल्क्यने (उवाच) कहा (इति) इस उपदेश को सुनकर जनक महाराज ने कहा कि- हे आचार्यदेव (सः) वह अनुशिष्टब्रह्मविद्या वाला (अहम्) श्रीमान् का शिष्य मैं (भगवते) षडैश्वर्यसंपन्न पूज्यपाद आपके लिए (विदेहान्) अपना सारा राज्य विदेहदेश को (च) और विदेहदेश के (सह) साथ (माम्) अपने को (अपि) भी (दास्याय) कैंकर्य के लिए (ददामि) देता हूँ॥२३॥

विशेषार्थ- वही यह पुण्यपाप संतरण को अभिमुख करके आगे कहे जाने वाला मंत्र से प्रकाशित किया गया है। वह मंत्र यह है कि ब्रह्मवेत्ता पुरुष की जो यह महिमा है, वह ब्रह्मज्ञानानन्तर यावत् आत्मभावितया नित्य अनुवर्तमान रहती है। वह कौन महिमा है सो आगे बतलाया जाता है कि - वह महिमा शुभ कर्म से नहीं बढ़ती है और

अशुभकर्म से नहीं घटती है अर्थात् वह पुण्यपाप लक्षण कर्मकृत उत्कर्षापकर्षशून्य है। निश्चय करके उस परब्रह्मनारायण के स्वरूपको जाननेवाला होना चाहिये। यहाँ पर स्वरूप को पद कहते हैं और उस पद का वेत्ता यानी जाननेवाला ''पदवित्'' कहलाता है। अब आगे महिमाज्ञान का फल बतलाया जाता है कि-ब्रह्मवेत्ता पुरुष उस महिमा को जानकर पापकर्म से लिप्त यानी सम्बद्ध नहीं होता है। यहाँ पर इति शब्द मंत्र समाप्ति द्योतक है। इस कारण से इस प्रकार शास्त्रजन्यज्ञान वाला पुरुष बाहरी इन्द्रियों के नियमन के द्वारा शान्त, क्योंकि शम के विषय में लिखा है।। **शमः बाह्येन्द्रियनियमनम्।।** गीता रामानुजभाष्य॰ अ॰ १८ श्लो॰ ४२।। बाहरी इन्द्रियों के नियमन का नाम ''शम'' है।।४२।। और अन्तः करण के नियमन द्वारा अभ्यन्तर की तृष्णा से निवृत्त, क्योंकि दम के विषय में लिखा है।। **दमः अन्तःकरणनियमनम्।।** गीता रामानुजभा॰ अ॰ १८ श्लो॰ ४२।। अन्तःकरण के नियमन का नाम ''दम'' है।।४२।। तथा उपरत-संपूर्ण निषिद्ध और काम्यादि कर्मों से सर्वथा निवृत्त और तितिक्षु-सुख, दुःख, सर्दी गर्मी आदि सहन करने वाला अथवा क्षमा वाला, क्षमा के विषय में लिखा है।। **क्षान्तिः परैः पीड्यमानस्य अपि अविकृतचित्तता।।** गीता रामानुजभा॰ अ॰ १८ श्लो ४२।। दूसरों के द्वारा पीड़ित होने पर भी चित्त में विकार न होने का नाम ''क्षमा'' है। और इन्द्रिय तथा अन्तःकरण के चलनरूप से व्यावृत्त होकर ऐकाग्र्यरूप से समाहित चित्त वाला होकर जीवात्मा में तदन्तर्यामी परब्रह्म नारायण को देखे। और परब्रह्म नारायण को सर्वशरीरक देखे। क्योंकि लिखा है।। **जगत्सर्वं शरीरं ते।।** वाल्मीकि रामा॰ युद्धकां॰ ६ सर्ग॰ १२१।। समस्त संसार आपका शरीर है।।१२१।। पुण्यपापलक्षण कर्म इस ब्रह्मवेत्ता पुरुष को नहीं प्राप्त होता है, किन्तु ब्रह्मवेत्ता महात्मा तो समस्त पाप को तैर जाता है। और पुण्यपापलक्षण कर्म इस ब्रह्मवेत्ता पुरुष को नहीं सन्ताप पहुँचाता है, परन्तु यह ब्रह्मवेत्ता महात्मा तो समस्त पाप को ज्ञानाग्नि से भस्म कर देता है। वह पापरहित तथा राग रहित और संशय रहित ब्रह्मवेत्ता-ब्राह्मण होता है। क्योंकि लिखा है।। **भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।।** मुण्डको॰ मु॰ २ खं २ श्रु॰ ८।। ब्रह्मवेत्ता पुरुष के अन्तः करण की गांठ के समान दुर्मोच राग द्वेषादिक छूट जाता है और समस्त संदेह कट जाता है।।८।। हे सम्राट्! जनक महाराज! यह द्रष्टव्यरूप से कहा हुआ परमात्मा ही ब्रह्मलोक है, यानी ब्रह्म ही लोक है। इस प्रकार प्रसिद्ध आचार्य याज्ञवल्क्य ने कहा! तब इस उपदेश को सुनकर जनक महाराज ने कहा कि, हे गुरुदेव! वह अनुशिष्ट ब्रह्मविद्या को प्राप्त करने वाला आपका शिष्य मैं षडैश्वर्य संपन्न पूज्यपाद श्रीमान् को अपना संपूर्ण विदेह राज्य देता हूँ और विदेहदेश के साथ सेवा के लिए मैं अपने को भी श्रीचरणों में समर्पित करता हूँ। विष्वक्सेनप्जाप्रतिष्ठापनाचार्य भगवद्रामानुजाचार्य ने।। **अथातो ब्रह्मजिज्ञासा।।** शा॰ मी॰ अ॰ १ सू॰ १।। **शमदमाद्यु पेतःस्यात्तथापि तु**

तद्विधेस्तदङ्गतया तेषामप्यवश्यानुष्ठेयत्वात् शा० मी० अ० ३ पा० ४ सू० २७।। **सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत्**।। शा० मी० अ० ३ पा० ४ सू० ४६।। इन तीन सूत्रों के श्रीभाष्य में "बृहदारण्यकोपनिषद्" के चतुर्थ अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण की तेईसवीं कण्डिका के पदों को उद्धृत किया है।।२३।।

स वा एष महानज आत्माऽन्नादो वसुदानो विन्दते वसु य एवं वेद।।२४।।

अन्वयार्थ-(वै) निश्चय करके (सः) वह (एषः) यह (अजः) उत्पत्तिरहित (महान्) सब से महान् (आत्मा) परमात्मा (अन्नादः) अन्न भक्षण करने वाला और (वसुदानः) धन देने वाला है (यः) जो उपासक (एवम्) ऐसा (वेद) जानता है वह उपासक (वसु) धनको (विन्दते) पाता है।।२४।।

विशेषार्थ-वह जनक याज्ञवल्क्य की आख्यायिका में कहा हुआ निश्चय करके उत्पत्ति रहित और सब से महान् परब्रह्म नारायण है और अन्नभोक्ता तथा धनदाता है इस प्रकार जानकर जो उपासक परब्रह्म नारायण की उपासना करता है वह उपासक पुरुष अन्न धन पाता है। अन्न को भक्षण करने से अन्नाद परमात्मा का नाम है "अन्न+अद" इन दो शब्दों से अन्नाद निष्पन्न होता है। अथवा 'अन्नमासमन्ताद्ददातीति- अन्नादः" इस व्युत्पत्ति में जो अन्न को अच्छे प्रकार देवे उस परमात्मा को अन्नाद कहते हैं। क्योंकि लिखा है।। **अहमन्नादः**।। तैत्तिरीयो० व० ३ अनु० १ श्रु० ६।। मैं परब्रह्म नारायण अन्नाद हूँ।।६।। **अन्नमन्नाद एव च**।। महाभा० अनुशासनप० विष्णुसह० श्लो० ११८।। अन्न १ और अन्नाद २ ये परब्रह्म नारायण के नाम हैं।।११८।। यहाँ पर "वसु" शब्द धन वाचक है। क्योंकि लिखा है।। **देवभेदेऽनले रश्मौ वसू रत्ने धने वसु**।। अमर० कां० ३ व० ३ श्लो० २२८।। देवभेद में १, अग्नि में २; किरण में ३, रत्न में ४ और धन में ५ वसु शब्द का प्रयोग होता है।।२२।। पराङ्कुशमुनिपादभक्त भगवद्रामानुजाचार्य ने।। **पत्यादिशब्देभ्यः**।। शा० मी० अ० १ पा० ३ सू० ४४।। **नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात्**।। शा० मी० अ० २ पा० ३ सू० २२।। **श्रुतत्वाच्च**।। शा० मी० अ० ३ पा० २ सू० ३८।। इन तीन सूत्रों के श्रीभाष्य में "बृहदारण्यकोपनिषद्" के चतुर्थ अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण की चौबीसवीं कण्डिका के पूर्वार्ध के उद्धृत किया है।। २४।।

स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमृतोऽभयो ब्रह्माभयं वै ब्रह्माभयं हि वै ब्रह्मा भवति य एवं वेद।।२५।।

॥ इति चतुर्थाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम्॥

अन्वयार्थ- (वै) निश्चय करके (सः) वह (एषः) यह (अजः) उत्पत्ति रहित (महान्) सबसे महान् यानी बड़ा (आत्मा) परमात्मा (अजरः) जरारहित (अमरः) मरणशून्य (अमृतः) अमृत यानी असंसारी (अभयः) भयरहित है (हि) क्योंकि (वै) निश्चय करके (अभयम्) निरूपाधिक भय शून्य (ब्रह्म) निरतिशय बृहत्त्वगुणयुक्त ब्रह्म है (वै) निश्चय करके (अभयम्) भयशून्य (ब्रह्म) परब्रह्मनारायण है (यः) जो उपासक (एवम्) इस प्रकार (वेद) जानता है वह (ब्रह्म) आविर्भूत ब्रह्मरूप (भवति) हो जाता है।।२५।।

विशेषार्थ- वह जनक याज्ञवल्क्य की आख्यायिका में कहा हुआ यह निश्चय करके उत्पत्तिरहित सब चराचर से महान् यानी बड़ा और जरामरणशून्य अमृत-असंसारी परब्रह्म नारायण है। तथा भयरहित भी है। क्योंकि निश्चय करके भयरहित, निरतिशय बृहत्त्वगुणयुक्त परब्रह्म नारायण है। निश्चय करके जो उपासक इस प्रकार भयशून्य निरतिशय बृहत्वगुणयुक्त परब्रह्म नारायण को जानता है वह मुमुक्षु आविर्भूत ब्रह्मरूप वाला हो जाता है। अथवा वह "ब्रह्म+भवति" यानी ब्रह्म को प्राप्त करता है क्योंकि "भू प्राप्तौ" इस अनुशासन से प्राप्ति अर्थ में भी भू धातु का प्रयोग होता है। नाथमुनिसूक्तिनिर्वाहकाचार्य भगवद्रामानुजाचार्य ने- **पत्यादिशब्देभ्यश्च**।। शा॰ मी॰ अ॰ १ पा॰ ३ सू॰ ४४।। **प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्॥** शा॰ मी॰ अ॰ १ पा॰ ४ सू॰ २३।। **परिणामात्॥** शा॰ मी॰ अ॰ १ पा॰ ३ सू॰ २७।। **नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात्॥** शा॰ मी॰ अ॰ २ पा॰ ३ सू॰ २२।। **प्रतिषेधाच्च॥** शा॰ मी॰ अ॰ ३ पा॰ २ सू॰ २९।। **कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्यः॥** शा॰ मी॰ अ॰ ३ पा॰ ३ सू॰ ३८।। इन छः सूत्रों के श्रीभाष्य में "बृहदारण्यकोपनिषद्" के चतुर्थ अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण की पचीसवीं कण्डिका के पदों को उद्धृत किया है। यहाँ पर बृहदारण्यकोपनिषद्" के चतुर्थ अध्याय का चतुर्थ शारीरकब्राह्मण समाप्त हो गया।।२५।।

॥ अथ पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥

अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये वभूवतुर्मैत्रेयी कात्यायनी च तयोर्ह मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी बभूव। स्त्रीप्रज्ञैवतर्हि कात्यायनी। अथ ह याज्ञवल्क्योऽन्यद्वृत्तमुपा-ऽकरिष्यन्॥१॥

अन्वयार्थ- (अथ) चतुर्थ ब्राह्मण के कहने के बाद अब मैत्रेयी ब्राह्मण आरम्भ किया जाता है (ह) यह प्रसिद्ध है कि (याज्ञवल्क्यस्य) याज्ञवल्क्य महर्षि की (द्वे) दो (भार्ये) धर्मपत्नियाँ (बभूवतुः) थीं (मैत्रेयी) एक मित्रादेवी की लड़की मैत्रेयी (च) और दूसरी (कात्यायनी) कत ऋषि की लड़की कात्यायनी नामवाली (तयोः) उन दोनों धर्मपत्नियों में (ह) प्रसिद्ध (मैत्रेयी) मित्रातनया मैत्रेयी नामवाली (ब्रह्मवादिनी) ब्रह्मसम्बन्धी भाषण करने वाली (बभूव) थी और (तर्हि) उस समय (कात्यायनी) कत तनया कात्यायनी नामवाली (स्त्रीप्रज्ञा) स्त्रियों के गृहव्यापार विषयक उचित बुद्धि जितनी होनी चाहिए उतनी बुद्धिवाली (एव) ही थी (अथ) तब (ह) सुप्रसिद्ध (याज्ञवल्क्यः) याज्ञवल्क्य महर्षि ने (अन्यत्) गार्हस्थ्य से भिन्न-विलक्षण (वृत्तम्) चरित्र तुरीयाश्रमको (उपाकरिष्यन्) आश्रयण करने की इच्छा करते हुए वक्ष्यमाण वचन को कहा॥१॥

विशेषार्थ- द्वितीय अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण के समान यह मैत्रेयी ब्राह्मण थोड़े पाठभेद से फिर प्रारम्भ किया जाता है। पहले तुरीयाश्रमधारण करने की इच्छा वाले महर्षि याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी से आत्मतत्त्व को कहा, परन्तु अपने मन्दवैराग्य को देखकर कुछ काल तक और घर में रह कर धनोपार्जन करके शस्त्रविहित विषयों को भोगकर दृढ वैराग्य से संपन्न हो विस्मृत आत्मतत्त्ववाली मैत्रेयी के लिए पुनः उपदेश करने के लिए प्रारम्भ किया। इस आख्यायिका से यह सिद्ध होता है कि- मन्दवैराग्यवाले का संन्यास में अधिकार नहीं है। क्योंकि लिखा है॥ **यदा मनसि सञ्जातं वैतृष्ण्यं सर्ववस्तुषु। तदा संन्यासमिच्छेत पतितः स्याद्विपर्यये॥** नारदपरिव्राजकोप० उपदे० ३ श्रु० १२॥ **विरक्तः प्रव्रजेद्धीमान् सरक्तस्तु गृहे वसेत्। सरागो नरकं याति प्रव्रजन् हि द्विजाधमः ॥१३॥ यस्यैतानि सुगुप्तानि जिह्वोपस्थोदरं करः। संन्यसेदकृतोद्वाहो ब्राह्मणो ब्रह्मचर्यवान्॥१४॥ संसारमेव निःसारं दृष्ट्वा सारदिदृक्षया। प्रव्रजत्यकृतोद्वाहः परं वैराग्यमाश्रितः॥१५॥** जब मन में सब पदार्थों की ओर से पूर्ण वैराग्य हो जाय तभी संन्यास की इच्छा करनी चाहिए इसके विपरीत आचरण करने से मनुष्य पतित हो जाता है॥१२॥ विरक्त बुद्धिमान संन्यास ग्रहण करे और रागवान् पुरुष घर पर ही निवास करे, जो मन में राग होते हुए भी संन्यास ग्रहण करता है वह द्विजों में अधम है तथा उसे नरक की प्राप्ति होती है॥१३॥ जिसकी जिह्वा, शिश्नेन्द्रिय, उदर, हाथ आदि सभी ये इन्द्रियाँ भलीभाँति वश में हों तथा जिसने विवाह न किया हो ऐसा ब्रह्मचारी ब्रह्मवेत्ता-ब्राह्मण ही संन्यास ले॥१४॥ संसार को सारहीन समझकर सार वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा से बुद्धिमान पुरुष पूर्ण वैराग्य का आश्रय लेकर विवाह किये बिना ही संन्यासाश्रम को ग्रहण करते हैं॥१५॥ यह प्रसिद्ध है कि -महर्षि

याज्ञवल्क्य की दो भार्याएँ थी। एक मित्रा देवी की तनया मैत्रेयी नामवाली थी और दूसरी कत ऋषि की पुत्री **कात्यायनी** नामवाली थी। जिस कात्यायनी के भ्राता कात्यायन भी प्रसिद्ध आचर्य हुए हैं। उन दोनों धर्मपत्नियों में मैत्रेयी नामवाली ब्रह्मसम्बन्धी भाषण करने वाली थी। परन्तु उस समय कात्यायनी नामवाली, स्त्रियों को गृहव्यापारविषयक उचित बुद्धि जितनी होनी चाहिए उतनी ही बुद्धिवाली थी। यहाँ पर "प्रज्ञा" शब्द बुद्धि वाचक है। क्योंकि लिखा है।। **बुद्धिर्मनीषा धिषणा धीः प्रज्ञा शेमुषी मतिः** (अमर० कां० १ व० ५ श्लो० १।। बुद्धि १, मनीषा २, धिषणा ३, धी ४, प्रज्ञा ५, शेमुषी ६, मति ७ ये बुद्धि के नाम हैं।। १।। तब महर्षि सुप्रसिद्ध याज्ञवल्क्य ने गार्हस्थ्य से भिन्न विलक्षण चरित्र संन्यासाश्रम को ग्रहण करने के इच्छुक होकर आगे कहे जाने वाले वाक्य को कहा। यहाँ "वृत्त" शब्द चरित्र वाचक है। क्योंकि लिखा है।। **वृत्तं पद्ये चरित्रे त्रिष्वतीते दृढनिस्तले** (अमर० कां० ३ व० ३ श्लो० ७८) पद्य में १, चरित्र में २, अतीत काल में ३, दृढ में ४, तथा गोल में ५ वृत्तशब्द का प्रयोग होता है।।७८।। ऐसा कहा गया है।।१।।

मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्यः प्रव्रजिष्यन्वा अरेऽहमस्मत्स्थानादस्मि हन्त तेऽनया कात्यायन्याऽन्तं करवाणीति।।२।।

अन्वयार्थ– (मैत्रेयि) हे प्रिये मैत्रेयि (इति) ऐसा सम्बोधन करके (ह) सुप्रसिद्ध) महर्षि (याज्ञवल्क्यः) याज्ञवल्क्य ने (इति) ऐसा (उवाच) कहा कि (अरे) अरे मैत्रेयि (वै) निश्चय करके (अहम्) मैं (अस्मात्) इस गृहस्थाश्रमरूप (स्थानात्) स्थान से (प्रव्रजिष्यन्) संन्यासाश्रम स्वीकार करनेवाला (अस्मि) हूँ इसलिये (हन्त) तुम दोनों की अनुमति चाहता हूँ और (ते) तेरा (अनया) इस (कात्यायन्या) कात्यायनी के साथ कलह शान्ति के लिए (अन्तम्) द्रव्यविभागनिर्णय यानी बँटवारा (करवाणि) कर दूँ।।२।।

विशेषार्थ– हे प्रिये मैत्रेयि ! इस प्रकार ब्रह्मवादिनी बड़ी भार्या को सम्बोधन करके सुप्रसिद्ध महर्षि याज्ञल्वक्य ने कहा कि–अरे प्रिये मैत्रेयि! इस गृहस्थाश्रम से निश्चय करके परिव्राट् होने के लिए मैं प्रस्थान यानी गमन करनेवाला हूँ। इसलिए तुम दोनों से मैं आज्ञा चाहता हूँ। क्योंकि लिखा है–**विरक्तः सर्वकामेषु पारिव्राज्यं समाश्रयेत्।।** (विष्णुस्मृ० अध्या० ४ श्लो० २) सब कामनाओं से विरक्त पुरुष संन्यास को ग्रहण करे।।२।। और हे प्रिये! यदि तेरी इच्छा हो तो इस कात्यायनी के साथ कलह

शान्ति के लिए मैं द्रव्यविभाग का निर्णय अर्थात् बँटवारा कर दूँ। यह श्रुति थोड़े पाट भेद से "बृहदारण्यकोपनिषद्" के अध्याय २ ब्राह्मण ४ कण्डिका १ में भी है॥२॥

सा होवाच मैत्रेयी यन्नु म इयं भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात् स्यां न्वहं तेनामृताऽऽहो३नेति नेति होवाच याज्ञवल्क्यो यथैवोपकरणवतां जीवितं तथैव ते जीवितं स्यादमृतत्वस्य तु नाऽशास्ति वित्तेनेति॥३॥

अन्यवार्थ- (सा) वह (ह) परम प्रसिद्ध (मैत्रेयी) मैत्रेयी (इति) इस प्रकार (उवाच) बोली कि (भगोः) हे षडैश्वर्यसम्पन्न पूज्यपाद स्वामिन् (यद्) यदि (वित्तेन) धन से (पूर्णा) परिपूर्ण (इयम्) यह (सर्वा) संपूर्ण (पृथिवी) पृथ्वी (मे) मेरी (नु) ही (स्यात्) हो जाय तो (अहम्) मैं (तेन) उस सम्पूर्ण पृथ्वी के अधिकार के लाभ से (नु) क्या (अमृता) संसार से मोक्ष को प्राप्त होनेवाली (स्याम्) हो सकती हूँ (आहो) अथवा (न) नहीं (इति) इस वचन को सुनकर (ह) सुप्रसिद्ध महर्षि (याज्ञवल्क्यः) याज्ञवल्क्य ने (न) धन से सम्पन्न सारी पृथ्वी की प्राप्ति से भी तू अमृता नहीं हो सकती (इति) ऐसा (उवाच) कहा (उपकरणवताम्) भोग सामग्रियों से सम्पन्न मनुष्यों का (यथा) जैसा (एव) निश्चय करके (जीवितम्) सुख पूर्वक जीवन होता है (तथा) वैसा (एव) ही (ते) तेरा भी (जीवितम्) जीवन (स्यात्) होगा (तु) परन्तु (इति) इस (वित्तेन) वित्त साधन से (अमृतत्वस्य) मोक्षप्राप्ति की (आशा) आशा (न) नहीं (अस्ति) है॥३॥

विशेषार्थ- उस परमप्रसिद्धा ब्रह्मवादिनी मैत्रेयी ने कहा कि-हे षडैश्वर्यसम्पन्न पूज्यपाद स्वामिन्! यदि धन, धान्य, दास, दासी, हिरण्य, परिच्छेद और विविध रत्नादिकों से भरी हुई यह सम्पूर्ण पृथ्वी मेरी ही हो जाय तो हे स्वामिन्! मैं उस सम्पूर्ण पृथ्वी के अधिकार के लाभ से क्या संसार से मोक्ष को प्राप्त करनेवाली हो सकती हूँ या नहीं? ऐसा मैं आपसे पूछती हूँ आप कृपया कहें। यहाँ पर "नु" शब्द प्रश्नवाचक है और "आहो" विकल्प वाचक है? क्योंकि लिखा है-**नु पृच्छायां विकल्पे च॥** (अमर० कां० ३ व० ३ श्लोक २४८) प्रश्न में और विकल्प में "नु" शब्द का प्रयोग होता है॥२४८॥ **आहो उताहो किमुत विकल्पे किं किमूत च॥** (अमर० कां० ३ व० ४ श्लोक ५) आहो १, उताहो २, किमुत ३, किम् ४, किमु ५, उत ६ ये विकल्प वाचक अव्यय शब्द हैं॥५॥ सुप्रसिद्ध महर्षि याज्ञवल्क्य ने अपनी बड़ी भार्या मैत्रेयी के वचन को सुनकर कहा कि-धन से परिपूर्ण सम्पूर्ण पृथ्वी की प्राप्ति से भी तू अमृता

नहीं हो सकती। उत्तम भोग सामग्रियों से सम्पन्न जैसा एक महाधनाढ्य पुरुष का सुखपूर्वक जीवन होता है, वैसा ही तेरा भी जीवन हो जायगा। परन्तु धन से मोक्ष प्राप्ति की तो आशा नहीं है। क्योंकि लिखा है- **न कर्मणा न प्रजया धनेन॥** (महाना० उ० ८/१४) (कैवल्योप० श्रु० ३) कर्म से नहीं मोक्ष को प्राप्त हुए, न तो सन्तति से और न धन से ही मोक्ष को प्राप्त हुए॥१४॥३॥ प्रकृत कण्डिका अल्पपाठ भेद से "बृहदारण्यकोपनिषद्" अध्याय २ ब्राह्मण ४ कण्डिका २ में भी है। पुण्डरीकाक्षमतप्रतिष्ठापनाचार्य भगवद्रामानुजाचार्यने- **वाक्यान्वयात्** (शा० मी० अ० १ पा ४ सू० १९) के श्रीभाष्य में "बृहदारण्यकोपनिषद्" के चतुर्थ अध्याय के पञ्चम ब्राह्मण की तृतीय कण्डिका के "अमृतत्वस्य तु नाशाऽस्ति वित्तेन" इस वाक्य को उद्धृत किया है॥३॥

सा होवाच मैत्रेयी येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां यदेव भगवान् वेद तदेव मे ब्रूहीति॥४॥

अन्वयार्थ- (सा) वह (ह) परमप्रसिद्धा (मैत्रेयी) मैत्रेयी (इति) इस प्रकार (उवाच) बोली कि (येन) जिस वित्तपरिपूर्ण सम्पूर्ण पृथ्वी के लाभ से (अहम्) आपकी दासी मैं (अमृता) मोक्ष सुख के उपभोग करनेवाली (न) नहीं (स्याम्) हो सकती हूँ (तेन) उस मोक्ष प्राप्ति के अनुपायभूत धनादि लाभ से (अहम्) मोक्ष सुख चाहनेवाली आपकी दासी मैं (किम्) क्या (कुर्याम्) करूँगी इसलिये (भगवान्) षडैश्वर्यसम्पन्न आप (एव) निश्चय करके (यत्) जो अमृतत्वप्राप्ति का उपाय (वेद) जानते हैं (तत्) उसी को (एव) निश्चय करके (मे) मुझसे (ब्रूहि) उपदेश करें यह मेरी आपसे प्रार्थना है॥१४॥

विशेषार्थ- पतिदेव के उस वचन को सुनकर वह सुप्रसिद्धा ब्रह्मवादिनी मैत्रेयी पतिदेव से ऐसा बोली कि- हे पूज्यपाद! जिस धन से परिपूर्ण समस्त पृथ्वी के अधिकार लाभ से भी श्रीचरणों की दासी मैं मोक्ष सुख के उपभोग करनेवाली नहीं हो सकती हूँ। उस मोक्ष प्राप्ति के अनुपायभूत धनादि लाभ से मोक्ष सुख चाहनेवाली मैं आपकी दासी क्या करूँगी यह आपसे पूछती हूँ। इसलिए षडैश्वर्यसम्पन्न श्रीमान् जो कुछ अमृतत्व प्राप्ति का साधन जानते हैं वही मुझे बतलावें। यही मेरी आपसे प्रार्थना है। प्रकृत श्रुति (बृह० उ० अ० २ ब्रा ४ कं० ३) में भी है। श्री राममिश्रसिद्धान्तनिर्वाहकाचार्य भगवद्रामानुजाचार्यने- **वाक्यान्वायात्॥** (शा० मी० अ० १ पा० ४ सू० १९) के श्रीभाष्य में "बृहदारण्यकोपनिषद्" के चतुर्थ अध्याय के पञ्चम ब्राह्मण की चतुर्थ कण्डिका के पदों को उद्धृत किया है॥४॥

स होवाच याज्ञवल्क्यः प्रिया वै खलु नो भवति सती प्रियमवृधद्धन्त तर्हि भवत्येतद् व्याख्यास्यामि ते व्याचक्षाणस्य तु मे निदिध्यासस्वेति॥५॥

अन्वयार्थ- (ह) सुप्रसिद्ध (सः) उस (याज्ञवल्क्यः) याज्ञवल्क्य ने (इति) ऐसा (खलु) निश्चय करके (उवाच) कहा कि (भवति) हे भवति, हे देवि (वै) निश्चय करके (नः) हमारी (प्रिया) प्रिया (सती) साध्वी भार्या तू है और अनुकूल भाषण से (प्रियम्) इस समय प्रिय यानी प्रसन्नता को (अवृधत्) तूने बढ़ाया है (तर्हि) इस कारण आज (हन्त) अति दया युक्त मैं (भवति) हे भवति देवि (ते) तेरे लिए (एतत्) इस अमृतत्व प्राप्ति के साधन का (व्याख्यास्यामि) व्याख्यान करुंगा (तु) परन्तु (व्याचक्षाणस्य) व्याख्यान करते हुए (मे) मेरे वाक्य को (निदिध्यासस्व) सावधान होकर तुम सुनो॥५॥

विशेषार्थ- जब मैत्रेयी ने वित्त आदिक में निरादर और अमृतत्व में आदर दिखलाया तब, उस सुप्रसिद्ध महर्षि याज्ञवल्क्य जी ने निश्चय करके ऐसा कहा कि- हे भवति मैत्रेयि देवि! तू पहले से ही हमारी प्रिया साध्वी धर्मपत्नी है और अनुकूल भाषण से इस समय में भी तूने हमारे प्रिय यानी प्रसन्नता को ही बढ़ाया है। इस कारण से आज तेरे ऊपर विशेष दया उत्पन्न हुई है। यहाँ पर "हन्त" शब्द दयावाचक है। क्योंकि लिखा है- **हन्त हर्षेऽनुकम्पायां वाक्यारम्भविषादयोः॥** (अमर० कां० ३ व० ३ श्लो० २४४) हर्ष में १, दया में २, वाक्यारम्भ में ३, विषाद में ४ हन्त शब्द का प्रयोग होता है॥२४४॥ अब हे भवति मैत्रेयि! तेरे लिए मैं अमृतत्व प्राप्ति के उपाय को कहूँगा। उपदेश देते हुए मेरे मुख से वाक्य को सावधान होकर तुम सुनो और उपदेश दिये हुए विषय को निश्चय करके चिन्तवन करो। यह श्रुति (बृह० उ० अ० २ ब्रा० ४ कं० ४) में भी थोड़े पाठभेद से प्रयुक्त है॥५॥

स होवाच न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति। न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवति। न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति। न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवति। न वा अरे पशूनां कामाय पशवः प्रिया भवन्ति। न वा अरे ब्रह्मणः कामाय ब्रह्म प्रियं भवति।

न वा अरे क्षत्रस्य कामाय क्षत्रं प्रियं भवति। न वा अरे लोकानां कामाय लोकाः प्रिया भवन्ति। न वा अरे देवानां कामाय देवाः प्रिया भवन्ति। न वा अरे वेदानां कामाय वेदाः प्रिया भवन्ति । न वा अरे भूतानां कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति। न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति । आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदं सर्वं विदितम्।।६।।

अन्वयार्थ- (ह) परम प्रसिद्ध (सः) उस याज्ञवल्क्य महर्षि ने (उवाच) कहा कि (वै) निश्चय करके (अरे) अरे प्रिये मैत्रेयि (पत्युः) पति के (कामाय) सङ्कल्प सफल करने के लिए (पतिः) पति (प्रियः) प्रिय (न) नहीं (भवति) होता है और (अरे) अरे प्रिये मैत्रेयि (वै) निश्चय (जायायै) स्त्री के (कामाय) सङ्कल्प सफल करने के लिए (जाया) भार्या (प्रिया) प्रिया (न) नहीं (भवति) होती है तथा (अरे) अरे प्रिये मैत्रेयि (वै) निश्चय करके (पुत्राणाम्) पुत्रों के (कामाय) सङ्कल्प सफल करने के लिए (पुत्राः) पुत्र सब (प्रियाः) प्रिय (न) नहीं (भवन्ति) होते हैं और (अरे) प्रिये मैत्रेयि (वै) निश्चय करके (वित्तस्य) धन के (कामाय) प्रयोजन के लिए (वित्तम्) धन (प्रियम्) प्रिय (न) नहीं (भवति) होता है तथा (अरे) अरे प्रिये मैत्रेयि (वै) निश्चय करके (पशूनाम्) गौ, भैंस आदि पशुओं के (कामाय) संकल्प सफल करने के लिए (पशवः) गौ, भैंस आदि पशु (प्रियाः) प्रिय (न) नहीं (भवन्ति) होते हैं और (अरे) प्रिये मैत्रेयि (वै) निश्चय करके (ब्रह्मणः) ब्राह्मण के (कामाय) सङ्कल्प सफल करने के लिए (ब्रह्म) ब्राह्मण (प्रियम्) प्रिय (न) नहीं (भवति) होता है तथा (अरे) अरे प्रिये मैत्रेयि (वै) निश्चय करके (क्षत्रस्य) क्षत्रिय के (कामाय) सङ्कल्प सफल करने के लिए (क्षत्रम्) क्षत्रिय (प्रियम्) प्रिय (न) नहीं (भवति) होता है और (अरे) अरे प्रिये मैत्रेयि (वै) निश्चय करके (लोकानाम्) स्वर्गादि लोकों के (कामाय) सङ्कल्प सफल करने के लिए (लोकाः) स्वर्गादि लोक (प्रियाः) प्रिय (न) नहीं (भवन्ति) होते हैं और (अरे) अरे प्रिये मैत्रेयि (वै) निश्चय करके (देवानाम्) ब्रह्मा, रुद्रादि देवों के (कामाय) सङ्कल्प सफल करने के लिए (देवाः)

ब्रह्मा, रुद्रादि देवगण (प्रियाः) प्रिय (न) नहीं (भवन्ति) होते हैं तथा (अरे) अरे प्रिये मैत्रेयि (वै) निश्चय करके (वेदानाम्) मन्त्र ब्राह्मणात्मक वेदों के (कामाय) सङ्कल्प सफल करने के लिए (वेदाः) वेद (प्रियाः) प्रिय (न) नहीं (भवन्ति) होते हैं और (अरे) अरे प्रिये मैत्रेयि (वै) निश्चय करके (भूतानाम्) सकल प्राणियों के (कामाय) सङ्कल्प सफल करने के लिए (भूतानि) सकल प्राणी (प्रियाणि) प्रिय (न) नहीं (भवन्ति) होते हैं तथा (अरे) अरे प्रिये मैत्रेयि (वै) निश्चय करके (सर्वस्य) सबके (कामाय) सङ्कल्प सफल करने के लिए (सर्वम्) सब (प्रियम्) प्रिय (न) नहीं (भवति) होता है (तु) किन्तु (आत्मनः) परमात्मा के (कामाय) सङ्कल्प सफल करने के लिए (सर्वम्) सब (प्रियम्) प्रिय (भवति) होता है अतः (अरे) अरे प्रिये मैत्रेयि (वै) निश्चय करके (आत्मा) परमात्मा (द्रष्टव्यः) सूक्ष्मा बुद्धि से देखने योग्य है और (श्रोतव्यः) श्रुतार्थप्रतिष्ठापनलक्षण मनन करने योग्य है और (निदिध्यासितव्यः) अनवरत भावनारूप ध्यान करने योग्य है (अरे) अरे प्रिये (मैत्रेयि) मैत्रेयि (खलु) निश्चय करके (आत्मनि) परमात्मा के (दृष्टे) सूक्ष्मा बुद्धि से देख लेने पर और (श्रुते) आचार्य मुख से न्याययुक्त अर्थ ग्रहण लक्षण श्रवण करने पर तथा (मते) अपनी आत्मा में युक्ति से श्रुतार्थ प्रतिष्ठान लक्षण मनन करने पर और (विज्ञाते) अनवरत भवनारूप ध्यान करने पर (इदम्) यह (सर्वम्) सम्पूर्ण (विदितम्) अनुकूलत्वेन प्रिय ज्ञात हो जाता है॥६॥

विशेषार्थ- सुप्रसिद्ध उस याज्ञवल्क्य महर्षि ने कहा कि- अरे प्रिये मैत्रेयि! यह निश्चय है कि - पति के सङ्कल्प को सफल करने के लिए पति प्रिय नहीं होता है। किन्तु परब्रह्म नारायण के सङ्कल्प से पति प्रिय होता है। "कामाय" यहाँ पर **क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः॥** (पा० व्या० अ० २ पा० ३ सू० १४) इस सूत्र से चतुर्थी हुई है। और अरे प्रिये मैत्रेयि! यह निश्चय है कि- भार्या के सङ्कल्प को सफल करने के लिए भार्या प्रिया नहीं होती है। किन्तु परब्रह्म नारायण के सङ्कल्प से भार्या प्रिया होती है। यहाँ पर "जाया" शब्द भार्या वाचक है। क्योंकि लिखा है- **भार्या जायाथ पुं भूम्नि दाराः॥** (अमर० कां० २ व० ६ श्लोक ६) भार्या १, जाया २, दारा ३, ये व्याही स्त्री के नाम हैं॥६॥ तथा अरे प्रिये मैत्रेयि! यह निश्चय है कि- पुत्रों के सङ्कल्प को सफल करने के लिये पुत्र प्रिय नहीं होते हैं। किन्तु परमात्मा के सङ्कल्प से पुत्र प्रिय होते हैं। और अरे प्रिये मैत्रेयि! यह निश्चय है कि- धन के सङ्कल्प को सफल करने के लिए धन प्रिय नहीं होता है। किन्तु परब्रह्म नारायण के सङ्कल्प से धन प्रिय होता है। तथा अरे प्रिये मैत्रेयि! यह निश्चय है कि- गाय, भैंस, घोड़ा, हाथी आदिक पशुओं के सङ्कल्प को सफल करने के लिए पशु प्रिय नहीं होते

हैं। किन्तु परमात्मा के सङ्कल्प से पशु प्रिय होते हैं। और अरे प्रिये मैत्रेयि! यह निश्चय है कि-ब्राह्मण के सङ्कल्प को सफल करने के लिए ब्राह्मण प्रिय नहीं होता है। किन्तु परब्रह्म नारायण के सङ्कल्प से ब्राह्मण प्रिय होता है। तथा अरे प्रिये मैत्रेयि! यह निश्चय है कि- क्षत्रिय के सङ्कल्प को सफल करने के लिए क्षत्रिय प्रिय नहीं होता है। किन्तु पर ब्रह्मनारायण के संकल्प से क्षत्रिय प्रिय होता है। और अरे प्रिये मैत्रेयि! यह निश्चय है कि- पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्युलोकादिकों के सङ्कल्प को सफल करने के लिये पृथ्वी आदिक लोक प्रिय नहीं होते हैं। किन्तु परमात्मा के सङ्कल्प से तीनों लोक प्रिय होते हैं। लोक के विषय में लिखा है- **त्रयो लोकाः॥** (मनु० अ० १२ श्लोक ९७) तीन लोक हैं।।९७।। तथा अरे प्रिये मैत्रेयि! यह निश्चय है कि- तैंतीस करोड़ तैंतीस लाख तैंतीस हजार तीन सौ तैंतीस देवों के सङ्कल्प को सफल करने के लिए ब्रह्मा, रुद्र आदिक देव प्रिय नहीं होते हैं। किन्तु परब्रह्म नारायण के सङ्कल्प से समस्त देव प्रिय होते हैं। और अरे प्रिये मैत्रेयि! यह निश्चय है कि- ऋग्यजुः सामाथर्व वेदों के सङ्कल्प को सफल करने के लिए ऋगादिक वेद प्रिय नहीं होते हैं। किन्तु परमात्मा के सङ्कल्प से चारो वेद प्रिय होते हैं। वेद के विषय में लिखा हैं- चत्वारो वेदाः।। (महाभाष्य अध्याय १ पा० १ आह्नि० १) चार वेद हैं।।१।। तथा अरे प्रिये मैत्रेयि! यह निश्चय है कि- समस्त प्राणियों के सङ्कल्प को सफल करने के लिए सब प्राणी प्रिय नहीं होते हैं, किन्तु परब्रह्म नारायण के सङ्कल्प से सब प्राणी प्रिय होते हैं। ''भूत'' शब्द यहाँ प्राणी वाचक है। क्योंकि लिखा है- **युक्ते क्ष्मादावृते भूतं प्राण्यतीते समे त्रिषु॥** (अमर० कां० ३ व० ३ श्लोक ७८) न्याय युक्त कार्य में तथा पृथ्वी आदि पांच में और देव योनि में तथा अतीत काल में और सत्य में तथा प्राणी में भूत शब्द का प्रयोग होता है।।७८।। और अरे प्रिये मैत्रेयि! यह निश्चय है कि- सब के सङ्कल्प को सफल करने के लिए सब प्रिय नहीं होता है। किन्तु परब्रह्म नारायण के सङ्कल्प से सब प्रिय होता है। इस कारण से अरे मैत्रेयि! वह परब्रह्म नारायण सूक्ष्मबुद्धि से देखने योग्य है और निश्चय करके गुरु मुख से न्याययुक्त अर्थग्रहणलक्षणश्रवण करने योग्य है तथा अपनी आत्मा में युक्ति से श्रुतार्थप्रतिष्ठापनलक्षणमनन करने योग्य है। और अनवरत भावनारूप ध्यान करने योग्य है अरे प्रिये मैत्रेयि! परब्रह्म नारायण को निश्चय करके सूक्ष्मबुद्धि से देख लेने पर और आचार्य मुख से न्याययुक्त अर्थग्रहण लक्षण श्रवण करने पर तथा अपनी आत्मा में युक्ति से श्रुतार्थ प्रतिष्ठापन लक्षण मनन करने पर और अनवरत भावनारूप ध्यान करने पर यह सब जगत् अनुकूलत्वेन प्रिय ज्ञात हो जाता है। यहाँ पर- **आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः॥** (बृ० उ० अ० ४ ब्रा० ५ कं० ६) इस स्थान प्रमाण से ''विज्ञात'' शब्द निदिध्यासन

परक है। प्रकृत श्रुति थोड़े पाठ भेद से (बृ० उ० अ० २ ब्रा० ४ कं० ५) में भी है। यामुनमुनिमतवेत्ता भगवद्रामानुजाचार्यने- **अथातो ब्रह्मजिज्ञासा॥** (शा० मी० अ० १ पा० १ सू० १) **तत्तु समन्वयात्॥** (शा० मी० अ० १ पा० १ सू० ४) वाक्यान्वयात्॥ (शा० मी० अ० १ पा० ४ सू० १९) **अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः॥** (शा० मी० अ० १ पा० ४ सू० २२) **न विलक्षणत्वादस्य तथात्वं च शब्दात्॥** (शा० मी० अ० २ पा० १ सू० ४) **तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः॥** (शा० मी० अ० २ पा० १ सू० १५) **ध्यानाच्च॥** (शा० मी० अ० ४ पा० १ सू० ८) इन सात सूत्रों के श्रीभाष्य में "बृहदारण्यकोपनिषद्" के चतुर्थ अध्याय के पञ्चम ब्राह्मण की छठवीं श्रुति के पदों को उद्धृत किया है॥६॥

ब्रह्म तं परादाद् योऽन्यत्राऽऽत्मनो ब्रह्म वेद । क्षत्रं तं परादाद्योऽन्यत्राऽऽत्मनः क्षत्रं वेद । लोकास्तं परादुर्योऽन्यत्राऽऽत्मनो लोकान् वेद । देवास्तं परादुर्योऽन्यत्राऽऽत्मनो देवान् वेद । वेदास्तं परादुर्योऽन्यत्राऽऽत्मनो वेदान् वेद । भूतानि तं परादुर्योऽन्यत्राऽऽत्मनो भूतानि वेद । सर्वं तं परादाद् योऽन्यत्राऽऽत्मनः सर्वं वेदेदं ब्रह्मेदंक्षत्रमिमे लोका इमे देवा इमे वेदा इमानि भूतानीदं सर्वं यदयमात्मा॥७॥

अन्वयार्थ- (ब्रह्म) ब्राह्मणवर्ण (तम्) उस पुरुष को (परादात्) परास्त कर देता है (यः) जो (आत्मनः) परमात्मा से (अन्यत्र) भिन्न अन्यवस्तु में स्थित (ब्रह्म) ब्राह्मणवर्ण को (वेद) जानता है (क्षत्रम्) और क्षत्रियवर्ण (तम्) उस पुरुष को (परादात्) परास्तकर देता है (यः) जो (आत्मनः) परमात्मा से (अन्यत्र) भिन्न अन्यवस्तु में स्थित (क्षत्रम्) क्षत्रियवर्ण को (वेद) जानता है (लोकाः) भूलोक, अन्तरिक्षलोक, द्युलोक आदिक लोक (तम्) उस पुरुष को (परादुः) परास्त कर देते हैं (यः) जो (आत्मनः) परमात्मा से (अन्यत्र) भिन्न अन्यवस्तु में स्थित (लोकान्) पृथ्वी आदि लोकों को (वेद) जानता है और (देवाः) ब्रह्म, रुद्र, इन्द्र आदिक देवता (तम्) उस पुरुष को (परादुः) परास्त कर देते हैं (यः) जो (आत्मनः) परमात्मा से (अन्यत्र) भिन्न अन्यवस्तु में स्थित (देवान्) ब्रह्मा, रुद्र आदिक देवताओं को (वेद) जानता है तथा (वेदाः) ऋग्यजुःसामादि वेद (तम्) उस पुरुष को (परादुः) परास्त कर देते हैं (यः) जो (आत्मनः) परमात्मा से (अन्यत्र) भिन्न अन्य वस्तु में स्थित (वेदान्)

ऋगादिवेदों को (वेद) जानता है (भूतानि) समस्त प्राणी (तम्) उस पुरुष को (परादुः) परास्त कर देते हैं (यः) जो (आत्मनः) परमात्मा से (अन्यत्र) भिन्न अन्यवस्तु में स्थित (भूतानि) सब प्राणियों को (वेद) जानता है (सर्वम्) सब (तम्) उस पुरुष को (परादात्) परास्त कर देता है (यः) जो (आत्मनः) परमात्मा से (अन्यत्र) भिन्न अन्यवस्तु में स्थित (सर्वम्) सब को (वेद) जानता है (इदम्) यह (ब्रह्म) ब्राह्मणवर्ण (इदम्) यह (क्षत्रम्) क्षत्रियवर्ण (इमे) ये (लोकाः) पृथ्वी आदि लोक (इमे) ये (देवाः) ब्रह्मा, रुद्र आदि देवता (इमे) ये (वेदाः) ऋगादिक वेद तथा (इमानि) ये (भूतानि) सब प्राणी हैं और (इदम्) यह (सर्वम्) सब स्थावर जङ्गम (यत्) जो कुछ भी है वह सब ही (अयम्) यह (आत्मा) ब्रह्मात्मक है यानी परमात्मा की देह है॥७॥

विशेषार्थ– ब्राह्मणजाति उस पुरुष को परास्त कर देती है जो पुरुष परब्रह्म नारायण से भिन्न स्वनिष्ठ ब्राह्मणजाति को समझता है। अर्थात् परमात्मा से अन्यत्वेन अवगत ब्राह्मणवर्ण ही उस पुरुष को संसार प्राप्त कराता है। यहाँ पर "ब्रह्मन्" शब्द ब्राह्मणवर्ण वाचक है। क्योंकि लिखा है– **वेदस्तत्त्वं तपो ब्रह्म ब्रह्मा विप्रः प्रजापतिः॥** (अम० कां० ३ व० ३ श्लो० ११४) ब्रह्मन् शब्द वेद १, चैतन्यतत्त्व २, तप ३, ब्रह्म ४, ब्राह्मण ५ और प्रजापति ६ वाचक है॥११४॥ और क्षत्रिय जाति उस पुरुष को परास्त कर देती है जो पुरुष परब्रह्म नारायण से भिन्न स्वनिष्ठ क्षत्रियजाति को समझता है। तथा पृथ्वी आदि तीनों लोक उस पुरुष को परास्त कर देते हैं जो पुरुष परब्रह्म नारायण से भिन्न अन्यवस्तु में स्थित अब्रह्मात्मक पृथ्वी आदि लोकों को जानता है। और ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्रआदिक देवता उस पुरुष को परास्त कर देते हैं जो पुरुष परब्रह्म नारायण से भिन्न अन्य वस्तु में स्थित अब्रह्मात्मक ब्रह्मा, रुद्रादि देवताओं को जानता है। तथा ऋग्यजुः सामाथर्ववेद उस पुरुष को परास्त कर देते हैं। जो पुरुष परब्रह्म नारायण से भिन्न अन्यवस्तु में स्थित अब्रह्मात्मक चारो वेदों को जानता है। और समस्त प्राणी उस पुरुष को परास्त कर देते हैं जो पुरुष परब्रह्म नारायण से भिन्न अन्यवस्तु में स्थित अब्रह्मात्मक समस्त प्राणियों को जानता है। हे मैत्रेयि! बहुत क्या कहूँ– सब ही उस पुरुष को परास्त कर देते हैं जो पुरुष परब्रह्म नारायण से भिन्न अन्य वस्तु में स्थित अब्रह्मात्मक सब को जानता है। यह ब्राह्मण जाति और यह क्षत्रियजाति तथा ये पृथ्वी आदि लोक और ये ब्रह्म, रुद्र आदिक देव तथा ये ऋगादि चारो वेद और ये जो समस्त प्राणी हैं और यह जो सब स्थावर जंगम है वह सब ही यह ब्रह्मात्मक है। क्योंकि लिखा है॥ **ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्** (छां० उ० प्रपा० ६ खं० ८ श्रु० ७॥ ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त यह भोक्तृ भोग्य रूप सब जगत् प्रपञ्च सब का उपादानभूत और अन्तर्यामिभूत परब्रह्म

नारायण से व्याप्त है।।७।। अर्थात् परमात्मा का सब जगत् शरीर है। क्योंकि लिखा है।। **जगत्सर्वं शरीरं ते।।** वाल्मीकिरामा० युद्ध कां० ६ सर्ग० १२१।। समस्त संसार आपका शरीर है।।१२१।। प्रकृत श्रुति में "आत्मा" पद शरीर वाचक है। क्योंकि लिखा है।। **यस्यात्मा शरीरम्।।** शतपथ ब्रा० १४।५। ३०।। जिसका आत्मा शरीर है।। ३०।। आत्मा यत्नो धृतिर्बुद्धिः स्वभावो ब्रह्म वर्ष्म च (अमर० कां० ३ व० ३ श्लो० १०९) आत्मन् शब्द उपाय १, धीरता २, बुद्धि ३, स्वभाव ४, परब्रह्म ५, तथा शरीर ६ वाचक है।। १०९।। प्रकृत श्रुति "बृ० उ० अ० २ ब्रा० ४ कं० ६" में भी है। महापूर्णकृपापात्र भगवद्रामानुजाचार्य ने- **वाक्यान्वयात्** (शा० मी० अ० १ पा० ४ सू० १९) **तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः** (शा० मी० अ० २ पा० १ सू० १५) आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च (शा० मी० अ० ४ पा० १ सू० ३) इन तीन सूत्रों के श्रीभाष्य में "बृहदारण्यकोपनिषद्" के चतुर्थ अध्याय के पञ्चमब्राह्मण की सातवीं कण्डिका के पदों को उद्धृत किया है।। ७।।

स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद ग्रहणाय दुन्दुभेस्तु ग्रहणेन दुन्दुभ्याघातस्य वा शब्दो गृहीतः।।८।।

अन्वयार्थ- (यथा) जैसे (हन्यमानस्य) बजाये जाते हुए (दुन्दुभेः) नगाड़े बाजे के (बाह्यान्) बाहर निकले हुए (शब्दान्) शब्द को (ग्रहणाय) पकड़ने के लिए (सः) वह कोई (न) नहीं (शक्नुयात्) समर्थ हो सकता (तु) परन्तु (दुन्दुभेः) बाजे के (वा) अथवा (दुन्दुभ्याघातस्य) दुन्दुभिके बजाने वाले के (ग्रहणेन) पकड़ने से (शब्दः) वह शब्द (गृहीतः) पकड़ा जाता है वैसे ही विषयों के अपसारण से अथवा इन्द्रियों के निरोध से परमात्मसाक्षात्कार विरोधी बाह्यार्थज्ञान निरोध होता है।।८।।

विशेषार्थ- है मैत्रेयि! वह दृष्यान्त ऐसा है कि- जब नगाड़े बाजे को कोई पुरुष लकड़ी आदि से बजा रहा है तब उससे जो बाहर शब्द निकलते हैं। उन शब्दों को कोई चाहे कि पकड़ रखें तो उनका पकड़ना जिस प्रकार असम्भव है परन्तु नगारा बाजे के पकड़ने से अथवा नगारा बाजे के बजाने वाले के पकड़ने से उसका बाहर निकला हुआ शब्द पकड़ा जाता है। उसी प्रकार विषयों के अपसारण से अथवा इन्द्रियों के निरोध से परब्रह्मनारायणसाक्षात्कारविरोधिबाह्यार्थज्ञाननिरोध हो जाता है। "दुन्दुभि" शब्द नगाराबाजा वाचक है। क्योंकि लिखा है।। **भेर्यानकदुन्दुभी** (अमर० कां० १ व० ७ श्लो० ६।। भेरी १, आनक २, दुन्दुभि ३ ये नगारे के नाम हैं।।६।। प्रकृत श्रुति बृ० उ० अ० २ ब्रा० ४ कं० ७।। में भी है।।८।।

स यथा शङ्खस्य ध्मायमानस्य न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद ग्रहणाय शङ्खस्य तु ग्रहणेन शङ्खध्मस्य वा शब्दो गृहीतः॥९॥

अन्वयार्थ- (यथा) जैसे (ध्मायमानस्य) बजाये जाते हुए (शङ्खस्य) शंख बाजे के (बाह्यान्) बाहर निकले हुए (शब्दान्) शब्दों को (ग्रहणाय) पकड़ने के लिए (न) नहीं (शक्नुयात्) कोई भी समर्थ हो सकता (तु) परन्तु (शङ्खस्य) शंख के (वा) अथवा (शङ्खध्मस्य) शंख के बजाने वाले के (ग्रहणेन) पकड़ने से (सः) वह (शब्दः) शब्द (गृहीतः) पकड़ा जाता है वैसे ही विषयों के अपसारण से अथवा इन्द्रियों के निरोध से परमात्मसाक्षात्कारविरोधिबाह्यार्थज्ञान निरोध होता है॥९॥

विशेषार्थ- हे मैत्रेयि! वह दूसरा दृष्यन्त ऐसा है कि- जिस प्रकार मुँह से फूँके जाते हुए शंख बाजे के बाहर निकले हुए ध्वन्यात्मक शब्दों को ग्रहण करने में कोई भी समर्थ नहीं हो सकता, परन्तु शंख बाजे के अथवा शंख बाजे के बजाने वाले के पकड़ने से उसका बाहर निकला हुआ वह ध्वन्यात्मक शब्द पकड़ा जाता है। उसी प्रकार विषयों के अपसारण से अथवा इन्द्रियों के निरोध से परब्रह्मनारायणसाक्षात्कारविरोधि बाह्यार्थज्ञान निरोध हो जाता है। यह श्रुति "बृह॰ उ॰ अ॰ २ ब्रा ४ कं॰ ८" में भी है॥९॥

स यथा वीणायै वाद्यमानायै न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद ग्रहणाय वीणायै तु ग्रहणेन वीणावादस्य वा शब्दो गृहीतः॥१०॥

अन्वयार्थः- (यथा) जैसे (वाद्यमानायै) बजायी जाती हुई (वीणायै) वीणा बाजा के (बाह्यान्) बाहर निकले हुए (शब्दान्) शब्दों को (ग्रहणाय) ग्रहण करने के लिए (न) नहीं (शक्नुयात्) कोई भी समर्थ हो सकता है (तु) परन्तु (वीणायै) वीणाबाजे के (वा) अथवा (वीणावादस्य) वीणा के बजाने वाले के (ग्रहणेन) ग्रहण करने से (सः) वह (शब्दः) शब्द (गृहीतः) पकड़ा जाता है वैसे ही विषयों के अपसारण से अथवा इन्द्रियों के निरोध से परमात्मसाक्षात्कारविरोधिबाह्यार्थज्ञाननिरोध हो जाता है॥१०॥

विशेषार्थ- हे मैत्रेयि वह तीसरा दृष्यन्त ऐसा है कि- जिस प्रकार हाथ से बजायी जाती हुई वीणा बाजे से बाहर निकले हुए शब्दों को पकड़ने के लिए कोई भी समर्थ

नहीं हो सकता है। ''वीणायै'' यहाँ पर षष्ठ्यर्थ में छान्दस चतुर्थी विभक्ति हुई है। परन्तु वीणा बाजे के अथवा वीणाबाजे के बजाने वाले के पकड़ने से उसका बाहर निकला हुआ वह शब्द पकड़ा जाता है। उसी प्रकार विषयों के अपसारण से अथवा इन्द्रियों के निरोध से परब्रह्म नारायण साक्षात्कार विरोधि बाह्यर्थज्ञान निरोध हो जाता है। यह श्रुति ''बृह॰ उ॰ अ॰ २ ब्रा॰ ४ कं॰ ९'' में भी है॥१०॥

स यथाऽऽर्द्रैधाग्नेरभ्याहितस्य पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽऽथर्वाङ्गिरस इतिहासपुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानीष्टं हुतमाशितं पायितमयं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निश्वसितानि॥११॥

अन्ववयार्थ- (सः) वह चौथा दृष्टान्त है (यथा) जैसे (आर्द्रैधाग्नेः) गीले ईन्धन की अग्नि से (अभ्याहितात्) चारों तरफ ध्मान वीजनादि से प्रवर्तित (पृथक्) नाना प्रकार से (धूमाः) धूआँ (विनिश्चरन्ति) विशेषरूप से निश्चय करके निकलते हैं (एवम्) वैसे ही (अरे) प्रिये मैत्रेयि! (वै) निश्चय करके (अस्य) इस (महतः) महान् (भूतस्य) श्रेष्ठ बने हए परमात्मा का (एतत्) यह वक्ष्यमाण सब वस्तु (निश्वसितम्) श्वास प्रश्वास के समान बिना प्रयत्न के ही निकली हुई है (यत्) जो यह (ऋग्वेदः) ऋग्वेद है (यजुर्वेदः) यजुर्वेद है (सामवेदः) सामवेद है (अथर्वाङ्गिरसः) अथर्ववेद है (इतिहासपुराणम्) श्रीरामायण महाभारत इतिहास और विष्णुपुराणआदिक पुराण हैं (विद्याः) धनुर्विद्या, संगीतविद्या, नक्षत्रविद्या आदि विद्या हैं। (उपनिषदः) ईश, केन कठ आदि उपनिषद् हैं (श्लोकाः) श्लोकबद्ध पाञ्चरात्रतंत्र हैं (सूत्राणि) ब्रह्मसूत्र नारदसूत्र आदि सूत्र हैं (अनुव्याख्यानानि) बोधायनवृत्ति आदि अनुव्याख्यान हैं (व्याख्यानानि) विस्तार से ग्रन्थार्थ प्रकाशक श्रीभाष्य महाभाष्य आदि व्याख्यान हैं तथा (इष्टम्) अग्नि होत्रादिक (हुतम्) हवन किया हुआ (आशितम्) खिलाया हुआ (पायितम्) पिलाया हुआ (च) और (सर्वाणि) समस्त (भूतानि) प्राणी हैं (एतानि) ये (सर्वाणि) समस्त भोग्य भोगस्थान भोक्तृवर्ग (अस्य) इस परमात्मा के (एव) निश्चय करके (निश्वसितानि) श्वास प्रश्वास के तुल्य बिना प्रयत्न के

ही निकले हुए हैं॥११॥

विशेषार्थ– वह चौथा दृष्टान्त ऐसा है कि–जिस प्रकार गीली लकड़ियों के अग्नि से संयोग द्वारा मुख के फूत्कार से तथा पंखा आदि से प्रवर्तित अनेक प्रकार से धूएँ चारो तरफ निकलते हैं। यहाँ पर ''एध'' शब्द ईन्धन वाचक है। क्योंकि लिखा है॥ **इन्धनंत्वेध इध्मम्** (अमर० कां० २ व० ४ श्लो० १३॥ इन्धन १, एध २, इध्म ३, ये ईन्धन के नाम हैं॥१३॥ इसी प्रकार अरे मैत्रेयि! निश्चय करके इन सब से महान् परब्रह्म नारायण के श्वास प्रश्वास के समान बिना प्रयत्न के ही यह आगे कहे जाने वाली सब वस्तु है। वह कौन है? सो बतलाया जाता है कि – जो यह इक्कीस शाखात्मक ऋग्वेद है तथा एक सौ नव शाखात्मक यजुर्वेद है और हजार शाखात्मक सामवेद है तथा पचासशाखात्मक अथर्ववेद है यह सब परब्रह्म नारायण का निःश्वास है। पूर्वचरित का जिसमें संकीर्तन हो उसको इतिहास कहते हैं। प्रधान दो इतिहास हैं। एक श्रीरामायण और दूसरा महाभारत इतिहास भी परमात्मा से ही निकला हुआ है। क्योंकि महर्षि वाल्मीकि और वेदव्यासमुनि प्रभृति भगवान् के ही अंश दास हैं। लोक में राजदूतों की की हुई विजय राजा की ही कही जाती है। और पुराण भी परब्रह्म नारायण का निःश्वास है। पुराण का लक्षण श्रीमद्भागवत महापुराण में लिखा है कि ''सर्ग १, विसर्ग २, वृत्ति ३, रक्षा ४, मन्वन्तरवर्णन ५, वंश ६, वंशानुचरित ७, संस्था ८, हेतु ९, अपाश्रय १० इन दस लक्षणों से युक्त को महापुराण पुराणज्ञ लोग जानते हैं॥ भा० स्कं० १२ अ० ७॥ ब्रह्मपुराण १, पद्मपुराण २, विष्णुपुराण ३, शिवपुराण ४, लिङ्गपुराण ५, गरुडपुराण ६, नारदपुराण ७, श्रीमद्भागवतपुराण ८, अग्निपुराण ९, स्कन्दपुराण १०, भविष्यपुराण ११, ब्रह्म वैवर्तत पुराण १२, मार्कण्डेयपुराण १३, वामनपुराण १४, वाराहपुराण १५, मत्स्यपुराण १६, कूर्मपुराण १७, ब्रह्माण्डपुराण १८, ये अठारह महापुराण हैं। पराशर व्यास आदि ऋषि भगवान् के अंश हैं। इससे ये सभी पुराण परमात्मा से ही अनायास उत्पन्न हुए हैं। और मनुष्यविद्या १, पशुविद्या २, जलचरविद्या ३, सुवर्णादिधातुविद्या ४, भूगर्भविद्या ५, भूगोलविद्या ६, खगोलविद्या ७, नक्षत्रविद्या ८, भूतविद्या ९, देवविद्या १०, सर्वविद्या ११, धनुर्विद्या १२, संगीतविद्या १३ आदिक विद्यायें परमात्मा से ही निकली हुई हैं। तथा परब्रह्म नारायण के पास में निश्चय करके पहुँचाने वाली एक हजार एक सौ अस्सी ईशादि उपनिषदें परमेश्वर से ही अनायास उत्पन्न हुई हैं। तथा श्लोकछन्दोबद्ध एक सौ आठ संहितात्मक पांचरात्रतंत्र, ब्रह्मसूत्र, नारदसूत्र, शाण्डिल्यसूत्र प्रभृति सूत्रग्रन्थ और अनुव्याख्यान यानी ग्रन्थ के आशय द्योतक वृत्तिस्वरूप बोधायनवृत्ति आदि ग्रन्थ तथा व्याख्यान यानी ग्रन्थार्थ प्रकाशक भाष्य स्वरूप श्रीभाष्य, व्यासभाष्य, महाभाष्य आदिक ग्रन्थ परब्रह्म नारायण के निःश्वास हैं। और

जो इष्ट यानी अग्निहोत्रादिक है। इष्ट के विषय में लिखा है।। **अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चैव पालनम्। आतिथ्यं वैश्वदेवश्च इष्टमित्यभिधीयते॥** अत्रिसंहि० श्लो० ४३।। अग्निहोत्र १, तपस्या २, सत्यभाषण ३, वेदों का पालन ४, अतिथि सत्कार ५, और वैश्वदेवकर्म ६ इन सबों को इष्ट कहते हैं।।४३।। और जो हवन किया हुआ है तथा खिलाया हुआ है, और पिलाया हुआ है, तथा यह पृथ्वीलोक है और पर-स्वर्गादिलोक है तथा सब प्राणी हैं ये समस्त भोगय भोगस्थान भौक्तृ वर्ग परब्रह्म नारायण के ही श्वास प्रश्वास के समान बिना प्रयत्न के ही निकले हुए हैं। यह श्रुति थोड़े पाठ भेद से "बृह० उ० अ० २ ब्रा० ४ कं० १०" में भी है। इसकी विशेष व्याख्या वहाँ ही मैंने लिखी है, इससे यहाँ नहीं लिखता हूँ। नागेशभगवद्रामानुजाचार्य ने **वाक्यान्वयात्॥** शा० मी० अ० १ पा० ४ सू० १९।। के श्रीभाष्य में "बृहदारण्यकोपनिषद्" के चतुर्थ अध्याय के पञ्चम ब्राह्मण की ग्यारहवीं कण्डिका के पदों को उद्धृत किया है।।११।।

स यथा सर्वासामपां समुद्र एकायनमेवं सर्वेषां स्पर्शानां त्वगेकायनमेवं सर्वेषां रसानां जिह्वैकायनमेवं सर्वेषां गन्धानां नासिके एकायनमेवं सर्वेषां रूपाणां चक्षुरेकायनमेवं सर्वेषां शब्दानां श्रोत्रमेकायनमेवं सर्वेषां संकल्पानां मन एकायनमेवं सर्वासां विद्यानां हृदयमेकायनमेवं सर्वेषां कर्मणां हस्तावेकायनमेवं सर्वेषामानन्दानामुपस्थ एकायनमेवं सर्वेषां विसर्गाणां पायुरेकायनमेवं सर्वेषामध्वनां पादवेकायनमेवं सर्वेषां वेदानां वागेकायनम्॥१२॥

अन्वयार्थ- (सः) वह पाँचवा दृष्टान्त है (यथा) जैसे (सर्वासाम्) समस्त (अपाम्) नद, नदी, सरोवर, पल्वल, वापी, कूप, तडाग आदि जलाशयस्थ जलों का (समुद्रः) समुद्र (एकायनम्) एक-प्रधान आश्रय है (एवम्) ऐसे ही (सर्वेषाम्) समस्त (स्पर्शानाम्) कोमल, कठोर, रूक्ष, चिक्कण आदि स्पर्शोका (त्वक्) त्वचा (एकायनम्) एक मुख्य आश्रय है (एवम्) ऐसे ही (सर्वेषाम्) संपूर्ण (रसानाम्) कषाय, मधुर, लवण, कटु, तिक्त, आम्ल आदिक रसों का (जिह्वा) जीभ (एकायनम्) एक आश्रय है (एवम्) ऐसे ही (सर्वेषाम्) समस्त (गन्धानाम्) सुगन्ध और दुर्गन्धों

का (नासिके) दोनो नासिकाएँ (एकायनम्) मुख्य आश्रय हैं (एवम्) ऐसे ही (सर्वेषाम्) समस्त (रूपाणाम्) श्वेत, पीत, हरित, लोहित आदिक रूपों का (चक्षुः) नेत्रेन्द्रिय (एकायनम्) एक मुख्य आश्रय है (एवम्) ऐसे ही (सर्वेषाम्) संपूर्ण (शब्दानाम्) तार गम्भीर मन्द्र ध्वन्यात्मक वर्णात्मक शब्दों का (श्रोत्रम्) कर्णेन्द्रिय (एकायनम्) एक-मुख्य आश्रय है (एवम्) ऐसे ही (सर्वेषाम्) सकल (संकल्पानाम्) संकल्प विकल्पोंका (मनः) मन (एकायनाम्) प्रधान आश्रय है (एवम्) ऐसे ही (सर्वासाम्) समस्त (विद्यानाम्) शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द जयोतिष् आदि विद्याओं का (हृदयम्) अवस्थाविशेषविशिष्ट मनः स्वरूप हृदय (एकायनम्) एक मुख्य आशय है (एवम्) ऐसे ही (सर्वेषाम्) समस्त (कर्मणाम्) ऊपर फेंकना, नीचे फेंकना, फैलाना, समेटना आदि कर्मों का (हस्तौ) दोनों हाथ (एकायनम्) मुख्य आश्रय हैं (एवम्) ऐसे ही (सर्वेषाम्) समस्त (आनन्दानाम्) विषयानन्दों का (उपस्थः) उपस्थेन्द्रिय (एकायनम्) मुख्य आश्रय है (एवम्) ऐसे ही (सर्वेषाम्) संपूर्ण (विसर्गाणाम्) उदरस्थमलत्याग का (पायुः) गुदा इन्द्रिय (एकायनम्) एक-मुख्य आश्रय है (एवम्) ऐसे ही (सर्वेषाम्) समस्त (अध्वनाम्) मार्गगमनों का (पादौ) दोनों पैर (एकायनम्) प्रधान आश्रय हैं (एवम्) ऐसे ही (सर्वेषाम्) समस्त (वेदानाम्) मंत्र ब्राह्मणात्मक चारोवेदों का (वाक्) वागिन्द्रिय (एकायनम्) एक मुख्य आश्रय है।।१२।।

विशेषार्थ-वह पाँचवाँ दृष्यान्त ऐसा है कि- जिस प्रकार सब नद, नदी, सरोवर, कुण्ड, वापी, कूप, तड़ाग आदि के जलों का समुद्र एक-प्रधान आश्रय है। अर्थात् समुद्र जिस प्रकार बहुत जलों को ग्रहण करता है। और इसी प्रकार सब शीत, उष्ण, मृदु, कठोर आदिक स्पर्शों का त्वगिन्द्रिय एक मुख्य आश्रय है। अर्थात् त्वगिन्द्रिय असंख्य स्पर्श विशेषों को ग्रहण करती है तथा इसी प्रकार समस्त सुगन्ध और दुर्गन्धों का नासिका इन्द्रिय एक प्रधान आश्रय है। अर्थात् घ्राणेन्द्रिय जिस प्रकार बहुत गन्धों को ग्रहण करती है। और इसी प्रकार समस्त मधुर, आम्ल, लवण, कटु, कषाय, तिक्त आदि रसों का जीभ एक मुख्य आश्रय है। अर्थात् जिह्वा असंख्य रसों को ग्रहण करती है। तथा इसी प्रकार सम्पूर्ण शुक्ल, कृष्ण, पीत, हरित, रक्त आदिक रूपों का नयनेन्द्रिय मुख्य आश्रय है। अर्थात् नेत्र जिस प्रकार बहुत रूपों को ग्रहण करता है। और इसी प्रकार समस्त ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक आदिक शब्दों का श्रोत्रेन्द्रिय एक प्रधान आश्रय है। अर्थात् श्रोत्र जिस प्रकार अनन्त रूपों को ग्रहण करता है। तथा इसी प्रकार सब संकल्प विकल्पों का मन मुख्य आश्रय है। अर्थात् मन जिस प्रकार असंख्य संकल्पों को ग्रहण करता है। और इसी प्रकार समस्त विद्याओं का हृदय एक- प्रधान आश्रय है। यहाँ पर अवस्थाविशेष विशिष्ट मन को ही हृदय कहते हैं। विद्या के विषय में

लिखा है।। **द्वेविद्ये वेदितव्ये। परा चैवापरा च।।** मुण्डको मु० १ खं० १ श्रु० ४।। **तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमितिहासपुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राणीति अथ पराय या तदक्षरमधिगम्यते।।** ५।। दो विद्याएँ जानने योग्य उपादेय भूत हैं। एक परा विद्या और दूसरी अपरा विद्या है।।४।। उन दोनों में ऋग्वेद, यजुर्वेद, समावेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, जयोतिष, श्रीरामायणादि इतिहास श्री विष्णुपद्मआदिपुराण न्याय मीमांसा और धर्मशास्त्र ये सब अपरा विद्या हैं और जिसमे वह अविनाशी परब्रह्म नारायण यथार्थ जाना जाता है वह परा विद्या है।।५।। अर्थात् हृदय जिस प्रकार बहुत विद्याओं को ग्रहण करता है। तथा इसी प्रकार समस्त ऊपर फेंकना, नीचे फेंकना, फैलाना, समेटना आदिक कर्मों का दोनों हाथ मुख्य आश्रय हैं अर्थात् हाथ जिस प्रकार असंख्यकर्मों को ग्रहण करता है। और इसी प्रकार सब विषयानन्दों का उपस्थ यानी मूत्रेन्द्रिय लिङ्ग और योनि एक–मुख्य आश्रय है। अर्थात् उपस्थेन्द्रिय जिस प्रकार बहुत आनन्दों को ग्रहण करता है। उपस्थ के विषय में लिखा है।। **उपस्थोवक्ष्यमाणयोः।।** (अमर० कां० २ व० ६ श्लो० ७५।। वक्ष्यमाण लिङ्ग और योनि का नाम उपस्थ है।।७५।। तथा इसी प्रकार समस्त उदरस्थ मलत्याग का पायु यानी मलत्यागेन्द्रिय एक–मुख्य आश्रय है। अर्थात् अपानेन्द्रिय जिस प्रकार बहुत विसर्गों को करती है। पायु के विषय में लिखा है।। गुदं त्वपानं पायुर्ना।। (अमर० का० २ व० ६ श्लो० ७३) गुद १, अपान २, पायु ३, ये गुदे के नाम हैं।।७३।। और इसी प्रकार सब मार्ग गमनों का दोनों चरण एक–प्रधान आश्रय हैं। अर्थात् पैर जिस प्रकार बहुत मार्ग गमन करता है। और इसी प्रकार समस्त मंत्रब्राह्मणात्मक चारो वेदों का वाणी एक मुख्य आश्रय है। अर्थात् वाणी जिस प्रकार सब वेदों को ग्रहण करती है। हे मैत्रेयि! उसी प्रकार परब्रह्म नारायण के साक्षात्कार करने वाले महात्माओं के द्वारा इन्द्रिय वृत्तिविशेष निरोध करने योग्य है। यह श्रुति "बृह० उ० अ० २ ब्रा० ४ कं० ११।। में भी है।। १२।।

स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवैवं वा अरेऽयमात्माऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञाऽस्तीत्यरे ब्रवीमीति होवाच याज्ञवल्क्यः।।१३।।

अन्वयार्थ– (सः) वह छठवाँ दृष्यान्त है (यथा) जैसे (सैन्धवघनः) सेंन्धा नमक का ढेला (अनन्तरः) अन्तरावयवव्यतिरिक्ति (अबाह्यः) बाह्यावयवव्यतिरिक्त

(कृत्स्नः) सम्पूर्ण अवयव (रसघनः) रसघन (एव) ही प्रतीत होता है (अरे) अरे मैत्रेयि (वै) निश्चय करके (एवम्) ऐसे ही (अयम्) यह (आत्मा) परमात्मा (अनन्तरः) अन्तरावयवव्यतिरिक्त (अबाह्यः) बाह्यावयवव्यतिरिक्त (कृत्स्नः) सम्पूर्ण सर्वत्र (प्रज्ञानघनः) जीव शरीरक (एव) ही है वह परमात्मा जीवशरीरकतया (एतेभ्यः) इन (भूतेभ्यः) महाभूतों से (समुत्थाय) सम्यक् उठकर (तानि) उन महाभूतों का विनाश होने पर (एव) निश्चय करके (अनु) पश्चात् (विनश्यति) विनष्ट हो जाता है अर्थात् अत्यन्तज्ञानसंकोच हो जाता है (प्रेत्य) चरम देह वियोग को पाकर मोक्ष दशा में स्वाभाविक अपरिच्छिन्न ज्ञान संकोच के अभाव होने पर (न) नहीं (सं+ज्ञा) भूतसंघात से एकीकार करके ज्ञान (अस्ति) रहता है (अरे) अरे प्रिये मैत्रेयि! (इति) ऐसा (ब्रवीमि) मैं कहता हूँ (इति) इस प्रकार (ह) सुप्रसिद्ध महर्षि (याज्ञवल्क्यः) याज्ञवल्क्य ने (उवाच) कहा।।१३।।

विशेषार्थ— वह छठवाँ दृष्यान्त ऐसा है कि— जिस प्रकार सेन्धा नमक का ढेला अन्तरावयवरहित और बाह्यावयवरहित सम्पूर्ण अर्थात् भीतर में बाहर में मध्य में सर्वत्र लवण रस घन ही प्रतीत होता है। अरे मैत्रेयि! इसी दृष्यान्त के समान निश्चय करके यह परब्रह्मनारायण अन्तरावयवरहित और बाह्यावयवरहित सम्पूर्ण सर्वत्र जीव शरीरक ही है। वह अत्यन्त अच्छेद्य परब्रह्म नारायण जीव शरीरकतया इन महाभूतों से सम्यक् उठकर, उन महाभूतों के उत्पन्न होने पर अर्थात् देह की उत्पत्ति होने पर स्वयं उत्पन्न होता है। और महाभूत से बने हुए देह का विनाश होने पर स्वयं विनष्ट हो जाता है। यहाँ पर विकास प्रादुर्भाव का नाम आत्मा की उत्पत्ति है। और अत्यन्त ज्ञान संङ्कोच का नाम आत्मा का विनाश है। चरमदेह वियोग को पाकर मोक्ष दशा में स्वाभाविक अपरिच्छिन्नज्ञानसङ्कोच के अभाव होने पर भूतसंघात से एकीकार करके आत्मा में देवादिरूप से ज्ञान नहीं रहता है। यहाँ पर ''सम्'' शब्द का एकीकार अर्थ है और ''ज्ञा'' का ज्ञान अर्थ है ''सम्+ज्ञा'' इन दो शब्दों से ''संज्ञा'' शब्द निष्पन्न होता है। अरे प्रिये मैत्रेयि! इस प्रकार मैं कहता हूँ— ऐसा सुप्रसिद्ध महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा। यह श्रुति थोड़े पाठभेद से (बृ० उ० अ० २ ब्रा० ४ कं० १२) में भी है। गोविन्दाचार्य को प्रैषमंत्रप्रदाता भगवद्रामानुजाचार्यने— **अथातो ब्रह्मजिज्ञासा।।** (शा० मी० अ० १ पा० १ सू० १) **वाक्यान्वयात्।।** (शा० मी० अ० १ पा० ४ सू० १९) **अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः।।** (शा० मी० अ० १ पा० ४ सू० २२) ज्ञोऽत एव।। (शा० मी० अ० २ पा० ३ सू० १९) **चिति तन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलौमिः।।** (शा० मी० अ० ४ पा० ४ सू० ६) **एवमप्युपन्यासात्पूर्वभावादविरोधं वादरायणः** (शा० मी० अ० ४ पा० ४ सू० ७) इन छः सूत्रों के श्रीभाष्य में ''बृहदारण्यकोपनिषद्'' के चतुर्थ अध्याय के पञ्चम

ब्राह्मण की तेरहवीं कण्डिका के पदों को उद्धृत किया है॥१३॥

सा होवाच मैत्रेय्यत्रैव मा भगवान् मोहान्तमापीपत्। न वा अहमिमं विजानामीति स होवाच न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीम्यविनाशी वा अरेऽयमात्मा-ऽनुच्छित्तिधर्मा॥१४॥

अन्वयार्थ– (ह) परम प्रसिद्धा (सा) वह (मैत्रेयी) मैत्रेयी (उवाच) बोली कि– (अत्र) इसी "न प्रेत्य संज्ञास्ति" वाक्य में (एव) निश्चय करके (भगवान्) षडैश्वर्यसम्पन्न श्रीमान् ने (मा) मुझको (मोहान्तम्) मोह के बीच में (आपीपत्) प्राप्त करा दिया है (वै) निश्चय करके (अहम्) मैं मैत्रेयी (इमम्) इस आत्मा को (न) नहीं (विजानामि) विशेषरूप से जानती हूँ (इति) इस वाक्य को सुनकर (ह) सुप्रसिद्ध (सः) उस महर्षि याज्ञवल्क्य ने (उवाच) कहा कि (वै) निश्चय करके (अरे) अरे मैत्रेयि! (अहम्) मैं। (मोहम्) मोह को (न) नहीं (ब्रवीमि) कहता हूँ (वै) निश्चय करके (अरे) अरे मैत्रेयि (अयम्) यह (आत्मा) आत्मा (अविनाशी) अविनाशी है और उसका (अनुच्छित्तिधर्मा) ज्ञानलक्षणधर्म भी अविनाशी है॥१४॥

विशेषार्थ– सुप्रसिद्ध उस परमविदुषी मैत्रेयी, ने "न प्रेत्य संज्ञास्ति" इस वाक्य का अभिप्राय यथार्थ नहीं समझती हुई कहा कि–"मरने पर इसकी संज्ञा नहीं रहती है" ऐसा कह कर इसी वाक्य में षडैश्वर्यसम्पन्न श्रीमान् ने मुझ दासी को मोह के मध्य में प्राप्त करा दिया है अर्थात् मुझे मोहित कर दिया है। अतः इस उपर्युक्त लक्षणवाली आत्मा को मैं विशेष रूप से नहीं समझती हूँ। यद्यपि "न प्रेत्य संज्ञास्ति" इस वाक्य का यह अर्थ है कि–"चरमदेह वियोग को पाकर मोक्षदशा में स्वाभाविक अपरिच्छिन्न ज्ञानसंकोच का अभाव होने पर भूतसंघात से एकीकार करके ज्ञान नहीं रहता है" अर्थात् "संज्ञा" शब्द देहात्मैक्यभ्रान्तिपरक है। इस प्रकार अर्थ मानने से कोई भी विरोध नहीं है ऐसा अभिप्रायवाला वह सुप्रसिद्ध परम विवेकी याज्ञवल्क्य महर्षि ने कहा कि–अरे प्रिये मैत्रेयि! मैं मोह को नहीं कह रहा हूँ। क्योंकि हे मैत्रेयि यह आत्मा अविनाशी है। जिसका विनष्ट होने का स्वभाव हो उसे विनाशी कहते हैं और जो विनाशी न हो वह अविनाशी कहलाता है। और विपरीत ज्ञान का नाम मोह है। क्योंकि लिखा है–**मोहः विपरीतज्ञानम्॥** (रामनुजभाष्यगी० अ० १८ श्लो० ७३) विपरीत ज्ञान का नाम 'मोह' है॥७३॥ और उस आत्मा का ज्ञान लक्षण धर्म भी अविनाशी है। क्योंकि "अनुच्छित्तिधर्मा" इस पद में बहुव्रीहि गर्भवाला बहुव्रीहि समास है जैसे कि "न

उच्छित्तिर्यस्य सोऽनुच्छित्तिः" नहीं विनाश है जिसका वह अनुच्छित्ति है। और "अनुच्छित्तिधर्मो यस्य सोऽअनुच्छित्तिधर्मा" अनुच्छित्ति धर्म है जिसका वह अनुच्छित्तिधर्मा है। उच्छित्ति उच्छेद को कहते हैं, उच्छेद यानी अन्त अर्थात् विनाश। इस कण्डिका में मुक्त जीव का देहात्मभ्रमनिवृत्ति प्रतिपादन किया गया है। यह श्रुति कुछ पाठ भेद से (बृ० उ० अ० २ ब्रा० ४ कं० १३) में भी है॥१४॥

यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति तदितर इतरं जिघ्रति तदितर इतरं रसयते तदितर इतरमभिवदति तदितर इतरं शृणोति तदितर इतरं मनुते तदितर इतरं स्पृशति तदितर इतरं विजानाति यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत् तत्केन कं जिघ्रेत् तत्केन कमभिवदेत् तत्केन कं शृणुयात् तत्केन कं रसयेत् तत्केन कं मन्वीत तत्केन कं स्पृशेत् तत्केन कं विजानीयाद् येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्स एष नेति नेतीत्यात्माऽ गृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसङ्गो न हि सज्जतेऽसितो न व्यथते न रिष्यति विज्ञातारमरे केन विजानीयादित्युक्तानुशासनाऽसि मैत्रेय्येतावदरे खल्व-मृतत्वमिति होक्त्वा याज्ञवल्क्यो विजहार॥१५॥

॥ इति चतुर्थाध्याये पञ्चमं ब्राह्मणम्॥

अन्वयार्थ– (हि) निश्चय करके अरे मैत्रेयि! (यत्र) जिस अवस्था में (द्वैतम्) स्वनिष्ठतया परमात्मा से पृथक् द्वैत के (इव) समान यानी स्वतंत्र के समान (भवति) होता है (तत्) तब (इतरः) भिन्नात्मक (इतरम्) भिन्नात्मक को स्वतंत्र नेत्रेन्द्रिय से (पश्यति) देखता है और (तत्) तब (इतरः) भिन्नात्मक (इतरम्) भिन्नात्मक को स्वतंत्र घ्राणेन्द्रिय से (जिघ्रति) सूँघता है तथा (तत्) तब (इतरः) भिन्नात्मक (इतरम्) भिन्नात्मक को स्वतंत्र जिह्वेन्द्रिय से (रसयते) रसास्वादन करता है और (तत्) तब (इतरः) भिन्नात्मक (इतरम्) भिन्नात्मक को स्वतंत्र वागिन्द्रिय से (अभिवदति) कहता

है तथा (तत्) तब (इतरः) भिन्नात्मक (इतरम्) भिन्नात्मक को स्वतंत्र श्रोत्रेन्द्रिय से (शृणोति) सुनता है और (तत्) तब (इतरः) भिन्नात्मक (इतरम्) भिन्नात्मक को स्वतंत्र मन से (मनुते) मनन करता है तथा (तत्) तब (इतरः) भिन्नात्मक (इतरम्) भिन्नात्मक को स्वतंत्र त्वगिन्द्रिय से (स्पृशति) स्पर्श करता है और (तत्) तब (इतरः) भिन्नात्मक (इतरम्) भिन्नात्मक को स्वतंत्र बुद्धि से (विजानाति) विशेषरूप से जानता है (तु) परन्तु (यत्र) जिस समय में (अस्य) इस ब्रह्मवेत्ता पुरुष का (सर्वम्) सब वस्तु (आत्मा) एकात्मक (एव) ही (अभूत्) हो गयी है (तत्) तब (केन्) किस भिन्नात्मक इन्द्रिय से (कम्) किस भिन्नात्मक को (पश्येत्) कौन भिन्नात्मक देखेगा और (तत्) तब (केन) किस भिन्नात्मक इन्द्रिय से (कम्) किस भिन्नात्मक को (जिघ्रेत्) कौन भिन्नात्मक सूँघेगा तथा (तत्) तब (केन) किस भिन्नात्मक इन्द्रिय से (कम्) किस भिन्नात्मक को (रसयेत्) कौन भिन्नात्मक रसास्वादन करेगा और (तत्) तब (केन) किस भिन्नात्मक इन्द्रिय से (कम्) किस भिन्नात्मक को (अभिवदेत्) कौन भिन्नात्मक कहेगा तथा (तत्) तब (केन) किस भिन्नात्मक इन्द्रिय से (कम्) किस भिन्नात्मक को (शृणुयात्) कौन भिन्नात्मक सुनेगा और (तत्) तब (केन) किस भिन्नात्मक मन से (कम्) किस भिन्नात्मक को (मन्वीत) कौन भिन्नात्मक मनन करेगा तथा (तत्) तब (केन) किस भिन्नात्मक इन्द्रिय से (कम्) किस भिन्नात्मक को (स्पृशेत्) कौन भिन्नात्मक स्पर्श करेगा और (तत्) तब (केन) किस भिन्नात्मक से (कम्) किस भिन्नात्मक को (विजानीयात्) कौन भिन्नात्मक विशेषरूप से जानेगा (येन) जिस परमात्मा के प्रसाद से अनुगृहीत पुरुष (इदम्) इस (सर्वम्) समस्त चराचर को (विजानाति) विशेषरूप से जानता है (तम्) उस परमात्मा को (केन) परमेश्वर की प्रसन्नता के बिना किस साधन से (विजानीयात्) विशेषरूप से जानेगा (सः) वह (एषः) यह (नेति) नेति (नेति) नेति (इति) इस प्रकार का निर्देश किया हुआ (आत्मा) परमात्मा (अगृह्यः) इन्द्रियों के ग्रहण के अयोग्य है इस कारण से (हि) निश्चय करके (न) नहीं (गृह्यते) इन्द्रिय से ग्रहण किया जाता है और (अशीर्यः) विशरण योग्य अवयवशून्य है इस कारण से (हि) निश्चय करके (न) नहीं (शीर्यते) शीर्ण होता है तथा (असङ्गः) सङ्गरहित–निर्लेप है इस कारण से (हि) निश्चय करके (न) नहीं (सज्जते) पापफल का अनुभव करता है और (असितः) कर्मबन्धशून्य है इस कारण से सर्व देहान्तरार्तभी (न) नहीं (व्यथते) सोचता है और (न) नहीं (रिष्यति) हिंसित होता है (अरे) अरे मैत्रेयि (विज्ञातारम्) विज्ञाता सर्वज्ञ परमात्मा को ध्यान के बिना (केन) किस यज्ञदानादि उपाय से (विजानीयात्) विशेषरूप से जानेगा (इति) इस प्रकार (उक्ता) मेरे द्वारा कही हुई (अनुशासना) उपदेशवाली (असि) तू है (अरे मैत्रेयि) अरे मैत्रेयि! (खलु) निश्चय करके (एतावत्) इतना ही (अमृतत्वम्)

मोक्षार्थियों करके ज्ञेय अमृतत्व है (इति) इस प्रकार परमात्म प्रसाद तथा परमात्मोपासना को मोक्ष का साधन (उक्त्वा) कहकर (ह) सुप्रसिद्ध (याज्ञवल्क्य:) याज्ञवल्क्यमहर्षिजी (विजहार) यथाभिलषित परिव्राजक हो गये॥१५॥

विशेषार्थ– देहात्मभ्रमनिवृत्ति को कह कर अब स्वनिष्ठताभ्रमनिवृत्ति को श्रुति प्रतिपादन करती है कि– हे प्रिये मैत्रेयि! निश्चय करके जिस अवस्था में स्वनिष्ठतया परब्रह्म नारायण से पृथक् द्वैत के समान यानी स्वतन्त्र के समान होता है तब भिन्नात्मक भिन्नात्मक को स्वतन्त्र नयनेन्द्रिय से देखता है। और तब भिन्नात्मक भिन्नात्मक को स्वतंत्र नासिका इन्द्रिय से सूँघता है। तथा तब भिन्नात्मक भिन्नात्मक को स्वतंत्र रसना इन्द्रिय से रसास्वादन करता है। और तब भिन्नात्मक भिन्नात्मक को स्वतंत्र वागिन्द्रिय से बोलता है। तथा तब भिन्नात्मक भिन्नात्मक को स्वतंत्र कर्णेन्द्रिय से सुनता है। और तब भिन्नात्मक भिन्नात्मक को स्वतंन्त्र मन से मनन करता है। तथा तब भिन्नात्मक भिन्नात्मक को स्वतंत्र त्वगिन्द्रिय से स्पर्श करता है। और तब भिन्नात्मक भिन्नात्मक को स्वतंत्र बुद्धि से विशेष रूप से जानता है। परन्तु जब इस भगवदुपासक महात्मा को सब वस्तु एकात्मक ही हो जाती है तब किस भिन्नात्मक नेत्रेन्द्रिय से किस भिन्नात्मक रूप को कौन भिन्नात्मक पुरुष देखेगा? और तब किस भिन्नात्मक घ्राणेन्द्रिय से किस भिन्नात्मक गन्ध को कौन भिन्नात्मक पुरुष सूँघेगा? तथा तब किस भिन्नात्मक रसना इन्द्रिय से किस भिन्नात्मक रस को कौन भिन्नात्मक पुरुष रसास्वादन करेगा? और तब किस भिन्नात्मक वागिन्द्रिय से किस भिन्नात्मक वचन को कौन भिन्नात्मक पुरुष बोलेगा? तथा तब किस भिन्नात्मक श्रोत्रेन्द्रिय से किस भिन्नात्मक शब्द को कौन भिन्नात्मक पुरुष सुनेगा? और तब किस भिन्नात्मक मन से किस भिन्नात्मक तत्त्व को कौन भिन्नात्मक पुरुष मनन करेगा? तथा तब किस भिन्नात्मक त्वगिन्द्रिय से किस भिन्नात्मक स्पर्श्य को कौन भिन्नात्मक पुरुष स्पर्श करेगा। और तब किस भिन्नात्मक से किस भिन्नात्मक वस्तु को कौन भिन्नात्मक पुरुष विशेष रूप से जानेगा? जिस परब्रह्म नारायण की प्रसन्नता से अनुगृहीत पुरुष इस समस्त स्थावर जङ्गम संसार को जानता है अर्थात् सर्वज्ञ हो जाता है, उस परब्रह्म नारायण को परमात्मा की प्रसन्नता के बिना किस उपाय से विशेष रूप से जानेगा। अर्थात् परमात्मा के प्रसाद के बिना परमात्मा दु:खबोध है। क्योंकि लिखा है– **क इत्था वेद यत्र स:॥** (कठोप॰ अ॰ १ व॰ २ श्रु॰ २५) वह परमात्मा जहाँ पर जिस प्रकार में स्थित है उस प्रकार विशिष्ट परमात्मा को ठीक ठीक इस प्रकार का है ऐसा कौन जानता है?॥२५॥ वह यह **अथातआदेशोनेतिनेति॥** (बृ॰ २।३। ६) परमात्मा का उपदेश इयत्तालक्षणप्रकारयुक्त नहीं है, इयत्तालक्षणप्रकारयुक्त नहीं है॥६॥ इस श्रुति में पठित ''नेति नेति'' इस प्रकार निर्देश किया हुआ परब्रह्म नारायण प्राकृत इन्द्रियों

के ग्रहण के अयोग्य है। इस कारण से निश्चय करके प्राकृत इन्द्रियों से परमात्मा का ग्रहण नहीं किया जाता है। और वह नारायण विशरणयोग्य अवयवशून्य है। इस कारण से निश्चय करके परमात्मा शीर्ण नहीं होता है। तथा वह परब्रह्म नारायण सङ्गरहित निर्लेप है। इस कारण से निश्चय करके परमात्मा पाप फल को नहीं अनुभव करता है। और वह परमेश्वर कर्मबन्ध शून्य है। इस कारण से सर्वदेहान्तरार्त भी नहीं सोचता है। और नहीं हिंसित होता है। अरे मैत्रेयि विज्ञाता–सर्वज्ञ परब्रह्म नारायण को प्रक्रमोदित ध्यान के बिना किस केवल यज्ञदानादि उपाय से विशेषरूप से जानेगा। क्योंकि लिखा है– **नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया। शक्य एवं विधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥** (गी० अ० ११ श्लो० ५३) हे अर्जुन! जैसे तूने मुझको देखा है उस प्रकार मं न वेदों से, न तप से, न दान से और न यज्ञ से देखा जा सकता हूँ।।५३।। इस प्रकार मैंने तूझे उपदेश दे दिया। अरे मैत्रेयि! निश्चय करके बस इतना ही मोक्षार्थियों करके ज्ञेय अमृतत्व है। इस प्रकार परब्रह्म नारायण की प्रसन्नताको और श्रीमन्नारायण की उपासना को मोक्ष का साधन कहकर सुप्रसिद्ध आचार्य याज्ञवल्क्य जी "मैं परिव्राजक होनेवाला हूँ" इस प्रथम कथनानुसार यथाभिलषित **ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद्वा॥** (जाबालोप० श्रु० ४) ब्रह्मचर्य से ही अथवा गृह से परिव्राजक हो जाय।।४।। इस श्रुति के अनुसार गृहस्थाश्रम से परिव्राजक हो गये अर्थात् त्रिदण्डी–संन्यासी हो गये। क्योंकि लिखा है– **कूटीचका नाम गौतमभरद्वाजयाज्ञवल्क्यवसिष्ठप्रभृतयोऽष्टौ ग्रासांश्चरन्तो योगमार्गे मोक्षमेव प्रार्थयन्ते॥** (भिक्षुकोप० श्रु० १) कुटीचक नामक यति– गौतम १, भारद्वाज २, याज्ञवल्क्य ३, वसिष्ठ ४, प्रभृति आठ ग्रास भोजन करते हुए योगमार्ग में मोक्ष की ही प्रार्थना करते हैं।।१।। इस श्रुति से स्पष्ट ज्ञात होता है कि– याज्ञवल्क्य जी कुटीचक संन्यासी हैं। और कुटीचक का लक्षण लिखा है– **कुटीचकः शिखायज्ञोपवीती दण्डकमण्डलुधरः कौपीनकन्थाधरः पितृमातृगुर्वाराधनपरः पिठरखनित्रशिक्यादिमंत्रसाधनपर एकत्रान्नादनपरः श्वेतोर्ध्वपुण्ड्रधारी त्रिदण्डः॥** (नारदपरिव्राजकोप० उपदे० ५ श्रु० १) कुटीचक संन्यासी शिखा और शुक्लयज्ञोपवीत से युक्त होता है। वह बांस का त्रिदण्ड, अतैजस कमण्डलु, काषाय, कौपीन और कन्था यानी प्रावरणान्तर अथवा दूसर बिछौना धारण करता है। पिता माता और गुरु–तीनों की सेवा में संलग्न रहता है। पिठर यानी स्थालीपात्र खनती और शिक्य यानी छींके आदि साथ रखता है और मन्त्रसाधन में लगा रहता है तथा एक ही जगह भोजन करता रहता है और श्रीचूर्णयुक्त श्वेत ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण करता है तथा त्रिदण्डी होता है।।१।। यह श्रुति (संन्यासोप० अ० २ श्रु० १०) में भी है। **सर्वे हि भिक्षवः विप्राः प्रोक्ता वेदे त्रिदण्डिनः। लिङ्गं तु वैष्णवं तेषां सजलं च पवित्रकम्॥** (भाल्लवीयब्राह्मणोप० अ० २ श्रु० ३) वेद में सभी संन्यासी, विप्र त्रिदण्डी ही कहे गये हैं और उन सब

संन्यासियों के वैष्णवलिङ्ग तथा जल सहित कमण्डलु और पवित्रा कहा गया है।।३।। इससे सिद्ध हो गया कि– आचार्य याज्ञवल्क्य जी त्रिदण्डी संन्यासी हो गये हैं। परिव्राजक के विषय में लिखा है– **संन्यासिनं द्विजं दृष्ट्वा स्थानाच्चलति भास्करः। एष मे मण्डलं भित्त्वा परं ब्रह्माधिगच्छति।।** (संन्यासोप० अ० २ श्रु० ६) **षष्टिकुलान्यतीतानि षष्टिमागामिकानि च। कुलान्युद्धरते प्राज्ञः संन्यस्तमिति यो वदेत्।।७।। ये च सन्तानजा दोषा ये दोषा देहसम्भवाः। प्रैषाग्निर्निर्दहेत्सर्वांस्तुषाग्निरिव काञ्चनम्।।८।।** सूर्य संन्यासी ब्राह्मण को देखकर स्थान से चलता है कि–यह संन्यासी मेरे मण्डल को भेद कर परब्रह्म को प्राप्त करता है।।६।। साठ बीते हुए कुलों को और साठ आनेवाले कुलों को प्राज्ञ पुरुष उद्धार करता है जो "संन्यस्तम्" मैंने सब त्याग दिया ऐसा बोलता है।।७।। जो सन्तान से उत्पन्न दोष हैं और जो देह से उत्पन्न दोष हैं उन सबों को प्रैषाग्नि जला देती है जैसे तुषाग्नि काञ्चन के दोष को जला देती है।।८।। संन्यास की विधि जिसको जानना हो वह मेरे बनाये हुए "यतीन्द्रधर्ममार्तण्ड" ग्रन्थ का अवलोकन करे। यह प्रकृत कण्डिका कुछ पाठभेद से (बृ० उ० अ० २ ब्रा० ४ कं० १४) में भी है। पराशरभट्टार्य के परमाचार्य भगवद्रामानुजाचार्यने–**वाक्यान्वयात्।।** (शा० मी० अ० १ पा० ४ सू० १९) **अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः।।** (शा० मी० अ० १ पा० ४ सू० २२) **ज्ञोऽत एव।।** (शा० मी० अ० २ पा० ३ सू० १९) इन तीन सूत्रों के श्रीभाष्य में "बृहदारण्यकोपनिषद्" के चतुर्थ अध्याय के पञ्चम ब्राह्मण की पन्द्रहवीं कण्डिका के पदों को उद्धृत किया है। यहाँ पर "बृहदारण्यकोपनिषद्" के चतुर्थ अध्याय का पञ्चम मैत्रेयीब्राह्मण समाप्त हो गया।।१५।।

।। अथ षष्ठं ब्राह्मणम्।।

अथ वंशः। पौतिमाष्यो गौपवनाद् गौपवनः पौतिमाष्यात् पौतिमाष्यो गौपवनाद् गौपवनः कौशिकात्कौशिकः कौण्डिन्यात्कौण्डिन्यः शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यः कौशिकाच्च गौतमाच्च गौतमः।।१।।

अन्वयार्थ– (अथ) अब याज्ञवल्क्यीयकाण्ड की (वंशः) आचार्य वंश–परम्परा बतलायी जाती है (पौतिमाष्यः) पौतिमाष्य आचार्य ने (गौपवनात्) गौपवनाचार्य से विद्या प्राप्त की और (गौपवनः) गौपवनाचार्यने (पौतिमाष्यात्) पौतिमाष्याचार्य से विद्या प्राप्त की तथा (पौतिमाष्यः) पौतिमाष्याचार्य ने (गौपवनात्) गौपवनाचार्य से विद्या

प्राप्त की और (गौपवन:) गौपवनाचार्यने (कौशिकात्) कौशिकाचार्य से विद्या प्राप्त की तथा (कौशिक:) कौशिकाचार्यने (कौण्डिन्यात्) कौण्डिन्याचार्य से विद्या प्राप्त की और (कौण्डिन्य:) कौण्डिन्याचार्यने (शाण्डिल्यात्) शाण्डिल्याचार्य से विद्या प्राप्त की तथा (शाण्डिल्य:) शाण्डिल्याचार्य ने (कौशिकात्) कौशिकाचार्य से (च) और (गौतमात्) गौतमाचार्य से विद्या प्राप्त की (च) तथा (गौतम:) गौतमाचार्यने इस पद का आगे की कण्डिका के साथ अन्वय होता है।।१।।

विशेषार्थ– यद्यपि "बृहदारण्यकोपनिषद्" के द्वितीय अध्याय से षष्ठब्राह्मण में "आचार्यवंशोज्ञेय:" आचार्य का वंश जानने योग्य है। इस श्रुति के अनुसार आचार्यवंश परम्परा का वर्णन किया गया है। तथापि नित्यानुसन्धेय गुरुपरम्परा है इस बात को द्योतन करने के लिए फिर यहाँ पर आचार्यवंश परम्परा बतलायी जाती है कि–पौतिमाष्याचार्यने गौपवनाचार्य से विद्या प्राप्त की। क्योंकि लिखा है।। **आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापत्।।** (छा० उ० प्राप० ४ खं० ९ श्रु० ३) प्रसिद्ध आचार्य से निश्चय जानी गयी विद्या साधुतम तत्त्व को प्राप्त होती है।।३।। इस वंश ब्राह्मण में प्रथमाविभक्त्यन्त शिष्य है और पञ्चम्यन्त आचार्य है। और गौपवनाचार्यने पौतिमाष्याचार्य से विद्या प्राप्त की। तथा पौतिमाष्याचार्य ने गौपवनाचार्य से विद्या प्राप्त की। और गौपवनाचार्य ने कौशिकाचार्य से विद्या प्राप्त की। तथा कौशिकाचार्यने कौण्डिन्याचार्य से विद्या प्राप्त की। और कौण्डिन्याचार्य ने शाण्डिल्याचार्य से विद्या प्राप्त की। शाण्डिल्याचार्य ने कौशिकाचार्य से और गौतमाचार्य से अर्थात् इन दो आचार्यों से विद्या प्राप्त की। और गौतमाचार्य ने, इस पदका आगे वक्ष्यमाण द्वितीय श्रुति के "आग्निवेश्यात्" पदके साथ सम्बन्ध होता है। यह श्रुति थोड़े पाठभेद से "बृ० उ० अ० २ ब्रा० ६ कं० १" में भी है।।१।।

आग्निवेश्यादाग्निवेश्यो गार्ग्याद् गार्ग्यो गार्ग्याद् गार्ग्यो गौतमाद् गौतमः सैतवात् सैतवः पाराशर्यायणात् पाराशर्यायणो गार्ग्यायणाद् गार्ग्यायण उद्दालकायनादुद्दालकायनो जाबालायनाज्जाबालायनो माध्यन्दिनायनान्माध्यन्दिनायनः सौकरायणात् सौकरायणः काषायणात् काषायणः सायकायनात् सायकायनः कौशिकायनेः कौशिकायनिः।।२।।

अन्वयार्थ– गौतमाचार्यने (आग्निवेश्यात्) आग्निवेश्याचार्य से विद्या प्राप्त की और (आग्निवेश्य:) आग्निवेश्याचार्य ने (गार्ग्यात्) गार्ग्याचार्य से विद्या प्राप्त की और (गार्ग्य:) गार्ग्याचार्य ने (गार्ग्यात्) गार्ग्याचार्य से विद्या प्राप्त की और (गार्ग्य:) गार्ग्याचार्यने (गौतमात्) गौतमाचार्य से विद्या प्राप्त की और (गौतम:) गौतमाचार्य ने (सैतवात्) सैंतवाचार्य से विद्या प्राप्त की तथा (सैतव:) सैतवाचार्य ने (पाराशर्यायणात्) पाराशर्यायणाचार्य से विद्या प्राप्त की और (पाराशर्यायण:) पाराशर्यायणाचार्य ने (गार्ग्यायणात्) गार्ग्यायणाचार्य से विद्या प्राप्त की तथा (गार्ग्यायण:) गार्ग्यायणाचार्यने (उद्दालकायनात्) उद्दालकायनाचार्य से विद्या प्राप्त की और (उद्दालकायन:) उद्दालकायनाचार्यने (जाबालायनात्) जाबालायनाचार्य से विद्या प्राप्त की तथा (जाबालायन:) जाबालायनाचार्य ने (माध्यन्दिनायनात्) माध्यन्दिनायनाचार्य से विद्या प्राप्त की और (माध्यन्दिनायन:) माध्यन्दिनायनाचार्य ने (सौकरायणात्) सौकरायणाचार्य से विद्या प्राप्त की तथा (सौकरायण:) सौकरायणाचार्य ने (काषायणात्) काषायणाचार्य से विद्या प्राप्त की और (काषयण:) काषायणाचार्य ने (सायकायनात्) सायकायनाचार्य से विद्या प्राप्त की तथा (सायकायन:) सायकायनाचार्य ने (कौशिकायने:) आचार्य कौशिकायनि से विद्या प्राप्त की और (कौशिकायनि:) आचार्य कौशिकायनि ने, इस पदका आगे की तृतीय कण्डिका के साथ अन्वय होता है।।२।।

विशेषार्थ– गौतमाचार्य ने आग्निवेश्याचार्य से विद्या प्राप्त की। और आग्निवेश्याचार्य ने गार्ग्याचार्य से विद्या प्राप्त की। तथा गार्ग्याचार्य ने गार्ग्याचार्य से विद्या प्राप्त की। और गार्ग्याचार्य ने गौतमाचार्य से विद्या प्राप्तकी तथा गौतमाचार्य ने सैतवाचार्य से विद्याप्राप्त की। और सैतवाचार्य ने पाराशर्यायणाचार्य से विद्या प्राप्त की। तथा पाराशर्यायणाचार्य ने गार्ग्यायणाचार्य से विद्या प्राप्त की। और गार्ग्यायणाचार्य ने उद्दालकायनाचार्य से विद्या प्राप्त की। तथा उद्दालकायनाचार्य ने जाबालायनाचार्य से विद्या प्राप्त की। और जाबालायनाचार्य ने माध्यन्दिनायनाचार्य से विद्या प्राप्त की। तथा माध्यन्दिनायनाचार्य ने सौकरायणाचार्य से विद्या प्राप्त की। तथा सौकरायणाचार्य ने काषायणाचार्य से विद्या प्राप्त की। तथा काषायणाचार्य ने सायकायनाचार्य से विद्या प्राप्त की। और सायकायनाचार्य ने आचार्य कौशिकायनि से विद्या प्राप्त की। तथा आचार्य कौशिकायनि ने, इस पदका आगे वक्ष्यमाण तृतीयकण्डिका के ''घृतकौशिकात्'' पद के साथ सम्बन्ध होता है। यह श्रुति कुछ पाठभेद से ''बृह० उ० अ० २ ब्रा० ६ कं० २ '' में भी है।।२।।

घृतकौशिकाद् घृतकौशिकः पाराशर्यायणात् पाराशर्यायणःपाराशर्यात् पाराशर्यो जातूकर्ण्याज्जातूकर्ण्य

आसुरायणाच्चाऽऽसुरायणस्त्रैवणेस्त्रैवणिरौपजन्धनेरौपजन्धनिरासुरेरासुरिर्भारद्वाजाद् भारद्वाज आत्रेयादात्रेयो माण्टेर्माण्टिर्गौतमाद् गौतमो गौतमाद् गौतमो वात्स्याद् वात्स्यः शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यःकैशोर्यात्काप्यात्कैशोर्यः काप्यः कुमारहारितात्कुमारहारितो गालवाद् गालवो विदर्भीकौण्डिन्याद् विदर्भीकौण्डिन्यो वत्सनपातो बाभ्रवाद् वत्सनपाद्बाभ्रवः पथः सौभरात्पन्थाः सौभरोऽयास्यादाङ्गिरसादयास्य आङ्गिरस आभूतेस्त्वाष्ट्रादाभूतिस्त्वाष्ट्रो विश्वरूपात् त्वाष्ट्राद्विश्वरूपस्त्वाष्ट्रोऽश्विभ्यामश्विनौ दधीच आथर्वणाद् दध्यङ्ङाथर्वणोऽथर्वणो दैवादथर्वा दैवो मृत्योः प्राध्वंसनान्मृत्युः प्राध्वंसनः प्रध्वंसनात्प्रध्वंसन एकर्षेरेकार्षिर्विप्रचित्तेर्विप्रचित्तिर्व्यष्टेर्व्यष्टिः सनारोः सनारुः सनातनात्सनातनः सनकात्सनकः परमेष्ठिनः परमेष्ठीब्रह्मणो ब्रह्म स्वयंभु ब्रह्मणे नमः॥३॥

॥ इति चतुर्थाध्याये षष्ठं ब्राह्मणम्॥

॥ इति बृहदारण्यकोपनिषदि चतुर्थोऽध्यायः॥

अन्वयार्थ– आचार्य कौशिकायनिने (घृतकौशिकात्) घृतकौशिकाचार्य से विद्या प्राप्त की और (घृतकौशिकः) घृतकौशिकाचार्य ने (पाराशर्यायणात्) पाराशर्यायणाचार्य से विद्या प्राप्त की तथा (पाराशर्यायणः) पाराशर्यायणाचार्यने (पाराशर्यात्) पाराशर्याचार्य से विद्या प्राप्त की और (पाराशर्यः) पाराशर्याचार्यने (जातूकर्ण्यात) जातूकर्ण्याचार्य से विद्या प्राप्त की तथा (जातूकर्ण्यः) जातूकर्ण्याचार्य ने (आसुरायणात्) आसुरायणाचार्य से (च) और (यास्कात्) यास्काचार्य से विद्या प्राप्त की (च) और (आसुरायणः) आसुरायणाचार्य ने (त्रैवणेः) त्रैवणिगुरु से विद्या प्राप्त की तथा (त्रैवणिः) त्रैवणिगुरु ने (औपजन्धनेः) औपजन्धनिगुरु से विद्या प्राप्त की और (औपजन्धनिः)

औपजन्धनिगुरु ने (आसुरेः) आसुरिगुरु से विद्या प्राप्त की तथा (आसुरिः) आसुरिगुरु ने (भारद्वाजात्) भारद्वाजाचार्य से विद्या प्राप्त की और (भारद्वाजः) भारद्वाजाचार्य ने (आत्रेयात्) आत्रेयाचार्य से विद्या प्राप्त की तथा (आत्रेयः) आत्रेयाचार्य ने (माण्टेः) माण्टिगुरु से विद्या प्राप्त की और (माण्टिः) माण्टिगुरु ने (गौतमात्) गौतमाचार्य से विद्या प्राप्त की और (गौतमः) गौतमाचार्य ने (गौतमात्) गौतमाचार्य से विद्या प्राप्त की तथा (गौतमः) गौतमाचार्य ने (वात्स्यात्) वात्स्याचार्य से विद्या प्राप्त की और (वात्स्यः) वात्स्याचार्य ने (शाण्डिल्यात्) शाण्डिल्याचार्य से विद्या प्राप्त की तथा (शाण्डिल्यः) शाण्डिल्याचार्य ने (कौशोर्यात्+काप्यात्) कैशोर्य काप्याचार्य से विद्या प्राप्त की और (कैशोर्यः) कैशोर्य (काप्यः) काप्याचार्य ने (कुमारहारितात्) कुमारहारिताचार्य से विद्या प्राप्त की तथा (कुमारहारितः) कुमारहारिताचार्य ने (गालवात्) गालवाचार्य से विद्या प्राप्त की और (गालवः) गालवाचार्य ने (विदर्भीकौण्डिन्यात्) विदर्भीकौण्डिन्याचार्य से विद्या प्राप्त की तथा (विदर्भीकौण्डिन्यः) विदर्भी कौण्डिन्याचार्य ने (वत्सनपातः+बाभ्रवात्) वत्सनपाद् बाभ्रवाचार्य से विद्या प्राप्त की और (वत्सनपाद्+बाभ्रवः) वत्सनपाद् बाभ्रवाचार्य ने (पथः+सौभरात्) पन्था सौभराचार्य से विद्या प्राप्त की तथा (पन्थाः+सौभरः) पन्था सौभराचार्य ने (अयास्यात्+आङ्गिरसात्) अयास्य आङ्गिरसाचार्य से विद्या प्राप्त की और (अयास्यः+आङ्गिरसः) अयास्य आङ्गिरसाचार्य ने (आभूतेः+त्वाष्ट्रात्) आभूतित्वाष्ट्राचार्य से विद्या प्राप्त की तथा (आभूतिः+त्वाष्ट्रः) आभूतित्वाष्ट्राचार्य ने (विश्वरूपात्+त्वाष्ट्रात्) विश्वरूपत्वाष्ट्राचार्य से विद्या प्राप्त की और (विश्वरूपः+त्वाष्ट्रः) विश्वरूपत्वाष्ट्राचार्य ने (अश्विभ्याम्) अश्विनीकुमाराचार्यों से विद्या प्राप्त की तथा (अश्विनौ) अश्विनीकुमाराचार्यों ने (दधीचः+आथर्वणात्) दध्यङ् आथर्वणाचार्य से विद्या प्राप्त की और (दध्यङ्+आथर्वणः) दध्यङ् अथर्वणाचार्य ने (अथर्वणः+दैवात्) अथर्वा दैवाचार्य से विद्या प्राप्त की तथा (अथर्वा+दैवः) अथर्वादैवाचार्य ने (मृत्युः+प्राध्वंसनात्) मृत्युप्राध्वंसनाचार्य से विद्या प्राप्त की और (मृत्युः+प्राध्वंसनः) मृत्युप्राध्वंसनाचार्य ने (प्रध्वंसनात्) प्रध्वंसनाचार्य से विद्या प्राप्त की तथा (प्रध्वंसनः) प्रध्वंसनाचार्य ने (एकर्षेः) आचार्य एकर्षि से विद्या प्राप्त की और (एकर्षिः) आचार्य एकर्षि ने (विप्रचित्तेः) आचार्य विप्रचित्ति से विद्या प्राप्त की तथा (विप्रचित्तिः) विप्रचित्ति आचार्य ने (व्यष्टेः) आचार्य व्यष्टि से विद्या प्राप्त की और (व्यष्टिः) आचार्य व्यष्टि ने (सनारोः) आचार्य सनारु से विद्या प्राप्त की तथा (सनारुः) आचार्य सनारु ने (सनातनात्) सनातनाचार्य से विद्या प्राप्त की और (सनातनः) सनातनाचार्य ने (सनकात्) सनकाचार्य से विद्या प्राप्त की तथा (सनकः) सनकाचार्य ने (परमेष्ठिनः) आचार्य चतुर्मुखब्रह्मा से विद्या प्राप्त की और (परमेष्ठी) चतुर्मुख ने (ब्रह्मणः) सर्वगुरु परब्रह्म नारायण से विद्या प्राप्त की (ब्रह्म)

परब्रह्म नारायण (स्वयंभु) उपदेश के बिना स्वयं अपने ही विद्याप्रवर्तकाचार्य होते हैं (ब्रह्मणे) सर्वगुरु परब्रह्म नारायण के लिये (नमः) नमस्कार है।।३।।

विशेषार्थ– आचार्य कौशिकायनि ने घृतकौशिकाचार्य से विद्या प्राप्त की। और घृतकौशिकाचार्य ने पाराशर्यायणाचार्य से विद्या प्राप्त की। तथा पाराशर्यायणाचार्य ने पाराशर्याचार्य से विद्या प्राप्त की। और पाराशर्याचार्य ने जातूकर्ण्याचार्य से विद्या प्राप्त की। तथा जातूकर्ण्याचार्य ने आसुरायणाचार्य से और यास्काचार्य से अर्थात् इन दो आचार्यों से विद्या प्राप्त की। आसुरायणाचार्य ने आचार्य त्रैवणि से विद्या प्राप्त की। तथा आचार्य त्रैवणि ने आचार्य औपजन्धनि से विद्या प्राप्त की। और आचार्य औपजन्धनि ने आचार्य आसुरि से विद्या प्राप्त की। तथा आचार्य आसुरि ने भारद्वाजाचार्य से विद्या प्राप्त की। और भारद्वाजाचार्य ने आत्रेयाचार्य से विद्या प्राप्त की। तथा आत्रेयाचार्य ने आचार्य माण्टि से विद्या प्राप्त की। और आचार्य माण्टि ने गौतमाचार्य से विद्या प्राप्त की। तथा गौतमाचार्य ने गौतमाचार्य नामक आचार्य से विद्या प्राप्त की। और गौतमाचार्य ने वात्स्याचार्य से विद्या प्राप्त की। तथा वात्स्याचार्य ने शाण्डिल्याचार्य से विद्या प्राप्त की। और शाण्डिल्याचार्य ने कैशोर्यकाप्याचार्य से विद्या प्राप्त की। तथा कैशोर्यकाप्याचार्य ने कुमारहारिताचार्य से विद्या प्राप्त की। और कुमारहारिताचार्य ने गालवाचार्य से विद्या प्राप्त की। तथा गालवाचार्य ने विदर्भीकौण्डिन्याचार्य से विद्या प्राप्त की। और विदर्भीकौण्डिन्याचार्य ने वत्सनपाद् बाभ्रवाचार्य से विद्या प्राप्त की। तथा वत्सनपाद् बाभ्रवाचार्य ने पन्था सौभराचार्य से विद्या प्राप्त की। और पन्था सौभराचार्य ने अयास्य आङ्गिरसाचार्य से विद्या प्राप्त की। तथा अयास्यआङ्गिरसाचार्य ने आभूतित्वाष्ट्राचार्य से विद्या प्राप्त की। और आभूतित्वाष्ट्राचार्य ने विश्वरूपत्वाष्ट्राचार्य से विद्या प्राप्त की। तथा विश्वरूपत्वाष्ट्राचार्य ने अश्विनीकुमाराचार्यों से अर्थात् अश्विनी और कुमार दो आचार्यों से विद्या प्राप्त की। और अश्विनीकुमाराचार्यों ने दध्यङ् आथर्वणाचार्य से विद्या प्राप्त की। तथा दध्यङ् अथर्वणाचार्य ने अथर्वदैवाचार्य से विद्या प्राप्त की। और अथर्वदैवाचार्य ने मृत्युप्राध्वंसनाचार्य से विद्या प्राप्त की। तथा मृत्युप्राध्वंसनाचार्य ने प्रध्वंसनाचार्य से विद्या प्राप्त की। और प्रध्वंसनाचार्य ने आचार्य एकर्षि से विद्या प्राप्त की। तथा आचार्य एकर्षि ने आचार्य विप्रचित्ति से विद्या प्राप्त की और आचार्य विप्रचित्ति ने आचार्य व्यष्टि से विद्या प्राप्त की। तथा आचार्य व्यष्टि ने आचार्य सनारु से विद्या प्राप्त की। और आचार्य सनारु ने सनातनाचार्य से विद्या प्राप्त की। तथा सनातनाचार्य ने सनकाचार्य से विद्या प्राप्त की। और सनकाचार्य ने चतुमुर्ख ब्रह्मा नामक आचार्य से विद्या प्राप्त की। यहाँ पर "परमेष्ठिन्" शब्द चतुर्मुख ब्रह्मा वाचक है। क्योंकि लिखा है– **ब्रह्मात्मभूः सुरश्रेष्ठः परमेष्ठी पितामहः॥** (अमर० कां० १ व० १ श्लोक १६)

ब्रह्मन् १, आत्मभू २, सुरश्रेष्ठ ३, परमेष्ठिन् ४, पितामह ५, ये चतुर्मुख ब्रह्मा जी के नाम हैं।।१६।। और आचार्य चतुर्मुख ब्रह्मा ने सर्वगुरु परब्रह्म नारायण से विद्या प्राप्त की। उस परब्रह्म नारायण से आगे आचार्य परम्परा नहीं है, क्योंकि वे परब्रह्म नारायण उपदेश के बिना स्वयं ही विद्याप्रवर्तकाचार्य हैं। इसी से गुरुपरम्परा में लिखा है—**नारायणं संश्रये।।** (गुरुप० श्लो० १) परब्रह्म नारायण को सम्यक् आश्रयण करता हूँ।।१।। उस सर्वगुरू परब्रह्म नारायण के लिए नमस्कार है। यहाँ पर "नमः" शब्द नमस्कार वाचक है। क्योंकि लिखा है— **नमोनतौ।।** (अमर० कां० ३ व० ४ श्लोक १८) नमस्कार में नमः शब्द का प्रयोग होता है।।१८।। प्रकृत श्रुति (बृ० उ० अ० २ ब्रा० ६ कं० ३) में भी है। मङ्गल स्वरूप होने से नित्य आचार्यवंशपरम्परा कीर्तन करना चाहिए। इससे यहाँ पुनरुक्ति दोष की शङ्का नहीं करनी चाहिए। "बृहदारण्यकोपनिषद्" के चतुर्थ अध्याय के प्रथम ब्राह्मण में सात कण्डिकाएँ हैं। और द्वितीय ब्रह्मण में चार कण्डिकाएँ हैं। तथा तृतीय ब्रह्मण में अड़तीस कण्डिकाएँ हैं। और चतुर्थ ब्राह्मण में पचीस कण्डिकाएँ हैं। तथा पञ्चम ब्राह्मण में पन्द्रह कण्डिकाएँ है। और षष्ठ ब्रह्मण में तीन कण्डिकाएँ हैं। इस प्रकार परिगणन करने से चतुर्थ अध्याय में बयानवे कण्डिकाएँ हैं। यहाँ "बृहदारण्यकोपनिषद्" के चतुर्थ अध्याय का षष्ठ वंशब्राह्मण और चतुर्थ अध्याय भी समाप्त हो गया।।३।।

।। अथ पञ्चमोऽध्यायः।।

।। अथ प्रथमं ब्राह्मणम्।।

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।। ओं खं ब्रह्म। खं पुराणम्। वायुरं खमिति ह स्माऽऽह कौरव्यायणीपुत्रः। वेदोऽयं ब्राह्मणा विदुर्वेदैनेन यद्वेदितव्यम्।।१।।

।। इति पञ्चमाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम्।।

अन्वयार्थ— (अदः) विप्रकृष्ट परलोकवर्ती परब्रह्म (पूर्णम्) पूर्ण है (इदम्) और सन्निकृष्ट इस लोकवर्ती अर्चावतारब्रह्म (पूर्णम्) पूर्ण है क्योंकि (पूर्णात्) पूर्णपरब्रह्म नारायण से (पूर्णम्) पूर्ण यह अर्चावतारब्रह्म (उदच्यते) प्रकट होता है (पूर्णस्य) पूर्ण अर्चावतार भगवान् के (पूर्णम्) पूर्णकल्याण गुणों को (आदाय) लेकर (पूर्णम्) पूर्ण (एव) ही (अवशिष्यते) अवशिष्ट रह जाता है यानी बचा रहता है (ओम्) ओंकार

(खम्) आकाश के समान अपरिच्छिन्न (ब्रह्म) ब्रह्म यानी नारायण हैं इससे ओंकार में अपरिच्छिन्न परमात्मा की उपासना करनी चाहिए (खम्) ख शब्द (पुराणम्) देशकालादि अपरिच्छिन्न पुरातन-परमात्मा वाचक है परन्तु (ह) सुप्रसिद्ध आचार्य (कौरव्यायणीपुत्रः) कौरव्यायणीपुत्र ने (वायुरम्) वायुवाला आकाश ही (खम्) ख शब्द का अर्थ है (इति) ऐसा (आह स्म) कहा है। इससे आकाश शरीरक परब्रह्म को प्रणव में अध्यास करके परमात्मा की उपासना करनी चाहिए (अयम्) यह ओंकार (वेदः) वेद है ऐसा (ब्राह्मणः) ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण लोग (विदुः) जानते हैं क्योंकि (यत्) जो (वेदितब्यम्) जानने योग्य सब वस्तु है उसको (एनेन) इस ओंकार से ही उपासक (वेद) जानता है।।१।।

विशेषार्थ- पूर्ण शब्द में निष्ठासंज्ञक "क्त" प्रत्यय हुआ है उसे कर्ता अर्थ में समझना चाहिये। और "अदः" यह पद विप्रकृष्ट अर्थ को बतलाने वाला सर्वनाम है। तथा "इदम्" यह पद सन्निकृष्ट वाचक सर्वनाम है। क्योंकि लिखा है कि।। **इदमस्तु सन्निकृष्टे समीपतरवर्ति चैतदो रूपम्। अदसस्तु विप्रकृष्टे तदिति परोक्षे विजानीयात्।।** (मनोरमा) सन्निकृष्ट में "इदम्" शब्द का और समीपतर में "एतत्" शब्द का तथा विप्रकृष्ट में "अदस्" शब्द का और परोक्ष में "तत्" शब्द का प्रयोग होता है ऐसा जानना चाहिये। इस प्रमाणानुसार यह अर्थ हुआ कि-विप्रकृष्ट यानी पर लोक-त्रिपाद्विभूति-तथा क्षीरसागरादि में वह परब्रह्म नारायण पूर्ण है। और सन्निकृष्ट यानी इस लोक में विभव, अन्तर्यामी और अर्चावतार ब्रह्म भी पूर्ण है। अर्थात् पर १, व्यूह २, विभव ३, अन्तर्यामी ४, अर्चावतार ५, ये पाँचो भगवान पूर्ण हैं। क्योंकि पूर्ण परब्रह्म नारायण से पूर्ण ही अर्चावतार भगवान प्रकट होते हैं। पहले यह कहा गया है कि- **ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्।।** (बृ० उ० अ० १ ब्रा० ४ कं० १०) निश्चय करके पहले यह परब्रह्म नारायण था।।१०।। **तत्सर्वमभवत्।।** (बृ० उ० अ० १ ब्रा० ४ कं० १०) वह परब्रह्म नारायण सब हुआ।।१०।। और अन्यत्र भी लिखा है।। यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह।। कठोप० अ० २ व० १ श्रु० १०।। जो परब्रह्म नारायण इस पृथ्वीलोक में हैं, वही निश्चय करके परलोक- श्रीविष्णु लोक में भी हैं और जो परब्रह्म परलोक में हैं, वही निश्चय करके इस लोक में भी हैं।।१०।। इससे सिद्ध हो गया कि- त्रिपाद्विभूति में परवासुदेव भगवान् पूर्ण हैं और लीलाविभूति में अर्चावतार भगवान भी पूर्ण हैं। क्योंकि पहले कहा जा चुका है कि-पूर्ण से पूर्ण ही प्रकट होता है। जैसे उर्णनाभ कीट से ऊर्णनाभ ही उत्पन्न होता है। पूर्णपरब्रह्म नारायण के पूर्ण सौलभ्यादिकल्याण गुण को लेकर पूर्ण रामकृष्णादि अवतार होता है तौभी अन्त में परब्रह्म नारायण पूर्ण ही अवशिष्ट रह जाते हैं। इसी श्रुति के आधार पर श्रीमल्लोकाचार्य स्वामी ने सूत्र निर्माण

किया है।। **''पूर्णम् इत्युक्तत्वात्सर्वे गुणाः पुष्कलाः।।** श्रीवचनभूष॰ सू॰ ४३।। पूर्ण है ऐसा बृहदारण्यकोपनिषद् के पञ्चम अध्याय के प्रथम ब्राह्मण की पहली कण्डिका में कहने से अर्चावतार में सब कल्याणगुण पूर्ण हैं।।४३।। यहाँ पर कई सज्जन कहते हैं कि पूर्ण परब्रह्म के पूर्ण कल्याण आदिक गुण को लेकर जब रामकृष्णादि अवतार होता है तब पूर्णांश के निकल जाने पर पूर्ण परब्रह्म कैसे रह सकता है? इस प्रश्न का उत्तर अधोलिखित प्रकार से समझना चाहिये। संस्कृत में संख्या द्योतक नौ अङ्क होते हैं जैसे १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, इसके अनन्तर एक अङ्क पर शून्य देने से १०, एक पर एक ११, एक पर दो १२, इस प्रकार नौ ही अङ्क हैं और ९ के बाद शून्य है। जैसे ९ के बाद १०, १९ के बाद २०, २९ के बाद ३० इसी प्रकार ३९ के बाद ४०, ४९ के बाद ५० और ५९ के बाद ६० इत्यादि इससे यह सिद्ध हुआ कि नौ के बाद कोई अङ्क नहीं है। अर्थात् ९ अंक पूर्ण अंक है तब इन पूर्वोक्त एक दो आदि नौ अङ्कोंको पहले दाहिने से लिख दिया जाय और फिर बायें से एक दो आदि नौ अङ्कों को लिखकर घटा दिया जाय। तो ठीक पूर्ण अङ्कों में से पूर्ण अङ्कों के निकल जाने पर भी पूर्ण ही अंक बच जाते हैं। जैसे—

९ ८ ७ ६ ५ ४ ३ २ १ = जोड़ ४५ = ४ + ५ = ९

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ = जोड़ ४५ = ४ + ५ = ९

---

८ ६ ४ १ ९ ७ ५ ३ २ = जोड़ ४५ = ४ + ५ = ९

इसी प्रकार पूर्ण परब्रह्म नारायण के पूर्ण कल्याणगुणों को लेकर पूर्ण रामकृष्णादि अवतार होता है तौ भी पूर्ण ही परब्रह्म नारायण अवशिष्ट रह जाता है। अथवा ''पूर्णमदः'' इस श्रुति का यह अर्थ है कि— परोक्षलोक— पररूप पूर्ण है और यह लोक भी पूर्ण है। क्योंकि सब लोक शब्द से उत्पन्न होता है। यह स्पष्ट लिखा है— **स भूरिति व्याहरत्सभूमिमसृजत।।** उस प्रजापति ने ''भूः'' इस व्याहृति का उच्चारण किया तब उस व्याहृति से उसने भूमि को बनाया।। इस श्रुति से व्याहृति से उत्पन्न भूमि सिद्ध होती है। और ऐसे ही सब लोक शब्द से ही उत्पन्न हुआ है। पूर्यमाण लोक से पूरणकर्तृव्याहृतिरूप शब्द श्रेष्ठ होता है। पूर्णलोक से पूरणकर्तृव्याहृतिरूप वस्तु को लेकर अर्थात् उपसंहार करके उसकी भी जो पूर्ण पूरयितृ ओंकारात्मक वस्तु है वही प्रणव अवशिष्ट रह जाता है क्योंकि लिखा है—**ओङ्कारेण सर्वा वाक्संतृण्णा।।** (छा॰ उ॰ प्र॰ २ खं॰ ३ श्रु॰ ३) ओंकार से संपूर्णवाणी व्याप्त है।।३। अर्थात् ओंकार से व्याहृति होती है और व्याहृति से गायत्री उत्पन्न होती है। इससे सब शब्दों का कारण होने से ओंकार ही अन्त में अवशिष्ट रह जाता है। ''बृहदारण्यकोपनिषद्'' के पञ्चम अध्याय के प्रथम ब्रह्मण की पहली कण्डिका की ''पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य

पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते" यह श्रुति गुरु और शिष्य के शास्त्रीय नियम प्रमाद से अतिलंघन करने के द्वारा होने वाले दोष की शान्ति के लिए शान्तिपाठ की है। केवल इसी उपनिषद् का शान्तिपाठ नहीं है। बल्कि "मुक्तिकोपनिषद" में लिखा है– **ईशावास्यबृहदारण्यजाबालहंसपरमहंससुबाल-मन्त्रिका-निरालम्बत्रिशिखीब्राह्मणमण्डलब्राह्मणा-द्वयतारक-पैङ्गलभिक्षुतुरीयातीताध्यात्मतारसार-याज्ञवल्क्य-शाट्यायनी-मुक्तिकानां शुक्लयजुर्वेदग-तानामेकोनविंशतिसंख्यकानामुपनिषदां पूर्णमद इति शान्तिः॥** (मुक्ति० उ० अ० १ श्रु० ५२) ईशावास्योपनिषद् १, बृहदारण्यकोपनिषद् २, जाबालोपनिषद् ३, हंसोपिनिषद् ४, परमहंसोपनिषद् ५, सुबालोपनिषद् ६, मंत्रिकोपनिषद् ७ निरालम्बोपनिषद् ८, त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् ९, मण्डलब्राह्मणोपनिषद् १० अद्वयतारकोपनिषद् ११, पैङ्गलोपनिषद् १२, भिक्षुकोपनिषद् १३, तुरीयातीतोपनिषद् १४, अध्यात्मोपनिषद् १५, तारसारोपनिषद् १६, याज्ञवल्क्योपनिषद् १७, शाट्यायनीयोपनिषद् १८ और मुक्तिकोपनिषद् १९ ये शुक्लयजुर्वेद के उन्नीस उपनिषद् हैं। इनके शान्तिपाट का मंत्र **पूर्णमदः॥** (बृ० उ० अ० ५ ब्रा० १ कं० १) इत्यादि श्रुति है। इसमें पूर्वोक्त उन्नीस उपनिषदों के पढ़नेवालों को चाहिये कि–"पूर्णमदः" इस श्रुति से आदि और अन्त में अवश्य शान्तिपाठ करें।।५२।। अब कण्डिका के उत्तरार्ध का अर्थ बतलाया जाता है **ओं खं ब्रह्म॥** (शुक्लयजु० अ० ४० मं० १८) में पठित यह मन्त्र है। ओंकार आकाश के समान– अपरिच्छिन्न परब्रह्म नारायण है। इससे ओंकार में अपरिच्छिन्न परब्रह्मनारायण की उपासना करनी चाहिये। इस श्रुति में "खम्" यह विशेषण है और "ब्रह्म" यह विशेष्य है। ब्रह्म के विशेषणीभूत "ख" शब्द का अर्थ आगे साक्षात् करुणामयी श्रुति ही कहती है कि–"ख" शब्द से यहाँ वायुवाला जड़ आकाश नहीं कहा जाता है किन्तु देशकालादि अपरिच्छिन्न पुराण यानी पुरातन परब्रह्म नारायण ही आकाश के समान होने से कहा जाता है "ख" माने अपरिच्छिन्न परमात्मा होता है। और परमप्रसिद्ध आचार्य कौरव्यायणीपुत्र ने ऐसा कहा है कि– वायु जिसमें रहती है वह वायुवाला जड़ आकाश ही "खम्" इस पद से कहा जाता है। सनातन परब्रह्म नारायण नहीं। क्योंकि "ख" शब्द का मुख्य व्यवहार आकाश में ही है अत: **गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्यः॥** (परिभाषेन्दुशे०) गौण और मुख्य इनमें से मुख्य में ही कार्य की सम्यक् प्रतीति होती है।। इस न्याय के अनुसार मुख्य अर्थ में ही प्रतीति मानना उचित है। यहाँ प्रणव में परब्रह्म की उपासना करनी चाहिए इस विषय में विवाद नहीं है। किन्तु प्रणव में अध्यास्यमान परब्रह्म नारायण अपरिच्छिन्नगुणयुक्त उपासना करने योग्य है अथवा भूताकाशशरीरक उपासना करने योग्य है। बस इसी विषय में विवाद है। ओंकार के विषय में लिखा है।। **सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतदिति॥**

(कठोप० अ० १ व० २ श्रु० १५) समस्तवेद जिस प्राप्यस्वरूपपद को साक्षात् या परम्परा से बार-बार प्रतिपादन करते हैं और समस्त तपस्यायें जिस प्राप्यस्वरूप को कहती हैं और जिस प्राप्यस्वरूप की इच्छा करते हुए गुरुकुलवास स्त्रीसङ्गराहित्यादि ब्रह्मचर्य को पालन करते हैं उस प्राप्य स्वरूप पद को तेरे लिए संक्षेप से कहता हूँ। ओम् यह ब्रह्म का निर्देश है। इस प्रकार यह प्राप्यस्वरूप का वर्णन यहाँ पर समाप्त होता है।।१५।। **एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्। एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्।।१६।। एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्। एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते।।१७।।** निश्चय करके यह ओम् ही अक्षर ब्रह्म प्राप्ति के साधन होने से ब्रह्म है, निश्चय करके यह प्रणव ही अक्षर सब वेदों में श्रेष्ठ है। निश्चय करके इस ओम् अक्षर की उपासना करके जो पुरुष जिस वस्तु की इच्छा करता है निश्चय करके उस उपासक को वही मिल जाती है।।१६।। यह ओङ्कार रूप आलम्बन ब्रह्मोपासना के लिए सबसे श्रेष्ठ है। यह प्रणवरूप आलम्बन सर्वोत्कृष्ट है। इस ओम् आलम्बन को आचार्य से भलीभाँति जानकर परब्रह्म के लोक में उपासक पूजित होता है।।१७।। **एतद्वै सत्यकाम परं चापरं ब्रह्म यदोङ्कारः।। तस्माद्विद्वानेतेनै-वायतनेनैकतरमन्वेति।।** (प्रश्नोप० प्रश्न० ५ श्रु० २) हे सत्यकाम जो ओङ्कार है यह निश्चय करके पर यानी कारण और अपर यानी कार्य ब्रह्म है, इस कारण से उपासक पुरुष इस ओङ्कार रूप मार्ग के अवलम्ब से निश्चय करके पर या अपर किसी एक ब्रह्म की उपासना करता है।।२।। **ओमित्येवं ध्यायथात्मानं स्वस्ति वः।** (मुण्डको० मु० २ खं० २ श्रु० ६) ओम् इस नाम के द्वार परब्रह्म नारायण को ध्यान करो। इस प्रकार ध्यान के लिए प्रवृत्त तुमलोगों के लिए कल्याण हो।।६।। **भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव। यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव।।** (माण्डूक्योप० खं० १ श्रु० १) अतीतकाल में विद्यमान तथा वर्तमान काल में निरन्तर रहनेवाला और आगामी काल में भी एक प्रकार से सर्वदा रहनेवाला परमात्मा है। इस कारण से सब चिदचिदात्मक प्रपञ्च ओम् परब्रह्म नारायण से प्रतिपादन किया जाता है। इससे सब संसार ब्रह्मात्मक ही है और जो तीन कालों से परे दूसरा कालत्रयकृतविकारहीन रूप है वह भी ओम् इससे उच्यमान विनाशरहित परब्रह्म नारायण निश्चय करके है।।१।। **ओमिति सामानि गायन्ति। ओं शोमिति शस्त्राणि शंसन्ति। ओमित्यध्वर्युः प्रतिगरं प्रतिगृणाति। ओमिति ब्रह्मा प्रसौति।।** (तैत्तरीयोप० व० १ अनुवा० ८ श्रु० १) ओम् ऐसा कहकर सामगान करते हैं। ओम् शोम् ऐसा कह कर गीति रहित ऋचाओं का पाठ करते हैं। अध्वर्यु प्रत्येक कर्म के प्रति ओम् ऐसा उच्चारण करता है। ओम् ऐसा कहकर ब्रह्मा अनुज्ञा देता है।।१।। **ओमित्याश्रावयति। ओमिति शंसति। ओमित्युद्गायति।।** (छा० प्रपा० १ खं० १ श्रु० ७) ओम् ऐसा कहकर अध्वर्यु मन्त्र सुनाता है। ओम् ऐसा कहकर होता मंत्रों का पाठ करता है। ओम् ऐसा कहकर

ही उद्गाता उद्गीथ का उच्च स्वर से गान करता है॥९॥ **तद्वोभयं वै प्रणवेन** देहे॥ (श्वेताश्व० उ० अ० १ श्रु० १३) निश्चय करके देह में प्रणव ब्रह्म और जीव इन दोनों को जानता है॥१३॥ **ओमित्येतदक्षरमादौ प्रयुक्तम्॥** (अथर्वशिखोप० श्रु० १) ओम् यह अक्षर सृष्टि के आदि में प्रयुक्त हुआ॥१॥ **तस्मादोमित्यनेनैतदुपासीताजस्त्रमिति॥ (मैत्रायण्युपनिषद् प्रपाठ० ५ श्रु० ४)** इससे ओम् इस अक्षर से सर्वदा परब्रह्म नारायण की उपासना करे॥४॥ **ओमित्यात्मानं युञ्जीत॥** (नारायणोप० श्रु० ७९) प्रणव से आत्मा को समर्पण करे॥७९॥ इस प्रकार संक्षेप सें यहाँ प्रणव के विषय में लिखा गया है। जिसको अधिक जानना हो वह मेरी बनायी हुई माण्डूक्योपनिषद् की "गूढार्थदीपिका" व्याख्या का अवलोकन करे। अब वेदरूप से प्रणव की स्तुति की जाती है। यह ओङ्कार वेद है ऐसा ब्रह्मवेत्ता–ब्रह्मण जानते हैं क्योंकि जो जानने योग्य सब वस्तु है उसको इस ओंकार से ही उपासक जान लेता है। यहाँ "बृहदारण्यकोपनिषद्" के पञ्चम अध्याय का प्रथम 'ओं खं ब्रह्म ब्राह्मण' समाप्त हो गया॥१॥

॥ अथ द्वितीयं ब्राह्मणम्॥

त्रयाः प्राजापत्याः प्रजापतौ पितरि ब्रह्मचर्यमूषुः। देवा मनुष्या असुरा उषित्वा ब्रह्मचर्यं देवा ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति। तेभ्यो हैतदक्षरमुवाच द इति व्यज्ञासिष्टा ३ इति व्यज्ञासिष्मेति होचुः। दाम्यतेति न आत्थेति। ओमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति॥१॥

अन्वयार्थ– (प्राजापत्यः) प्रजापति के पुत्र (देवाः) देव (मनुष्याः) मनुष्य और (असुराः) असुरभेद से (त्रयाः) तीन प्रकार के थे वे (पितरि) पिता (प्रजापतौ) प्रजापति के समीप (ब्रह्मचर्यम्) ब्रह्मचर्यपूर्वक (ऊषुः) वास कर रहे थे (देवाः) उनमें से प्रथमदेवगण (ब्रह्मचर्यम्) ब्रह्मचर्यपूर्वक (उषित्वा) निवास करके प्रजापति के पास जाकर (इति) इस प्रकार (ऊचुः) बोले कि (भवान्) आप (नः) हमलोगों को (ब्रवीतु) कुछ उपदेश कीजिये (इति) इस वचन को सुनकर (ह) परम प्रसिद्ध प्रजापति ने (तेभ्यः) उन देवगणों से (दः) द (एतत्) यह (अक्षरम्) अक्षर (उवाच) कहा और उपदेश देकर प्रजापति ने (इति) ऐसा पूछा कि (व्यज्ञासिष्य ३) तुमलोग मेरे उपदेश का भाव समझ गये (इति) इस बात को सुनकर (ह) प्रसिद्ध देवगण (ऊचुः) उत्तर कहे कि (व्यज्ञासिष्म) हम निश्चय आपका अभिप्राय जान गये (दाम्यत) दान्त बनो (इति) ऐसा (न) हमसे (आत्थ) आपने कहा है (इति) इस वचन को सुनकर (ह)

सुप्रसिद्ध प्रजापति ने (इति) ऐसा (उवाच) कहा कि (ओम्) हाँ ठीक (व्यज्ञासिष्ट) तुम लोग मेरे उपदेश का भाव समझ गये हो॥१॥

विशेषार्थ– प्रजापति के पुत्र जो देव, मनुष्य और असुरभेद से तीन प्रकार के थे। वे अपने पिता प्रजापति के पास ब्रह्मचर्यपूर्वक निवास कर रहे थे। पिता के विषय में लिखा है॥ **पितृदेवो भव॥** तैत्ति० उ० व० १ अनु० ११ श्रु० २॥ तुम पिता में देवबुद्धि करने वाला बनो॥२॥ **आचार्याणां शतं पिता॥** मनु० अ० २ श्लो० १४५॥ सौठो उपनयन पूर्वक सावित्रीमात्र पढ़ाने वाले आचार्य की अपेक्षा पिता श्रेष्ठ है॥१४५॥ **पिता वै गार्हपत्योऽग्निः॥** मनु० अ० २ श्लो० २३१॥ पिता ही गार्हपत्य अग्नि है॥२३१॥ ब्रह्मचर्य के विषय में लिखा है॥ **स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्। सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेवच। एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः। विपरीतं ब्रह्मचर्यमेत देवाष्टलक्षणम्॥** अत्रिस्मृति॥ स्त्री का स्मरण करना १; उसके नाम का कीर्तन करना २, उसके साथ क्रीड़ा करना ३, उसे प्रेमदृष्टि से देखना ४, उसके साथ रहस्य वार्तालाप करना ५, उसके बारे में संकल्प विकल्प मनमें करना ६, तथा स्त्रियों के साथ व्यवहार करना ७ और क्रिया निवृत्ति ८ ये आठ मैथुन के अङ्ग हैं तथा इनके विपरीत आठ लक्षण वाले को मनीषी लोग ब्रह्मचर्य कहते हैं। **ब्रह्मचर्यं योषित्सु भोग्यताबुद्धियुक्तेक्षणादिरहितत्वम्॥** रामानुजभाष्यगी अ० १७ श्लो० १४॥ स्त्रियों में भोग्यताबुद्धि करके उनका दर्शन आदि नहीं करना ब्रह्मचर्य कहलाता है॥१४॥ **ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः॥** (योग० अ० १ पा० १ सू० ३८) ब्रह्मचर्य सिद्ध होने पर वीर्यलाभ होता है॥३८॥ उन तीनों में से प्रथम देवताओं ने ब्रह्मचर्य पूर्वक निवास करके पिता प्रजापति के समीप जाकर कहा कि–आप हम लोगों को कुछ अनुशासन दें। देवों से इस बात को सुन कर सुप्रसिद्ध प्रजापति ने उन देवताओं से "द" इस अक्षर का उपदेश दिया। और उनसे प्रजापति ने पूछा कि–मैंने उपदेश के लिए जो "द" अक्षर उच्चारण किया है उसका भाव तुम समझ गये। इस वचन को सुनकर देवताओं ने उत्तर दिया कि–पिता निश्चय हम सब ने इस "द" अक्षर का आशय समझ लिया। इस वाक्य को सुन कर प्रजापति ने कहा कि बताओ क्या समझा। इसके बाद देवताओं ने कहा कि आप हमसे कहते हैं कि तुम लोग स्वभाव से अदान्त हो इसलिए दमन शील बनो। अर्थात् "द" का अर्थ दमन करने वाला बनो, यह हम लोगों ने समझा है। दम के विषय में लिखा है॥ **दमः मनसो विषयौन्मुख्यनिवृत्ति संशीलनम्॥** रामानुजभाष्यगी० अ० १६ श्लो० १॥ मनको विषयों की ओर जाने से रोक लेने के स्वभाव का नाम "दम" है॥१॥ तब परमप्रसिद्ध प्रजापति ने कहा हाँ ठीक है तुम लोग मेरे उपदेश का भाव समझ गये हो। इस श्रुति में "ओम्"

शब्द अङ्गीकार वाचक हैं। क्योंकि लिखा है।। ओमेवं परमं मते।। (अमर० कां० ३ व० ४ श्लो० १२।। ओम् १; एवम् २, परमम् ३, ये अव्यय शब्द अङ्गीकार वाचक हैं।।१२।। इस प्रकार प्रतिपादन किया गया है।।१।।

अथ हैनं मनुष्या ऊचुर्ब्रवीतु नो भगवानिति। तेभ्यो हैतदेवाक्षरमुवाच द इति व्यज्ञासिष्टा ३ इति। व्यज्ञासिष्मेति होचुर्दत्तेति न आत्थेत्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति।।२।।

अन्वयार्थ– (अथ) देवगणों के बाद (मनुष्याः) मनुष्यगण (ह) सुप्रसिद्ध (एनम्) इस प्रजापति के निकट जाकर (इति) इस प्रकार (ऊचुः) बोले कि (भगवान्) षडैश्वर्यसम्पन्न आप (नः) हमलोगों को (ब्रवीतु) कुछ उपदेश कीजिये (इति) इस वचन को सुनकर (ह) परम प्रसिद्ध प्रजापति ने (तेभ्यः) उन मनुष्यगणों से भी (एव) निश्चय करके (दः) द (एतत्) यह (अक्षरम्) उक्षर (उवाच) कहा और उपदेश देकर प्रजापति ने (इति) ऐसा पूछा कि (व्यज्ञासिष्य३) तुमलोग मेरे उपदेश का भाव समझ गये (इति) इस बात को सुनकर (ह) प्रसिद्ध मनुष्यगण (ऊचुः) उत्तर कहे कि (व्यज्ञासिष्म) हम निश्चय आपका अभिप्राय जान गये (दत्त) तुम सब दान करो (इति) ऐसा (मः) हमसे (आत्थ) आपने कहा है (इति) इस वचन को सुनकर (ह) सुप्रसिद्ध प्रजापति ने (इति) ऐसा (उवाच) कहा कि (ओम्) ठीक (व्यज्ञासिष्ट) तुमलोग मेरे उपदेश का भाव समझ गये हो।।२।।

विशेषार्थ– देवताओं के प्रति दमन का उपदेश देने के पश्चात् मनुष्यों ने ब्रह्मचर्यपूर्वक निवास करके पिता प्रजापति के समीप जाकर कहा कि–षडैश्वर्यसम्पन्न पूज्यपाद! आज हमलोगों को भी उचित उपदेश देवें। इस बात को सुनकर सुप्रसिद्ध प्रजापति ने उन मनुष्यों से भी "द" इस अक्षर का ही उपदेश दिया। और उनसे प्रजापति ने पूछा कि–मैंने उपदेश के लिए जो "द" अक्षर उच्चारण किया है उसका आशय तुम समझ गये? इस वचन को सुनकर मनुष्यों ने उत्तर दिया कि– पिताजी निश्चय हम सब ने इस "द" अक्षर का आशय समझ लिया है। इस वाक्य को सुनकर फिर प्रजापति ने कहा कि बताओं क्या समझा? इसके बाद मनुष्यों ने कहा कि–आप हमसे कहते हैं कि तुमलोग स्वभाव से लोभी हो। इसलिए दान किया करो यह हमलोगों ने समझा है। दान के विषय में लिखा है– **दानं न्यायार्जितधनस्य पात्रे प्रतिपादनम्।।** (रामानुजभाष्यगी० अ० १६ श्लो० १) न्यायोपार्जित धन को सत्पात्र के प्रति देने का

नाम ''दान'' है॥१॥ **दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे। देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्॥** (गी॰ अ॰ १७ श्लो॰ २०) देना कर्तव्य है ऐसा समझ कर जो दान देश काल और पात्र में अनुपकारी को दिया जाता है वह दान सात्त्विक बतलाया गया है॥२०॥ **यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः। दीयते च परिक्लिष्टं तद्राजसमुदाहृतम्॥** (गी॰ अ॰ १७ श्लो॰ २१) पर जो प्रत्युपकार के लिए या पुनः फल के उद्देश्य से दिया जाता है तथा जो अशुभ द्रव्य से युक्त होता है वह दान राजस बतलाया गया है॥२१॥ **अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्॥** (गी॰ अ॰ १७ श्लोक २२) जो दान बिना देश काल के, बिना सत्कार के और बिना आदर के अपात्रों को दिया जाता है वह दान तामस बतलाया गया है॥२२॥ मनुष्यों के वाक्य को सुनकर तब परमप्रसिद्ध प्रजापति ने कहा हाँ ठीक है तुमलोग मेरे उपदेश का भाव समझ गये हो॥२॥

अथ हैनमसुरा ऊचु र्ब्रवीतु नो भगवानिति। तेभ्यो हैतदेवाक्षरमुवाच द इति व्यज्ञासिष्टा ३ इति। व्यज्ञासिष्मेति होचुर्दयध्वमिति न आत्थेत्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति। तदेतदेवैषा दैवी वागनुवदति स्तनयित्नुर्द द द इति दाम्यत दत्त दयध्वमिति। तदेतत्त्रयं शिक्षेद्दमं दानं दयामिति॥३॥

॥ इति पञ्चमाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

अन्वयार्थ– (अथ) मनुष्यों को शिक्षा मिलने के बाद (असुराः) असुरगण (ह) सुप्रसिद्ध (एनम्) इस प्रजापति के निकट जाकर (इति) इस प्रकार (ऊचुः) बोले कि (भगवान्) षडैश्वर्यसम्पन्न आप (नः) हमलोगों को (ब्रवीतु) कुछ उपदेश कीजिये (इति) इस वचन को सुनकर (ह) परमप्रसिद्ध प्रजापति ने (तेभ्यः) उन असुरगणों से भी (एव) निश्चय करके (दः) द (एतत्) यह (अक्षरम्) अक्षर (उवाच) कहा और उपदेश देकर प्रजापति ने (इति) ऐसा पूछा कि (व्यज्ञासिष्ट ३) तुमलोग मेरे उपदेश का भाव समझ गये (इति) इस बात को सुनकर (ह) प्रसिद्ध असुरगण (ऊचुः) उत्तर कहे कि (व्यज्ञासिष्म) हम निश्चय आपके उपदेश का अभिप्राय जान गये (दयध्वम्) तुम सब दया किया करो (इति) ऐसा (नः) हमसे (आत्थ) आपने कहा है (इति) इस वचन को सुनकर (ह) सुप्रसिद्ध प्रजापति ने (इति) ऐसा (उवाच)

कहा कि (ओम्) हाँ ठीक (व्यज्ञासिष्ट) तुमलोग मेरे उपदेश का भाव समझ गये हो (दाम्यत) दमन करो (दत्त) दान दो (दयध्वम्) दया करो (इति) इस प्रकार के दम, दान, दयालक्षण (तत्) उस (एतत्) इस प्रजापति के अनुशासन को (एव) ही (स्तनयित्नुः) मेघ (द द द इति) द द द इस प्रकार गर्जन द्वारा तीन दकारों को उच्चारण से (अनुवदति) अनुवाद करता है यह केवल मेघ का शब्द मात्र नहीं है किन्तु (एषा) यह गर्जनारूपी (दैवी) दैवी यानी देवसम्बन्धी (वाक्) वाणी है (इति) इस कारण से आजकल भी सबको उचित है कि (तत्) उस (एतत्) इस प्रजापति के उपदेश किये हुए (त्रयम्) तीन (दमम्) दम (दानम्) दान और (दयाम्) दया को (शिक्षेत्) सीखे अर्थात् प्रजापति के अनुशासन को अपने ग्रहण करे और दूसरों को शिक्षा दे।।३।।

विशेषार्थ– मनुष्यों के प्रति दान का उपदेश देने के पश्चात् असुरों ने ब्रह्मचर्यपूर्वक निवास करके पिता प्रजापति के समीप जाकर कहा कि– षडैश्वर्यसम्पन्न पूज्यपाद! आप हमलोगों को भी उचित उपदेश देवें। इस बात को सुनकर सुप्रसिद्ध प्रजापति ने उन असुरों से भी "द" इस अक्षर का ही उपदेश दिया। और उन असुरों से प्रजापति ने पूछा कि– मैंने उपदेश के लिए जो "द" अक्षर उच्चारण किया है उसका आशय तुमलोग समझ गये। इस वचन को सुनकर असुरा ने उत्तर दिया कि– पिता निश्चय हम सबने इस "द" अक्षर का आशय समझ लिया। इस वाक्य को सुनकर फिर प्रजापति ने कहा कि बताओ तुमलोगों ने क्या समझा? इसके बाद असुरों ने कहा कि– आप हमसे कहते हैं–कि तुमलोग स्वभाव से ही क्रूर और हिंसा परायण हो इसलिए प्राणियों पर दया किया करो, यह हमलोगों ने समझा है । दया के विषय में लिखा है **दया भूतेषु सर्वेषु दुःखासहिष्णुत्वम्।।** (रामानुजभाष्यगी० अ० १६ श्लोक २) समस्त प्राणियों के दुःख को न सह सकने का नाम "दया" है।।२।। असुरों के वाक्य को सुनकर परमप्रसिद्ध प्रजापति ने कहा–हाँ ठीक है, तुमलोग मेरे उपदेश का भाव समझ गये हो। दमन करो, दान दो और दया करो इस प्रकार के दम, दान, दया लक्षण उस देवादि के अनुशासन करनेवाला इस प्रजापति के उपदेश को ही मेघ द द द इस प्रकार अपने गर्जन द्वारा तीन दकारों के उच्चारण से अनुवाद करता है। यह केवल मेघ का शब्द मात्र नहीं है किन्तु यह दैवी यानी देव सम्बन्धी वाणी है। यहाँ "स्तनयित्नु" शब्द मेघवाचक है। क्योंकि लिखा है– **अभ्रं मेघो वारिवाहः स्तनयित्नुर्बलाहकः।।** (अमर० कां० १ व० ३ श्लो० ६) अभ्र १, मेघ २, वारिवाह ३, स्तनयित्नु ४, बलाहक ५, ये बादल के नाम हैं।।६।। इस कारण से आजकल भी सबको उचित है कि–उस सुप्रसिद्ध इस प्रजापति का उपदेश दिया हुआ दम, दान और दया इन तीन को सीखे– ग्रहण करे अर्थात् हमें प्रजापति के अनुशासन का पालन करना

चाहिये— ऐसी बुद्धि करे। ऐसी ही यह निम्नलिखित स्मृति भी है— **त्रिविधं नरकस्येतद्द्वारं नाशनमात्मनः। कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत्॥** (गी० अ० १६ श्लो० २१) काम, क्रोध और लोभ ये नरक के तीन दरवाजे हैं, ये आत्मा का पतन करनेवाले हैं, इसलिये इन तीनों को त्याग कर देना चाहिये॥२१॥ इस विधि का ही पूर्वग्रन्थ शेष है। यहाँ पर "बृहदारण्यकोपनिषद्" के पञ्चमअध्याय का द्वितीय प्राजापत्यब्राह्मण समाप्त हो गया॥३॥

॥ अथ तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

एषः प्रजापतिर्यद् हृदयमेतद् ब्रह्मैतत्सर्वम्। तदेतत्त्र्यक्षरं हृदयमिति हृ इत्येकमक्षरमभिहरन्त्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद। द इत्येकमक्षरं ददत्यस्मै स्वा श्चान्ये च य एवं वेद॥ यमित्येकमक्षरमेति स्वर्गं लोकं य एवं वेद॥१॥

॥ इति पञ्चमाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

अन्वयार्थ— (यद्) जो (हृदयम्) हृदय है (एषः) यही दम आदिक के अनुशासन करनेवाला (प्रजापतिः) प्रजाओं का रक्षक प्रजापति है (एतत्) यह हृदय ही (ब्रह्म) बृहत्त्व होने का कारण ब्रह्म है और (एतत्) यह हृदय (सर्वम्) सब है (तत्) वह (एतत्) यह (हृदयम्) हृदय (इति) यह शब्द (त्र्यक्षरम्) तीन अक्षर वाला है (हृ) हृ (इति) यह (एकम्) एक (अक्षरम्) अक्षर है क्योंकि (स्वाः) निज नेत्र, कर्णादि इन्द्रियगण (च) और (अन्ये) अन्य शब्द स्पर्शादि विषय अपने अपने कार्य को लाकर (अस्मै) इस हृदय के लिये (अभिहरन्ति) समर्पण करते हैं। अतः हृदय शब्द का हृ अक्षर हृञ् धातु से आया है (च) और (यः) जो उपासक इसको (एवम्) इसी प्रकार (वेद) जानता है उस विद्वान् के प्रति उसके सजातीय और दूसरे सम्बन्धी पुरुष बलि अभिहरण करते हैं (च) और (दः) द (इति) यह (एकम्) एक (अक्षरम्) अक्षर है क्योंकि (स्वाः) निज नेत्रादि इन्द्रियगण (च) और (अन्ये) अन्य शब्दस्पर्शादि विषय अपने अपने वीर्य को (अस्मै) इस हृदय के लिए (ददति) देते हैं। अतः हृदय शब्द का द अक्षर डुदाञ् धातु से आया है तथा (यः) जो उपासक (एवम्) ऐसा इस दकार को (वेद) जानता है उस विद्वान् के लिए स्वजन और अन्यजन अपने अपने वीर्य को देते हैं (च) और (यम्) य (इति) यह (एकम्) एक (अक्षरम्) अक्षर

है यह हृदय शब्द का अक्षर इण धातु से आया है (यः) जो उपासक इसको (एवम्) ऐसा (वेद) जानता है वह (स्वर्गम्) स्वर्ग (लोकम्) लोक को (एति) जाता है॥१॥

विशेषार्थ– सब उपासना के अङ्गभूत दम, दान, दया लक्षण तीन साधनों को उपदेश देकर अब ब्रह्मोपासना के अङ्गभूत हृदयोपासना को और हृदय शब्द के निर्वचन को प्रतिपादन किया जाता है कि–जो हृदय है यही दम, दान और दया के अनुशासन करने वाला प्रजापति है। अन्य कोई प्रजापति नहीं है। यह हृदय ही सबसे बृहत् यानी महान् होने के कारण ब्रह्म है और यह हृदय सब है यह पहले वर्णन किया जा चुका है। इस प्रकार प्रजापतित्व और बृहत्त्वरूप विशेषणविशिष्ट हृदय की उपासना यहाँ विधान की गयी है। इसलिये हृदयरूपब्रह्म उपास्य है। हृदय के विषय में लिखा है–**पद्मकोशप्रतीकाशं हृदयं चाप्यधोमुखम्। अधोनिष्ठ्या वितस्त्यान्ते नाभ्यामुपरि तिष्ठति। हृदयं तद्विजानीयाद्विश्वस्यायतनं महत्॥** (तैत्तिरीयार० प्रपा० १० अनु० ११ श्रु० ८) नीचे मुखवाला लाल कमल के कोश के समान नाभि से ऊपर एक वीत्ता के भीतर अधोनिष्ठा से युक्त जो मांस पिण्ड देह में स्थित है उसी को हृदय जानना चाहिये वह हृदय सब प्राणादिक का बड़ा स्थान है॥८॥ अब "हृदय" इस नाम के अक्षरों में सम्बन्ध रखनेवाली उपासना बतलायी जाती है कि–वह यह "हृदय" शब्द त्र्यक्षर है। अर्थात् इसमें तीन अक्षर हैं। वे तीन अक्षर कौन हैं सो आगे बतलाये जाते हैं। "हृ" यह एक अक्षर है। हरणार्थक "हृञ् हरणे" धातु से यह "हृ" बना है क्योंकि निज नेत्र श्रोत्रादि इन्द्रियाँ और अन्य शब्दस्पर्शादि विषय अपने अपने कार्य को लाकर इस हृदय को समर्पण करते हैं। अतः हृदय शब्द का "हृ" अक्षर "हृञ्" धातु से आया है। जो उपासक हृदय शब्द के अक्षर रूप से निबद्ध इस "हृ" अक्षर को इस प्रकार जानता है उसको भी निज बन्धु बान्धव और अन्य दूरस्थ पुरुष भी विविध पदार्थ समपर्ण करते हैं। और "द" यह भी एक अक्षर है। दानार्थक "डुदाञ् दाने धातु से "द" बना है क्योंकि निज नयनादि इन्द्रियाँ और अन्य शब्दस्पर्शादि विषय अपने अपने वीर्य को इस हृदय के लिये देते हैं अतः हृदय शब्द का "द" अक्षर दा धातु से आया है। जो उपासक हृदय शब्द के अक्षररूप से निबद्ध इस "द" अक्षर को इस प्रकार जानता है उस उपासक के लिए स्वजन और अन्तजन धनादिक वीर्य को देते हैं। तथा "य" यह भी एक अक्षर है। गत्यर्थक "इण् गतौ" धातु से "य" बना है। यह "य" रूप इस हृदय शब्द में निबद्ध है। इस प्रकार इसको जो उपासक जानता है वह स्वर्गलोक को जाता है। इस प्रकार नाम के अक्षर का निर्वचन ज्ञान मात्र से जब पुरुष ऐसा विशिष्ट फल प्राप्त कर लेता है तो हृदयस्वरूप ब्रह्म की उपासना से जो फल मिलेगा उसके विषय में तो कहना ही क्या है। इस प्रकार यहाँ हृदय की

स्तुति की गयी है। यहाँ "बृहदारण्यकोपनिषद्" के पञ्चम अध्याय का तृतीय हृदयब्राह्मण समाप्त हो गया॥१॥

॥ अथ चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

तद्वै तदेतदेव तदास सत्यमेव। स यो हैतन्महद् यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्मेति जयतीमाँल्लोकाञ्जित इन्नवसावसत्। य एवमेतन्महद् यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्मेति सत्यं ह्येव ब्रह्म सत्यंह्येव ब्रह्म॥१॥

॥ इति पञ्चमाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

अन्वयार्थ– (वै) निश्चय करके (तत्) पूर्वोक्त प्रजापति रूप से वर्णन किया हुआ वही (तत्) वह हृदय-ब्रह्म (एव) ही (एतत्) यह वक्ष्यमाण (तत्) वह (आस) था, वह क्या है इस पर श्रुति उसका विशेष रूप से निर्देश करती है (सत्यम्) सत् और त्यत् यानी मूर्त और अमूर्त सत्य ब्रह्म (एव) ही है अर्थात् अव्याकृत पञ्चभूतात्मक है (यः) जो कोई (ह) सुप्रसिद्ध (एतत्) इस हृदय को (महत्) सबसे महान् तथा (यक्षम्) पूज्य (प्रथमजम्) समस्त कार्यजात से पहले उत्पन्न हुआ (सत्यम्) अव्याकृत पञ्चभूतात्मक (ब्रह्म) बृहत् यानी बड़ा है (इति) इस प्रकार (वेद) जानता है (सः) वह विद्वान् पुरुष (इमान्) इन समस्त (लोकान्) लोकों को (जयति) जीत लेता है और उसके द्वारा उसका (असौ) यह शत्रु (जितः) जित होता है यानी वशीभूत कर लिया जाता है (इन्नु) इस प्रकार से कि जिस प्रकार परमात्मा के द्वारा वशीभूत शत्रु (असत्) असत् हो जाता है पुनः उक्तार्थ फल को श्रुति निगमन करती है कि (यः) जो कोई उपासक (एवम्) इस प्रकार (एतत्) इस हृदय को (महत्) सबसे महान (यक्षम्) सबके पूज्य (प्रथमजम्) संपूर्ण कार्यजाति से प्रथम उत्पन्न हुआ (सत्यम्) अव्याकृत पञ्चभूतात्मक (ब्रह्म) बृहत् यानी बड़ा है (इति) ऐसा (वेद) जानता है वह विजयी होता है, उपासना के अनुरूप फल मिलना उचित ही है (हि) क्योंकि (सत्यम्) सत्य (एव) ही (ब्रह्म) ब्रह्म है (हि) क्योंकि (सत्यम्) सत्य (एव) ही (ब्रह्म) ब्रह्म है॥१॥

विशेषार्थ– हृदय के प्रजापति रूप से उपासना कहकर अब इस कण्डिका में सत्यरूप से उपासना बतलायी जाती है कि–निश्चय करके पहले प्रजापति रूप से वर्णन किया हुआ वही वह हृदय-ब्रह्म ही यह वक्ष्यमाण वह था। वह क्या है? इस

पर श्रुति उसका विशेष रूप से निर्देश करती है कि–सत् और त्यत् यानी मूर्त और अमूर्त सत्य ब्रह्म ही है। अर्थात् अव्याकृत पञ्चभूतात्मक है। जो कोई उपासक परम प्रसिद्ध इस हृदय को सबसे महान् सबके पूज्य समस्त कार्यजात से पहले उत्पन्न हुआ अव्याकृत पञ्चभूतात्मक सबसे बृहत् यानी बड़ा है ऐसा समझकर उपासना करता है वह उपासक इन समस्त लोकों को जीत लेता है। और इस उपासक के द्वारा उसका यह शत्रु इस प्रकार वशीभूत कर लिया जाता है जिस प्रकार परब्रह्म नारायण के द्वारा जीता हुआ शत्रु असत् हो जाता है। मूल में "असौ" के आगे "शत्रुः" यह पद शेष है। यह किसका फल है– यह बतलाने के लिये श्रुति पुनः निगमन करती है। जो कोई उपासक इस प्रकार इस सुप्रसिद्ध हृदय को सबसे महान् सबके पूजनीय सम्पूर्ण कार्यजात से प्रथम उत्पन्न हुआ अव्याकृत पञ्चभूतात्मक सबसे बृहत् यानी बड़ा है ऐसा समझकर उपासना करता है वह विजयी होता है। उपासना के अनुकूल फल मिलना उचित ही है। क्योंकि सत्य ही ब्रह्म है। इस श्रुति में "सत्यं ह्येव ब्रह्म" इस वाक्य को दो बार कह कर प्रकृत चतुर्थब्राह्मण की समाप्ति सूचित की गयी है। और उक्त उपदेश की निश्चितता का भी प्रतिपादन किया गया है। क्योंकि लिखा है–**अवधारणार्थं सर्वस्याप्युक्तस्याध्यायमूलतः। द्विरूक्तिं कुर्वते प्राज्ञा अध्यायान्ते विनिर्णये॥** (वाराहसं० अ० १ पा० ४ सू० २९) अध्याय के मूल से लेकर अन्त तक कहे हुए समस्त उपदेश की निश्चितता सूचन करने के लिए प्राज्ञजन अध्याय के अन्त में दो बार उच्चारण करते हैं ऐसा श्रौतसिद्धान्त का विशेष रूप से निर्णय है॥२९॥ **अध्यायान्ते द्विरुक्तिः स्याद्वेदे वा वैदिकेऽपि वा। विचारो यत्र सज्जेत पूर्वोक्तस्यावधारणे॥ अनुक्तानां प्रमाणानां स्वीकारश्च कृतो भवेत्। विनिन्द्य चेतरान्मार्गान्सम्पूर्णफलता तथा॥** (गारुडसं० अ० २ पा० ४ सू० २३) वेद और वेदानुसार ग्रन्थों में अध्याय के अन्त में दो बार उच्चारण होना चाहिये। पहले कहे हुए अर्थ के निर्धारण में भी विचार जहाँ पर प्रवृत्त होता है वहाँ पर दो बार उच्चारण होता है। और जहाँ पर नहीं कहे हुए प्रमाणों को स्वीकार किया जाता है तथा वेदविरूद्ध मार्गों की निन्दा करके सम्पूर्णता रूप फल प्राप्त होता है, वहाँ पर भी अन्तिम वाक्य दो बार उच्चारण किया जाता है॥२३॥ **शान्तिपाठकर्ता भगवद्रामानुजाचार्येने–सम्बन्धादेवमन्यत्रापि॥** (शा० मी० अ० ३ पा० ३ सू० २०) **सैव हि सत्यादयः॥** (शा० मी० अ० ३ पा० ३ सू ३७) इन दोनों सूत्रों के श्रीभाष्य में "बृहदारण्यकोपनिषद्" के पञ्चम अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण की प्रथम कण्डिका के पदों को उद्धृत किया है। यहाँ पर "बृहदारण्यकोपनिषद्" के पञ्चम अध्याय का चतुर्थ सत्यब्राह्मण समाप्त हो गया॥१॥

॥ अथ पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥

आप एवेदमग्र आसुः। ता आपः सत्यमसृजन्त। सत्यं ब्रह्म। ब्रह्म प्रजापतिम्। प्रजापतिर्देवान्। ते देवाः सत्यमेवोपासते तदेतत् त्र्यक्षरं सत्यमिति स इत्येकमक्षरं तीत्येकमक्षरं यमित्येकमक्षरम्। प्रथमोत्तमे अक्षरे सत्यम्। मध्यतोऽनृतम्। तदेतदनृतमुभयतः सत्येन परिगृहीतं सत्यभूयमेव भवति नैनं विद्वांसमनृतं हिनस्ति॥१॥

अन्वयार्थ– (इदम्) यह व्याकृत जगत् (अग्रे) अण्डसृष्टि से पहले (आपः) अव्याकृत पञ्चभूतात्मा (एव) ही (आसुः)था (ताः) उन (आपः) आप अव्याकृत पञ्चभूतात्मा ने (सत्यम्) पञ्चीकृत पञ्चभूतात्मक कार्य को (असृजन्त) रचना किया और (सत्यम्) उस पञ्चीकृत पञ्चभूतात्मक कार्य सत्य ने (ब्रह्म) चतुर्मुख ब्रह्म को निर्माण किया तथा (ब्रह्म) चतुर्मुख ब्रह्मा ने (प्रजापतिम्) दक्ष आदि प्रजापति को उत्पन्न किया और (प्रजापतिः) दक्षादि प्रजापति ने (देवान्) देवगणों को उत्पन्न किया (ते) वे (देवाः) दिव्यगुण सम्पन्न देव (सत्यम्) सत्य की (एव) ही (उपासते) उपासना करते हैं (तत्) वह (एतत्) यह (सत्यम्) सत्य (इति) ऐसा नाम (त्र्यक्षरम्) तीन अक्षरवाला है (सः) स (इति) यह (एकम्) एक (अक्षरम्) अक्षर है (ती) त् (इति) यह (एकम्) एक (अक्षरम्) अक्षर है तथा (यम्) य (इति) यह (एकम्) एक (अक्षरम्) अक्षर है इनमें (प्रथमोत्तमे) पहला सकार और अन्तिम यकार (अक्षरे) ये दोनों अक्षर (सत्यम्) मृत्युरूप के अभाव में होने से सत्य हैं और (मध्यतः) बीच में त् (अनृतम्) मृत्युरूप होने से अनृत है (तत्) वह (एतत्) यह (अनृतम्) मृत्यु रूप अनृत त् अक्षर (उभयतः) दोनों ओर से (सत्येन) सकार यकार रूप सत्य से (परिगृहीतम्) संदष्ट है । अतः अकिञ्चित्कर है, इसलिये (एव) निश्चय करके (सत्यभूयम्) सत्य की ही अधिकता (भवति) होती है इस प्रकार (विद्वांसम्) जानने वाले (एनम्) इस उपासक को कभी प्रमाद से बोला हुआ (अनृतम्) असत्य (न) नहीं (हिनस्ति) मारता है॥१॥

विशेषार्थ– यह दृश्यमान व्याकृत संसार अण्डसृष्टि से पहले अव्याकृत पञ्चभूतात्माक ही था। उस अव्याकृत पञ्चभूतात्मा ने पञ्चीकृत पञ्चभूतात्माक कार्य को उत्पन्न किया। इस श्रुति में "अप्" शब्द अव्याकृत पञ्चभूतात्मा का वाचक है। और "सत्य" शब्द पञ्चीकृत पञ्चभूतात्मककार्य वाचक है। और सत्य यानी पञ्चीकृत पञ्चभूतात्मक कार्य ने चतुर्मुख ब्रह्मा को उत्पन्न किया। तथा चतुर्मुख ब्रह्मा ने दक्षादिक

प्रजापति को उत्पन्न किया। और दक्षादि प्रजापति ने दिव्यगुण सम्पन्न देवताओं को उत्पन्न किया। वे देवगण सत्य की ही उपासना करते हैं। वह यह "सत्य" नाम तीन अक्षरवाला है। वे अक्षर कौन हैं? सो श्रुति बतलाती है "स" यह एक अक्षर है। "त्" यह एक अक्षर है। "ती" इसमें ईकारानुबन्ध निर्देश के लिये अर्थात् स्पष्ट उच्चारण के लिए है। और "य" यह एक अक्षर है। इनमें सकार और यकार– ये पहले और अन्तिम अक्षर सत्य हैं। क्योंकि उनके मृत्युरूप का अभाव है। अर्थात् स्वरयुक्त होने के कारण सत्य है, इन दोनों "स" "य" में परमात्मावाचक अकार विद्यमान है, अतः ये दोनों सत्य हैं। और मध्यगत "त्" हल् होने के कारण अनृत-मृत्यु है, क्योंकि मृत्यु और अनृत इनकी तकार में समानता है। वह यह मृत्युरूप अनृत तकार अक्षर दोनों ओर से सकार, यकार रूप सत्य से परिगृहीत है अतः वह अकिंचित्कार है। इस कारण से सत्य की ही अधिकता होती है। इस प्रकार इस सम्पूर्ण अक्षर के सत्य बाहुल्य और मृत्युरूप अनृत के अकिञ्चित्करत्व को जो जानता है। उस इस प्रकार जाननेवाले इस उपासक को कभी प्रमाद से बोला हुआ अनृत यानी असत्य नष्ट नहीं करता है। अनृत के विषय में लिखा है– **वितथं त्वनृतं वचः॥** (अमर० कां० १ व० ६ श्लो० २१) वितथ १, अनृत २ ये झूठ के नाम हैं॥२१॥ और **सत्यं तथ्यमृतं सम्यक्॥** (अमर० कां० १ व० ६ श्लो० २२) सत्य १, तथ्य २, ऋत ३, सम्यक् ४ ये सत्य के नाम हैं॥२२॥ इस प्रकार सत्य में हृदयोपासना का प्रतिपादन किया गया॥१॥

तद् यत्तत् सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषः। तावेतावन्योन्यस्मिन्प्रतिष्ठितौ रश्मिभिरेषोऽस्मिन्प्रतिष्ठितः प्राणैरयममुष्मिन्। स यदोत्क्रमिष्यन्भवति शुद्धमेवैतन्मण्डलं पश्यति नैनमेते रश्मयः प्रत्याययन्ति॥२॥

अन्वयार्थ–(तत्) सो (यत्) जो प्रसिद्ध (तत्) वह (सत्यम्) सत्य है (सः) वही (असौ) यह सुप्रसिद्ध (आदित्यः) सूर्य है (यः) जो (एषः) यह (एतस्मिन्) इस (मण्डले) सूर्यमण्डल में (पुरुषः) अधिदैव पुरुष है (च) और (यः) जो (अयम्) यह सुप्रसिद्ध (दक्षिणे) दक्षिण (अक्षन्) नेत्र में (पुरुषः) अध्यात्म पुरुष है (तौ) वे अधिदैवत अध्यात्म (एतौ) ये दोनों (अन्योन्यस्मिन्) एक दूसरे में (प्रतिष्ठितौ) प्रतिष्ठित हैं अर्थात् परस्पर उपकारक हैं (एषः) यह आदित्य पुरुष (रश्मिभिः) किरणों से (अस्मिन्) इस अध्यात्म चाक्षुष पुरुष में (प्रतिष्ठितः) प्रतिष्ठित है तथा (अयम्)

यह चाक्षुष पुरुष (प्राणैः) प्राणों के द्वारा उपकार करता हुआ (अमुष्मिन्) उस अधिदैव आदित्य पुरुष में (प्रतिष्ठितः) प्रतिष्ठित है (सः) वह विद्वान् पुरुष (यदा) जिस उत्क्रान्ति बेला में (उत्क्रमिष्यन्) यहाँ से ऊपर उठने वाला (भवति) होता है उस समय यह उपासक (एतत्) इस द्वारभूत (मण्डलम्) सूर्यमण्डल को (शुद्धम्) शुद्ध (एव) ही (पश्यति) देखता है (एते) ये (रश्मयः) सूर्य की किरणें (एनम्) इस उपासक के नेत्र को (न) नहीं (प्रत्याययन्ति) प्रतिघात करने के लिए समर्थ होती हैं।।२।।

विशेषार्थ– सो जो प्रसिद्ध वह सत्य है वही यह सुप्रसिद्ध आदित्य है। जो यह इस आदित्यमण्डल में अधिदैव पुरुष है। क्योंकि लिखा है– **य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते।।** (छा० उ० प्र० १ खं० ६ श्रु० ६) जो यह सूर्यमण्डल के मध्य में हिरण्मय-रमणीय पुरुष परब्रह्म नारायण योगियों से दिखायी देता है।।६।। और जो यह सुप्रसिद्ध दक्षिण नेत्र में अध्यात्मपुरुष है। क्योंकि लिखा है–**य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते।।** (छा० उ० प्र० १ खं० ७ श्रु० ५) जो यह परब्रह्म नारायण भीतर नेत्र में दिखायी देता है।।५।। वे ये दोनों आदित्यस्थ और नेत्रस्थ पुरुष एक दूसरे में प्रतिष्ठित हैं। अर्थात् आदित्य पुरुष और चाक्षुष पुरुष ये दोनों परस्पर उपकारक हैं। क्योंकि अधिदैवत और अध्यात्म पुरुष एक दूसरे के उपकार्य और उपकारक होते हैं। वे किस प्रकार प्रतिष्ठित होते हैं? सो बतलाया जाता है। यह आदित्य पुरुष किरणों के द्वारा उपकार करता हुआ इस अध्यात्म चाक्षुष पुरुष में प्रतिष्ठित है। यहाँ "रश्मि" शब्द किरण वाचक है। क्योंकि लिखा है– **किरणप्रग्रहौ रश्मी।।** (अमरकोष कां० ३ व० ३ श्लोक १३८) किरण १ तथा लगाम २ वाचक "रश्मि" शब्द है।। १३८।। और यह चाक्षुष पुरुष प्राणों के द्वारा इस आदित्य पुरुष का उपकार करता हुआ इस अधिदैव आदित्य पुरुष में प्रतिष्ठित है। इस प्रकार आदित्यपुरुष और चाक्षुष पुरुष के उपकार्य तथा उपकारभाव का जानने वाला वह विद्वान् जिस उत्क्रान्तिकाल में यहाँ से उत्क्रमण करने लगता है, उस समय वह उपासक मोक्षस्थान के द्वार भूत इस सूर्यमण्डल को शुद्ध ही देखता है। ये सब सूर्य की रश्मियाँ इस उपासक के नेत्र को प्रतिघात करने के लिये नहीं समर्थ होती हैं। सत्योपासकभगवद्रामानुजाचार्यने।। **अन्तर उपपत्तेः।।** (शा० मी० अ० १ पा० २ सू० १३।। **सम्बन्धादेवमन्यत्रापि।।** (शा० मी० अ० ३ पा० ३ सू० २०) **सैव हि सत्यादयः।।** (शा० मी० अ० ३ पा० ३ सू० ३७) इस तीन सूत्रों के श्रीभाष्य में "बृहदारण्यकोपनिषद्" के पञ्चम अध्याय के पञ्चमब्राह्मण की द्वितीय कण्डिका के पदों को उद्धृत किया है।।२।।

य एषं एतस्मिन्मण्डले पुरुषस्तस्य भूरिति शिरः। एकं

शिर एकमेतदक्षरम्। भुव इति बाहू। द्वौ बाहू द्वे एते अक्षरे। स्वरिति प्रतिष्ठा। द्वे प्रतिष्ठे द्वे एते अक्षरे तस्योपनिषदहरिति। हन्ति पाप्मानं जहाति च य एवं वेद॥३॥

अन्वयार्थ–(एतस्मिन्) इस (मण्डले) सूर्यमण्डल में (यः) जो (एषः) यह वर्तमान (पुरुषः) पुरुष है (तस्य) उस सत्य पुरुष का (भूः) भूः (इति) यह व्याहृति (शिरः) शिर है क्योंकि (एकम्) एक ही (शिरः) शिर होता है और (एतत्) भूः यह भी (एकम्) एक (अक्षरम्) अक्षर है (भुवः) भुवः (इति) यह व्याहृति (बाहू) सत्य पुरुष की दो भुजाएँ हैं क्योंकि (द्वौ) दो (बाहू) बाहु होते हैं और (एते) ये भुवः व्याहृति भी (द्वे) दो (अक्षरे) अक्षर हैं और (स्वः) सुवः (इति) यह व्याहृति (प्रतिष्ठा) सत्य पुरुष के पैर हैं क्योंकि (द्वे) दो (प्रतिष्ठे) पैर होते हैं और (एते) ये स्वः यानी सुवः व्याहृति भी (द्वे) दो (अक्षरे) अक्षर हैं (तस्य) उस आदित्यमण्डलान्तर्वर्ती पुरुष के (अहः) अहः (इति) यह (उपनिषद्) सत्य पुरुष का रहस्य नाम है (यः) जो कोई उपासक (एवम्) इस प्रकार अहः शब्द को हन और हा धातु से सिद्ध (वेद) जानता है वह उपासक (पाप्मानम्) पाप को (हन्ति) मारता है (च) और (जहाति) पापको छोड़ देता है॥३॥

विशेषार्थ– अब व्याहृतिशरीरक सत्य परब्रह्म नारायण की उपासना कही जाती है कि– इस आदित्यमण्डल में जो कि वर्तमान यह सत्य पुरुष परब्रह्म नारायण है उसका अवयव व्याहृतियाँ हैं। किस प्रकार सो आगे बतलाया जाता है। उस सत्य पुरुष नारायण के "भूः" यह व्याहृति शिर है। उनकी समानता श्रुति स्वयं ही बताती है– शिर भी एक ही होता है और "भूः" यह भी एक ही अक्षर है। और दो होने में समानता होने के कारण "भुवः" यह व्याहृति उस सत्य पुरुष नारायण की भुजा है। दो भुजाएँ हैं और दो ही "भुवः" ये अक्षर हैं। तथा "स्वः" यानी "सुवः" यह व्याहृति उस सत्य पुरुष के चरण हैं। क्योंकि चरण दो होते हैं और इसी प्रकार दो ही "स्वः" यानी "सुवः" ये अक्षर हैं। "स्व" यह "सुवः" के आकार में आ जाता है अतः इसको दो अक्षर कहे हैं। अथवा इसी अध्याय के पञ्चम ब्राह्मण में लिखा है॥ त्र्यक्षरं सत्यमिति॥ (बृ० उ० अ० ५ ब्रा० ५ क० १॥ तीन अक्षरवाला सत्य यह शब्द है॥१॥ अर्थात् जैसे "सत्य" शब्द में "स + त् + य" ये तीन अक्षर हैं वैसे ही "स्वः" व्याहृति में "स्+वः" ये दो अक्षर हैं। दोनों चरणों से पुरुष प्रतिष्ठित होता है। इससे

प्रतिष्ठा पैरों को कहते हैं। व्याहृति के विषय में लिखा है।। **स एतां त्रयीं विद्यामभ्यतपत्। तस्यास्तप्यमानाया रसान्प्राबृहत्। भूरित्यृग्भ्यो भुवरिति यजुर्भ्यः स्वरिति सामभ्यः।।** (छा० उ० प्राप० ४ खं० १७ श्रु० ३।। उस प्रजाओं के रक्षक परब्रह्म नारायण ने सार ग्रहण करने की इच्छा से इस ऋक्, यजुः साम रूपी त्रयी विद्या का उद्देश्य करके ज्ञान का पर्यालोचन रूप तप किया। ज्ञान से पर्यालोचन की हुई उस ऋग्यजुः सामरूप त्रयीविद्या के सारों को प्रजापति ने ग्रहण किया। ऋग्वेद से सार रूप "भूः" यह व्याहृति उत्पन्न हुई तथा यजुर्वेद से "भुवः" यह व्याहृति उत्पन्न हुई और सामवेद से "स्वः" यह व्याहृति उत्पन्न हुई।।३।। **तान्वेदानभ्यतपत् तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रीणि शुक्राण्यजायन्त भूरित्येव ऋग्वेदानभ्यतपत् तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रीणि शुक्राण्यजायन्त। भूरित्येव- ऋग्वेदादजायत भुव इति यजुर्वेदात्स्वरिति सामवेदात्।।** ऐत० ब्रा ५। ५। ३२।। प्रजापति ने उन तीन ऋग्यजुः सामवेदों को भलीभाँति तपाया। उस अभितप्त तीन वेदों से तीन शुक्र निर्मल वस्तुएँ उत्पन्न हुईं। ऋग्वेद से "भूः" यह उत्पन्न हुआ तथा यजुर्वेद से "भुवः" यह उत्पन्न हुआ। और सामवेद से "स्वः" यह उत्पन्न हुआ।।३२।। **वेदत्रयान्निरदुहद्भूर्भुवःस्वरितीतिच।।** मनु अ० २ श्लो० ७६।। प्रजापति ने ऋग्वेद से "भूः" व्याहृति को तथा यजुर्वेद से "भुवः" व्याहृति को और सामवेद से "स्वः" व्याहृति को दुहा।।७६।। **भूर्भुवः सुवरिति वा एतास्तिस्रो व्याहृतयः। भूरिति वा अयंलोकः। भुव इत्यन्तरिक्षम्। सुवरित्यसौ लोकः।।** तैत्ति० उ० व० १ अनु० ५ श्रु० १।। "भूः" "भुवः" "स्वः" ये तीन मन्वादि धर्मशास्त्र में प्रसिद्ध व्याहृतियाँ हैं। "भूः" यह व्याहृति निश्चय करके यह पृथ्वी लोक है। तथा "भुवः" यह व्याहृति अन्तरिक्षलोक है। और "स्वः" यह व्याहृति वह प्रसिद्ध स्वर्गलोक है।।१।। **भूरिति वा अग्निः। भुव इति वायुः। सुवरित्यादित्यः भूरिति वा ऋचः। भुव इति सामानि। सुवरिति यजूंषि।।** तैत्ति० उ० व० १ अनु० ५ श्रु० २।। "भूः" यह व्याहृति निश्चय करके अग्नि है। तथा "भुवः" यह व्याहृति वायु है। और "स्वः" यह व्याहृति सूर्य है। "भूः" यह व्याहृति निश्चय करके ऋग्वेद है। तथा "भुवः" यह व्याहृति सामवेद है। और "स्वः" यह व्याहृति यजुर्वेद है।।२।। **भूरिति वै प्राणः। भुव इत्यपानः। सुवरिति व्यानः।।** तैत्ति० उ० व० १ अनु० ५ श्रु० ३।। "भूः" यह व्याहृति निश्चय करके प्राण है। तथा "भुवः" यह व्याहृति अपान है। और "स्वः" यह व्याहृति व्यान है।।३।। इस प्रकार ये तीन व्याहृतियाँ अनेक भावों के बोधक हैं। उस आदित्य मण्डलान्तवर्ती पुरुष का उपनिषद् यानी रहस्य- गूढ नाम "अहः" यह है। नारायण का "अहः" भी नाम है। क्योंकि लिखा है।। **अहः संवत्सरो व्यालः प्रत्ययः सर्वदर्शनः।।** महाभार० अनुशास० विष्णुसहस्र० श्लो०।।२३।। अहः १, संवत्सर २, व्याल ३, प्रत्यय ४, सर्वदर्शन

५, ये विष्णु भगवान् के नाम हैं।।२३।। जैसे दिन अन्धकार का नाश कर प्रकाश देता है, वैसे ही परब्रह्म नारायण, अज्ञान रूपी अन्धकार का नाशकर ज्ञान रूपी प्रकाश देते हैं। इस कारण से परमात्मा का रहस्य नाम "अहः" है। अब आगे फल बतलाया जाता है कि– जो कोई उपासक "अहः" इस नाम को "हन् हिंसागत्योः" और "ओहाक् त्यागे" इन धातुओं से निष्पन्न जानता है अर्थात् "अहः" संज्ञक नारायण की उपासना करता है वह उपासक पाप को मारता है और पाप को त्याग देता है। सर्वोपासनामर्मवेत्ता भगवद्रामानुजाचार्यने।। सम्बन्धादेवमन्यत्रापि।। शा० मी० अ० ३ पा० ३ सू० २०।। सैव हि सत्यादयः।। शा० मी० अ० ३ पा० ३ सू० ३७।। इन दोनों सूत्रों के श्रीभाष्य में "बृहदारण्यकोपनिषद्" के पञ्चम अध्याय के पञ्चम ब्राह्मण की तृतीय कण्डिका के पदों को उद्धृत किया है।।३।।

योऽयं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषस्तस्य भूरिति शिर एकं शिरएकमेतदक्षरं भुव इति बाहू द्वौ बाहू द्वे एते अक्षरे स्वरितिप्रतिष्ठा द्वे प्रतिष्ठे द्वे एते अक्षरे तस्योपनिषदहमिति हन्ति पाप्मानं जहाति च य एवं वेद।।४।।

।। इति पञ्चमाध्याये पञ्चमं ब्राह्मणम् ।।

अन्वयार्थ– (यः) जो (अयम्) यह (दक्षिणे) दक्षिण (अक्षन्) नेत्र में (पुरुषः) पुरुष है (तस्य) उस सत्य पुरुष के (भूः) भूः (इति) यह व्याहृति (शिरः) शिर है क्योंकि (एकम्) एक ही (शिरः) सिर होता है और (एतत्) भूः यह भी (एकम्) एक (अक्षरम्) अक्षर है (भुवः) भुवः (इति) यह व्याहृति (बाहू) दक्षिणनेत्रस्थ पुरुष की दो भुजाएँ हैं क्योंकि (द्वौ) दो (बाहू) हाथ होतें हैं और (एते) ये (भुवः) व्याहृति भी (द्वे) दो (अक्षरे) अक्षर हैं और (स्वः) सुवः (इति) यह व्याहृति (प्रतिष्ठा) चाक्षुष पुरुष के पैर हैं क्योंकि (द्वे) दो (प्रतिष्ठे) पैर होते हैं और (एते) ये स्वः यानी सुवः व्याहृति भी (द्वे) दो (अक्षरे) अक्षर है (तस्य) उस दक्षिणनेत्रस्थ पुरुष के (अहम्) अहम् (इति) यह (उपनिषद्) रहस्य नाम है (यः) जो कोई उपासक (एवम्) इस प्रकार अहम् नाम को हन और हा धातु से सिद्ध (वेद) जानता है वह उपासक (पाप्मानम्) पापको (हन्ति) मारता है (च) और (जहाति) पापको छोड़ देता है।।४।।

विशेषार्थ— अब व्याहृतिशरीरक दक्षिणनेत्रान्तर्वर्ती नारायण की उपासना कही जाती है कि—इस दक्षिणनेत्र में जो कि वर्तमान यह सत्य पुरुष परब्रह्म नारायण है, उनका अवयव व्याहृतियाँ हैं। किस प्रकार सो आगे बतलाया जाता है। उस दक्षिणनेत्रस्थ पुरुष का "भू:" यह व्याहृति शिर है। उनकी समानता श्रुति स्वयं ही बताती है— सिर भी एक ही होता है और "भू:" यह भी एक ही अक्षर है। और दो होने में समानता होने के कारण "भुव:" यह व्याहृति उस चाक्षुष पुरुष की भुजाएँ है। दो भुजाएँ हैं और दो ही "भुव:" ये अक्षर हैं। तथा "स्व:" यानी "सुव:" यह व्याहृति उस दक्षिणनेत्रस्थ पुरुष के चरण हैं। क्योंकि चरण दो होते हैं और इसी प्रकार दो ही "स्व:" यानी "सुव:" ये अक्षर हैं। "स्व:" यह "सुव:" के आकार में आ जाता है। अत: इसको दो अक्षर कहे हैं अथवा जैसे "सत्य" शब्द में "स + त् + यँ" ये तीन अक्षर माने गये हैं, वैसे ही "स्व:" व्याहृति में "स् +व:" ये दो अक्षर माने गये हैं। दोनों चरणों से पुरुष प्रतिष्ठित होता है। इससे पैरों को "प्रतिष्ठा" कहते हैं। और उस दक्षिणनेत्रान्तर्वर्ती पुरुष का उपनिषद् यानी रहस्य गूढनाम "अहम्" यह है। अब आगे इस उपासना का फल बतलाया जाता है कि— जो कोई उपासक "अहम्" इस रहस्य नाम को हिंसार्थक "हन" धातु से और त्यागार्थक "हा" धातु से सिद्ध जानता है। अर्थात् "अहम्" संज्ञक नारायण की उपासना करता है वह उपासक पाप को मारता है और पाप को छोड़ देता है। समदर्शी भगवद्रामानुजाचार्यने।। **सम्बन्धादेवमन्यत्रापि**।। शा० मी० अ० ३ पा० ३ सू० २०।। **सैव हि सत्यादय:**।। शा० मी० अ० ३ पा० ३ सू ३७।। इन दोनों सूत्रों के श्रीभाष्य में "बृहदारण्यकोपनिषद्" के पञ्चम अध्याय के पञ्चम ब्राह्मण की चतुर्थ कण्डिका के पदों को उद्धृत किया है। यहाँ पर "बृहदारण्यकोपनिषद्" के पञ्चम अध्याय का पञ्चम सत्यब्रह्मसंस्थानब्राह्मण समाप्त हो गया।।४।।

।। अथ षष्ठं ब्राह्मणम् ।।

मनोमयोऽयं पुरुषो भा: सत्यम्। तस्मिन्नन्तर्हृदये यथा व्रीहि र्वा यवो वा। स एष सर्वस्येशान: सर्वस्याधिपति: सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किञ्च।।१।।

।। इति पञ्चमाध्याये षष्ठं ब्राह्मणम् ।।

अन्वयार्थ— (मनोमय:) विशुद्ध मन से ग्रहण करने योग्य (अयम्) यह (पुरुष:) पुरुष—परब्रह्म नारायण (भा:) भास्वररूप (सत्यम्) देहादि के विनाशहोने पर भी

निर्विकार है वह (तस्मिन्) उस (अन्तर्हृदये) हृदय के मध्य में (यथा) जैसा (व्रीहि:) व्रीहि, धान (वा) अथवा (यव:) जौ अन्न होता है (वा) निश्चय करके उतने ही परिमाण वाला है (स:) वह हृदयान्तर्यामी (एष:) यह परमात्मा (सर्वस्य) समस्त स्थावर जङ्गम संसार के (ईशान:) स्वामी है और (सर्वस्य) सब संसार के (अधिपति:) अधिक पालन करनेवाला है तथा (इदम्) ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त यह (यत्) जो (किं + च) कुछ भी जगत् है (इदम्) इस (सर्वम्) भोक्तृभोग्य रूप सब जगत् को (प्रशास्ति) प्रकर्षरूप से शासन करता है॥१॥

विशेषार्थ— उपासक जन विशुद्ध मन से इस परमात्मा को उपलब्ध करते हैं, इसलिये यह पुरुष मनोमय है। और यह परब्रह्म नारायण भास्वरस्वरूप तथा शरीरादि के ध्वंस होने पर भी सत्य यानी निर्विकार है। क्योंकि लिखा है॥ **स आत्मानमुपासीत मनोमयं प्राणशरीरं भारूपं सत्यसंकल्पमाकाशमात्मानम्॥** शतपथब्रा॰ ।१०।६।३।२॥ वह उपासक विशुद्ध मन से ग्रहण करने योग्य, प्राणशरीर वाला, दीप्ति स्वरूप, सत्य संकल्प, सब को अवकाश देने वाला, अपरिच्छिन्न परमात्मा, परब्रह्म नारायण की उपासना करे॥ २॥ वह परब्रह्म नारायण हृदय के अन्तर्गत जैसा व्रीहि धान या जौ अन्न होता है उतने ही परिमाण वाला विद्यमान है। व्रीहि के विषय में लिखा है॥ आशुर्व्रीहि: पाटल: स्यात्॥ अमर॰ कां॰ २ व॰ ९ श्लो॰ १५॥ आशु १, व्रीहि २, पाटल ३, ये साठी धान के नाम हैं॥ १५॥ अथवा॥ **धान्यं व्रीहि: स्तम्बकरि:॥** अमर॰ कां॰ २ व॰ ९ श्लो॰ २१॥ धान्य १, व्रीहि २, स्तम्बकरि ३, ये धान्यमात्र के नाम हैं॥ २१॥ और यव के विषय में लिखा है॥ **शितशूकयवौ समौ॥** अमर॰ कां॰ २ व॰ ९ श्लो॰ १५॥ शितशूक १, यव २ ये जौ के नाम हैं॥१५॥ अर्थात् हृदय निबन्धनस्वल्प परिमाण वाला परमात्मा है। यह अन्तर्हृदय में योगियों द्वारा देखा जाता है। वह ये नारायण भगवान् सब संसार के स्वामी हैं और समस्त स्थावर जङ्गम स्वरूप संसार के अधिक रक्षा करनेवाले हैं तथा ब्रह्मा से स्तम्बपर्यन्त यह जो कुछ भी जडच्चेतनात्मक जगत् है, इस भोक्तृ भोग्य रूप संपूर्ण जगत् को प्रकर्षरूप से शासन करते हैं। इस श्रुति में परब्रह्म नारायण का नियन्तृत्व, धारकत्व और और शेषित्व प्रतिपादन किया गया है । जगदाचार्य भगवद्रामानुजाचार्यने॥ **समान एवं चाभेदात्॥** शा॰ मी॰ अ॰ ३ पा॰ ३ सू १९॥ के श्रीभाष्य में "बृहदारण्यकोपनिषद्" के पञ्चम अध्याय के षष्ठ ब्राह्मण की प्रथम कण्डिका को उद्धृत किया है। यहाँ पर "बृहदारण्यकोपनिषद्" के पञ्चम अध्याय का षष्ठ मनोमय ब्राह्मण समाप्त हो गया॥१॥

॥ अथ सप्तमं ब्राह्मणम् ॥

विद्युत् ब्रह्मेत्याहु:। विदानाद् विद्युत्। विद्यत्येनं पाप्मनो

य एवं वेद विद्युद् ब्रह्मेति विद्युद्ध्येव ब्रह्म॥१॥

॥ इति पञ्चमाध्याये सप्तमं ब्राह्मणम् ॥

अन्वयार्थ – (विद्युत्) बिजली (ब्रह्म) ब्रह्म है (इति) ऐसा (आहुः) कुछ लोग कहते हैं (विदानात्) मेघ के अन्धकार को विशेष रूप से खण्डन करने से (विद्युत्) विद्युत् है (यः) जो उपासक (एवम्) इस प्रकार (विद्युत्) बिजली (ब्रह्म) ब्रह्म है (इति) ऐसा (वेद) जानता है वह (एनम्) इस आत्मा के प्रतिकूलभूत (पाप्मनः) समस्त पापों को (विद्यति) विशेष रूप से खण्डन कर देता है (हि) क्योंकि (विद्युत्) विद्युत् (एव) ही (ब्रह्म) परब्रह्म नारायण है॥१॥

विशेषार्थ– विद्युत् परब्रह्म है ऐसा कुछ उपासक लोग कहते हैं। अर्थात् विद्युत में परब्रह्म नारायण की दृष्टि करनी चाहिये ऐसा कुछ लोग कहते हैं। विद्युत् के विषय में लिखा है– **तडित्सौदामनी विद्युच्च ञ्चला चपला अपि॥** (अमर० कां० १ व० ३ श्लो० ९) तडित् १, सौदामनी २, विद्युत् ३, चञ्चला ४, चपला ५ ये बिजली के नाम हैं॥९॥ अब विद्युत् में ब्रह्मध्यान हेतुभूत सादृश्य बतलाया जाता है। मेघ के अन्धकार को विशेष रूप से विनाश करने से यह विद्युत् है। और परब्रह्म नारायण अज्ञान लक्षण अन्धकार को विनाश करता है इससे दोनों में समानता है। वि पूर्वक अखण्डनार्थक 'दो'' धातु से ''विद्युत्'' शब्द सिद्ध किया गया है। जो कोई उपासक ऐसे गुणवाले विद्युत् ब्रह्म को ऐसा जानता है। अर्थात् उपासना करता है वह, इस आत्मा के प्रतिकूल भूत जितने पाप हैं उन सबों को विशेष रूप से खण्डन कर देता है। क्योंकि अज्ञान लक्षण अन्धकार के विनाश करने से विद्युत् ही परब्रह्म नारायण है। यहाँ पर ''बृहदारण्यकोपनिषद्'' के पञ्चम अध्याय का सप्तम विद्युद्ब्राह्मण समाप्त हो गया॥१॥

॥ अथाष्टमं ब्राह्मणम्॥

वाचं धेनुमुपासीत। तस्याश्चत्वारः स्तनाः स्वाहाकारो वषट्कारो हन्तकारः स्वधाकारस्तस्यै द्वौ स्तनौ देवा उपजीवन्ति स्वाहाकारं च वषट्कारं च। हन्तकारं मनुष्याः। स्वधाकारं पितरः। तस्याः प्राण ऋषभः। मनो वत्सः॥१॥

॥ इति पञ्चमाध्यायेऽष्टमं ब्राह्मणम् ॥

अन्वयार्थ– (वाचम्) त्रयीलक्षणा वाणी को (धेनुम्) नई ब्यायी हुई दुग्ध देनेवाली गौ के समान (उपासीत्) उपासना करे (तस्याः) उस वाग्धेनु के (चत्वारः) चार (स्तनाः) पयोधर हैं। वे ये हैं (स्वाहाकारः) स्वाहाकार (वषट्कारः) वषट्कार (हन्तकारः) हन्तकार (स्वधाकारः) और स्वधाकार (तस्यै) उस वाणीरूपा धेनु के (द्वौ) दो (स्तनौ) स्तन (स्वाहाकारम्) स्वाहाकर (च) और (वषट्कारम्) वषट्कार को (उप) समीप में आश्रय करके (देवाः) देवगण (जीवन्ति) जीते हैं क्योंकि स्वाहा और वषट् शब्द उच्चारण करके देवों को हवि दी जाती है (च) और (मनुष्याः) मुनष्यगण (हन्तकारम्) हन्तकार स्तन के आश्रय से जीते हैं क्योंकि हन्त ऐसा कहकर मनुष्यों को अन्न देते हैं और (पितरः) पितृगण (स्वधाकारम्) स्वधाकार स्तन के आश्रय से जीते हैं क्योंकि स्वधा शब्द उच्चारण करके पितृगण को श्राद्धीय वस्तु देते हैं (तस्याः) उस वाग्धेनु के (प्राणः) प्राण (ऋषभः) वृषभ है क्योंकि प्राण के द्वारा ही वाक् प्रसव करती है और (मनः) मन (वत्सः) बछड़ा है क्योंकि मन से ही वह प्रस्रवित होती है यानी पिन्हाती है।।१।।

विशेषार्थ–अब अन्य उपसना आरम्भ की जाती है कि–ऋग्यजुः और साम रूपा त्रयीलक्षणा वाणी को नई ब्यायी हुई दूध देनेवाली गौ के समान उपसाना करे। नई ब्यायी हुई गौ का नाम धेनु है। क्योंकि लिखा है–**धेनुःस्यान्नवसूतिका।** (अमर० कां० २ व० ९ श्लो० ७१) धेनु १, नवसूतिका २ ये नई ब्यायी हुई गाय के नाम हैं । ७१।। जैसे गाय के चार स्तन होते हैं वैसे हीवाग्धेनु के स्वाहाकार १, वषट्कार २, हन्तकार ३ और स्वधाकार ४ ये चार स्तन हैं। उस वाग्धेनु के दो स्तन स्वाहाकार और वषट्कार के आश्रय से ब्रह्मा आदिक देवता लोग जीते हैं। क्योंकि स्वाहा और वषट् शब्द उच्चारण करके देवताओं को हवि दी जाती है। क्योंकि लिखा है–**स्वाहा देवहविर्दाने श्रौषट् वौषट् स्वधा।।** (अमरकोष कां० ३ व० ४ श्लो० ८) स्वाहा १, श्रौषट् २, वौषट् ३, वषट् ४ ये अव्यय शब्द देवताओं के हव्य देने में उपयोगी हैं और स्वधा १, शब्द पितरों के हवि देने में प्रसिद्ध है।।८।। तथा वाग्धेनु के हन्तकार स्तन के आश्रय से मनुष्यगण जीते हैं। क्योंकि हन्त यह शब्द कहकर मनुष्यों को अन्न देते हैं। हन्त के विषय में लिखा है–**हन्त हर्षेऽनुकम्पायां वाक्यारम्भविषादयोः।।** (अमर० कां० ३ व० ३ श्लोक २४४) हर्ष १, दया २, वाक्यारम्भ ३ तथा विषाद में हन्त शब्द का प्रयोग होता है।।२४४।। और वाग्धेनु के स्वधा शब्द उच्चारण करके अर्यमा आदिक पितृगण को श्राद्धीय वस्तु देते हैं। और उस वाणी रूपा धेनु का प्राण वृषभ है। क्योंकि प्राण के द्वारा ही वाक् प्रसव करती है। यहाँ ''ऋषभ'' शब्द वृषभ वाचक है। क्योंकि लिखा है– **उक्षा भद्रो बलीवर्द ऋषभो वृषभो वृषः।।** (अमर० कां० २ व० ९ श्लो०

५९) उक्षन् १, भद्र २, बलीवर्द ३, ऋषभ ४, वृषभ ५, वृष ६ ये बैल के नाम हैं।।५९।। तथा वाग्धेनु का मन बछड़ा है। क्योंकि मन से ही वह प्रस्रवित होती है यानी पिन्हाती है। मन से आलोचना किये हुए विषय में ही वाणी की प्रवृत्ति होती है, इसलिये मन वत्स-स्थानीय है। इस श्रुति में "वत्स" शब्द बछड़ा वाचक है। क्योंकि लिखा है–**शकृत्करिस्तु वत्सःस्यात्॥** (अमर० कां० २ व० ९ श्लो० ६२) शकृत्करि १, वत्स २, ये बछड़े के नाम हैं।।६२।। यहाँ पर "बृहदारण्यकोपनिषद्" के पञ्चम अध्याय का अष्टम वाग्धेनुब्राह्मण समाप्त हो गया।।१।।

॥ अथ नवमं ब्राह्मणम् ॥

अयमग्नि वैंश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे। येनेदमन्नं पच्यते यदिदमद्यते। तस्यैष घोषो भवति यमेतत् कर्णावपिधाय शृणोति। स यदोत्क्रमिष्यन् भवति नैनं घोषं शृणोति॥१॥

॥ इति पञ्चमाध्याये नवमं ब्राह्मणम् ॥

अन्वयार्थ- (अयम्) यह (अग्निः) अग्नि (वैश्वानरः) वैश्वानर संज्ञक है (यः) जो (अयम्) यह (पुरुषे) मानव में (अन्तः) भीतर विद्यमान है (येन) जिस वैश्वानर संज्ञक अग्नि से (इदम्) यह भुज्यमान (अन्नम्) अन्न (पच्यते) पचता है (यत्) जो (इदम्) यह अन्न (अद्यते) प्रजाओं द्वारा भक्षण किया जाता है (तस्य) उस वैश्वानर अग्नि का (एषः) यह (घोषः) महाशब्द देह में (भवति) होता है (यम्) जिस घोष को (एतत्) इस समय (कर्णौ) दोनों कानों को (अपिधाय) दोनों अंगुलियों से मूंद कर (शृणोति) मनुष्य सुनता है (सः) वह भोक्ता पुरुष (यदा) जिस समय (उत्क्रमिष्यन्) उत्क्रमण करनेवाला (भवति) होता है उस समय (एनम्) इस (घोषम्) महाशब्द को (न) नहीं (शृणोति) मनुष्य सुनता है, इसलिये तादृश वैश्वानर अग्नि में ब्रह्मदृष्टि करनी चाहिये ।।१।।

विशेषार्थ– यह अग्नि वैश्वानर संज्ञक है । वह अग्नि कौन सी है ? इस पर साक्षात् श्रुति कहती है कि– जो यह अग्नि सब शरीर के भीतर विद्यमान है । जिस वैश्वानर संज्ञक अग्नि से यह भक्षित अन्न पच जाता है । जो यह अन्न प्रजाओं द्वारा खाया जाता है । अन्न के विषय में लिखा गया है– अद्यते अत्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यत इति ।। (तैत्ति० उ० व० २ अनु० २ श्रु० १) वह जीवनदशा में प्राणियों करके भक्षण किया जाता है और सब प्राणियों को स्वयं भी नाश दशा में खाता है, उससे अन्न इस नाम से कहा जाता है ।।१।। उस वैश्वानर अग्नि का यह महाशब्द भी इस

देह में हुआ करता है ॥१॥ वह कौन सा शब्द है ? सो आगे बतलाया जाता है । जिस महाशब्द को आजकल भी मनुष्य अपने हाथ के अंगूठें से दोनों कानों को बन्द करके सुनता है । वह पुरुष जब मरने पर होता है तब जाठराग्नि के अभाव होने से इस महाशब्द को नहीं सुनता है । इसलिये तादृश अग्नि में परब्रह्म दृष्टि करनी चाहिये । यतिसार्वभौम भगवद्रामानुजाचार्य ने वैश्वानरस्साधारणशब्दविशेषात् ॥ शा० मी० अ० १पा० २ सू० ॥२५॥ के श्रीभाष्य में "बृहदारण्यकोपनिषद्" के पञ्चम अध्याय के नवम ब्राह्मण की प्रथम कण्डिका को उद्धृत किया है । यहाँ पर "बृहदारण्यकोपनिषद्" के पञ्चम अध्याय का नवम वैश्वानराग्निब्राह्मण समाप्त हो गया ॥१॥

॥ अथ दशमं ब्राह्मणम् ॥

यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात्प्रैति स वायुमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा रथचक्रस्य खं तेन स ऊर्ध्वमाक्रमते स आदित्यमागच्छति । तस्मै स तत्र विजिहीते यथा लम्बरस्य खं तेन स ऊर्ध्वमाक्रमते स चन्द्रमसमागच्छति । तस्मै स तत्र विजिहीते यथा दुन्दुभेः खं तेन स ऊर्ध्वमाक्रमते स ब्रह्मलोकमागच्छत्यशोकमहिमं तस्मिन् वसति शाश्वतीः समाः ॥१॥

॥ इति पञ्चमाध्याये दशमं ब्राह्मणम् ॥

अन्वयार्थ- (यदा) जिस समय (वै) निश्चय करके (पुरुषः) ब्रह्मवेत्ता पुरुष (अस्मात्) इस (लोकात्) लोक से (प्रैति) मरकर प्रस्थान करता है उस समय (सः) वह ब्रह्मोपासक अर्चिः, दिन, शुक्लपक्ष, उत्तरायण संवत्सर के द्वारा (वायुम्) वायु को (आगच्छति) प्राप्त करता है (सः) वह वायु (तत्र) वहाँ देवलोक में प्राप्त हुए (तस्मै) उस ब्रह्मवेत्ता उपासक के लिये (विजिहीते) अपने अवयवों को छिद्रयुक्त कर देती है (यथा) जैसे कि (रथचक्रस्य) रथ के पहिये का (खम्) छिद्र होता है (तेन) उस छिद्र से (सः) वह ब्रह्मवेत्ता उपासक (ऊर्ध्वम्) ऊपर (आक्रमते) चढ़ता है तब (सः) वह उपासक (आदित्यम्) सूर्य को (आगच्छति) प्राप्त करता है । आदित्य ब्रह्म लोक को जाने वाले का मार्ग रोक कर स्थित है तौ भी (सः) वह सूर्य (तत्र) वहाँ आदित्य लोक में प्राप्त हुए (तस्मै) इस प्रकार जानने वाले उस भगवदुपासक

के लिये (विजिहीते) अपने मण्डल को छिद्रयुक्त कर देता है (यथा) जैसा कि (लम्बरस्य) लम्बर नामक वाद्य विशेष का (खम्) छिद्र होता है (तेन) उस छिद्र से (सः) वह भगवदुपासक (ऊर्ध्वम्) ऊपर (आक्रमते) चढ़ता है तब (सः) वह उपासक (चन्द्रमसम्) चन्द्रमा को (आगच्छति) प्राप्त करता है (सः) वह चन्द्रमा (तत्र) वहाँ चन्द्रलोक में प्राप्त हुए (तस्मै) उस भगवदुपासक के लिये (विजिहीते) अपने को छिद्रयुक्त कर देता है (यथा) जैसा कि (दुन्दुभेः) नगाड़ा बाजे का (खम्) छिद्र होता है (तेन) उस छिद्र से (सः) वह ब्रह्मवेत्ता उपासक (ऊर्ध्वम्) ऊपर (आक्रमते) चढ़ता है तब (सः) वह भगवदुपासक वैद्युतपुरुष, वरुण, इन्द्र प्रजापति को अतिक्रमण करके (अशोकम्) पुत्रादिमरणशोक रहित और (अहिमम्) आधि दैविक हिमादि दुःख से रहित (ब्रह्मलोकम्) ब्रह्मलोक को (आगच्छति) प्राप्त करता है तथा (तस्मिन्) उस ब्रह्मलोक में (शाश्वतीः) निरन्तर– अनन्त (समाः) वर्षों तक (वसति) निवास करता है ॥१॥

विशेषार्थ – उत्क्रान्ति के प्रसङ्ग से अब ब्रह्मवेत्ताओं की गति को बतलाया जाता है कि– निश्चय करके जब ब्रह्मवेत्ता पुरुष इस लोक से मरकर जाता है तब वह भगवदुपासक अर्चिः १, दिन २, शुक्लपक्ष ३, उत्तरायण ४, संवत्सर ५, के अभिमानी देवताओं के द्वारा वायुदेव ६, को प्राप्त करता है। वह वायु वहाँ देवलोक में प्राप्त हुए उस ब्रह्मवेत्ता उपासक के लिये अपने को छिद्र युक्त कर देती है। कितना बड़ा छिद्र करती है सो आगे बतलाया जाता है। रथचक्रमध्यवर्ती छिद्र के समान परिमाणवाला छिद्र कर देती है। उस रन्ध्र से वह भगवदुपासक ऊपर चढ़ता है। तब वह ब्रह्मवेत्ता आदित्य ७ को प्राप्त करता है। आदित्य, ब्रह्मलोक को जाने वाले का मार्ग रोक कर स्थित है। वह आदित्य वहाँ आदित्यलोक में प्राप्त हुए उस ब्रह्मवेत्ता उपासक के लिये अपने सूर्यमण्डल को छिद्रयुक्त कर देता है। कितना बड़ा छिद्र करता है सो आगे बतलाया जाता है। जैसा कि लम्बर नामक बाजे के छिद्र का परिमाण होता है वैसा ही अपने में छिद्र कर देता है। उस छिद्र से वह उपासक ऊपर चढ़ता है। तब वह ब्रह्मवेत्ता चन्द्रमा ८ को प्राप्त करता है। वह चन्द्रमा वहाँ चन्द्रलोक में प्राप्त हुए उस ब्रह्मवेत्ता उपासक के लिए अपने को छिद्रयुक्त कर देता है। कितना बड़ा छिद्र करता है सो आगे बतलाया जाता है कि दुन्दुभि यानी नगाड़ा बाजे के छिद्र का जो परिमाण होता है वैसा ही अपने में छिद्र कर देता है। उस छिद्र के द्वारा वह ब्रह्मवेत्ता भगवदुपासक ऊपर की ओर चढ़ता है। तब वह उपासक वैद्युत पुरुष ९, वरुण १०, इन्द्र, ११ और प्रजापति १२, को अतिक्रमण करके पुत्रादिमरणशोक शून्य और आधिदैविक हिमादिदुःख से रहित परब्रह्म नारायण के लोक १३ को प्राप्त

करता है । और वह ब्रह्मवेत्ता भगवदुपासक उस ब्रह्मलोक में निरन्तर अनन्त वर्षों तक निवास करता है । यहाँ "शाश्वत" शब्द नित्य वाचक है । क्योंकि लिखा है ॥ **शाश्वतस्तु ध्रुवो नित्यसदातनसनातनाः ॥** अमर० कां० ३ व० १ श्लो० ७२ ॥ शाश्वत १, ध्रुव २, नित्य ३, सदातन ४ सनातन ५ ये नित्य के नाम हैं ॥७२॥ और अन्यत्र लिखा है ॥ **अर्चिषमेवाभिसंभवन्ति ।अर्चिषो ऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान् षडुदङ्ङेति मासाँस्तान्मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एतान् ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते नावर्तन्ते ॥** छां उ० प्रपा० ४ खं० १५ श्रु० ५) ब्रह्मवेत्ता पुरुष अर्चि अभिमानी देवता को ही प्राप्त होते हैं । फिर अर्चि अभिमानी देवता से दिवसाभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं और दिवसाभिमानी देवता से शुक्लपक्षाभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं । तथा शुक्लपक्षाभिमानी देवता से जिन छः मासों को उत्तर दिशा में सूर्य प्राप्त होता है उन उत्तरायणाभिमानी देवताओं को प्राप्त होते हैं । और उत्तरायण के छः मासों के अभिमानी देवताओं से संवत्सराभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं। तथा संवंत्सरभिमानी देवता से वायुलोक होते हुए आदित्याभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं । और आदित्याभिमानीदेवता से चन्द्राभिमानीदेवता को प्राप्त होते हैं । तथा चन्द्राभिमानी देवता से विद्युत् के अभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं । विद्युत् के अभिमानी देवता से वरुण, इन्द्र, प्रजापति के लोक होते हुए इन ब्रह्मवेत्ता पुरुषों को वह अमानवपुरुष परब्रह्म नारायण को प्राप्त करा देता है । वह यह देवताओं से नीयमान मार्ग परब्रह्मप्रापक मार्ग है । इस अर्चिरादिमार्ग से जाने वाले जीव इस घोर मनुष्यसम्बन्धी जनन मरणादि बहुदुःख प्रापक संसार को नहीं पाते है, नही पाते हैं ॥५॥ **स एतं देवयानं पन्थानमासाद्याग्निलोकमागच्छति स वायुलोकं स वरुणलोकं स आदित्यलोकं स इन्द्रलोकं सः प्रजापतिलोकं स ब्रह्मलोकम् ॥** (कौषीतकिब्रा० उ० अध्या० १ श्रु० ३) वह परब्रह्म का उपासक इस देवयान मार्ग पर पहुँचकर पहले अग्निलोक में आता है, फिर वायुलोक में आता है, वहाँ से सूर्यलोक मे आता है, तदनन्तर वरुणलोक में आता है, तत्पश्चात वह इन्द्रलोक में आता है, इन्द्रलोक से प्रजापति लोक मे आता है, और प्रजापति के लोक से परब्रह्म लोक में आता है ॥३॥ अर्चिरहः सितपक्षानुदगयनाब्दौ च मारुतार्केन्दून् । अपि वैद्युतवरुणेन्द्रप्रजापतीनातिवाहिकानाहुः ॥ अर्चिः १, दिन २, शुक्लपक्ष ३ उत्तरायण ४, संवत्सर ५, वायु ६, सूर्य ७, चन्द्रमा ८, वैद्युतपुरुष ९, वरुण १०, इन्द्र ११ और प्रजापति १२ ये आतिवाहिक कहे जाते हैं ॥ यह अभियुक्त संगृहीत अर्चिरादिमार्ग है । मुक्तिपथप्रदर्शकाचार्य भगवद्रामानुजाचार्य ने **अर्चिरादिनातत्प्रथितेः** ॥ (शा० मी० अ०

४ पा० ३ सू० २) इन दोनों सूत्रों के श्रीभाष्य में "बृहदारण्यकोपनिषद्" के पञ्चम अध्याय के दशम ब्राह्मण की प्रथम कण्डिका की पदों को उद्धृत किया है। यहाँ पर 'बृहदारण्यकोपनिषद्' के प्रथम अध्याय का दशम गतिब्राह्मण समाप्त हो गया ॥१॥

॥ अथैकादशं ब्राह्मणम् ॥

एतद्वै परमं तपो यद् व्याधितस्तप्येत परमं हैव लोकं जयति। य एवं वेदैतद्वै परमं तपो यं प्रेतमरण्यं हरन्ति परमं हैव लोकं जयति। य एवं वेदैतद्वै परमं तपोयं प्रेतमग्नावभ्यादधति परमं हैव लोकं जयति य एवं वेद ॥१॥

॥ इति पञ्चमाध्याये एकादशम् ब्राह्मणम् ॥

अन्वयार्थ– (व्याधितः) ज्वरादिरोग से ग्रस्त पुरुष को (यत्) जो (तप्येत) ताप होता है (एतत्) यह (वै) निश्चय करके (परमम्) परम (तपः) तप है ऐसा चिन्तन करे। क्योंकि ताप और तप इन दोनों में समान ही दुःख है (यः) जो महात्मा (एवम्) इस प्रकार (वेद) जानता है वह (एव) निश्चय करके (ह) सुप्रसिद्ध (परमम्) परम (लोकम्) लोक को (जयति) जीत लेता है (यम्) जिस (प्रेतम्) मृतपुरुष को (अरण्यम्) ग्राम से वन में (हरन्ति) अन्त्येष्टिकर्म के लिये ऋत्विक् गण ले जाते हैं। (एतत्) यह (वै) निश्चय करके (परमम्) परम (तपः) तप है ऐसा चिन्तन करे, क्योंकि ग्राम से वन गमन में समानता है (यः) जो महात्मा (एवम्) इस प्रकार (वेद) जानता है वह (एव) निश्चय करके (ह) सुप्रसिद्ध (परमम्) परम (लोकम्) लोक को (जयति) जीत लोता है और (यम्) जिम (प्रेतम्) मृतक पुरुष को (अग्नौ) जलाने के लिये अग्नि में (अभ्यादधति) सब ओर मे रखते हैं (एतत्) यह (वै) निश्चय करके (परमम्) परम (तपः) तप है ऐसा चिन्तन करे क्योंकि अग्नि प्रवेश से इसकी समानता है (यः) जो महात्मा (एवम्) इस प्रकार (वेद) जानता है वह (एव) निश्चय करके (ह) सुप्रसिद्ध (परमम्) परम (लोकम्) लोक को (जयति) जीत लेता है ॥१॥

विशेषार्थ– ज्वरादिरोग से गृहीत पुरुष को जो ताप होता है यह निश्चय करके परम तप है –ऐसा चिन्तन करे। क्योंकि ताप और तप इन दोनों में समान ही क्लेश होता है। तप के विषय में लिखा है–**वेदोक्तेन प्रकारेण कृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः शरीरशोषणंयत्तत्तप इत्युच्यते बुधैः॥** (जावलाद० उ० खं० २ श्रु० ३) वेदोक्त प्रकार

से और कृच्छ्रचान्द्रायणादिक से जो शरीर को सुखाना है उसी को बुध जन तप कहते हैं ॥३॥ **तपः कृच्छ्रचान्द्रायणद्वादश्युपवासादेः भगवत्प्रीणनकर्मयोग्यतापादनस्य करणम्** ॥ (रामानुजभाष्यगी० अ० १६ श्लो० १) भगवान् को प्रसन्न करनेवाले कर्म करने की योग्यता उत्पन्न करनेवाले कृच्छ्रचान्द्रायण तथा द्वादशी उपवासादि व्रतों के करने का नाम "तप" है ॥१॥ यहाँ "व्याधि" शब्द रोगवाचक है । क्योंकि लिखा है—**स्त्रीरुग्रुजाचोपतापरोगव्याधिगदामयाः** ॥ (अमर० कां० २ व० ६ श्लो० ५१) रुज् १, रुजा २, उपताप ३, रोग ४, व्याधि ५, गद ६, आमय ७ ये रोग के नाम हैं ॥५१॥ जो कि स्वतः प्राप्त हुए रोगादि की निन्दा नहीं करता तथा उससे विषाद को प्राप्त नहीं होता, वही तप कर्मक्षय हेतु को हो जाता है । जो महात्मा इस प्रकार जानता है वह उस विज्ञान रूप तप के द्वारा पापों को जला करके सुप्रसिद्ध परम लोक को निश्चय जीत लेता है तथा इसी प्रकार मरणासन्नपुरुष आरम्भ में ही कल्पना करता है कि—मर जाने पर मुझको बन्धुबान्धव अन्त्येष्टि कर्म के लिये जो ग्राम से वन में ले जायेंगे यह निश्चय ही परम तप होगा । ग्राम से वन गमन में समानता होने के कारण वह मेरा परम तप हो जायेगा । यह तो प्रसिद्ध ही है कि—ग्राम से वन में तप करने के लिये महानुभाव लोग जाते हैं । क्योंकि लिखा है— **अटव्यरण्यं विपिनं गहनं काननं वनम्** ॥ (अमर० कां० २ व० ४ श्लो० १) अटवी १, अरण्य २, विपिन ३, गहन ४, कानन ५, वन ६, ये वन के नाम हैं ॥१॥ जो महात्मा इस प्रकार जानता है वह इस विज्ञान रूप तप के द्वारा पापों को भस्म करके निश्चय ही सुप्रसिद्ध परम लोक को जीत लेता है । और जब मैं मर जाऊँगा तब मुझ प्रेत को, जो सब ओर से भस्म करने लिये अग्नि में रखेंगे यह भी हमारे लिये निश्चय करके परम तप है । क्योंकि अग्नि प्रवेशरूप तप से इसकी समानता है । इस प्रकार जो महात्मा जीता हुआ अनुसंधान करता है वह उस विज्ञानरूप तप से समूल पापों को भस्म करके निश्चय ही सुप्रसिद्ध परलोक को प्राप्त करता है । इस लिये व्याधि अवस्था में और मरणावस्था में भी तप बुद्धि करनी चाहिये । यहाँ पर "बृहदारण्यकोपिनिषद्" के पञ्चम अध्याय का एकादश तपोब्राह्मण समाप्त हो गया ॥१॥

॥ अथ द्वादशं ब्राह्मणम् ॥

अन्नं ब्रह्मेत्येक आहुस्तन्न तथा पूयति वा अन्नमृते प्राणात् । प्राणो ब्रह्मेत्येक आहुस्तन्न तथा शुष्यति वै प्राण ऋतेऽन्नात् । एते ह त्वेव देवते एकधा भूयं भूत्वा परमतां

गच्छतः । तद्ध स्मऽऽह प्रातृदः पितरं किंस्विदेवैवं विदुषे साधु कुर्यां किमेवास्मा असाधु कुर्यामिति । स ह स्माऽऽह पाणिना मा प्रातृद कस्त्वेनयोरेकधाभूयं भूत्वा परमतां गच्छतीति । तस्मा उ हैतदुवाच । वीत्यन्नं वै व्यन्ने हीमानि सर्वाणि भूतानि विष्टानि । रमिति प्राणो वै रं प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि रमन्ते । सर्वाणि ह वा अस्मिन् भूतानि विशन्ति सर्वाणि भूतानि रमन्ते य एवं वेद ॥१॥

॥ इति पञ्चमाध्याये द्वादशं ब्राह्मणम् ॥

अन्वयार्थ– (एके) कोई आचार्य (अन्नम्) अन्न (ब्रह्म) ब्रह्म है (इति) ऐसा (आहुः) कहते हैं परन्तु (तत्) वह मत (तथा) ऐसा (न) नहीं मानना चाहिये क्योंकि (वै) निश्चय करके (प्राणात्) प्राण के (ऋते) बिना (अन्नम्) अन्न (पूयति) सड़ ही जाता है, इससे अन्न ब्रह्म नहीं है (एके) कोई आचार्य (प्राणः) प्राण (ब्रह्म) ब्रह्म है (इति) ऐसा (आहुः) कहते हैं परन्तु (तत्) वह मत (तथा) ऐसा (न) नहीं मानना चाहिये क्योंकि (वै) निश्चय करके (अन्नात्) अन्न के (ऋते) बिना (प्राणः) प्राण (शुष्यति) सूख जाता है इससे प्राण भी ब्रह्म नहीं है (तु) किन्तु (ह) प्रसिद्ध (एते) ये अन्न और प्राणरूप (देवते) दो देवता (एव) निश्चय करके (एकधाभूयम्) एक प्रकार के भाव को (भूत्वा) प्राप्त होकर (परमताम्) परमभाव को (गच्छतः) प्राप्त हो जाते हैं (तत्) इसको इस प्रकार निश्चय कर (प्रातृदः) प्रातृद नामक ऋषि ने (ह) सुप्रसिद्ध (पितरम्) अपने पिता से (आहस्म) कहा था कि (एवम्) इस प्रकार एक भाव को प्राप्त हुआ अन्न और प्राण ब्रह्म है ऐसा (विदुषे) जाननेवाला (अस्मै) इस कृतकृत्य अपनी आत्मा के लिये (किंस्वित्) कौन सा (एव) निश्चय करके (साधु) कल्याण कर्म (कुर्याम्) करूँ (एव) निश्चय करके (असाधु) अशुभ कर्म (किम्) क्या (कुर्याम्) मैं करूँ अर्थात् कृतकृत्य मेरा शुभ अशुभ कर्म से क्या होगा (इति) इस प्रकार कहनेवाले उस पुत्र को (पाणिना) हाथ से निवारण करता हुआ (ह) सुप्रसिद्ध (सः) उस विद्वान् पिता ने (आह स्म) कहा कि (प्रातृद) हे पुत्र प्रातृद (मा) ऐसा मत कहो (तु) किन्तु (कः) कौन पुरुष (एनयोः) इन दोनों अन्न और प्राण की (एकधाभूयम्) एक रूपता को (भूत्वा) प्राप्त होकर (परमताम्) परमभाव को (गच्छति) प्राप्त करता है इस ब्रह्मदर्शन के द्वारा कोई भी विद्वान् परम भाव को नहीं प्राप्त कर सकता है (इति) इस वचन को सुनकर प्रातृद ऋषि ने कहा

कि– यदि ऐसी बात है तो आप बतलाइये कि किस प्रकार परमभाव को प्राप्त करता है ? तब (उ) निश्चय करके (तस्मै) उस प्रातृदऋषि के प्रति (ह) सुप्रसिद्ध पिता ने (एतत्) इस वक्ष्यमाण वचन को (उवाच) कहा (वि) वि (इति) ऐसा (अन्नम्) अन्न (वै) ही (वि) वि है (हि) क्योंकि (इमानि) ये (सर्वाणि) समस्त (भूतानि) प्राणी (अन्ने) अन्न में (विष्टानि) विष्ट यानी आश्रित हैं इसके बाद पिता ने (रम्) रम् (इति) ऐसा कहा (प्राणः) प्राण (वै) ही (रम्) रम् है (हि) क्योंकि (इमानि) ये (सर्वाणि) समस्त (भूतानि) प्राणी (प्राणे) प्राण में (रमन्ते) रमण करतें हैं (यः) जो उपासक (एवम्) इस प्रकार वि गुण विशिष्ट अन्न को और रम् गुण विशिष्ट प्राण को (वेद) जानता है तो (अस्मिन्) इस उपासक में (वै) निश्चय करके (सर्वाणि) सब (भूतानि) प्राणी (विशन्ति) प्रवेश करते हैं और (ह) प्रसिद्ध इस उपासक में (सर्वाणि) समस्त (भूतानि) प्राणी (रमन्ते) रमण करते हैं ।।१।।

विशेषार्थ– कोई आचार्य कहते हैं कि–अन्न परब्रह्म है । क्योंकि लिखा है– **अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते याः काश्च पृथिवीश्रिताः । अथो अन्नेनैव जीवन्ति अथैतदपियन्त्यन्ततः ॥** (तैत्ति० उ० व० २ अनु० २ श्रु० १) पृथ्वीलोक का आश्रय लेकर रहनेवाले जो कोई भी प्राणी हैं, वे सब अन्न से ही उत्पन्न होते हैं । और उत्पन्न होने के अनन्तर अन्न से ही जीते हैं । तथा फिर अन्त समय में इस अन्न में ही विलीन हो जाते हैं ।।१।। इससे अन्न ही ब्रह्म है । ऐसा मानना सर्वथा अनुचित है क्योंकि प्राण के बिना अन्न सड़ ही जाता है, इसमें दुर्गन्धि आ ही जाती है । फिर अन्न कैसे ब्रह्म हो सकता है ? ब्रह्म तो वही हो सकता है जो अविनाशी हो । कोई आचार्य कहते हैं कि–प्राण परब्रह्म नारायण है । क्योंकि लिखा है–**प्राणं देवा अनुप्राणन्ति मनुष्या पशवश्च ये । प्राणो हि भूतानामायुः ॥** (तैत्ति० उ० व० २ अनु० ३ श्रु० १) जो देवता मनुष्य और पशु आदि प्राणी हैं वे सब प्राण का अनुसरण करके ही प्राणाधीन जीवन धारण करते हैं । क्योंकि प्राण ही सब प्राणियों की आयु है ।।१।। इससे प्राण ही ब्रह्म है । ऐसा मानना भी सर्वथा उचित नहीं है । क्योंकि अन्न के बिना प्राण सूख जाता है । फिर प्राण कैसे ब्रह्म हो सकता है ? अच्छा तो ये अन्न और प्राण दो देवता एक भाव को प्राप्त होकर परमभाव को प्राप्त होते हैं अर्थात् ब्रह्मत्व को प्राप्त हो जाते हैं । इसे इस प्रकार निश्चय कर प्रातृदाचार्य ने अपने सुप्रसिद्ध विद्वान् पिता से कहा कि– इस प्रकार एकभाव को प्राप्त हुआ अन्न और प्राण, परब्रह्म नारायण है ऐसा जाननेवाला इस कृतकृत्य अपनी आत्मा के लिये मैं क्या कल्याणकर्म करूँ और निश्चय करके क्या अशुभकर्म करूँ, अर्थात् कृतकृत्य इस श्रीमान् के पुत्र को शुभ और अशुभ कर्म से क्या होगा ? इस श्रुति में "स्वित्" यह वितर्क भाव सूचित

करने के लिये है । क्योंकि लिखा है– **स्वित् प्रश्ने च वितर्के च ॥** (अमर० कां० ३ व० ३ श्लोक २४२) स्वित् शब्द प्रश्न में और वितर्क में प्रयुक्त होता है ।।२४२।। इस प्रकार कहनेवाले उस पुत्र को हाथ से रोकते हुए परमविवेकी पिता ने कहा कि–हे पुत्र प्रातृद! ऐसा मत कहो । कौन पुरुष इन दोनों अन्न और प्राण की एकरूपता को प्राप्त होकर परमभाव को प्राप्त करता है, इस ब्रह्मदर्शन के द्वारा कोई भी परम भाव को नहीं प्राप्त कर सकता है । पितृदेव के इस वचन को सुनकर आचार्य प्रातृदऋषि ने कहा कि–यदि ऐसी बात है तो आप बतलाइये कि किस प्रकार परम भाव को प्राप्त करता है । तब निश्चय करके उस प्रातृद ऋषि के प्रति उसके पिता ने यह आगे कहे जानेवाले वचन को कहा । क्या कहा ? "वि" ऐसा कहा । यह "वि" क्या है सो बतलाते हैं । अन्न ही "वि" है क्योंकि अन्न में ही से समस्त प्राणी विष्ट यानी आश्रित हैं इसलिये अन्न "वि" इस प्रकार कहा जाता है । और दूसरा "र" ऐसा कहा । वह "र" क्या है सो बतलाते हैं । प्राण ही "र' है क्योंकि प्राण में ही सब प्राणी रमण करते हैं। यदि प्राणवायु न हो तो ये जीव अपने को कैसे धारण कर सकते हैं ? प्राणवायु के विषय में लिखा है– **चक्षुः श्रोत्रे मुखनासिकाभ्यां प्राणः स्वयं प्रतितिष्ठते ॥** (प्रश्नोप० प्रश्न ३ श्रु० ५) अपने आप प्राण, मुख और नाक से निकलता हुआ नेत्र तथा श्रोत्र में स्थित रहता है ।।५।। अब आगे श्रुति इस प्रकार जाननेवाले उपासक का फल बतलाती है। जो ऐसा "वि" गुण विशिष्ट अन्न को जानता है और "र" गुण विशिष्ट प्राण को जानता है उसमें अन्न गुण का ज्ञान होने के कारण सब प्राणी रमण करते हैं । यहाँ पर "बृहदारण्यकोपनिषद्" के पञ्चम अध्याय का द्वादश अन्नप्राणब्राह्मण समाप्त हो गया ।।१२।।

॥ अथ त्रयोदशं ब्राह्मणम् ॥

उक्थं प्राणो वा उक्थं प्राणो हीदं सर्वमुत्थापयति । उद्धास्मादुक्थविद्वीरस्तिष्ठति । उक्थस्य सायुज्यं सलोकतां जयति य एवं वेद ।।१।।

अन्वयार्थ– (प्राणः) प्राण (उक्थम्) उक्थ है (वै) निश्चय करके (प्राणः) प्राण (उक्थम्) उक्थ है (हि) क्योंकि (प्राणः) प्राण (इदम्) इस स्थावर जङ्गम (सर्वम्) समस्त वस्तु जात को (उत्थापयति) उठाता है (ह) सुप्रसिद्ध इस प्रकार जाननेवाले (अस्मात्) इस उपासक से (उक्थवित्) उक्थ प्राणवेत्ता और (वीरः) वीर पुत्र (उत् +तिष्ठति) उठता है । अर्थात् उत्पन्न होता है, यह इसका प्रत्यक्ष फल है (यः) जो कोई उपासक (एवम्) ऐसा (वेद) जानता है वह (उक्थस्य) उक्थ के

यानी उक्त प्राण से (सायुज्यम्) सायुज्य की और (सलोकताम्) सलोकताको (जयति) प्राप्त करता है ॥१॥

विशेषार्थ– प्राण की ही ऋग्यजु: साम के द्वारा उपासना कही जाती है–प्राण को ही उक्थ जाने । निश्चय करके प्राण ही उक्थ है । क्योंकि प्राण ही इस सम्पूर्ण स्थावर जङ्गम वस्तुजात को उठाता है । उठाने के कारण प्राण उक्थ है, क्योंकि कोई भी प्राणहीन उठ नहीं सकता । "उत्थापयति यत् तद् उक्थम्" इस व्युत्पत्ति में "उत् + स्था" से "उक्थ" बना है । इसका यद्यपि ॥ **क्रियाव्ययानां भेदकान्येकत्वेप्युक्थतोटके** ॥ अमर० कां० ३ व० ५ श्लो० ३० ॥ इस कोश के अनुसार सामभेद या स्तोत्र अर्थ होता है तौभी इस श्रुति में "उक्थ" शब्द का अर्थ उठाने वाला ही होता है । अब श्रुति आगे फल बतलाती है कि–इस प्रकार जानने वाले से उक्थ प्राणवेत्ता वीर पुत्र उत्पन्न होता है । यह इसका प्रत्यक्ष फल है । और परोक्ष फल यह है कि–जो कोई उपासक ऐसा जानता है, वह उक्थ के यानी उक्त प्राण से सायुज्य को और सलोकता को पाता है ॥१॥

यजुः प्राणो वै यजुः प्राणो हीमानि सर्वाणि भूतानि युज्यन्ते युज्यन्ते हास्मै सर्वाणि भूतानि श्रैष्ठ्याय । यजुषः सायुज्यं सलोकतां जयति य एवं वेद ॥२॥

अन्वयार्थ– प्राण (यजुः) यजुर्वेद है (वै) निश्चय करके (प्राणः) प्राण (यजुः) यजुर्वेद है (हि) क्योंकि (इमानि) ये (सर्वाणि) सम्पूर्ण (भूतानि) प्राणी (प्राणे) प्राण में ही (युज्यन्ते) युक्त होते हैं (ह) सुप्रसिद्ध (अस्मै) इस तत्त्व के जानने वाले विद्वान् के लिये (सर्वाणि) समस्त (भूतानि) प्राणी (श्रैष्ठ्याय) श्रेष्ठता संपादन के लिये (युज्यन्ते) उद्योग करते हैं (यः) जो कोई उपासक (एवम्) ऐसा (वेद) जानता है वह (यजुषः) यजुरूप प्राण के (सायुज्यम्) सायुज्य को और (सलोकताम्) सलोकता को (जयति) प्राप्त करता है ॥२॥

विशेषार्थ–प्राण को ही यजुर्वेद जाने । निश्चय करके प्राण ही यजुर्वेद है । क्योंकि ये सब प्राणी प्राण में ही युक्त होते हैं । प्राण के न रहने पर किसी के साथ किसी का योग होने का सामर्थ्य नहीं है । इससे प्राण यजु हैं । "युनक्तीति यजुः" इस व्युत्पत्ति में "युज्" धातु से "यजुः" शब्द सिद्ध होता है । अब आगे इस प्रकार उपासना करने वाले का श्रुति फल बतलाती है कि–इस प्रकार उपासना करने वाले को सब ही प्राणी श्रेष्ठता सम्पादनार्थ युक्त होते हैं अर्थात् यह उपासक हममें श्रेष्ठ हो इस निमित्त से उद्यम करते हैं । और जो कोई उपासक ऐसा जानता है वह यजुरूप

प्राण के सायुज्य को तथा सलोकता को प्राप्त करता है ॥२॥

साम प्राणो वै साम प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि सम्यञ्चि सम्यञ्चि हास्मै सर्वाणि भूतानि श्रैष्ठ्याय कल्पन्ते साम्नः सायुज्यं सलोकतां जयति य एवं वेद ॥३॥

अन्वयार्थ– प्राण (साम) साम है (वै) निश्चय करके (प्राणः) प्राण साम है (हिः) क्योंकि (इमानि) ये (सर्वाणि) सम्पूर्ण (भूतानि) प्राणी (प्राणे) प्राण में ही (सम्यञ्चि)संगत होते हैं (ह) सुप्रसिद्ध (अस्मै) इस तत्त्ववेत्ता उपासक के लिये (सर्वाणि) समस्त (भूतानि) प्राणी (समयञ्चि) संगत होते हैं केवल संगत ही नहीं होते किन्तु (श्रैष्ठ्याय) इस प्राणवेत्ता की श्रेष्ठतासंपादन करने के लिये (कल्पन्ते) समर्थ होते हैं (यः) जो कोई उपासक (एवम्) ऐसा (वेद) जानता है वह (साम्नः) सामरूपप्राण के (सायुज्यम्) सायुज्य को और (सलोकताम्) सलोकता को (जयति) प्राप्त करता है ॥३॥

विशेषार्थ– प्राण को ही सामवेद मानकर उपासना करे। निश्चय करके प्राण ही सामवेद है। क्योंकि ये सब प्राणी प्राण में ही संगत होते हैं यानी इकट्ठे होते हैं। अतः प्राण ही साम है। "सम्यगञ्चन्ति संगच्छन्ते अस्मिन्निति साम" इस व्युत्पत्ति से जिस में सब कोई संगत हो वह साम है। अब आगे इस प्रकार उपासना करने वाले का श्रुति फल बतलाती है कि– इस प्रकार उपासना करने वाले को सब ही प्राणी श्रेष्ठता सम्पादनार्थ संगत होते हैं और इस प्राणवेत्ता के श्रेष्ठ भाव के लिये भी समर्थ होते हैं। यहाँ "सम् + अञ्च् से "साम" शब्द निष्पन्न होता है। जो कोई उपासक इस प्रकार जानता है वह सामरूप प्राण के सायुज्य को और सलोकता को प्राप्त करता है ॥३॥

क्षत्त्रं प्राणो वै क्षत्त्रं प्राणो हि वै क्षत्त्रं त्रायते हैनं प्राणः क्षणितोः प्र क्षत्त्रमत्रमाप्नोति क्षत्त्रस्य सायुज्यं सलोकतां जयति य एवं वेद ॥४॥

॥ इति पञ्चमाध्याये त्रयोदशं ब्राह्मणम् ॥

अन्वयार्थ– प्राण (क्षत्त्रम्) क्षत्त्र है (वै) निश्चय करके (प्राणः) प्राण (क्षत्त्रम्) क्षत्त्र है (वै) निश्चय करके (प्राणः) प्राण (क्षत्त्रम्) क्षत्त्र है यानी शस्त्रादि की पीड़ा से रक्षा करता है (ह) यह प्रसिद्ध है (हि) क्योंकि (प्राणः) प्राण

(एनम्) इस देह को (क्षणितोः) शस्त्रादि से क्षत होने पर (त्रायते) पुनः मांस से भरकर रक्षा करता है अब आगे फल कहा जाता है (अत्रम्) जिसका किसी दूसरे से त्राण यानी रक्षा नहीं की जाती है वह अब प्राण (क्षत्रम्) क्षत्रत्वगुणविशिष्टता को (प्र) विशेषरूपसे (आप्नोति) प्राप्त करता है और (क्षत्रस्य) क्षत्ररूप प्राण के (सायुज्यम्) सायुज्यको तथा (सलोकताम्) सलोकता को (जयति) वह उपासक प्राप्त करता है (यः) जो कोई (एवम्) इस प्रकार (वेद) जानता है ॥ ४ ॥

विशेषार्थ–प्राण क्षत्र है ऐसा मानकर उस प्राण की उपासना करे। निश्चय करके प्राण ही क्षत्र है। "क्षत् + त्र" इन दो शब्दों से क्षत्र बना है। अर्थात् शस्त्रादिकों से जो घाव होता है वह "क्षत्" कहा जाता है उससे जो रक्षा करे वह "क्षत्र" कहलाता है। यह प्रसिद्ध है कि–प्राण ही क्षत्र है। क्योंकि प्राण ही उस शरीर को शस्त्रादि से क्षत होने पर पुनः मांस से भर कर रक्षा करता है। इस कारण से प्राण क्षत्र है। अब श्रुति उपासक को मिलने वाला फल बतलाती है। जो कोई उपासक इस प्रकार जानता है वह अत्र यानी प्राण को क्षत्रत्वगुणविशिष्टता को विशेषरूप से पाता है। जिसका किसी दूसरे से रक्षा न हो सके वह "अत्र" कहा जाता है। यहाँ प्राण का नाम अत्र है और वह उपासक क्षत्ररूप प्राण के सायुज्य को तथा सलोकता को भी प्राप्त करता है। यहाँ पर "बृहदारण्यकोपनिषद्" के पञ्चम अध्याय का त्रयोदश उक्थब्राह्मण समाप्त हो गया ॥ ४ ॥

॥ अथ चतुर्दशं ब्राह्मणम् ॥

भूमिरन्तरिक्षं द्यौरित्यष्टावक्षराणि। अष्टाक्षरं ह वा एकं गायत्र्यै पदम्। एतदुहैवास्या एतत्। स यावदेषु त्रिषु लोकेषु तावद्ध जयति योऽस्या एतदेवं पदं वेद ॥१॥

अन्वयार्थ– (भूमिः) भूमि (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष और (द्यौः) द्यौ यानी द्यौमें द तथा य (इति) ये (अष्टौ) आठ (अक्षराणि) अक्षर हैं और (वै) निश्चय करके (गायत्र्यै) गायत्रीछन्द का (एकम्) एक पहला (पदम्) पाद (अष्टाक्षरम्) आठ अक्षर वाला (ह) प्रसिद्ध है (उ) निश्चय करके (एतत्) यह लोकत्रयात्मक (एव) ही (अस्याः) इस गायत्री का (ह) प्रसिद्ध (एतत्) यह प्रथम पाद है (यः) जो उपासक (अस्याः) इस गायत्री के (एतत्) इस (पदम्) प्रथम पाद को (एवम्) इस प्रकार (वेद) जानता है (ह) प्रसिद्ध (सः) वह उपासक (एषु) इन (त्रिषु) तीनों (लोकेषु) लोकों में (यावत्) जितना जय करने योग्य है (तावत्) उतना सभी को (जयति)

जीत लेता है ॥१॥

विशेषार्थ— मन हृदय आदि अनेक उपाधियों से विशिष्ट परब्रह्म नारायरा की उपासना को कहकर अब आगे गायत्री उपाधि से विशिष्ट परब्रह्म नारायराकी उपासना बतलायी जाती है । जिस गायत्री के विषय में लिखा है ॥ **गायत्र्या ब्राह्मणमसृजत त्रिष्टुभाराजन्यं जगत्या वैश्यम्** ॥ श्रुति । गायत्री से ब्राह्मरा की रचना की तथा त्रिष्टुप् से क्षत्रिय की और जगती से वैश्य की रचना की ॥ **सद्यस्त्वेवगायत्रीं ब्राह्मणायानुब्रूयादाग्नेयो वै ब्राह्मरा इति श्रुतेः** ॥ पारस्कर० कां० २ करिाडका० ३ सू० ॥७॥ **त्रिष्टुभं राजन्यस्य** ॥ २ । ३ । ८ ॥ **जगतीं वैश्यस्य** ॥ २ । ३ । ९ ॥ ब्राह्मरा ब्रह्मचारी के लिये तो गुरु उपनयन के ही समय गायत्री मंत्र का उपदेश करे क्योंकि "आग्नेयो वै ब्राह्मराः" यह श्रुति है ॥७॥ त्रिष्टुप् छन्द की सावित्री क्षत्रिय की है ॥८॥ जगती छन्द की सावित्री वैश्य ब्रह्मचारी की है ॥९॥ **त्रिपदा चैव सावित्री विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम्** ॥ मनु० अ० २ श्लो० ८१) त्रिपदा सावित्री यानी गायत्री परमात्मा की प्राप्ति का द्वार जानने योग्य है ॥८१॥ **गायत्री छन्दसामहम्** ॥ गी० अ० १० श्लो० ३५) छन्दों में गायत्री मैं हूँ ॥३५॥ इन प्रमाणों से सम्पूर्ण छन्दों में प्रधानभूत और ब्राह्मणों के जन्म का हेतु गायत्री है । त्रिपदा गायत्री का स्वरूप निम्नलिखित है ॥ **तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गोदेवस्य धीमहि । धियो योनः प्रचोदयात्** ॥ ऋग्वे० मण्ड० ३ सूक्त ४ मं० १० ॥ शुक्लयजु० अ० ३ मं० ३५ ॥ यह मन्त्र चारों वेदो में है । अब प्रस्तुत कण्डिका का अर्थ प्रारम्भ किया जाता है । "भू १, मि २, अं ३, त ४, रि ५, क्ष ६," ये छः अक्षर होते हैं और "द्यौ" में जब तक दो अक्षर संयोग को नहीं माना जायगा तब तक आठ संख्या की पूर्ति नहीं हो सकती है । और "तत् १, स २, वि ३, तु ४, र्व ५, रे ६, ये छः अक्षर होते हैं और "ण्यम्" में णि ७, यम् ८, ये दो अक्षर हैं । इस प्रकार गायत्री का पहला चररा भी आठ अक्षर वाला ही है । क्योंकि लिखा है ॥ **गायत्र्या वसवः** ॥ पिङ्गलसू० ३ । ३ ॥ गायत्री छन्द का एक पाद आठ अक्षरों का होता है ॥३॥ **इयादि पूररााः** ॥ पि० अ० ३ सू० २ इय उव से पाद के अक्षर की संख्या पूर्ति करनी चाहिये ॥२॥ इस काररा से यह लोकत्रयात्मक ही इस गायत्री का प्रसिद्ध यह प्रथम पाद है । क्योंकि आठ अक्षर होने में इनकी समानता है । निश्चय करके इस गायत्री का भूमिलोक तथा अन्तरिक्षलोक और द्युलोक प्रथम पाद है । अब आगे इस उपासना का फल कहा जाता है । जो कोई उपासक इस प्रकार इस गायत्री के इस त्रैलोक्यात्मक प्रथम पाद को जानता है, वह इन तीनोंलोकों मे जो कुछ जय करने योग्य है उस सभी को जीत लेता है ॥१॥

ऋचो यजूंषि सामानीत्यष्टावक्षराण्यष्टाक्षरं ह वा एकं गायत्र्यै पदमेतदु हैवास्या एतत् । स यावतीयं त्रयीविद्या तावद्ध जयति योऽस्या एतदेवं पदं वेद ॥२॥

अन्वयार्थ– (ऋचः) ऋचः (यजूंषि) यजूंषि (सामानि) सामानि (इति) ये (अष्टौ) आठ (अक्षराणि) अक्षर हैं और (वै) निश्चय करे (गायत्र्यै) गायत्री मन्त्र का (एकम्) एक द्वितीय (पदम्) पाद (अष्टाक्षरम्) आठ अक्षर वाला (ह) प्रसिद्ध है (उ) निश्चय करके (एतत्) यह द्वितीय पाद है (यः) जो कोई उपासक (अस्याः) इस गायत्री का (ह) प्रसिद्ध (एतत्) इस (पदम्) द्वितीय पाद को (एवम्) इस प्रकार (वेद) जानता है (ह) प्रसिद्ध (सः) वह उपासक (इयम्) यह (त्रयी) त्रयी (विद्या) विद्या (यावती) जितनी वाक् फल प्रकाशिका है (तावत्) उतने सब फल को (जयति) जीत लेता है ॥२॥

विशेषार्थ–"ऋ १, चः २, य ३, जूं ४, षि ५, सा ६, मा ७, नि ८, इन तीनों पदों में आठ अक्षर हैं । और "भ १, र्गो २, दे ३, व ४, स्य ५, धी ६, म ७, हि ८" इस प्रकार गायत्री का दूसरा चरण भी आठ अक्षर वाला ही है । इस कारण से यह वेदत्र्यात्मक ही इस गायत्री का ऋग्वेद तथा यजुर्वेद और सामवेद द्वितीय पाद है । अब आगे इस उपासना का फल कहा जाता है । जो कोई उपासक इस प्रकार इस गायत्री के इस वेदत्रयात्मक द्वितीय पाद को जानता है । वह सुप्रसिद्ध उपासक यह त्रयी विद्या जितनी फल प्रकाशिका है अर्थात् त्रयी विद्या प्रतिपाद्य जितना फल है, उतना सब फल को प्राप्त कर लेता है । त्रयी के विषय में लिखा है ॥ **ऋग्यजुःसामरूपत्वात्त्रयीति परिकीर्तिता** ॥ सीतोपनि० ॥ ऋक् यजुः एवं सामात्मक होने से त्रयी ऐसा कहा जता है ॥ इस श्रुति में "पद" शब्द चरण वाचक है । क्योंकि लिखा है । **पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु** (अमर० कां० ३ व० ३ श्लो० ९३ ॥ पद शब्द व्यवसाय १, रक्षास्थान २, चिह्न ३, चरण ४, तथा वस्तु में ५ प्रयुक्त होता है ॥९३॥ इस प्रकार प्रतिपादन किया गया है ॥२॥

प्राणोऽपानो व्यान इत्यष्टावक्षराणि । अष्टाक्षरं ह वा एकं गायत्र्यै पदमेतदु हैवास्या एतत् स यावदिदं प्राणि तावद्ध जयति योऽस्या एतदेवं पदं वेद । अथास्या एतदेव तुरीयं दर्शतं पदं परोरजा य एष तपति । यद्वै चतुर्थं तत्तु रीयं दर्शतं पदमिति ददृश इव ह्येषः । परोरजाइति सर्वमुह्येवैष रज

उपर्युपरि तपति । एवं हैव श्रिया यशसा तपति योऽस्या एतदेवं पदं वेद ॥३॥

अन्वयार्थ– (प्राणः) प्राण (अपानः) अपान (व्यानः) व्यान यानी वियान (इति) ये (अष्टौ) आठ (अक्षराणि) अक्षर हैं और (वै) निश्चय करके (गायत्र्यै) गायत्री मन्त्र का (एकम्) एक तृतीय (पदम्) पादभी (अष्टाक्षरम्) आठ अक्षर वाला (ह) प्रसिद्ध है (उ) निश्चय करके (एतत्) यह प्राणादित्रयात्मक (एव) ही (अस्याः) इस गायत्री का (ह) प्रसिद्ध (एतत्) यह तृतीय पाद है (यः) जो कोई उपासक (अस्याः) इस गायत्री के (एतत्) इस (पदम्) तृतीय पाद को (एवम्) इस प्रकार (वेद) जानता है (ह) प्रसिद्ध (सः) वह उपासक (यावत्) जितना (इदम्) यह (प्राणि) प्राणिसमुदाय है (तावत्) उतना सब प्राणिजात को (जयति) जीत लेता है (अथ) त्रिपदा गायत्री के वर्णन क बाद अब (अस्याः) इस प्रकृत गायत्री का (एतत्) यही (एव) निश्चय करके (तुरीयम्) तुरीय (दर्शतम्) दर्शत (परोरजाः) परोरजा (पदम्) पद है (यः) जो (एषः) यह (तपति) तप रहा है (वै) निश्चय करके (यत्) जो लोक में (चतुर्थम्) चतुर्थ प्रसिद्ध है (तत्) वही (तुरीयम्) तुरीय शब्द से कहा गया है (एषः) यह मण्डलान्तर्गत पुरुष (ददृशे) दीखता (इव) सा भासता है (इति) इस कारण से (हि) निश्चय करके (दर्शतम्) दर्शत (पदम्) पद कहा जाता है (उ) निश्चय करके (परोरजाः) परोरजा (इति) यह बतलाया जाता है कि (हि) निश्चय करके (एषः) यह मण्डलस्थपुरुष (एव) ही (सर्वम्) समस्त (रजः) राजस लोक के (उपरि +उपरि) ऊपर ऊपर रहकर (तपति) प्रकाशित होता है (यः) जो कोई उपासक (अस्याः) इस गायत्री के (एतत्) इस चतुर्थ (पदम्) पदको (एवम्) इस प्रकार (वेद) जानता है (ह) प्रसिद्ध वह उपासक (एव) निश्चय (एवम्) इसी प्रकार (श्रिया) सम्पत्ति से और (यशसा) कीर्ति से (तपति) प्रकाशित होता है ॥३॥

विशेषार्थ–प्रा १, णा २, अ ३, पा ४, न ५, व्यान यानी वि ६, या ७, न ८, इन तीनों शब्दों में आठ अक्षर हैं। अथवा "व्यान" में "द्यौः" पद के संयोग के समान दो अक्षर मानकर आठ संख्या की पूर्ति होती है या "वि + या + न" इस प्रकार विश्लेष करके संख्या की पूर्ति होती है। और "धि १, यो २, यों ३, नः ४, प्र ५, चो ६, द ७, यात् ८," इस प्रकार गायत्री का तीसरा चरण भी आठ अक्षरवाला ही है। इस कारण से यह प्राणादित्रयात्मक हि इस गायत्री का प्रसिद्ध यह तृतीय पाद है। क्योंकि आठ अक्षर होने में इनकी समानता है। निश्चय करके इस गायत्री का प्राण तथा अपान और व्यान तृतीय पाद है। प्राणादि के विषय में लिखा है–

पायूपस्थेऽपानं चक्षुः श्रोत्रे मुखनासिकाभ्यां प्राराः प्रतितिष्ठते ॥ (प्रश्नोप० प्रश्न ३ श्रु० ५) **अत्रैकशतं नाडीनां तासां शतं शतमेकैकस्यां द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखानाडीसहस्राणि भवन्ति । तासु व्यानश्चरति** ॥६॥ मलद्वार और मूत्रद्वार में अपान रहता है और अपने आप प्राण, मुख तथा नाक से निकलता हुआ नेत्र और श्रोत्र में स्थित रहता है ॥५॥ इस हृदय में एक सौ मूल प्रधान नाड़ियाँ हैं उनमें से प्रत्येक नाड़ी की एक एक सौ शाखा नाड़ियाँ है । प्रत्येक शाखा नाड़ी की बहत्तर बहत्तर हजार प्रतिशाखा नाड़ियां हैं । इस प्रकार इस शरीर में सब मिला कर बहत्तर करोड़ नाड़ियां हैं । इन बहत्तर करोड़ नाड़ियों में व्यानवायु विचरती है ॥६॥ अब आगे प्राकृत उपसना का फल कहा जता है । जो कोई उपासक इस गायत्री के इस प्राणादित्रयात्मक तृतीय पाद को इस प्रकार जानता है, अब सुप्रसिद्ध उपासक वह जितने प्राणिसमुदाय है उस सभी प्राणि जात को जीत लेता है । इस प्रकार त्रिपदा गायत्री की उपासना कही गयी अब नीचे संक्षेप में इसका अर्थ लिखा जाता है ।

॥ अथ गायत्रीमन्त्रार्थः ॥

॥ अथनवश्लोकी ॥

तच्छब्देन तु यच्छब्दो बोधव्यः सततं बुधैः ।
उदाहृते तु यच्छब्दे तच्छब्दः स्यादुदाहृतः ॥ १ ॥
सविता सर्वभूतानां सर्वभावान् प्रसूयते ।
सवनात्पावनाच्चैव सविता तेन चोच्यते ॥२॥
दीव्यते क्रीडते यस्माद् द्योतते रोचते दिवि ।
तस्माद्देव इति प्रोक्तः स्तूयते सर्वदैवतैः ॥३॥
चिन्तयामो वयं भर्गं धियो यो नः प्रचोदयात् ।
धर्मार्थकाममोक्षेषु बुद्धिवृतीः पुनः पुनः ॥४॥
भ्रस्ज पाके भवेद्धातु र्यस्मात्पाचयते ह्यसौ ।
भ्राजते दीप्यते यस्माज्जगच्चान्ते हरत्यपि ॥५॥
कालाग्निरूपमास्थाय सप्तार्चिः सप्तरश्मिभिः ।
भ्राजते यत्स्वरूपेरा तस्माद्भर्गः स उच्यते ॥६॥
भेति भीषयते लोकान् रेति रञ्जयते प्रजाः ।
गेत्यागच्छत्यजस्त्रं यो भगवान् भर्ग उच्यते ॥७॥

वरेण्यं वरणीयं च संसारभयभीरुभिः ।
आदित्यान्तर्गतं यच्च भर्गाख्यं वा मुमुक्षुभिः ॥८॥
जन्ममृत्युविनाशाय दुःखस्य त्रिविधस्य च ।
ध्यानेन पुरुषो यस्तु द्रष्टव्यः स सूर्यमण्डले ॥९॥

॥ इति नवश्लोकी ॥

उसका तेज हम ध्यान करते हैं, यहाँ "तत्" भर्ग का विशेषरा नहीं है तथापि तत् के संयोग से ही यत् का प्रयोग प्राप्त हो जाता है ऐसा बुधजनों करके सर्वदा जानने योग्य है। यही इस श्लोक का आशय है कि तत् के साथ में यत् शब्द सदा पण्डित जनों को जानना चाहिये ॥१॥ सम्पूर्रा प्रारागी और सम्पूर्रा भावों का उत्पन्नकर्ता सवन और पवित्र करने से उसे सविता कहते है ॥२॥ जिस काररा कि वह प्रकाशित होता है, क्रीडा करता है, आकाश में दीप्तिमान् होता है, इस काररा उसे देव कहते हैं ॥२॥ हम उस भर्ग तेज का ध्यान करते हैं जो हमारी बुद्धि वृत्तियों को बारंबार धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में प्रेरणा करता है ॥४॥ "भ्रस्ज" धातु पकाने में है। जिस काररा यह पकाता है शोभित होता है, दीप्तिमान होता है, अन्त में जगत् को हररा करता है ॥५॥ कालाग्नि रूप में स्थित होकर तथा अग्नि, सूर्य में स्थित अपने रूप से प्रकाशित होता है, इस काररा उसको भर्ग कहते हैं ॥६॥ "भ" कार से सब लोकों को भयभीत करता है "र" से प्रजा को प्रसन्न करता है "ग" से जो निरन्तर गमनागमन करता है इस काररा उसको भर्ग कहते हैं ॥७॥ जिसकी संसार के भय से भीत हुए प्राराी प्रार्थना करते हैं जो यह सूर्य के अन्तर्गत भर्ग है इसको मुमुक्षुलोग ॥८॥ जन्म मृत्यु और दैहिक, दैविक, भौतिक दुःख के नाश करने के लिये ध्यान करते हैं। वह पर पुरुष नारायरा सूर्यमण्डल में ध्यान करके देखना चाहिये ॥९॥

॥ इति गायत्रीमन्त्रार्थः ॥

अब आगे प्रकृत गायत्री का चतुर्थ पद बतलाया जाता है। यह जो तपता है वही उस प्रकृत गायत्री के आगे बतलाया जानेवाला तुरीय दर्शत परोरजा पद है। "तुरीयम्" इत्यादि वाक्य के पदों का अर्थ परम करुणामयीश्रुति स्वयं ही उपदेश देती है। निश्चय करके लोक में जो चतुर्थ प्रसिद्ध है वही यह "तुरीय" शब्द से कहा गया है। और यह सूर्यमण्डलान्तर्गत पुरुष दीखता सा है इसलिये यह "दर्शत पद" कहा जाता है। तथा यह सूर्यमण्डलस्थ पुरुष ही समस्त राजस लोक के अत्यन्त ऊपर स्थित होकर प्रकाशित होता है। अर्थात् जो रजस् लोक लोकान्तर से परे है वह

"परोरजा" कहलाता है । रजोगुण के विषय में लिखा है– **रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् । तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥** (गी० अ० १४ श्लो० ७) हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! रजोगुण को तू रागात्मक और तृष्णा तथा सङ्ग का उत्पत्ति स्थान जान । वह इस जीवात्मा को कर्म के सङ्ग से बाँधता है ।।७।। **रजः कर्मणि भारत ॥** (गी० अ० १४ श्लो० ९) हे भारत अर्जुन ! रजोगुण कर्म में लगाता है ।।९।। **लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा । रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥** (गी० अ० १४ श्लो० १२) हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन ! लोभ, प्रवृत्ति कर्मों का आरम्भ अशान्ति और स्पृहा ये सब रजोगुण के बढ़ने पर उत्पन्न होते हैं ।।१२।। **रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ॥** (गीता अ० १४ श्लो० १५) **रजसस्तु फलं दुःखम् ॥१६॥ रजसो लोभ एव च ॥१७॥ मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ॥१८॥** रजोगुण का फल दुःख होता है ।।१६।। रजोगुण से लोभ उत्पन्न होता है ।।१७।। रजोगुणी बीच में ठहर जाते हैं ।।१८।। अब आगे इस चतुर्थ पद की उपासना का फल कहा जाता है कि– जो कोई उपासक इस गायत्री के इस चतुर्थ पद को ऐसा जानता है वह सुप्रसिद्ध उपासक निश्चय करके इसी प्रकार सम्पत्ति से और कीर्ति से प्रकाशित होता है । यहाँ "श्री" शब्द सम्पत्ति वाचक है । क्योंकि लिखा है– **सम्पत्तिः श्रीश्च लक्ष्मीश्च ॥** (अमरकोश कां० २ व० ८ श्लोक ८०) सम्पत्ति १, श्री २, लक्ष्मी ३ ये सम्पत्ति के नाम हैं ।।८२।। इस प्रकार प्रतिपादन किया गया है ।।३।।

सैषा गायत्र्येतस्मिंस्तुरीये दर्शते पदे परोरजसि प्रतिष्ठिता । तद्वै तत्सत्ये प्रतिष्ठितं चक्षुर्वै सत्यं चक्षुर्हि वै सत्यम् । तस्माद् यदिदानीं द्वौ विवदमानावेयाताम् । अहमदर्शमहमश्रौषमिति य एवं ब्रूयादहमदर्शमिति तस्मा एव श्रद्दध्याम । तद्वै तत्सत्यंबले प्रतिष्ठितं प्राणो वै बलं तत् प्राणे प्रतिष्ठितं तस्मादाहुर्बलं सत्यादोजीय इत्येवमु हैषा गायत्र्यध्यात्मं प्रतिष्ठिता । सा हैषा गयाँस्तत्रे । प्राणा वै गयास्तत्प्राणाँस्तत्रे । तद् यद्गयाँस्तत्रे तस्माद्गायत्री नाम स यामेवामूं सावित्रीमन्वाहैषैव सा । स यस्मा अन्वाह तस्य प्राणाँस्त्रायते ।।४।।

अन्वयार्थ–(सा) वह पूर्वोक्त (एषा) यह तीन पादवाली (गायत्री) गायत्री (एतस्मिन्) इस (तुरीये) चतुर्थ (दर्शते) दृष्ट सा (परोरजसि) राजस लोक से पर यानी

उत्कृष्ट दूर ऊपर विद्यमान (पदे) पद सूर्य मण्डलस्थपुरुष में (प्रतिष्ठिता) प्रतिष्ठित है (वै) निश्चय करके (तत्) वह परमात्मपद (तत्) उस (सत्ये) सत्य में (प्रतिष्ठितम्) प्रतिष्ठित है (वै) निश्चय करके (चक्षुः) नेत्र (सत्यम्) सत्य है (हि) क्योंकि (चक्षुः) नेत्र (वै) ही (सत्यम्) सत्य है (तस्मात्) इसलिये (यत्) यदि (इदानीम्) इस समय (द्वौ) दो पुरुष (विवदमानौ) परस्पर विरुद्ध बोलनेवाले (एयाताम्) आवें उनमें से एक कहता हो कि (अहम्) मैंने (इति) ऐसा (अदर्शम्) देखा है और दूसरा कहे कि (अहम्) मैंने (अश्रौषम्) सुना है उन दोनों में से (यः) जो पुरुष (एवम्) ऐसा (ब्रूयात्) कहेगा कि (इति) यह (अहम्) मैंने (अदर्शम्) देखा है (तस्मै) उसी के लिये (एव) निश्चय करके (श्रद्दध्याम) श्रद्धा करेंगे सुनने वाले के लिये नहीं (तत्) उस कारण से (वै) निश्चय करके नेत्र सत्य है (तत्) वह तुरीयपद का आश्रयभूत (सत्यम्) सत्य (बले) बल में (प्रतिष्ठितम्) प्रतिष्ठित है (प्राणः) प्राण (वै) ही (बलम्) बल है (तत्) वह सत्य (प्राणे) प्राण में (प्रतिष्ठितम्) प्रतिष्ठित है (तस्मात्) इसी से (आहुः) कहते हैं कि (बलम्) बल (सत्यात्) सत्य से (ओजीयः) अधिक ओजस्वी है (इति) यह लोक में (उ) निश्चय करके (ह) प्रसिद्ध है कि– जो वस्तु जिसमें आश्रित होती है उसकी अपेक्षा आश्रय अधिक बलवान् होता है (एवम्) इसी प्रकार से (एषा) यह (गायत्री) गायत्री (अध्यात्मम्) शरीरस्थ प्राण में (प्रतिष्ठिता)प्रतिष्ठित है (सा) वह (ह) सुप्रसिद्ध (एषा) इस गायत्री ने (गयान्) गयों को (तत्रे) पालन किया था (यद्) जिस कारण से (तत्) वह इस ऋचा ने (गयान्) प्राणों को (तत्रे) त्राण किया था (तस्मात्) इसी से इसका (गायत्री) गायत्री (नाम) नाम प्रसिद्ध हुआ (सः) वह आचार्य उपनयन के समय (एव) निश्चय करके (याम्) जिस (अमूम्) इस (सावित्रीम्) सावित्री को अर्थात् प्रथम एक पाद पुनः आधी ऋचा पुनः समस्त ऋचा को (अन्वाह) वटुक से कहता है (एषा) यह सावित्री (एव) ही (सा) वह गायत्री है (सः) वह सुप्रसिद्ध आचार्य (यस्मै) जिस शिष्य के लिये (अन्वाह) गायत्रीमन्त्र का उपदेश करता है (तस्य) उस शिष्य वटुक के (प्राणम्) प्राणों को (त्रायते) यह गायत्री नरकादि में गिरने से रक्षा करती है ॥४॥

विशेषार्थ–वह पूर्वोक्त यह तीन पदवाली गायत्री इस चतुर्थ–तुरीय दृष्ट सा–दर्शत, राजसलोक से पर यानी उत्कृष्ट ऊपर विद्यमान पद आदित्यमण्डलस्थ पुरुष में प्रतिष्ठित है। अर्थात् यह गायत्री उसी परमात्मा को कहती है। और वह तुरीय परमात्मपद सत्य में प्रतिष्ठित है। वह सत्य क्या है सो बतलाया जाता है। नेत्र ही सत्य है, किस प्रकार नेत्र सत्य है सो श्रुति बतलाती है। नेत्र ही सत्य है। क्योंकि जब दो पुरुष विवाद करते हुए आते हैं तब एक कहता है कि मैंने देखा है और दूसरा कहता है

कि मैंने सुना है, तू ने जैसी देखी है वह वस्तु वैसी नहीं है, तो उन दोनों में से जो यह कहेगा कि मैंने देखा है उसी के ऊपर हम श्रद्धा करेंगे और दूसरे के ऊपर नहीं, इस कारण से नेत्र सत्य है। वह चतुर्थ पद का आश्रयभूत सत्य बल में प्रतिष्ठित है। वह बल क्या है सो श्रुति बतलाती है—प्राण ही बल है। उस प्राणरूप बल में सत्य प्रतिष्ठित है। इसलिये कहते हैं कि सत्य से बल अधिक ओजस्वी है। लोक में भी जो वस्तु जिसमें आश्रित होती है उसकी अपेक्षा उस आश्रय को अधिक बलवान होना प्रसिद्ध है। कहीं भी दुर्बल बलवान का आश्रयभूत नहीं देख गया है। इस प्रकार उक्त न्याय से यह गायत्री अध्यात्म यानी शरीरस्थ प्राण में प्रतिष्ठित है। गायत्री यह शब्द ही बतलाता है कि यह प्राणों से सम्बन्ध रखने वाली है। अब गायत्री का निर्वचन कहा जाता है। "गय" नाम प्राणों का है। और पालनार्थक "त्रैङ्" धातु से "त्र" "त्री" आदि शब्द बनते हैं। गयों की जो रक्षा करे वह गायत्री कहलाती है। जिस कारण इस ऋचा ने प्राणों की रक्षा की है इसी से इसका गायत्री नाम प्रसिद्ध हुआ है। पुनः इसकी प्रशंसा करते हैं। वह परम प्रसिद्ध आचार्य—**अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत तमध्यापयेत्** ॥ (शतपथब्रा०) आठवर्ष के ब्राह्मणवटु को उपनयन करे और उसको पढ़ावे ॥ इस श्रुति के अनुसार आठवर्ष के वटुक के प्रति उपनयनके समय जिस सावित्री का उपेदश किया था वह यही गायत्री है। इसका देवता सविता है। इससे इसको सावित्री कहते हैं। सावित्री उपदेश के विषय में लिखा है— **अथास्मै सावित्रीमन्वाहोत्तरतोऽग्नेः प्रत्यङ्मुखायोपविष्टयोपसन्नाय समीक्षमाणाय समीक्षिताय** (पारस्करगृ० कां० २ कं० ३ सू० ३) **दक्षिणातस्तिष्ठत आसीनाय वैके** ॥४॥ अब अग्निकुण्ड के उत्तर पश्चिम को मुख कर बैठे हुए प्रसन्नचित्त आचार्य के समीप सम्मुख देखते हुए इस ब्रह्मचारी के ग्रहण के लिये सावित्रीमंत्र को गुरु पढ़े ॥३॥ किसी किसी ऋषि की सम्मति है कि— अग्निकुण्ड के दक्षिण खड़े हुए अथवा बैठे हुए ब्रह्मचारी को आचार्य सावित्री का श्रवण करावे ॥४॥ **पच्छोऽर्द्धर्चशः सर्वां च तृतीयेन सहानुवर्त्तयन्** (पारस्करगृ० कां० २ कं० ३ सू० ५) प्रथम एक पाद, दूसरी बार दो पाद और तीसरी बार संपूर्ण मंत्र ब्रह्मचारी के सहित गुरु पढ़े ॥५॥ अर्थात् आचार्य प्रथम "ओं भूर्भुवः स्वःतत्सवितुर्वरेण्यम्" ऐसा पढ़कर पुनः दूसरी बार "ओं भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियोयोनः प्रचोदयातोम् " ऐसा अपने पढ़ते हुए ब्रह्मचारी से पढ़वावे। क्योंकि लिखा है—**तस्मा अन्वाह पच्छोऽर्द्धर्चश ऋक्श इति महाव्याहृतिश्च विहृता ओङ्कारान्ताः** ॥ (गो० गृ० सू० प्र० २ खं० १० सू० ३९-४०) उस ब्रह्मचारी के लिये आचार्य प्रणव और तीन माहव्याहृतिपूर्वक प्रथम गायत्री मंत्र के एक पाद को तथा दूसरी बार दो पाद को और तीसरी बार प्रणवान्त संपूर्ण मंत्र

को कहता है ।।४०।। **ओङ्कारपूर्विकास्तिस्रो महाव्याहृतयोऽव्ययाः । त्रिपदा चैव सावित्री विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम् ॥** (मनु० अ० २ श्लो ८१) ओंकार पूर्वक विकार रहित तीन "भूर्भुवः स्वः" ये महाव्याहृतियाँ और त्रिपदा सावित्री वेद का आद्य जानना चाहिये ।।८१।। वह सुप्रसिद्ध आचार्य इस गायत्री को जिस शिष्य से कहता है उस वटुक शिष्य के प्राणों को वह गायत्री नारकादि में गिरने से रक्षा करती है ।।४।।

तां हैतामेके सावित्रीमनुष्टुभमन्वाहुर्वागनुष्टुबेतद्वाचमनुब्रूम इति । न तथा कुर्याद् गायत्रीमेव सावित्रीमनुब्रूयात् । यदि ह वा अप्येवंविद् बह्विव प्रतिगृह्णाति न हैव तद् गायत्र्या एकश्चन पदं प्रति ।।५।।

अन्वयार्थ–(एके) एक कोई शाखावलम्बी आचार्य (ह) प्रसिद्ध (ताम्) उस (एताम्) इस (सावित्रीम्) सावित्री को उपनीत वटुक के लिये (अनुष्टुभम्) अनुष्टुप्छन्दवाली का (अन्वाहुः) उपदेश करते हैं (वाक्) वाणी (अनुष्टुप्) अनुष्टुप्छन्दःप्रधाना (इति) इस हेतु से (एतत्) इस (वाचम्) वाणी को ही (अनुब्रूमः) हम माणवक के लिये उपदेश करते हैं (तथा) ऐसा (न) नहीं (कुर्यात्) कोई करे अर्थात् अनुष्टुप् का उपदेश न करे किन्तु (गायत्रीम्) गायत्रीछन्दवाली (सावित्रीम्) सावित्री को (एव) ही (अनुब्रूयात्) उपदेश करे । अब आगे फल बतलाया जाता है (यदि) यदि (वै) निश्चय करके (एवंविद्)इस प्रकार गायत्री को जाननेवाला (ह) सुप्रसिद्ध पुरुष देहयात्रा के लिये (बहु) बहुत (इव) सा (अपि) भी धन (प्रतिगृह्णाति) दान में लेवे तौभी (तत्) वह प्रतिग्रह (ह) सुप्रसिद्ध (गायत्र्याः)गायत्री के (एकश्चन) एक भी (पदम्) पद के (प्रति) बराबर (एव) निश्चय करके (न) नहीं हो सकता है ।।५।।

विशेषार्थ–कोई कोई अन्यशाखावलम्बीआचार्य "**तत्सवितुर्वरेण्यम्**" (यजु० अ० ३ मं० ३५) इस गायत्री मंत्र का उपनयन के समय उपेदश नही करते हैं । किन्तु– **तत्सवितुर्वृणीमहे वयं देवस्य भोजनम् । श्रेष्ठं सर्वधातमं तुरं भगस्य धीमहि ॥** (ऋग्वे मण्ड० ५ सूक्त० ८२ मं० १) इस अनुष्टुप् छन्दवाले मंत्र का उपदेश करते हैं । इस ऋचा के भी देवता हैं सविता इससे इस मंत्र को भी सावित्री कहते हैं । क्योंकि लिखा है–**यस्मिन्मंत्रे तु यो देवस्तेन देवेन चिह्नितम् । मंत्रं तद्दैवतं विद्यात्सन्ति तत्र तु देवताः ॥** (बृहत्पाराशरस्मृ० अ० २ श्लो० ४१) जिस मंत्र मे जो देवता रहता है, उस देवता से चिह्नित वह मंत्र है और उस मंत्र का वही देवता है ऐसा जानना चाहिये

क्योंकि उस मंत्र में देवता हैं ।।४१।। इस प्रमाण से "सवितुः" पद से चिह्नित ऋचा का सविता देवता है । और इस ऋचा का अनुष्टुप् छन्द है । क्योंकि लिखा है– **अनुष्टुब् गायत्रैः** ॥ (पिङ्गल० अ० ३ सू० २३) आठ आठ अक्षरों के चारो पाद जिसके हों वह अनुष्टुप् छन्द है ।।२३।। यहाँ साक्षात् श्रुति कहती है कि– "तत्सवितुर्वरेण्यम्" इसी गायत्री का उपेदश करना चाहिये । "तत्सवितुर्वृणीमहे" इस अनुष्टुप् का उपनयन के समय उपदेश करते हैं और इसमें हेतु देते हैं कि– अनुष्टुप्छन्द वेदवाणी है, इससे इस वाक् को हम उपदेश करते हैं । इस पर श्रुति बतलाती है कि– ऐसा कोई न करे । अर्थात् अनुष्टुप् का उपदेश न करे किन्तु गायत्री का ही उपदेश करे जो सावित्री कहलाती है । सविता यानी जनयिता पिता परमात्मा जिसका देवता हो वह सावित्री है । अब आगे इसका फल बतलाया जाता है । यदि इस प्रकार गायत्री का जाननेवाला पुरुष शरीरयात्रा के लिये बहुत अधिक धन प्रगिग्रह अर्थात् दान में लेवे तो भी वह प्रतिग्रह गायत्री के एक पाद के भी तुल्य नहीं हो सकता है अर्थात् ऐसा विद्वान् यदि यज्ञ में अधिक दक्षिणा प्रयोजन वश ले लेवे तो वह अधिक नहीं है ।।५।।

स य इमाँ स्त्रींल्लोकान् पूर्णान् प्रतिगृह्णीयात्सोऽस्याएतत्प्रथमं पदमाप्नुयात् । अथ यावतीयं त्रयी विद्या यस्तावत्प्रतिगृह्णीयात्सोऽस्या एतद् द्वितीयं पदमाप्नुयात् । अथ यावदिदं प्राणि यस्तावत्प्रतिगृह्णीयात्सोऽस्या एतत् तृतीयं पदमाप्नुयात् । अथास्या एतदेव तुरीयं दर्शतंपदं परोरजा य एष तपति नैव केनचनाऽऽप्यं कुत उ एतावत् प्रतिगृह्णीयात् ।।६।।

अन्वयार्थ– (यः) जो उपासक (इमान्) इन (पूर्णान्) गो अश्वादि धन से पूर्ण (त्रीन्) तीनों (लोकान्) भूर्लोकादिकों को (प्रतिगृह्णीयात्) प्रतिग्रह यानी दान लेता है (सः) वह गायत्रीवेत्तापुरुष (अस्याः) इस गायत्री के (एतत्) इस (प्रथमम्) प्रथम (पदम्) पादज्ञान के फल को (आप्नुयात्) प्राप्त किया है, प्रथम पादज्ञान का लोकत्रयभोक्तृत्व फल है (अथ) और (यावती) जितनी (इयम्) इस (त्रयी) ऋग् गजुः सामरूप त्रयी (विद्या) विद्या है (तावत्) उतना (यः) जो (प्रतिगृह्णीयात्) प्रतिग्रह यानी दान लेता है (सः) वह गायत्रीवेत्ता (अस्याः) इस गायत्री के (एतत्) इस (द्वितीयम्) द्वितीय (पदम्) पादज्ञान के फल को (आप्नुयात्) प्राप्त किया है । द्वितीय पादज्ञान का त्रयीप्रकाश्य सकल फलानुभव फल है (अथ) और (यावत्) जितना

(इदम्) यह (प्राणि) प्राणी समूह है (तावत्) उतना (यः) जो कोई (प्रतिगृह्णीयात्) प्रतिग्रह लेता है (सः) वह गायत्रीवेत्ता पुरुष (अस्याः) इस गायत्री के (एतत्) इस (तृतीयम्) तृतीय (पदम्) पदज्ञान के फल को (आप्नुयात्) प्राप्त किया है तृतीय पादज्ञान का सर्वप्राणिशेषित्व फल है (अथ) और (अस्याः) इस गायत्री के (एतत्) यही (एव) निश्चय करके (तुरीयम्) चौथा (दर्शतम्) दीखता सा (परोरजाः) राजस लोक से पर यानी उत्कृष्ट (पद) पद है (यः) जो (एषः) यह सूर्यमण्डलस्थ पुरुष (तपति) प्रकाशित हो रहा है तुरीय पाद का जो फल है वह (केनचन) किसी से भी (एव) निश्चय करके (न) नहीं (आप्यम्) प्राप्त करने योग्य है क्योंकि (उ) निश्चय करके (कुतः) कहाँ से (एतावत्) इतना (प्रतिगृह्णीयात्) कोई प्रतिग्रह ले सकता है ।।६।।

विशेषार्थ– पुनः गायत्री की ही महिमा को विशेष रूप से बतलाया जाता है । जो कोई उपासक इन तीनों भूमि, अन्तरिक्ष और द्युलोकों को धनधान्य से परिपूर्ण, दान लेता है तो वह गायत्रीवेत्तापुरुष इस गायत्री के "तत्सवितुर्वरेण्यम्" इस पहले पाद के ज्ञान के फल को प्राप्त किया है । पहले पाद ज्ञान का लोकत्रयभोक्तृत्व फल है और फिर जितनी यह त्रयी विद्या ऋग्, यजुः, साम है, उतना जो कोई प्रतिग्रह लेता है तो उस गायत्रीवेत्ता पुरुष ने इस गायत्री के "भर्गोदेवस्य धीमहि" इस दूसरे पाद के ज्ञान के फल को प्राप्त किया है। दूसरे पादज्ञान का त्रयीप्रकाश्य समस्त फलानुभव फल है । तथा जितने ये प्राणी हैं, उतना जो कोई पुरुष दान लेता है तो उस गायत्रीवेत्ता ने इस गायत्री के "धियो योनः प्रचोदयात्" इस तीसरे पाद के ज्ञान के फल को प्राप्त किया है । तीसरे पादज्ञान का सर्वप्राणिशेषित्व फल है । और इस गायत्री का निश्चय करके यही चौथा दर्शत यानी दीखता हुआ परोरजा अर्थात् राजस लोक से पर यानी श्रेष्ठ पद है, जो कि यह आदित्यमण्डलस्थ पुरुष प्रकाशित हो रहा है । चतुर्थ पाद का जो फल है वह किसी भी प्रतिग्रह के द्वारा प्राप्तव्य नहीं है, क्योकि कहाँ से कोई इतना प्रतिग्रह यानी दान ले सकता है । इससे तुरीय पादज्ञान का अनन्त फल है । ऐसा समझ कर गायत्री की उपासना करनी चाहिये ।।६।।

तस्या उपस्थानं गायत्र्यस्येकपदी द्विपदी त्रिपदी चतुष्पद्यपदसि न हि पद्यसे । नमस्ते तुरीयाय दर्शताय पदाय परोजसेऽसावदो मा प्रापदिति यं द्विष्यादसावस्मै कामो मा समृद्धीति वा न हैवास्मै स कामः समृध्यते यस्मा एवमुपतिष्ठतेऽहमदः प्रापमिति वा ।।७।।

अन्वयार्थ– (तस्याः) उस गायत्री का (उपस्थानम्) उपस्थान कहा जाता है (गायत्रि) हे गायत्रि तू (एकपदी) त्रैलोक्य रूप प्रथम पाद से (एकपदी) एकपदी (असि) है तथा तीनों ऋगादि वेदरूप द्वितीय पाद से (द्विपदी) द्विपदी है और तीनों प्राणादि रूप तीसरे पाद से (त्रिपदी) त्रिपदी है तथा तुरीय दर्शत परोरजा रूप चौथे पाद से (चतुष्पदी) चतुष्पदी है और (अपद्) अपदी (असि) तू है (हि) क्योंकि अपरिच्छिन्न महिमावाली होने से (न) नहीं (पद्यसे) परिच्छिन्नरूप से तू जानी जाती है (परोरजसे) समस्त राजस लोकों से ऊपर विराजमान (दर्शताय) दर्शनीय (ते) तेरा (तुरीयाय) चतुर्थ (पदाय) पद के लिये (नमः) नमस्कार है (असौ) यह पापरूप भयङ्कर शत्रु (अदः) इस विघ्नाचरण रूप कार्य को (मा) नहीं (प्रापत्) प्राप्त करे (इति) यही मेरी प्रार्थना है (असौ) यह उपासक (यम्) जिस शत्रु के प्रति (द्विष्यात्) द्वेष करता हो (अस्मै) इस अमुक नामवाले शत्रु का (कामः) अभिलाषा (मा) नहीं (समृद्धि) बढ़ने पावे (इति) ऐसा कहकर उपस्थान करता है (वा) अथवा (यस्मै) जिस पापिष्ठ के लिये (ह) सुप्रसिद्ध गायत्री वेत्ता (एवम्) इस प्रकार (उपतिष्ठते) उपस्थान करता है तो (एव) अवश्य ही (अस्मै) उस दुष्ट का (सः) वह (कामः) अभीष्ट कामना (न) नहीं (समृध्यते) समृद्ध होती है (वा) और (अहम्) मैं (अदः) इस अभीष्ट श्रेय को (प्रापम्) प्राप्त कर लूँ (इति) इस उद्देश्य से उपस्थान करता है तो उस अभिप्रेत अर्थ को प्राप्त कर लेता है ॥७॥

विशेषार्थ– उस पूर्वोक्त गायत्री का इस मन्त्र से उपस्थान कहा जाता है। ध्येय देवता को मन से प्रत्यक्ष देखते हुए समीप में उपस्थित हो प्रार्थना करने का नाम "उपस्थान" है। हे गायत्रि ! भूमि, अन्तरिक्ष और द्युलोक ये तीनों लोक तेरा एक पद है इससे तू एकपदी है। और ऋग् यजुः साम ये तीनों वेद तेरा द्वितीय पद है इससे तू द्विपदी है। तथा प्राण, अपान, व्यान ये तीनों प्राणादिवायु तेरा तृतीय पद है इससे तू त्रिपदी है। और दर्शनीय सम्पूर्ण राजस लोक से श्रेष्ठ तुरीय पद तेरा चतुर्थपद है इससे तू चतुष्पदी है। और तू अपदी भी है क्योंकि अपरिच्छिन्न महिमावाली होने से परिच्छिन्नरूप से तू नहीं जानी जाती है। यहाँ गायत्री वाच्य परब्रह्म नारायण को ही गायत्रीत्वेन ध्यान कर यह वर्णन किया गया है। हे गायत्रि ! तेरे चतुर्थ दर्शत यानी दर्शनीय परोरजा यानी सम्पूर्ण राजस लोकों से ऊपर विराजमान पद के लिये नमस्कार है। अर्थात् मैं अकिंचन साष्टाङ्ग प्रणिपात करता हूँ। यह पापरूप भयङ्कर शत्रु तेरी प्राप्ति में विघ्नाचरणरूप कार्य को करने में समर्थ न हो। यहाँ पर "मा" अव्यय शब्द निषेध वाचक है। क्योंकि लिखा है– **मास्म मालं च वारणे ॥** (अमर० कां० ३ व० ४ श्लो० ११) मास्म १, मा २, अलम् ३ ये निषेध वाचक अव्यय शब्द हैं ॥११॥

यह उपासक जिस पापिष्ठ शत्रु से द्वेष करता है उस अमुक नामवाले शत्रु का अभिप्रेत अर्थ समृद्ध न हो अर्थात् सम्पन्नता को प्राप्त न हो ऐसा कह कर विद्वान् उपस्थान करता है। जिस पापिष्ठ के लिये गायत्रीवेत्ता इस प्रकार उपस्थान करता है उस दुर्जन की वह कामना पूर्ण नहीं ही होती है। और इस भागवत के लिये अभीष्ट अर्थ को मैं प्राप्त कर लूँ—इस उद्देश्य से यदि उपस्थान करता है तो उस भागवत के लिये उस अभिप्रेत अर्थ को पा लेता है। अर्थात् वह उपासक जिसके लिये जिस वस्तु की प्राप्ति या अप्राप्ति की कामना करता है उसके लिये वह वस्तु प्राप्त और अप्राप्त होती है। इस कण्डिका में "असौ" "अदः" "मा" "प्रापत्" इन तीन मन्त्रपदों का उपासक के इच्छानुसार विकल्प हो सकता है ॥७॥

एतद्ध वै तज्जनको वैदेहो बुडिलमाश्वतराश्विमुवाच । यन्नु भो तद्गायत्रीविदब्रू थाः । अथ कथं हस्तीभूतो वहसीति । मुखं ह्यस्याः सम्राण्न विदाञ्चकारेति होवाच । तस्या अग्निरेव मुखं यदि ह वा अपि बह्विवाग्नावभ्यादधाति सर्वमेवैतत् संदहत्येवं हैवैवंविद् यद्यपि बह्विवपापं कुरुते सर्वमेव तत्संसाय शुद्धः पूतोऽमृतोऽजरः संभवति ॥८॥

॥ इति पञ्चमाध्याये चतुर्दशं ब्राह्मणम् ॥

अन्वयार्थ—(वै) निश्चय करके (एतत्) इस गायत्री विज्ञान के विषय में (तत्) उस वक्ष्यमाण वचन को (ह) सुप्रसिद्ध (वैदेहः) विदेह देशाधिपति (जनकः) जनक महाराजने (आश्वतराश्विम्) अश्वतराश्व ऋषिके पुत्र (बुडिलम्) बुडिल नामक आचार्य से (उवाच) कहा कि (भो) हे भगवन् (नु) मैं वितर्क करता हूँ कि (यत्) जो तूने (गायत्रीविद्) अपने को गायत्री का ज्ञाता (अब्रूथाः) कहा था (तत्) तो (अथ) फिर (कथम्) कैसे (हस्तीभूतः) हाथी के समान प्रतिग्रहादिजन्य पाप को (वहसि) ढोता है (इति) इस बात को सुनकर (ह) सुप्रसिद्ध बुडिलाचार्य ने (इति) ऐसा (उवाच) कहा कि (सम्राट्) हे सम्राट् जनक ! (हि) निश्चय करके (अस्याः) इस गायत्री के (मुखम्) मुख को (न) नहीं (विदाञ्चकार) मैंने जाना है इससे गज के समान पाप को ढो रहा हूँ तब (ह) सुप्रसिद्ध जनक ने कहा कि (तस्याः) उस गायत्री का (अग्निः) अग्नि (एव) ही (मुखम्) मुख है (वै) निश्चय करके (यदि) यदि कोई पुरुष (वहु) बहुत (इव) सा (अपि) भी ईन्धन (अग्नौ) अग्नि में (अभ्यादधाति) रख देता है तो (एतत्) इस (सर्वम्) समस्त ईन्धन को (एव) निश्चय करके (संदहति)

अच्छी तरह अग्नि भस्म कर देती है (एवम्) इसी प्रकार (ह) सुप्रसिद्ध (एवंविद्) गायत्री का मुख अग्नि है ऐसा जानने वाला (एव) निश्चय करे (यद्यपि) यद्यपि (बहु) बहुत (इव) सा भी (पापम्) प्रतिग्रह ग्रहण रूप पापको (कुरुते) करता है तथापि वह उपासक (तत्) उस (सर्वम्) सम्पूर्ण पाप समूह को (एव) निश्चय (संसाय) विनाश करके (शुद्धः) शुद्ध ब्रह्म विद्या वाला (पूतः) ब्रह्मविद्याप्रतिबन्धक पापरहित (अजरः) जरा रहित (अमृतः) मरणशून्य (संभवति) हो जाता है ॥८॥

विशेषार्थ– इस गायत्री विज्ञान के विषय में यह एक सुप्रसिद्ध संवाद कहा जाता है कि–विदेहदेशाधिपति जनक महाराज ने अश्वतराश्वऋषि के पुत्र बुडिल नामक ऋषि से कहा कि–हे भगवन् मैं ! वितर्क करता हूँ कि–आश्चर्य की बात है, आप सर्वदा अपने को गायत्री का ज्ञाता कहा करते हैं, तब कैसे हाथी के समान प्रतिग्रहादिजन्य पापको ढो रहे हैं। जनक महाराज के इस वचन को सुनकर बुडिलाचार्य ने कहा कि–हे सम्राट् जनक ! मैंने इस गायत्री का मुख नहीं जाना है। इससे एक अङ्ग से रहित होने के कारण मेरा गायत्री विज्ञान निष्फल हो गया है। अतः हाथी के समान मैं पाप को ढो रहा हूँ। सम्राट् के विषय में लिखा है ॥ **येनेष्टं राजसूयेन मण्डलस्येश्वरश्च यः। शास्ति यश्चाज्ञया राज्ञः स सम्राट्** (अमर० कां० २ व० ८ श्लो० ३) जो मण्डलेश्वर राजसूययज्ञ किया हो और सब राजाओं का शिक्षक हो तो उसका नाम सम्राट् होता है ॥३॥ तब जनक महाराज ने कहा कि–उस गायत्री का अग्नि ही मुख है। हे श्रोत्रिय ! यदि कोई पुरुष अग्नि में बहुत सा भी ईन्धन रख देता है तो वह अग्नि उस सभी को दग्ध कर देती है। इसी दृष्टान्त के समान ही गायत्री का मुख अग्नि है ऐसा जो जानता है, वह पुरुष यद्यपि बहुत सा प्रतिग्रह लेकर अपराध करता है तथापि उस सब पाप समूह को भस्म करके शुद्ध यानी संपन्न ब्रह्म-विद्या वाला पूत यानी ब्रह्मविद्याप्रतिबन्धक पापरहित होकर अजर और अमर हो जाता है। यहाँ पर "बृहदारण्यकोपनिषद्" के पञ्चम अध्याय का चतुर्दश गायत्री ब्राह्मण समाप्त हो गया ॥८॥

॥ अथ पञ्चदशं ब्राह्मणम् ॥

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥ पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह। तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि। योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥ वायुरनिलममृतमथेदं

भस्मान्तं शरीरम् । ओं क्रतो स्मर कृतं स्मर क्रतो स्मर कृतं स्मर ॥ अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देवा वयुनानि विद्वान् । युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥१॥

॥ इति पञ्चमाध्याये पञ्चदशं ब्राह्मणम् ॥

॥ इति बृहदारण्यकोपनिषदि पञ्चमोऽध्यायः ॥

अन्वयार्थ–(पूषन्) हे सब संसार का पोषण करने वाले सूर्यदेव (हिरण्मयेन) ज्योतिर्मय तेजिष्ठ (पात्रेण) पात्र से (सत्यस्य) सत्य स्वरूप सर्वेश्वर का (मुखम्) द्वार यानी ब्रह्मगमनमार्ग (अपिहितम्) ढका हुआ है (सत्यधर्माय) सत्य परब्रह्म के उपासक मेरे लिये (दृष्टये) परब्रह्म के दर्शन के निमित्त (त्वम्) तुम (तत्) उस द्वार को (अपावृणु) आवरण रहित कर दो (पूषन्) हे सब जगत् का पोषण करने वाला (एकर्षे) हे सब के प्रधान द्रष्टा (यम) हे सब के संयमन करने वाला (सूर्य) हे जगत् के रस रश्मि प्राण और बुद्धि को सम्यक् प्रकार से प्रेरित करने वाला सूर्य (प्राजापत्य) हे प्रजापति के पुत्र काश्यपेय (रश्मीन्) अपनी उग्र रश्मियों को (व्यूह) तुम हटालो और (तेजः) अपने तज को (समूह) समेट लो (ते) तुम्हारा (यत्) जो सुप्रसिद्ध (कल्याणतमम्) उस अतिशय कल्याणमय स्वरूप को (पश्यामि) मैं आप की कृपा से देखता हूँ (यः) जो (असौ) वह (पुरुषः) आदित्यमण्डलस्थ पुरुष परमात्मा है (असौ) और जो प्राण में है (सः) वह (अहम्) मैं (अस्मि) हूँ अर्थात् आत्मा यादृक् रूप है यादृक् रूप मैं हूँ (वायुः) अर्चिरादिगत मेरी प्राणवायु (अनिलम्) बाह्यवायु को प्राप्त हो जाय (अमृतम्) स्वरूप तथा धर्म से अविनाशी मैं अमृत स्वरूप परब्रह्मको प्राप्त करलूँ (अथ) और (इदम्) यह प्राकृतस्थूल (शरीरम्) शरीर (भस्मान्तम्) भस्मान्त हो जाय (ओम्) हे प्रणवप्रतिपाद्य आदित्य (क्रतो) हे यज्ञस्वरूप सूर्य मेरे द्वारा की हुई उपासना को (स्मर) स्मरण करो (कृतम्) और उपासना के अङ्गभूत मेरे द्वारा किये हुए कर्म को (स्मर) स्मरण करो (क्रतो) हे यज्ञस्वरूप सूर्यदेव मेरे द्वारा की हुई उपासना को (स्मर) स्मरण करो (कृतम्) और उपसना के अङ्गभूत मेरे द्वारा किये हुए कर्म को (स्मर) स्मरण करो (अग्ने) हे आगे ले चलनेवाले अग्निदेव (अस्मान्) अनन्यप्रयोजन और अनन्यगति हम सबों को (राये) परमधनरूप नारायणकी सेवा में पहुँचने के लिये (सुपथा) सुन्दर शुभ अर्चिरादिमार्ग से (नय) ले चलो (देव) हे द्योतमान अग्ने (विश्वानि) सम्पूर्ण (वयुनानि) कर्मों को या ज्ञानों को (विद्वान्)

जानने वाले तुम (जुहुराणम्) कुटिल बन्धात्मक (एनः) अकृत्यकरण—कृत्याकरणादिरूप पाप को (अस्मात्) हम से (युयोधि) दूरकरो (ते) तेरे लिये (भूयिष्ठाम्) बहुत सी (नम उक्तिम्) नमस्कार के वचन को (विधेम) हम विधान करते हैं ॥१॥

विशेषार्थ—अब अर्चिरादि मार्ग केआतिवाहिकों में अनुप्रविष्ठआदित्यदेव की प्रार्थना का मंत्र बतलाया जाता है। यद्यपि इस पञ्चम अध्याय के अन्तिम ब्राह्मण में पठित ये मन्त्र "ईशोपनिषद्" के पन्द्रहवें, सोलहवें, सत्रहवें, अठारहवें मन्त्र में परब्रह्म नारायणपरक प्रतिपादन किये गये हैं तथापि यहाँ पर प्रकरण के द्वारा सूर्य परक ही व्याख्या की जाती है। क्योंकि लिखा ॥ **संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता। अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य संनिधिः ॥ सामर्थ्यमौचितिः देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः। शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ॥** लघुमञ्जूषा० ॥ संयोग १, विप्रयोग २, और साहचर्य ३, विरोधिता ४, अर्थ ५, प्रकरण ६, लिङ्ग ७, अन्यशब्द की संनिधि ८, सामर्थ्य ९, औचिति १०, देश ११, काल १२, व्यक्ति १३, स्वरादिक १४, ये सब शब्दार्थ के अनवच्छेद में विशेष स्मृति के कारण हैं। यह उपस्थान का प्रकरण है इस लिये इस मन्त्र का सूर्य परक ही अर्थ करना उचित है। अब आगे कण्डिका का अर्थ बतलाया जाता है। हे समस्त संसार का पोषण करने वाले सूर्य! यहाँ पर "पूषन्" शब्द सूर्य वाचक है। क्योंकि लिखा है ॥ **आदित्यः सविता सूर्यः खगः पूषा गभस्तिमान् ॥** वाल्मीकीयरा० युद्धकां० ६ आदित्यहृद० श्लो० १० ॥ आदित्य १, सवितृ २, सूर्य ३ खग ४, पूषन् ५, गभस्तिमान् ६, ये सूर्य के नाम हैं ॥१०॥ **विकर्तनार्कमार्तण्डमिहिरारुणपूषणः ॥** (अमर० कां० १ व० ३ श्लो २९) विकर्तन १, अर्क २, मार्तण्ड ३, मिहिर ४ अरुण ५, पूषन् ६, ये सूर्य के नाम हैं ॥२९॥ ज्योतिर्मय—तेजिष्ठ—सोने के पात्र यानी भाजन से। यहाँ "पात्र" शब्द भाजन वाचक है। क्योंकि लिखा है ॥ **योग्यभाजनयोः पात्रम् ॥** (अमर० कां० ३ व० ३ श्लो १७९॥ लायक तथा बर्तन में पात्र शब्द का प्रयोग होता है ॥१७९॥ सत्यस्वरूप परब्रह्म नारायण होता है। क्योंकि लिखा है ॥ **सत्यं ज्ञानमनन्तंब्रह्म ॥** तैत्ति० उ० व० २ अनु० १ श्रु० १ ॥ सत्य, ज्ञान और अनन्त ब्रह्म है ॥१॥ **सत्त्ववान् सात्त्विकः सत्यः सत्यधर्मपरायणः ॥** (महाभार० अनुशास० विष्णुसह० श्लो० १०६) सत्त्ववान् १, सात्त्विक २, सत्य ३, सत्यधर्मपरायण ४ ये नारायण के नाम हैं ॥१०६॥ यहाँ "मुख" शब्द ब्रह्मगमन मार्ग यानी निकास वाचक है। क्योंकि लिखा है ॥ **मुखं निःसरणम्** (अमर० कां० २ व० ३ श्लो० १९) मुख १, और निःसरण २ निकास के नाम हैं ॥१९॥ सत्य परब्रह्म नारायण के उपासक ब्रह्मैकनिष्ठ मेरे लिये परब्रह्म नारायण के दर्शन के निमित्त तुम उस द्वार को आवरण रहित कर दो जिससे मैं नारायण का दर्शन कर

सकूँ। यह खण्ड (ईशोप० श्रु० १५) में है और (शुक्लयजु० अ० ४० मं० १७) में भी है परन्तु यजुर्वेदसंहिता में "योसावादित्ये पुरुषः सोसावहम्" ऐसा मन्त्र के उत्तरार्द्ध में पाठभेद है। हे सब जगत् का पोषरा करने वाले पूषन्! और हे समस्त संसार को प्रधान देखने वाले एकर्षे! "एकर्षि" यहाँ पर एक का अर्थ प्रधान है। क्योंकि लिखा है ॥ **एकोऽन्यार्थे प्रधाने च प्रथमे केवले तथा। साधाररो समानेऽल्पे संख्यायां च प्रयुज्यते ॥** मनोरमा ॥ अन्यार्थ में, प्रधान में, केवल में साधाररा में समान में, अल्प में और संख्या में एक शब्द का प्रयोग होता है॥ और ऋषि शब्द का देखना अर्थ है। क्योंकि लिखा है ॥ **तच्चक्षुर्देवहितम्** ॥ यजुर्वे० देवताओं का कल्यारा करने वाला वह सूर्यसब को देखनेवाला नेत्र है॥ अथवा सूर्य अकेला ही चलता है इस लिये एकर्षि है क्योंकि लिखा है॥ **सूर्य एकाकी चरति** ॥ (श्रुति) सूर्य अकेला चलता है॥ और ऋषि शब्द का अर्थ वायु पुरारा में लिखा है कि **ऋषीत्येष गतौ धातुः श्रुतौ सत्ये तपस्यथ। एतत्सन्नियतं यस्मिन् ब्रह्मराा स ऋषिः स्मृतः ॥** वायुपु० अध्या० ५९ श्लो० ७९ ॥ **गत्यर्थादृषतेर्धातोर्नाम निर्वृत्तिरादितः। यस्मादेष स्वयंभूतस्तस्माच्च ऋषिता स्मृता ॥ ८१॥** ऋष धातु–गमन, श्रवरा, सत्य और तप इन अर्थों में प्रयुक्त होता है। ये सब बातें जिसके अन्दर एक साथ निश्चित रूप से हों उसी का नाम वेद ने ऋषि रखा है॥७९॥ गत्यर्थक ऋषधातु से ही ऋषि शब्द की निष्पत्ति हुई है और आदि काल में यह ऋषि स्वयं उत्पन्न होता है इसीलिये इसकी ऋषि संज्ञा है॥८१॥ हे संपूर्रा जगत् का संयमन करने वाले यम! क्योंकि लिखा है ॥ **महेन्द्रो धनदः कालो यमः सोमो ह्यपांपतिः** ॥ वाल्मीकीयरा० युद्धकां० आदित्यहृद० श्लो० ८ ॥ महेन्द्र, कुबेर, काल, यम, सोम और जलों के पति वरुरा ये सब सूर्य का ही नाम है॥८॥ हे समस्त संसार के रस, रश्मि प्रारा और बुद्धि को सम्यक् प्रकार से प्रेरित करने वाले सूर्य। हे प्रजापति–परब्रह्म नारायरा के पुत्र! "प्रजापति" शब्द नारायरा वाचक है। क्योंकि लिखा है॥ **प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तः** ॥ यजु० अ० ३१ मं० १९ ॥ प्रजा की रक्षा करने वाला नारायरा गर्भ के भीतर चलता है॥१९॥ **सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः** (गी० अ० ३ श्लो० १०) प्रजारक्षक नारायण ने पहले यज्ञ के सहित प्रजा को रचकर कहा॥१०॥ और– **नारायणाद् द्वादशादित्या रुद्रा वसवः सर्वाणि छन्दांसि समुत्पद्यन्ते॥** नारायणोप० श्रु० १ ॥ नारायण से बारह आदित्य, ग्यारहरुद्र, आठवसु और सब छन्द उत्पन्न होते हैं॥१॥ अथवा प्रजापति–चतुर्मुख ब्रह्मा के पुत्र होने के कारण हे प्राजापत्य! क्योंकि लिखा है॥ **चक्षोः सूर्यो अजायत॥** (यजु० अ० ३१ मं १२) चतुर्मुख ब्रह्मा के नेत्र से सूर्य उत्पन्न हुआ॥१२॥ अथवा हे कश्यपनामक प्रजापति के पुत्र सूर्य! क्योंकि

लिखा है।। **जपाकुसुमसंकाशं काश्यपेयं महाद्युतिम्। तमोऽरिंसर्वपापघ्नं प्रणतोऽस्मि दिवाकरम्।।** (नवग्रहस्तो० श्लो० १) ओड़हुल के पुष्प के समान लाल तथा महाद्युतिशाली अन्धकार को नाश करने वाले और समस्त पाप को हनन करने वाले कश्यपतनय दिवाकर को मैं प्रणाम करता हूँ।।१।। यहाँ पर "पूषन्" "एकर्षे" "यम" "सूर्य" "प्राजापत्य" ये पाँच संबोधन पद सूर्य को संबोधन करने के लिए हैं। हे सूर्यदेव! परब्रह्म नारायण के दिव्य स्वरूप दर्शन के अनुपयुक्त अपनी उग्रकिरणों को हटा लीजिये और दर्शन के उपयोगी जो आज का तेज है उसको इकट्ठा कर लीजिये। यहाँ "रश्मि" शब्द किरण वाचक है। क्योंकि लिखा है।। **किरणोस्त्रमयूखांशुगभस्तिघृणिरश्मयः** (अमर० कां० १ व० ३ श्लो० ३३) किरण १, उस्र २, मयूख ३, अंशु ४, गभस्ति ५, घृणि ६, रश्मि ७, ये सूर्य की किरण के नाम हैं।। ३३ वेद शास्त्र में प्रसिद्ध सौन्दर्यादि गुणों से युक्त जो आप का अतिशय कल्याणमय शुभाश्रय स्वरूप है उसको मैं आप की कृपा से देखता हूँ। और जो विप्रकृष्ट देशवर्ती वह प्राण में परम पुरुष है। क्योंकि लिखा है।। **इदमस्तु सन्निकृष्टे समीपतरवर्ति चैतदो रूपम्। अदसस्तु विप्रकृष्टे तदिति परोक्षे विजानीयात्।।** (मनोरमा) सन्निकृष्ट में "इदम्" शब्द का और समीपतर में "अदस्" शब्द का तथा विप्रकृष्ट देश में "अद्स" शब्द का और परोक्ष में "तत्" शब्द का प्रयोग होताहै ऐसा जान ले।। तो श्रुति में पहला "असौ" पद "अदस्" शब्द के प्रथमा के एक वचन का रूप है। इससे इसका–विप्रकृष्ट देशवर्ती वह" यह अर्थ होता है तथा दूसरा "असौ" पद "असु" शब्द के सप्तमी के एक वचन का रूप है। इससे इसका "प्राण में" यह अर्थ होता है। क्योंकि यह लिखा है।। **गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः** (गी० अ० २ श्लो० ११) पण्डित लोग गतप्राण वाले शरीरों को और अविनाशी जीवों को नहीं शोक करते हैं।।११।। इस श्लोक की व्याख्या में श्रीशेषावतार भगवद्रामानुजापरावतार श्रीवरवर मुनीन्द्राचार्य ने "असवः प्राणाः" ऐसी स्पष्ट व्याख्या की है। इससे तथा।। **पुंसि भूम्न्यसवः प्राणाः** (अमर० कां० २ व० ८ श्लो० ११९) असु १, प्राण २, ये दो नाम प्राण के हैं।।११९।। इस अमरकोश के प्रमाण से "प्राण में" यह अर्थ होता है। तब जो प्राण में वह परमात्मा है, वही आदित्य मण्डल में है, वह मैं हूँ। अर्थात् आत्मा यादृक् रूप है तादृक् रूप मैं हूँ। यह खण्ड (ईशोप० श्रु० १६) में भी है। अर्चिरादिगति को प्राप्त करने वाला जो मैं हूँ, मेरे शरीर में जो यह भीतरी प्राण वायु है वह अब बाह्य वायु में मिल जाय। यहाँ "अनिल" शब्द वायु वाचक है। क्योंकि लिखा है।। **पृषदश्वो गन्धवहो गन्धवाहानिलाशुगाः** (अमर० कां० १ व० १ श्लो० ६२) पृषदश्व १, गन्धवह २, गन्धवाह ३, अनिल ४, आशुग ५, ये वायु के नाम हैं।।६२।। और

स्वरूप से तथा धर्म से अविनाशी मैं परब्रह्म नारायण में मिल लूँ विनाश रहित होने से जीव को "अमृत" कहते हैं। क्योंकि लिखा है।। **क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः** (श्वेता० उ० अ० १ श्रु० १०) प्रकृति तो विनाश शील है इसको भोगने वाली जीवात्मा अमृतस्वरूप अविनाशी है । इन विनाशशील जड तत्त्वों को और चेतन आत्मा को एक परब्रह्म नारायण देव अपने शासन में रखते हैं।।१०।। और यह प्राकृत स्थूल कर्मवश्य शरीर अग्नि में जल कर भस्म रूप अन्त में हो जाय। यहाँ पर भस्म शब्द दाहसंस्कार वाचक होने पर भी खननादि संस्कार वाचक है। क्योंकि अथर्ववेद में लिखा है।। **ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धाः** (अथर्ववे० कां० १८ सू० २ मं० ३४) ये अग्निदग्धा, ये अनग्निदग्धाः।।३५।। जो पृथ्वी में खनकर गाड़े गये हैं, जो जल में छोड़ दिये गये हैं। और जो अग्नि में जला दिये गये हैं।।३४।। जो अग्नि में भस्म हुए हैं और जो अग्नि में नहीं भस्म हुए हैं।।३५।। अर्थात् यह प्राकृत स्थूल शरीर कृमि, विट् या भस्म अन्त में हो जाय। हे प्रणव प्रतिपाद्य सूर्यदेव। हे क्रतुस्वरूप सूर्यदेव! यहाँ पर "क्रतु" शब्द यज्ञ वाचक है। क्योंकि लिखा है।। **यज्ञः सवोऽध्वरो यागः सप्ततन्तुर्मखः क्रतुः** (अमर० कां० २ व० ७ श्लो० १३) यज्ञ १, सव २, अध्वर ३, याग ४, सप्ततन्तु ५, मख ६, क्रतु ७, ये यज्ञ के नाम हैं।।१३।। मेरे द्वारा की हुई उपासना को स्मरण कीजिये। बार बार मैं प्रार्थना करता हूँ कि उपासना के अङ्गभूत मेरे द्वारा किये हुए कर्म को स्मरण कीजिये और मुक्ति मार्ग को दीजिये। प्रस्तुत श्रुति में अतिशय आदर द्योतन करने के लिए "क्रतो स्मर कृतं स्मर" ये दो बार कहे गये हैं। यह खण्ड (ईशोप० श्रु० १७) में और ।। शुक्लयजुर्वे० अ० ४० मं० १५।। में भी है। परन्तु संहिता के उत्तरार्ध में "ओं क्रतो स्मर क्लिबे स्मर कृतं स्मर" ऐसा पाट भेद है। इस प्रकार सूर्य की प्रार्थना करके अब अर्चिरादि के प्रथम पर्व जो अग्निदेव है उनकी प्रार्थना का मंत्र बतलाया जाता है कि–हे आगे ले चलने वाले अग्निदेव! क्योंकि लिखा है।। **अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता।।** (यजु० अ० १४ मं० २०) अग्निदेव, वायुदेव, सूर्यदेव, चन्द्रदेव।।२०।। **अग्रं नयति** (निरूक्त दैवतकां० ३ अ० ७ खं० १४) आगे ले चलता है इससे अग्नि कहा जाता है।।१४।। अनन्यप्रयोजन और अनन्यगति हम सबों को परमधनरूप परब्रह्म नारायण के नित्य कैंकर्य करने के लिए सुन्दर शुभ श्रेष्ठ अर्चिरादिमार्ग से ले चलो। यहाँ "रै" शब्द धन वाचक है। क्योंकि लिखा है– अर्थरैविभवा अपि।। (अमर० कां० २ व० ९ श्लो ९०) अर्थ १, रै २, विभव ३ ये धन के नाम हैं ।।९०।। हे द्योतमान अग्निदेव! सम्पूर्णकर्मों को अथवा सम्पूर्ण ज्ञानों को जानने वाले आप हैं। क्योंकि लिखा है– माया वयुनं ज्ञानम्।। (वे० नि० ध० व० २२) माया १, वयुन २, और ज्ञान ३ ।।२२।। ये पर्यायवाची शब्द

हैं। इससे "वयुन" का अर्थ ज्ञान होता है। तुम कुटिल बन्धात्मक अकृत्य करण और कृत्य अकरण आदिक श्रीमन्नारायण की प्राप्ति में प्रतिबन्धक पाप को हमसे दूर कर दो। "हूर्छा कौटिल्ये" इस धातु से जुहुराण" शब्द निष्पन्न होता है। यहाँ "एनस्" शब्द का पाप अर्थ है। क्योंकि लिखा है– **कलुषं वृजिनैनोघमंहो दुरितदुष्कृतम्** ॥ (अमर० कां० १ व० ४ श्लो० २३) कलुष १, वृजिन २, एनस् ३, अघ ४, अंहस् ५, दुरित ६ दुष्कृत ७, ये पाप के नाम हैं।।२३।। हे अग्निदेव! तुम्हारे लिये बार-बार बहुत से नमस्कार वचन हम करते हैं। और कुछ हम तेरी परिचर्या करने में समर्थ नहीं हैं। अर्चिरादि के विषय में लिखा है– **अर्चिरादिना तत्प्रथितेः** ॥ (शा० मी० अ० ४ पा० ३ सू० १) अर्चिरादिमार्ग से ही ब्रह्मलोक में जीव की गति होती है क्योंकि सर्वत्र अर्चिरादिमार्ग की ही प्रसिद्धि है।।१।। **अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्। तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥** (गी० अ० ८ श्लो० २४) अग्निरूपज्योति, दिन, शुक्लपक्ष और उत्तरायण के छः महीने उनमें गये हुए ब्रह्मवेत्ताजन परब्रह्म नारायण को प्राप्त होते हैं।।२५।। **अर्चिरहः सितपक्षानुदगयनाब्दौ च मारुतार्केन्दून्। अपि वैद्युतवरुणेन्द्रप्रजापतीनातिवाहिकानाहुः॥** अर्चि १, दिन २, शुक्लपक्ष ३, उत्तरायण ४, संवत्सर ५, वायु ६, सूर्य ७, चन्द्रमा ८, वैद्युतपुरुष ९, वरुण १०, इन्द्र ११, प्रजापति १२ ये आतिवाहिक कहे जाते हैं। यह अभियुक्त संगृहीत अर्चिरादिमार्ग है। प्रकृत श्रुति का यह खण्ड (ईशोप० श्रु० १८) में और (शुक्लयजुर्वे० अ० ४० मं० १६) में भी है। "बृहदारण्यकोपनिषद्" के पञ्चम अध्याय का प्रथम तृतीय चतुर्थ, षष्ठ, सप्तम, अष्टम, नवम, दशम, एकादश, द्वादश और पञ्चदश ब्रह्मण में एक एक कण्डिका हैं और द्वितीय ब्रह्मण में तीन कण्डिकाएँ हैं तथा पञ्चमब्रह्मण में और त्रयोदश ब्रह्मण में चार चार कण्डिकाएँ हैं तथा चतुर्दश ब्राह्मण में आठ कण्डिकाएँ हैं। इस प्रकार सब परिगणन करने से इस पञ्चम अध्याय में तीस कण्डिकाएँ हैं। यहाँ "बृहदारण्यकोपनिषद्" के पञ्चम अध्याय का पञ्चदश सूर्याग्निप्रार्थनाब्रह्मण और पञ्चम अध्याय भी समाप्त हो गया।।१।।

॥ अथ षष्ठोऽध्यायः ॥

॥ अथ प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

यो ह वै ज्येष्ठं श्रेष्ठं च वेद ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च स्वानां भवति प्राणो वै ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च स्वानां भवत्यपि येषां बुभूषति य एवं वेद ॥१॥

अन्वयार्थ– (यः) जो कोई (ज्येष्ठम्) ज्येष्ठ को (च) और (श्रेष्ठम्) श्रेष्ट को (वेद) जानता है वह (स्वानाम्) अपने बन्धुबान्धव और ज्ञाति जनों में (ह) प्रसिद्ध (ज्येष्ठः) जेष्ठ (च) और (श्रेष्ठः) श्रेष्ठ (च) भी (वै) निश्चय करके (भवति) होता है (प्राणः) प्राण (वै) ही (ज्येष्ठः) ज्येष्ठ है (च) और (श्रेष्ठः) श्रेष्ठ (च) भी है (यः) जो कोई (एवम्) इस प्रकार (वेद) उपासना करता है वह उपासना के सामर्थ्य से (स्वानाम्) अपनी जातियों में (च) और (येषाम्) अपनें से भिन्न दूसरे जिन किन्हीं में (अपि) भी (बुभूषति) ज्येष्ठ और श्रेष्ठ होना चाहता है तो उनमें भी (ज्येष्ठः) ज्येष्ठ (च) और (श्रेष्ठः) श्रेष्ठ (च) (भवति) होता है॥१॥

विशेषार्थ– अब प्राणविद्या को आरम्भ किया जाता है। जो कोई ज्येष्ठ और श्रेष्ठ को जानता है वह अपने बन्धु बान्धव और जातियों में ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हो ही जाता है। यहाँ "स्व" शब्द जाति वाचक है। क्योंकि लिखा है– सो ज्ञातावात्मनि स्वं त्रिष्वात्मीये स्वोऽस्त्रियां धने॥ (अमर० कां० ३ व० ३ श्लो० २११) "स्व" शब्द ज्ञाति में, आत्मा में आत्मीय में और धन में प्रयुक्त होता है॥२११॥ ज्येष्ठ और श्रेष्ठ कौन है सो आगे बतलाया जाता है कि–निश्चय यह शरीरस्थ प्राण ही इन्द्रियों में ज्येष्ट और श्रेष्ठ होता है। क्योंकि प्राण व्यापार की प्रवृत्ति के अनन्तर इन्द्रियान्तर प्रवृत्ति होती है। इससे नेत्र आदि में प्राण का ज्येष्ठत्व उचित ही है। और वक्ष्यमाण रीति से श्रेष्ट भी प्राण ही है। अब आगे फल कहा जाता है कि– जो कोई उपासक इस प्रकार ज्येष्ठ और श्रेष्ठ गुण वाले प्राण की उपासना करता है वह उपासना के सामर्थ्य से अपने ज्ञातिजनों में ज्येष्ठ और श्रेष्ठ होता है। और अपने से भिन्न दूसरे जिन किन्हीं में भी वह "मैं ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हो जाऊँ" इस प्रकार ज्येष्ठ और श्रेष्ठ होने की इच्छा करता है तो उनमें भी वह उपासक ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हो जाता है तथा अन्यत्र भी लिखा है– **यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद ज्येष्ठश्च ह वैश्रेष्ठश्च भवति। प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च॥** (छां० उ० प्रपा० ५ खं० १ श्रु० १) यह बात प्रसिद्ध है कि निश्चय करके जो उपासक ज्येष्ठ और श्रेष्ठ गुणवाले प्राण को जानता है तो निश्चय करके प्रसिद्ध वह उपासक वृद्धतम और प्रशस्ततम भी होता है। निश्चय प्राण ही सब इन्द्रियों से ज्येष्ठ और श्रेष्ठ भी है॥१॥

यो ह वै वसिष्ठां वेद वसिष्ठः स्वानां भवति वाग्वै वसिष्ठा वसिष्ठः स्वानां भवत्यपि च येषां बुभूषति य एवं वेद॥२॥

अन्वयार्थ– (यः) जो कोई (वसिष्ठाम्) वसिष्ठा को (वेद) जानता है वह (स्वानाम्) अपनी ज्ञातियों में (वै) अवश्य ही (ह) सुप्रसिद्ध (वसिष्ठः) वसिष्ट

(भवति) होता है (वाक्) वाणी (वै) ही (वसिष्ठ) वसिष्ठ है (यः) जो कोई (एवम्) इस प्रकार (वेद) उपासना करता है वह उपासना के सामर्थ्य से (स्वानाम्) अपनी जातियों में (च) और (येषाम्) अपने से भिन्न दूसरे जिन किन्हीं में (अपि) भी (बुभूषति) वसिष्ठ होना चाहता है तो उनमें भी (वसिष्ठः) वसिष्ठ (भवति) होता है।

विशेषार्थ– जो कोई वसिष्ठ को जानता है वह अपने बन्धुबान्धव और जातियों में वसिष्ठ हो ही जाता है। वसिष्ठ कौन है सो आगे बतलाया जाता है कि–वाणी ही वसिष्ठ है। अतिशय रूप से बसातीं है अथवा बसती है इसलिये यह वाणी ही वसिष्ठ है। क्योंकि जो अच्छे वक्ता धनवान् होते हैं वे ही अतिशयता पूर्वक बसते हैं। अब आगे फल कहा जाता है कि– जो कोई इस प्रकार उपासना करता है वह उपासना के सामर्थ्य से अपनी जातियों में तथा अपनी जाति से भिन्न जिन लोगों में वसिष्ठ होना चाहता है, उनमें भी वसिष्ठ होता है। अर्थात् वसिष्ठ यानी श्रेष्ठ अथवा अतिशय बसने बसाने वाला अथवा पराजय करने वाला होता है और अन्यत्र भी लिखा है– **यो ह वै वसिष्ठं वेद वसिष्ठो ह स्वानां भवति। वाग्वाव वसिष्ठः॥** (छां० उ० प्र० ५ खं० १ श्रु० २) जो उपासक निश्चय करके प्रसिद्ध वसिष्ठ को जानता है, प्रसिद्ध वह उपासक अपनी जातियों के मध्य में वसिष्ठ होता है। निश्चय वाणी ही वसिष्ठ है॥२॥

यो ह वै प्रतिष्ठां वेद प्रतितिष्ठति समे प्रतितिष्ठति दुर्गे चक्षुर्वै प्रतिष्ठा चक्षुषा हि समे च दुर्गे च प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति समे प्रतितिष्ठति दुर्गे य एवं वेद ॥३॥

अन्वयार्थ– (यः) जो कोई (प्रतिष्ठाम्) प्रतिष्ठा को (वेद) जानता है (ह) प्रसिद्ध वह (वै) निश्चय करके (समे) समदेश और काल में (प्रतितिष्ठति) भी प्रतिष्ठित होता है (चक्षुः) नेत्र (वै) ही (प्रतिष्ठा) प्रतिष्ठा है (हि) क्योंकि (चक्षुषा) नेत्र से देखकर ही पुरुष (समे) समदेश काल में (च) और (दुर्गे) विषम देश काल में (च) भी (प्रतितिष्ठति) पैर अच्छी तरह रखता है (यः) जो कोई (एवम्) इस प्रकार (वेद) उपासना करता है वह उपासना के सामर्थ्य से (समे) समदेश में (प्रतितिष्ठति) प्रतिष्ठित होता है और (दुर्गे) दुर्ग में भी (प्रतितिष्ठति) प्रतिष्ठित होता है॥३॥

विशेषार्थ– जो कोई प्रतिष्ठा को जानता है वह समदेश और काल में प्रतिष्ठित

होता है और दुर्गम देश तथा दुर्भिक्ष आदि काल में भी प्रतिष्ठित होता है। प्रतिष्ठा क्या है सो आगे बतलाया जाता है कि—नेत्र ही प्रतिष्ठा है। नयन का प्रतिष्ठात्व कैसे है यह श्रुति बतलायी है—क्योंकि नेत्र से ही देखकर सम और दुर्गम प्रदेश में पुरुष पैर रखता है। अब आगे फल कहा जाता है कि—जो कोई उपासक ऐसी उपासना करता है वह उपासना के सामर्थ्य से सम स्थान में प्रतिष्ठित होता है और दुर्गस्थान में भी प्रतिष्ठित होता है। इस विषय में अन्यत्र भी लिखा है— **यो ह वै प्रतिष्ठां वेद प्रति ह तिष्ठत्यस्मिँश्च लोकेऽमुष्मिंश्च । चक्षुर्वाव प्रतिष्ठा ॥** (छां० उ० प्र० ५ खं० १ श्रु० ३) जो उपासक निश्चय करके प्रसिद्ध प्रतिष्ठा को जानता है वह उपासक इस लोक में और उस परलोक में भी प्रसिद्ध प्रतिष्ठित होता है। नेत्र ही प्रतिष्ठा है क्योंकि नेत्र से देखता हुआ पुरुष सम या दुर्गस्थान में प्रतिष्ठित होता है।।३।।

यो ह वै संपदं वेद संहास्मै पद्यते यं कामं कामयते श्रोत्रं वै संपच्छ्रोत्रे हीमे सर्वे वेदा अभिसंपन्नाः संहास्मै पद्यते यं कामं कामयते य एवं वेद ।।४।।

अन्वयार्थ— (यः) जो कोई (संपदम्) संपदको (वेद) जानता है (ह) प्रसिद्ध वह (वै) निश्चय करके (यम्) जिस (कामम्) कामना को (कामयते) चाहता है (अस्मै) उस उपासक के लिये (ह) प्रसिद्ध वह कामना (संपद्यते) सम्यक् प्रकार से प्राप्त हो जाती है (श्रोत्रम्) कर्ण (वै) ही (सम्पद्) संपद् है (हि) क्योंकि (श्रोत्रे) श्रोत्र के रहते ही (इमे) ये (सर्वे) सम्पूर्ण (वेदाः) वेद (अभिसंपन्नाः) सब प्रकार से सम्पन्न होते हैं अर्थात् श्रोत्र के द्वारा ही श्रुति सुनने में आती हैं (यः) जो कोई (एवम्) इस प्रकार सम्पन्न गुणवाले श्रोत्र की (वेद) उपासना करता है वह उपासक (यम्) जिस (कामम्) कामना को (कामयते) चाहता है (अस्मै) उस उपासक के लिये (ह) प्रसिद्ध वह कामना (संपद्यते) सम्यक् प्रकार से प्राप्त हो जाती है।।४।।

विशेषार्थ— जो कोई संपद् को जानता है, वह जिस भोग की इच्छा करता है वही उसे प्राप्त हो जाता है। वह संपद् कौन है सो आगे बतलाया जाता है कि— श्रोत्र ही संपद् है। क्योंकि श्रोत्र के रहने पर ही ऋग्यजुः सामाथर्व सब वेद सब प्रकार से सम्पन्न होते हैं अर्थात् श्रोत्र के द्वारा ही वे वेद सुनकर अध्ययन किये जा सकते हैं। अब आगे फल कहा जाता है कि— जो कोई उपासक इस प्रकार सम्पन्न गुणवाले श्रोत्र की उपासना करता है, वह उपासक जिस भोग की इच्छा करता है— **यो ह वै सम्पदं वेद सं हास्मै कामाः पद्यन्ते दैवाश्च मानुषाश्च। श्रोत्रं वाव सम्पत्॥** (छां० उ० प्र० ५ खं० १ श्रु० ४) जो उपासक निश्चय करके प्रसिद्ध सम्पद् नाम के पदार्थ

को जानता है उस उपासक के लिये प्रसिद्ध देवता सम्बन्धी और मनुष्य सम्बन्धी भी विषय भोग सम्यक् प्रकार से प्राप्त होते हैं। कान ही सम्पद् है क्योंकि कान से ही वेदों और उसके अर्थों को सब लोग ग्रहण करते हैं। तब कर्म किये जाते हैं। इससे श्रोत्र ही सम्पत् है।।४।।

यो ह वा आयतनं वेदाऽऽयतनं स्वानां भवत्यायतनं मनो वा आयतनमायतनं स्वानां भवत्यायतनं जनानां य एवं वेद ।।५।।

अन्वयार्थ– (यः) जो कोई (आयतनम्) आयतन को (वेद) जानता है वह (स्वानाम्) अपनी ज्ञातियों का (वै) निश्चय करके (ह) सुप्रसिद्ध (आयतनम्) आश्रय (भवति) होता है (मनः) मन (वै) ही (आयतनम्) आयतन यानी आश्रय है (यः) जो कोई (एवम्) इस प्रकार (वेद) उपासना करता है वह उपासना के सामर्थ्य से (स्वानाम्) अपनी जातियों का (आयतनम्) आयतन (भवति) होता है और (जनानाम्) अन्य जनों का भी (आयतनम्) आयतन यानी आश्रय होता है।।५।।

विशेषार्थ– जो कोई आयतन को जानता है। आयतन आश्रय को कहते हैं। वह सुप्रसिद्ध उपासक अपने बन्धु बान्धव तथा जातियों का आयतन हो ही जाता है। आयतन कौन है सो आगे बतलाया जाता है कि– मन ही आयतन यानी आश्रय है। क्योंकि मन के संकल्प के अधीन ही इन्द्रियाँ अपने अपने विषयों में प्रवृत्त और उनसे निवृत्त होती हैं इससे मन इन्द्रियों का आयतन है। मन के विषय में लिखा है– **युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिः (मनसो लिङ्गम्)** (न्याय० अध्या० १ आह्नि० १ सू० १६) एक समय में ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होना मन का लक्षरा है ।।१६।। आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे ज्ञानस्य भावोऽभावश्च (मनसो लिङ्गम्) ।। (वैशेषिक० अध्या० ३ आह्नि० २ सू १) आत्मा और इन्द्रियार्थ के सन्निकर्ष में ज्ञान का भाव और अभाव मन का लक्षरा है ।।१।। अब आगे फल कहा जाता है कि–जो कोई ऐसी उपासना करता है, वह उपासना के सामर्थ्य से स्वजनों का आयतन होता है तथा अन्य जनों का भी आयतन यानी आश्रय होता है । और अन्यत्र भी लिखा है– **यो ह वा आयतनं वेदायतनं ह स्वानां भवति । मनो ह वा आयतनम् ॥** (छा० उ० प्रपा० ५ खं० १ श्रु० ५) जो उपासक निश्चय करके प्रसिद्ध आयतन को जानता है प्रसिद्ध वह उपासक अपनी जातियों का आश्रय होता है । निश्चय करके प्रसिद्ध संकल्पविकल्पात्मक मन ही आश्रय है क्योंकि भोग के लिये इन्द्रियों से आहृत विषयों का आश्रय यथार्थ में मन ही होता है ।।५।।

यो ह वै प्रजापतिं वेद प्रजायते ह प्रजया पशुभी रेतो वै

प्रजापतिः प्रजायते ह वै प्रजया पशुभिर्य एवं वेद ॥६॥

अन्वयार्थ– (यः) जो कोई (प्रजापतिम्) प्रजापति को (वेद) जानता है (ह) प्रसिद्ध वह (वै) निश्चयक करके (ह) परमप्रसिद्ध (प्रजया) सन्तति से और (पशुभिः) विविध गौ, अश्व, गज आदिक पशुओं से (प्रजायते) प्रकृष्टरूप से संपन्न हो जाता है (रेतः) प्रजननेन्द्रिय (वै) ही (प्रजापतिः) प्रजापति है (यः) जो कोई (एवम्) इस प्रकार (वेद) उपासना करता है (ह) प्रसिद्ध वह उपासक (वै) निश्चय करके उपासना के सामर्थ्य से (प्रजया) पुत्र आदि प्रजा से और (पशुभिः) विविध पशुओं से (प्रजायते) अत्यन्त संपन्न हो जाता है ॥६॥

विशेषार्थ– जो कोई प्रजापति को जानता है, वह पुत्र आदिक सन्तति से और गौ, भैंस, घोड़ा, हाथी आदिक अनेक पशुओं से अत्यन्तवृद्धि को प्राप्त होता है। यहाँ "प्रजा" शब्द सन्तान वाचक है। क्योंकि लिखा है–**प्रजा स्यात्सन्ततौ जने ॥** (अमर० कां० ३ क० ३ श्लो० ३२) सन्तान में और जन समूह में प्रजा शब्द का प्रयोग होता है ॥३२॥ पशु के विषय में लिखा है–**सप्त ग्राम्याः पशवः सप्तारण्याः** (श्रुति) सात ठो ग्राम में होने वाले और सात ठो वन मे होनेवाले पशु प्रसिद्ध हैं। इन सातों का नाम विष्णुपुराण में लिखा है– **गौरजः पुरुषोमेषश्चाश्वाश्वतरगर्दभाः । एतान् ग्राम्यान्पशूनाहुरारण्या श्च निबोध मे ॥** (विष्णुपु० अंश० १ अध्या० ५ श्लो० ५२) **श्वापदा द्विखुरा हस्तिवानराः पक्षिपञ्चमाः । औदकाः पशवः षष्ठः सप्तमाश्च सरीसृपाः** ॥५३। गौ १, बकरा २, पुरुष ३, भेंड़ा ४, घोड़ा ५, खच्चर ६ और गदहा ७ इन सात को ग्राम्य पशु महर्षि सब कहते हैं और अब आरण्य सात पशुओं को तुम मुझ से जान लो ॥५२॥ कुत्ता १, दो खुर वाले २, हाथी ३, वानर ४, पक्षी ५ मत्स्य आदि औदक ६ और सरीसृप ७ ये सात वन में होने वाले पशु हैं ॥५३॥ वह प्रजापति कौन है सो आगे बतलाया जाता है कि–रेतस् शब्द से उपलक्षित प्रजननेन्द्रिय ही प्रजापति है अब आगे फल कहा जाता है कि–जो कोई उपासक इस प्रकार उपासना करता है वह अपनी उपासना के सामर्थ्य से पुत्र पौत्रादि प्रजा से और गौ, भैंस, हाथी, घोड़ा आदि विविध पशुओं से अधिक सम्पन्न हो जाता है ॥६॥

ते हेमे प्राणा अहं श्रेयसे विवदमाना ब्रह्म जग्मुस्तद्धोचुः को नो वसिष्ठ इति । तद्धोवाच यस्मिन् व उत्क्रान्त इदं शरीरं पापीयो मन्यते स वो वसिष्ठ इति ॥७॥

अन्वयार्थ– (ह) प्रसिद्ध (ते) वे (इमे) ये वाणी, नेत्र, श्रोत्र, मन, आदि

(प्राणाः) प्राण (अहम् + श्रेयसे) मैं श्रेष्ठ हूँ इस प्रकार अपनी अपनी श्रेष्ठता के लिये (विवदमानाः) आपस में विवाद करते हुए (ब्रह्म) चतुर्मुख ब्रह्मा के पास (जग्मुः) गये और (ह) प्रसिद्ध वे वागादिक (तत्) उस ब्रह्मा से (ऊचुः) कहे कि (नः) हम सब में (कः) कौन (वसिष्ठः) अतिशय बसने बसाने वाला श्रेष्ठ है (इति) इस वाक्य को सुनकर (ह) सुप्रसिद्ध (तत्) उस ब्रह्मा ने (उवाच) कहा कि (वः) तुममें से (यस्मिन्) जिसके (उत्क्रान्ते) शरीर से अलग निकल जाने पर (इदम्) इस (शरीरम्)शरीर को (पापीयः) अधिक पापिष्ठ (मन्यते) लोक मानता है (सः) वही (वः) तुममें (वसिष्ठः) वसिष्ठ यानी श्रेष्ठ है (इति) यही निश्चय जानो ॥७॥

विशेषार्थ—वे प्रसिद्ध ये वाणी, नेत्र श्रोत्र, मन आदि प्राण "मैं श्रेष्ठ हूँ, मैं कल्याणकारी हूँ" इस प्रकार अपनी श्रेष्ठता के लिये एक दूसरे से विरुद्ध बोलते हुए चतुर्मुख ब्रह्मा के पास गये और उन्होंने जाकर उस ब्रह्मा से कहा कि—हम सब में कौन वसिष्ठ है ? अर्थात् बसने और बसाने वाला श्रेष्ठ है, इसका निर्णय आप कर दें ? इस वचन को सुनकर उस सुप्रसिद्ध चतुर्मुख ब्रह्मा ने उन वागादि इन्द्रियों से कहा कि—तुममें से जिसके इस शरीर से चले जाने पर इस शरीर को लोग पहले की अपेक्षा अत्यन्त अधिक पापिष्ठ यानी अपवित्र मानते हैं वही तुममें वसिष्ठ है अर्थात् बसने और बसानेवाले श्रेष्ठ है। और अन्यत्र भी लिखा है—**अथ ह प्राणा अहं श्रेयसि व्यूदिरेऽहं श्रेयानस्म्यहं श्रेयानस्मीति ॥** (छां० उ० प्रपा० ५ खं० १ श्रु० ६) **ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्योचुर्भगवन् को नः श्रेष्ठ इति ॥ तान्होवाच यस्मिन् व उत्क्रान्ते शरीरं पापिष्ठतरमिव दृश्यते स वः श्रेष्ठ इति ॥७॥** अनन्तर आख्यायिका प्रारम्भ की जाती है कि—यह बात प्रसिद्ध है, एक समय में प्राण और वागादि इन्द्रियाँ अपने कल्याण के निमित्त अर्थात् अपनी अपनी श्रेष्ठता के लिये, मैं श्रेष्ठ हूँ, मैं श्रेष्ठ हूँ इस प्रकार परस्पर विवाद करने लगीं ॥६॥ वे वागादि इन्द्रियाँ और प्राण प्रसिद्ध पिता प्रजापति के निकट आकर इस प्रकार बोले कि हे भगवन् परम पूज्य पिता ! हमलोगों मे से कौन श्रेष्ठ है ? इस बात को सुनकर प्रसिद्ध पिता प्रजापति ने उन वागादिकों से कहा कि—तुमलोगों में से जिसके चले जाने पर यह शरीर अत्यन्त पापी अर्थात् अत्यन्त हेय सा दिखयी देने लगे वही तुम लोगों में श्रेष्ठ है ॥७॥ प्रपन्नजनकूटस्थ भगवद्रामानुजाचार्यने—**अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम् ॥** (शा० मी० अ० २ पा० १ सू० ५) **सर्वाभेदादन्यत्रेमे ॥** (शा० मी० अ० ३ पा० ३ सू० १०) इन दोनों सूत्रों के श्रीभाष्य में "बृहदारण्यकोपनिषद्" के षष्ठ अध्याय के प्रथम ब्राह्मण की सातवीं कण्डिका के पदों को उद्धृत किया है ॥७॥

वाग्घोच्चक्राम सा संवत्सरं प्रोष्याऽऽगत्योवाच कथमशकत

मदृते जीवितुमिति ते होचु र्यथाऽकला अवदन्तोवाचा प्राणन्तः प्राणेन पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण विद्वांसो मनसा प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह वाक् ॥८॥

अन्वयार्थ– प्रजापति के निर्णय के बाद परीक्षार्थ प्रथम (ह) प्रसिद्ध (वाक्) वाक् (उच्चक्राम) इस शरीर से निकल गयी और (सा) उस वाक् ने (संवत्सरम्) एक वर्ष (प्रोष्य) प्रवास में रहकर (आगत्य) फिर आकर (उवाच) अपने साथी इन्द्रियों से कहा कि (मत् + ऋते) मेरे बिना (कथम्) कैसे (जीवितुम्) जीवित (अशकत) तुम लोग रह सकी थीं (इति) इस बात को सुनकर (ते) वे कर्ण आदिक (ह) प्रसिद्ध इन्द्रियाँ (ऊचुः) उस वाणी से बोलीं कि (यथा) जैसे (अकलाः) गूंगे पुरुष (वाचा) वाणी से (अवदन्तः) न बोलते हुए भी (प्राणेन) प्राण से (प्राणन्तः) श्वास प्रश्वास लेते हुए (चक्षुषा) नेत्र से (पश्यन्तः) देखते हुए (श्रोत्रेण) कान से (शृण्वन्तः) सुनते हुए (मनसा) मनसे (विद्वांसः) कार्याकार्यादि विषय को जानते हुए और (रेतसा) वीर्य से (प्रजायमानाः) सन्तान उत्पन्न करते हुए जीवति रहते हैं (एवम्) वैसे ही तेरे बिना (अजीविष्म) हम सब जीवित रहे (इति) यह सुनकर (ह) सुप्रसिद्ध (वाक्) वाणी ने अपने को वसिष्ठ न समझ कर (प्रविवेश) इस शरीर में पुनः प्रवेश किया ॥८॥

विशेषार्थ–चतुर्मुख ब्रह्मा के निर्णय के पश्चात् परीक्षा करने के लिये सबसे पहले इस शरीर से वाणी निकली और वह वाणी एक वर्ष प्रवास में रहकर फिर वहाँ आकर अपने साथी इन्द्रियों से बोली कि–तुमलोग मेरे बिना किस प्रकार जीती रही ? इस बात को सुनकर वे श्रोत्र आदि अन्यान्य इन्द्रियाँ उस वाणी से बोलीं कि–जिस प्रकार लोक में मूक पुरुष वाणी से न बोलते हुए भी प्राण से श्वास प्रश्वास लेते हुए, नयन से देखते हुए, श्रोत्र से सुनते हुए, मन से कार्याकार्यादि विषय को जानते हुए और वीर्य से पुत्रादि की उत्पत्ति करते हुए जीवित रहते हैं, उसी प्रकार तेरे बिना हम सब जीती रहीं । यह सुनकर वाणी अपनी हार मानकर इस शरीर में पुनः चली गई । यहाँ "रेतस्" शब्द वीर्य वाचक हैं । क्योंकि लिखा है–**शुक्रं तेजोरेतसी च बीजवीर्येन्द्रियाणि च ॥** (अमर० कां० २ क० ६ श्लो० ६२) शुक्र १, तेजस् २, रेतस् ३, बीज ४, वीर्य ५, इन्द्रिय ६ ये धातु के नाम हैं ॥६२॥ और अन्यत्र भी लिखा है–**सा ह वागुच्चक्राम । सा संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशकततें मज्जीवितुमिति । यथा कला अवदन्तः प्राणन्तः प्राणेन पश्यन्त श्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण ध्यायन्तो मनसैवमिति । प्रविवेश ह वाक् ॥८॥** प्रसिद्ध वह वाणी अपनी

श्रेष्ठता की परीक्षा के लिये शरीर से बाहर निगल गई । वह वाणी एक वर्ष प्रवास में रह कर फिर आकर इस प्रकार के अन्य इन्द्रियों से बोली कि–मेरे बिना कैसे प्राण धारण करने के लिये तुमलोग समर्थ हुई ? इस प्रकार पूछने पर इन्द्रियों ने कहा कि जैसे गूंगे लोग वाणी से न बोलते हुए मुख्य प्राण से प्राणन क्रिया करते हुए, नेत्र से देखते हुए, कान से सुनते हुए, मनसे पदार्थों का चिन्तन करते हुए जीवित रहते हैं, वैसे ही हमलोग भी जीवित रहीं । इस प्रकार प्रसिद्ध वाणी इन्द्रिय ने अपनी अश्रेष्ठता को जानकर शरीर में प्रवेश किया ।।८।। इस श्रुति में वाक् इन्द्रिय की अश्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है ।।८।।

चक्षुर्होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्याऽऽगत्योवाच कथमशकत मदृते जीवितुमिति ते होचु र्यथाऽन्धा अपश्यन्तश्चक्षुषा प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा शृण्वन्तः श्रोत्रेण विद्वांसो मनसा प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेतिप्रविवेश ह चक्षुः ।।९।।

अन्वयार्थ– (ह) प्रसिद्ध (चक्षुः) नेत्र (उच्चक्राम) इस शरीर से निकल गया और (तत्) वह नेत्र (संवत्सरम्) एक वर्ष (प्रोष्य) प्रवास में रहकर (आगत्य) फिर आकर (उवाच) अपने साथी इन्द्रियों से कहा कि (मत् + ऋते) मेरे बिना (कथम्) कैसे (जीवितुम्) जीवित (अशकत) तुमलोग रह सके थे (इति) इस बात को सुनकर (ते) वे कर्ण आदिक (ह) प्रसिद्ध इन्द्रियाँ (ऊचुः) उस नेत्र से बोलीं कि (यथा) जैसे (अन्धाः) अन्धे लोग (चक्षुषा) नेत्र से (अपश्यन्तः) न देखते हुए भी (वाचा) वाणी से (वदन्तः) बोलते हुए (श्रोत्रेण) कान से (शृण्वन्तः) सुनते हुए (मनसा) मनसे (विद्वांसः) कार्याकार्यादि विषय को जानते हुए और (रेतसा) वीर्य से (प्रजायमानाः) सन्तान उत्पन्न करते हुए जीवित रहते हैं (एवम्) वैसे ही तेरे बिना (अजीविष्म) हम सब जीवित रहे (इति) यह सुनकर (ह) सुप्रसिद्ध (चक्षुः) नेत्र ने अपने को श्रेष्ठ न समझ कर (प्रविवेश) इस शरीर में पुनः प्रवेश किया ।।९।।

विशेषार्थ–वाणी इन्द्रिय की अश्रेष्ठता सिद्ध होने के अनन्तर वह सुप्रसिद्ध नेत्रेन्द्रिय अपनी श्रेष्ठता की परीक्षा के लिये अपने आश्रय शरीर से बाहर निकल गयी और उस नयन ने एक वर्ष प्रवास करने के अनन्तर फिर लौट कर वहाँ ही आकर अन्य इन्द्रियों से पूछा कि–"मेरे बिना तुम लोग कैसे जीवित रह सकी" ? इस बात को सुनकर कर्णादि इन्द्रियों ने उत्तर दिया कि–जिस प्रकार अन्धे लोग बिना देखे प्राणसे

प्राराान क्रिया करते, वाराी से बोलते, कान से सुनते और मन से कार्याकार्य विषय का चिन्तन करते तथा वीर्य से पुत्रादि की उत्पत्ति करते हुए जीवित रहते हैं । उसी प्रकार तेरे बिना हमलोग भी जीवित रहे । ऐसा सुनकर नेत्रेन्द्रिय अपनी अश्रेष्ठता को जानकर पुनः इस शरीर में पैठ गयी । तथा अन्यत्र भी लिखा है—**चक्षुर्होच्चक्राम । तत्संवत्सरं प्रोष्यपर्येत्योवाच कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति । यथाऽन्धा अपश्यन्तः प्राराान्तः प्राराोन वदन्तो वाचा शृण्वन्तः श्रोत्रेराा ध्यायन्तो मनसैवमिति प्रविवेश ह चक्षुः ॥** (छा० उ० प्रपा० ५ खं० १ श्रु० ९) प्रसिद्ध नेत्रेन्द्रिय अपनी श्रेष्ठता की परीक्षा के लिए शरीर से बाहर चली गयी । और वह नयन एक वर्ष प्रवास में रहकर पुनः लौट कर इस प्रकार के अन्य इन्द्रियों से बोला कि मेरे बिना कैसे जीवन धारण करने के लिये तुमलोग समर्थ हुई ? इस प्रकार पूछने पर तो और इन्द्रियों ने कहा कि—जैसे नेत्र विहीन मनुष्य न देखते हुए, मुख्य प्राराा से प्राराान क्रिया करते हुए, वाराी से बोलते हुए, कान से सुनते हुए, मन से सकल विषयों को ध्यान करते हुए जीवित रहते हैं, वैसे ही हम लोग भी जीती रहीं । इस बात को सुनकर प्रसिद्ध नेत्रेन्द्रिय ने अपनी अश्रेष्ठता को जानकर शरीर में प्रवेश किया ।।९।। इस कण्डिका में नेत्रेन्द्रिय की अश्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है ।।९।।

श्रोत्रं होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्याऽऽगत्योवाच कथमशकत मदृते जीवितुमिति ते होचुर्यथा बधिरा अशृण्वन्तः श्रोत्रेराा प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचापश्यन्तश्चक्षुषा विद्वांसो मनसा प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह श्रोत्रम् ।।१०।।

अन्वयार्थ— (ह) प्रसिद्ध (श्रोत्रम्) कर्ण (उच्चक्राम) इस शरीर से निकल गया और (तत्) वह कर्ण (संवत्सरम्) एक वर्ष प्रवास में (प्रोष्य) रहकर (आगत्य) फिर आकर (उवाच) बोला कि (मत् + ऋते) मेरे बिना (कथम्) कैसे (जीवितुम्) जीवित (अशकत) तुमलोग रह सकी थी (इति) इस बात को सुनकर (ते) वे वागादिक(ह) प्रसिद्ध इन्द्रियाँ (ऊचुः) उस कर्ण से बोलीं कि (यथा) जैसे (वधिराः) बहरे आदमी (श्रोत्रेराा) कान से (अशृण्वन्तः) न सुनते हुए भी (प्राराोन) प्राराा से (प्राराान्तः) श्वास, प्रश्वास लेते हुए (वाचा) वाणी से (वदन्तः) बोलते हुए (चक्षुषा) नेत्र से (पश्यन्तः) देखते हुए (मनसा) मन से (विद्वांसः) कार्याकार्यादि विषय को जानते हुए और (रेतसा) वीर्य से (प्रजायमानाः) सन्तान उत्पन्न करते हुए जीवित रहते हैं (एवम्) वैसे ही तेरे बिना (अजीविष्म) हम सब जीवित रहीं (इति) यह सुनकर (ह) सुप्रसिद्ध (श्रोत्रम्) कर्णेन्द्रिय ने अपने को श्रेष्ठ न समझ कर (प्रविवेश) इस

शरीर में फिर प्रवेश किया ॥१०॥

विशेषार्थ– नेत्रेन्द्रियं की अश्रेष्ठता सिद्ध होने के अनन्तर वह सुप्रसिद्ध कर्णेन्द्रिय अपनी श्रेष्ठता की परीक्षा के लिये अपने आश्रय शरीर से बाहर निकल गयी । उस कान ने एक वर्ष प्रवास करने के अनन्तर फिर लौट कर वहाँ आकर अन्य इन्द्रियों से पूछा कि– "मेरे बिना तुम लोग कैसे जीवित रह सकी" ? इस बात को सुनकर और इन्द्रियोंने उत्तर दिया कि–जिस प्रकार बहरे मनुष्य कानों से न सुनते हुए भी प्राण से प्राणन क्रिया करते, वाणी से बोलते, नेत्र से देखते, मन से कार्याकार्य विषय को जानते और वीर्योपलक्षित प्रजननेन्द्रिय से उत्पत्ति करते हुए जीवित रहते हैं । उसी प्रकार हमलोग भी जीवित रहें । ऐसा सुनकर श्रोत्रेन्द्रिय अपनी अश्रेष्ठता जानकर पुनः शरीरमें पैठ गयी और ऐसा ही अन्यत्र भी लिखा है–**श्रोत्रंहोच्चक्राम । तत्संवत्सरं प्रोष्यपर्येत्योवाच कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति । यथा बधिरा अश्रृण्वन्तः प्राणान्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा ध्यायन्तो मनसैवमिति प्रविवेश ह श्रोत्रम् ॥** (छ० उ० प्रपा० ५ खं० १ श्रु० १०) प्रसिद्ध कर्णेन्द्रिय अपनी श्रेष्ठता की परीक्षा के लिए शरीर से बाहर चली गयी । वह कान एक वर्ष प्रवास में रहकर पुनः लौट कर इस प्रकार के अन्य इन्द्रियों से बोला कि मेरे बिना कैसे जीवन धारण करने के लिये तुम लोग समर्थ हुई ? इस प्रकार पूछने पर तो और इन्द्रियों ने कहा कि–जैसे बहरे मनुष्य कानों से न सुनते हुए, मन से सब विषयों को ध्यान करते हुए जीवित रहते हैं, वैसे ही हम लोग भी जीवित रहीं । इस बात को सुनकर प्रसिद्ध कर्णेन्द्रिय ने अपनी अश्रेष्ठता को जानकर पुनः शरीर में प्रवेश किया ॥१०॥ इस कण्डिका में श्रोत्रेन्द्रिय की अश्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है ॥१०॥

मनो होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्याऽऽगत्योवाच कथमशकत मदृते जीवितुमिति ते होचु र्यथा मुग्धा अविद्वांसो मनसा प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह मनः ॥११॥

अन्वयार्थ– (ह) प्रसिद्ध (मनः) संकल्प विकल्पात्मक मन (उच्चक्राम) इस शरीर से निकल गया और (तत्) उस मन ने (संवत्सरम्) एक वर्ष (प्रोष्य) प्रवास में रहकर (आगत्य) फिर आकर (उवाच) इन्द्रियों से कहा कि (मत् + ऋते) मेरे बिना (कथम्) कैसे (जीवितुम्) जीवन धारण करने के लिए (अशकत) तुम लोग

समर्थ हुई (इति) इस बात को सुनकर (ते) वे वागादिक (ह) प्रसिद्ध इन्द्रियाँ (ऊचुः) उस मन से बोलीं कि (यथा) जैसे (मुग्धाः) बालक या पागल पुरुष (मनसा) मन से (अविद्वांसः) न समझते हुए भी (प्राणेन) प्राण से (प्राणन्तः) श्वास, प्रश्वास लेते हुए (वाचा) वाणी से (वदन्तः) बोलते हुए (चक्षुषा) नेत्र से (पश्यन्तः) देखते हुए (श्रोत्रेण)कान से (शृण्वन्तः) सुनते हुए और (रेतसा) वीर्य से (प्रजायमानाः) सन्तान उत्पन्न करते हुए जीवित रहते हैं (एवम्) वैसे ही तेरे बिना (अजीविष्म) हम सब जीवित रहीं (इति) यह सुनकर (ह) सुप्रसिद्ध (मनः) मन ने अपने को श्रेष्ठ न समझ कर (प्रविवेश) इस शरीर में पुनः प्रवेश किया ॥११॥

विशेषार्थ—श्रोत्रेन्द्रिय की अश्रेष्ठता सिद्ध होने के अनन्तर यह सुप्रसिद्ध संकल्प विकल्पात्मक मन अपनी श्रेष्ठता की परीक्षा के लिये अपने आश्रय शरीर से बाहर निकल गया और उस मन ने एक वर्ष प्रवास करने के अनन्तर फिर लौट कर वहां ही आकर इन्द्रियों से पूछा कि "मेरे बिना तुम लोग कैसे जीवित रह सकी" ? इस बात को सुनकर और इन्द्रियों ने उत्तर दिया कि—जिस प्रकार बच्चे या पागल पुरुष मनसे न समझते हुए भी प्राण से प्राणन क्रिया करते, वाणी से बोलते, नेत्र से देखते, कान से सुनते और वीर्य से पुत्रादि की उत्पत्ति करते हुए जीवित रहते हैं उसी प्रकार हम लोग भी जीवित रहीं। ऐसा सुनकर मन अपनी अश्रेष्ठता जानकर शरीर में पैठ गया। और ऐसा ही अन्यत्र भी लिखा है ॥—**मनो होच्चक्राम । तत्संवत्सरं प्रोष्यपर्येत्योवाच कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति । यथा बाला अमनसः प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेणैवमिति । प्रविवेश ह मनः** (छा० उ० प्रपा० ५ खं० १ श्रु० ११) प्रसिद्ध मन अपनी श्रेष्ठता की परीक्षा के लिए देह से बाहर चला गया। वह मन एक वर्ष प्रवास में रहकर पुनः लौट कर इस प्रकार के सब इन्द्रियों से बोला कि मेरे बिना कैसे जीवन धारण करने के लिये तुम लोग समर्थ हुई ? इस प्रकार पूछने पर तो इन्द्रियों ने कहा कि—जैसे बालक अप्रौढ मन होते हुए, प्राण से प्राणन क्रिया करते हुए, वाणी से बोलते हुए, नेत्रसे देखते हुए, कान से सुनते हुए जीवित रहते हैं वैसे ही हम लोग भी जीवित रहीं। इस बात को सुनकर प्रसिद्ध मन ने अपनी अश्रेष्ठता को जान कर शरीर में प्रवेश किया ।११ ॥ इस कण्डिका में मनकी अश्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है ॥११॥

रेतो होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्याऽऽगत्योवाच कथमशकत मदृते जीवितुमिति ते होचु र्यथा क्लीबा अप्रजायमाना रेतसा प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः

श्रोत्रेरा विद्वांसो मनसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह रेतः ॥१२॥

अन्वयार्थ– (ह) प्रसिद्ध (रेतः) वीर्य यानी वीर्योपलक्षित प्रजननेन्द्रिय (उच्चक्राम) इस शरीर से निकल गयी और (तत्) वह प्रजननेन्द्रिय (संवत्सरम्) एक वर्ष (प्रोष्य) प्रवास में रहकर (आगत्य) फिर आकर (उवाच) अपने साथी इन्द्रियों से बोली कि (मत् + ऋते) मेरे बिना (कथम्) कैसे (जीवितुम्) जीवन धारगा करने के लिए (अशकत) तुम लोग समर्थ हुई (इति) इस बात को सुनकर (ते) वे वागादिक (ह) प्रसिद्ध इन्द्रियाँ (ऊचुः) उस प्रजननेन्द्रिय से बोलीं कि (यथा) जैसे (क्लीवाः) नपुंसक लोग (रेतसा) वीर्य से (अप्रजायमानाः) संतान उत्पन्न न करते हुए भी (प्रागोन) प्रागा से (प्रागान्तः) श्वासप्रश्वास लेते हुए (वाचा) वाणी से (वदन्तः) बोलते हुए (चक्षुषा) नेत्र से (पश्यन्तः) देखते हुए (श्रोत्रेगा) कान से (शृण्वन्तः) सुनते हुए और (मनसा) मन से (विद्वांसः) कार्याकार्य विषय को जानते हुए जीवित रहते हैं (एवम्) वैसे ही तेरे बिना (अजीविष्म) हम सब जीवित रहीं (इति) यह सुनकर (ह) सुप्रसिद्ध (रेतः) वीर्य ने अपने को वसिष्ठ न मानकर कर (प्रविवेश) इस देह में पुनः प्रवेश किया ॥१२॥

विशेषार्थ– मन की अश्रेष्ठता सिद्ध होने के अनन्तर यह वीर्य अपनी श्रेष्ठता की परीक्षा के लिये अपने आश्रय शरीर से बाहर निकल गया और उस वीर्य ने एक वर्ष प्रवास करने के अनन्तर फिर लौट कर वहाँ ही आकर वागादि इन्द्रियों से पूछा कि "मेरे बिना तुम लोग कैसे जीवित रह सकी" ? इस बात को सुनकर और इन्द्रियों ने उत्तर दिया कि–जिस प्रकार नपुंसक लोग वीर्य से पुत्रादि उत्पन्न न करते हुए भी प्रागा से प्रागान क्रिया करते, वागाी से बोलते, नेत्र से देखते, कान से सुनते और मन से कार्याकार्य विषय को जानते हुए जीवित रहते हैं, उसी प्रकार हमलोग भी जीवित रहे। ऐसा सुनकर वीर्य अपनी अश्रेष्ठता को जानकर फिर शरीर में पैठ गया । यहाँ "क्लीब" शब्द नपुंसकपुरुष वाचक है। क्योंकि लिखा है।।–**क्लीबं नपुंसके षण्ढे वाच्यलिङ्गमविक्रमे** (अमर० कां० ३ व० ३ श्लो० २१३) नपुंसकलिङ्गमें तथा पुरुष में और पराक्रम हीन में क्लीव शब्द का प्रयोग होता है ॥२१३॥ इस कण्डिका में वीर्य की अश्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है॥१२॥

अथ ह प्रारा उत्क्रमिष्यन् यथा महासुहयः सैन्धवः पड्वीशशङ्कून् संवृहेदेवं हैवेमान् प्राणान् संववर्ह । ते

होचुर्मा भगव उत्क्रमी र्न वै शक्ष्यामस्त्वदृते जीवितुमिति तस्यो मे बलिं कुरुतेति तथेति ॥१३॥

अन्वयार्थ— (अथ) वागादि इन्द्रियों की श्रेष्ठता की परीक्षा होने के अनन्तर (ह) प्रसिद्ध (प्राणः) प्राण (उत्क्रमिष्यन्) शरीर को त्याग कर बाहर चलने की इच्छा वाला हुआ कि (यथा) जैसे लोक में (सैन्धवः) सिन्धुदेश में उत्पन्न हुआ (महासुहयः) महान् सुन्दरलक्षण संपन्न बलिष्ठ घोड़ा, परीक्षा के लिये कशा से ताडित होने पर (पड्वीशशङ्कून्) अपने पैर बाँधने की कीलों को (संवृहेत्) अच्छी तरह से उखाड़ डाले (एवम्) ऐसे (एव) ही (ह) प्रसिद्ध मुख्य प्राण ने (इमान्) इस वागादिक (प्राणान्) प्राण नामधारी इन्द्रियों को (संववर्ह) अपने स्थान से अच्छी तरह उखाड़ दिया-तब (ते) वे वागादि इन्द्रियाँ (ह) सुप्रसिद्ध प्राण से (ऊचुः) बोलीं कि (भगवः) हे षडैश्वर्यसम्पन्न पूजार्ह भगवन् आप इस शरीर से बाहर (मा) मत (उत्क्रमीः) उत्क्रमण करें क्योंकि (त्वद्) आप के (ऋते) बिना (वै) निश्चय करके (जीवितुम्) जीवन धारण करने के लिऐ (न) नहीं (शक्ष्यामः) हम सब समर्थ हो सकते हैं (इति) इस वाक्य को सुनकर मुख्य प्राण ने कहा कि (तस्य) उस श्रेष्ठ (मे) मुझे (उ) निश्चय करके (बलिम्) बलि यानी भेंट (कुरुत) तुम लोग दिया करो (इति) इस आज्ञा को सुनकर अन्य वागादि इन्द्रियों ने (तथा) बहुत अच्छा (इति) ऐसा कहकर आज्ञा स्वीकार की ॥१३॥

विशेषार्थ— वागादि इन्द्रियों की श्रेष्ठता की परीक्षा होने के अनन्तर सुप्रसिद्ध इस मुख्य प्राणने शरीर को त्यागकर बाहर चलने की इच्छा की। उसने जिस प्रकार सिन्धु देश में उत्पन्न हुआ महान् सुन्दरलक्षण संपन्न वलिष्ठ अच्छाघोड़ा परीक्षा के लिये कशा से घातित होने पर अपने पैर बाँधने के सब खूटों को उखाड़ डालता है, उसी प्रकार प्राण ने अन्य वागादि नामधारी सब इन्द्रियों को भी उखाड़ दिया। तब वे वाणी, नेत्र श्रोत्र, मन और वीर्य मिलकर उस मुख्य प्राण के सामने जाकर कहने लगे कि हे पूज्यपाद भगवन्! आप इस शरीर को छोड़ कर हमलोगों के समान बाहर न निकलें क्योंकि आप के बिना हम सब नही जी सकते हैं। इससे हम लोगों के मध्य में आप ही श्रेष्ठ हैं। इस बात को सुनकर मुख्य प्राण बोला कि—तुम लोगों को मेरी श्रेष्ठता का पता लग गया, यहाँ मैं ही श्रेष्ठ हूँ। इसलिये उस श्रेष्ठ मुझ को तुम बलि यानी भेंट दिया करो। बलि के विषय में लिखा है। **भागधेयः करो बलिः** (अमर० कां० क० ८ श्लो० २७) भागधेय १, कर २, बलि ३, ये भेंट के नाम हैं ॥२७॥ मुख्य प्राण की आज्ञा को सुनकर अन्य वागादि इन्द्रियों ने कहा कि बहुत अच्छा हम सब आप

को भेंट देने के लिये प्रस्तुत हैं इस श्रुति में प्राणाधीन सब की सत्ता होने से लौकिक या वैदिक लोग वागादि संपूर्ण इन्द्रियों को वागादि शब्द से नहीं व्यवहार करते हैं, बल्कि प्राण ही शब्द से व्यवहार करते हैं जैसे कि "इमान् प्राणान्" यह प्रयोग किया गया है । इस विषय में निम्नलिखित अभियुक्त वचन भी प्रमाण है ।। **यदधीना यस्य सत्तात्तत्तदित्येव भण्यते** ।। जिसके अधीन जिसकी सत्ता होती है वह उससे ही कहा जाता है ।। इससे सिद्ध हो गया कि प्राण शब्द से इन्द्रियादिक कही जाती हैं । प्रकृत श्रुति के समान ही अन्यत्र भी लिखा है कि ।। **अथ ह प्राण उच्चिक्रमिष्यन् स यथा सुहयः पड्वीशशङ्कून् संखिदेदेवमितरान् प्राणान्समखिदत् तं हाभिसमेत्योचुर्भगवन्नेधि त्वं नः श्रेष्ठोऽसि मोत्क्रमीरिति** (छा० उ० प्रपा० ५ खं० १ श्रु० १२) वागादि इन्द्रियों की श्रेष्ठता की परीक्षा होने के अनन्तर प्रसिद्ध वह मुख्य प्राण शरीर को त्यागकर बाहर चलने की इच्छा वाला हुआ कि–जैसे सुन्दर बलिष्ट घोड़ा, परीक्षा के लिये कशा से ताडित होने पर अपने पैर बॉधने की कीलों को अच्छी तरह से उखाड़ डाले, वैसे ही मुख्य प्राणने अन्य वागादिप्राण नामधारी इन्द्रियों को अपने अपने स्थान से अच्छी तरह उखाड़ दिया, तब प्रसिद्ध उस प्राण के चारो तरफ से समीप में आकर अन्य वागादि इन्द्रियाँ सब बोलीं कि हे षडैश्वर्य संपन्न पूजार्ह भगवन् ! हम लोगों के स्वामी आप ही होवें । हम लोगों के मध्य मे आप ही श्रेष्ठ हैं । अतः इस शरीर से आप उत्क्रमण न करें यह हम लोगों की प्रार्थना है ।।१२।। और कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् में लिखा है– **अथातो निःश्रेयसादानं एता ह वै देवता अहं श्रेयसे विवदमाना अस्माच्छरीरादुच्चक्रमुस्तद्दारुभूतं शिश्येऽथैनद्वाक् प्रविवेश तद्वाचावदच्छिश्य एवाथैतच्चक्षुः प्रविवेशतद्वाचावदच्चक्षुषा पश्यच्छिश्य एवाथैतच्छ्रोत्रं प्रविवेशतद्वाचावदच्चक्षुषा पश्यच्छ्रोत्रेण शृण्वच्छिश्य एवाथैतन्मनः प्रविवेश तद्वाचावदच्चक्षुषापश्यच्छ्रोत्रेण शृण्वन्मनसा ध्यायच्छिश्य एवाथैतत्प्राणः प्रविवेश तत्तत एव समुत्तस्थौ तद्देवाः प्राणे निः श्रेयसं विचिन्त्य प्राणमेव प्रज्ञात्मानमभिसंस्तूय सहैतैः सर्वैरस्माल्लोकादुच्चक्रमुः** (कौषीतकिब्रा० उ० अ० २ श्रु० १४) इसके पश्चात् अब मोक्ष साधन के गुण से विशिष्ट प्राण की उपासना बतायी जाती है । एक समय वाक् आदि सम्पूर्ण देवता अहङ्कारवश अपनी अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिये विवाद करने लगे। वे सब प्राण के साथ ही इस शरीर से निकल गये । उनके निकल जानेपर वह शरीर काठ की भाँति निश्चेष्ट होकर सो गया । तदनन्तर उस शरीर में वाक् इन्द्रिय ने प्रवेश किया तब वह वाणी से बोलने तो लगा परन्तु उठ न सका सोया ही रह गया । तत्पश्चात् चक्षु इन्द्रिय ने उस शरीर में प्रवेश किया, तथापि वह वाणी से बोलता और नेत्र से देखता हुआ भी सोया ही रहा, उठ न सका । तब उस शरीर में श्रवण

इन्द्रिय ने प्रवेश किया । उस समय में भी वह वाणी से बोलता नेत्र से देखता और कानों से सुनता हुआ भी सोता ही रहा, उठ कर बैठ न सका। तदनन्तर इस शरीर में मन ने प्रवेश किया तब भी वह शरीर वाणी से बोलता, नेत्र से देखता, कान से सुनता और मन से चिन्तन करता हुआ भी पड़ा ही रहा । तत्पश्चात् प्राण ने उस शरीर में प्रवेश किया । फिर तो उसके प्रवेश करते ही वह शरीर उठ बैठा । तब उन वाक् आदि देवताओं ने प्राण में ही मोक्ष साधन की शक्ति जानकर तथा प्रज्ञास्वरूप प्राण की ही भलीभाँति स्तुति करके इन प्राणों अपान अदि समस्त प्राणों के साथ ही इस शरीर रूप लोक से उत्क्रमण किया ।।२४।। इन पूर्वोक्त श्रुतियों में स्पष्ट प्राण की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है ।।१३।।

सा ह वागुवाच यद्वा अहं वसिष्ठाऽस्मि त्वं तद्वसिष्ठोऽसीति । यद्वा अहं प्रतिष्ठाऽस्मि त्वं तत्प्रतिष्ठोऽसीति चक्षुः । यद्वा अहं संपदस्मि त्वं तत्संपदसीति श्रोत्रम् । यद्वा अहमायतनमस्मि त्वं तदायतनामसीति मनः । यद्वा अहं प्रजापतिरस्मि त्वं तत्प्रजापतिरसीति रेतस्तस्यो मे किमन्नं किंवास इति । यदिदं किं चाऽऽश्वभ्य आकृमिभ्य आकीटपतङ्गेभ्यस्तत्ते वास इति । न ह वा अस्यानन्नं जग्धं भवति नानन्नं प्रतिगृहीतं य एवमेतदन्नस्यान्नं वेद । तद्विद्वांसः श्रोत्रिया आशिष्यन्त आचामन्त्यशित्वाऽऽचामन्त्येतमेव तदनमनग्नं कुर्वन्तोमन्यन्ते ।।१४।।

।। इति षष्ठाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम् ।।

अन्वयार्थ– (ह) सुप्रसिद्ध (सा) उस (वाक्) वागिन्द्रिय ने (उवाच) कहा कि (वै) निश्चय करके (अहम्) मैं (यद्) जिस गुण से (वसिष्ठा) वसिष्ठा यानी सब को वासदेने वाली (अस्मि) हूँ (तत्) वह (त्वम्) तुम्हीं (वशिष्ठः) वसिष्ट (असि) हो (इति) क्योंकि मेरे गुण आप के अधीन हैं (चक्षुः) नेत्रेन्द्रिय ने (इति) ऐसा कहा कि (वै) निश्चय करके (अहम्) मैं (यत्) जो (प्रतिष्ठा) अन्य इन्द्रियों को अपने व्यापार से गमनागमन की सहायता से प्रतिष्ठा देने वाला (अस्मि) हूँ (तत्) वह (त्वम्) तुम्हीं (प्रतिष्ठा) प्रतिष्ठा (असि) हो क्योंकि मेरे सब गुण आप के अधीन हैं (श्रोत्रम्) कर्णेन्द्रिय ने (इति) ऐसा कहा कि (वै) निश्चय करके (अहम्) मैं

(यत्) जो (सम्पत्) संपत्ति (अस्मि) हूँ (तत्) वह (त्वम्) तुम्हीं (सम्पत्) संपत (असि) हो क्योंकि मेरे सब गुण आप के अधीन हैं (मनः) मनने (इति) ऐसा कहा कि (वै) निश्चय करके (अहम्) मैं (यत्) जो (आयतनम्) आयतन यानी आश्रय (अस्मि) हूँ (तत्) वह (त्वम्) तुम्हीं (आयतनम्) आश्रय (असि) हो क्योंकि मेरे सब गुण आपके अधीन हैं (रेतः) वीर्य ने (इति) ऐसा कहा कि (वै) निश्चय करके (अहम्) मैं (यत्) जो (प्रजापतिः) प्रजापति (अस्मि) हूँ (तत्) वह यथार्थ में (त्वम्) तुम्हीं (प्रजापतिः) प्रजापति (असि) हो क्योंकि मेरे सब गुण आपके अधीन हैं तब मुख्य प्राण ने कहा कि (उ) निश्चय करके (तस्य) उस ऐसे गुणवाले (मे) मेरा (अन्नम्) खाद्य अन्न (किम्) क्या होगा और (वासः) वस्त्र (किम्) क्या होगा (इति) उस प्रश्न को सुनकर वागादि इन्द्रियों ने उत्तर दिया कि (आश्वभ्यः) कुत्तों से लेकर (आकृमिभ्यः) कृमि से लेकर और (आकीटपतङ्गेभ्यः) कीट पक्षी पर्यन्त सब प्राणियों का (यत्) जो (किं+च) कुछ भी (इदम्) यह खाद्य अन्न है (तत्) वही सब (ते) आपका (अन्नम्) अन्न होगा और (आपः) जल ही (वासः) आप का आच्छादन करनेवाला वस्त्र होगा (इति) ऐसा स्पष्ट कहा (यः) जो उपासक (एवम्) इस प्रकार (अन्नस्य) सब प्राणियों के खाद्य अन्न के (एतत्) इस (अन्नम्) अन्नत्व को (वेद) जानता है तो (ह) सुप्रसिद्ध (अस्य) इस प्राणविद्यानिष्ठ पुरुष के (वै) निश्चय करके (अनन्नम्) अभक्ष्य (जग्धम्) भक्षण (न) नहीं (भवति) होता है अर्थात् प्राणविद्यानिष्ट पुरुष को अभक्ष्यभक्षण का दोष नहीं होता है और (अनन्नम्) अभक्ष्य (प्रतिगृहीतम्) प्रतिग्रह भी (न) नहीं होता है अर्थात् दान में नहीं लेने योग्य हाथी आदिको भी यदि ले तौभी इसका प्रतिग्रह दोष नहीं होता है (तत्) उस कारण से (विद्वांसः) प्राण का वस्त्र जल है इस विषय को जानने वाले (श्रोत्रियाः) वेदपाठी लोग (अशिष्यन्तः) भोजन करने वाले पहले (आचामन्ति) जल से आचमन करतें हैं और (अशित्वा) भोजन करके (आचामन्ति) आचमन करते हैं (एतम्) इसी को (एव) निश्चय करके वे विद्वान् पुरुष (तत्) उस (अनम्) प्राण को (अनग्नम्) अनग्न (कुर्वन्तः) करना (मन्यन्ते) मानते हैं ॥१४॥

विशेषार्थ– मुख्य प्राण को सबसे श्रेष्ठ सिद्ध होने पर तो सब इन्द्रियां ने प्राण की स्तुति प्रारम्भ की । उनमें से वाक् इन्द्रिय ने उस सुप्रसिद्ध मुख्य प्राण से इस प्रकार से कहा कि – हे प्राण ! मैं जो वसुमत्ता संपादकत्व लक्षण गुण से युक्त वसिष्ठ यानी अतिशय धनाढ्य हूँ, वह आपही अतिशय धनाढ्य वसिष्ठ हैं। क्योंकि मेरे गुण आपके अधीन हैं। इस प्रकार वाक् इन्द्रिय की स्तुति करने के अनन्तर नेत्रेन्द्रिय ने उस सुप्रसिद्ध मुख्य प्राण से इस प्रकार कहा कि– हे प्राण ! मैं जो अन्य इन्द्रियों

को अपने व्यापार से प्रतिष्ठा देने वाली हूँ वह आपही यथार्थ प्रतिष्ठा हैं। क्योंकि मेरे सब गुण आपके अधीन हैं। ऐसा ही अन्यत्र भी लिखा है– **अथ हैनं वागुवाच यदहं वसिष्ठोऽस्मि त्वं तद्वसिष्ठोऽसीति। अथ हैनं चक्षुरुवाच यदहं प्रतिष्ठाऽस्मि त्वं तत्प्रतिष्ठाऽसीति** (छा० उ० प्रपा० ५ खं० १ श्रु० १३) अनन्तर प्रसिद्ध इस मुख्य प्राण से वाणी इन्द्रिय ने इस प्रकार से कहा कि– मैं जो अतिशय धनाढ्य वसिष्ट हूँ वह तुम्हीं अतिशय धनाढ्य वसिष्ठ हो। क्योंकि मेरे गुण आपके अधीन हैं। वाक् इन्द्रिय की स्तुति करने के अनन्तर प्रसिद्ध इस मुख्य प्राण से नेत्रेन्द्रिय ने इस प्रकार से कहा कि मैं जो अन्य इन्द्रियों को अपने व्यापार से गमनागमन की सहायता से "प्रतिष्ठा देनेवाली हूँ" वह तुम्हीं प्रतिष्ठा हो। क्योंकि मेरे सब गुण आपके अधीन हैं ॥१३॥ नेत्रेन्द्रिय की स्तुति करने के अनन्तर सुप्रसिद्ध मुख्य प्राण से श्रोत्र ने कहा कि– हे भगवन् प्राण! "मैं जो सम्पत् हूँ" वह आप ही यथार्थ में सम्पत् हैं। क्योंकि मेरे सब गुण आपके अधीन हैं। इस प्रकार कर्णेन्द्रिय की स्तुति करने के अनन्तर सुप्रसिद्ध मुख्य प्राण से संकल्प विकल्पात्मक मनने कहा कि हे प्रभो! मैं जो सब इन्द्रियों का आश्रय हूँ" वह आप ही यथार्थ में आश्रय हैं। क्योंकि मेरे सब गुण आपके अधीन हैं। इस श्रुति में श्रोत्र सम्पत् इसलिये कहलाता है कि वेद के श्रवण से ही सर्वार्थसद्धि होती है इस हेतु श्रोत्र सम्पत् अर्थात् धन कहलाता है। और इसी प्रकर मन आयतन = आश्रय इसलिये है कि इसके बिना कोई इन्द्रिय अपने व्यापार को नहीं कर सकती है। और अन्यत्र भी लिखा है– **अथ हैनं श्रोत्रमुवाच यदहं संपदस्मि त्वं तत्संपदसीति। अथ हैनं मन उवाच यदहमायतनमस्मि त्वं तदायतनमसीति॥** (छा० उ० प्रा० ५ खं० १ श्रु० १४) अनन्तर प्रसिद्ध उस मुख्य प्राण से कर्णेन्द्रिय ने इस प्रकार से कहा कि– "मैं जो सम्पति हूँ" वह तुम्हीं सम्पत् हो। क्योंकि मेरे सब गुण आपके अधीन हैं। श्रोत्रेन्द्रिय की स्तुति करने के अनन्तर प्रसिद्ध इस मुख्य प्राण से मन ने इस प्रकार कहा कि "मैं जो आयतन यानी आश्रय हूँ" वह यथार्थ में तुम्हीं आश्रय हो। क्योंकि मेरे सब गुण आपके अधीन हैं ॥१४॥ इस प्रकार मन की स्तुति करने के अनन्तर सुप्रसिद्ध मुख्य प्राण से वीर्य ने कहा कि– हे प्राण! "मैं जो प्रजाओं को उत्पन्न करनेवाला प्रजापति हूँ" वह आपही यथार्थ में प्रजापति हैं। इस बात को सुनकर मुख्य प्राण ने कहा कि– यदि मेरी श्रेष्ठता आपलोग समझते हैं तो यह बतलावें कि मेरा अन्न क्या और वस्त्र क्या है? यहाँ "वासस्" शब्द वस्त्र वाचक है। क्योंकि लिखा है– **वस्त्रमाच्छादनं वासश्चैलं वसनमंशुकम्** ॥ (अमर० कां० २ व० ६ श्लोक ११५) वस्त्र १, आच्छादन २, वासस् ३, चैल ४, वसन ५, अंशुक ६ ये कपड़े के नाम हैं ॥११५॥ अन्य वागादि प्राणों ने उत्तर दिया कि–

हे प्राण ! लोक में कुत्ते, कृमि, कीट, पतङ्ग से लेकर मनुष्य तक का जो भोज्यान्न है अर्थात् लोक में प्राणियों से जो कुछ भी भक्षण किया जाता है वह सभी आपका अन्न है । यहाँ समस्त प्राणिजात अन्न में "यह सब प्राण का अन्न है" ऐसी दृष्टि करनी चाहिये । इस कण्डिका में "श्वन्" शब्द कुत्ता वाचक है । क्योंकि लिखा है– **शुनको भषकः श्वा स्यात् ॥** (अमर० कां० २ व० १० श्लोक २२) शुनक १, भषक २, श्वन् ३ ये कुक्कुर के नाम हैं ॥२२॥ और "कृमि" शब्द कीट विशेष का वाचक है । क्योंकि लिखा है– **नीलंगुस्तु कृमिः ॥** (अमर० कां० २ व० ५ श्लोक १३) नीलंगु १, कृमि २, ये कीट विशेष के नाम हैं ॥१३॥ तथा यहाँ "पतङ्ग" शब्द पक्षी वाचक है । क्योंकि लिखा है– **पतङ्गौ पक्षिसूर्यौ च ॥** (अमर० कां० ३ व० ३ श्लोक २०) "पतङ्ग" शब्द पक्षी और सूर्य वाचक है ॥२०॥ कुत्ता के समान नीच जन्तु कोई नहीं है, क्योंकि वह अपने वमन(कै) किये हुए पदार्थ को भी खा जाता है । इसी कारण से इसे "वान्ताशी" कहतें है। यहाँ खाद्य पदार्थ के विचार से कुत्ता नीच फल का माना गया है । और हंस आदिक बहुत से पक्षी शुद्ध दूध और केवल आहार सेही निर्वाह करते हैं इससे श्रुति में कुत्ते और पक्षी का नाम लिखा गया है कि कुत्ते के समान वान्ताशी जीव से लेकर और पक्षी सदृश शुद्धाशी जीव पर्यन्त का जो कुछ खाद्य पदार्थ है वही आपका भोजन है । साक्षात् श्रुति भी कहती है कि लोक में प्राणियों से जो कुछ भी भक्षण किया जाता है वही प्राण का खाद्य अन्न है। और जल ही प्राण का वस्त्र है। अर्थात् जल में प्राण का वस्त्रत्व दृष्टि करनी चाहिये । अब प्राणविद्यानिष्ठ पुरुष का फल कहा जाता है कि– जो कोई उपासक इस प्रकार सब प्राणियों के खाद्य इस अन्न के अन्नत्व को जानता है तो उस पुरुष का अन्न कदापि अनन्न अर्थात् अभक्ष्य नहीं होता है। और इसी प्रकार प्राण विद्यानिष्ठपुरुष यदि अग्राह्य गजादि पदार्थों को दान में लेता है तो भी इसका प्रतिग्रह अनन्न यानी अभक्ष्य नहीं होता है । अर्थात् प्राण विद्यानिष्ठ पुरुष के अप्रतिग्राह्य का प्रतिग्रहरूप दोष नहीं होता है । अब आगे प्राण के वस्त्र का वर्णन किया जाता है । क्योंकि जल प्राण का वस्त्र है इसलिये जिन्होंने वेदाध्ययन किया है वे विद्वान् महात्मा भोजन करने समय पहले जल का आचमन करते हैं । और भोजन करके अन्त में भी जल का आचमन करते हैं । इसी को वे उस प्राण को अनग्न वस्त्रयुक्त करना मानते हैं । ऐसा ही अन्यत्र भी लिखा है– **स होवाच किं मेऽन्नंभविष्यतीति । यत्किञ्चिदिदमाश्वभ्य आशकुनिभ्य इतिहोचुः । तद्वा एतदन्नस्यान्नम् । अनो ह वै नाम प्रत्यक्षम् । न ह वा एवंविदि किञ्चनानन्नं भवतीति ॥** (छा० उ० प्रपा० ५ खं० २ श्रु० १) प्रसिद्ध वह मुख्य प्राण वागदि इन्द्रियों से इस प्रकार बोला कि मेरा खाद्य अन्न क्या होगा ?

तब वाणी आदिक इन्द्रियों ने कुत्ते से लेकर पक्षी पर्यन्त सब प्राणियों का जो कुछ भी यह खाद्य अन्न है वही सब आपका अन्न होगा ऐसा स्पष्ट कहा । निश्चय करके लोक में सब प्राणियों की जो खाद्य वस्तु है वही यह संपूर्ण वस्तु प्राण का खाद्य अन्न है । और अदनादिविविधचेष्टायुक्त प्राण का अनही प्रसिद्ध विस्फुट प्रत्यक्ष नाम है । निश्चय करके प्रसिद्ध इस प्रकार प्राणविद्या को जाननेवाले पुरुष के निमित्त कुछ भी अभक्ष्य नहीं होता है अर्थात् प्राणविद्यानिष्ठ पुरुष के अभक्ष्यभक्षण का दोष नहीं होता है, यह श्रौत सिद्धान्त है ॥१॥ **स होवाच किं मे वासो भविष्यतीत्याप इति होचुः । तस्माद्वा एतदशिष्यन्तः पुरस्ताच्चोपरिष्ठाच्चाद्भिः । परिदधति लम्भुको ह वासो भवत्यनग्नो ह भवति ॥** (छा० उ० प्रपा० ५ खं० २ श्रु० २) प्रसिद्ध वह मुख्य प्राण वागादि इन्द्रियों से इस प्रकार से बोला कि मेरा वस्त्र क्या होगा ? तब वागादि इन्द्रियों ने जल ही आपका वस्त्र होगा ऐसा स्पष्ट कहा । इसी कारण से निश्चय करके इस समय में भी भोजन करने वाले विद्वान् पुरुष भोजन के पूर्व और भोजन के पश्चात् भी आचमन के जल से आच्छादन करते हैं । इस प्रकार का जल में वस्त्रत्व चिन्तन से और प्राण में अनग्नत्व चिन्तन से स्वयं प्रसिद्ध वस्त्र प्राप्त करने वाला होता है और प्रसिद्ध वह अनग्न भी होता है ॥२॥ आचमन के विषय में लिखा है– **ब्राह्मेण विप्रस्तीर्थेन नित्यकालमुपस्पृशेत् । कायत्रैदशिकाभ्यां वा न पित्र्येण कदाचन ॥** (मनु० अ० २ श्लो० ५८) **अङ्गुष्ठमूलस्य तले ब्राह्मं तीर्थं प्रचक्षते । कायमङ्गुलिमूलेऽग्रे दैवं पित्र्यं तयोरधः ॥५९॥ त्रिराचामेदपः पूर्वं द्विःप्रमृज्यात्ततो मुखम् । खानि चैव स्पृशेदद्भिरात्मानं शिर एव च ॥६०॥ अनुष्णाभिरफेनाभिरद्भिस्तीर्थेन धर्मवित् । शौचेप्सुः सर्वदाचामेदेकान्ते प्रागुदङ्मुखः ॥६१॥ हृद्गाभिः पूयते विप्रः कण्ठगाभिस्तु भूमिपः । वैश्योऽद्भिः प्राशिताभिस्तु शूद्रः स्पृष्टाभिरन्ततः ॥६२॥** वेदपाठी द्विज पावन ब्राह्मतीर्थ से सर्वदा जल का आचमन करे अथवा कायतीर्थ से या दैवतीर्थ से सर्वदा आचमन करे, कभी पित्र्यतीर्थ से आचमन न करे ॥५८॥ दक्षिण हाथ के अँगूठे के मूल के अधोभाग में ब्राह्मतीर्थ कहा जाता है और कनिष्ठा अंगुलि के मूल में कायतीर्थ कहा जाता है तथा अंगुलियों के अग्रभाग में दैवतीर्थ कहा जाता है और अंगुष्ठ तथा प्रदेशिनी के मध्य में पित्र्यतीर्थ कहा जाता है ॥५९॥ गोकर्णाकृति दक्षिण हाथ को बनाकर पहले ब्राह्म या काय अथवा दैवतीर्थ से तीन बार जल का आचमन करे उसके बाद अँगूठे के मूल से मुख के नीचे ऊपर की होठ को अच्छी तरह दो बार मार्जन करे और जल से दोनों नाक, दोनों आँख, दोनों कान तथा हृदय और मस्तक का स्पर्श करे ॥६०॥ धर्मवेत्ता शौचाभिलाषी पुरुष एकान्त में पूर्वाभिमुख अथवा उत्तराभिमुख बैठकर जो गर्म किया हुआ न हो तथा गाज रहित हो उस जल

से ब्राह्म आदिक तीर्थ करके सर्वदा आचमन करे ।।६१।। ब्राह्मण हृदयगामी जल से पवित्र होता है और क्षत्रिय कण्ठगामी आचमन के जल से पवित्र होता है तथा वैश्य मुख के भीतर प्रविष्ट जल से ही पवित्र होता है शूद्र जीभ तथा होठ के अन्त से जल स्पर्शमात्र से पवित्र होता है ।।६२।। और वस्त्र से छानकर् जल का आचमन करना चाहिये । क्योंकि लिखा है—**वस्त्रपूतं जलं पिबेत्** (मनु० अ० ६ श्लोक ४६) वस्त्र से शोधित जल को पिये ।।४६।। तथा भोजन के अन्त में आचमन करके इन्द्रियों को स्पर्श न करे क्योंकि दक्षिण हाथ जूठा रहता है । विशिष्टाद्वैतवाद प्रतिष्ठापनाचार्य भगवद्रामानुजाचार्यने **कार्याख्यानादपूर्वम्** ॥ (शा० मी० अ० ३ पा० ३ सू० १८) **सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात्** ॥ (शा० मी० अ० ३ पा० ४ सू० २८) इन दोनों सूत्रों के श्रीभाष्य में "बृहदारण्यकोपनिषद्" के षष्ठ अध्याय के प्रथम ब्राह्मण की चौदहवीं कण्डिका के पदों को उद्धृत किया हैं । यहाँ पर "बृहदारण्यकोपनिषद्" के षष्ठ अध्याय का प्रथम प्राणसंवादब्राह्मण समाप्त हो गया ।।१४।।

॥ अथ द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

श्वेतकेतुर्ह वा आरुणेयः पञ्चालानां परिषदमाजगाम । स आजगाम जैवलिं प्रवाहणं परिचारयमाणम् । तमुदीक्ष्याऽभ्युवाद कुमारा ३ इति स भो ३ इति प्रतिशुश्रावानुशिष्टोऽन्वसि पित्रेत्योमिति होवाच ॥१॥

अन्वयार्थ— (ह) प्रसिद्ध (आरुणेयः) आरुणि ऋषि का पुत्र (श्वेतकेतुः) श्वेतकेतु नाम का ऋषि कुमार (वै) निश्चय करके (पञ्चालानाम्) कान्य कुब्ज देश की (परिषदम्) सभा में अपना वैदुष्य प्रकट करने के लिये (आजगाम) आया (सः) वह श्वेतकेतु (परिचारयमाणम्) सेवकों से अपनी सेवा करवाते हुए (जैवलिम्) जीवल राजा के पुत्र (प्रवाहणम्) प्रवाहण नाम के राजा के निकट (आजगाम) गर्व से आ पहुँचा उस प्रवाहणराजा ने (तम्) उस श्वेतकेतु को (उदीक्ष्य) देखकर (कुमारा ३) हे ऋषिकुमार (इति) ऐसा सम्बोधन करके (अभ्युवाद) पुकारा (सः) तब उस श्वेतकेतु ने क्रोधित होकर (भो ३) भो (इति) ऐसा कहकर (प्रतिशुश्राव) प्रत्युत्तर दिया (अनु) पश्चात् फिर प्रवाहण ने कहा कि (पित्रा) पिता ने (अनुशिष्टः) क्या आपको शिक्षा दी (असि) है (इति) इस वाक्य को सुनकर (ह) प्रसिद्ध श्वेतकेतु ने (ओम्) हाँ पिता ने मुझे शिक्षा दी है (इति) ऐसा (उवाच) प्रत्युत्तर दिया ।।१।।

विशेषार्थ— सुप्रसिद्ध बात यह है कि— अरुण ऋषि के पुत्र आरुणि ऋषि

हैं। और आरुणि ऋषि का पुत्र गर्वित श्वेतकेतु नामक एक कुमार एक समय अपना वैदुष्य प्रकट करने के लिए पञ्चाल देशीय लोगों की सभा में आया। **पञ्चालाः शूरसेनकाः। एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्तादनन्तरः॥** (मनु० अ० २ श्लो० १९) कुरुक्षेत्र १, मत्स्य देश २, कान्यकुब्जदेश ३, मथुरादेश ४, ये ब्रह्मर्षिदेश निश्चय करके ब्रह्मावर्त देश से किंचित् न्यून हैं ॥१९॥ अर्थात् कान्यकुब्ज देश को "पञ्चाल" देश कहते हैं। आजकल जहाँ पर "कन्नौज" प्रसिद्ध है। वहाँ के ब्राह्मणों के विषय में यह लोक प्रसिद्ध है कि– **कान्यकुब्जाः द्विजाः श्रेष्ठाः॥** कान्यकुब्ज ब्राह्मण श्रेष्ट हैं॥ यहाँ "परिषद्" शब्द सभा वाचक है। क्योंकि लिखा है– **समज्या परिषद्गोष्ठी सभा समिति संसदः॥** (अमर० कां० २ व० ७ श्लोक १५) समज्या १, परिषद् २, गोष्ठी ३, सभा ४, समिति ५, संसद् ६ ये सभा के नाम हैं ॥१५॥ वह ऋषिकुमार श्वेतकेतु राजा की सभा को मैं जीत लूँगा– इस प्रकार गर्व करके जीवल का पुत्र प्रवाहण नामक पञ्चालदेश के राजा के पास आ पहुँचा, जो राजा अपने सेवकों से अपनी परिचर्या यानी सेवा करा रहा था। प्रवाहण राजा श्वेतकेतु के अहङ्कार से अच्छी तरह से परिचित था अतः इस श्वेतकेतु को देखकर अन्यान्य सत्कार न करके उसको बालक समझते हुए "ओ कुमार" ऐसा कहकर अभिवादन किया अर्थात् साधारण पुरुष के समान ही उसके साथ व्यवहार किया। श्वेतकेतु को अपनी विद्या का बड़ा अहङ्कार था परन्तु यथार्थ में वह उतना बड़ा विद्वान् नहीं था। प्रवाहण राजा ने उसके गर्व को दूर करने के लिये प्रथम कुमार पद से सम्बोधन किया। अर्थात् जैसे मानो वह अभी बालक ही हो, परिपक्व विद्वान् न हुआ हो। क्योंकि "कुमार क्रिडायाम्" इससे कुमार शब्द निष्पन्न होता है। अथवा श्वेतकेतु का विवाह संस्कार नहीं हुआ था, इससे कुमार सम्बोधन राजा ने किया है। क्योंकि "कुत्सितो मारः कामो यस्य" इस व्युत्पति से जब तक विवाह नहीं होता है तब तक लड़के को कुमार या कुँवार कहते हैं। राजा की बात को सुनकर वह श्वेतकेतु क्रुध हो गुरुवत् "भो" ऐसा कहकर प्रत्युत्तर दिया। पुनः प्रवाहण राजा ने पूछा कि– क्या तेरे पिता ने तुझे कुछ शिक्षा दी है ? तब वह श्वेतकेतु बोला– हाँ मुझे पिता ने सिखलाया है, यदि तुम्हें कुछ पूछना हो तो पूछ सकते हो। ऐसा ही अन्यत्र भी लिखा है– **श्वेतकेतु र्हारुणेयः पञ्चालानां समितिमेयाय। तं ह प्रवाहणो जैवलिरुवाच। कुमारानु त्वाऽशिषत्पितेति। अनु हि भगव इति॥** (छा० उ० प्रपा० ५ खं० ३ श्रु० १) प्रसिद्ध आरुणिऋषि के पुत्र श्वेतकेतु नाम के ऋषिकुमार कान्यबुब्ज देश की सभा में आये। तब प्रसिद्ध जीवल राजा के पुत्र प्रवाहण नाम के राजा ने उस आये हुए श्वेतकेतु से कहा कि– हे ऋषिकुमार ! तुझे तेरे पिता ने क्या शिक्षा दी है ? ऐसा पूछने पर ऋषिकुमार श्वेतकेतु

ने ऐसा कहा कि– हे पूजार्ह भगवन् ! निश्चय करके पिता ने मुझको शिक्षा दी है ॥१॥ यहाँ से वैराग्य होने के लिये पञ्चाग्निविद्या का प्रारम्भ किया गया है ॥१॥

वेत्थ यथेमाः प्रजाः प्रयत्यो विप्रतिपद्यन्ता३ इति। नेति होवाच । वेत्थो यथेमं लोकं पुनरापद्यन्ता ३ इति । नेति हैवोवाच । वेत्थो यथाऽसौ लोक एवं बहुभिः पुनः पुनः प्रयद्भि र्न संपूर्यता ३ इति । नेति हैवोवाच । वेत्थो यावतिथ्यामाहुत्यां हुतायामापः पुरुषवाचो भूत्वा समुत्थाय वदन्ती ३इति । नेति हैवोवाच । वेत्थो देवयानस्य वा पथः प्रतिपदं पितृयाणस्य वा । यत्कृत्वा देवयानं वा पन्थानं प्रतिपद्यतेपितृयाणं वा । अपि न ऋषेर्वचः श्रुतम् । द्वे सृती अश्रृणवं पितृणामहं देवानामुतमर्त्यानां ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं चेति । नाहमत एकं चन वेदेति होवाच ॥२॥

अन्वयार्थ– प्रवाहण राजा ने पूछा कि (प्रत्ययः) मरकर यहाँ से जाते हुए (इमाः) ये सब (प्रजाः) जीव (यथा) जिस प्रकार से (विप्रतिपद्यन्ता ३) विशिष्टदेश को जाते हैं (इति) इसको (वेत्थ) तुम जानते हो तब (ह) प्रसिद्ध श्वेतकेतुने (न) मैं नहीं जानता हूँ (इति) ऐसा (उवाच) कहा । पुनः प्रवाहण राजा ने पूछा कि (यथा) जिस प्रकार से (इमम्) इस (लोकम्) भूलोक में (पुनः) फिर (आपद्यन्ता ३) जीव लौट आते हैं (इति) इसको (उ) निश्चय करके (वेत्थ) तुम जानते हो तब (ह) प्रसिद्ध श्वेतकेतु ने (एव) निश्चय करके (न) मैं नही जानता हूँ (इति) ऐसा (उवाच) उत्तर दिया । फिर प्रवाहण राजा ने पूछा कि (एवम्) इस प्रकार (पुनः +पुनः) बारंबार मरकर (बहुभिः) बहुतों के (प्रयद्भिः) जाने पर भी (यथा) जिस हेतु से (असौ)वह (लोकः) स्वर्ग लोग (न) नहीं (संपूर्यता ३) अच्छी तरह भरता है (इति)इसको (उ) निश्चय करके (वेत्थ) तुम जानते हो तब (ह)प्रसिद्ध श्वेतकेतु ने (एव) निश्चय करके (न) मैं नहीं जानता हूँ (इति) ऐसा (उवाच) कहा फिर प्रवाहरा राजा ने पूछा कि (यावतिथ्याम्) जितनी संख्या वाली (आहुत्याम्) आहुति के (हुतायम्) अग्नि में हवन करने पर (आपः) जल (पुरुषवाचः) पुरुषशब्दवाच्य यानी पुरुषाकार परिणत (भूत्वा) होकर (समुत्थाय) सम्यक् प्रकार से उठकर (वदन्ती ३) बोलने लगता है (इति)

इसको (उ) निश्चय करके (वेत्थ) तुम जानते होतब पुनः (ह) प्रसिद्ध श्वेतकेतु ने (एव) निश्चय करके (न) मैं नही जानता हूँ (इति) ऐसा (उवाच) उत्तर दिया। फिर प्रवाहरा राजा ने पूछा कि (देवयानस्य) देवयान (पथः) मार्ग के (वा) और (पितृयारास्य) पितृयान मार्ग के (वा) भी (प्रतिपदम्) व्यावर्तक प्रथमपर्व को (उ) निश्चय करके (वेत्थ) तुम जानते हो (यत्) जिस व्यावर्तक प्रथमपर्व को (कृत्वा) प्राप्त करके (देवयानम्) देवयान (पन्थानम्) मार्ग को (वा)और (पितृयाणस्य) पितृयान मार्ग को (वा) भी (प्रतिपद्यते) प्राप्त होता है इस देवयान और पितृयान के विषय में (नः) हमने (ऋषेः) मन्त्र का (वचः) वाक्य (अपि) भी (श्रुतम्) सुना है (अहम्) मैंने (मर्त्यानाम्) मरणधर्मा मनुष्यों के (द्वे) दो (सृति) मार्ग (अशृणवम्) सुने हैं उनमें एक मार्ग (पितृणाम्) पितरों को प्राप्त कराने वाला है (उत्) और दूसरा मार्ग (देवानाम्) देवताओं को प्राप्त करने वाला है (ताभ्याम्) उनदोनों मार्गों से (इदम्) यह (विश्वम्) ब्रह्माण्डान्तर्गत संपूर्ण लोकजात (एजत्) जाता हुआ (समेति) अच्छे प्रकार से जाता है (यत्) जिस पितृयान मार्ग से (पितरम्) पिता और मातृपितृशून्य भगवल्लोक को प्राप्त करता है (इति) इन प्रश्नों को सुनकर (ह) प्रसिद्ध श्वेतकेतुने (इति) ऐसा (उवाच) कहा कि (अहम्) मैं (अतः) इन प्रश्नों में से (एकम्) एक प्रश्न को (चन) भी (न) नहीं (वेद) जानतां हूँ ॥२॥

विशेषार्थ—जब श्वेतकेतु ने कहा कि मुझ को पिता ने शिक्षा दी है तब प्रवाहण राजा ने कहा कि यदि आप को पिता ने शिक्षा दी है और उस उपदेश को यदि आप स्मरण भी रखे हैं तो मेरे प्रश्नों को समाधान आप अवश्य करेंगे। इस कारण आप से मैं कतिपय प्रश्न पूछना चाहता हूँ आप कृपया समाधान करें। क्या तुझे मालुम है कि मरकर इस लोक से जाते हुए ये सब जीव किस विशिष्ट देश में जातें है ? १। इस प्रथम प्रश्न से प्रवाहरा राजाने ने कर्मियों के गन्तव्य देश को पूछा। श्रुति में प्लुतस्वर प्रश्न के लिए है। तब श्वेतकेतु ने कहा कि— हे राजन ! जो प्रश्न आप पूछते हैं मैं उसका उत्तर नहीं जानता हूँ। तब प्रवाहरण राजा ने पूछा कि— क्या तू जानते हो कि वे जीव फिर वहाँ से कैसे इस लोक में लौट आते है ? २। इस द्वितीय प्रश्न से पाञ्चाल प्रवाहरा राजा ने पुनरावृत्ति प्रकार को पूछा। तब पुनः श्वेतकेतु ने कहा कि हे प्रवाहरा आप के इस प्रश्न का भी उत्तर मै नहीं जानता हूँ। फिर प्रवाहरा राजाने पूछा कि—क्या तुझे मालूम है कि इस लोक से अनवरत मरकर सर्वदा बहुत जीव वहाँ जाते हैं परन्तु वह स्वर्ग लोक क्यों नही भरता है ? ३। इस तृतीय प्रश्न से प्रवाहण राजा ने उस स्वर्ग लोक के अप्राप्ता को पूछा। तब पुनः श्वेतकेतुने कहा कि—हे राजन्—आप के इस प्रश्न का भी उत्तर मैं नही जानता हूँ। फिर जैवलिप्रवाहरा

राजा ने पूछा–क्या तू जानता है कि कितनी आहुति में जल पुरुष वाचक कैसे हो जाते हैं ? ४ । इस चतुर्थ प्रश्न से प्रवाहरा राजा ने जल पांचवी आहुति में जिस प्रकार पुरुष शब्दाभिलप्य होते हैं, इस बात को पूछा । तब फिर श्वेतकेतु ने कहा कि हे प्रवाहण! आपके इस प्रश्न का भी उत्तर मैं नही जानता हूँ । पुनः प्रवाहरा राजा ने पूछा कि–देवयान और पितृयान के मार्ग को प्रतिपद यानीभेदक रूपों को क्या तू जानता है ? ५ । इस पाँचवे प्रश्न से कान्यकुब्ज देश के राजा ने देवयान और पितृयान मार्ग के व्यावर्तन को पूछा । इसी बात को स्पष्ट दिखलाया जाता है कि– जिस व्यावर्त्तक प्रथमपर्व को प्राप्त करके देवयान मार्ग को और पितृयानमार्ग को जीव प्राप्त करता है, उस देवयान और पितृयानमार्ग के विषय में यह वक्ष्यमारा मन्त्र का वाक्य भी हमने सुना है । यह मन्त्र कौन सा है ? सो आगे बतलाया जाता है । मैंने मरने वाले मनुष्यों के दो मार्ग सुने हैं । यहाँ "सृति" शब्द मार्ग वाचक है । क्योंकि लिखा है–**अयनं वर्त्म मार्गाध्वपन्थानः पदवी सृतिः** (अमर०कां० २ व० २ श्लो० १५) अयन १, वर्त्मन् २, मार्ग ३, अध्वन् ४, पथिन् ५, पदवी ६, सृति ७ ये मार्ग के नाम हैं ।।१५।। उन दोनों में एक पितृयान मार्ग पितृगरा की प्राप्ति कराने वाला है । और दूसरा देवयान मार्ग देवताओं को प्राप्त कराने वाला है । और उन दोनों मार्गों से जाता हुआ यह ब्रह्माण्डान्तर्गत संपूर्रा लोक जात सम्यक् प्रकार से जाता है । जो पितृयानमार्ग से जाता है वह माता और पिता के मध्य में जन्म लेकर आता है । इसि श्रुति में "अन्तरा" शब्द मध्य वाचक है । क्योंकि लिखा है–**अथान्तरेऽन्तरा । अन्तरेरा च मध्ये स्युः** (अमर० कां० 3 व० ४ श्लो० १०) अन्तरे १, अन्तरा २, अन्तरेरा ३, ये अव्यय शब्द मध्य वाचक हैं ।।१०।। और देवयान मार्ग से जो जाता है वह परब्रह्म नारायरा के दिव्यलोक को प्राप्त करता है । यहाँ "इति" शब्द मन्त्र समाप्ति सूचक है । इस प्रश्न को सुनकर पुनः कुमार श्वेतकेतुने ऐसा कहा कि–इन पाँचोप्रश्नों में से एक प्रश्न को भी मैं नही जानता हूँ और अन्यत्र भी लिखा है–**वेत्थ यदितोऽधि प्रजाः प्रयन्तीति न भगव इति । वेत्थ यथा पुनरावर्तन्त ३ इति । न भगव इति । वेत्थ पथोर्देवयानस्य पितृयारास्य च व्यावर्तना ३ इति । न भगव इति।** (छा० उ० प्रपा० ५ खं० ३ श्रु० २) **वेत्थ यथाऽसौ लोको न संपूर्यता ३ इति । न भगव इति । वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्तीति । नैव भगव इति ।।३।।** प्रवाहरा राजा ने पूछा कि ये सब जीव इसलोक से मरने के बाद ऊपर ऊपर जिस स्थान को जाते हैं इसको तुम जानते हो ? तब श्वेतकेतु ने–हे पूजार्ह प्रशंसनीय राजन् ! मैं नही जानता हूँ ऐसा उत्तर दिया । पुनः श्वेतकुतु ने–हे पूजार्ह प्रशंसनीय राजन् ! मैं नही जानता हूँ ऐसा उत्तर दिया । फिर प्रवाहरा राजा ने पूछा कि जिस प्रकार कर्म फल की समाप्ति

होने पर फिर सब जीव लौट आते हैं इसको तुम जानते हो ? तब पुनः श्वेतकेतु ने– हे पूजार्ह प्रशंसनीय राजन्! मैं नहीं जानता हूँ ऐसा उत्तर दिया । फिर प्रवाहण राजा ने पूछा कि देवयान और पितृयान इन दोनों मार्गों का जो भेदक रूप है इस को तुम जानते हो ? तब पुनः श्वेतकेतु ने– हे पूजार्ह प्रशंसनीय राजन् मैं नहीं जानता हूँ ऐसा उत्तर दिया ॥२॥ पुनः प्रवाहरा राजा ने पूछा कि–हे कुमार जिस हेतु से वह द्युलोक नहीं अच्छी तरह भरता है इसको तुम जानते हो ! तब पुनः श्वेतकेतु ने – हे पूजार्ह प्रशंसनीय राजन् ! निश्चय करके मैं नही जानता हूँ ऐसा उत्तर दिया । पुनः प्रवाहण राजा ने पूछा कि जल और भूतसूक्ष्म पाँचवी आहुति में जिस प्रकार से पुरुषशब्दाभिलप्य होते हैं इसको तुम जानते हो? तब पुनः श्वेतकेतु ने–हे पूजार्ह प्रशंसनीय राजन्! निश्चय करके मैं नहीं जानता हूँ ऐसा उत्तर दिया ॥३॥ और दोनो मार्गों के विषय में लिखा है–**शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते । एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽऽवर्तते पुनः** (गी० अ० ८ श्लो० २६) **नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन ॥२७॥** अर्चिरादि गति शुक्ल है और धूमादि गति कृष्णा है । ये शुक्ल–कृष्णा गति निश्चय ही जगत् में सनातन मानी गयी हैं । एक शुक्ल गति से गये हुए मनुष्य अनावृत्ति को प्राप्त होते हैं और दूसरी कृष्णगति से गये हुए पुनः वापस लौटते हैं ॥२६॥ हे पृथापुत्र अर्जुन ! उन दोनों मार्गों को जानने वाला कोई भी योगी मरणकाल में मोहित नहीं होता है ॥२७॥ इस प्रकार का प्रतिपादन किया गया है ॥२॥

अथ हैनं वसत्योपमन्त्रयाञ्चक्रे । अनादृत्य वसतिं कुमारः प्रदुद्राव । स आजगाम पितरं तं होवाचेति वाव किल नो भवान् पुराऽनुशिष्टानवोचदिति । कथं सुमेध इति । पञ्च मा प्रश्नान् राजन्यबन्धुरप्राक्षीत्ततो नैकंचन वेदेति । कतमे त इति । इम इति ह प्रतीकान्युदाजहार ॥३॥

अन्वयार्थ–(अथ) मैं नही जानता हूँ ऐसा श्वेतकेतु के कहने के अनन्तर (ह) सुप्रसिद्ध प्रवाहरा राजा ने (एनम्) श्वेतकेतु से (वसत्या) अपने यहाँ ठहरने के प्रयोजन से (उपमन्त्रयांचक्रे) प्रार्थना की परन्तु (कुमारः) वह श्वेतकेतु कुमार (वसतिम्) उस निवास का (अनादृत्य) निरादर कर (प्रदुद्राव) राजा के समीप से शीघ्र चल दिया और (ह) सुप्रसिद्ध (तम्) उस पिता से (इति) ऐसा (उवाच) कहा कि (वाव) निश्चय करके (भवान्) आपने (पुरा) पहले समावर्तन काल में (नः) हमारे प्रति (अनुशिष्टान्) सब विद्या में शिक्षा दे दी गयी (इति) इस प्रकार के (किल) कैसे

(अवोचत्) कहा (इति) इस उपालम्भयुक्त वचन को सुनकर पिता ने कहा (सुमेध:) हे सुन्दर धारणाशक्ति वाले प्रिय पुत्र (कथम्) कैसे तुम यह वचन कह रहे हो (इति) इस वचन को सुनकर पुत्र श्वेतकेतु ने कहा कि (राजन्यबन्धु:) क्षत्रियों के बन्धु जैवलि प्रवाहण ने (मा) मुझ से (पञ्च) पाँच (प्रश्नान्) प्रश्नों को (अप्राक्षीत्) पूछा किन्तु (तत:) उन पाँच प्रश्नों में से मैं (एकम् + चन्) एक प्रश्न को भी (न) नहीं (वेद) जानता हूँ (इति) इस वचन को सुनकर आरुणि पिताने कहा कि (ते) वे (कतमे) कौन से प्रश्न हैं तब पुन: पुत्र ने (इमे) ये प्रश्न हैं (इति) ऐसा कहकर (ह) सुप्रसिद्ध उसने (प्रतीकानि) उन प्रश्नों के प्रतीकों को यानी एक देशों को (उदाजहार) बतलाया ॥३॥

विशेषार्थ–मैं एक भी प्रश्न का उत्तर नही जानता हूँ, ऐसाश्वेतकेतु के कहने के पश्चात् सुप्रसिद्ध प्रवाहण राजा ने ऋषि कुमार को कुछ दिन अपने यहाँ ठहरने के लिये प्रार्थना की । किन्तु वहश्वेतकेतु राजा के निकट वास का आदर न करके शीघ्र वहाँ से भाग गया और वह कुमार अपने पिता के पास आया । तथा पिता से इस प्रकार कहा कि–हे पिता ? आपने हमलोगों से पहले समावर्तन संस्कार के समय में कहा था कि–"तुझे सब विद्याओं में अनुशिक्षित कर दिया गया" सो कैसे आपने कहा । समावर्तनकाल के विषय में लिखा है–**वेदं समाप्य स्नायात्** ॥ (पार० कां० २ कं० ६ सू० १) **ब्रह्मचर्यंवा अष्टाचत्वारिंशकम् ॥२॥ द्वादशकेऽप्येके ॥३॥ गुरुणाऽनुज्ञात: ॥४॥ विधिर्विधेयस्तर्क श्च वेद: ॥५॥ षडङ्गमेके ॥६॥ न कल्पमात्रे ॥७॥** द्विज वेद को सम्पूर्ण पढ़कर समावर्तन संस्कार नाम से प्रसिद्ध स्नान करे ॥१॥ अथवा ब्रह्मचर्याश्रम को अड़तालीस ४८ वर्ष पालनकर पश्चात् समावर्तन संस्कार विधि से स्नान करे ॥२॥ अथवा–बारह बारह वर्ष एक–एक वेद को पढ़कर भी समावर्तन संस्कार करे, ऐसी–किसी किसी ऋषि की सम्मति है ॥३॥ अथवा गुरु करके आज्ञा दिया गया द्विज पूर्वोक्त काल से पहले भी समावर्तन संस्कार करे ॥४॥ अग्निहोत्र, दर्श, पूर्णमासादि यह विधि और इन दर्श, पूर्णमासादि कार्यों को कब किस प्रकार करना चाहिये यह विधान तथा तर्क यानी प्रश्नोत्तर ये त्रयात्मक वेद हैं । इन वेदों को पूरा–पूरा पढ़कर समावर्तन स्नान करे ॥५॥ किसी किसी ऋषि की सम्मति है कि शिक्षा १, कल्प २, व्याकरण ३, निरुक्त ४, छन्द ५, ज्योतिष् ६ इन सब वेदाङ्गों को पूरा पूरा पढ़कर समावर्तन स्नान करे ।।४६।। केवल कल्पमात्र पढ़ने से कार्य की सिद्धि नही हो सकती है ॥७॥ **प्रतिवेदं ब्रह्मचर्यं द्वादशाब्दानि पञ्च वा ॥** (याज्ञवल्क्यस्मृ० अ० १ श्लो० ३६) हर एक वेद के प्रति बारह बारह वर्ष अथवा पाँच पाँच वर्ष ब्रह्मचर्य पालन करके समावर्तन स्नान करे ॥३६॥ पुत्र के उपालम्भ

युक्त वचन को सुनकर पिता ने कहा कि–हे सुन्दर धारणाशक्तिवाले प्रिय पुत्र ! तुम ऐसी बातें क्यों करते हो ? कौन सी घटना हुई सो कहो ? मेधा के विषय में लिखा है–**धीर्धारणावती मेधा ॥** (अमर॰ कां॰ १ व॰ ५ श्लो॰ २) कही हुई वार्ता को धारण करने वाली बुद्धि का नाम मेधा है ।।२।। और जिसकी सुन्दर मेधाशक्ति होती है उसे सुमेधा कहते हैं । पिता के वचन को सुनकर श्वेतकेतु ने कहा कि मुझसे एक क्षत्रियों का बन्धु प्रवाहण नामक राजा ने पाँच प्रश्न पूछे थे। परन्तु उन पाँचों में से मैं एक को भी नहीं जानता हूँ–इस वचन को सुनकर पिता ने पूछा कि–हे कुमार ! वे कौन से प्रश्न हैं ! इस प्रकार पूछने पर पुत्र ने "ये प्रश्न हैं" ऐसा कहकर उन पांचों प्रश्नों के प्रतीक यानी एक देश को बतलाया । यहाँ "प्रतीक" शब्द एकदेश वाचक है। क्योंकि लिखा है–**प्रतिकूले प्रतीकस्त्रिष्वेकदेशे तु पुंस्ययम् ॥** (अमर॰ कां॰ ३ व॰ ३ श्लो॰ ७) प्रतिकूल में और एकदेश में "प्रतीक" शब्द का प्रयोग होता है ।।७।। और अन्यत्र लिखा है– **अथानु किमनुशिष्टोऽवोचथा यो हीमानि नं विद्यात् कथं सोऽनुशिष्टो ब्रुवीतेति । स हाऽऽयस्तः पितुरर्धमेयाय । तं होवाचाननुशिष्य वाव किल मा भगवानब्रवीदनुत्वाऽशिषमिति ॥** (छा॰ उ॰ प्रपा॰ ५ खं॰ २ श्रु॰ ४) **पञ्च मा राजन्यबन्धुः प्रश्नानप्राक्षीत्तेषां नैकं च नाशकं विवक्तुमिति । स होवाच यथा मात्वं तदैतानवदो यथाहमेषां नैकंचन वेद यद्यहमिमानवेदिष्यं कथं ते नावक्ष्यमिति॥५॥** मैं नहीं जानता हूँ, ऐसाश्वेतकेतु के कहने के अनन्तर प्रवाहण राजा ने श्वेतकेतु से कहा कि मैं शिक्षित हूँ ऐसा क्यों तुने कहा था ? क्योंकि जो पुरुष इन मेरे पूछे हुए पाँच प्रश्नों को नही जानता है वह पुरुष कैसे मैं शिक्षित हूँ, ऐसा कह सकता है। प्रसिद्ध वहश्वेतकेतु प्रवाहण राजा से परास्त होकर अपने पिता आरुणि ऋषि के स्थान को चला आया और प्रसिद्ध उस अपने पिता से कहा कि निश्चय करके मुझे बिना शिक्षा दिये ही समावर्तनकाल में श्रीपूज्यपाद आपने मुझसे कहा कि तुझकों मैंने शिक्षा दे दी है ।।४।। क्षत्रियों के बन्धु जैवलि प्रवाहण ने मुझसे कर्मियों के गन्तव्यदेश और पुनरावृत्ति प्रकार तथा देवयान, पितृयानपथव्यावर्तन और द्युलोक के अप्राप्ता तथा पांचवी आहुति में जल जीव वाचक कैसे, इन पाँच प्रश्नों को पूछा किन्तु इन पाँच प्रश्नों में से एक प्रश्न को भी विवेचन करके कहनेके लिये मैं नहीं समर्थ हुआ । तब प्रसिद्ध उस पिता आरुणि ऋषि ने कहा तुम ने तब अर्थात् अपने आने के समय में मुझसे जैसे इन प्रश्नों को कहा था, जिस प्रकार उन प्रश्नों का उत्तर है मैं उन प्रश्नों में से एक को भी नही जानता हूँ, यदि मैं इन प्रश्नों को यथार्थ जानता होता तो प्रिय पुत्र तुझसे समावर्तन समय में क्यों नही कहता ? यह मैं सत्य कहता हूँ ।।५।। ऐसा स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है ।।३।।

स होवाच तथा नस्त्वं तात जानीथा यथा यदहं किंच वेद सर्वमहं तत्तुभ्यमवोचंप्रेहि तु तत्र प्रतीत्य ब्रह्मचर्यं वत्स्याव इति। भवानेव गच्छत्विति । स आजगाम गौतमो यत्र प्रवाहरास्य जैवलेरास । तस्मा आसन-माहृत्योदकमाहारयाञ्चकार । अथ हास्मा अर्घ्यं चकार । तं होवाच वरं भगवते गौतमाय दद्म इति ॥४॥

अन्वयार्थ—(ह) प्रसिद्ध (सः) उस पिता ने (इति) ऐसा (उवाच) कहा कि (तात) हे तात प्रिय पुत्र (त्वम्) तू (नः) इमको (तथा) ऐसा (जानीथाः) समझो कि (यथा) जिस प्रकार (यत्) जो (किं + च) कुछ भी (अहम्) मैं (वेद) जानता था (तत्) वह (सर्वम्) सब विज्ञान (अहम्) मैंने (तुभ्यम्)तुमसे (अवोचम्) कह दिया था (प्रेहि) आओ (तु) तो (तत्र) वहाँ (प्रतीत्य) चलकर हम दोनों विद्योपार्जन के लिये (ब्रह्मचर्यम्) ब्रह्मचर्य पालन करते हुए (वत्स्यावः) राजा के यहाँ निवास करेंगे (इति) इस वचन को सुनकर कुमार ने कहा कि (भवान्) आप (एव) ही (गच्छतु) जाइये मैं तो उस राजा का मुँह भी नहीं देख सकता (सः) वह (गौतमः) गौतम गोत्रोत्पन्न आरुणि ऋषि (आजगाम) वहाँ आया (यत्र) जहाँ (जैवलेः) जीवल का पुत्र (प्रवाहणस्य) प्रवाहण राजा का (आस) आसन था (तस्मै) अपने पास आये हुए उस आरुणि ऋषि के लिये (आसनम्) राजा ने उचित आसन को (आहृत्य) देकर (उदकम्) पाद्य के लिये जल (आहारयाञ्चकार) सेवकों से मँगवाया (अथ) पश्चात् (ह) सुप्रसिद्धराजा ने (अस्मै) इस आरुणि ऋषि के लिये (अर्घ्यम्) शास्त्रानुसार अर्घ्यप्रदान (चकार) किया इस प्रकार पूजा करके (ह) प्रसिद्ध उस राजा ने (तम्) उस आरुणि ऋषि से (इति) ऐसा (उवाच) कहा कि (भगवते) गो अश्वादिरूप वर (दद्मः) हम देते हैं, जो कुछ चाहें वह हम से माँग लीजिये ॥४॥

विशेषार्थ—क्रुद्ध पुत्र को शान्त करने के लिये वह सुप्रसिद्ध पिता आरुणि ऋषि ने इस प्रकार कहा कि—हे तात, हे प्रिय वत्स ! तू हमसे इस प्रकार समझ कि जो कुछ विज्ञान मैं जानता था वह सब मैंने तुझसे कह दिया था । तुमसे बढ़कर प्रिय मुझे कौन होगा जिसके लिये मैं विद्या छिपा कर रखूँगा । राजा ने जो पूछा है उसको हम भी नही जानते हैं । यदि तुम उनको जानना चाहते हो तो आओ वहाँ जाकर हम दोनों ही इस विद्या के लिये ब्रह्मचर्य पालन करते हुए राजा के निकट वास करेंगे । ब्रह्मचर्य के विषय में लिखा है—**ब्रह्मचर्यं योषित्सु भोग्यताबुद्धियुक्तेक्षणादिरहितत्वम् ॥** (रामानुजभाष्यगी० अ० १७ श्लो० १४) स्त्रियों में भोग्य बुद्धि करके उनका

दर्शन आदि न करना ''ब्रह्मचर्य'' कहा जाता है ।।१४।। पिता के वचन को सुनकर पुत्र ने कहा कि--आप ही जायें मैं तो अब उस राजा का मुँह भी नहीं देख सकता । तब वह गौतमगोत्रोत्पन्न आरुणि ऋषि वहाँ आया, जहाँ जीवल का पुत्र प्रवाहण राजा का आसन था । उस धर्मात्मा राजा ने उस आगत अतिथि को प्रथम आसन देकर भृत्यों से पाद्य के लिये जल मँगवाया और फिर इस आरुणि ऋषि को शास्त्रानुसार अर्घ्य दिया । पाद्य के विषय में लिखा है--**सव्यं पादं प्रक्षाल्य दक्षिणं प्रक्षालयति** (पारस्करगृह्य॰ कां॰ १ कं॰ ३ सू॰ १३)**ब्राह्मणश्चेद्दक्षिणं प्रथमम् ।।११।। विराजोदोहोऽसि विराजो दोहमशीय मयि पाद्यायै विराजो दोह इति ।।१२।।** वाम पैर को धोकर दहिने को धोवे ।।१०।। ब्राह्मण यदि हो तो दाहिने पैर को पहले धोवे।।११।। ''ओं विराजो दोहोऽसि विराजो दोहमशीय मयि पाद्यायै विराजो दोह:'' इस मन्त्र से पैर धोवे।।१२।। अर्घ के विषय में लिखा है-- **अर्घ प्रतिगृहणात्यापस्स्थयुष्माभिः सर्वान्कामानवाप्नवानीति ॥** (पारस्करगृ॰ कां॰ १ कं॰ ३ सू॰ १३) **निनयन्नभिमंत्रयते समुद्रंवः प्रहिणोमि स्वां योनिमभिगच्छत । अरिष्टाऽस्माकं वीरामापरासेचिमत्पय इति ।।१४।।** ''ओं प्रतिगृहणमि'' इस वाक्य से अर्घ के जल को लेकर ''ओम् आपस्स्थ युष्माभि: सर्वान् कामानवाप्नवानि'' इस मन्त्र से स्तुति करे ।।१४।। अर्घ को भूमि में ढरकाकर ''ओ समुद्रं व: प्रहिणोमि स्वां योनिमभिगच्छत । अरिष्टाऽस्माकं वीरामा परासेचिमत्पय:'' इस मन्त्र से स्तुति करे ।।१४।। इस प्रकार पूजा करके सुप्रसिद्ध उस राजा ने उस आरुणि ऋषि से ऐसा कहा कि मैं आप गौतमगोत्रोत्पन्न परम पूजनीय आरुणि ऋषि को, गौ--अश्वादिरूप वर देता हूँ । जो कुछ चाहें सो हम से माँग लें। और अन्यत्र भी लिखा है--**स ह गौतमो राज्ञोऽर्धमेयाय । तस्मै ह प्राप्तयार्हांचकार। स ह प्रात: सभाग उदेयाय । तं होवाच मानुषस्य भगवन् गौतम वित्तस्य वरं वृणीथा इति ॥** (छा॰ उ॰ प्रपा॰ ५ खं॰ ३ श्रु॰ ६) प्रसिद्ध वे गौतम गोत्रोत्पन्न आरुणि ऋषि, प्रवाहण राजा के स्थान को आये । आये हुए उस आरुणि ऋषि की पूजा को प्रसिद्ध प्रवाहण राजा ने शास्त्रविधिपूर्वक किया । प्रात: काल दूसरे दिन अर्घ्यादि से पूज्यमानभाग्यशाली प्रसिद्ध वे आरुणि ऋषि राजा के सभा में पहुचने पर समीप में आये, तब प्रसिद्ध प्रवाहण राजा ने उस आरुणि ऋषि से कहा कि--हे परमपूजनीय गौतमगोत्रोत्पन्न आरुणिमहर्षे ! मनुष्य सम्बन्धी धन का वर आप मुझसे माँग लीजिये ।।६।। ऐसा स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है ।।४।।

स होवाच प्रतिज्ञातो म एष वरो यां तु कुमारस्यान्ते वाचमभाषथास्तां मे ब्रूहीति ।।५।।

अन्वयार्थ–(ह) सुप्रसिद्ध (सः) उस आरुणि महर्षि ने (इति) ऐसा (उवाच) कहा कि आपने (मे) मुझे (एषः) यह (वरः) वर देने की (प्रतिज्ञातः) प्रतिज्ञा कर ली है (तु) तो (कुमारस्य) मेरे पुत्रश्वेतकेतु के (अन्ते) समीप में (याम्) जिस पाँच प्रश्नलक्षणरूप (वाचम्) वाणी को (अभाषथाः) आपने कहा था (ताम्) उसी बात को (मे) मुझ से (ब्रूहि) तुम कहो ॥५॥

विशेषार्थ–प्रवाहण का वरदान सुनकर प्रसिद्ध उस आरुणि महर्षि ने कहा कि–हे राजन् ! आपने मुझको यह वर देने की प्रतिज्ञा करली है, अतः अब मैं वर माँगता हूँ कि–मेरे कुमार पुत्रश्वेतकेतु के पासमें आपने पाँच प्रश्नरूप जो बात कही थी, वही आप मुझसे कहिये । यही मेरी प्रार्थना है । और अन्यत्र भी लिखा है–**स होवाच तवैव राजन् मानुषं वित्तं यामेव कुमारस्यान्ते वाचमभाषथास्तामेव ब्रूहीति । स ह कृच्छ्री बभूव** (छा० उ० प्रपा० ५ खं० ३ श्रु० ६) प्रसिद्ध वे आरुणिमहर्षि बोले कि–हे राजन् ! मनुष्य सम्बन्धी धन आपके ही पास रहे, इन धनों से हम तपस्वियों को क्या करना है किन्तु, मेरे कुमार पुत्र श्वेतकेतु के समीप में निश्चय करके जिन पाँच प्रश्न लक्षण रूप वाणी को आपने कहा था, निश्चय करके उसी बात को मुझसे तुम कहो यही मेरी प्रार्थना है । आरुणि महर्षि के पूर्वोक्त वचन सुनकर प्रसिद्ध वह प्रवाहण राजा दुःखित हुआ ॥३॥ इस प्रकार का वर्णन किया गया है ॥५॥

स होवाच दैवेषु गौतम तद्वरेषु मानुषाणां ब्रूहीति ॥६॥

अन्वयार्थ–(ह) सुप्रसिद्ध (सः) उस प्रवाहण राजा ने (इति) ऐसा (उवाच) कहा कि (गौतम) हे गौतमगोत्रोत्पन्न आरुणिमहर्षे (वै) निश्चय करके तुम जो वर माँगते हो (तद्) वह (दैवेषु) दैव (वरेषु) वरों में से एक वर है इससे (मानुषाणाम्) मनुष्य सम्बन्धी वरों में से कोई (ब्रूहि) तुम माँगो ॥६॥

विशेषार्थ–आरुणि महर्षि के वचन को सुनकर वह सुप्रसिद्ध प्रवाहण राजा बोला कि–हे गौतम गोत्रोत्पन्न महर्षे ! तुम जो वर माँगते हो वह दैववरों में से एक वर है उसको कोई देव ही माँग सकता है आप मनुष्य हैं, अतः मनुष्य सम्बन्धी हिरण्य, भूमि, गौ, आदि वर माँगें ॥६॥

स होवाच विज्ञायते हास्ति हिरण्यस्यापात्तं गोअश्वानां दासीनां प्रवाराणां परिधानस्य । मा नो भवान् बहोरनन्तस्या पर्यन्तस्याभ्यवदान्यो भूदिति । स वै गौतम तीर्थेनेच्छासा इत्युपैम्यहं भवन्तमिति वाचा ह स्मैव पूर्व उपयन्ति स

होपायनकीर्त्योवास ॥७॥

अन्वयार्थ–(ह) प्रसिद्ध (सः) उस आरुणि महर्षि ने (उवाच) कहा कि (विज्ञायते) हे राजन् ! आप तो जानते हैं (ह) प्रसिद्ध वह मनुष्य संबन्धी धन तो (अस्ति) मेरे पास है और मुझे (हिरण्यस्य) सुवर्ण की (गोअश्वानाम्) गौओं की घोड़ों की (दासीनाम्) दासियों की (प्रवाराणाम्) अंगौछा आदि की और (परिधानस्य) धोती की (अपात्तम्) प्राप्ति है (भवान्) आप (नः) हमारे (अभि) प्रति (बहोः) बहुत सी (अनन्तस्य) अनन्त फल वाली (अपर्यन्तस्य) समाप्त न होने वाली अर्थात् पुत्र पौत्रादिकों में भी जाने वाली सम्पत्ति के दाता होकर मेरे लिये (अवदान्यः) अदाता (माभूत्) न हों (इति) इस प्रकार की प्रार्थना को सुनकर (सः) उस प्रवाहण राजा ने कहा कि (गौतम) हे गौतम गोत्रोत्पन्न आरुणे (वै) निश्चय करके यदि अपकी इच्छा है तो (तीर्थेन) शास्त्रविहितविधि से (इच्छासै) मुझ से विद्याग्रहण करने की इच्छा करो (इति) इस बात को सुनकर आरुणि महर्षि ने कहा कि (अहम्) मैं शिष्यभाव से (भवन्तम्) आप के (उपैमि) निकट उपस्थित होता हूँ (इति) क्योंकि (पूर्वे) पहले के ब्राह्मण लोग (ह) प्रसिद्ध है कि विद्याध्ययनार्थ (वाचा) वाणी से (एव) ही (उपयन्ति स्म) क्षत्रियादि के प्रति उपसन्न होते रहे हैं अतः (सः) वह (ह) सुप्रसिद्ध आरुणि महर्षि भी (उपायनकीर्त्या) राजा की शुश्रूषा आदि वाणी से करता हुआ (उवास) वहाँ निवास किया ॥७॥

विशेषार्थ–प्रवाहण राजा के वचन को सुनकर सुप्रसिद्ध आरुणि महर्षि ने कहा कि–हे राजन् ! आप तो जानते हैं, वह मनुष्य सम्बन्धी धन तो मेरे पास है । उसके वर माँगने से तो मेरा कोई प्रयोजन नहीं है । क्योंकि मुझे भी बहुत सा सुवर्ण प्राप्त हैं । यहाँ "अपातम्" "अस्ति" इस क्रिया पद का सर्वत्र सम्बन्ध समझना चाहिये । तथा सेवा करने वाली बहुत सी दासियाँ मुझे प्राप्त हैं । और बहुत से प्रवारों की मुझे प्राप्ति है। इस श्रुति में "प्रवार" के स्थान में छान्दस "प्रवार" शब्द प्रयुक्त हुआ है । और "प्रवार" शब्द चादर वाचक है । क्योंकि लिखा है–**द्वौ प्रवारोत्तरासङ्गौ समौ बृहतिका तथा** (अमर० कां० २ व० ६ श्लो० ११०) संव्यानमुत्तरीयं च ॥११८॥ प्रावार १, उत्तरासङ्ग २, बृहतिका ॥११७॥ संव्यान ४, उत्तरीय ५ ये चादर या अंगौछा के नाम हैं ॥११८॥ और परिधान यानी धोती की प्राप्ति भी मुझे है । "परिधान" शब्द धोती वाचक है । क्योंकि लिखा है– **अन्तरीयोपसंव्यान-परिधानान्यधोंशुके** (अमर० कां० २ व० ६ श्लो० ११७) अन्तरीय १, उपसंव्यान २, परिधान ३, अधोंशुक ४, ये धोती के नाम हैं ॥११७॥ आप बड़ा दाता होकर ऐसी

बात क्यों कहते हैं ? बहुत सी अनन्त फल वाली तथा कभी समाप्त नहीं होने वाली अर्थात् पुत्रपौत्रादिकों में भी जाने वाली--सम्पत्ति के दाता होकर भी आप केवल मेरे लिये ही अदाता न हों, यहाँ "वदान्य" शब्द अतिदानी वाचक है । क्योंकि लिखा है--स्युर्वदान्यस्थूललक्ष्यदानशौण्डा बहुप्रदे (अमर० कां० ३ व० १ श्लो० ६) वदान्य १, स्थूललक्ष्य २,दानशौण्ड ४, बहुप्रद ५, ये अतिदानी पुरुष के नाम हैं ।।६।। और जो वदान्य न हो उसको अवदान्य कहते हैं। इस प्रकार की प्रार्थना सुनकर राजा ने कहा कि--हे गौतमगोत्रोत्पन्न यदि आप की पूर्ण इच्छा है तो विद्याध्ययन करने के गुरु शिष्यों में जितने नियम हैं उन शास्त्र विहित नियमों का पालन करते हुए मुझ से विद्या पढ़ने की इच्छा करें । यहाँ "तीर्थ" शब्द शास्त्र वाचक है । क्योंकि लिखा है--**निपानागमयोस्तीर्थमृषिजुष्टे जले गुरौ** (अमर० कां० ३ व० ६ श्लो० ८६) कूप के पास का हौद या जलाशय में १, शास्त्र में २, ऋषि सेवित जल में ३, और गुरु में ४ तीर्थ शब्द का प्रयोग होता है ।।८६।। **तीर्थं शास्त्राध्वरक्षेत्रोपायोपाध्यायमन्त्रिषु** (कोश०) शास्त्र १, यज्ञ २, क्षेत्र ३, उपाय ४, अपाध्याय ५ और मन्त्रि में ६ तीर्थ शब्द का प्रयोग होता है ।। राजा का भाव समझ कर उस आरुणि महर्षि ने कहा कि--मैं विधिपूर्वक आप के निकट उपस्थित होता हूँ । गुरु शिष्य के नियमों को स्वीकार करता हूँ । परन्तु विद्या प्राप्त करने की इच्छा वाले ब्राह्मण लोग पहले भी क्षत्रिय या वैश्यों के प्रति, आपत्ति काल में केवल वाणी द्वारा ही शिष्य वृत्ति से उपसन्न होते थे । किसी प्रकार की भेंट देकर अथवा शुश्रूषादि के द्वारा उनका शिष्यत्व स्वीकार नहीं करते यह नियम मुझे स्वीकृत है, आप क्या कहते हैं ? राजा ने इसको स्वीकार कर लिया । तब वह आरुणि महर्षि राजा की शुश्रूषा आदि उपचार वाणी से करता हुआ निवास करने लगा ।।७।।

स होवाच तथा नस्त्वं गौतम माऽपराधास्तव च पितामहायथेयं विद्येतः पूर्वं न कस्मिंश्चन ब्राह्मण उवास तां त्वहं तुभ्यं वक्ष्यामि को हित्वैवं ब्रुवन्तमर्हति प्रत्याख्यातुमिति ।।८।।

अन्वयार्थ-- (ह) सुप्रसिद्ध (सः) उस प्रवाहण राजा ने (उवाच) कहा कि (गौतम) हे गौतमगोत्रोत्पन्न महर्षे ! (यथा) जैसे (तव) तुम्हारे (पितामहाः) पितामह (नः) हमारे पूज्य हैं (यथा) वैसे ही (त्वम्) तुम (च) भी हमारे पूज्य हो। मैंने जो पहले कहा था कि-- शास्त्रविहित विधि से मुझ से विद्याग्रहरण करने की इच्छा करो (इति) इस हमारे अपराधों को (मा) नहीं मानना (इयम्) यह विद्या (इतः) इससे (पूर्वम्) पहले (कस्मिन्+चन) किसी भी (ब्राह्मणे) ब्राह्मण में (न) नहीं (उवास)

वास करती थी (तु) परन्तु (ताम्) सर्वदा क्षत्रिय परम्परा से आयी हुई उस विद्या को (अहम्) मैं (तुभ्यम्) आप से (वक्ष्यामि) कहूँगा (हि) क्योंकि (एवम्) इस प्रकार विनय पूर्वक (ब्रुवन्तम्) बोलने वाले (त्वा) तुम को (कः) कौन पुरुष (प्रत्याख्यातुम्) विद्या देने से इन्कार करने में (अर्हति) समर्थ हो सकता है ॥८॥

विशेषार्थ– सुप्रसिद्ध उस प्रवाहण राजा ने स्पष्ट कहा कि– हे गौतमगोत्रोत्पन्न आरुणि महर्षे ! जिस प्रकार आपके पितामह हमारे पूज्य हैं, उसी प्रकार आप भी हमारे पूज्य हैं। मैंने जो पहले कहा था कि– "यह वर तो दैववरों में से है तुम मानुषवरों में से माँगो" और "शास्त्रविहित विधि से मुझ से विद्याग्रहण करने की इच्छा करो" इससे कदाचित् आप को बहुत क्लेश हुआ होगा, अतः मै प्रार्थना करता हूँ आप भी हमारे अपराधों को क्षमा किया करें, इसके बदले में हमारा कोई अपराध न करें। हे गौतम गोत्रोत्पन्न ! आपके द्वारा प्रार्थित यह विद्या इससे पहले किसी भी ब्राह्मण के यहाँ नहीं रही। सो आप भी जानते हैं । यह विद्या सर्वदा क्षत्रिय परम्परा से ही आयी है । परन्तु यह प्रथम ही है कि क्षत्रिय से ब्राह्मण में यह विद्या जायगी । उस विद्या को मैं आज आप से कहूँगा । क्योंकि "निकृष्ट के प्रति मैं शिष्यभाव से उपसन्न होता हूँ" इस प्रकार भला विनय पूर्वक बोलने वाले आप को विद्या देने से इन्कार करने में कौन पुरुष समर्थ हो सकता है ? एक आप ब्राह्मण, दूसरे इस प्रकार विनम्र । अतः आप को यह विद्या देता हूँ और अन्यत्र ऐसा लिखा है– **तं ह चिरं वसेत्याज्ञापयाञ्चकार । तं होवाच यथा मा त्वं गौतमावदो यथेयं न प्राक् त्वतः पुरा विद्या ब्राह्मणान् गच्छति तस्मादु सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्यैव प्रशासनमभूदिति । तस्मै होवाच** (छा० उ० प्रपा० ५ खं० ३ श्रु० ७) प्रसिद्ध प्रवाहण राजा ने उस आरुणि ऋषि को विद्या के लिये चिरकाल तक यहाँ निवास करो ऐसी आज्ञा दी और प्रसिद्ध उस गौतमगोत्रोत्पन्न आरुणि ऋषि से कहा कि हे गौतम गोत्रोत्पन्न ! जिस प्रकार तुमने मुझसे कहा था उसी प्रकार मैं करूँगा । पूर्वकाल में तुमसे पहले यह वक्ष्यमाण पञ्चाग्नि विद्या जिस प्रकार ब्राह्मणों को नहीं प्राप्त हुई है इस कारण से निश्चय करके संपूर्ण लोकों में क्षत्रियजाति का ही इस विद्या के उपदेश देने का अधिकार था । इस प्रकार राजा ने ऋषि को समझाया। इसके बाद राजा के स्थान पर चिरकाल तक निवास करने वाले उस आरुणि ऋषि के लिये प्रसिद्ध प्रवाहण राजा ने विद्या का उपदेश दिया ॥७॥ इस प्रकार प्रतिपादन किया गया है ॥८॥

असौ वै लोकोऽग्निर्गौतम तस्याऽऽदित्य एव समिद्रश्मयो धूमोऽहरर्चिर्दिशोऽङ्गारा अवान्तरदिशो

विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुत्यै सोमो राजा संभवति ॥९॥

अन्वयार्थ– (गौतम) हे गौतमगोत्रोत्पन्न महर्षे ! (असौ) यह प्रसिद्ध (लोकः) स्वर्गलोक (वै) ही (अग्निः) अग्नि है (तस्य) उस द्युलोक रूप अग्नि के (आदित्यः) सूर्य (एव) निश्चय करके (समित्) लकड़ी है (रश्मयः) सूर्य की किरणें (धूमः) द्युलोक रूप अग्नि के धूम हैं (अहः) दिन (अर्चिः) द्युलोकरूप अग्नि की ज्वाला है (दिशाः) पूर्वादि दिशाएँ (अङ्गाराः) द्युलोक रूप अग्नि के अङ्गार हैं और (अवान्तरदिशः) अवान्तरदिशाएँ (विस्फुलिङ्गाः) द्युलोक रूप अग्नि की चिनगारियाँ हैं (देवाः) सब प्रकाशक इन्द्रियाँ (तस्मिन्) उस प्रसिद्ध आदित्य लक्षण समिधा अदियुक्त (एतस्मिन्) इस स्वर्गलोक रूप (अग्नौ) अग्नि में (श्रद्धाम्) जल को (जुह्वति) हवन करती हैं (तस्याः) उस (आहुत्यै) आहुति से (सोमः) सोम (राजा) राजा (संभवति) होता है अर्थात् इस प्रकार अपने कर्म से द्युलोक को गया हुआ जीव स्वर्गलोक के योग्य दिव्य देह से युक्त हो जाता है ॥९॥

विशेषार्थ– अब प्रवाहण राजा "क्या तू जानता है कि – कितनी आहुति में जल पुरुष वाचक कैसे हो जाते हैं" इस अपने चौथे प्रश्न का उत्तर पहले आरुणि ऋषि से कहते हैं । क्योंकि अन्यान्य चार प्रश्नों का उत्तर इसके अधीन हैं इसलिये प्रथम इसी का आरम्भ करते हैं कि – हे गौतम वंशोत्पन्न महर्षे ! यह सुप्रसिद्ध स्वर्गलोक ही अग्नि है । यहाँ पर द्युलोक में अग्नि दृष्टि की विधान किया जाता है । और उस स्वर्गलोकरूप अग्नि का सूर्य ही समिधा है । क्योंकि सूर्य से द्युलोक देदीप्यमान होता है । "सम् + इन्ध" से समित् बनता है । सभ्यक् + इन्धे दीप्यते" जो अच्छी तरह से देदीप्यमान होकर जले उसे "समित्" कहते हैं । तथा स्वर्ग लोक रूप अग्नि का सूर्य की किरणें धूम हैं । क्योंकि जिस प्रकार ईन्धन से धूआँ उठता है उसी प्रकार आदित्यरूपी ईन्धन से किरणें निकलती हैं । उठने में इन किरणों की धूम से समानता है । और प्रकाशक होने से स्वर्ग लोक रूप अग्नि की दिन ही ज्वाला है । उपशम में समानता होने से पूर्वादिक दिशाएँ स्वर्ग लोकरूप अग्नि के अङ्गारे हैं । तथा विस्फुलिङ्गों के समान बिखरी हुई होने के कारण अवान्तर दिशाएँ चिनगारियाँ हैं । उस प्रसिद्ध सूर्यादिलक्षण समिधा आदि से युक्त इस द्युलोक रूप अग्नि में, सब प्रकाशक इन्द्रियगण जल को यानी भूतसूक्ष्म को हवन करती हैं । इस श्रुति में आत्मधर्म भूत बुद्धि विशेषलक्षण श्रद्धा के होतव्यत्व के असंभव होने से "श्रद्धा" शब्द से जल कहा जाता है क्योंकि यह स्पष्ट लिखा है कि– **श्रद्धा वा आपः** (तैत्ति० सं० १ । ६ ।

८ । १) जल ही श्रद्धा है ।।१।। जल शब्द यहाँ भूतसूक्ष्म का वाचक है । और द्युलोकादि प्रापक कर्मों के इन्द्रियाधीन होने से यहाँ "देवा:" पद का अर्थ इन्द्रियाँ हैं । उस आहुति से जीव को सोमराजभाव उत्पन्न होता है । क्योंकि लिखा है– **एष सोमो राजा** (छा० उ० प्रपा० ५ खं० १० श्रु० ४) यह चन्द्रमा को प्राप्त करने वाला जीव सोमराजा के भाववाला होता है ।।४।। "आहुते:" के स्थान में छान्दस विभक्तिव्यत्यय होकर "आहुत्यै" यह पद निष्पन्न हुआ है । इस प्रकार अपने शुभ कर्म से स्वर्गलोक को गया हुआ जीव स्वर्गभोग के योग्य दिव्यदेह से युक्त हो जाता है । और अन्यत्र भी लिखा है– **असौ वाव लोको गौतमाग्नि: । तस्यादित्य एव समित् । रश्मयो धूम: । अहरर्चि: । चन्द्रमा अङ्गारा: । नक्षत्राणि विस्फुलिङ्गा: ॥** (छा० उ० प्रपा० ५ खं० ४ श्रु० १) **तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा: श्रद्धां जुह्वति । तस्या आहुते: सोमो संभवति ॥२॥** हे गौतमगोत्रोत्पन्न महर्षे ! यह प्रसिद्ध स्वर्गलोक ही अग्नि है । उस द्युलोकरूप अग्नि का सूर्य ही लकड़ी है । सूर्य की किरणें द्युलोकरूप अग्नि के धूम हैं । दिन द्युलोकरूप अग्नि की ज्वाला है । चन्द्रमा द्युलोकरूप अग्नि के अङ्गार है । और तारागण द्युलोकरूप अग्नि की चिनगारियाँ हैं ।।१।। सब प्रकाशक इन्द्रियाँ उस प्रसिद्ध आदित्यादिलक्षण समिधा आदि युक्त इस स्वर्गलोक रूप अग्नि में जल को यानी भूतसूक्ष्म को हवन करती हैं। उस आहुति से सोम राजा होता है अर्थात् इस प्रकार अपने कर्म से द्युलोक में गया हुआ जीव स्वर्गभोग के योग्य दिव्य देह से युक्त हो जाता है ।।२।। प्रपन्नपरित्राणपरायण भगवद्रामानुजाचार्यने– **स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति ॥** शा० मी० १ पा० २ सू० २६) के श्रीभाष्य में "बृहदारण्यकोपनिषद्" के षष्ठ अध्याय के द्वितीय ब्राह्मण की नवमी कण्डिका के "असौ वै लोकोऽग्नि:" इस खण्ड को उद्धृत किया है ।।९।।

पर्जन्यो वा अग्निर्गौतम तस्य संवत्सर एव समिदभ्राणि धूमो विद्युदर्चिरशनिरङ्गारा ह्रादुनयो विस्फुलिङ्गा-स्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा: सोमं राजानं जुह्वति तस्या आहुत्यै वृष्टि: संभवति ॥१०॥

अन्वयार्थ– (गौतम) हे गौतमगोत्रोत्पन्न महर्षे ! (पर्जन्य:) वृष्टिप्रवर्तक देव मेघ (वै) ही (अग्नि:) अग्नि है (तस्य) उस पर्जन्यरूप अग्नि के (संवत्सर:) संवत्सर (एव) निश्चय करके (समित्) लकड़ी है (अभ्राणि) जल धारण किये हुए बादल (धूम:) पर्जन्यरूप अग्नि के धूम हैं (विद्युत्) बिजली (अर्चि:) पर्जन्यरूपअग्नि की ज्वाला है (अशनि:) प्रकाशयुक्त वज्र (अङ्गारा:) पर्जन्यरूप अग्नि के अङ्गारे हैं और

(ह्रादुनयः) मेघगर्जितशब्द (विस्फुलिङ्गाः) पर्जन्यरूप अग्नि की चिनगारियाँ हैं (देवाः) समस्त प्रकाशक इन्द्रियाँ (तस्मिन्) उस प्रसिद्ध संवत्सरादिलक्षण समिधा आदि युक्त (एतस्मिन्) इस पर्जन्यरूप (अग्नौ) अग्नि में (सोमम्) स्वर्गलोक में सोम (राजानम्) राजा के भाव से युक्त देह को (जुह्वति) हवन करते हैं (तस्याः) उस (आहुत्यै) आहुति से (वृष्टिः) वृष्टि (संभवति) होती है। अर्थात् द्युलोक भोग निमित्तकर्म के अवसान होने पर सोमराज शब्दित वह अमृतमय दिव्यदेह द्रव होकर जीव के साथ मेघमण्डल में गिरता है ॥१०॥

विशेषार्थ– प्रवाहण राजा प्रथम आहुति का वर्णन करके अब द्वितीय आहुति का वर्णन करता है कि – हे गौतमवंशोत्पन्न आरुणिमहर्षे ! वृष्टिप्रवर्तकदेव मेघ ही अग्नि है । और उस पर्जन्यरूप अग्नि का संवत्सर ही समिधा है । क्योंकि संवत्सर से पर्जन्यरूप अग्नि देदीप्यमान होती है । और पर्जन्यरूप अग्नि का बादल ही धूम है । क्योंकि वे बादल धूम से उत्पन्न होते हैं अथवा धूम के समान दिखायी देते हैं । यद्यपि इन दोनों के अर्थ में बहुत भेद है । "पर्जन्य" उस मेघ का नाम है जो प्रथम सूर्यकिरण की शक्ति द्वारा जल परमाणु एकत्रित होना आरम्भ होते हैं । और 'अभ्र" "अपो जलानि बिभर्ति" इस व्युत्पत्ति से जिसमें प्रत्यक्षरूप से जल आ गया हो । जो मेघाकार हो गया हो अर्थात् जो जल को धारण करे उसे "अभ्र" कहते हैं । ओर प्रकाशसामान्य होने से बिजली ही पर्जन्यरूप अग्नि की ज्वाला है । तथा उपशान्तत्व और काठिन्य में समानता होने के कारण वज्र ही पर्जन्यरूप अग्नि का अङ्गार है । यहाँ "अशनि" शब्द वज्र वाचक है । क्योंकि लिखा है – **शतकोटिः स्वरुः शम्बो दम्भोलिरशनिर्द्वयोः ॥** (अमर० कां० १ व० १ श्लो० ४७) शतकोटि १, स्वरु २, शम्ब ३, दम्भोलि ४, अशनि ५ ये वज्र के नाम हैं ॥४७॥ और मेघ की गर्जनाएँ विक्षेप और अनेकत्व में समानता होने के कारण पर्जन्यरूप अग्नि की चिनगारियाँ हैं । उस प्रसिद्ध संवत्सरादि लक्षण समिधा आदि से युक्त इस पर्जन्यरूप अग्नि में समस्त इन्द्रियगण द्युलोक में सोम राजा के भाव से युक्त सुन्दर शरीर को हवन करती हैं । इस श्रुति में "देवाः" पद इन्द्रियों का वाचक है । और "सोमम् + राजानम्" ये पद्य द्युलोक में शुभ कर्म के द्वारा प्राप्त सोम राजा के समान देह का वाचक है । उस दूसरी आहुति से वृष्टि होती है । अर्थात् स्वर्गलोक के भोग के निमित्त पुण्यकर्म के समाप्त होने पर सोम राज शब्दित वह स्वर्गीय अमृतमय दिव्य शरीर पिघल कर जीवात्मा के साथ ही मेघमण्डल में गिर जाता है । और ऐसा ही अन्यत्र भी लिखा है– **पर्जन्यो वाव गौतमाग्निस्तस्य वायुरेव समिदभ्रं धूमो विद्युदर्चिरशनिरङ्गारा ह्रादनयो विस्फुलिङ्गाः ॥** (छा० उ० प्रपा० ५ खं० ५ श्रु० १) **तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः**

सोमं राजानं जुह्वति । तस्या आहुतेर्वर्षं संभवति ॥२॥ हे गौतमगोत्रोत्पन्न महर्षे वृष्टिप्रवर्तकदेव मेघ ही अग्नि है । उस पर्जन्यरूप अग्नि का पवन निश्चय करके समिधा है । बादलपर्जन्य रूप अग्नि का धूम है । बिजली पर्जन्यरूप अग्नि की ज्वाला है । वज्र पर्जन्य रूप अग्नि का अङ्गार है । और मेघगर्जितशब्द पर्जन्यरूप अग्नि की चिनगारियाँ है ॥१॥ समस्त इन्द्रियाँ उस प्रसिद्ध पवनादिलक्षण समिधा आदि युक्त इस पर्जन्यरूप अग्नि में स्वर्गलोक में सोमराजा के भाव से युक्त देह को हवन करती हैं। उस आहुति से वर्षा होती है। अर्थात् द्युलोक भोग निमित्त कर्म के अवसान होने पर सोमराज शब्दित वह देह द्रव होकर जीव के साथ मेघमण्डल में गिरता है ॥२॥ इस प्रकार यहाँ दूसरी आहुति का वर्णन किया गया है ॥१०॥

अयं वै लोकोऽग्निर्गौतम तस्य पृथिव्येव समिदग्नि र्धूमो रात्रिरर्चिश्चन्द्रमा अङ्गारा नक्षत्राणि विस्फुलिङ्गास्तस्मि-न्नेतस्मिन्नग्नौ देवा वृष्टिं जुह्वति तस्या आहुत्या अन्नं संभवति ॥११॥

अन्वयार्थ– (गौतम) हे गौतमगोत्रोत्पन्न महर्षे ! (अयम्) यह दृश्यमान समुद्र पर्वतादियुक्त (लोकः) लोक (वै) ही (अग्निः) अग्नि है (तस्य) उस लोकरूप अग्नि की (पृथिवी) पृथ्वी (एव) ही (समिद्) लकड़ी है (अग्निः) अग्नि (धूमः) इस लोकरूप अग्नि का धूम है (रात्रिः) रात्रि (अर्चिः) इस लोकरूप अग्नि की ज्वाला है (चन्द्रमाः) चन्द्रमा (अङ्गाराः) इस लोकरूप अग्नि का अङ्गार है और (नक्षत्राणि) नक्षत्रगण (विस्फुलिङ्गाः) इस लोकरूप अग्नि की चिनगारियाँ हैं (देवाः) समस्त प्रकाशक इन्द्रियाँ (तस्मिन्) उस प्रसिद्ध पृथिव्यादिलक्षण समिधा आदि से युक्त (एतस्मिन्) इस लोकरूप (अग्नौ) अग्नि में (वृष्टिम्) स्वर्गीय देह पिघल कर जीवात्मा के साथ मेघ मण्डल में गिरी हुई वृष्टि को (जुह्वति) हवन करती हैं (तस्याः) उस (आहुत्यै) आहुति से (अन्नम्) यव, गोधूम, धान आदि अन्न (संभवति) उत्पन्न होता है ॥११॥

विशेषार्थ– पाञ्चाल प्रवाहण राजा द्वितीय आहुति का वर्णन करके अब तृतीय आहुति का वर्णन करता है कि – हे गौतमवंशोत्पन्न आरुणिमहर्षे ! यह समुद्रपर्वतादियुक्त लोक ही तृतीय अग्नि है । और इस लोकरूप अग्नि की पृथ्वी ही समिधा है । क्योंकि प्राणियों के अनेकों उपभोगों से सम्पन्न यह लोक इस पृथ्वी से ही दीप्त होता है । तथा इस लोकरूप अग्नि का आग ही धूआँ है । क्योंकि पृथ्वीरूप आश्रय से उठने

में इनकी समानता है और लोक रूप अग्नि की रात ही ज्वाला है। समिध् के सम्बन्ध से उत्पन्न होने में इनकी समानता है। क्योंकि अग्नि से समिध् का सम्बन्ध होने से ही ज्वाला उत्पन्न होती है और इसी प्रकार पृथ्वीरूप समिध् के सम्बन्ध से रात्रि होती है। और चन्द्रमा इस लोकरूप अग्नि का अङ्गार है। क्योंकि ज्वाला से उत्पन्न होने में इनकी समानता है। ज्वाला से ही अङ्गारे होतें हैं और इसी प्रकार रात्रि में चन्द्रमा होता है। और तारागण इस लोक रूप अग्नि की चिनगारियाँ हैं। क्योंकि चिनगारियों के समान इधर उधर बिखरे रहने में इनकी भी समानता है। संपूर्ण प्रकाशक इन्द्रियगण उस सुप्रसिद्ध पृथिव्यादिलक्षण समिधा आदि से युक्त इस लोकरूप अग्नि में स्वर्गीय देह पिघल कर जीवात्मा के साथ मेघमण्डल में गिरी हुई वृष्टि को होमते हैं उस आहुति से यव, गोधूम, शाली आदि अन्न उत्पन्न होता है। और अन्यत्र लिखा है – **पृथिवी वाव गौतमाग्निस्तस्याः संवत्सर एव समित्। आकाशो धूमो रात्रिरर्चिः। दिशोऽङ्गारा अवान्तरदिशो विस्फुलिङ्गाः॥** (छा० उ० प्रपा० ५ खं ६ श्रु० १) **तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा वर्षं जुह्वति। तस्या आहुतेरन्नं संभवति ॥२॥** हे गौतमगोत्रोत्पन्न महर्षे! पृथ्वी ही अग्नि है उस पृथ्वीरूप अग्नि का वर्ष–साल निश्चय करके समिधा है। आकाश पृथ्वीरूप अग्नि का धूम है। रात पृथ्वीरूप अग्नि की ज्वाला है। दिशाएँ पृथ्वीरूप अग्नि के अङ्गारे हैं। और अवान्तर दिशाएँ पृथ्वीरूप अग्नि की चिनगारियाँ हैं ॥१॥ सम्पूर्ण इन्द्रियाँ इस प्रसिद्ध संवत्सरादिलक्षण समिधा आदि से युक्त इस पृथ्वीरूप अग्नि में स्वर्गीय देह पिघल कर जीवात्मा के साथ मेघमण्डल में गिरी हुई वृष्टि को होम करती हैं। उस आहुति से जौ, चना, गेहूँ, धान आदि अन्न उत्पन्न होता है ॥२॥ इस प्रकार इस कण्डिका में तिसरी आहुति का वर्णन किया गया है ॥११॥

पुरुषो वा अग्निर्गौतम तस्य व्यात्तमेव समित्। प्राणो धूमो वागर्चिः चक्षुरङ्गाराः श्रोत्रं विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा अन्नं जुह्वति तस्या आहुत्यै रेतः संभवति ॥१२॥

अन्वयार्थ– (गौतम) हे गौतमगोत्रोत्पन्न महर्षे! (पुरुषः) हाथ, पैर आदि अवयवों वाला प्रसिद्ध पुरुष (वै) ही (अग्निः) चतुर्थ अग्नि है (तस्य) उस पुरुषरूप अग्नि का (व्यात्तम्) खुला हुआ मुख (एव) ही (समित्) लकड़ी है (प्राणः) प्राण (धूमः) इस पुरुषरूप अग्नि की ज्वाला है (चक्षुः) नेत्र (अङ्गाराः) पुरुष रूप अग्नि के अङ्गार हैं (श्रोत्रम्) श्रोत्र (विस्फुलङ्गाः) चिनगारियाँ हैं (देवाः) समस्त इन्द्रियाँ (तस्मिन्) उस प्रसिद्ध व्यात्ताननादिलक्षण समिधा से युक्त (एतस्मिन्) इस पुरुषरूप (अग्नौ)

अग्नि में (अन्नम्) खाद्य अन्न को (जुह्वति) हवन करती हैं (तस्याः) उस (आहुत्यै) आहुति से (रेतः) पुरुष का वीर्य (सम्भवति) होता है ॥१२॥

विशेषार्थ– जैवालि प्रवाहण राजा तृतीय आहुति का वर्णन करके अब चतुर्थ आहुति का वर्णन करता है कि – हे गौतम वंशोत्पन्न आरुणि महर्षे ! हाथ, पैर आदि अवयवों वाला प्रसिद्ध पुरुष ही चतुर्थ अग्नि है । और पुरुषरूप अग्नि का खुला हुआ मुख ही समिधा है । क्योंकि खुले हुए मुख से ही बोलने और स्वाध्यायादि में पुरुष दीप्त होता है, जिस प्रकार कि लकड़ी से अग्नि। तथा पुरुष रूप अग्नि का प्राण ही धूम है । क्योंकि धूम के समान पुरुष से निकलता है । और प्रकाशकत्व में समानता होने के कारण वागिन्द्रिय पुरुष रूप अग्नि की ज्वाला है । क्योंकि जिस प्रकार ज्वाला वस्तु को प्रकाशित करनेवाली होती है, उसी प्रकार वाक् भी वाच्य को अभिव्यक्त करनेवाली होती है। तथा तैजस होने से नेत्र ही पुरुषरूप अग्नि के अङ्गारे हैं । और विक्षेप में समानता होने के कारण श्रोत्र ही पुरुष रूपी अग्नि की चिनगारियाँ हैं । उस प्रसिद्ध व्यात्तादिलक्षण समिधा से युक्त इस पुरुषरूप अग्नि में सब इन्द्रियगण अन्न–भात, रोटी आदि को हवन करती हैं । उस चौथी आहुति से पुरुष का वीर्य होता है । अर्थात् पुरुष से भोजन किया हुआ अन्न पुरुष के वीर्य रूप से परिणाम हो जाता है । अन्न शब्द का निर्वचन लिखा है– **अद्यते अत्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यते** (तैत्ति० उ० व० २ अनुवा० २ श्रु० १) जो जीवन दशा में प्राणियों करके भक्षण किया जाता है और सब प्राणियों को स्वयं भी नाश दशा में भक्षण करता है, इससे वह अन्न कहा जाता है ॥१॥ और अन्यत्र भी लिखा है– **पुरुषो वाव गौतमाग्निस्तस्य वागेव समित् । प्राणो धूमो जिह्वार्चिश्चक्षुरङ्गाराः श्रोत्रं विस्फुलिङ्गाः** (छा० उ० प्रपा० ५ खं० ७ श्रु० १) **तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा अन्नं जुह्वति । तस्या आहुते रेतः संभवति ॥२॥** हे गौतमगोत्रोत्पन्न महर्षे ! पृथ्वी ही अग्नि है उस पुरुष रूप अग्नि की वाणी निश्चय करके समिधा है । और प्राण पुरुष रूप अग्नि का धूम है । तथा जीभ पुरुषरूप अग्नि की ज्वाला है और नेत्र पुरुषरूप अग्नि के अङ्गारे हैं । और कान ही पुरुषरूप अग्नि की चिनगारियाँ हैं ॥१॥ सम्पूर्ण इन्द्रियाँ उस प्रसिद्ध वागादिलक्षण समिधा से युक्त इस पुरुषरूप अग्नि में हवन करती हैं, उस आहुति से पुरुष का वीर्य होता है ॥२॥ इस प्रकार इस कण्डिका में चौथी आहुति का वर्णन किया गया है ॥१२॥

योषा वा अग्निर्गौतम । तस्या उपस्थ एव समिल्लोमानि धूमो योनिरर्चिः यदन्तः करोति तेऽङ्गाराः । अभिनन्दा विस्फु–

लिङ्गाः । तस्मिनेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति तस्या आहुत्यै पुरुषः संभवति । स जीवति यावज्जीवतीति । अथ यदा म्रियते ॥१३॥

अन्वयार्थ– (गौतम) हे गौतमगोत्रोत्पन्न आरुणि महर्षे (योषा) स्त्री (वै) ही (अग्निः) पञ्चम अग्नि है (तस्याः) इस स्त्रीरूप आग के (उपस्थः) उपस्थेन्द्रिय (एव) निश्चय करके (समित्) समिधा है (लोमानि) लोम (धूमः) स्त्रीरूप आग के धूम है (योनिः) योनि–उत्पत्तिस्थान (अर्चिः) स्त्रीरूप आग की ज्वाला है तथा (यत्) जो (अन्तः) योनि के भीतर (करोति) अवाच्य कर्म करता है (ते) वे (अङ्गाराः) स्त्रीरूप आग के अङ्गारे हैं और (अभिनन्दाः) मैथुन कर्म से उत्पन्न जो सुखलव है वही (विस्फुलिङ्गाः) स्त्रीरूप आग की चिनगारियाँ हैं (देवाः) सब इन्द्रियाँ (तस्मिन्) उस प्रसिद्ध उपस्थादिलक्षण समिधा से युक्त (एतस्मिन्) इस स्त्रीरूप (अग्नौ) अग्नि में (रेतः) वीर्य को (जुह्वति) हवन करती हैं (तस्याः) उस (आहुत्यै) आहुति से (पुरुषः) पुरुष (सम्भवति) उत्पन्न होता है इस प्रकार चौथे प्रश्न का उत्तर कहा गया (सः) इस क्रम में उत्पन्न हुआ वह पुरुष (जीवति) जीवित रहता है । कितने काल जीवित रहता है वह बतलाया जाता है (यावत्) जब तक इस शरीर में इसकी स्थिति के निमित्त भूत कर्म रहते हैं तब तक (जीवति) जीवित रहता है (इति) ऐसा समझना चाहिये (अथ) इसके बाद उस कर्म के क्षय होने पर (यदा) जब (म्रियते) वह पुरुष मरता है ॥१३॥

विशेषार्थ– कान्यकुब्ज देशाधिपति प्रवाहण राजा चतुर्थ आहुति का वर्णन करके अब पञ्चम आहुति का वर्णन करता है कि हे गौतमकुलोद्भव महर्षे ! स्त्री ही पञ्चम अग्नि है । यहाँ "योषा" पद स्त्री वाचक है क्योंकि लिखा है– **स्त्री योषिदबला योषा नारी सीमन्तिनी वधूः** (अमर० कां० २ व० ६ श्लो० २) स्त्री १, योषित् २, अबला ३, योषा ४, नारी ५, सीमन्तिनी ६, वधू ७, ये स्त्री के नाम हैं ॥२॥ और स्त्री के विषय में लिखा है–**स्तनकेशवती स्त्री स्याल्लोमशः पुरुषः स्मृतः** (महाभाष्य) स्तन और केशवाली स्त्री कही गई है और सर्वत्र रोवाँ वाला पुरुष कहा गया है ॥ उस स्त्रीरूप अग्नि का उपस्थ ही लकड़ी है क्योंकि स्त्री उपस्थ से ही देदीप्यमान होती है । और लोम ही स्त्रीरूप अग्नि के धूम हैं । क्योंकि समिध् से उठने में दोनों की समानता है । तथा वर्ण में समानता होने के कारण मूत्रेन्द्रिय ही स्त्रीरूप अग्नि की ज्वाला है । और जो योनि के मध्य में भीतर की ओर अवाच्य कर्म करता है वह स्त्रीरूप अग्नि के अङ्गारे हैं । क्योंकि वीर्य के उपशम के हेतु होने में उनकी

समानता है। मैथुन वीर्यादि उपशम का कारण है इसी प्रकार अङ्गारभाव अग्नि के उपशम का कारण है। तथा क्षुद्रत्व में समानता होने के कारण, मैथुन कर्म से उत्पन्न जो सुख लव है वही स्त्रीरूप अग्नि की चिनगारियाँ हैं। "क्या तू जानता है कि कितनी संख्या वाली आहुति के हवन किये जाने पर आप पुरुष शबद वाच्य होकर उठकर बोलने लगता है"? ऐसा जो चतुर्थ प्रश्न था, उसका यह निर्णय हो गया कि– योषाग्नि में पाँचवी आहुति के हवन किये जाने पर आप पुरुष शब्द वाच्य हो जाता है और ऐसा ही अन्यत्र भी लिखा है– **योषा वाव गौतमाग्निस्तस्या उपस्थ एव समिद्यदुपमंत्रयते स धूमो योनिरर्चिर्यदन्तः करोति तेऽङ्गारा अभिनन्दा विस्फुलिङ्गाः** (छा० उ० प्रपा० ५ खं० ८ श्रु० १) **तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति। तस्या आहुतेर्गर्भः संभवति ॥२॥** हे गौतमगोत्रोत्पन्न आरुणि महर्षे! स्त्री ही आग है। उस स्त्रीरूप आग की उपस्थेन्द्रिय ही समिधा है। और जो पुरुष स्त्री के साथ अवाच्य कर्म के लिए संकेत करता है वह स्त्रीरूप आग का धूम है। तथा योनि यानी मूत्रेन्द्रिय स्त्रीरूप आग की ज्वाला है। तथा जो योनि के भीतर अवाच्य कर्म– मैथुन व्यापार करता है, वे स्त्री रूप आग के अङ्गारे हैं। मैथुन कर्म से उत्पन्न जो सुख लव है वही स्त्रीरूप आग की चिनगारियाँ हैं ॥१॥ सब इन्द्रियाँ उस प्रसिद्ध वागादिलक्षण समिधा से युक्त इस स्त्रीरूप आग में वीर्य को हवन करती हैं, उस आहुति से गर्भ उत्पन्न होता है ॥२॥ इस प्रकार इस कण्डिका में पाँचवी आहुति का वर्णन किया गया है। यह आहुति अपनी धर्मपत्नीरूप अग्नि में रात के समय ऋतुकाल में करनी चाहिये। क्योंकि लिखा है– **ब्रह्मचर्यमेव तद्यद्रात्रौ रत्या संयुज्यन्ते ॥** (प्रश्नो० प्र० १ श्रु० १३) जो गृहस्थपुरुष रात में अपनी भार्या के सहवास रूप रति करके संयुक्त होते हैं वह निश्चय करके ब्रह्मचर्य है ॥१३॥ **पुमान्रेतः सिञ्चति योषितायाम् ॥** (मुण्डको० मुं० २ खं० १ श्रु० ५) गृहस्थ पुरुष जब अपनी स्त्रीरूप अग्नि में वीर्य को सिञ्चन करता है ॥५॥ **तद्यदा स्त्रियां सिञ्चति ॥** (ऐत० उ० अ० २ खं० १ श्रु० १) गृहस्थ पुरुष जब अपनी स्त्रीरूप अग्नि में उस वीर्य को सिञ्चन करता है ॥१॥ गृहस्थ पुरुष– **ऋतौ भार्यामुपेयात् ॥** (श्रुति) ऋतुकाल में अपनी स्त्री से सहवास करे। इस श्रुति के अनुसार अपनी स्त्री से सहवास करे। ऋतु के विषय में लिखा है– **ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोडश स्मृताः ॥** (मनु० अ० ३ श्लो० ४४) **तासामाद्याश्चतस्त्रस्तु निन्दितैकादशी तथा। त्रयोदशी च शेषास्तु प्रशस्तास्तत्ररात्रयः ॥४५॥** स्त्रियों का प्रतिमास में स्वाभाविक सोलह रात ऋतुकाल कहा गया है ॥४४॥ रजोदर्शन से लेकर सोलह दिन तक स्वाभाविक ऋतुकाल कहलाता है इनमें पहली चार रात्रियाँ और ग्यारहवीं और तेरहवीं रात्रियाँ सर्वथा वर्जित हैं और शेष दस रात्रियाँ

मैथुन कर्म में प्रशस्त है ।।४५।। **ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम् । यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते ॥** (सुश्रुत० अ० १० श्लो० ४७) **जातो वा न चिरं जीवेज्जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः । तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत् ।।४८।।** सोलह वर्ष से कम अवस्था वाली स्त्री में पच्चीस वर्ष से कम अवस्था वाला पुरुष जो गर्भस्थापन करे तो वह कुक्षि से प्राप्त हुआ गर्भ विपत्ति को प्राप्त होता है ।।४७।। जो उत्पन्न हो तो चिरकाल तक न जीये और जीये तो दुर्बलेन्द्रिय हो । इस कारण से अति बाल्यावस्था में गर्भस्थापन न करे ।।४८।। इस कण्डिका में "इति" शब्द चतुर्थ प्रश्न के प्रतिवचन की समाप्ति का सूचक है । अब अन्य चार प्रश्नों के उत्तर कहने के लिये प्रसंग सम्पादन किया जाता है कि– इस क्रम में रेतोरूपा आहुति में उत्पन्न हुआ वह पुरुष जीवित रहता है । कितने काल जीवित रहता है सो बतलाया जाता है– जब तक इस शरीर में इसकी स्थिति के निमित्तभूत कर्म रहते हैं तब तक जीवित रहता है । इसके बाद इस कर्म का क्षय होने पर जब वह पुरुष मर जाता है ।।१३।।

अथैनमग्नये हरन्ति । तस्याग्निरेवाग्निर्भवति समित्समिद्धूमो धूमोऽर्चिरर्चिरङ्गारा अङ्गारा विस्फुलिङ्गा विस्फुलिङ्गा-स्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः पुरुषं जुह्वति तस्या आहुत्यै पुरुषः भास्वरवर्णः संभवति ।।१४।।

अन्वयार्थ– (अथ) मरने के पश्चात् तब (एनम्) इस मृतक पुरुष को (अग्नये) अग्नि में अन्तिम होम के लिये (हरन्ति) बन्धु आदि ऋत्विग्गण श्मशान में ले जाते हैं (तस्य) उस आहुतिभूत पुरुष की (अग्निः) जलानेवाली प्रसिद्ध अग्नि (एव) ही (अग्निः) अग्नि (भवति) होती है (समित्) जलाने की लड़की ही (समित्) समिधा होती है (धूमः) धूम (धूमः) धूम होता है तथा (अर्चिः) ज्वाला (अर्चिः) ज्वाला होती है (अङ्गाराः) अङ्गारे (अङ्गाराः) अङ्गार होते हैं और (विस्फुलिङ्गाः) चिनगारियाँ (विस्फुलिङ्गाः) चिनगारियाँ होती हैं (तस्मिन्) उस (एतस्मिन्) इस (अग्नौ) प्रसिद्ध अग्नि में (देवाः) भगवान् की आज्ञानुसार बर्तने के स्वभाववाले बान्धवगण (पुरुषम्) पुरुषरूप अन्तिम आहुति को (जुह्वति) होम करते हैं (तस्याः) उस (आहुत्यै) आहुति से (पुरुषः) वह पुरुष (भास्वरवर्णः) अत्यन्त दीप्तिमान शरीरवाला (संभवति) हो जाता है ।।१४।।

विशेषार्थ– जब वह मर जाता है, तब मरने के पश्चात् इस मृतक पुरुष को अग्नि में अन्तिम हवन करने के लिये श्मशान में बन्धुआदिक ऋत्विक् गण ले जाते

हैं। मानो यह भी एक होम है, अतः आगे कहते हैं कि–उस आहुतिभूत पुरुष को जलानेवाली अग्नि ही अग्नि होती है। अर्थात् पूर्वोक्त पञ्चाग्नि सदृश यहाँ अन्य कल्पना नहीं होती है। और जलाने की लकड़ी ही समिधा होती है। धूम, धूम होता है। ज्वाला, ज्वाला होती है। अङ्गारे, अङ्गारे होते हैं। और विस्फुलिङ्ग ही विस्फुलिङ्ग होते हैं। तात्पर्य यह है कि ये सब जैसे प्रसिद्ध हैं वैसे ही होते हैं। उस इस सुप्रसिद्ध अग्नि में देवगरा यानी भगवान् की आज्ञानुसार बर्तने के स्वभाव वाले बान्धव गरा। देव के विषय में लिखा है कि–**देवाभगवदाज्ञानुवृत्तिशीलाः ॥** (रामानुजभाष्य गी० अ० १६ श्लो०३) भगवान् की आज्ञानुसार बर्तने स्वभाव वालों का नाम देव है ॥३॥ वे बान्धवगरा पुरुषरूप अन्तिम आहुति को अग्नि मे डालते हैं उस आहुति से वह पुरुष अत्यन्त दीप्यमान शरीर हो जाता है। और अन्यत्र भी लिखा है–**स जातो यावदायुषं जीवति। तं प्रेतं दिष्टमितोऽग्नय एव हरन्ति। यत एवेतो यतः संभूतो भवति ॥** (छा० उ० प्रपा० ५ खं० ९ श्रु० २) वह उत्पन्न पुरुष पूर्वजन्मोपार्जित कर्म के अनुसार जितनी आयु स्थिर हुई है उतनी आयु पर्यन्त जीता रहता है, इसके बाद आयु के क्षय समय में कर्मानुसार अपलोक को प्रस्थित हुए उस जीव को जिस द्युलोक पर्जन्य आदि अग्नि से निश्चय करके यहाँ आया था और जिस स्त्री रूप अग्नि से यहाँ उत्पन्न हुआ था इस मरण स्थान से उसी अग्नि के लिये निश्चय करके देवगण ले जाते हैं तदनन्तर फिर द्युलोक पर्जन्य पृथ्वी पुरुष और स्त्री में उत्पन्न होता है ॥२॥ इस प्रकार "घटीयंत्रकुण्डिका" न्याय से आरोहरा अवरोहरा, लक्षरा भ्रमरा सर्वदा जीव को होता है। इससे वैराग्य सम्पादन करना चाहिये ॥१४॥

ते य एवमेतद्विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते। तेऽर्चिरभिसंभवन्ति। अर्चिषोऽहः। अह्न आपूर्यमारा–पक्षमापूर्यमाराापक्षाद् यान्षण्मासानुदङ् ङादित्य एति। मासेभ्यो देवलोकम्। देवलोकादादित्यमादित्याद्वैद्युतम्। तान्वैद्युतात्पुरुषो मानस एत्य ब्रह्मलोकान् गमयति। ते तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति तेषां न पुनरावृत्तिः ॥१५॥

अन्वयार्थ– (ते) वे (ये) जो विद्वान् (एवम्) इस पूर्वोक्त प्रकार से अर्थात् पञ्चाग्निविद्या के अनुसार प्रकृति विनिर्मुक्त (एतत्) इस प्रत्यगात्मा को ब्रह्मात्मक(विदुः) जानते हैं (च) और (ये) जो (अमी) ये विरक्त महात्मा (अरण्ये) वन में रहकर (श्रद्धाम्) सात्त्विकी श्रद्धापूर्वक (सत्यम्) सत्य परब्रह्म नारायरा को जीवात्मा में

(उपासते) उपासना करते हैं (ते) वे दोनों उपासक मरने के बाद (अर्चिः) अर्चि अभिमानी देवता को (अभिसंभवन्ति) प्राप्त होते हैं (अर्चिषः) अर्चि अभिमानी देवता से (अहः) दिवसाभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं (अह्नः) दिवसाभिमानी देवता से (आपूर्यमाणपक्षम्) शुक्लपक्षाभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं (आपूर्यमाणपक्षात्) शुक्लपक्षाभिमानी देवता से (यान्) जिन (षट्) छः (मासान्) महीनों में (उदङ्) उत्तर की ओर (आदित्यः) सूर्य (एति) जाता है उन छः महीनों को अर्थात् उत्तरायणाभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं (मासेभ्यः) उत्तरायण के छः महीनों के अभिमानी देवताओं से संवत्सर अभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं। संवत्सराभिमानी देवता से (देवलोकम्) वायुदेव लोकाभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं (देवलोकात्) वायुर्देवलोकाभिमानी देवता से (आदित्यम्) सूर्याभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं (आदित्यात्) सूर्याभिमानी देवता से चन्द्राभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं चन्द्रभिमानी देवता से (वैद्युतम्) विद्युत् अभिमानी देवता के प्राप्त होते हैं (मानसः) परब्रह्म नारायण के मन से रचा हुआ (वैद्युतात्) वैद्युत (पुरुषः) अमानव पुरुष (ब्रह्मलोकान्) परब्रह्म नारायण के लोक की (गमयति) प्राप्ति करा देता है (ते) अर्चिरादिमार्ग से गये हुए वे सब भगवदुपासक (पराः) परमोत्कृष्ट निरतिशयानन्दैश्वर्यशाली (परावतः) परमात्मा के द्वारा सनाथ और परमेश्वर से अनुगृहीत तथा परब्रह्म नारायण से दिया हुआ भोग्य, भोगस्थान और भोगोपकरण को भोगते हुए (तेषु) उस (ब्रह्मलोकेषु) परब्रह्म नारायण के लोक में (वसन्ति) सर्वदा निवास करते हैं (तेषाम्) उन परब्रह्म के लोक को गये हुए पुरुषों की (पुनः) फिर (आवृत्तिः) संसार में आवृत्ति (न) नहीं होती है ॥१५॥

विशेषार्थ—अब पाञ्चाल प्रवाहण राजा "क्या तू जानता है कि—मर कर इस लोक से जाते हुए ये सब जीव किस विशिष्ट देश में जाते हैं" इस अपने पहले प्रश्न का उत्तर आरुणि महर्षि से कहते हैं कि—जो विद्वान् प्राक् प्रस्तुत उस प्रत्यगात्मस्वरूप जीवतत्त्व को इस पूर्वोक्त प्रकार से पञ्चाग्निविद्या के अनुसार प्रकृति विनिर्मुक्त ब्रह्मात्मक अनुसन्धान करते हैं। और जो ये विरक्त वन में रहकर सात्त्विकी श्रद्धापूर्वक सत्यशब्दित परब्रह्म नारायण को प्रत्यगात्मा में उपासना करते हैं। श्रद्धा के विषय में लिखा है— **त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा। सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु।** (गी० अ० १७ श्लो० २) प्राणियों की यह स्वभावजन्य श्रद्धा सात्त्विकी, राजसी और तामसी ऐसे तीन प्रकार की होती है उसको तू सुन ॥२॥ **श्रद्धा हि "स्वाभिमतं साधयति एतत्" इति विश्वासपूर्विका साधने त्वरा॥** (रामानुजभाष्यगी० अ० १७ श्लोक २) अमुक साधन अपने अभिमान कार्य को सिद्ध कर सकेगा, इस विश्वास के साथ जो साधन में शीघ्रता होती है उसका नाम श्रृद्धा है ॥२॥ **सत्वानुरूपा**

सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत । श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ (गी॰ अ॰ १७ श्लो॰ ३) हे भारत ! अन्तःकरण के अनुरूप सबकी श्रद्धा हुआ करती है । यह पुरुष श्रद्धामय है, जो जिस श्रद्धा वाला है, वह वही होता है ।।३।। **यजन्ते सात्विका देवान्यरक्षांसि राजसाः ।प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥(गी॰ अ॰ १७ श्लो॰ ४)** सात्त्विक पुरुष देवताओं को पूजते हैं, राजस, यक्ष और राक्षसों को और तामस लोग प्रेतों और भूतों के समुदायों को पूजते हैं ।।४।। और सत्य के विषय में लिखा है— **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ॥** (तैति॰ उ॰ व॰ २ अनु॰ १ श्रु॰ १) सत्य यानी निरुपाधिक सत्तायोगी ज्ञान यानी नित्य असंकुचित ज्ञानैकाकार, अनन्त यानी देश, काल और वस्तु के परिच्छेद से रहित परब्रह्म नारायण है ।।१।। गुरुर्गुरुतमो धाम सत्यः सत्यपराक्रमः ।। (महाभारत अनुशास॰ विष्णुसहस्रना॰ श्लो॰ ३६) गुरु १, गुरुतम २, धाम ३, सत्य ४, सत्यपराक्रम ५ ये परब्रह्म नारायण के नाम हैं ।।३६।। वे पूर्वोक्त प्रकार से उस प्रत्यगात्मस्वरूप जीवात्मा को प्रकृति विनिर्मुक्त ब्रह्मात्मक अनुसन्धानकरने वाले और वन में रहकर श्रद्धापूर्वक प्रत्यगात्मा में परब्रह्म नारायण की उपसाना करनेवाले उपासकगण, प्राण प्रयाण के अनन्तर अर्चिअभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं । यहाँ "अभिसंभवन्ति" पद का सर्वत्र सम्बन्ध होता है । और अर्चि आदिक शब्द अभिमानी देवता वाचक हैं । और अर्चि अभिमानी देवता से दिनाभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं तथा दिनाभिमानी देवता से शुक्लपक्षाभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं और शुक्लपक्षाभिमानी देवता से उत्तरायणाभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं । मकर की संक्रांति से प्रारम्भ करके मिथुन की समाप्ति पर्यन्त जिन छः महीनों में सूर्य उत्तर को ओर जाता है उन्हीं माघ १, फाल्गुन २, चैत्र ३, वैशाख ४, ज्येष्ठ ५ और आषाढ़ ६ महीनों को उत्तरायण कहते हैं । और अन्यत्र भी लिखा है—**तद्य इत्थं विदुर्येचेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसंभवन्ति। अर्चिषोऽहरह्नः आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाण-पक्षाद्यान् षडुदङ्ङेति मासाँस्तान् ॥** (छा॰ उ॰ ५।१०।१) जो विद्वान् उस प्रत्यगात्मस्वरूप चित्तत्त्व को इस पूर्वोक्त प्रकार से अर्थात् पञ्चाग्निविद्या के अनुसार प्रकृति विनिर्मुक्त ब्रह्मात्मक जानते हैं और जो ये विरक्त वन में रहकर सात्त्विकी श्रद्धापूर्वक परब्रह्म नारायण की उपसना करते हैं, वे मरने के बाद अर्चि अभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं । और अर्चिअभिमानी देवता से दिवसाभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं । तथा दिवसाभिमानी देवता से शुक्लपक्षाभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं । और शुक्लपक्षाभिमानी देवता से जिन छः महीनों में उत्तर की ओर सूर्य जाता है उन छः महीनों को अर्थात् उत्तरायणाभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं ।।१।। **अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् । तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥** (गी॰ अ॰ ८ श्लो॰ २४) अग्निरूप ज्योति, दिन, शुक्लपक्ष, और उत्तरायण के छः महीने

उनमें गये हुए ब्रह्मवेत्ताजन परब्रह्म नारायरा को प्राप्त होते हैं ॥२४॥ उत्तरायरा के छः महीनों के अभिमानी देवताओं से संवत्सराभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं। क्योंकि लिखा है—**वातो देवता** (यजु० अ० १४ मं० २०) वायुदेव है ॥२०॥ **वायुर्वै क्षेपिष्ठ देवता** ॥ (श्रुति) वायु ही उड़ाने वाला देव है। **योऽयं पवत एष देवानांगृहे** (श्रुति) जो यह वायु देवताओं के घर में पवित्र करती है—**स वायुमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा रथचक्रसय खं तेन स ऊर्ध्वमाक्रमते स आदित्यमागच्छति** ॥ (बृह० उ० अ० ५ ब्रा० १० कं० १) मरकर वह जीवात्मा वायुलोक में आती है तब वह वायुदेव वहाँ उस उपासक जीवात्मा के लिए रथचक्र के छिद्र के समान मार्ग देता है। उस छिद्र से वह जीवात्मा ऊपर चढ़ती है, तब वह जीव आदित्य को प्राप्त करता है ॥१॥ और वायुदेव से सूर्याभिमानी देवता को प्राप्त होता है। सूर्याभिमानी देवता से चन्द्राभिमानी देवता को प्राप्त होता हैं। क्योंकि लिखा है—**आदित्याच्चन्द्रमसम्** ॥ (छा० उ० प्रपा० ५ खं० १० श्रु० २) आदित्य से चन्द्रमा को प्राप्त होते हैं ॥२॥ चन्द्र अभिमानी देवता से विद्युत् अभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं। वहाँ परब्रह्म नारायरा के मन से बनाया हुआ वैद्युत असंसारी अमानव पुरुष भगवदुपासकों के समीप आकर वरुरा, इन्द्र प्रजापति द्वारा स्वागत करवाते हुए उन पूर्वोक्त दो प्रकार के उपासकों को परब्रह्म नारायरा के लोक की प्राप्ति करा देता है। वैद्युतात्" यहाँ पर पञ्चमी विभक्ति प्रथमा के स्थानमें छान्दस हुई है। अर्चिरादिमार्ग से भगवल्लोक में गये हुए वे सब भगवदुपासक परमोत्कृष्ट-निरतिशया-नन्दैश्वर्यशाली होते हुए परमात्मा के द्वारा सनाथ और परमेश्वर से अनुगृहीत तथा परब्रह्म नारायरा से दिये हुए भोग्य, भोगस्थान और भोगोपकरण को भोगते हुए उस परबह्म नारायण के दिव्य लोक में सर्वदा निवास करते हैं। उन परब्रह्म नारायण के लोक को गये हुए उपासक पुरुषों की फिर संसार में आवृत्ति नहीं होती है। क्योंकि लिखा है कि—**मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्। नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः** ॥ (गी० अ० ८ श्लो० १५) **मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते** ॥१६॥ मुझे प्राप्त होकर परम संसिद्धि को पाये हुए महात्मा लोग दुःखों के घररूप अनित्य पुनर्जन्म को नहीं प्राप्त होते हैं ॥१५॥ हे कुन्ती पुत्र ! मुझे पा लेने के बाद पुनः जन्म नहीं होता है ॥१६॥ और अन्यत्र लिखा है—**मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एनान्ब्रह्म गमयति। एष देवयानः पन्था इति** ॥ (छा० उ० प्रपा० ५ खं० १० श्रु० २) उत्तरायरा के छः महीनों के अभिमानी देवताओं से संवत्सर अभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं। संवत्सर अभिमानी देवता से सूर्याभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं। सूर्य अभिमानी देवता से चन्द्र अभिमानी देवता को प्राप्त होते है। चन्द्र

अभिमानी देवता से विद्युत् अभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं । वहाँ वैद्युत पुरुष जो असंसारी है वह अमानव पुरुष इन पूर्वोक्त दो प्रकार के उपासकों को परब्रह्म नारायरा की प्राप्ति करा देता है । इस प्रकार से यह देवयान मार्ग है । इसी को अर्चिरादि मार्ग भी कहते हैं ।।२।। **स एतंदेवयानं पन्थानमासाद्याग्निलोकमागच्छति स वायुलोकंस वरुरालोकं स आदित्यलोकं स इन्द्रलोकं स प्रजापतिलोकं स ब्रह्मलोकम्** ।। (कौषीतकि ब्राह्मणोप अ० १ श्रु० ३) वह परब्रह्म का उपासक इस देवयानमार्ग पर पहुँचकर पहले अग्निलोक में आता है, फिर वायुलोक में आता है, वहाँ से सूर्य लोक में आता है तदनन्तर वरुण लोक में आता है, तत्पश्चात् वह इन्द्रलोक में आता है इन्द्रलोक से प्रजापतिलोक में आता है और प्रजापतिलोक से परब्रह्म नारायण के लोक में आता है ।।३।। **अर्चिरहः सितपक्षानुदगयनाब्दौ च मारुतार्केन्दून्** । **अपिवैद्युतवरुणेन्द्रप्रजापतीनाति-वाहिकानाहुः** ।। अर्चिः १, दिन २, शुक्लपक्ष ३, उत्तरायण ४, संवत्सर ५, वायु ६, सूर्य ७, चन्द्रमा ८, वैद्युत-पुरुष ९, वरुण १०, इन्द्र ११, प्रजापति १२ ये बारह अतिवाहिक हैं, ऐसा सब वेद कहते हैं । इस प्रकार अभियुक्त संगृहीत देवयान मार्ग है । यतिराजराजभगवद्रामानुजाचार्यने- **अनियमस्सर्वेषामविरोधश्शब्दानुमानाभ्याम्** ।। (शा० मी० अ० ३ पा० ३ सू० ३२) **योगिनः प्रतिस्मर्येते स्मार्ते चैते** ।। (शा० मी० अ० ४ पा० २ सू० २०) **वायुमब्दादविशेषविशेषाभ्याम्** ।। (शा० मी० अ० ४ पा० ३ सू० २) **तटितोऽधि वरुणस्सम्बन्धात्** ।। (शा० मी० अ० ४ पा० ३ सू० ३) **विशेषितत्वाच्च** ।। (शा० मी० अ० ४ पा० ३ सू० ७) **परं जैमिनिर्मुख्यत्वात्** ।। (शा० मी० अ० ४ पा० ३ सू० ११) इन सात सूत्रों के श्रीभाष्य में "बृहदारण्यकोपनिषद्" के षष्ट अध्याय के द्वितीय ब्राह्मण की पन्द्रहवीं कण्डिका के पदों को उद्धृत किया है ।।१५।।

अथ ये यज्ञेन दानेन तपसा लोकाञ्जयन्ति ते धूममभिसंभवन्ति । धूमाद्रात्रिम् । रात्रेरपक्षीयमाणपक्षमपक्षीयमाणपक्षाद् यान्षण्मासान् दक्षिणाऽऽदित्य एति मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकाच्चन्द्रं ते चन्द्रं प्राप्यान्नं भवन्ति । तांस्तत्र देवा यथा सोमं राजानमाप्यायस्वापक्षीयस्वेत्येवमेनांस्तत्र भक्षयन्ति । तेषां यदा तत् पर्यवैति । इममेवाऽऽकाशमभिनिष्पद्यन्ते । आकाशाद्वायुम् । वायोर्वृष्टिं वृष्टेः पृथिवीम् । ते पृथिवीं प्राप्यान्नं भवन्ति ते पुनः पुरुषाग्नौ

हूयन्ते ततो योषाग्नौ जायन्ते । ते लोकान् प्रत्युत्थायिनः । त एवमेवानुपरिवर्तन्ते । अथ एतौ पन्थानौ न विदुस्ते कीटाः पतङ्गा यदिदं दन्दशूकम् ॥१६॥

॥ इति षष्ठाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

अन्वयार्थ– (अथ) देवयान मार्ग कहने के अनन्तर अब पितृयान मार्ग का वर्णन प्रारम्भ होता है (ये) जो कोई (यज्ञेन) ज्योतिष्टोमादि यज्ञ से या (दानेन) गोदानादि से और (तपसा) अनशन आदिक तप से (लोकान्) लोकों को (जयन्ति) जीतते हैं (ते) वे केवल यज्ञ दानादि कर्म करनेवाले लोग प्राण प्रयाण के अनन्तर (धूमम्) धूम अभिमानी देवता को (अभिसंभवन्ति) प्राप्त होते हैं (धूमात्) धूम अभिमानी देवता से (रात्रिम्) रात्रि अभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं (रात्रेः) रात्रि अभिमानी देवता से (अपक्षीयमाणपक्षम्) जिस पक्ष में चन्द्रमा घटता जाता है उस कृष्ण पक्ष अभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं (अपक्षीयमाणपक्षात्) कृष्ण पक्षाभिमानी देवता से (यान्) जिन (षट्) छः (मासान्) महीनों में (दक्षिणा) दक्षिण दिशा की ओर (आदित्यः) सूर्य (एति) जाता है उन छः महीनों को अर्थात् दक्षिणायनाभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं (मासेभ्यः) दक्षिणायन के महीनों के अभिमानी देवताओं से (पितृलोकम्) पितृलोक को प्राप्त होते हैं (पितृलोकात्) पितृलोक से (चन्द्रम्) चन्द्रमा को प्राप्त होते हैं (ते) वे इष्यादिकारी (चन्द्रम्) चन्द्रमा को (प्राप्य) प्राप्त करके वहाँ रहने वाले आजान देवताओं के (अन्नम्) अन्न के समान भोगोपकरण (भवन्ति) हो जाते हैं (यथा) जैसे (तत्र) यज्ञ में ऋत्विज् लोग (राजानम्) देदीप्यमान (सोमम्) सोमलता के रस को (आप्यायस्व) खूब बढ़ते रहो और (अपक्षीयस्व) खूब घटते रहो (इति) ऐसा कहकर भक्षण करते हैं (एवम्) वैसे ही (तत्र) उस चन्द्रलोक में (तान्) चन्द्रमा को प्राप्त हुए उन उपकरण भूत (एनान्) इन कर्मियों को (भक्षयन्ति) देवता लोग भक्षण करते हैं अर्थात् अपने भोग के उपकरण करते हैं (यदा) जब (तेषाम्) उन कर्मियों के (तत्) वह भोगसाधनभूत कर्म (पर्यवैति) परिक्षीण हो जाता है तब फिर (इमम्) इस प्रसिद्ध (आकाशम्) आकाश को (एव) ही (अभिनिष्पद्यन्ते) प्राप्त होते हैं और (आकाशात्) आकाश से (वायुम्) वायु को प्राप्त होते हैं (वायोः) वायु से (वृष्टिम्) वृष्टि को प्राप्त होते हैं (वृष्टेः) वृष्टि से (पृथिवीम्) पृथ्वी को प्राप्त होते हैं (ते) वे वर्ष संश्लिष्ट भूतसूक्ष्म परिष्वक्तजीव (पृथिवीम्) पृथ्वी को (प्राप्य) प्राप्तकर (अन्नम्) अन्न यानी ओषधि वनस्पति माषादिभक्ष्य संसर्गी (भवन्ति) हो जाते हैं (पुनः)

फिर (ते) वे अन्न के द्वारा (पुरुषाग्नौ) वीर्याधान करने वाले पुरुषरूप अग्नि में (हूयन्ते) हवन किये जाते हैं (ततः) उस के बाद वीर्यरूप आहुति से (योषाग्नौ) स्त्रीरूप अग्नि में (जायन्ते) पुरुष उत्पन्न होते हैं (ते) वे उत्पन्न हुए पुरुष (लोकान्) पुण्यलोकों के (प्रति) प्रति (उत्थायिनः) उत्थानशील होते हैं (ते) वे केवल कर्म-परायण पुरुष (एवम्) इसी प्रकार (एव) निश्चय करके (अनुपरिवर्तन्ते) घटीयंत्र के समान निरन्तर घूमते रहते हैं (अथ) और (ये) जो विद्या कर्म रहित जीव (एतौ) इन दोनों (पन्थानौ) देवायान और पितृयान मार्गों को (न) नहीं (विदुः) जानते हैं (ते) वे अज्ञानी (कीटाः) अत्यन्तलघु कीट (पतङ्गाः) शलभ या पक्षी हुआ करते हैं और (यत्) जो (इदम्) यह (दन्दशूकम्) दाँत से काटने वाला क्षुद्र डंस मच्छड़ आदिक हैं सो बारम्बार हुआ करता है ॥१६॥

विशेषार्थ– पाञ्चाल प्रवाहण राजा देवयान मार्ग को कहकर अब पितृयानमार्ग का वर्णन प्रारम्भ करता है कि– जो कोई केवल ज्योतिष्टोमादि यज्ञ से तथा गोभूहिरण्यादि दान से और अनशन रूप कृच्छ्रचान्द्रायणादि तपस्या से लोकों को जीतते हैं। यज्ञ के विषय में लिखा है– **देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागः यागः ॥** देवता के उद्देश्य से जो द्रव्यत्याग स्वाहा आदिक शब्द से किया जाता है उसको यज्ञ कहते हैं। और दान के विषय में लिखा है– **न्यायार्जितधनं श्रान्ते श्रद्धया वैदिके जने । अन्यद्वा यत्प्रदीयेत तद्दानं प्रोच्यते मया ॥** (जाबालदर्शनोप० खं० २ श्रु० ७) क्लेश में पड़े हुए वेदज्ञ पुरुषों को जो न्यायोपार्जितधन अथवा अन्य आवश्यक वस्तुएँ दी जाती हैं उसी को मैं दान कहता हूँ ॥७॥ **दानं न्यायार्जितधनस्य पात्रे प्रतिपादनम् ॥** (रामानुजभाष्यगी० अ० १६ श्लो० १) न्यायोपार्जित धन को सत्पात्र के प्रति देने का नाम दान है ॥१॥ तथा तप के विषय में लिखा है– **वेदोक्तोने प्रकारेण कृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः । शरीरशोषणं यत्तत्तप इत्युच्यते बुधैः** (जाबालद० उ० खं० २ श्रु० ३) वेदोक्त प्रकार से और कृच्छ्रचान्द्रायणादिक से जो शरीर को सुखाता है उसी को बुध जन तप कहते हैं ॥३॥ वे केवल यज्ञ दान और तपस्या कर्म करने वाले लोग प्राण प्रयाण के अनन्तर धूमाभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं। यहाँ "अभिसंभवन्ति" पद का सर्वत्र सम्बन्ध होता है। और धूम आदिक शब्द अभिमानी देवता वाचक है। और धूमाभिमानी देवता से रात्रि अभिमानी दवेता को प्राप्त होते हैं। तथा रात्रि अभिमानी देवता से कृष्णपक्षाभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं और कृष्णपक्षाभिमानी देवता से दक्षिणायानाभिमानी देवता को पाप्त होते हैं। कर्क की संक्रान्ति से प्रारम्भ करके धन की समाप्ति पर्यन्त जिन छः महीनों में सूर्य दक्षिण की ओर आता है उन्हीं सावन (१) भादो (२) आश्विन (३) कार्तिक (४) अगहन (५) और पूष (६) महीनों

को दक्षिणायन कहतें हैं । और अन्यत्र भी लिखा है– **अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसंभवन्ति । धूमाद्रात्रिं रात्रेरपरपक्षमपरपक्षाद्यान् षड् दक्षिणैति मासाँस्तान्नैते संवत्सरमभिप्राप्नुवन्ति ॥** (छा० उ० प्रपा० ५ खं० १० श्रु० ३) और जो पुरुष ग्राम में रहते हुए ज्योतिष्टोमादि याग तथा वापी, कूप, तड़ाग आदि और दान उपवास आदिक कर्म करते हैं । वे इष्टापूर्त, दानादि करने वाले धूमाभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं । और धूमाभिमानी देवता से रात्रि अभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं तथा रात्रि अभिमानी देवता से कृष्णपक्षाभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं और कृष्णपक्षाभिमानी देवता से दक्षिणायनाभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं, कर्क की संक्रान्ति से प्रारम्भ करके धन की समाप्ति पर्यन्त जिन छः महीनों में सूर्य दक्षिण की ओर जाता है । उन्हीं सावन १, भादो २, आश्विन ३, कार्तिक ४, अगहन ५ और पूष ६ महीनों को दक्षिणायन कहते हैं । ये ग्राम में यज्ञ दानादि कर्म करने वाले संवत्सराभिमानी देवता को नहीं प्राप्त होते हैं ।।३।। **धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् । तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥** (गी० अ० ८ श्लो० २५) धूम, रात्रि कृष्णपक्ष और दक्षिणायन के छः मास उसमें गया हुआ योगी चन्द्रमा सम्बन्धी ज्योति को प्राप्त होकर फिर लौट आता है ।।२५।। और दक्षिणायन के छः महीनों के अभिमानी देवताओं से पितृलोक को प्राप्त होते हैं । पितृलोक के विषय में लिखा है– **तृतीया ह प्रद्यौरिति यस्यां पितर आसते ॥** (अथर्व० कां० १८ मं० ४८) तथा पितृ लोक से आकाश को प्राप्त होते हैं । क्योंकि लिखा है– **पितृलोकादाकाशम् ॥** (छा० उ० प्रपा० ५ खं० १० श्रु० ४) पितृलोक से आकाश को प्राप्त होते हैं । और आकाश से चन्द्रमा को प्राप्त होते हैं । और भी लिखा है– **ये वै के चास्माल्लोकात्प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति ॥** (कौषीतकिब्राह्मणो० अ० १ श्रु० २) जो कोई भी अग्नि होत्रादि सत्कर्मों का अनुष्ठान करने वाले लोग हैं, वे सब ही जब इसलोक से प्रयाण करते हैं तो चन्द्रमा को ही प्राप्त होते हैं ।।२।। **मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चन्द्रमसम् ॥** (छा० उ० प्रपा० ५ खं० १० श्रु० ४) दक्षिणायन के महीनों के अभिमानी देवताओं से पितृलोक को प्राप्त होते हैं और पितृलोक से आकाश को प्राप्त होते हैं तथा आकाश से चन्द्रमा को प्रापत होते हैं ।।४।। यहाँ पहले प्रश्न का उत्तर समाप्त हो गया । और "देवयान और पितृयान के मार्ग का प्रतिपद् यानी भेदक रूपों को क्या तू जानता है" ? इस अपने पञ्चम प्रश्न का भी उत्तर पाञ्चाल प्रवाहरण राजा– **तेऽर्चिरभिसंभवन्ति ॥** (बृ० उ० अ० ६ ब्रा० २ कं० १५) वे परब्रह्म नारायण के उपासक मरने के बाद अर्चि अभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं ।।१५।। और – **ते धूममभिसंभवन्ति ॥** (बृ० उ० अ० ६ ब्रा० २ कं०

१६) वे केवल यह दानादि कर्म करने वाले लोग मरने के बाद धूमाभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं ।।१६।। इन ग्रन्थ के संदर्भों से कहता हुआ देवयान और पितृयान का भेद "संवत्सर" से है, ऐसा कह कर समाप्त किया है । प्रथम और पञ्चम प्रश्न के उत्तर कहने के बाद अब पाञ्चाल प्रवाहण राजा "क्या तू जानता है कि वे जीव फिर कहाँ से कैसे इस लोक में लौट आते हैं" ? इस द्वितीय प्रश्न का उत्तर कहता है । वे केवल यज्ञदानादि कर्म करनेवाले चन्द्रमा को प्राप्त करके वहाँ रहने वाले आजान देवताओं के अन्न यानी भोगोपकरण हो जाते हैं । यहाँ एक दृष्टान्त कहते हैं । जिस प्रकार सोमयज्ञ में ऋत्विक् गण देदीप्यमान सोमलता के रस को "खूब बढ़ते रहो" और "खूब घटते रहो" ऐसा कहकर चमस में भर कर पी जाते हैं, इसी प्रकार इस चन्द्रलोक में चन्द्रमा को प्राप्त हुए उन उपकरणभूत इन कर्मियों को आजान देवता लोग भक्षण करते हैं । अर्थात् अपने भोग का उपकरण करते हैं । क्योंकि लिखा है– **न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्ति । एतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥** (छा० उ० प्रपा० ३ खं ६ श्रु० १) निश्चय करके देवगण न तो भोजन करते हैं ओर न तो जल पीते हैं, इस अमृत को ही देखकर वे देवगण तृप्त रहते हैं ।।१।। **एष सोमो राजा । तद्देवानामन्नम् । तं देवा भक्षयन्ति ॥** (छा० उ० प्रपा० ५ खं० १० श्रु० ४) यह चन्द्रमा को प्राप्त करने वाला इष्यादिकारी सोम की तरह देदीप्यमान स्वर्गभोगयोग्य दिव्यदेह होता है । वह स्वर्गभोगयोग्य दिव्य शरीर देवताओं के अन्न के समान उपकरण होता है आजान देवता लोग उस देवभाव प्राप्त यज्ञादि कर्म करने वाले को भक्षण करते हैं अर्थात् अपने कैंकर्य में पशु के समान लगाते हैं ।।४।। सोमलता के विषय में लिखा है– **सर्वेषामेव सोमानां पत्राणि दश पञ्च च । तानि शुक्ले च कृष्णे च जायन्ते निपतन्ति च ॥** (सुश्रु० चिकित्सास्था० अध्या० २९ श्लो० २०) **एकैकं जायते पत्रं सोमस्याहरहस्तदा । शुक्लस्य पौर्णमास्यां तु भवेत्पञ्चदशच्छदः ॥२१॥ शीर्यते पत्रमेकैकं दिवसे दिवसे पुनः । कृष्णपक्षक्षयेऽत्रापि लता भवति केवला ॥२२॥** सब प्रकार की सोमलता में पन्द्रह पत्ते होते हैं, वे शुक्लपक्ष में उत्पन्न होकर कृष्णपक्ष में गिर जाते हैं ।।२०।। शुक्लपक्ष की प्रतिपदा से नित्य प्रति चन्द्र की कला के साथ सोमलता का एक-एक पत्ता निकलने लगता है । इस प्रकार पूर्णिमा के दिन पन्द्रह पत्ते हो जाते हैं ।।२१।। और कृष्णपक्ष की प्रतिपदा से चन्द्रकला क्षीण होने के साथ एक-एक पत्ता नित्य गिरता है और अमावस्या को लतामात्र शेष रह जाती है । इसी से इसको सोमलता कहते हैं ।।२२।। और जब चन्द्रलोक में गये हुए उन कर्मियों का वह भोगसाधन भूत कर्म क्षय हो जाता है, तब वे जैसे आरोहरण में आकाश से चन्द्रमा को प्राप्त होते हैं वैसे ही अवरोहरण में वे पहले चन्द्रमा से आकाश को प्राप्त होते

हैं। तथा आकाश से वायु को प्राप्त होते हैं। यहाँ "अभिनिष्पद्यन्ते" इस पद का सर्वत्र सम्बन्ध होता है और वायु से वृष्टि को प्राप्त होते हैं तथा वृष्टि से पृथ्वी को प्राप्त होते हैं। और अन्यत्र भी लिखा है– **तस्मिन्यावत्सम्पातमुषित्वा। अथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथेतम्। आकाशमाकाशाद्वायुम्। वायुर्भूत्वा धूमोभवति धूमो भूत्वाभ्रं भवति॥** (छा॰ उ॰ प्रपा॰ ५ खं॰ १० श्रु॰ ५) वहाँ उस चन्द्रलोक में जब तक फल प्रदान प्रवृत कर्मों का क्षय नहीं होता है तब तक रहकर अनन्तर निश्चय करके इसी धूमादि मार्ग के प्रति जिस प्रकार, वे इष्ट, पूर्त आदिक करनेवाले गये थे उसी प्रकार फिर लौटते हैं। और जैसे आरोहरण में आकाश से चन्द्रमा को अग्नि होत्रादि कर्म करने वाले प्राप्त होते हैं। वैसे ही अवरोहरण में वे पहले आकाश को प्राप्त होते हैं तथा आकाश से वायु को प्राप्त होते हैं वायु होकर धूम वे होते हैं और धूम होकर जलधारणवस्था पर्जन्य होते हैं ॥५॥ और वे वर्ष संश्लिष्ट भूतसूक्ष्म परिष्वक्त जीव पृथ्वी को प्राप्तकर अन्न यानी ओषधि, वनस्पति, माषादि भक्ष्य-संसर्गी हो जाते हैं, फिर वे अन्न के द्वारा वीर्याधान करने वाले पुरुष अग्नि में हवन किये जाते हैं, तदनन्तर वीर्य रूप आहुति से स्त्री रूप अग्नि में वे पुरुष रूप उत्पन्न होते हैं। वे उत्पन्न हुए पुरुष पुण्यलोकों के प्रति उत्थानशील होते हैं। वे केवल कर्म परायण पुरुष इसी प्रकार निश्चय करके घटीयंत्र के समान बारंबार आते जाते रहते हैं। और अन्यत्र भी लिखा है– **अभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षति। त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्ते। अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरम्। यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवति॥** (छा॰ उ॰ प्रपा॰ ५खं॰ १० श्रु॰ ६) वह जलधारणावस्था पर्जन्य होकर वर्षोन्मुखावस्था मेघ होता है और वर्षोन्मुखावस्थामेघ संश्लिष्ट भूतसूक्ष्म परिष्वक्त जीव इस लोक में धान और जौ ओषधि और वनस्पति, तिल और उड़द इत्यादि रूप से उत्पन्न होते हैं, संश्लेष मात्र से, निश्चय करके इस स्थावरादिभाव से निष्क्रमण अत्यन्त कष्टप्रद ही है। अर्थात् स्थावरादिभाव से अतिचिरकालद्वारा निर्गमन होता है क्योंकि जो जो व्रीह्यादि संश्लिष्ट उपजता हुआ वह जीव अन्न को भक्षण करता है और जो स्त्री में वीर्य को सिञ्चन करता है वह पुरुष फिर पश्चात् उस वीर्य सिग्भाव को ही प्राप्त हो जाता है ॥६॥ यहाँ दूसरे प्रश्न का उत्तर समाप्त हो गया। अब द्वितीय प्रश्न का उत्तर कहने के बाद, जैवलि प्रवाहण राजा ने "क्या तुझे मालूम है कि इस लोक से अनवरत मरकर सर्वदा बहुत जीव वहाँ जाते हैं, परन्तु वह स्वर्गलोक क्यों नहीं भरता है" ? इस तृतीय प्रश्न का उत्तर देना प्रारम्भ किया कि– और जो प्राणी देवयान और पितृयान इन दोनों मार्गों को नहीं जानते हैं अर्थात् उत्तर या दक्षिण मार्ग की प्राप्ति के लिये न तो श्रद्धा

पूर्वक सत्य-परब्रह्म नारायण की उपासना करते हैं और न यज्ञ दान तथा तप ही करते हैं, वे क्षुद्र जीव, कीट और पंतग यानी शलभ हुआ करते हैं। यहाँ "पतंग" शब्द शलभ वाचक है। क्योंकि लिखा है– **प्रदीप्तज्वलनम् इव च शलभाः ॥** (रामानुजभाष्यगी० अ० ११ श्लो० २९) जैसे पतंग यानी शलभ जलती हुई अग्नि में प्रवेश करते हैं ॥२९॥ इस भाष्य में "पतङ्गा" का पर्याय श्रीभाष्यकार "शलभाः" दिये हैं। और **समौ पतङ्गशलभौ ॥** (अमर० कां० २ व० ५ श्लो० २८) पतङ्ग १, शलभ २, ये पतंग के नाम हैं ॥२८॥ वे केवल कीट पतंग ही नहीं होते हैं किन्तु जो ये अतिसूक्ष्म दाँतों से काटने वाले शोणित चूसने वाले डंस मच्छर आदि जीव हैं ऐसे जीव हो होकर मरते जीते रहते हैं। और अन्यत्र भी लिखा है– **अथैतयोः पथोर्न कतरेण चन तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीयं स्थानं तेनासौ लोको न संपूर्यते । तस्माज्जुगुप्सेत ॥** (छा० उ० प्रपा० ५ खं० १० श्रु० ८) और इन दोनों देवयान और पितृयान मार्गों में से किसी एक मार्ग से भी नहीं विद्या कर्म रहित जीव जाते हैं। वे ये अत्यन्त लघुप्राणी डंस, मच्छड़, कीटादिक बारम्बार आने जाने वाले होते हैं। पुनः पुनः उत्पन्न होवो, बारंबार मरो यही उन पापकर्म करने वालों का तृतीयस्थान है। उस तृतीयस्थान शब्दित पापकर्मियों से यह द्युलोक नहीं प्राप्त होता है या भरता है। संसारियों की गति उक्त रीति से अत्यन्त कष्ट प्रद है, अतः इस संसार से घृणा करे ॥८॥ यहाँ तृतीय प्रश्न का भी उत्तर समाप्त हो गया। इस प्रकार सब प्रश्नों का समाधान हो गया। यहाँ सर्वदा इस बात को याद रखना चाहिये कि जो प्रश्न कड़ा होता है उसी का उत्तर पहले दिया जाता है। इससे सब से पहले चौथे प्रश्न का उत्तर राजा ने दिया है। तदनन्तर पाँचवे प्रश्न का उत्तर पाञ्चाल प्रवाहण राजा ने दिया है। यहाँ पर "बृहदारण्यकोपनिषद्" के षष्ठ अध्याय का द्वितीय कर्मविपाक ब्राह्मण समाप्त हो गया ॥१६॥

॥ अथ तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

स यः कामयते महत्प्राप्नुयामिति । उदगयन आपूर्यमाणपक्षस्य पुण्याहे द्वादशाहमुपसद्व्रती भूत्वा । औदुम्बरे कंसे चमसे वा । सर्वौषधं फलानीति संभृत्य । परिसमुह्य परिलिप्याग्निमुपसमाधाय परिस्तीर्य । आवृताऽऽज्यं संस्कृत्य । पुंसा नक्षत्रेण मन्थम् । संनीय जुहोति । यावन्तो देवास्त्वयि जातवेदस्तिर्यञ्चो घ्नन्ति पुरुषस्य कामान् । तेभ्योऽहं

भागधेयं जुहोमि ते मातृप्ताः सर्वैः कामैस्तर्पयन्तु स्वाहा। या तिरश्ची निपद्यतेऽहं विधरणी इति तां त्वा घृतस्य धारया यजे संराधनीमहं स्वाहा ॥१॥

अन्वयार्थ– (यः) जो कोई उपासक (महत्) इस लोक में महत्त्व को (प्राप्नुयाम्) मैं प्राप्त करूँ (इति) ऐसी (कामयते) कामना करता हो तो (सः) वह वक्ष्यमाण क्रम से अनुष्ठन करे (उदगयने) उत्तरायणकाल में (आपूर्यमाणपक्षस्य) शुक्लपक्ष के (पुण्याहे) पुण्यतिथि पर शुभवार में (द्वादशाहम्) बारह दिन तक (उपसद्व्रती) ज्योतिष्टोमयज्ञ में जो उपसद नाम की इष्टियाँ प्रसिद्ध हैं उनमें जो दुग्धाहार व्रत किया जाता है उस व्रत से युक्त– पयोव्रती (भूत्वा) होकर (औदुम्बरे) गूलर की लकड़ी के बने हुए (कंसे) गोलाकार कटोरे में (वा) अथवा (चमसे) चमसाकार पात्र में (सर्वौषधम्) संपूर्ण औषधियों के समूह को और (फलानि) विविध फलों को (इति) और अन्य समस्त सामग्रियों को (संभृत्य) एकत्रित कर (परिसमुह्य) गृह्य सूत्रानुसार वेदी को कुशों से झाड़ कर (परिलिप्य) गोबर और जल से परिलेपन करके अर्थात् पञ्चभूसंस्कार करके (अग्निम्) स्मार्त अग्नि को (उपसमाधाय) समीप में अच्छे प्रकारस्थापनकर (परिस्तीर्य) अग्नि की चारों ओर कुशा बिछाकर (आवृता) स्मृति में कही हुई परिपाटी से (आज्यम्) घी का (संस्कृत्य) संस्कार कर (पुंसा) पुँल्लिङ्ग नाम वाले (नक्षत्रेण) नक्षत्र से संयुक्त दिन में (मन्थम्) मन्थ को यानी सम्पूर्ण औषधियों के पिष्टपिण्ड को उस गूलर के काठ से बने हुए चमस मैं दही, मधु और घृत डालकर एक मथानी से खूब मथकर फिर (संनीय) अपने और अग्नि के मध्य में रख कर वक्ष्यमाण मन्त्र द्वारा गूलर की स्रुवा से (जुहोति) घृत का हवन करता है (जातवेदः) हे स्वतः सिद्धज्ञानवान् अग्निदेव तेरे वशवर्ती (यावन्तः) जितने (तिर्यञ्चः) कुटिल वक्रमति (देवाः) देवता हैं जो (पुरुषस्य) मनुष्य की (कामान्) संपूर्ण कामनाओं को (घ्नन्ति) नष्ट कर देते हैं (तेभ्यः) उन सब देवताओं के लिये (अहम्) मैं (भागधयम्) इस आज्यभागको (त्वयि) तुझ में (जुहोमि) हवन करता हूँ (ते) वे देवता (तृप्ताः) तृप्त होकर (मा) मुझ को (सर्वैः) समस्त (कामैः) कामनाओं से (तर्पयन्तु) तृप्त करें (स्वाहा) इस निमित्त यह आहुति देता हूँ (अहम्) मैं (विधरणी) सब की मृत्यु को धारण करने वाला हूँ (इति) ऐसा समझ कर (या) जो (तिरश्ची) कुटिलमति देवता (निपद्यते) तेरा आश्रय करके रहता है (संराधनीम्) सब काम की पूर्ति करनेवाली (ताम्) इस सुप्रसिद्ध देवता (त्वा) आपको (अहम्) मैं (घृतस्य) घृत की (धारया) धारा से (यजे) यजन करता हूँ (स्वाहा) इस निमित्त यह आहुति देता हूँ ॥१॥

विशेषार्थ– पहले ज्ञान और कर्म की गति बतला दी गयी है। इनमें कर्म वित्तों के अधीन है, अतः कर्म के लिये वित्तोपार्जन करना चाहिये। वह भी जो प्रत्यवाय न करनेवाला हो उस मार्ग से उपार्जन करना चाहिये। महत्व प्राप्ति के लिये मंथ संज्ञक कर्म आरम्भ किया जाता है– जो कोई उपासक ऐसा चाहता हो कि मैं सबसे इस लोक में महान् हो जाऊँ। वह वाक्ष्यमाण क्रम से अनुष्ठन करे। मकर की संक्रान्ति से प्रारम्भ करके मिथुन की समाप्ति पर्यन्त जिन छः महीनों मे सूर्य उत्तर की ओर जाता है उन्हीं, माघ १, फाल्गुन २, चैत्र ३, वैशाख ४, ज्येष्ठ ५ और आषाढ़ ६ महीनों को उत्तरायण कहते हैं। उस उत्तरायण काल में शुक्ल पक्ष की पुण्यतिथि पर शुभ वार के प्रारम्भ करके बारह दिन तक उपसद्व्रती होकर (ज्योतिष्टोमयज्ञ में "उपसद्" नाम की इष्टियाँ प्रसिद्ध हैं) उन उपसदों में जो व्रत-नियम किया जाता है उस व्रत को करके– अर्थात् दुग्धमात्र भक्षण करके, गूलर की लकड़ी के बने हुए गोलाकार कटोरे में अथवा उदुम्बरकाष्ठ विरचित चमस सदृश किसी एक पात्र में यथासंभव और यथाशक्ति सब प्रकार के यज्ञ सम्बन्धी ग्राम्य आगे बातायी जानेवाली व्रीही, जौ, तिल, धान्य आदि दस औषधियाँ तथा तुलसीमञ्जरी, चम्पापुष्प, जटामसी, नागरमोथा, शिलाजीत, कूट हल्दी सोंठ आदिक जो जो ओषधियाँ मिल सकें, उन सभी ओषधियों को इकट्ठा करे और अनेक प्रकार के आम, अनार, अमरूद, अंगूर आदि फलों को एकत्रित करे और मूल में "इति" शब्द सम्पूर्ण सामग्री का संग्रह प्रदर्शित करने के लिए है। तात्पर्य यह है कि और जो संग्रह करने योग्य गङ्गोदक तथा समिधा और पात्र आदिक है उसका भी संग्रह करे। चमस के विषय में लिखा है– **चमसानां प्रवक्ष्यामि दण्डाः स्युश्चतुरङ्गुलाः। त्र्यङ्गुलस्तुभवेत्स्कंधो विस्तारश्चतुर-ङ्गुलः ॥** (आह्निक) चमस का दण्ड चार अंगुल का होना चाहिए। तथा तीन अंगुल का कन्धा होना चाहिये। और चौड़ा का विस्तार चार अंगुल होना चाहिए। **दशाङ्गुलमिता दीर्घाश्चचतुरङ्गुलविस्तृताः। चतुरङ्गुलखाताश्च दण्डास्तुद्व्यङ्गुला मताः ॥ षडङ्गुलमितोच्छ्रायाः ॥** (यज्ञपार्श्व०) अथवा सब चमस दस अंगुल लम्बे चार अंगुल चौड़े, चार अंगुल खात वाले तथा दो अंगुल के दण्ड और छः अंगुल ऊँचे कहे गये हैं। ओषधि के विषय में लिखा है– **ओषध्यः फलपाकान्ता बहुपुष्पफलोपगाः ॥** (मनु० अ० १ श्लो० ४६) जो बहुत फूल फल से युक्त हों और फल पक जाने पर नष्ट हो जाते हों वे ही धान, यव आदिक ओषधि हैं।।४६।। इसके बाद कीट, केश, कंकण, पत्थर, भूसा आदि से रहित शुद्ध मिट्टी से चार अंगुल ऊँचा और एक हाथ लम्बा चतुरस्त्रवेदी को "ओंभूरसि भूमिरस्यदितिरसि विस्वधाया विश्वस्य भुवनस्य धर्त्री। पृथिवीं यच्छ पृथिवीं दृंह पृथिवीं मा हिंसीः" शु० य० १३/१८ इस

मन्त्र से बनाकर कुशा के आसन पर पूर्वाभिमुख बैठकर वेदी का पञ्चभूसंस्कार करे "दर्भैः परिसमुह्य" तीन दर्भों से वेदी साफ करके, कुशा ईशान कोण में फेंके १। "गोमयोदकेनोपलिप्य" गोबर और जल से लेपन करे २। "स्रुवमूलेन त्रिरुल्लिख्य" स्रुवा के मूल से पूर्व की ओर उत्तरोत्तर क्रम से प्रदेशमात्र परिमाण की तीन लकीर खींचे ३। "अनामिकांगुष्ठाभ्यां मृदमुद्धृत्य" अनामिका और अंगूठे से उन लकीरों मे से किञ्चित् मिट्टी लेकर पूर्व की ओर फेंके ४। "उदकेनाभ्युक्ष्य" वेदी पर जल छिड़के ५। ये पञ्चभूसंस्कार हैं । श्रुति में यद्यपि "परिसमुह्य" "परिलिप्य" इन दो पदों से परिसमूहन और परिलेपन से दो ही संस्कार का बोध होता है, तौभी उपलक्षण रूप से पञ्चभूसंस्कार का ही बोधक है । पञ्चभूसंस्कार के विषय में लिखा है– **कृमिकीटपतङ्गाद्या विचरन्ति महीतले । तेषां संरक्षणार्थाय परिसमूहनमुच्यते ॥** कृमि, कीट, पतङ्ग आदिक पृथ्वी पर विचरते हैं, अतः उन सबों की रक्षा के लिये कुशों से वेदी को साफ करना परिसमूहन कहा जाता है ॥१॥ **पुरा इन्द्रेण वज्रेण हतो वृत्रो महासुरः । व्यापिता मेदसा पृथ्वी तदर्थमुपलेपयेत् ॥** पहले इन्द्र ने वज्र से महाअसुर वृत्रासुर को मारा, तब उसकी मेदा से पृथ्वी व्याप्त हो गई । इससे पृथ्वी की शुद्धि के लिये गोबर और जल से उपलेप करे ॥२॥ **उल्लेखनं ततः कुर्यादस्थिकण्टकमेव च । तेषां प्रहरणार्थाय उल्लेखः कथितो बुधैः ॥** उपलेप करने के अनन्तर अस्थि, काँट आदि के लिए उल्लेखन करे। अतः अस्थि कण्टक आदि के प्रहरण के लिये स्रुवा के मूल से पूर्व की ओर उत्तरोत्तर क्रम से प्रादेशमात्र परिमाण की तीन लकीरें खींचना रूप उल्लेख पण्डितों ने कहा है ॥३॥ **अङ्गुष्ठोपकनिष्ठाभ्यां अग्निकार्ये तथोत्करे । रेखाभ्यः समुपादाय रत्निमात्रे निधापयेत् ॥ ये भ्रमन्ति पिशाचाद्या अन्तरिक्षनिवासिनः । तेषां प्रहरणार्थाय समुध्रः कथितो बुधैः ॥** अग्नि कार्य सुन्दर समृद्ध होने के निमित्त अनामिका और अंगूठे से उन तीन लकीरों में से किञ्चित् मिट्टी लेकर रत्निमात्र पर रख दे । जो अन्तरिक्ष निवासी पिशाच आदि भ्रमण करते हैं उन सबों के प्रहरण के लिये मिट्टी का फेंकना रूप समुध्र विद्वज्जनों ने कहा है ॥४॥ **आपो देवगणाः सर्वे आपः पितृगणाः स्मृताः । सर्वे तदाप आदाय अभ्युक्षन्ति पुनः पुनः ॥** जल सब देवगण हैं और जल पितृगण कहे गये हैं, इस कारण से सब लोग जल को लेकर पुनः पुनः वेदी को अभ्युक्षण करते हैं ॥५॥ **अभ्युक्षणं तु कर्तव्यमुत्तानेनैव मुष्टिना ॥** (कल्पवल्ली) वेदी का सिञ्चन उत्तान मुष्टि से करना चाहिये ॥ और कुशा के विषय में लिखा है– **प्रादेशमात्रं दर्भः** स्याद् द्विगुणं कुशमुच्यते। कृतरत्निर्भवेद् बर्हिस्तदूर्ध्वं तृणमुच्यते। (कर्मकाण्ड) एक प्रादेश (यानी अङ्गूठा और तर्जनी फैलाने तक) का दर्भ कहा जाता है तथा

दो प्रादेश का कुशा और हाथ की केहुनी से कनिष्ठ अंगुली की जड़पर्यन्त का बर्हि कहा जाता है, इससे अधिक लम्बा तृण कहा जाता है ।। **मलमूत्रे धृता च तर्पणे चैव ये धृताः । चितौ दर्भाः पथिदर्भास्तेषां त्यागो विधीयते ॥** (लघुहारितस्मृ०) मल मूत्र के समय की, चिता स्थान की, मार्ग में पड़ी हुई ओर तर्पण के समय के कुशाओं को त्याग देना चाहिये । किन्तु तर्पण के समय की पवित्रा और कटि का मोटक पवित्र रहता है ।। **स्रुवसंमार्जनार्थाय पञ्च वाथ त्रयोऽपि वा । प्रादेशमात्रान् गृह्णीयात्संमार्गकुशसंज्ञकान् ॥** (कल्पवल्ली) स्रुवा को समार्जन करने के लिये पाँच या तीन, प्रादेश मात्र कुशाओं को ग्रहण करना चाहिये। उन कुशाओं का समार्जन कुशा नाम है ।। स्रुवा के विषय में लिखा है– **अरत्निमात्रः स्रुवोऽअङ्गुष्ठपर्ववृत्तपुष्करः ॥** (कात्या० श्रौ० १/३/३९) निमुठ हाथ के और अङ्गूठे के पर्व के समान वृत्त पुष्कर यानी गोल स्रुवा होना चाहिये जिसमें अंगूठे के पर्व के सदृश गोल खात भी बना हो ।।३९।। **स्रुग्बाहुमात्राविज्ञेया वृत्तस्तु प्रग्रहस्तयोः ॥** (गोभिलस्मृ० प्रपा० १ श्लो० १०९) **स्रुवाग्रे घ्राणवत्खातं द्व्यङ्गुष्ठं परिमण्डलम् ॥११०॥** एक हाथ का स्रुवा और स्रुवा का वृत्त हाथ के अग्रभाग के समान जानना चाहिये ।।१०९।। स्रुवा के अग्रभाग में दो अंगूठे के समान परिमण्डल और नासिका के समान खात होना चाहिये ।।११०।। **अग्रे धृत्वार्थनाशाय मध्ये चैव मृतप्रजाः । मूले च म्रियते होता स्रुवस्थानं कथं भवेत् ॥** (कारिका) स्रुवा का अग्रभाग पकड़ने से धन का नाश होता है तथा मध्यभाग पकड़ने से सन्तान मरती है और मूल भाग पकड़ने से स्वयं हवन करनेवाला मरता है तो स्रुवा पकड़ने का कौन सा स्थान होगा ? **अग्रमध्याच्च यन्मध्यं मूलमध्याच्च मध्यतः । स्रुवं धारयते विद्वान् ज्ञातव्यं च सदा बुधैः ॥** (कारिका) **तर्जनीं च बहिः कृत्वा कनिष्ठां च बहिस्तथा । मध्यमानामिकाङ्गुष्ठैः स्रुवं धारयते द्विजः ॥** अग्रभाग और मध्यभाग के जो बीच में स्थान है तथा मूल भाग और मध्यभाग के बीच में जो स्रुवा का भाग है उसी को विद्वान् लोग पकड़ते हैं यह सदा बुधजनों करके जानने योग्य है । तर्जनी और कनिष्ठि को बाहर करके, मध्यमा तथा अनामिका और अंगूठे से द्विज जन स्रुवा को पकड़ते हैं ।। भूसंस्कार के बाद अग्निकोण से स्मार्त अग्नि लाकर अपनी दाहिनी ओर रखकर कुशा प्रज्वलित करके "ओं क्रव्यादमग्निं प्रहिणोमिदूरं यमराज्यं गच्छतु रिप्रवाहः । इहैवायमितरो जातवेदा देवेभ्यो हव्यं बहतु प्रजानन् ।।" (शु० य० अ० ३५ मं० १९) इस मन्त्र को बोलते हुए उस कुशा को नैर्ऋत्यकोण में छोड़ दे । और "ओम् अयन्ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः । तं जानन्नग्न आरोहाथा नो वर्द्धया रयिम् ।।" (यजु० अ० ३ मं० १४) इस मन्त्र से वेदी पर अग्नि को अच्छी तरह स्थापन करे । तदनन्तर "ओम् अग्निमीडे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् । होतारं रत्नधातमम् ।।" (ऋग्वे० मण्ड० १ सूक्त १ मं० १) इस मन्त्र

से वेदी के पूर्व में उत्तर की ओर अग्रभग करके तीन कुशाओं को रखे । क्योंकि लिखा है– **तृणैरग्नीन्परिस्तीर्येत्यत्र तृणशब्दस्य दर्भपरत्वात् तत्र च बहुवचनोपदेशात् बहुवचनस्य च आदिसामर्थ्यात् अनवस्थाभयाच्च त्रित्वे एव पर्यवसानात् त्रिभिस्त्रिभिः कुशैः परिस्तरणमुक्तम् ॥** (का० श्रौ० सू० २/३/६) और "ओम् इषे त्वोर्जे त्वा वायव स्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमायकर्मण आप्यायध्वमध्न्या इन्द्राय भागम्प्रजावती रनमीवा अयक्ष्मा मावस्तेन ईशत माघशंसो ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात बह्वीर्यजमानस्य पशून् पाहि ॥" (यजुर्वे० अ० १ मं० १) इन मन्त्र से वेदी के दक्षिण में पूर्व की ओर अग्रभाग करके तीन कुशाओं को रखे । तथा "ओम् अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये । निहोता सत्सि बर्हिषि ॥" (सामवे० पूर्वाचि० प्रपा० १ सूक्त० १ मं १) इस मन्त्र से वेदी के पश्चिम में उत्तर की ओर अग्रभाग करके तीन कुशाओं को रखे । और "ओं शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये । शं योरभिस्त्रवन्तु नः ॥" (अथर्व कां० १ अनु० १ सू० ६ मं० १) इस मन्त्र से वदी के उत्तर में पूर्व की ओर अग्रभाग करके तीन कुशाओं को रखे । इसके बाद अग्नि प्रज्वलित करके "ओं चत्वारिशृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य । त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश ॥" (यजुर्वे० अ० १७ मं० ९१) इस मन्त्र से अग्नि का ध्यान करके मेरी बनायी हुई "पूजाविधि" से अग्नि की पूजा करे । इसके बाद स्मृति में कही गई परिपाटी से आज्य स्थाली में घृत का संस्कार करे । क्योंकि लिखा है– **परिसमूह्योपलिप्योल्लिख्योद्धृत्याभ्युक्ष्याग्निमुपसमाधाय दक्षिणतो ब्रह्मासनमास्तीर्य प्रणीय परिस्तीर्यार्थवदासद्य पवित्रे कृत्वा प्रोक्षणीः संस्कृत्यार्थवत्प्रोक्ष्य निरुप्याज्यमधिश्रित्य पर्य्यग्नि कुर्यात् ॥** (पारस्करगृह्य० कां० १ कं० १ सू० २) **स्रुवं प्रतप्य संमृज्याभ्युक्ष्य पुनः प्रतप्य निदध्यात् ॥३॥ आज्यमुद्वास्योत्पूयावेक्ष्य प्रोक्षणीश्च पूर्ववदुपयमनान् कुशानादाय समिधोऽभ्याधाय पर्युक्ष्य जुहुयात् ॥४॥ एष एव विधिर्यत्र क्वचिद्धोमः ॥५॥** हवन स्थल को प्रथम तीन कुशाओं से झाड़कर गोबर और जल से लीप कर स्रुवा से तीन रेखाकर मिट्टी को अनामिका और अंगुष्ठ से निकाल कर जल सींचकर अग्नि के समीप में अच्छी तरह से स्थापन कर दक्षिण तरफ ब्रह्मा के वास्ते आसन विछाकर प्रणीता को जल से भरकर अग्नि के उत्तर क्रमशः पूर्व पूर्व को– पवित्रच्छेदन, पवित्र, प्रोक्षणी, आज्यस्थाली, चरुस्थाली, संमार्जन, उपयमन, तीन, समिध, स्रुवा आदि रखें। पवित्रछेदन से पवित्र का अग्रभाग विलस्त भर काट के प्रोक्षणी में रख प्रणीता के जल से प्रोक्षणी को भरकर उत्तराग्र पवित्र को अनामिका अंगुष्ठ से दोनों ओर पकड़ कर मध्य से तीन बार प्रोक्षणी के जल को उछालकर, पवित्र को प्रणीता में डुबोकर, प्रोक्षणी का प्रोक्षणकर, पवित्र और प्रोक्षणी

के जल से आवश्यकीय सब पदार्थों को प्रोक्षणकर, प्रोक्षणी को प्रणीता और अग्नि के मध्य में रखकर, गोघृत को आज्यस्थाली में रखकर अग्नि पर रख दे और चारो तरफ अग्नि कर दे ।।२।। स्रुवा को अच्छी तरह तपा कर, संमार्जन कुशाओं से झाड़ कर, जल से धोकर, फिर तपा कर दक्षिण तरफ रख दे ।।३।। गोघृत को अग्नि से उत्तर तरफ उतार कर, पवित्र को अनामिका और अङ्गुष्ठ से दोनों तरफ पकड़ कर पवित्र के मध्य से घृत का उत्पवनसंस्कार करे और घृत को भलीभाँति देखकर पुनः पूर्वोक्त रीति से प्रोक्षणी का उत्पवन करे उपयमन संज्ञक कुशाओं को वाम हाथ में लेकर समिधाओं को अग्नि में छोड़ दे और प्रोक्षणी के जल को वेदी के चारो तरफ प्रदक्षिण क्रम से गिरा दे । पवित्रसंज्ञक कुशाओं को प्रणीता में रखकर, प्रोक्षणी को प्रणीता और अग्नि के मध्य में रखकर हवन करे ।।४।। जहाँ कोई हवन हो वहाँ यही निश्चय करके विधि है ।।५।। अग्नि के विषय में लिखा हैं– **वैश्यस्य बहुपशोर्गृहादग्निमाहृत्य ॥** (पारस्करगृ० कां १ कं २ सू० ३) **अरणिप्रदानमेके ॥५॥** बहुत गौ, भैंस आदि पशुवाले वैश्यवर्ग के गृह से स्थापन करने के लिये अग्नि को ले आना चाहिये ।।३।। किसी एक ऋषियों की राय है कि पीपल के काष्ट से चौबीस अङ्गुल लम्बी एवं छः अङ्गुल चौड़ी और चार अङ्गुलं ऊँची अरणि बनाकर उसी को रगड़ कर अग्नि निकालना चाहिये ।।५।। **योनर्चिषि जुहोत्यग्नौ व्यङ्गारिणि च मानवः । मन्दाग्निरामयावी च दरिद्रश्च स जायते ॥** (गोभिलस्मृ० प्रपा० १ श्लो० १३३) **तस्मात्समिद्धे होतव्यं नासमिद्धे कदाचन । आरोग्यमिच्छतायुश्च श्रियमात्यन्तिकीं पराम् ॥१३४॥** जो मनुष्य बिना ज्वाला और बिना अङ्गार की आग में हवन करता है वह मन्दाग्नि तथा अमयावी और दरिद्र होता है ।।१३३।। इस कारण से आरोग्य तथा आयु और आत्यन्तिकी परा श्री को चाहने वाला पुरुष प्रज्वलित अग्नि में हवन करे ।।१३४।। **अधोमुखमूर्ध्वपादः प्राङ्मुखो हव्यवाहनः । तिष्ठत्येव स्वभावेन आहुतिः कुत्र दीयते ॥** (कारिका) अधोमुख और ऊपर चरण करके पूर्व मुहें स्वाभाव से ही अग्नि रहती है, तो आहुति कहाँ पर दी जाती है– **सपवित्राम्बुहस्तेन वह्नेः कुर्यात्प्रदक्षिणाम् । हव्यवाट् सलिलं दृष्ट्वा बिभेति सम्मुखो भवेत् ॥** पवित्रा के सहित जल को हाथ में लेकर अग्नि की प्रदक्षिणा करे । अग्नि जल को देखकर डरती है । अतः सम्मुख हो जाती है । **आस्यान्तर्जुहुयादग्नेर्विपश्चित्सर्वकर्मसु । कर्णहोमे भवेद् व्याधिर्नेत्रेऽन्धत्वमुदाहृतम् ॥** (प्रयोगरत्न) **नासिकायां मनः पीडा मस्तके च धनक्षयः । सधूमोऽग्निः शिरो ज्ञेयो निर्धूमश्चक्षुरेव च । ज्वलत्कृशानुः स्यात्कर्णः काष्ठलग्नस्तु नासिका ॥ अग्निः ज्वालायते यत्र शुद्धः स्फटिक-सन्निभः । तन्मुखे तस्य विज्ञेयं चतुरङ्गुलमानतः ॥** विद्वान् पुरुष सब कर्मों में अग्नि

के मुख में हवन करे । अग्नि के कान में हवन करने से रोग होता है और अग्नि के नेत्र में हवन करने से अन्धा होता है । तथा अग्नि की नाक में हवन करने से होता के मन में पीडा होती है और अग्नि के मस्तक पर हवन करने से धन का नाश होता है । धूम से युक्त अग्नि को मस्तक जानना चाहिये बिना धूम की अग्नि को नेत्र जानना चाहिये जलती हुई अग्नि को कान जानना चाहिये और काठलग्न अग्नि को नाक जानना चाहिये । शुद्ध स्फटिकमणि के समान जहाँ पर अग्नि की ज्वाला होती है वही चार अंगुल का मुख है वही हवन करने वालों के जानने योग्य है । घृतपात्र के विषय में लिखा है **आज्यस्थाली च कर्तव्या तैजसद्रव्य-संभवा ॥** (गोभि० स्मृ० प्रपा० २ श्लो० ६९) **महीमयी वा कर्तव्या सर्वास्वाज्याहुतीषु च । आज्यस्थाल्याः प्रमाणं तु यथाकामं तु कारयेत् ॥७०॥ सुदृढामव्रणां भद्रामाज्यस्थालीं प्रचक्षते ॥७१॥** घृत रखने की आज्यस्थाली तैजस द्रव्य की बनी हुई होनी चाहिये ॥६९॥ अथवा समस्त आज्याहुति में आज्यस्थाली मिट्टी की ही बनी हुई होनी चाहिये । आज्यस्थाली का प्रमाण अपनी इच्छा के अनुसार घृत के समान ही होना चाहिये ॥७०॥ अत्यन्त दृढ और छिद्र रहित सुन्दर आज्यस्थाली धर्मशास्त्रवेत्ताओं ने कहा है ॥७१॥ प्रकृत कण्डिका में "आवृत्" शब्द परिपटी वाचक है और "आज्य" शब्द घृत वाचक है । क्योंकि लिखा है– **आनुपूर्वी स्त्रियां वाऽऽवृत्परिपाटी अनुक्रमः ॥** (अमर० कां० २ व० ७ श्लो० ३६) आनुपूर्वी १, आवृत् २, परिपाटी ३, अनुक्रम ४, ये परिपाटी के नाम हैं ॥३६॥ **घृतमाज्यं हविः सर्पिः ॥** (अमर० कां० २ व० २ श्लो० ५२) घृत १, आज्य २, हविष् ३, सर्पिष् ४, ये घी के नाम हैं ॥५२॥ गोघृत का संशोधन करके ज्योतिष् ग्रन्थ में प्रसिद्ध पुरुष संज्ञक नक्षत्रों से संयुक्त दिन में मन्थ को उस गूलर के काठ से बने हुए चमस में रखे और उसमें "ओं दधिकाव्णो अकारिषं जिष्णोरश्वस्य वाजिनः । सुरभिनो मुखाकरत्प्रण आयूंषि तारिषत् (शु० य० अ० २३ मं० ३२) इस मंत्र को बोलता हुआ गाय का दही डाल दे । तदनन्तर । "ओं मधुवाता ऋतायते मधुक्षरन्ति सिन्धवः । माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः मधु नक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवं रजः । मधु द्यौरस्तु नः पिता । मधुमान्नो वनस्पतिर्मधु मां अस्तु सूर्यः । माध्वीर्गावो भवन्तु नः" (शु० य० अ० १३ मं० २७) इस मंत्र को पढ़ता हुआ मन्थ में मधु भी डाल दे । इसके बाद "ओं घृतं घृतपावानः पिबत वसां वसापावानः । पिबतान्तरिक्षस्य हविरसि स्वाहा दिशः प्रदिशऽ आदिशो विदिशऽउद्दिशो दिगभ्यः स्वाहा" (यजु० अ० ६ मं० १९) इस मन्त्र को बोलते हुए उसी मन्थ में गोघृत भी डाल दे । ओषधियों के पिष्ट मन्थ के बराबर वजन में दही तथ मधु और घृत होना चाहिये । इसके बाद गूलर के काठ की बनी हुई मथानी

से "ओं भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात्" (शु० य० अ० ३० मं० २) इस मन्त्र को पढ़ता हुआ अच्छी तरह मन्थ को मथ कर अपने और अग्नि के बीच में रखकर वक्ष्यमाण मन्त्र द्वारा गूलर की लकड़ी के स्रुवा से प्रज्वलित अग्नि में गोघृत का हवन करें । अब आगे हवन के दो मन्त्र बतलाये जाते हैं । "यावन्तो देवास्त्वयिजातवेदस्तिर्यञ्चो घ्नन्ति पुरुषस्य कामान् तेभ्योऽहं भागधेयं जुहोमि ते मा तृप्ताः सर्वैः कामैस्तर्पयन्तु स्वाहा" (शतपथ ब्रा० का० १४, प्र० ५, ब्रा० ४) (बृ० अ० ६, ब्रा० ३ श्रु० १) इस मन्त्र को पढ़कर पहली आहुति दे । इस मन्त्र का अर्थ है कि– 'हे स्वतः सिद्ध ज्ञानवान् अग्निदेव तेरे वशवर्ती जितने कुटिल वक्रमति देवता हैं जो पुरुष की समस्त कामनाओं को नष्ट कर देते हैं उन सब देवताओं के लिये मैं इस आज्य भाग को तुझमें हवन करता हूँ । वे देवता तृप्त होकर मुझको समस्त कामनाओं से तृप्त करें इस निमित्त में यह पहली आहुति देता हूँ" इस प्रकार पहली आहुति देकर "या तिरश्ची निपद्येऽहं विधरणी इति तां त्वा घृतस्य धारया यजे संराधनीमहं स्वाहा।। (शतपथ ब्रा० का० १४, प्र० ५, ब्रा ४) (बृ० अ० ६, ब्रा० ३, श्रु० २) इस मन्त्र को पढ़कर दूसरी आहुति दे । इस द्वितीय मन्त्र का अर्थ है कि– "मैं सबकी मृत्यु को धारण करने वाला हूँ ऐसा समझ कर जो कुटिल मति देवता तेरा आश्रय करके रहता है सब काम की पूर्ति करनेवाले उस सुप्रसिद्ध देवता आपको मैं मन्थनकर्ता घृत की धारा से यजन करता हूँ । इस निमित्त मैं यह दूसरी आहुति देता हूँ" । पुरुष संज्ञक नक्षत्र के विषय में लिखा है– **आर्द्रादि दशकं स्त्रीणां विशाखत्रिनपुंसकम् । मूलाच्चतुर्दशं पुंसां नक्षत्राणि क्रमाद्बुधैः ॥** (बृहज्ज्यौतिषसा० श्लोक १०१०) आर्द्रा से स्वाति पर्यन्त अर्थात् आर्द्रा १, पुनर्वसु २, पुष्य ३, श्लेषा ४, मघा ५, पूर्वाफल्गुनी ६, उत्तरा फाल्गुनी ७, हस्त ८, चित्रा ९, स्वाति १० ये दस नक्षत्र क्रम से बुध जन स्त्रीसंज्ञक कहते हैं और विशाखा से ज्येष्ठ पर्यन्त अर्थात् विशाखा १, अनुराधा २, ज्येष्ठा ३ ये तीन नक्षत्र नपुंसक संज्ञक कहते हैं और मूल से मृगशिरा पर्यन्त अर्थात् मूल १, पूर्वाषाढ़ २, उत्तराषाढ़ ३, श्रवण ४, धनिष्ठा ५, शतभिषा ६, पूर्वाभाद्रपद ७, उत्तराभाद्रपद ८, रेवती ९, अश्विनी १०, भरणी ११, कृत्तिका १२, रोहिणी १३, मृगशिरा १४ ये चौदह नक्षत्र पुरुष संज्ञक कहते हैं ।।१०१०।। प्रकृत श्रुति में "जातवेदस्" शब्द अग्निवाचक है । क्योंकि लिखा है– **अग्निर्वैश्वानरोवह्निर्वीतिहोत्रो धनञ्जयः । कृपीटयोनिर्ज्वलनो जातवेदास्तनूनपात् ॥** (अमरकोश कां० १ व० १ श्लोक ५३) अग्नि १, वैश्वानर २, वह्नि ३, वीतिहोत्र ४, धनञ्जय ५, कृपीटयोनि ६, ज्वलन ७, जातवेदस् ८ और तनुनपात् ९ ये अग्नि के नाम हैं ।।५३।। और अन्यत्र भी लिखा है– **अथ यदि महज्जिगमिषेत् । अमावस्यायां दीक्षित्वा पौर्णमास्यां रात्रौ**

सर्वौषधस्य मन्थं दधिमधुनोरुपमथ्य ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे सम्पातमवनेयत् ॥ (छा० उ० प्रपा० ५ खं० २ श्रु० ४) और यदि ज्येष्ट श्रेष्ठादिलक्षणमहत्त्व को प्राप्त करने की इच्छा करें तो अमावस्या तिथि में दीक्षित होकर उसी मास की पूर्णिमा तिथि की रात्रि में सब शास्त्रविहित ग्राम्य और आरण्य औषधियों के पिष्टसारभाग को गूलर के काठ के चमसाकार पात्र में दधि और मधु के साथ पास में मन्थन कर मिला करके आगे रखकर वयोवस्था से ज्येष्ठ के लिये गुणों से श्रेष्ठ के लिये यह आहुति देता हूँ ऐसा उच्चारण करते हुए प्रज्वलित अग्नि में स्रुवा से घृत का हवन करके मन्थन के पात्र में हुतशेष स्रुवा में लगे हुए घृत को डाल देवे ॥४॥ इस प्रकार इस श्रुति का अर्थ वर्णन किया गया है ॥१॥

ज्येष्ठाय स्वाहा श्रेष्ठाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्रवमवनयति । प्राणाय स्वाहा वसिष्ठायै स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्रवमवनयति वाचे स्वाहा प्रतिष्ठायै स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्रवमनयति चक्षुषे स्वाहा सम्पदे स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्रवमवनयति श्रोत्राय स्वाहाऽऽयतनाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्रवमवनयति मनसे स्वाहा प्रजात्यै स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्रवमवनयति । रेतसे स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्रवमवनयति ॥२॥

अन्वयार्थ– (ज्येष्ठाय) वयोवस्था से ज्येष्ठ के लिये (स्वाहा) यह आहुति देता हूँ (श्रेष्ठाय) गुणों से श्रेष्ठ के लिये (स्वाहा) यह आहुति देता हूँ (इति) ऐसा उच्चारण करते हुए (अग्नौ) प्रज्वलित अग्नि में घृत का (हुत्वा) गूलर की स्रुवा से हवन करके (मन्थे) मन्थन के पात्र में (संस्रवम्) हुतशेषस्रुवा में लगे हुए घृत को (अवनयति) डाल देता है (प्राणाय) प्राण के लिये (स्वाहा) यह आहुति देता हूँ (वसिष्ठायै) वसिष्ठा के लिये (स्वाहा) यह आहुति देता हूँ (इति) ऐसा उच्चारण करते हुए (अग्नौ) प्रज्वलित अग्नि में घृत का (हुत्वा) गूलर के काठ की स्रुवा से हवन करके (मन्थे) मन्थन के पात्र में (संस्रवम्) हुतशेषस्रुवा में लगे हुए घृत को (अवनयति) डाल देता है (वाचे) वाणी के लिये (स्वाहा) यह आहुति देता हूँ (प्रतिष्ठायै) प्रतिष्ठा के लिये (स्वाहा) यह आहुति देता हूँ (इति) ऐसा उच्चारण करते हुए (अग्नौ) प्रज्वलित अग्नि में घृत का (हुत्वा) गूलर के काठ की स्रुवा से हवन करके (मन्थे) मन्थन के पात्र में (संस्रवम्) हुतशेष स्रुवा में लगे हुए घृत को

(अवनयति) डाल देता है (चक्षुषे) नेत्र के लिये (स्वाहा) यह आहुति देता हूँ (संपदे) संपत् के लिये (स्वाहा) यह आहुति देता हूँ (इति) ऐसा उच्चारण करते हुए (अग्नौ) प्रज्वलित अग्नि में घृत का (हुत्वा) गूलर की स्रुवा से हवन करके (मन्थे) मन्थन के पात्र में (संस्रवम्) हुतशेष स्रुवा में लगे हुए घृत को (अवनयति) डाल देता है (श्रोत्राय) कर्ण के लिये (स्वाहा) यह आहुति देता हूँ (आयतनाय) आयतन के लिये (स्वाहा) यह आहुति देता हूँ (इति) ऐसा उच्चारण करते हुए (अग्नौ) प्रज्वलित अग्नि में घृत का (हुत्वा) गूलर के काठ की स्रुवा से हवन करके (मन्थे) मन्थन के पात्र में (संस्रवम्) हुतशेष स्रुवा में लगे हुए घृत को (अवनयति) डाल देता है। (मनसे) मन के लिये (स्वाहा) यह आहुति देता हूँ (प्रजात्यै) प्रजाति के लिये (स्वाहा) यह आहुति देता हूँ (इति) ऐसा उच्चारण करते हुए (अग्नौ) प्रज्वलित अग्नि में घृत का (हुत्वा) गूलर के काठ की स्रुवा से हवन करके (मन्थे) मन्थन के पात्र में (संस्रवम्) हुतशेष स्रुवा में लगे हुए घृत को (अवनयति) डालता है (रेतसे) वीर्य के लिये (स्वाहा) यह आहुति देता हूँ (इति) ऐसा उच्चारण करते हुए (अग्नौ) प्रज्वलित अग्नि में घृत का (हुत्वा) गूलर के काठ की स्रुवा से हवन करके (मन्थे) मन्थन के पात्र में (संस्रवम्) हुतशेष स्रुवा में लगे हुए घृत को (अवनयति) डाल देता है ॥२॥

विशेषार्थ– इस द्वितीय कण्डिका के आदि के छः मंत्रों में दो दो स्वाहा शब्द हैं, परन्तु आहुति एक ही है। और अन्तिम सातवें मन्त्र में एक ही स्वाहा शब्द और एक ही आहुति भी है। इसी को आगे स्पष्ट बतलाया जाता है कि– १ "ज्येष्ठाय स्वाहा श्रेष्ठाय स्वाहा" इस मन्त्र को पढ़कर प्रज्वलित अग्नि में गूलर के काठ की स्रुवा से घृत को हवन करके हुतशेष स्रुवा में लगे हुए घृत को मन्थन के पात्र में डालता है। २ "प्राणाय स्वाहा वसिष्ठायै स्वाहा" इस मन्त्र को पढ़कर प्रज्वलित अग्नि में गूलर की लकड़ी की स्रुवा से घृत को हवन करके हुतशेष स्रुवा लगे हुए घी को मन्थन के पात्र में डाल देता है। ३ "वाचे स्वाहा प्रतिष्ठायै स्वाहा" इस मंत्र को पढ़कर प्रज्वलित अग्नि में गूलर के काठ की स्रुवा से घृत को हवन करके हुतशेष स्रुवा में लगे हुए घृत को मन्थन के पात्र में डाल देता है। ४ "चक्षुषे स्वाहा सम्पदे स्वाहा" इस मंत्र को पढ़कर प्रज्वलित अग्नि में गूलर की लकड़ी की स्रुवा से घृत को हवन करके हुतशेष स्रुवा में लगे हुए घृत को मन्थन के पात्र में डाल देता है। ५ "श्रोत्राय स्वाहा आयतनाय स्वाहा" इस मंत्र को पढ़कर प्रज्वलित अग्नि में गूलर के काठ की स्रुवा से घृत को हवन करके हुतशेष स्रुवा में लगे हुए घृत को मन्थन के पात्र में डाल देता है। ६ "मनसे स्वाहा प्रजात्यै स्वाहा" इस मंत्र को पढ़कर प्रज्वलित अग्नि में गूलर के काठ की स्रुवा से घृत को हवन करके हुतशेष स्रुवा में

लगे हुए घृत को मन्थन के पात्र में डाल देता है । ७ "रेतसे स्वाहा" इस मंत्र को पढ़कर प्रज्वलित अग्नि में गूलर के काठ की स्रुवा से घृत को हवन करके हुतशेष स्रुवा में लगे हुए घृत को मन्थन के पात्र में डाल देता है । और अन्यत्र लिखा है– **वसिष्ठाय स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे सम्पातमवनयेत् । प्रतिष्ठायै स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे सम्पातमवनयेत् । संपदे स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे सम्पातमवनयेत्। आयतनाय स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे सम्पातमवनयेत् ॥** (छा॰ उ॰ प्रपा॰ ५ खं॰ २ श्रु॰ ५) वसिष्ठ के लिये यह आहुति देता हूँ ऐसा उच्चारण करते हुए प्रज्वलित अग्नि में घृत को स्रुवा से हवन करके मन्थन के पात्र में हुतशेष स्रुवा में लगे हुए घृत को डाल दे । प्रतिष्ठा के लिये यह आहुति देता हूँ, ऐसा उच्चारण करते हुए प्रज्वलित अग्नि में घृत को स्रुवा से हवन करके मन्थन के पात्र में हुतशेष स्रुवा में लगे हुए घृत को डाल देवे । संपद् के लिये यह आहुति देता हूँ ऐसा उच्चारण करते हुए प्रज्वलित अग्नि में घृत को स्रुवा से हवन करके मन्थन के पात्र में हुतशेष स्रुवा में लगे हुए घृत को डाल देवे । आयतन के लिये यह आहुति देता हूँ ऐसा उच्चारण करते हुए प्रज्वलित अग्नि में घृत को स्रुवा से हवन करके मन्थन के पात्र में हुतशेष स्रुवा में लगे हुए घृत को डाल देवे ॥५॥ ये ज्येष्ठ, श्रेष्ठ, प्राण और वसिष्ठ आदि कौन हैं ? इनका वर्णन इसी छठवें अध्याय के प्रथम ब्राह्मण में विस्तार से कहा गया हैं । वहाँ ही देखना चाहिये । ग्रन्थ के विस्तार के भय से यहाँ मैं नहीं लिखता हूँ ॥२॥

अग्नये स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्रवमवनयति । सोमाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्रवमवनयति भूः स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्रवमनयति भुवः स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्रवमवनयति स्वः स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्रवमवनयति भूर्भुवः स्वः स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्रवमवनयति ब्रह्मणे स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्रवमवनयति क्षत्राय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्रवमवनयति भूताय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्रवमवनयति भविष्यते स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्रवमवनयति विश्वाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्रवमवनयति सर्वाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्रवमवनयति प्रजापतये स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्रवमवनयति ॥३॥

अन्वयार्थ– (अग्नये) अग्निदेव के लिये (स्वाहा) यह आहुति देता हूँ (इति) ऐसा उच्चारण करते हुए (अग्नौ) प्रज्वलित अग्नि में घृत का (हुत्वा) गूलर के काठ की स्रुवा से हवन करके (मन्थे) मन्थन के पात्र में (संस्रवम्) हुतशेषस्रुवा में लगे हुए घृत को (अवनयति) डाल देता है (सोमाय) सोमदेव के लिये (स्वाहा) यह आहुति देता हूँ (इति) ऐसा उच्चारण करते हुए (अग्नौ) प्रज्वलित अग्नि में घृत का (हुत्वा) गूलर के काठ की स्रुवा से हवन करके (मन्थे) मन्थन के पात्र में (संस्रवम्) हुतशेषस्रुवा में लगे हुए घृत को (अवनयति) डाल देता है (भूः) पृथ्वीलोक के लिये (स्वाहा) यह आहुति देता हूँ (इति) ऐसा उच्चारण करते हुए (अग्नौ) प्रज्वलित अग्नि में घृत का (हुत्वा) गूलर के काठ की स्रुवा से हवन करके (मन्थे) मन्थन के पात्र में (संस्रवम्) हुतशेष स्रुवा में लगे हुए घृत को (अवनयति) डाल देता है (भुवः) अन्तरिक्षलोक के लिये (स्वाहा) यह आहुति देता हूँ (इति) ऐसा उच्चारण करते हुए (अग्नौ) प्रज्वलित अग्नि में घृत का (हुत्वा) गूलर की स्रुवा से हवन करके (मन्थे) मन्थन के पात्र में (संस्रवम्) हुतशेष स्रुवा में लगे हुए घृत को (अवनयति) डाल देता है (स्वः) स्वर्गलोक के लिये (स्वाहा) यह आहुति देता हूँ (इति) ऐसा उच्चारण करते हुए (अग्नौ) प्रज्वलित अग्नि में घृत का (हुत्वा) गूलर के काठ की स्रुवा से हवन करके (मन्थे) मन्थन के पात्र में (संस्रवम्) हुतशेष स्रुवा में लगे हुए घृत को (अवनयति) डाल देता है (भूः) सत् (भुवः) चित् (स्वः) आनन्द स्वरूप के लिये (स्वाहा) यह आहुति देता हूँ (इति) ऐसा उच्चारण करते हुए (अग्नौ) प्रज्वलित अग्नि में घृत का (हुत्वा) गूलर के काठ की स्रुवा से हवन करके (मन्थे) मन्थन के पात्र में (संस्रवम्) हुतशेष स्रुवा में लगे हुए घृत को (अवनयति) डाल देता है (ब्रह्मणे) ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण के लिये (स्वाहा) यह आहुति देता हूँ (इति) ऐसा उच्चारण करते हुए (अग्नौ) प्रज्वलित अग्नि में घृत का (हुत्वा) गूलर के काठ की स्रुवा से हवन करके (मन्थे) मन्थन के पात्र में (संस्रवम्) हुतशेष स्रुवा में लगे हुए घृत को (अवनयति) डाल देता है (क्षत्राय) प्रजारक्षक क्षत्रिय के लिये (स्वाहा) यह आहुति देता हूँ (इति) ऐसा उच्चारण करते हुए (अग्नौ) प्रज्वलित अग्नि में घृत का (हुत्वा) गूलर के काठ की स्रुवा से हवन करके (मन्थे) मन्थन के पात्र में (संस्रवम्) हुतशेष स्रुवा में लगे हुए घृत को (अवनयति) डाल देता है (भूताय) गत जीव के लिये (स्वाहा) यह आहुति देता हूँ (इति) ऐसा उच्चारण करते हुए (अग्नौ) प्रज्वलित अग्नि में घृत का (हुत्वा) गूलर के काठ की स्रुवा से हवन करके (मन्थे) मन्थन के पात्र में (संस्रवम्) हुतशेष स्रुवा में लगे हुए घृत को (अवनयति) डाल देता है (भविष्यते) होने वाले जीव के लिये (स्वाहा) यह आहुति देता हूँ (इति) ऐसा उच्चारण करते

हुए (अग्नौ) प्रज्वलित अग्नि में घृत का (हुत्वा) गूलर के काठ की स्रुवा से हवन करके (मन्थे) मन्थन के पात्र में (संस्रवम्) हुतशेष स्रुवा में लगे हुए घृत को (अवनयति) डाल देता है (विश्वाय) संसार के लिये (स्वाहा) यह आहुति देता हूँ (इति) ऐसा उच्चारण करते हुए (अग्नौ) प्रज्वलित अग्नि में घृत का (हुत्वा) गूलर के काठ की स्रुवा से हवन करके (मन्थे) मन्थन के पात्र में (संस्रवम्) हुतशेष स्रुवा में लगे हुए घृत को (अवनयति) डाल देता है (सर्वाय) समस्त जीवों के लिये (स्वाहा) यह आहुति देता हूँ (इति) ऐसा उच्चारण करते हुए (अग्नौ) प्रज्वलित अग्नि में घृत का (हुत्वा) गूलर के काठ की स्रुवा से हवन करके (मन्थे) मन्थन के पात्र में (संस्रवम्) हुतशेष स्रुवा में लगे हुए घृत को (अवनयति) डाल देता है (प्रजापतये) प्रजापति के लिये (स्वाहा) यह आहुति देता हूँ (इति) ऐसा उच्चारण करते हुए (अग्नौ) प्रज्वलित अग्नि में घृत का (हुत्वा) गूलर के काठ की स्रुवा से हवन करके (मन्थे) मन्थन के पात्र में (संस्रवम्) हुतशेष स्रुवा में लगे हुए घृत को (अवनयति) डाल देता है ।।३।।

विशेषार्थ– इस तृतीय कण्डिका में तेरह आहुति देने का वर्णन है। इसी को आगे स्पष्ट बतलाया जाता है कि– पूर्वोक्त प्राकर से १ "अग्नये स्वाहा" इस मन्त्र को पढ़कर प्रज्वलित अग्नि में गूलर के काठ की स्रुवा से घृताहुति देकर मन्थन के पात्र में हुतशेष स्रुवा में लगे हुए घृत को गिरा देता है। २ "सोमाय स्वाहा" इस मन्त्र को पढ़कर प्रज्वलित अग्नि में गूलर के काठ की स्रुवा से घृताहुति देकर मन्थन के पात्र में हुतशेष स्रुवा में लगे हुए घृत को गिरा देता है। ३ "भूः स्वाहा" इस मन्त्र को पढ़कर प्रज्वलित अग्नि में गूलर के काठ की स्रुवा से घृताहुति देकर मन्थन के पात्र में हुतशेष स्रुवा में लगे हुए घृत को गिरा देता है। ४ "भुवः स्वाहा" इस मन्त्र को पढ़कर प्रज्वलित अग्नि में गूलर के काठ की स्रुवा से घृताहुति देकर मन्थन के पात्र में हुतशेष स्रुवा में लगे हुए घृत को गिरा देता है। ५ "स्वः स्वाहा" इस मन्त्र को पढ़कर प्रज्वलित अग्नि में गूलर के काठ की स्रुवा से घृताहुति देकर मन्थन के पात्र में हुतशेष स्रुवा में लगे हुए घृत को गिरा देता है। ६ "भूर्भुवः स्वः स्वाहा" इस मन्त्र को पढ़कर प्रज्वलित अग्नि में गूलर के काठ की स्रुवा से घृताहुति देकर मन्थन के पात्र में हुतशेष स्रुवा में लगे हुए घृत को गिरा देता है। ७ "ब्रह्मणे स्वाहा" इस मन्त्र को पढ़कर प्रज्वलित अग्नि में गूलर के काठ की स्रुवा से घृताहुति देकर मन्थन के पात्र में हुतशेष स्रुवा में लगे हुए घृत को गिरा देता है। ८ "क्षत्राय स्वाहा" इस मन्त्र को पढ़कर प्रज्वलित अग्नि में गूलर के काठ की स्रुवा से घृताहुति देकर मन्थन के पात्र में हुतशेष स्रुवा में लगे हुए घृत को गिरा देता है। ९ "भूताय स्वाहा"

इस मन्त्र को पढ़कर प्रज्वलित अग्नि में गूलर के काठ की स्रुवा से घृताहुति देकर मन्थन के पात्र में हुतशेष स्रुवा में लगे हुए घृत को गिरा देता है। १० "भविष्यते स्वाहा" इस मन्त्र को पढ़कर प्रज्वलित अग्नि में गूलर के काठ की स्रुवा से घृताहुति देकर मन्थन के पात्र में हुतशेष स्रुवा में लगे हुए घृत को गिरा देता है। ११ "विश्वाय स्वाहा" इस मन्त्र को पढ़कर प्रज्वलित अग्नि में गूलर के काठ की स्रुवा से घृताहुति देकर मन्थन के पात्र में हुतशेष स्रुवा में लगे हुए घृत को गिरा देता है। १२ "सर्वाय स्वाहा" इस मन्त्र को पढ़कर प्रज्वलित अग्नि में गूलर के काठ की स्रुवा से घृताहुति देकर मन्थन के पात्र में हुतशेष स्रुवा में लगे हुए घृत को गिरा देता है। १३ "प्रजापतये स्वाहा" इस मन्त्र को पढ़कर प्रज्वलित अग्नि में गूलर के काठ की स्रुवा से घृताहुति देकर मन्थन के पात्र में हुतशेष स्रुवा में लगे हुए घृत को गिरा देता है। प्रकृत कण्डिका में अग्नि, सोम आदिक शब्द तत् तदन्तर्यामी परब्रह्म नारायण का वाचक है। गौ के घृत से हवन करे। गौ के विषय में लिखा है— **स्थूलपृषतीमाग्निवारुणीमनड्वाहीमालभेत् ॥** (ब्राह्मण) जिसका शरीर हृष्टपुष्ट गाल बड़े बड़े चिह्नों से युक्त हो, नेत्र सूर्य और अग्नि के समान रक्तवर्ण हों इस गौ को घृत के निमित्त ग्रहण करे। इस प्रकार हवन को समाप्त करे ॥३॥

अथैनमभिमृशति । भ्रमदसि ज्वलदसि पूर्णमसि प्रस्तब्धमस्येकसभमसि हिंकृतमसि हिंक्रियमाणमस्युद्गीथमस्युद्गीयमानमसि श्रावितमसि प्रत्याश्रावितमस्यार्द्रे संदीप्तमसि विभूरसि प्रभूरस्यन्नमसि ज्योतिरसि निधनमसि संवर्गोऽसीति ॥४॥

अन्वयार्थ— (अथ) अब होम की समाप्ति के अनन्तर (एनम्) उस मन्थ-मिश्रित द्रव्य को वक्ष्यमाण मन्त्र पढ़ते हुए हाथ से (अभिमृशति) अच्छी तरह स्पर्श करता है वह मन्त्र आगे बतलाया जाता है (भ्रमद्) तू प्राणरूप से सब देहों में घूमने वाला (असि) हो (ज्वलद्) तू अग्निरूप से सर्वत्र प्रज्वलित होनेवाला (असि) हो (पूर्णम्) ब्रह्मरूप से पूर्ण (असि) तू हो (प्रस्तब्धम्) तू आकाशरूप से अत्यन्त स्तब्ध-निष्कम्प (असि) हो (एक-सभम्) तू इस जगत् रूप सभा के सभापति एक ही (असि) है (हिंकृतम्) तू ही यज्ञ के आरम्भ में प्रस्तोता के द्वारा हिंकृत (असि) है (हिंक्रियमाणम) तू ही यज्ञ के मध्य में भी उसी प्रस्तोता द्वारा हिंक्रियमाण (असि) हो (उद्गीथम्) तू ही यज्ञारम्भ में उद्गाता द्वारा उच्च स्वर में गाये जानेवाला उद्गीथ (असि) हो

(उद्गीयमानम्) यज्ञ के मध्य में उसके द्वारा तू ही उद्गीयमान (असि) हो (श्रावितम्) तू ही अध्वर्यु द्वारा श्रावित (असि) हो और (प्रत्याश्रावितम्) तू ही आग्नीध्र द्वारा प्रत्याश्रावित (असि) हो (आर्द्रे) तू ही आर्द्र मेघ में (संदीप्तम्) सम्यक् प्रकार से दीप्त (असि) हो (विभूः) तू विविध रूप होने वाला (असि) हो (प्रभूः) तू ही सबका समर्थ-स्वामी (असि) हो (अन्नम्) तू ही सब का प्राणप्रद अन्न (असि) हो (ज्योतिः) तू ही सूर्यादि रूप से ज्योति (असि) हो (निधनम्) तू ही मृत्युरूप से सबका नाश (असि) हो और (इति) इसी प्रकार (सवर्गः) तू ही सब का संहार करनेवाला संवर्ग (असि) हो ॥४॥

विशेषार्थ– अब होम की समाप्ति के अनन्तर उस मन्थ मिश्रित द्रव्य को वक्ष्यमाण "भ्रमदसि" इत्यादि मन्त्र को पढ़ते हुए वह मन्थकर्म कर्ता अपने हाथ से अच्छी तरह स्पर्श करता है । "भ्रमदसि" आदि मन्त्र का अर्थ यह है कि– "हे भगवन् ! प्राणरूप से सम्पूर्ण शरीरों में आप ही भ्रमण करनेवाले हैं । और अग्निरूप से आपही सर्वत्र प्रज्वलित करनेवाले हैं । तथा ब्रह्म रूप से सर्वदा आप पूर्ण हैं । और आकाश रूप से आप अत्यन्त स्तब्ध यानी निष्कम्प हैं । तथा इस जगत् रूप सभा के एक सभापति आप ही हैं । यज्ञ के आरम्भ में प्रस्तोता आपके ही उद्देश्य से हिंकार विधि करता है, अतः आप ही हिंकृत हैं । और यज्ञ के मध्य में भी उसी प्रस्तोता द्वारा हिंक्रियमाण पूज्य आप ही हैं । तथा यज्ञारम्भ में उद्गाता जो उद्गीथ का उच्च स्वर से गान करता है वह भी अपके ही उद्देश्य से किया जाता है । अतः आप उद्गीथ हैं । और यज्ञ के मध्य में भी उसी उद्गाता द्वारा उच्चस्वर से गीयमान आप ही हैं । तथा यज्ञ में अध्वर्यु द्वारा श्रावित आप ही हैं । और यज्ञ में आग्नीध्र द्वारा प्रत्याश्रावित भी आप ही हैं । तथा आप ही आर्द्रमेघ में सम्यक् प्रकार से दीप्त हो रहे हैं । और आप ही विविध रूप होने वाले हैं । तथा आप ही सबका समर्थ-स्वामी है । और सब का प्राणप्रद अन्न आप ही हैं । तथा सूर्यादि रूप से आप ही सब की ज्योति हैं । और मृत्यु रूप से आप ही सब का निधन यानी नाश हैं । इस श्रुति में "निधन" शब्द नाश वाचक है । क्योंकि लिखा है– **निधनं कुलनाशयोः ॥** (अमर० कां० ३ व० ३ श्लो० १२३) कुल में और नाश में निधन शब्द का प्रयोग होता है ॥१२३॥ तथा सबका संहार करने वाले आप ही संवर्ग हैं" । इस प्रकार मन्थाभिमर्शनमन्त्र यहाँ समाप्त हो गया "इति" शब्द मन्त्र की समाप्ति सूचन के लिये अन्त में प्रयुक्त हुआ है ॥४॥

अथैनमुद्यच्छति । आमंस्यामंहि ते महि स हि राजेशानोऽधिपतिः

स मां राजेशानोऽधिपतिं करोत्विति ॥५॥

अन्वयार्थ– (अथ) अभिमर्शनमन्त्र कहने के बाद अब (एनम्) उस मथे हुए ओषधि के सारभाग को वक्ष्यमाण मन्त्र पढ़ते हुए (उद्यच्छति) पात्र के सहित हाथ से ऊपर उठाता है । वह मंत्र आगे बतलाया जाता है (आ+मंसि) अच्छी तरह तू सब को जानता है (ते) तेरी (महि) महिमा को (आ+मंहि) अच्छी तरह हम सब जानते हैं (हि) निश्चय करके (सः) वह मन्थभूत प्राण (राजा) दीप्तिमान् राजा तथा (ईशानः) सब का शासन करनेवाला (अधिपतिः) और सब का शेषी स्वामी है (सः) वह (राजा) दीप्तिमान् राजा (ईशानः) सब का शासन करनेवाला ईश्वर (माम्) मुझ को (अधिपतिम्) सब का शेषी स्वामी (करोतु) करे (इति) यह मेरी प्रार्थना है ॥५॥

विशेषार्थ– अभिमर्शन मंत्र कहने के बाद अब उस मन्थ मिश्रित द्रव्य को वक्ष्यमाण "आमंसि" इत्यादि मंत्र को पढ़ते हुए वह मन्थकर्मकर्ता पात्र के सहित अपने हाथ से ऊपर उठाता है "आमंसि" आदि मंत्र का अर्थ यह है– "हे भगवन् आप अच्छी तरह सब कुछ जानने वाले हैं और आपके महत्व को हम सब भी जानते हैं । वह मन्थभूत प्राण आप दीप्तिमान्– राजा तथा सब के शासन करनेवाला– ईशान और सब का शेषी स्वामी अधिपति हैं । वह राजा सबका शासन करने वाला ईश्वर मुझ भक्त को इस लोक में सर्वाधिपति बनावे । यही आप से दास की प्रार्थना है" और अन्यत्र लिखा है– **अथ प्रतिसृप्याञ्जलौ मन्थमाधाय जपति । अमो नामासि । अमा हि । ते सर्वमिदम् । स हि ज्येष्ठः श्रेष्ठो राजाधिपतिः स मा ज्यैष्ठ्यं श्रैष्ठ्यं राज्यमाधिपत्यं गमयत्वहमेवेदं सर्वमसानीति ॥** (छा० उ० प्रपा० ५ खं० २ श्रु० ६) अब होम की समाप्ति के अनन्तर अग्नि से कुछ दूर हटकर अथवा प्रदक्षिणा करके अपनी अञ्जलि में मथी हुई ओषधि के सारभाग मन्थ को ध्यान में रखकर वक्ष्यमाण मंत्र का जाप करे, वह मंत्र यह है कि– हे मन्थ तुम अम नाम वाले हो क्योंकि तुम प्राण हो ब्रह्मादि स्तम्बपर्यन्त यह भोक्तृ–भोग्यरूप सब जगत् मन्थ लक्षण अन्न के अधीन होने से आप के अधीन है । निश्चय करके वह मन्थभूत प्राण आप ज्येष्ठ और श्रेष्ठ तथा दीप्तिमान् राजा और सब का शेषी स्वामी हैं । वह आप मुझ भक्त को ज्येष्ठता श्रेष्ठता राज्य और स्वामित्व को प्राप्त करा दें । निश्चय करके आप की कृपा से यह पूर्वोक्त सब मैं ही हो जाऊँ यह आप से मेरी प्रार्थना है ॥६॥ यहाँ मन्थ को उठाने का मंत्र समाप्त हो गया ॥५॥

अथैनमाचामति। तत्सवितुर्वरेण्यम् । मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः । माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः । भूः स्वाहा । भर्गो

देवस्य धीमहि । मधु नक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवं रजः । मधु द्यौरस्तु नः पिता । भुवः स्वाहा । धियो यो नः प्रचोदयात् । मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ अस्तु सूर्यः । माध्वीर्गावो भवन्तु नः । स्वः स्वाहेति । सर्वांच सावित्रीमन्वाह सर्वाश्च मधुमती रहमेवेदं सर्वं भूयासं भूर्भुवः स्वः स्वाहेत्यन्तत आचम्य पाणी प्रक्षाल्य । जघनेनाग्निं प्राक् शिराः संविशति । प्रातरादित्यमुपतिष्ठते दिशामेकपुण्डरीकमस्यहं मनुष्याणामेकपुण्डरीकं भूयासमिति यथेतमेत्य जघनेनाग्निमासीनो वंशं जपति ॥६॥

अन्वयार्थ– (अथ) मन्थ उठाने का मन्त्र समाप्त होने के बाद अंब (एनम्) उस मन्थ को (आचामति) वक्ष्यमाण मन्त्रों से भक्षण करता है । आगे मन्थ भक्षण की विधि कही जाती है (सवितुः) जगत् के जनयिता परमात्मा के (तत्) उस (वरेण्यम्) सबके भजने योग्य (वाताः) पवन (मधुः) मधर मन्दगति से (ऋतायते) बह रहे हैं (सिन्धवः) नदियाँ (मधु) मधु रस को (क्षरन्ति) स्राव कर रही है (नः) हम सब जीवों के कल्याण के लिये (ओषधीः) गेहूं, जौ, धान आदि औषधियाँ (माध्वीः) मधुर (सन्तु) होवें (भूः) भूलोक के अनुग्रह के लिये (स्वाहा) जठरानल में यह आहुति देता हूँ इस मन्त्र को पढ़कर मन्थ का पहला ग्रास भक्षण करे (देवस्य) स्वयं प्रकाशक नारायण देव के (भर्गः) कल्याणकारी तेज को (धीमहि) हम सब ध्यान करते हैं (नक्तम्) रात (उत) और (उषसः) दिन (मधु) मधु यानी सुखकर हों (पार्थिवम्) पृथ्वी के (रजः) धूलि कण (मधुमत्) उद्वेग न करने वाले मधुर होवें (पिता) पालक (द्यौः) द्युलोक (नः) हमारे कल्याण के लिये (मधु) मधु सुखकर (अस्तु) हो (भुवः) अन्तरिक्षलोक के अनुग्रह के लिये (स्वाहा) जठरानल में यह आहुति देता हूँ इस मन्त्र को पढ़कर मन्थ का दूसरा ग्रास भक्षण करे (यः) जो परमात्मा देव (नः) हमारी (धियः) बुद्धियों को (प्रचोदयात्) धर्मादि शुभ कर्मों में प्रेरित करे (नः) हमारे लिये (वनस्पतिः) गूलर, पीपल आदि वनस्पति (मधुमान्) मधुर रसमय (अस्तु) हो और (सूर्यः) सूर्यदेव हमारे लिये (मधुमान्) मधुर रसमय (अस्तु) हो (नः) हमारे लिये (गावः) गायें (माध्वीः) मधुर दूध देने वाली (भवन्तु) होवें (स्वः) स्वर्गलोक के अनुग्रह के लिये (स्वाहा) जठरानल में यह आहुति देता हूँ (इति) इस मन्त्र को पढ़कर तीसरा ग्रास भक्षण करे (अनु) इसके पश्चात् (सर्वाम्) संपूर्ण

(सावित्रीम्) गायत्रीमन्त्र को (च) और (सर्वाः) समस्त (मधुमतीः) मधुमती ऋचा को (आह) कहे। इसके बाद (च) और (अहम्) मैं (एव) ही (इदम्) यह (सर्वम्) सब (भूयासम्) हो जाऊँ (भूः) भूलोक के अनुग्रह के लिये (भुवः) अन्तरिक्षलोक के अनुग्रह के लिये तथा (स्वः) स्वर्ग लोक के अनुग्रह के लिये (स्वाहा) जठरानल में यह आहुति देता हूँ (इति) इस मन्त्र को पढ़कर चौथा ग्रास भक्षण करे। पुनः आगे कर्तव्य बतलाया जाता है (अन्ततः) अन्त में जो कुछ पात्र में लगा रह जाय उसको धोकर (आचम्य) चुपचाप आचमन कर जाय फिर (पाणी) दोनों हाथ (प्रक्षाल्य) अच्छी तरह धोकर शुद्ध जल से शास्त्रानुसार आचमन करे इसके बाद (अग्निम्) अग्नि के (जघनेन) पश्चिम भाग में (प्राक् शिराः) पूर्व की ओर शिर करके (संविशति) सो जाय (प्रातः) प्रातः कालिक सन्ध्योपासन करके (आदित्यम्) अदितिनन्दन श्रीवामन भगवान् को (उपतिष्ठते) वक्ष्यमाण मंत्र से उपस्थान करे (दिशाम्) पूर्व पश्चिम आदि समस्तदिशाओं के (एकपुण्डरीकम्) सुशोभित करने वाला एक उज्ज्वल कमल (असि) तू हो (अहम्) मैं (मनुष्याणाम्) मनुष्यों में (एकपुण्डरीकम्) एक उज्ज्वल कमल (भूयासम्) होऊँ (इति) इस प्रकार उपस्थान कर (यथा) जिस मार्ग से ईश्वरोपासना के लिये (एतम्) दूसरी जगह गया था (एत्य) उसी मार्ग से लौटकर (अग्निम्) अग्नि के (जघनेन) पश्चिम भाग में (आसीनः) बैठकर (वंशम्) वक्ष्यमाण ब्राह्मण वंश का (जपति) जप करे ।।६।।

विशेषार्थ– अब मन्थभक्षण की विधि बताई जाती है कि– गूलर के काठ के बने हुए चमसाकार पात्र के सहित जिस मन्थ को हाथ के ऊपर रखा था उसको पहले ही चार विभाग कर ले। इसके पश्चात् आगे कहे जानेवाले मन्त्रों से चार चार भक्षण करे। गायत्री मंत्र के प्रथम पाद को तथा मधुमती ऋचा के एक प्रथम पाद को और पहली व्याहृति को तथा स्वाहा को क्रम से पढ़कर मन्थ का पहला ग्रास भक्षण करे। अर्थात् "तत्सवितुर्वरेण्यम्" "मधुवाता ऋतायते मधुक्षरन्ति सिन्धवः। माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः" "भूः" "स्वाहा" इस मंत्र को पढ़कर मन्थ का पहला भाग भक्षण करे। और गायत्री मंत्र के द्वितीयपाद को तथा मधुमती ऋचा के द्वितीय पाद को और दूसरी व्याहृति को तथा स्वाहा को क्रम से पढ़कर मन्थ का दूसरा ग्रास भक्षण करे। अर्थात् "भर्गो देवस्य धीमहि" मधुनक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवं रजः। मधु द्यौरस्तु नः पिता" "भुवः' "स्वाहा" इस मंत्र को पढ़कर मन्थ का दूसरा भाग भक्षण करे। और गायत्री मंत्र के तृतीय पाद को तथा मधुमती ऋचा के तृतीय पाद को और तीसरी व्याहृति को तथा स्वाहा को क्रम से पढ़कर मन्थ का तीसरा ग्रास भक्षण करे। अर्थात् "धियो यो नः प्रचोदयात्" मधुमान्नो वनस्पति र्मधुमाँ अस्तु सूर्यः।

माध्वीर्गावो भवन्तु नः'' ''स्वः'' ''स्वाहा'' इस मंत्र को पढ़कर मन्थ का तीसरा भाग भक्षण करे। और समस्त गायत्रीमंत्र को तथा संपूर्ण मधुमती ऋचा को और ''अहमेवेदं सर्वं भूयासम्'' इस श्रुति को तथा तीनों व्याहृतियों को और स्वाहा को क्रम से पढ़कर मन्थ का चौथा ग्रास भक्षण करे। अर्थात् ''तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्'' ''मधुवाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः। मधु नक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवं रजः मधु द्यौरस्तु नः पिता। मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ अस्तु सूर्यः माध्वीर्गावो भवन्तु नः'' ''अहमेवेदं सर्वं भूयासम्'' ''भूर्भुवः स्वः'' ''स्वाहा'' इस मंत्र को पढ़कर मन्थ का चौथा भाग भक्षण करे। अब गायत्रीमंत्र का अर्थ लिखा जाता है कि– ''अखिल ब्रह्माण्ड के उत्पत्ति स्थिति प्रलयादिकर्ता स्वयं प्रकाश परब्रह्म नारायण देव के सबके भजने योग्य कल्याणकारी तेज को हम सब ध्यान करते हैं जो परब्रह्म नारायण हमरी बुद्धियों को धर्मादि शुभ कर्मों में प्रेरित करे''। (यजु० अ० ३ मं० ३५) अब आगे मधुमती ऋचा का अर्थ लिखा जाता है कि– हवा मधुर–सुखकारी मन्दगति से बह रही है। नदियाँ मधुर रस पूर्ण हो चल रही हैं। यहाँ ''सिन्धु'' शब्द नदी वाचक है। क्योंकि लिखा है– **देश नदविशेषेऽब्धौ सिन्धुर्ना सरिति स्त्रियाम्॥** (अमर० कां० ३ व० ३ श्लो० १०१) सिन्धु देश में १, सिन्धु नदविशेष में २, समुद्र में ३ और नदी में ४ सिन्धु शब्द का प्रयोग होता है॥१०१॥ हम सब जीवों के कल्याण के लिये गेहूँ, जौ, धान आदि ओषधियाँ मधुर होवें। ओषधि के विषय में लिखा है– **ओषध्यः फलपाकान्ता बहुपुष्पफलोपगाः॥** (मनु० अ० १ श्लो० ४६) जो बहुत फूल फल से युक्त हों और फल पक जाने पर नष्ट हो जाते हों वे ही धान, यव आदिक ओषधि हैं॥४६॥ रात और दिन सुखकर होवे। यहाँ ''नक्तम्'' पद रात्रिवाचक है। क्योंकि लिखा है– **दोषा च नक्तं च रजना–विति॥** (अमर० कां० ३ व० ४ श्लो० ६) दोषा १ और नक्तम् २ ये अव्यय शब्द रात्रिवाचक हैं॥६॥ पृथ्वी के धूलिकण उद्वेग न करनेवाले मधुर होवे। यहाँ ''रजस्'' शब्द धूलि वाचक है। क्योंकि लिखा है– **रजो गुणे च स्त्रीपुष्पे॥** (अमर० कां० ३ व० ३ श्लो० २३१) रजोगुण में १, धूलि में २ और स्त्री के हर महीने के रुधिर में ३ रजस् शब्द का प्रयोग होता है॥२३१॥ पालक द्युलोक हमारे कल्याण के लिये मधु–सुखकर होवे। हमारे लिये गूलर, पीपल, वट आदि वनस्पति मधुर रसमय होवे। वनस्पति के विषय में लिखा है– **अपुष्पाः फलवन्तो ये ते वनस्पतयः स्मृताः॥** (मनु० अ० १ श्लो० ४७) जो फूल से रहित हों और फलवाले हों ऐसे गूलर, पीपल आदि को वनस्पति कहते हैं॥४७॥ और सूर्यदेव हमारे लिये मधुर रसमय होवें। सूर्य के विषय में लिखा है– **अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता॥** (यजुर्वेद अ० १४

मं २०) अग्निदेव, वायुदेव और सूर्यदेव हैं ।।२४।। तथा गायें हमारे लिये मधुर दुग्ध देनेवाली होवें" । तथा "मैं ही यह सब हो जाऊँ" अब आगे तीनों व्याहृतियों का अर्थ लिखा जाता है कि– **भूरिति वा अयं लोकः । भुव इत्यन्तरिक्षम् । सुवरित्यसौ लोकः ॥** (तैत्ति० उ० व० १ अनु० ५ श्रु० १) भूः यह व्याहृति निश्चय करके यह पृथ्वी लोक है । भुवः यह व्याहृति अन्तरिक्ष लोक है और स्वः यह व्याहृति वह प्रसिद्ध स्वर्गलोक है ।।१।। **भूरिति वा अग्निः । भुव इति वायुः । सुवरित्यादित्यः । भूरिति वा ऋचः । भुव इति सामानि । सुवरिति यजूंषि ॥** (तैत्ति० उ० व० १ अनु० ५ श्रु० २) भूः यह व्याहृति निश्चय करके अग्नि है । भुवः यह व्याहृति वायु है । और स्वः यह व्याहृति सूर्य है । भूः यह व्याहृति निश्चय करके ऋग्वेद है । भुवः यह व्याहृति सामवेद है । और स्वः यह व्याहृति यजुर्वेद है ।।२।। **भूरिति वै प्राणः । भुव इत्यपानः । सुवरिति व्यानः ॥** (तैत्ति० उ० व० १ अनु० ५ श्रु० ३) भूः यह व्याहृति निश्चय करके यह प्राण है । भुवः यह व्याहृति अपान है । और स्वः यह व्याहृति व्यान है । और "स्वाहा" शब्द का प्रयोग आहुति प्रदान में किया जाता है । समस्त मन्थ को भक्षण करने के बाद अन्त में जो कुछ पात्र में लगा रहा जाय उस पात्र को जल से धोकर उस सबको चुपचाप पी जाय । क्योंकि समान प्रकरण में लिखा है– **सर्वं पिबति निर्णिज्य कंसं चमसं वा ॥** (छा० उ० प्रपा० ५ खं० २ श्रु० ७) कटोरे या चम्मच के समान बचा हुआ गूलर के पात्र को धोकर सब पी जाता है ।।७।। फिर दोनों हाथ अच्छी तरह धोकर जल से शास्त्रानुसार आचमन करके अग्नि के पश्चिम भाग में पूर्व की ओर शिर करके सो जाय । इसके बाद प्रातःकाल उठके प्रातःकालिक संध्योपासन करके आगे कहे जानेवाले मन्त्र से अदितिपुत्र श्रीवामन भगवान् का उपस्थान करे । यहाँ "आदित्य" श्रीवामन भगवान का वाचक है । क्योंकि लिखा है– **तदेवाग्निस्तदादित्यः ॥** (श्वेता० उ० अ० ४ श्रु० २) वही परब्रह्म नारायण अग्नि है और वही आदित्य है ।।२।। **आदित्यानामहं विष्णुः ॥** (गी० अ० १० श्लो० २१) आदित्यों में सबसे श्रेष्ठ विष्णु नामक आदित्य मैं हूँ ।।२१।। **वामनो ह विष्णुरास॥** (शतपथ कां० १ अ० २ ब्रा० २ कं ५) वामन ही विष्णु भगवान् थे ।।५।। **आदित्यो ज्योतिरादित्यः ॥** (महाभारत अनुशा० विष्णुसह० श्लो० ७३) में स्पष्ट विष्णु भगवान् का आदित्य नाम कहा गया है । इससे "आदित्य" शब्द का अर्थ श्रीवामन भगवान् है । अब आगे भगवदुपस्थान के मन्त्र का अर्थ कहा जाता है कि– "हे अदितिनन्दन त्रिविक्रम भगवान् ! आप पूर्व दक्षिण आदि समस्त दिशाओं को विभूषित करनेवाले एक प्रधान समुज्ज्वल कमल हैं । अतः आपसे मैं प्रार्थना करता हूँ कि– मैं भी मनुष्यों में एक यानी मुख्य सबको सुशोभित करनेवाला उज्ज्वल कमल हो जाऊँ" इस प्रकार

उपस्थाान करके । यहाँ "पुण्डरीक" शब्द उज्ज्वल कमल वाचक है । क्योंकि लिखा है– **पुण्डरीकं सिताम्भेजम्** ॥ (अमर० कां० १ व० १० श्लो० ४१) पुण्डरीक १, सिताम्भोज २ ये उज्ज्वल कमल के नाम हैं ।।४१।। फिर जिस मार्ग से भगवदुपासना के लिये जैसे दूसरी जगह गया था उसी मार्ग से वैसे ही लौट कर अग्नि के पश्चिम भाग में बैठ कर वक्ष्यमाण ब्राह्मण वंश का जप करे । जप के विषय में लिखा है– **वेदोक्तेनैव मार्गेण मंत्राभ्यासो जपः स्मृतः** ॥ (जाबालद० उ० खं० २ श्रु० ११) **कल्पसूत्रे तथा वेदे धर्मशास्त्रे पुराणके । इतिहासे च वृत्तिर्या स जपः प्रोच्यतेमया ॥१२॥ जपस्तु द्विविधः प्रोक्तो वाचिको मानसस्तथा ॥१३॥ वाचिकोपांशुरुच्चैश्च द्विविधः परिकीर्तितः । मानसो मननध्यानभेदाद्द्वैविध्यमाश्रितः ॥१४॥ उच्चैर्जपादुपांशुश्च सहस्रगुण उच्यते । मानसश्च तथोपांशोः सहस्रगुणमुच्यते ॥१५॥ उच्चैर्जपश्च सर्वेषां यथोक्तफलदो भवेत् । नीचैः श्रोत्रेण चेन्मंत्रः श्रुतश्चेन्निष्फलं भवेत् ॥१६॥** वेदोक्त रीति से मन्त्रों की बार बार आवृत्ति को जप कहते हैं ।।११।। इसके अतिरिक्त वेदों की ही भाँति कल्पसूत्र, धर्मशास्त्र, पुराण और इतिहास में जो मन की वृत्तियों को निरन्तर लगाये रहना है उसी को मैं जप कहता हूँ। ।।१२।। जप दो प्रकार का बताया गया है– वाचिक और मानसिक ।।१३।। वाचिक जप उच्चैः और उपांशु दो प्रकार का माना गया है । इसी प्रकार मानसिक जप भी मनन और ध्यान के भेद से दो प्रकार का है ।।१४।। उच्च स्वर से किये जानेवाले जप की अपेक्षा अत्यन्त मन्द स्वर से किया हुआ उंपाशु जप हजार गुना उत्तम बताया गया है । इसी प्रकार उंपाशु जप की अपेक्षा मानसिक जप हजार गुना श्रेष्ठ कहा गया है ।।१५।। उच्च स्वर से किया गया जप सब लोगों को यथावत् फल देनेवाला होता है परन्तु यदि उस मन्त्र को नीच पुरुषों ने अपने कानों से सुन लिया तो वह निष्फल हो जाता है ।।१६।। **यदुच्चनीचस्वरितैः शब्दैः स्पष्टपदाक्षरैः । मंत्रमुच्चारयेद्वाचा वाचिकोऽयं जपः स्मृतः** ॥ (आह्निकसू०) जो उच्च नीच और स्वरित शब्दों से स्पष्ट पदों के अक्षरों के द्वारा वाणी मे मन्त्रोच्चारण किया जाता है वह वाचिक जप कहा गया है ॥ **शनैरुच्चारयेन्मंत्रमीषदोष्ठौ च चालयेत् । अपरैर्न श्रुतः किञ्चित्स उपांशु जपः स्मृतः** ॥ (आह्निकसू०) थोड़ा सा होठों को चलावे और धीरे से मन्त्र को उच्चारण करे जिससे कि दूसरा कोई कुछ भी न सुने तो वह उपांशु जप कहा गया है । **धिया यदक्षरश्रेण्या वर्णाद्वर्णं पदात्पदम् । शब्दार्थचिन्तनं भूप कथ्यते मानसो जपः** ॥ (आह्निकसू०) हे राजन् ! बुद्धि से जो अक्षर श्रेणी के द्वारा वर्ण से वर्ण और पद से पद शब्दार्थ चिन्तन पूर्वक कहा जाता है वह मानस जप कहा गया है । और मन्थ भक्षण के विषय में अन्यत्र भी लिखा है– **अथ खल्वेतयर्चा पच्छ आचामति ।**

"तत्सवितुर्वृणीमह" इत्याचामति "वयं देवस्य भोजन" मित्याचामति" "श्रेष्ठ सर्वधातम" "मित्याचामति" "तुरं भगस्य धीमही" ति सर्वं पिबति । निर्णिज्य कंसं चमसं वा पश्चादग्नेः संविशति चर्मणि वा स्थण्डिले वा । वाचंयमोऽप्रसाहः । स यदि स्त्रियं पश्येत् समृद्धं कर्मेति विद्यात् ॥ (छा० उ० प्रपा० ५ खं० ३ श्रु० ७) "अमो नामासि" इत्यादि मंत्र के जप करने के अनन्तर निश्चय करके वह उपासक इस आगे कहे जाने वाले (ऋग्वेद मण्डल० ५ सूक्त० ८२ मं० १) के एक एक चरण को पढ़ करके सब औषध के सार उस मन्थ को भक्षण करता है "सब के उत्पादक प्राण के उस श्रेष्ठ भोजन को हम सब उपासक प्रार्थना करते हैं" इस पहले पाद से मन्थ को पहले बार भक्षण करता है "हम सब उपासक देह में क्रीड़ा करने वाले प्राणदेव के उत्तम भोजन को" इस दूसरे पाद से दूसरे बार मन्थ को भक्षण करता है "सब से श्रेष्ठ सर्व धारक भोजन को" इस तीसरे पाद से तीसरे बार मन्थ को भक्षण करता है "शीघ्र ही सेवनीय सविता देवके स्वरूप को हम सब उपासक ध्यान करते हैं" इस चौथे बार सब मन्थ को पी जाता है । कंसाकर अथवा चमसाकार गूलर के पात्र को धोकर इसके बाद अग्नि के पीछे पश्चिम भाग में अखण्ड शुद्ध मृगचर्म पर अथवा पवित्र यज्ञ भूमि पर ही वाणी को संयम करते हुए मौनव्रतधारी अनिष्ट स्वप्न दर्शन से अभिभूत न होता हुआ सब प्रकार से ब्रह्म में प्रवेश करके पूर्व की ओर शिर करके शयन करे तब यदि वह उपासक स्वप्न में स्त्री को देखे तो पूर्वोक्त कर्म को सफलीभूत हुआ ऐसा जाने ।।७।। इस प्रकार प्रतिपादन किया गया है ।।६।।

तं हैतमुद्दालक आरुणिर्वाजसनेयाय याज्ञवल्क्यायान्तेवासिन उक्त्वोवाच। अपि य एनं शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ।।७।।

अन्वयार्थ– (ह) सुप्रसिद्ध (आरुणिः) अरुण ऋषि के पुत्र (उद्दालकः) उद्दालक नाम के आचार्य ने (अन्तेवासिने) अपने शिष्य (वाजसनेयाय) वाजसनेय (याज्ञवल्क्याय) याज्ञवल्क्यऋषि के लिए (तम्) उस पूर्वोक्त (एतम्) इस मन्थ कर्मानुष्ठान प्रकार को (उक्त्वा) कहकर (इति) यह वक्ष्यमाण भी (उवाच) कहा था कि (अपि) यदि (यः) जो कोई उपासक (एनम्) इस संस्रवसंस्कृत मन्थ को (शुष्के) सूखे (स्थाणौ) ठूंठ वृक्ष पर (निषिञ्चेत्) सीचें तो उसमें (शाखाः) शाखायें (जायेरन्) उत्पन्न हो जायेंगी और (पलाशानि) पत्ते (प्ररोहेयुः) लग जायेंगे ।।७।।

अरुणऋषि के पुत्र आचार्य उद्दालक महर्षि ने अपने शिष्य वाजसनेय याज्ञवल्क्य ऋषि के लिये उस पूर्वोक्त इस मन्थकर्मानुष्ठान प्रकार का उपदेश देकर यह कहा था कि यदि कोई उपासक इस संस्रवसंस्कृत मन्थ को सूखे ठूंठ वृक्ष के ऊपर डाल देगा तो उसमें शाखाएँ उत्पन्न हो जायेंगी और पत्ते निकल जायेंगे। यहाँ "स्थाणु" शब्द वृक्ष वाचक है और "पलाश" शब्द पत्ता वाचक है। क्योंकि लिखा है– **स्थाणुर्वा नाध्रुवःशंकुः** ॥ (अमर० कां० २ व० ५ श्लो० ८) स्थाणु १, ध्रुव २, शंकु ३ ये ठूंट वृक्ष के नाम है ।।८।। **पत्रं पलाशं छदनं दलं पर्णं छदः पुमान्** ॥ (अमर० कां० २ व० ४ श्लो० १४) पत्र १, पलाश २, छदन ३, दल ४, पर्ण ५, छद ६, ये पत्ते के नाम हैं ।१४।। ऐसा कहा गया है ।।७।।

एतमु हैव वाजसनेयो याज्ञवल्क्यो मधुकाय पैङ्ग्याया-न्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य एनं शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥८॥

अन्वयार्थ– (ह) सुप्रसिद्ध (वाजसनेयः) वाजसनेय (याज्ञवल्क्यः) याज्ञवल्क्य नाम के आचार्य ने (अन्तेवासिने) अपने शिष्य (पैङ्ग्याय) पैङ्ग्य (मधुकाय) मधुक ऋषि के लिए (एव) निश्चय करके (एतम्) इस मन्थकर्मानुष्ठान प्रकार को (उ) ही (उक्त्वा) कहकर (इति) यह भी (उवाच) कहा था कि (अपि) यदि (यः) जो कोई उपासक (एनम्) इस संस्रवसंस्कृत मन्थ को (शुष्के) सूखे (स्थाणौ) ठूंट वृक्ष पर (निषिञ्चेत्) सीचें तो उसमें (शाखाः) शाखायें (जायेरन्) उत्पन्न हो जायेंगी और (पलाशानि) पत्ते (प्ररोहेयुः) लग जायेंगे ।।८।।

विशेषार्थ– सुप्रसिद्ध वाजसनेय आचार्य याज्ञवल्क्य महर्षि ने अपने शिष्य पैङ्ग्य मधुक ऋषि के लिये निश्चय करके इस मन्थकर्मानुष्ठान प्रकार का उपदेश देकर यह कहा था कि यदि कोई उपासक इस संस्रवसंस्कृत मन्थ को सूखे ठूंठ वृक्ष के ऊपर डाल देगा तो उसमें डालें उत्पन्न हो जायेंगी। यहाँ "शाखा" शब्द डाल वाचक है। क्योंकि लिखा है– **समे शाखालते** ॥ (अमर० कां० २ व० ४ श्रु० ११) शाखा १, लता २ ये डाल के नाम हैं ।।११।। और पत्ते निकल जायेंगे ।।८।।

एतमु हैव मधुकः पैङ्ग्यश्चूलाय भागवित्तयेऽन्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य एनं शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥९॥

अन्वयार्थ– (ह) सुप्रसिद्ध (पैङ्ग्यः) पैङ्ग्य (मधुकः) मधुक नाम के आचार्य ने (अन्तेवासिने) अपने शिष्य (भागवित्तये) भगवित्त ऋषि के पुत्र (चूलाय) चूल ऋषि के लिये (एव) निश्चय करके (एतम्) इस मन्थकर्मानुष्ठान प्रकार को (उ) ही (उक्त्वा) कहकर (इति) यह भी (उवाच) कहा था कि (अपि) यदि (यः) जो कोई उपासक (एनम्) इस संस्रवसंस्कृत मन्थ को (शुष्के) सूखे (स्थाणौ) ठूंठ वृक्ष पर (निषिञ्चेत्) निश्चय सींचे तो उसमें (शाखाः) शाखायें (जायेरन्) उत्पन्न हो जायेंगी और (पलाशानि) पत्ते (प्ररोहेयुः) लग जायेंगे ॥९॥

विशेषार्थ– सुप्रसिद्ध पैङ्ग्य मधुकाचार्य ने अपने शिष्य भगवित्त ऋषि के पुत्र चूल ऋषि के लिये निश्चय करके इस मन्थकर्मानुष्ठान प्रकार का उपदेश देकर यह कहा था कि– यदि कोई उपासक इस संस्रवसंस्कृत मन्थ को सूखे ठूंठ वृक्ष के ऊपर डाल देगा तो उसमें शाखायें उत्पन्न हो जायेंगी और पत्ते निकल जायेंगे ॥९॥

एतमु हैव चूलो भागवित्तिर्जानकय आयस्थूणायान्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य एनं शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥१०॥

अन्वयार्थ– (ह) सुप्रसिद्ध (भागवित्तिः) भगवित्त ऋषि के पुत्र (चूलः) चूल नाम के आचार्य ने (अन्तेवासिने) अपने शिष्य (जानकये) जनक ऋषि के पुत्र (आयस्थूणाय) आयस्थूणऋषि के लिये (एव) निश्चय करके (एतम्) इस मन्थकर्मानुष्ठान प्रकार को (उ) ही (उक्त्वा) कहकर (इति) यह भी (उवाच) कहा था कि (अपि) यदि (यः) जो कोई उपासक (एनम्) इस संस्रवसंस्कृत मन्थ को (शुष्के) सूखे (स्थाणौ) ठूंठ वृक्ष पर (निषिञ्चेत्) निश्चय सीचें तो उसमें (शाखाः) शाखायें (जायेरन्) उत्पन्न हो जायेंगी और (पलाशानि) पत्ते (प्ररोहेयुः) लग जायेंगे ॥१०॥

विशेषार्थ– सुप्रसिद्ध भगवित्त ऋषि के पुत्र चूलाचार्य ने अपने शिष्य जनक ऋषि के पुत्र आयस्थूण नामक ऋषि के लिये निश्चय करके इस मन्थकर्मानुष्ठान प्रकार का उपदेश देकर यह कहा था कि– यदि कोई उपासक इस संस्रवसंस्कृत मन्थ को सूखे ठूंठ वृक्ष के ऊपर डाल देगा तो उसमें शाखायें उत्पन्न हो जायेंगी और पत्ते निकल जायेंगे ॥१०॥

एतमु हैव जानकिरायस्थूणः सत्यकामाय जाबालायान्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य एनं शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः

प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥११॥

अन्वयार्थ– (ह) सुप्रसिद्ध (जानकिः) जनकऋषि के पुत्र (आयस्थूणः) आयस्थूण नाम के आचार्य ने (अन्तेवासिने) अपने शिष्य (जाबालाय) जबाला के पुत्र (सत्यकामाय) सत्यकाम ऋषि के लिये (एव) निश्चय करके (एनम्) इस मन्थकर्मानुष्ठान प्रकार को (उ) ही (उक्त्वा) कहकर (इति) यह भी (उवाच) कहा था कि (अपि) यदि (यः) जो कोई उपासक (एनम्) इस संस्रवसंस्कृत मन्थ को (शुष्के) सूखे (स्थाणौ) ठूंठ वृक्ष पर (निषिञ्चेत्) निश्चय सीचें तो उसमें (शाखाः) शाखायें (जायेरन्) उत्पन्न हो जायेंगी और (पलाशानि) पत्ते (प्ररोहेयुः) लग जायेंगे ॥११॥

विशेषार्थ– सुप्रसिद्ध जनकऋषि के पुत्र आयस्थूणाचार्य ने अपने शिष्य जबाला देवी के पुत्र सत्यकाम ऋषि के लिये निश्चय करके इस मन्थकर्मानुष्ठान प्रकार का उपदेश देकर यह कहा था कि– यदि कोई उपासक इस संस्रवसंस्कृत मन्थ को सूखे ठूंठ वृक्ष के ऊपर डाल देगा तो निश्चय उसमें शाखायें उत्पन्न हो जायेंगी और पत्ते निकल जायेंगे ॥११॥

एतमु हैव सत्यकामो जाबालोऽन्तेवासिभ्य उक्त्वोवाचापि य एनं शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति तमेतं नापुत्राय नानन्तेवासिने वा ब्रूयात् ॥१२॥

अन्वयार्थ– (ह) सुप्रसिद्ध (जाबालः) जबाला के पुत्र (सत्यकामः) सत्यकाम नाम के आचार्य ने (अन्तेवासिभ्यः) अपने शिष्यों के लिये (एव) निश्चय करके (एतम्) इस मन्थकर्मानुष्ठान प्रकार को (उ) ही (उक्त्वा) कहकर (इति) यह भी (उवाच) कहा था कि (अपि) यदि (यः) जो कोई उपासक (एनम्) इस संस्रवसंस्कृत मन्थ को (शुष्के) सूखे (स्थाणौ) ठूंठ वृक्ष पर (निषिञ्चेत्) निश्चय सींचे तो उसमें (शाखाः) शाखायें (जायेरन्) उत्पन्न हो जायेंगी और (पलाशानि) पत्ते (प्ररोहेयुः) लग जायेंगे (तम्) उस परमप्रसिद्ध (एतम्) इस मन्थकर्मानुष्ठान प्रकार को (अपुत्राय) जो पुत्र न हो उसके लिये (न) नहीं (ब्रूयात्) उपदेश करे (वा) और (अनन्तेवासिने) जो शिष्य न हो उसके लिये (न) भी नहीं उपदेश करे ॥१२॥

विशेषार्थ– सुप्रसिद्ध जबाला देवी के पुत्र सत्यकामाचार्य ने अपने शिष्यों के लिये निश्चय करके इस मन्थकर्मानुष्ठान प्रकार का उपदेश देकर यह कहा था कि– यदि कोई उपासक इस संस्रवसंस्कृत मन्थ को सूखे ठूंठ वृक्ष के ऊपर डाल देगा तो

निश्चय उसमें शाखायें उत्पन्न हो जायेंगी और पत्ते निकल जायेंगे । उस इस मन्थकर्मानुष्ठान प्रकार का जो पुत्र या शिष्य न हो उसे कदापि उपदेश न करे । और अन्यत्र भी लिखा है– **तद्धैतत्सत्यकामो जाबालो गोश्रुतये वैयाघ्रपद्यायो-क्त्वोवाच । यद्यप्येनच्छुष्काय स्थाणवे ब्रूयाज्जायेरन्नेवास्मिञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥** (छा० उ० प्रपा० ५ खं० २ श्रु० ३) सुप्रसिद्ध जबाला के पुत्र सत्यकाम नाम के महर्षि ने व्याघ्रपाद नाम के ऋषि के पुत्र गोश्रुति नाम के अपने शिष्य के लिये उस इस प्राणदर्शन को उपदेश दे करके इस वक्ष्यमाण वचन को कहा कि– हे गोश्रुते ! यदि यह प्राणदर्शन सूखे हुए ठूंठ वृक्ष के लिये उपदेश दिया जाय तो इस सूखे हुए निर्जीव वृक्ष में अवश्य ही शाखायें उत्पन्न हो जायेंगी और पत्ते उन शाखाओं में उत्पन्न होकर बढ़ने लगेंगे ॥३॥ इस प्रकार यह मन्थकर्म निश्चित फल देनेवाला है ॥१२॥

चतुरौदुम्बरो भवति । औदुम्बरः स्रुव औदुम्बरश्चमस औदुम्बर इध्म औदुम्बर्या उपमन्थन्यौ दश ग्राम्याणि धान्यानि भवन्ति । व्रीहियवस्तिलमाषा अणुप्रियङ्गवो गोधूमाश्च मसूराश्च खाल्वाश्च खलकुलाश्च । तान् पिष्ट्वा दध्नि मधुनि घृत उपसिञ्चत्याज्यस्य जुहोति ॥१३॥

॥ इति षष्ठाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

अन्वयार्थ– (चतुरौदुम्बरः) यह मन्थकर्म चार गूलर के काठ के बने पात्रोंवाला (भवति) है (औदुम्बरः) गूलर की लकड़ी का बना हुआ (स्रुवः) स्रुवा और (औदुम्बरः) गूलर के काठ के बने हुए (चमसः) चमस तथा (औदुम्बरः) गूलर के काठ का (इध्मः) समिधा और (औदुम्बर्यौ) गूलर के काठ की बनी हुई (उपमन्थन्यौ) दो उपमन्थनियाँ होती हैं (दश) दस (ग्राम्याणि) ग्रामीण (धान्यानि) धान यानी अन्न (भवन्ति) मन्थ कर्म में उपयुक्त होते हैं वे ये हैं (व्रीहियवाः) धान, जौ (तिलमाषाः) तिल, उड़द (अणुप्रियङ्गवः) चीनाधान्य टंगुनी (च) और (गोधूमाः) गेहूँ (च) तथा (मसूराः) मसूर (च) और (खल्वाः) निष्पाव यानी बाल (च) और (खलकुलाः) कुरथी ये दस प्रकार के अन्न हैं (तान्) उन दसो अन्नों को (पिष्ट्वा) अच्छी तरह पीस कर और (दध्नि) दही में तथा (मधुनि) शहद में और (घृते) घी में (उपसिञ्चति) मिलाता है तदनन्तर (आज्यस्य) घृतका (जुहोति) अग्नि मुख में हवन करता है ॥१३॥

विशेषार्थ– अब इस मन्थ कर्म के लिये पात्र और अन्न आदि का विधान किया

जाता है। यह मन्थ कर्म चार गूलर के काठ के बने पदार्थों वाला है। यहाँ "उदुम्बर" शब्द गूलर वाचक है। क्योंकि लिखा है कि– **उदुम्बरो जन्तुफलो यज्ञाङ्गो हेमदुग्धकः ॥** (अमर० कां० २ व० ४ श्लो० २२) उदुम्बर १, जन्तुफल २, यज्ञाङ्ग ३, हेमदुग्धक ४, ये गूलर के नाम हैं ॥२॥ वे ये निम्नलिखित चार पदार्थ हैं। गूलर की लकड़ी का बना हुआ स्रुवा १, स्रुवा के विषय में लिखा है– **स्रुग्बाहुमात्रा विज्ञेया वृत्तस्तु प्रग्रहस्तयोः** (गोभिलस्मृ० प्रपा० १ श्लो० १०९) **स्रुवाग्रे घ्राणवत्खातंद्व्यङ्गुष्ठं परिमण्डलम् ॥११०॥** एक हाथ का स्रुवा ओर स्रुवा का वृत्त हाथ के अग्रभाग के समान जानना चाहिये ॥१०९॥ स्रुवा के अग्रभाग में दो अगूँठे के समान परिमण्डल और नासिका के समान खात होना चाहिये ॥११०॥ और गूलर के काठ का बना हुआ चमस पात्र होता है। चमस के विषय में लिखा है– **प्राशित्र हरणंचान्यत्कीर्तितं द्वादशाङ्गुलम् । चमसानां तु वक्ष्यामि दण्डाः स्युश्चतुरङ्गुलाः । त्र्यङ्गुलस्तु भवेत्स्कन्धो विस्तारश्चतुरङ्गुलः ॥** (आह्निकसू०) प्राशित्रहरण नाम का यज्ञपात्र और दूसरा चमस बारह अंगुल लम्बा कहा गया है। और चमस का दण्ड चार अंगुल का होना चाहिये। तथा तीन अंगुल का कन्धा होना चाहिये। और चौड़ा चार अंगुल का होना चाहिये। और गूलर के काठ की इध्म ३ यानी समिधा होती है। यहाँ "इध्म" शब्द समिधा वाचक है। क्योंकि लिखा है– **इन्धनं त्वेधः इध्ममेधः समित् स्त्रियाम् ॥** (अमर० कां० २ व० ४ श्लो० १३) इन्धन १, एध २, इध्म ३, एधस् ४, समित् ५ ये समिधा के नाम हैं ॥१३॥ समिधा के विषय में लिखा है– **नाङ्गुष्ठाधदिका ग्राह्या समित्स्थूलतया क्वचित् । न वियुक्ता त्वचा चैव न सकीटा न पाटिता ॥** गोभिलस्मृ० प्रपा० १ श्लो० ११४ ॥ **प्रादेशान्नाधिकान्यूना न सशाखा विशाखिका । न सपर्णा न निर्वीर्या होमेषु च विजानता ॥११५॥ प्रादेशद्वयमिध्मस्य प्रमाणं परिकीर्तितम् । एवं विधाभिरेवेह समिद्भिः सर्वकर्मसु ॥११६॥** अंगूठे से अधिक मोटी समिधा कभी भी नहीं ग्रहण करनी चाहिये बिना छिलके की तथा कीट से युक्त और फारी हुई समिधा भी होम में नहीं ग्रहण करनी चाहिये ॥११४॥ एक बीते से अधिक या न्यून समिधा नहीं हवन में ग्रहण करनी चाहिये, और होम की विधि को जानने वाले शाखायुक्त तथा जिसमें कोई शाखा न निकली हो और पत्ता से युक्त तथा बिना वीर्य की समिधा को होम में नहीं ग्रहण करते हैं ॥११५॥ और ईन्धन के काठ का प्रमाण दो बीता लम्बा कहा गया है इस प्रकार की समिधा से सब श्रौत, स्मार्त कर्म में हवन करें ॥११६॥ **निवासा ये च कीटानां लताभिर्वेतिष्टताश्च ये । अयज्ञिया गर्हिताश्च वल्मीकैश्च समावृताः ॥ शकुनीनां निवासश्च वर्जयेत्तान् महीरुहान् । अन्यांश्चैवं विधान् सर्वान् यज्ञियांश्च विवर्जयेत् ॥** (वायुपुरा०) जिस

वृक्ष में कीट निवास करते हों तथा लताओं से जो वेष्टित हो और यज्ञीय जो न हो तथा गर्हित हो और जिस पर पक्षी विशेष निवास करते हों तथा इस प्रकार के अन्य श्मशान आदि में उत्पन्न वृक्षों को समिधा के लिये यज्ञ में विशेष रूप से अवश्य त्याग देना चाहिये । गूलर की लकड़ी की बनी हुई बारह अंगुल की दो उपमन्थनी होती है ।४। और मन्थकर्म में दस ग्रामीण अन्न उपयुक्त होते हैं । ये निम्नलिखित दस अन्न सर्वौषध हैं । क्योंकि लिखा है– **अन्नं हि भूतानां ज्येष्ठम् । तस्मात्सर्वौषध-मुच्यते ॥** (तैत्ति० उ० व० २ अनु० २ श्रु० १) क्योंकि अन्न सब भूतों का उपकारक होने से श्रेष्ठ है उससे सर्वौषध कहलाता है ।।१।। व्रीहि यानी साठीधान १ क्योंकि लिखा है– **आशु व्रीहिः पाटलः स्यात् ॥** (अमर० का० २ व० ९ श्लो० १५) आशु १, व्रीहि २, पाटल ३, ये साठी धान के नाम हैं ।।१५।। और यव माने जौ २ । क्योंकि लिखा है– **शितशूकयवौ समौ ॥** (अमर० कां० २ व० ९ श्लो० १५) शितशूक १, यव २, ये जौ अन्न के नाम हैं ।।१५।। तथा तिल ३ और माष यानी उड़द ४ तथा अणु यानी चीना धान्य ५ । क्योंकि लिखा है– **व्रीहिभेदस्त्वणुः पुमान् ॥** (अमर० कां० २ व० ९ श्लो० २०) अणु १, चीना धान्य का नाम है ।।२०।। प्रियङ्गु माने टँगुनी ।६। क्योंकि लिखा है– **स्त्रियौ कङ्गुप्रियङ्गू द्वे ॥** (अमर० कां० २ व० ९ श्लो० २०) कङ्गु १, प्रियङ्गु, २ ये टँगुनी के नाम हैं ।।२०।। और गोधूम यानी गेहूँ ७ । क्योंकि लिखा है– **गोधूमः सुमनः समौ ॥** (अमर० कां० २ व० ९ श्लो० १८) गोधूम १, सुमन २, ये गेहूँ के नाम हैं ।।१८।। तथा मसूर ८ और खल्व यानी निष्पाव ९ क्योंकि लिखा है– **निष्पावो राजशिम्बीस्याद्वल्लकः श्वेतशिम्बिकः** (भावप्रकाश, धान्यवर्ग श्लो० ४५) निष्पाव को लोक में भटवांस कहते हैं (यह कुरथी की तरह काला होता है) तथा खलकुल माने कुलथी १० ये दस ग्राम सम्बन्धी अन्न हैं । इन सबों को अच्छी तरह पीस कर और गाय के दही तथा मधु गोघृत को उन पिष्टों के ऊपर सींच कर घृत की आहुति अग्निमुख में देवे । यहाँ पर "बृहदारण्यकोपनिषद्" के षष्टअध्याय का तृतीय श्रीमन्थब्राह्मण समाप्त हो गया ।।१३।।

॥ अथ चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

एषां वै भूतानां पृथिवी रसः पृथिव्या आपोऽपामोषधय ओषधीनां पुष्पाणि पुष्पाणां फलानि फलानां पुरुषः पुरुषस्य रेतः ॥ १ ॥

अन्वयार्थ–(वै) निश्चय करके (एषाम्) इन (भूतानाम) स्थावर, जङ्गम जीवों

का (पृथिवी) पृथ्वी (रसः) सार है (पृथिव्याः) पृथ्वी का (आपः) जल सार है (अपाम्) जल का (ओषधयः) गेहूँ, धान आदि ओषधियाँ परिणामरूप सार हैं (पुष्पाणाम्) फूलों का (फलानि) फल परिणाम रूप सार हैं (फलानाम्) फलों का (पुरुषः) परिणामरूप पुरुष का शरीर सार है और (पुरुषस्य) पुरुष के शरीर का (रेतः) परिणामरूप वीर्य सार है ॥ १ ॥

विशेषार्थ–पूर्वोक्त तीसरे ब्राह्मण में धनार्थी के लिए "श्रीमन्थ" कर्म का विधि पूर्वक वर्णन करके अब उत्तम सद्गुणयुक्त सन्तान उत्पन्न करने की युक्ति बताने के लिए "पुत्रमन्थ" कर्म का आरम्भ किया जाता है कि–निश्चय करके इस समस्त चराचर जीवों का पृथ्वी रस यानी सार है । पृथ्वी के विषय में लिखा है– **रूपरसगन्ध-स्पर्शवती** ॥ (वैशेषि० अ० २ आह्नि० १ सू० १) रूप, रस, गन्ध और स्पर्शवाली जो हो वही पृथ्वी है ॥१॥ शब्दः स्पर्शश्च रूपञ्च रसो गन्धश्च पञ्चमः । एते गुणाः पञ्चमभूमेः सर्वेभ्यो गुणवत्तराः ॥ (महाभारत वनप० उत्तरखं० अध्याय २११ श्लो० ५) शब्द १, स्पर्श २, रूप ३, रस ४ और गन्ध ५ ये सबसे श्रेष्ठ पाँच गुण पृथ्वी के हैं ॥५॥ और पृथ्वी का जल सार है । जल के विषय में लिखा है–रूपरसस्पर्शवत्यः द्रवाः स्निग्धाः ॥ (वैशेषि० अ० २ आह्नि० १ सू० २) शुक्लरूप तथा मधुर रस और शीतस्पर्शवाला तथा द्रव और स्निग्ध जो हो वही जल है ॥२॥ **शब्दः स्पर्शश्च रूपञ्च रसश्चापि द्विजोत्तम । अपामेते गुणा ब्रह्मन् कीर्तितास्तव सुव्रत ॥** (महाभारत वनप० उत्तरखं० अ० २११ श्लो० ६) हे द्विजोत्तम सुव्रत ब्राह्मण ! शब्द १, स्पर्श २, रूप ३ और रस ४ ये चार गुण जल का तेरे से मैंने कहा ॥६॥ तथा जल का ओषधि यानी अन्नादि रस है । ओषधि के विषय में लिखा है–ओषध्यः फलपाकान्ता बहुपुष्पफ-लोपगाः ॥ (मनु० अ० १ श्लो० ४६) जो बहुत फूल से युक्त हों और फल पक जानेपर नष्ट हो जाते हों, वे ही धान, जौ आदि ओषधि हैं ॥४६॥ ओषधियों का फूल सार है और फूलों का फल सार है । तथा फूलों के परिणामस्वरूप पुरुष का शरीर रस है और पुरुष के शरीर का परिणामरूप वीर्य रस यानी सार है । यह अन्यत्र भी लिखा है– **यदेतद्रेतः तदेतत्सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजः सम्भूतम्** ॥ (ऐतरे० उ० अ० २ खं० १ श्रु० १) जो यह पुरुष के देह में वीर्य है, वह यह पुरुष के समस्त अङ्गों से उत्पन्न हुआ तेज है। ॥१॥ इस प्रकार दूसरी श्रुति भी कहती है ॥१॥

स ह प्रजापतिरीक्षांचक्रे हन्तास्मै प्रतिष्ठां कल्पयानीति । सस्त्रियं ससृजे तां सृष्ट्वाऽध उपास्त । तस्मात्स्त्रियमध उपासीत । स एवं प्राञ्चं ग्रावाणमात्मान एव समुदपारयत्।

तेनैनामभ्यसृजत् ॥२॥

अन्वयार्थ–(ह) सुप्रसिद्ध (सः) उस (प्रजापतिः) प्रजापति ब्रह्मा ने (इति) ऐसा (ईक्षांचक्रे) विचार कियाकि (अस्मै) इस वीर्य की स्थापना के लिए (प्रतिष्ठाम्) किसीयोग्य प्रतिष्ठा को यानी आधार भूमि को (कल्पयानि) निर्माण करुँ इसके बाद (हन्त) हर्ष से (सः) उस सृष्टिकर्ता ब्रह्मा ने (स्त्रियम्) अपनी स्त्री को (ससृजे) बनाया (ताम्) उस स्त्री को (सृष्ट्वा) निर्माण करके (अधः) स्त्री के अधोभाग का (उपास्त) रात में सेवन किया (तस्मात्) इस लिए आजकल भी (स्त्रियम्) धर्मपत्नी के (अधः) अधोभाग की (उपासीत) उपासना करे (सः) उस प्रजापति ने (एतम्) उस (प्राञ्चम्) प्रकृष्टगति युक्त (ग्रावाणम्) पाषाण के समान कठोर (आत्मनः) अपने लिङ्ग को (एव) ही (समुदपारयत्) स्त्री की योनी की ओर अच्छी तरह प्रेरित किया (तेन)उस लिङ्ग से (एनाम्) इस अपनी स्त्री का (अभ्यसृजत्) अच्छी तरह से संसर्ग किया ॥२॥

विशेषार्थ– सुप्रसिद्ध प्रजापति– ब्रह्मा ने ऐसा विचार किया कि–मनुष्य अज्ञानी होता है, अपने पुत्रोत्पादक शुक्र को व्यर्थ बिगाड़ेगा । अतः इस वीर्य की स्थापना के लिये मैं किसी योग्य प्रतिष्ठा आधारभूमि का निर्माण करूँ । यहाँ "प्रजापति" शब्द चतुर्मुख ब्रह्मा वाचक है । क्योंकि लिखा है– **स्रष्टा प्रजापतिर्वेधा विधाता विश्वसृड्विधिः ॥** (अमर॰ कां॰ १ व॰ १ श्लो॰ १७) स्रष्टृ १, प्रजापति २, वेधस् ३, विधातृ ४ विश्वसृज् ५, विधि ६, ये चतुर्मुख ब्रह्मा के नाम हैं ॥१७॥ विचार करने के बाद उस सृष्टिकर्ता ब्रह्मा ने अपनी धर्मपत्नी को बनाया । और उस अपनी धर्मपत्नी को बनाकर उस स्त्री के अधोभाग की रात में हर्ष से उपासना की । क्योंकि लिखा है– ब्रह्मचर्यमेव तद्यद्रात्रौ रत्या संयुज्यन्ते ॥ (प्रश्नो॰ प्र॰ १ श्रु॰ १३) जो गृहस्थ पुरुष रात में अपनी भार्या के सहवास रूप रति करके संयुक्त होते हैं वह निश्चय करके ब्रह्मचर्य है ॥१३॥ इस कण्डिका में "हन्त" शब्द हर्ष वाचक है । क्योंकि लिखा है– **हन्त हर्षेऽनुकम्पायां वाक्यारम्भविषादयोः** ॥ (अमर॰ कां॰ ३ व॰ ३ श्लो॰ २४४) हर्ष में १, दया में २, वाक्यारम्भ में ३ और विषाद में ४ हन्त शब्द का प्रयोग होता है ॥२४४॥ मैथुनकर्म का ही नाम अधोभाग की उपासना है । इसलिये आजकल भी ऋतु काल पर रात में अपनी धर्मपत्नी के अधोभाग की उपासना करे । क्योंकि सब प्रजा श्रेष्ठ पुरुष के सदाचार– व्यवहार का अनुकरण करने वाली होती है । और अन्यत्र लिखा है– ऋतौ भार्यामुपेयात् ॥ (श्रुति॰) ऋतुकाल में अपनी स्त्री से सहवास करे । **ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयःषोडशस्मृताः ॥** (मनु॰ अ॰ ३ श्लो॰ ४४)

तासामाद्याश्चतस्रस्तु निन्दितेकादशी तथा । त्रयोदशी च शेषास्तु प्रशस्तास्तत्र रात्रयः ।।४५।। अमावस्याष्टमी चैव पौर्णमासी चतुर्दशी । ब्रह्मचारी भवेन्नित्यमप्यृतौ स्नातको द्विजः ।।४७।। स्त्रियों के प्रतिमास में स्वाभाविक सोलह रात ऋतुकाल कहलाता है इनमें पहली चार रात्रियाँ और ग्यारहवीं तथा तेरहवीं रात्रियाँ सर्वथा वर्जित हैं और शेष रात्रियाँ मैथुन कर्म में प्रशस्त हैं ।।४५।। और शेष दस रात्रियों में पर्व—एकादशी, अमावस्या अष्टमी पौर्णमासी और चतुर्दशी तिथि को छोड़कर पत्नी की रतिकामना से जो स्नातक—गृहस्थ द्विज अपनी स्त्री से मैथुन करता है वह गृहस्थाश्रम में रहता हुआ नित्य ब्रह्मचारी है ।।४७।। अब इस मैथुन कर्म में वाजपेय यज्ञ के फल प्राप्त होने के लिये वाजपेय की सम्पत्ति को दिखलाया जाता है कि—उस प्रजापति ने इस उत्कृष्ट गतिशील, लोढ़े के समान कठोर, अपनी जननेन्द्रिय को अपनी भार्या की योनि की ओर प्रेरित किया । यहाँ "ग्रावन्" शब्द पाषाण वाचक है क्योंकि लिखा हैं— **पाषाण-प्रस्तरग्रावोपलाश्मानः शिला दृषत् ॥** (अमर० कां० २ व० ३ श्लो० ४) पाषाण १, प्रस्तर २, ग्रावन् ३, उपल ४, अश्मन् ५, शिला ६, दृषद् ७, ये पत्थर के नाम हैं ।।४।। उस जननेन्द्रिय से इस अपनी स्त्री का अच्छी तरह से संसर्ग किया ।।२।।

तस्या वेदिरुपस्थो लोमानि बर्हिश्चर्माधिषवणे समिद्धो मध्यतस्तौ मुष्कौ । स यावान्वै वाजपेयेन यजमानस्य लोको भवति तावानस्य लोको भवति य एवं विद्वानधोपहासं चरति। आसां स्त्रीणां सुकृतं वृङ्क्ते । अथ य इदमविद्वान-धोपहासं चरत्याऽस्य स्त्रियः सुकृतंवृञ्जते ।।३।।

अन्वयार्थ— (तस्याः) उस स्त्री की (उपस्थः) उपस्थेन्द्रिय (वेदिः) वेदी है (लोमानि) वहाँ के रोएँ (बर्हिः) कुशा है (मध्यतः) स्त्री की योनि का मध्यभाग (समिद्धः) प्रज्वलित अग्नि है और (तौ) वे दोनों (मुष्कौ) योनि के पार्श्वभाग के युगल अण्डकोश यानी मांसखण्ड (चर्माधिषवणे) अधिषवण नाम से प्रसिद्ध चर्ममय सोम फलक हैं (यः) जो पुरुष (एवम्) इस प्रकार वाजपेयसंपत्ति को (विद्वान्) जानते हुए (अधोपहासम्) अपनी स्त्री से मैथुनकर्म (चरति) करता है तो (वै) निश्चय करके (वाजपेयेन) वाजपेय यज्ञ द्वारा (यजमानस्य) यज्ञ करने वाले यजमानको (यावान्)जितना (लोकः) पुण्यलोक (भवति)प्राप्त होता है (तावान्) उतना ही (लोकः) पुण्यलोक (अस्य) इस विद्वान् को मैथुन कर्म का फल (भवति) प्राप्त होता है और (सः) वह उपासक (आसाम्) इन (स्त्रीणाम्) स्त्रियों के (सुकृतम) पुण्यकर्म को (वृङ्क्ते)

अपनी ओर लेता है (अथ) और (यः) जो पुरुष (इदम्) इस वाजपेययज्ञसंपादन प्रकार को (अविद्वान्) नहीं जानते हुए (अधोपहासम्) मैथुन कर्म (चरति) करता है तो (स्त्रियः) स्त्रियाँ (अस्य) इस अज्ञानी के (सुकृतम्) पुण्यकर्म को (आ) अच्छी तरह (वृञ्जते) प्राप्त कर लेती हैं ॥३॥

विशेषार्थ– स्त्री की उपस्थेन्द्रिय यज्ञवेदी है और उपस्थेन्द्रिय के रोएँ कुशा हैं तथा स्त्री की योनि का मध्यभाग प्रज्वलित अग्नि है। और योनि के पार्श्वभाग में जो कठोर दो मांस खण्ड हैं उनको मुष्क यानी अण्डकोश कहते हैं, वे दोनों मुष्क ही "अधिषवण" नाम से प्रसिद्ध चर्ममय सोम फलक है। इस प्रकार सभी समानताएँ प्रसिद्ध हैं। यहाँ "मुष्क" शब्द अण्डकोश वाचक है। क्योंकि लिखा है– **मुष्कोऽणुकोशो बृषणः ॥** (अमर० कां० २ व० ६ श्लो० ७६) मुष्क १, अण्डकोश २, वृषण ३, ये अण्डकोश के नाम हैं ॥७६॥ जो कोई पुरुष इस प्रकार वाजपेय यज्ञ की सम्पत्ति को जानते हुए अपनी धर्मपत्नी के साथ मैथुन कर्म करता है तो निश्चय करके वाजपेय यज्ञ करने से यजमान को जितना पुण्यलोक प्राप्त होता है, उतना ही पुण्यलोक इस विद्वान् को मैथुन कर्म का फल प्राप्त होता है और वह ज्ञानी पुरुष इन स्त्रियों के पुण्यकर्म को अपनी ओर लेता है। और जो इस वाजपेय यज्ञसम्पादन की प्रणाली को नहीं जानता हुआ धींगा धींगी से मैथुन कर्म करता है तो उस अज्ञानी के पुण्यकर्म को स्त्रियाँ ही अच्छी तरह प्राप्त कर लेती हैं ॥३॥

एतद्ध स्म वै तद्विद्वानुद्दालक आरुणिराहैतद्ध स्म वै तद्विद्वान्नाको मौद्गल्य आहैतद्ध स्म वै तद्विद्वान् कुमारहारित आह। बहवो मर्या ब्राह्मणायना निरिन्द्रिया विसुकृतोऽस्माल्लोकात्प्रयन्ति य इदमविद्वांसोऽधोपहासं चरन्ति। बहु वा इदं सुप्तस्य वा जाग्रतो वा रेतः स्कन्दति ॥४॥

अन्वयार्थ– (वै) निश्चय करके (एतत्) इस मैथुन कर्म को (तत्) उस वाजपेय यज्ञ के महत्व से सम्पन्न (विद्वान्) जानने वाले (ह) सुप्रसिद्ध (आरुणिः) अरुण ऋषि के पुत्र (उद्दालकः) उद्दालक महर्षि (आहस्म) कहा करते थे और (वै) निश्चय करके (एतत्) इस मैथुन कर्म को (तत्) उस वाजपेय यज्ञ के महत्त्व से सम्पन्न (विद्वान्) जानने वाले (ह) सुप्रसिद्ध (मौद्गल्यः) मुद्गलऋषि के पुत्र (नाकः) नाक नाम के ऋषि (आह स्म) कहा करते थे तथा (वै) निश्चक करके (एतत्) इस मैथुन कर्म

को (तत्) उस वाजपेय यज्ञ के महत्त्व से सम्पन्न (विद्वान्) जानने वाले (ह) सुप्रसिद्ध (कुमारहारितः) कुमार हारित महर्षि (आहस्म) वक्ष्यमाण बात कहा करते थे कि (ये) जो मूर्ख लोग (इदम्) इस वाजपेय यज्ञ संपादन प्रकार को (अविद्वांसः) नहीं जानते हुए (अधोपहासम्) मैथुन कर्म (चरन्ति) करते हैं वे (बहवः) बहुत से (मर्याः) मरणधर्मी मनुष्य (ब्राह्मणायनाः) ब्राह्मण हैं अयन जिनके वे ब्रह्मबन्धु अर्थात् ब्राह्मण जाति का नाम लेकर जीने वाले (निरिन्द्रियाः) ज्ञान कर्मबल हीन (विसुकृतः) पुण्यकर्म रहित (अस्मात्) इस (लोकात्) लोक से बिना प्रयोजन सिद्ध किये हुए (प्रयन्ति) चले जाते हैं (वै) निश्चय करके ब्रह्मचर्य पालन पूर्वक पत्नी के ऋतुकाल की प्रतीक्षा करनेवाले पुरुष का (इदम्) यह (रेतः) वीर्य (बहु) अधिक (वा) अथवा थोड़ा (सुप्तस्य) सोते समय (वा) या (जाग्रतः) जागते समय (स्कन्दति) गिर जाता है तो उसे निम्नाङ्कित प्रायश्चित करना चाहिये ।।४।।

विशेषार्थ– निश्चय करके इस मैथुन कर्म को उस वाजपेय यज्ञ के महत्व से सम्पन्न जानते हुए सुप्रसिद्ध अरुणनन्दनआचार्य उद्दालकमहर्षि कहते थे । और निश्चय करके इस मैथुन कर्म को उस वाजपेययज्ञ के महत्त्व से सम्पन्न जानते हुए परम प्रसिद्ध मुद्गल पुत्र आचार्य नाक नाम के महर्षि कहते थे । तथा निश्चय करके इस मैथुन कर्म को उस वाजपेययज्ञ के महत्त्व से सम्पन्न जानते हुए सुप्रसिद्ध आचार्य कुमारहारित महर्षि भी कहते थे । वे तीनों महर्षि क्या कहते थे ? यह अब आगे बता रहे हैं कि–जो मूर्ख लोग इस वाजपेय यज्ञ सम्पादन प्रकार को नहीं जानते हुए भी मैथुन कर्म करते हैं, वे बहुत से मरणधर्मी मनुष्य, ब्राह्मण जाति का नाम लेकर जीनेवाले अधम ज्ञान कर्म, बल हीन तथा सुकृतशून्य जन इस लोक से बिना प्रयोजन सिद्ध हुए चले जाते हैं । अथवा मैथुन कर्म में आसक्त पुरुष परलोक से भ्रष्ट हो जाते हैं । बारंबार कुकर आदि योनि में जन्म लेते हैं । और ब्रह्मचर्य पालन पूर्वक धर्मपत्नी के ऋतुकाल की प्रतीक्षा करने वाले पुरुष का यदि किसी कारण से थोड़ा या अधिक निश्चय करके सोते समय अथवा जागते समय यह वीर्य गिर जाय तो वह निम्नांकित प्रायश्चित करे। यहाँ ''रेतम्'' शब्द वीर्यवाचक है । क्योंकि लिखा है– **शुक्रं तेजो रेतसी च बीज-वीर्येन्द्रियाणि च** ।। (अमर० कां० २ व० ६ श्लोक ६२) शुक्र १, तेजस् २, रेतस् ३, बीज ४, वीर्य ५, इन्द्रिय ६ ये धातु के नाम हैं ।।६२।। इस प्रकार स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है ।।४।।

तदभिमृशेदनु वा मन्त्रयेत । ''यन्मेऽद्यरेतः पृथिवी मस्कान्त्सीद्यदोषधीरप्यसरद्यदपः । इदमहं तद्रत आददे''

''पुनर्मामैत्विन्द्रियं पुनस्तेजः पुनर्भगः । पुनरग्निर्धिष्ण्या यथास्थानं कल्पन्तामि'' त्यनामिकांगुष्टाभ्यामादा यान्तरेणस्तनौ वा भ्रुवौ वा निमृज्यात् ॥५॥

अन्वयार्थ– (तत्) अपने गिरे हुए उस वीर्य को (अभिमृशेत्) वह पुरुष पहले हाथ से अच्छी तरह स्पर्श करे (वा) और (अनु) पश्चात् ताप करके (मन्त्रयेत्) अनुमन्त्रण करे यानी बारबार वक्ष्यमाण मन्त्र का जाप करे स्पर्श करते समय इस प्रकार कहे (यत्) जो (मे) मेरा (रेतः) वीर्य (अद्य) आज (पृथिवीम्) पृथ्वी पर (अस्कान्त्सीत्) स्रवित हो गया है और (यत्) जो वीर्य पहले (ओषधीः) धान, गेहूँ आदि अन्न पर (अपि) भी (असरत्) गिरा है तथा (यत्) जो वीर्य (अपः) जल में गिरा है (तत्) उस (इदम्) इस (रेतः) अपने गिरे हुए वीर्य को (अहम्) मैं पुनः (आददे) ग्रहण करता हूँ (इति) ऐसा कहकर (अनामिकांगुष्ठाभ्याम्) आनामिका और अंगूठे से उस पतित वीर्य को (आदाय) ग्रहण करके (स्तनौ) दोनों स्तनों के (अन्तरेण) बीच में (वा) अथवा (भ्रुवौ) दानों भौंहो के बीच में (निमृज्यात्) निश्चय करके लगावे (वा) और लगाते समय इस प्रकार कहे कि (पुनः) फिर (तेजः) तेज मुझको प्राप्त हो तथा (पुनः) फिर (भगः) सौभाग्य और ज्ञान वैराग्य मुझको प्राप्त हो (पुनः) फिर (अग्निः) अग्निदेव मुझको प्राप्त हो और (धिष्ण्याः) नियत स्थानवाले देवगुण पुनः मेरे शरीर में उस वीर्य को (यथास्थानम्) यथास्थान (कल्पन्ताम्) स्थापित कर दें ॥५॥

विशेषार्थ– वह उपासक पुरुष अपने गिरे हुए शुक्र को प्रथम हाथ से छूए और पश्चात् ताप करके अभिमन्त्रित करे । स्पर्श करते समय इस वक्ष्यमाण मन्त्र को बारंबार जप करे । ''यन्मेऽद्यरेतः पृथिवीमस्कान्त्सीद्यदोषधीरप्यसरद्यदपः । इदमहं तद्रेत आददे '' अब इस मन्त्र का अर्थ बतलाया जाता है कि–''आज जो मेरा वीर्य स्खलित होकर पृथ्वी पर गिरा है या अन्नादिक औषधि में भी गिरा है और जो जल में पड़ा है उस इस वीर्य को ग्रहण करता हूँ'' इस मन्त्र को पढ़कर अनामिका और अंगूठे से उस गिरे हुए वीर्य को उठा करके फिर ''पुनर्मामैत्विन्द्रियं पुनस्तेजः पुनर्भगः । पुनरग्निर्धिष्ण्या यथास्थानं कल्पन्ताम्'' इस मन्त्र को पढ़कर उस वीर्य को दोनों भौंहों के बीच में अथवा दोनों स्तनों के बीच मे लेप लेवे तत्पश्चात् उसी समय शुद्ध जल में स्नान कर गुरुमन्त्र का जप करे । इस कण्डिका में ''यन्मे'' से लेकर ''आददे'' तक वीर्य का आदान मन्त्र है और ''पुनर्माम्'' से लेकर ''कल्पन्ताम्'' तक मार्जन मन्त्र है । अब मार्जन मन्त्र का अर्थ बतलाया जाता है कि ''फिर वीर्य मुझको प्राप्त

हो । यहाँ "इन्द्रिय" शब्द वीर्यवाचक है । क्योंकि लिखा है— **शुक्रं तेजोरेतसी च बीजवीर्येन्द्रियाणि च ॥** (अमर० कां० २ व० ६ श्लो० ६२) १, तेजस् २, रेतस् ३, बीज ४, वीर्य ५, इन्द्रिय ६ ये वीर्य के नाम हैं— **तेजः दुर्जनैः अनभिभवनीयत्वम् ॥** (गीता रामानुजभाष्य अ० १६ श्लो० ३) दुष्ट पुरुषों के द्वारा न दबाये जा सकनेवाली शक्ति का नाम "तेज" है ।।३।। और फिर भग यानी समस्त ऐश्वर्य, पराक्रम, यश, श्री ज्ञान, वैराग्य मुझको प्राप्त हो । भग के विषय में लिखा है— **ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ।** (विष्णुपु० अंश० ६ अ० ५ श्लो० ७४) समस्त ऐश्वर्य तथा बल और यश तथा श्री और ज्ञान तथा वैराग्य इन छः वस्तुओं को "भग" ऐसा कहते हैं ।।७४।। फिर अग्निदेव मुझको प्राप्त हो और नियत स्थानवाले देवगण पुनः मेरे शरीर में उस वीर्य को यथास्थन स्थापित कर दें । यहाँ "धिष्ण्य" शब्द स्थान वाचक है । क्योंकि लिखा है— **धिष्ण्यं स्थाने गृहेभेऽग्नौ ॥** (अमर० कां० ३ व० ३ श्लो० १४५) स्थान में १, गृह में २, नक्षत्र में ३ तथा अग्नि में ४ धिष्ण्य शब्द का प्रयोग होता है ।।१५५।। इस प्रकार वीर्य पतन का प्रायश्चित्त समाप्त हो गया ।।५।।

अथ यद्युदक आत्मानं पश्येत्तदभिमन्त्रयेत "मयि तेज इन्द्रियं यशो द्रविणं सुकृतिमिति । श्रीर्हवा एषा स्त्रीणां यन्मलोद्वासाः । तस्मान्मलोद्वाससं यशस्विनीमभिक्रम्योपमन्त्रयेत ।।६।।

अन्वयार्थ— (अथ) अनन्तर (यदि) यदि कभी (उदके) जल में यह उपासक (आत्मानम्) अपनी छाया को (पश्येत्) देखे (तत्) तब (इति) इस प्रकार के (अभिमंत्रयेत) वक्ष्यमाणमंत्र को अच्छी तरह पढ़े (मयि) मुझ में (तेजः) तेज (इन्द्रियम्) वीर्य (यशः) कीर्ति (द्रविणम्) धन और (सुकृतम्) पुण्यकर्म प्रतिष्ठित हों (वै) निश्चय करके (स्त्रीणाम्) स्त्रियों के मध्य में (यद्) जो (मलोद्वासाः)रजस्वला स्त्री है (ह) सुप्रसिद्ध (एषा) यह स्त्री (श्रीः) गृहस्थ पुरुष की उत्कृष्टशोभा सम्पत्ति गृहलक्ष्मी है (तस्मात्) इस कारण से (मलोद्वाससम्) धौतवस्त्र के समान पापरहिता निर्मला (यशस्विनीम्) यशस्विनी ऋतुमती पत्नी के (अभिक्रम्य) समीप जाकर हम दोनों सन्तानोत्पादन के लिये क्रिया करेंगे ऐसा एकान्त में कहकर रात्रि में (उपमंत्रयेत) उपमन्त्र करे यानी विचार करे ।।६।।

विशेषार्थ—और यदि कभी किसी कारण से विद्वान् पुरुष जल में अपनी छाया

को देखे तो "मयि तेज इन्द्रिय यश द्रविरां सुकृतम्" इस मन्त्र को पढ़े । इससे जल में आत्मप्रतिविम्ब देखने का दोष छूट जाता है । अब "मयि तेजः" इत्यादि मन्त्र का अर्थ बतलाया जाता है कि–"तेज मुफ में प्रतिष्ठित हो । दुष्ट पुरुषों के द्वारा न दबाये जा सकने वाली शक्ति का नाम तेज है । और इन्द्रिय यानी वीर्य मुफमें प्रतिष्ठित हो । तथा कीर्ति मुफमें प्रतिष्ठित हो । यहाँ "यशस्" शब्द कीर्ति वाचक है । क्योंकि लिखा है–**यशः कीर्तिः समज्ञा च ॥** (अमर० कां १ व० ६ श्लो० ११) यशस् १, कीर्ति २, समज्ञा ३, ये कीर्ति के नाम हैं ।।११।। और "धन तथा पुण्य सत्कर्म मुफ में प्रतिष्ठित हों " यहाँ "द्रविरा" शब्द धन वाचक है । क्योंकि लिखा है–**द्रविरां तु बलं धनम् ॥** (अमर० कां० ३ व० ३ श्लो० ५२) बल तथा धन को द्रविरा कहते हैं ।।५२।। "इति" शब्द यहाँ मंत्र समाप्ति द्योतक है । करुणामयी श्रुति उपदेश देती है कि–निश्चय करके स्त्रियों के मध्य में जो रजस्वाला स्त्री है वह सुप्रसिद्ध यह स्त्री गृहस्थ पुरुष की उत्कृष्टशोभा–संपत्ति–गृहलक्ष्मी है । इस काररा से ऋतु काल की तीन रात बीतने पर जब पत्नी स्नान करके शुद्ध हो जाय तब "ऋतौभार्यामुपेयात्" इस ऋतुमती यशस्विनी विवाहिता स्त्री के पास रात में जाकर एकान्त में "हम दोनों "पुत्रोत्पादन के लिये क्रिया करेंगे" ऐसा कहकर पतिदेव आमन्त्ररा करे । क्योंकि अन्यत्र भी लिखा है –**ततः स्त्रियं सुस्नातां चतुर्थेऽहनि धौतवाससमलङ्कृतां कृतमङ्गल-स्वस्तिवाचनां भर्ता पश्येत् ॥** (धन्वन्तरी०) चौथे दिन सुन्दर स्नान की हुई और स्वच्छ वस्त्र पहनी हुई सुन्दर अलंकृत और मङ्गल तथा स्वस्तिवाचन की हुई पत्नी को पति अवलोकरन करे– **स्तोकां तु न स्त्रियं गच्छेन्नातुरां रजस्वलाम् । नातिबालां न कुपतितामप्रशस्तां च गर्भिणीम् ॥** (आह्निकसू० भाग० ८) छोटी, रोगी, रजस्वला, अत्यन्तबाल्यावस्थावाली खिसिआई हुई आचरण भ्रष्ट और गर्भवाली स्त्री को रति के लिये कभी भी नहीं प्राप्त करे ।।८।। और विवाहिता स्त्री को निरादर कर कभी भी अपनी इन्द्रिय को कहीं अन्यत्र दूषित न करे ।।६।।

सा चेदस्मै न दद्यात्काममेनामवक्रीरागीयात् । सा चेदस्मै नैव दद्यात्काममेनां यष्ट्या वा पारिाना वोपहत्यातिक्रामे "दिन्द्रियेराा ते यशसा यश आदद" इत्ययशा एव भवति ॥७॥

अन्वयार्थ–(सा) वह विवाहिता भार्या (चेत्) यदि किसी कारणवश (अस्मै) इस पति के लिये (न) नहीं (दद्यात्) अपने वदन को दान करे तो (एनाम्) इस धर्मपत्नी को (कामम्) इच्छा के अनुसार (अवक्रीणीयात्) द्रव्य, वस्त्र, आभूषरा आदि

देकर अपने वश में लावे इस पर भी (सा) वह धर्मपत्नी (चेत्) यदि (एव) निश्चय करके (अस्मै) हठ से इस पति के लिये (न) नही (दद्यात्) अपने शरीर को दान करे तो वह पति (एनाम्) इस धर्मपत्नी को (कामम्) अपनी इच्छा के अनुसार (यष्ट्या) दण्ड का भय दिखला कर (वा) अथवा (पाणिना) हाथ से उसे पकड़ कर अच्छी तरह समझाकर (उपहत्य) उसके शरीर के पास जाकर (अतिक्रमेत्) वलपूर्वक उसके साथ समागम करे (वा) और (यशसा) यशः स्वरूप (इन्द्रियेण) इन्द्रिय से (ते) तेरे (यशः) यश को (आददे) मैं छीन लेता हूँ (इति) इस मन्त्र का उच्चारण करे तो (एव) निश्चय करके वह स्त्री उसी रोज से (अयशाः) अयशस्विनी (भवति) हो जाती है अर्थात् रजस्वला पुनः नहीं होती है ॥७॥

विशेषार्थ—वह विवाहिता भार्या लज्जा अथवा हठवश सन्तानोत्पत्ति के लिये पति को मैथुन न करने दे तो पति उसकी इच्छा के अनुसार द्रव्य, वस्त्र, भूषण आदि देकर सुवचनों से निज वश में लावे । इतने पर भी यदि पति के अनुकूल वह पत्नी न होवे तो वह पति अपनी इच्छा के अनुसार दण्ड का भय दिखलाकर अथवा हाथ से भार्या के हाथ को पकड कर अच्छी तरह समझावे । इतने पर भी यदि वह भार्या अनुकूल न होवे तो उस पत्नी के अत्यन्त समीप जाकर उसके साथ बलपूर्वक मैथुन के लिये प्रयत्न करे । यदि यह भी सम्भव न हो तो कहे कि—मैं मन्त्र द्वारा तुझे रजस्वला नहीं होने दूँगा । ऐसा कहकर उस दुष्ट भार्या के निकट जाय और "इन्द्रियेण ते यशसा यश आददे" मैं अपनी यशः स्वरूप इन्द्रिय द्वारा तेरे यश को ले लेता हूँ" इस मन्त्र का उच्चारण करे तो उसी दिन से वह स्त्री निश्चय करके रजस्वला नहीं होती है, बन्ध्या अथवा दुर्भगा हो जाती है ॥७॥

सा चेदस्मै दद्यादि "न्द्रियेण ते यशसा यश आदधामीति" यशस्विनावेव भवतः ॥८॥

अन्वयार्थ—(सा) वह विवाहिता भार्या (चेत्) यदि (अस्मै) इस पति के लिये (दद्यात्) अपने शरीर को दान करे तो (यशसा) यश रूप (इन्द्रियेण) इन्दिय से (ते) तेरे में (यशः) यश को (आदधामि) मैं स्थापना करता हूँ (इति) इस मन्त्र को उच्चारण करते हुए भार्या के पास जाय तो (एव) निश्चय करके (यशस्विनौ) वे दोनो दम्पति लोक में यशस्वी यानी सन्तानवान् (भवतः) होते हैं ॥८॥

विशेषार्थ—वह धर्मपत्नी यदि सन्तानार्थ अपने को पति के लिये समर्पण करे तो पति "इन्द्रियेण ते यशसा यश आदधामि" मैं यशोरूप इन्द्रिय द्वार तुझ में यश

को स्थापना करता हूँ" इस मन्त्र का पाठ करते हुए अपनी स्त्री के समीप जाय तो वे दोनों दम्पति लोक में यशस्वी यानी सन्तानवान् अवश्य होते हैं ।।८।।

स यामिच्छेत्कामयेत मेति तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखं संधाय । उपस्थमस्या अभिमृश्य जपे, "दङ्गादङ्गात्संभवसि हृदयादधिजायसे । स त्वमङ्गकषायोऽसि दिग्धविद्धमिव मादयेमाममूं मयी" ति ।।९।।

अन्वयार्थ– (सः) वह उपासक पुरुष (याम्) जिस वाजपेय यज्ञ की संपत्ति अपनी धर्मपत्नी को (इति) ऐसी (इच्छेत्) इच्छा करे कि यह स्त्री (मा) मुझ को (कामयेत) हृदय से चाहे तो वह (तस्याम्) उस विवाहिता स्त्री की योनि में (अर्थम्) अपनी गमनशील जननेन्द्रिय को (निष्ठाय) स्थापित करके और (मुखेन) पत्नी के मुख से (मुखम्) अपने मुख को (संधाय) मिलाकर (अस्याः) उस भार्या के (उपस्थम्) उपस्थभाग का (अभिमृश्य) अच्छी तरह हाथ से स्पर्श करते हुए (जपेत्) वक्ष्यमारा मन्त्र का जप कर (अङ्गात्) हे कामदेव तू अङ्ग (अङ्गात्) अङ्ग से (सम्भवसि) प्रकट होता है (हृदयात्) हृदय के संकल्प से (अधिजायसे) तू उत्पन्न होता है (सः) वह (त्वम्) तू (अङ्गकषायः) मेरे अङ्गों का पवित्र कषाय रस (असि) है वह तू (दिग्धविद्धम) विष लगे हुए बारा से छेदे हुए मृग के (इव) समान (इमाम्) इस (अमूम्) मेरी स्त्री को (मयि) मेरे प्रति (मादय) उन्मत्त बना दो (इति) यही मेरी प्रार्थना है ।।९।।

विशेषार्थ– वह पूर्व मन्थोपासक पूर्वोक्त वाजपेय यज्ञ की संपत्ति स्वरूपा जिस विवाहिता स्त्री के सम्बन्ध में ऐसी इच्छा करे कि–यह भार्या मुझ को हृदय से चाहना करे तो वह उपासक अधोलिखित क्रिया को करे । अब क्रिया बतलायी जाती है कि –उपासक पुरुष धर्म पत्नी की योनि में अपनी गमनशील जननेन्द्रिय को स्थापित करेक और उस जाया के मुख से अपना मुख मिलाकर उस पत्नी के उपस्थभाग का हाथ से स्पर्श करते हुए "अङ्गादङ्गात्संभवसि हृदयादधिजायसे । स त्वमङ्गकषायोऽसि दिग्धविद्धमिव मादयेमाममूं मयि" इस मन्त्र का जाप करे । अब आगे मन्त्र का अर्थ बतलाया जाता है । "हे कामदेव तुम मेरे शरीर के प्रत्येक अवयव से प्रकट होता है । यहाँ "अंग" शब्द अवयव वाचक है । क्योंकि लिखा है–**अङ्गं प्रतीकोऽवयोऽपघनः।।** (अमर॰ कां॰ २ व॰ ६ श्लो॰ ७०) अङ्ग १, प्रतीक २, अवयव ३, अपघन ४ , ये अङ्ग के नाम हैं ।।७०।। और तुम पवित्र "हृदय के संकल्प से

उत्पन्न होता है । वह तुम मेरे अङ्गों का पवित्र कषाय रस हो । विष लगाये हुए वाण से घायल हुए हरिण के समान तुम मेरी इस धर्मपत्नी को मरे प्रति उन्मत्त बना दो अर्थात् इसको मेरे अधीन कर दो" । यहाँ "दिग्ध" शब्द विष लगाया हुआ वाण वाचक है और "विद्ध" शब्द घायल वाचक है । क्योंकि लिखा है–**विषाक्ते दिग्धलिप्तकौ ॥** (अमर० कां० २ व० ८ श्लो० ८८) विषाक्त १, दिग्ध २, लिप्तक ३, ये विषयुक्त वाण के नाम हैं ॥८८॥ **वेधितच्छिद्रितौ विद्धे ॥** अमर० कां० ३ व० १ श्लो ९९ वेधित १, छिद्रित २, विद्ध ३ ये छेदे हुये के नाम हैं ॥९९॥ इस प्रकार नवमी कण्डिका का अर्थ यहाँ समाप्त हो गया ॥९॥

अथ यामिच्छेन्न गर्भं दधीतेति । तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखं संधायाभिप्राण्यापान्या "दिन्द्रियेण ते रेतसा रेत आदद" इत्यरेता एव भवति ॥१०॥

अन्वयार्थ– (अथ) और यदि यह उपासक पुरुष (याम्) जिस अपनी धर्मपत्नी को (इति) ऐसी (इच्छेत्) इच्छा करे कि यह स्त्री (गर्भम्) गर्भ को (न) नहीं (दधीत) धारण करे तो वह (तस्याम्) उस विवाहिता स्त्री की योनि में (अर्थम्) अपनी गमनशील जननेन्द्रिय को (निष्ठाय) स्थापित करके और (मुखेन) पत्नी के मुख से (मुखम्) अपने मुख को (संधाय) मिलाकर (अभिप्राण्य) अच्छी तरह श्वास ग्रहण करके (अपन्यात्) परित्याग कर दे और कहे कि (इन्द्रियेण) इन्द्रिय स्वरूप (रेतसा) वीर्य के द्वारा (ते) तेरे (रेतः) रेतस् को (आददे) मैं ग्रहण करता हूँ (इति) ऐसा करने पर वह (एव) निश्चय करके (अरेताः) रेतो हीन (भवति) हो जाती है अर्थात् गर्भिणी नहीं होती है ॥१०॥

विशेषार्थ– विवाह करने के पश्चात् यदि कोई उपासक केवल परोपकार में समय बिताने की प्रबल इच्छा से सन्तानोत्पति न करना चाहे तो वह निम्नाङ्कित क्रिया करे। अब गर्भनिरोध की क्रिया बतायी जाती है कि–वह उपासक पुरुष अपनी जिस धर्मपत्नी के विषय में ऐसी इच्छा करे कि यह मेरी स्त्री गर्भवती न हो तो वह पुरुष उस धर्मपत्नी की योनि में अपनी गमनशील जननेन्द्रिय को स्थापित करके और उस भार्या के मुख से अपना मुख मिलाकर पहले अच्छी तरह श्वास ग्रहण करके पश्चात् "इन्द्रियेण ते रेतसा रेत आददे" "इन्द्रियस्वरूप वीर्य के द्वारा मैं तेरे रेतस् को ले लेता हूँ" इस मन्त्र को पढ़ते हुए श्वास का परित्याग करे। ऐसा करने से वह स्त्री रेतोहीन हो जाती है अर्थात् वह स्त्री कभी भी गर्भवती नहीं होती है ॥१०॥

अथ यामिच्छेन्न गर्भं दंधीतेति । तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखं संधायापान्याभिप्राण्या"दिन्द्रियेण ते रेतसा रेतआदधामी" ति गर्भिण्येव भवति ॥११॥

अन्वयार्थ– (अथ) और यदि वह उपासक पुरुष (याम्) जिस अपनी धर्मपत्नी को (इति) ऐसी (इच्छेत्) इच्छा करे कि यह स्त्री (गर्भम्) गर्भ को (दधीत) धारण करे तो वह (तस्याम्) उस विवाहिता स्त्री की योनि में (अर्थम्) अपनी गमनशील जननेन्द्रिय को (निष्ठाय) स्थापित करके और (मुखेन) पत्नी के मुख से (मुखम्) अपने मुखको (संधाय) मिलाकर (अपान्य) श्वास परित्याग करके (अभिप्राण्यात्) अच्छी तरह श्वास ग्रहण करे और कहे कि (इन्द्रियेण) इन्द्रियस्वरूप (रेतसा) वीर्य से (ते) तेरे में (रेतः) रेत को (आदधामि) मैं स्थापित करता हूँ (इति) ऐसा करने पर वह स्त्री (एव) निश्चय करके (गर्भिणी) गर्भवाली (भवति) हो जाती है ॥११॥

विशेषार्थ– और उपासक पुरुष जिस अपनी धर्मपत्नी के विषय में ऐसी इच्छा करे कि यह मेरी स्त्री गर्भवती हो तो वह पुरुष उस धर्मपत्नी की योनि में अपनी गमनशील जननेन्द्रिय को स्थापित करके और उस भार्या के मुख से अपना मुख मिलाकर पहले श्वास परित्याग करके पश्चात् "इन्द्रियेण ते रेतसा रेत आदधामि" "इन्द्रियस्वरूप वीर्य के द्वारा तेरे में मैं वीर्य को स्थापित करता हूँ" इस मन्त्र को पढ़ता हुआ श्वास को अच्छी तरह ग्रहण करे। ऐसा करने से वह स्त्री अवश्य ही गर्भवती होती है। यहाँ "गर्भिणी" शब्द गर्भवाली स्त्री का वाचक है। क्योंकि लिखा है– आपन्नसत्त्वा स्याद्गुर्विण्यन्तर्वत्नी च गर्भिणी॥ (अमरकोश कां॰ २ व॰ ६ श्लो॰ २२) आपन्नसत्त्वा १, गुर्विणी २, अन्तर्वत्नी ३, गर्भिणी ४, ये गर्भवाली स्त्री के नाम हैं॥ २२ ॥ और अन्यत्र लिखा है– **तामुदुह्य यथर्तुप्रवेशनम् ॥** (पारस्करगृ॰ कां॰ १ कं॰ ११ सू॰ ७) **यथा कामी वा काममाविजनितोः संभवामेति वचनात् ॥८॥ अथास्यै दक्षिणांसमधिहृदयमालभते। "यत्ते सुसीमे हृदयन्दिवि चन्द्रमसि श्रितम्। वेदाहन्तन्मान्तद्विद्यात्पश्येम शरदः शतञ्जीवेम शरदः शतं शृणुयाम शरदः शतम्" ॥९॥ एवमत ऊर्ध्वम् ॥१०॥** उस वधू को विवाह करे जब रजोदर्शन हो तब संभोग करे ॥७॥ अथवा जब स्त्री को कामना हो तब भोग करे जब तक गर्भ की सम्भावना न हो, इस प्रकार की आज्ञा से रजोदर्शन के नियम में विकल्प है॥ सम्भोग करने के पश्चात् स्त्री के दहिने कन्धे के ऊपर से बाहू ले जाकर "यत्ते सुसीमे हृदयन्दिवि चन्द्रमसि श्रितम्"। "वेदाहन्तन्मान्तद्विद्यात्पश्येम शरदः शतञ्जीवेम शरदः शतं शृणुयाम शरदः

शतम्" इस मन्त्र को पढ़ते हुए स्त्री के हृदय को छुवे ।।९।। इसी प्रकार इसके पश्चात् भी जब जब सम्भोग करे तब तब स्त्री का हृदय स्पर्श करे ।।१०।। हृदय स्पर्श का नाम गर्भाधान संस्कार है ।।११।।

अथ यस्य जायायै जारः स्यात्तं चेद् द्विष्यादामपात्रेऽग्निमुपसमाधाय प्रतिलोमं शरबर्हिस्तीर्त्वा तस्मिन्नेताः शरभृष्टीः प्रतिलोमाः सर्पिषाऽक्ताजुहुया "न्मम समिद्धेऽहौषीः प्राणापानौ त आददेऽसाविति । मम समिद्धेऽहौषीः पुत्रपशूँस्त आददेऽसाविति । मम समिद्धेऽहौषीरिष्टासुकृते त आददेऽसाविति । मम समिद्धे ऽहौषीराशापराकाशौ त आददेऽसाविति। स वा एष निरिन्द्रियो विसुकृतोऽस्माल्लोकात्प्रैति यमेवं विद् ब्राह्मणः शपति। तस्मादेवंविच्छ्रोत्रियस्य दारेणनोपहासमिच्छेत् । उत ह्येवंवित्परो भवति ।।१२।।

अन्वयार्थ– (अथ) और (यस्य) जिस गृहस्थ विद्वान् की (जायायै) पत्नी का (जारः) कोई उपपति (स्यात्) हो तो (चेद्) यदि (तम्) उस उपपति से उसका वह पति (द्विष्यात्) द्वेष करे तो वक्ष्यमाण उपाय करे कि (आमपात्रे) मिट्टी के कच्चे बर्तन में (अग्निम्) अग्नि को (उपसमाधाय) पञ्चभूसंस्कारपूर्वक स्थापन करके (प्रतिलोमम्) विपरीतक्रम से यानी दक्षिणाग्र या पश्चिमाग्र करके (शरबर्हिः) शरकण्डों के कुशों को (तीर्त्वा) बिछाकर (तस्मिन्) उस अग्नि में (शरभृष्टिः) मूंज की शर समान सीकों को (प्रतिलोमाः) उलटा करके (सर्पिषा) घी से (अक्ताः) भिंगो कर (एताः) इन चार आहुतियों को (जुहुयात्) हवन कर दे और यह मन्त्र पढ़े (मम) अरे दुष्ट तूने मेरी (समिद्धे) यौवन आदि से प्रकाशित पत्नीरूप प्रज्वलित अग्नि में (अहौषीः) वीर्य की आहुति डाली है (इति) इस कारण से (ते) तुझ अपराधी के (प्राणापानौ) प्राण और अपान को (आददे) मैं ले लेता हूँ ऐसा कह कर फट् शब्द का उच्चारण करके पहली आहुति दे और आहुति के अन्त में (असौ) असौ इस प्रकार बोलकर शत्रु के नाम का उच्चारण करे (मम) अरे दुष्ट मेरी (समिद्धे) यौवन आदि से प्रकाशित पत्नीरूप प्रज्वलित अग्नि में (अहौषीः) तूने वीर्य की आहुति डाली है (इति) इस कारण से (ते) तुझ अपराधी के (पुत्रपशून्) पुत्रों को और गाय, भैंस,

हाथी, घोड़ा आदि पशुओं को (आददे) मैं ले लेता हूँ ऐसा कहकर फट् शब्द का उच्चारण करके दूसरी आहुति दे और आहुति के अन्त में (असौ) असौ इस प्रकार बोलकर शत्रु के नाम का उच्चारण करे (मम) अरे दुष्ट मेरी (समिद्धे) यौवन आदि से प्रकाशित पत्नीरूप प्रज्वलित अग्नि में (अहौषीः) तूने वीर्य की आहुति डाली है (इति) इस कारण से (ते) तुझ अपराधी के (इष्टासुकृते) यज्ञ और पुण्य को (आददे) मैं ले लेता हूँ ऐसा कहकर फट् शब्द का उच्चारण करके तीसरी आहुति दे और आहुति के अन्त में (असौ) इस प्रकार बोलकर शत्रु के नाम का उच्चारण करे (मम) अरे दुष्ट मेरी (समिद्धे) यौवन आदि से प्रकाशित स्त्री रूप प्रज्वलित अग्नि में (अहौषीः) तूने वीर्य की आहुति डाली है (इति) इस कारण से (ते) तुझ अपराधी के (आशापराकाशौ) प्रार्थना को और प्रतिज्ञापूर्ति की प्रतीक्षा को (आददे) मैं ले लेता हूँ ऐसा कहकर फट् शब्द का उच्चारण करके चौथी आहुति दे और आहुति के अन्त में (असौ) इस प्रकार बोलकर शत्रु के नाम का उच्चारण करे (एवंविद्) इस प्रकार जानने वाला (ब्राह्मणः) ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण (यम्) जिस (दुराचारी) को (शपति) शाप देता है (सः) वह (एषः) यह लम्पट दुष्ट (वै) निश्चय करके (निरिन्द्रियः) इन्द्रिय रहित एवं (विसुकृतः) पुण्यकर्मशून्य हो (अस्मात्) इस (लोकात्) लोक से (प्रैति) प्रस्थान कर जाता है (तस्मात्) इस कारण से (एवम्) ऐसे (विद्) ज्ञानी (श्रोत्रियस्य) श्रोत्रिय ब्राह्मण की (दारेण) स्त्री के साथ कदापि (उपहासम्) भोग की (न) नहीं (इच्छेत्) इच्छा करे (उत) और (एवंवित्) इस प्रकार अभिचारकर्म को जाननेवाला विद्वान् (हि) निश्चय करके (परः) शत्रु (भवति) हो जाता है॥१२॥

विशेषार्थ-- अब व्यभिचारियों के विनाश के लिए अभिचार कर्म बतलाया जाता है कि--जिस गृहस्थ विद्वान की धर्मपत्नी का कोई उपपति हो तो उस उपपति से उस स्त्री का पति द्वेष करे और इसकी निवृत्ति के लिये वह पति वक्ष्यमाण उपाय करे। यहाँ "जाया" शब्द भार्यावाचक है और "जार" शब्द उपपतिवाचक है। क्योंकि लिखा है--**भार्या जायाथ पुंभूम्नि दाराः स्यात्॥** (अमरकोश कां० २ व० ६ श्लो० ६) भार्या १, जाया २, दारा ३, ये व्याही हुई स्त्री के नाम हैं ॥६॥ **जारस्तूपपतिः समौ॥** (अमर० कां० २ व० ६ श्लो० ३५) जार १, उपपति २ ये जिसके साथ व्याही हो उससे अन्य से मैथुन करती हो तो उस पति के नाम हैं॥३५॥ अब उपाय बतलाया जाता है कि-- वह पति मिट्टी के कच्चे पात्र में पञ्चभूसंस्कारपूर्वक अग्नि को स्थापन करके विपरीत क्रम से अर्थात् उलटा दक्षिणाग्र या पश्चिमाग्र करके सरकण्डे के कुशों को बिछाकर उनकी बाणाकार सींको को घी से भिंगोकर उनके अग्रभाग को उलटा करके उस स्थापित अग्नि में उनकी चार आहुतियाँ दे। मूंज के बाण के समान जो सींक होती

है उसे शरभृष्टि कहते हैं। उन आहुतियों के मन्त्र इस प्रकार हैं "मम समिद्धेऽहौषीः प्राणापानौ त आददे" अरे यौवन आदि से प्रकाशित मेरी धर्मपत्नी रूप प्रज्वलित अग्नि में तूने वीर्य की आहुति डाली है, अतः मैं तुझ अपराधी के प्राण और अपान को ले लाता हूँ" इस मन्त्र को पढ़कर "फट्" शब्द का उच्चरण करके पहली आहुति दे। और आहुति के अन्त में "असौ मम शत्रुः इस प्रकार बोलकर शत्रु के नाम का उच्चारण करे। प्राण और अपान के विषय में लिखा है– पायूपस्थेऽपानं चक्षुः श्रोत्रे मुखनासिकाभ्यां प्राणः स्वयं प्रतितिष्ठते।। (प्रश्नोप० प्रश्न ३ श्रु० ५) मुख्य प्राण मलद्वार और मूत्रद्वार में अपान को रखता है अपने आप प्राण, मुख और नासिका से निकलता हुआ नेत्र और श्रोत्र में स्थित होता है।।५।। और "मम समिद्धेऽहौषीः पुत्रपशूँस्त आददे" अरे यौवन आदि से प्रकाशित मेरी धर्मपत्नी रूप प्रज्वलित अग्नि में तूने वीर्य की आहुति डाली है अतः मैं तुझ अपराधी के पुत्र और पशुओं को ले लेता हूँ" इस मन्त्र को पढ़कर "फट्" शब्द का उच्चरण करके दूसरी आहुति दे। और आहुति के अन्त में "असौ मम शत्रुः" इस प्रकार बोलकर शत्रु के नाम का उच्चारण करे। पशु के विषय में लिखा हैं– सप्त ग्राम्याः पशवः सप्तारण्याः।। (श्रुति) सात ठो ग्राम में होनेवाले और सात ठो वन में होनेवाले पशु प्रसिद्ध हैं। उन सातों का नाम विष्णुपुराण में स्पष्ट लिखा है– **गौरजः पुरुषो मेषश्चाश्वाश्वतरगर्दभाः। एतान्ग्राम्यान्पशूनाहुरारण्यांश्च निबोध मे ॥** (विष्णुपु० अंश० १ अ० ५ श्लोक ५१) **श्वापदा द्विखुरा हस्तिवानराः पक्षिपञ्चमाः। औदकाः पशवः षष्ठा सप्तमाश्च सरीसृपाः ॥५२॥** गौ १, बकरा २, पुरुष ३, भेंड़ा ४, घोड़ा ५, खच्चर ६, गदहा ७ इन सात को ग्राम्य पशु महर्षि सब कहते हैं। और अब आरण्य सात पशुओं को तुम मुझसे जान लो। कुक्कुर १, दो खुरवाले २, हाथी ३, वानर ४, पक्षी ५, औदक जीव ६ और सरीसृप ७ ये सात वन में होनेवाले पशु हैं ॥५२॥ तथा "मम समिद्धेऽहौषीरिष्टासुकृतेत आददे" अरे यौवन आदि से प्रकाशित मेरी धर्मपत्नीरूप प्रज्वलित अग्नि में तूने वीर्य की आहुति डाली है अतः मैं तुझ अपाराधी के इष्ट को और सुकृत यानी पूर्त को ले लेता हूँ" इस मन्त्र को पढ़कर "फट्" शब्द का उच्चारण करके तीसरी आहुति दे। और आहुति के अन्त में "असौ मम शत्रुः" इस प्रकार बोलकर शत्रु के नाम का उच्चारण करे। यहाँ इष्ट के साहचार्य से "सुकृत" शब्द का अर्थ पूर्त होता है। और इष्ट तथा पूर्त के विषय में लिखा है–**अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चैव पालनम्। आतिथ्यं वैश्वदेवश्च इष्टमित्यभिधीयते ॥** (अग्निसं० श्लो० ४३) अग्निहोत्र १, तपस्या २, सत्यभाषण ३, वेदों का पालन ४, अतिथिसत्कार ५ तथा वैश्वदेवकर्म ६ इन सबों को इष्ट कहते हैं ।।४३।। **वापीकूपतडागादि देवतायतनानि च। अन्नप्रदानमारामः पूर्तमित्यभिधीयते**

॥ (अत्रिसं० श्लो० ४४) बावड़ी १, कूप २, तालाब ३, देवमन्दिर निर्माग ४, अन्नदान ५, बगीचा लगाना ६ इन सबों को पूर्त कहते हैं ॥४४॥ और "मम समिद्धेऽहौषीराशापराकाशौ त आददे" अरे यौवन आदि से प्रकाशित मेरी धर्मपन्त्नीरूप प्रज्वलित अग्नि में तूने वीर्य की आहुति डाली है अंतः मैं तुझ अपराधी की प्रार्थना को एवं प्रतिज्ञापूर्ति की प्रतीक्षा को ले लेता हूँ" इस मन्त्र को पढ़कर 'फट्' शब्द को उच्चारण करके चौथी आहुति दे । और आहुति के अन्त में "असौ मम शत्रुः" इस प्रकार बोलकर शत्रु के नाम का उच्चारण करे । यहाँ आशा के साहचर्य से "पराकाश" शब्द का अर्थ प्रतीक्षा होता है । क्योंकि लिखा है—**आशप्रतीक्षे संगतं सूनृतां चेष्टापूर्ते पुत्रपशूँ श्च सर्वान्** ॥ (कठोप० अ० १ व० १ श्रु० ८) इच्छित पदार्थ की प्रार्थना रूप आशा और जिसके मिलने का निश्चय हो चुका उसके पाने की इच्छारूप प्रतीक्षा तथा यज्ञादि शुभकर्मों के संग का फल और प्रिय मधुर वाणी बोलने का फल तथा यज्ञादि शुभकर्मों के और कूप मन्दिरादि निर्माण का फल तथा समस्त पुत्र और पशुओं को ॥८॥ इस श्रुति के प्रमाण से पूर्वोक्त मेरा अर्थ अत्यन्त शुद्ध है । इस प्रकार जाननेवाला ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण जिस दुराचारी को शाप देता है वह लम्पट निश्चय करके इन्द्रिय रहित एवं पुण्यहीन होकर इस लोक से चल बसता है यानी मर जाता है । इस कारण से ऐसे ज्ञानी श्रोत्रिय ब्राह्मण की स्त्री के साथ कदापि भोग की इच्छा न करे क्योंकि उक्त अभिचार कर्म को जाननेवाला श्रोत्रिय ब्राह्मण उसका शत्रु बन जाता है । यहाँ "श्रोत्रिय" शब्द वेदपाठी वाचक है और "पर" शब्द शत्रु वाचक है । क्योंकि लिखा है **श्रोत्रियच्छान्दसौ समौ** ॥ (अमर० कां० २ व० ७ श्लो० ६) श्रोत्रिय १, छान्दस २ ये वेदपाठी के नाम हैं ॥६॥ **अभिघातिपरारातिप्रत्यर्थिपरिपन्थिनः** ॥ (अमर० कां० २ व० ८ श्लो० ११) अभिघातिन् १, पर २, अराति ३, प्रत्यर्थिन् ४, परिपन्थिन् ५ ये शत्रु के नाम हैं ॥११॥ और अन्यत्र भी लिखा है—**तस्मादेवंविच्छ्रोत्रियस्य दारेण नोपहासमिच्छेदुतह्येवंवित्परो भवति** ॥ (पारस्करगृ० कां० १ कं० ११ सू० ६) इस कारण से निश्चय करके ऐसा जानकर पुरुष विद्वान् ब्राह्मण की स्त्री के साथ भोग की इच्छा न करे और अन्यथा इस प्रकार जाननेवाला विद्वान् शत्रु हो जाता है ॥६॥ ऐसा स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है ॥१२॥

अथ यस्य जायामार्तवं विन्देत् त्र्यहं कंसे न पिबेदहतवासा नैनां वृषलो न वृषल्युपहन्यात् त्रिरात्रान्तआप्लुत्य व्रीहीनवघातयेत् ॥१३॥

अन्वयार्थ—(अथ) प्रासङ्गिक विषय समाप्त होने के अनन्तर (यस्य) जिसकी

(जायाम्) धर्मपत्नी को (आर्तवम्) ऋतु भाव यानी रजोधर्म (विन्देत्) प्राप्त हो उसकी वह भार्या (त्र्यहम्) तीन दिन तक (कंसे) काँस की कटोरी में (न) न (पिबेत्) पीवे और न खाय (एनाम्) इस ऋतुमती स्त्री को (वृषलः) कोई शूद्र पुरुष (न) न (उपहन्यात्) स्पर्श करे और (वृषली) शूद्र की स्त्री भी (न) नहीं छुए (त्रिरात्रान्ते) तीन रात बीतने पर चौथे दिन (आप्लुत्य) स्नान करने के पश्चात् (अहतवासाः) ऐसा वस्त्र पहने जो फटा न हो साफ सुथरा हो तो चतुर्थदिन स्थालीपाक के लिए उस स्त्री से (व्रीहीन्) धानों को (अवघातयेत्) कुटावे ॥१३॥

विशेषार्थ–"अथ यस्य जाया" इत्यादि ग्रन्थ को "श्रीर्हवा एषा स्त्रीणाम्" (बृह० उ० अ० ६ ब्रा० ४ कं० ६) निश्चय करके यह रजस्वला स्त्री सब स्त्रियों में उत्तम है ॥६॥ इस मन्त्रभाग के पहले समझना चाहिये। क्योंकि अर्थबल से ऐसा ही ठीक जान पड़ता है। जिसकी धर्मपत्नी को रजोधर्म प्राप्त हो उसकी वह पत्नी तीन दिनों तक काँस की कटोरी में न पीवे न खाय। यहाँ "कंस" शब्द काँस की कटोरी वाचक है। क्योंकि लिखा है–**कंसोऽस्त्री पानभाजनम्** ॥ (अमर० कां० २ व० ९ श्लो० ३२) कंस १, पानभाजन २ ये कटोरी के नाम हैं ॥३२॥ स्नान के बाद और पहले भी उस ऋतुमती स्त्री को शूद्रजातीय स्त्री अथवा पुरुष न छुए। यहाँ "वृषल" शब्द शूद्रवाचक है। क्योंकि लिखा है–शूद्राश्चवरवर्णाश्चवृषलाश्च जघन्यजाः ॥ (अमरकोश कां० २ व० १० श्लो० १) शूद्र १ अवरवर्णा २, वृषाल ३, जघन्यज ४ ये शूद्र के नाम हैं ॥१॥ तीन रात बीतने पर चौथे दिन स्नान करके जो फटा न हो ऐसा स्वच्छ सुनदर वस्त्र पहने हुए रहे और स्नान करने के पश्चात् चरु बनाने के लिये उस पत्नी को धान कूटने के काम में लगावे। यहाँ "व्रीहि" शब्द धानवाचक है। क्योंकि लिखा है–धान्यं व्रीहिःस्तम्बकरिः। (अमर० कां० २ व० ९ श्लो० २१) धान्य १, व्रीहि २ स्तम्बकरि ३ ये धान के नाम हैं ॥२१॥ स्थालीपाक के लिये चौथे दिन भार्या से धान कुटावे ॥१३॥

स य इच्छेत्पुत्रो मे शुक्लो जायेत वेदमनुब्रुवीत सर्वमायुरियादिति क्षीरौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै ॥१४॥

अन्वयार्थ–(यः) जो पुरुष (इति) ऐसा (इच्छेत्) चाहता हो कि (मे) मेरा (पुत्रः) पुत्र (शुक्लः)श्वेतवर्णा का (जायेत) उत्पन्न हो और (वेदम्) एक वेद को (अनुब्रुवीत्) अध्ययन करे तथा (सर्वम्) समपूर्णा सौ वर्ष तक (आयुः) आयु को (इयात्) प्राप्त करे तो (सः) वह पुरुष (क्षीरौदनम्) अपनी स्त्री से दूध चावल का

खीर (पाचयित्वा) बनवाकर (सर्पिष्मन्तम्) और उसमें घी डालकर (अश्नीयाताम्) वे दोनों स्त्री पुरुष उस खीर को भोजन करें तब वे दोनों अवश्य ही वैसे (जनयितवै) पुत्र को जन्म देने में (ईश्वरौ) समर्थ होवेंगे ॥१४॥

विशेषार्थ—जो कोई ऐसा चाहता हो कि मेरा पुत्र श्वेतवर्ण का उत्पन्न हो । यहाँ "शुक्ल" शब्द श्वेतवर्ण वाचक है। क्योंकि लिखा है—**शुक्लशुभ्रशुचि श्वेतविशदश्येतपाण्डराः ॥** (अमर० कां० १ व० ५ श्लो० १२) शुक्ल १, शुचि ३, श्वेत ४, विशद ५, श्येत ६, पाण्डर ७ ये उज्ज्वल के नाम हैं ॥१२॥ और एक वेद का वक्ता हो । वेद के विषय में लिखा है—**मंत्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम् ॥** (आपस्तम्ब० श्रौतसू० २४।१।३१) मन्त्र और ब्राह्मण इन दोनों का नाम वेद है ॥३१॥ **मंत्रब्राह्मणमित्याहुः ॥** (बौधायनगृह्यसू० २।६।२) मन्त्र और ब्राह्मण इन दोनों को वेद कहते हैं ॥२॥ **आम्नायः पुनर्मन्त्राश्च ब्राह्मणानि च** ॥ (कौशिकसू० १।३) मन्त्र और ब्राह्मण को वेद कहते हैं ॥३॥ **तच्चोदकेषु मन्त्राख्या ॥** पूर्वमी० अ० २ पा० १ सू० ३२) **शेषे ब्राह्मणशब्दः** (२।१।३३) प्रेरणालक्षण श्रुति का ही नाम मन्त्र है ॥३२॥ **चत्वारो वेदाः ॥** (महाभाष्य अ० १ पा० १ आह्नि १) ऋग्, यजुः साम और अथर्व ये चार वेद हैं ॥१॥ तथा पूरी आयु भर सौ वर्ष तक जीवित रहे । आयु के विषय में लिखा है—**शतायुर्वै पुरुषः ॥** (श्रुति) सौ वर्ष की आयुवाला ही मनुष्य है ॥ **पश्येम शरदः शतं जीवेम** शरदः शतं शृणुयाम शरदः शतं, **प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतम् ॥** (यजु० अ० ३६ मं० २४) हम सौ वर्ष तक भगवान को देखें तथा सौ वर्ष पर्यन्त जीते रहें और सौ वर्ष तक भगवच्चरित्रों को सुनें तथा सौ वर्ष तक भगवच्चरित्रों का कथन करें और सौ वर्ष पर्यन्त हम अदीन रहें ॥२४॥ **जिजीविषेच्छतं समाः ॥** (यजुर्वेद अ० ४० मं० २ ॥ ईशोप० श्रु० २) सौ वर्ष जीने की इच्छा करे ॥२॥ तो वह पुरुष अपनी भार्या से "क्षीरौदन" अर्थात् दूध में चावल का खीर बनवाकर उसमें घी मिलाकर वे दोनों दम्पति भोजन करें तब वे दोनों अवश्य ही वैसे पुत्र को उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं । इसके साथ युग्मरात्रि में ऋतुकाल पर मैथुन करना चाहिये । क्योंकि लिखा है—**युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु । तस्माद्युग्मासु पुत्रार्थी संविशेदार्तवे स्त्रियम् ॥** (मनु० अ० ३ श्लो० ४८) रजोदर्शन से लेकर सोलह रात तक ऋतुकाल कहलाता है । इनमें पहली चार रात्रियों को बरा कर शेष छठवीं, आठवीं, दशवीं, बारहवीं, और सेलहवीं युग्म रात्रि में मैथुन करने से पुत्र उत्पन्न होते हैं और विषम रात्रि में संभोग करने से पुत्रियाँ उत्पन्न होती हैं । इससे पुत्रार्थी युग्मतिथि से ऋतुकाल में अपनी स्त्री से मैथुन करे ॥४८॥ तो प्रायः पुत्र ही उत्पन्न होता है ॥१४॥

अथ य इच्छेत् पुत्रो मे कपिलः पिङ्गलो जायेत द्वौ वेदावनुब्रुवीत सर्वमायुरियादिति दध्योदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै ॥१५॥

अन्वयार्थ–(अथ) और (यः) जो पुरुष (इति) ऐसा (इच्छेत्) चाहता हो कि (मे) मेरा (पुत्रः) पुत्र (कपिलः) वानर के वर्गा का (पिङ्गलः) पिङ्गलाक्ष (जायेत्) उत्पन्न हो और (द्वौ) दो (वेदौ) वेदों को (अनुब्रुवीत) अध्ययन करे तथा (सर्वम्) संपूर्ण सौ वर्ष तक (आयुः) आयु को (इयात्) प्राप्त करे तो वह पुरुष (दध्योदनम्) अपनी स्त्री से दही के साथ भात को (पाचयित्वा) बनवा कर (सर्पिष्मन्तम्) और उसमें घी मिला कर (अश्नीयाताम्) वे दोनों दम्पति उस दध्योदन को भोजन करें, तब वे दोनों अवश्य ही वैसे (जनयितवै) पुत्र को जन्म देने में (ईश्वरौ) समर्थ होवेंगे ॥१५॥

विशेषार्थ–और जो कोई ऐसा चाहता हो कि मेरा पुत्र वानर के रंग के समान वर्गा का और पिङ्गलाक्ष उत्पन्न हो। यहाँ "कपिल" शब्द वानर के से रंग का वाचक है। क्योंकि लिखा है–**कडारः कपिलः पिङ्गपिशङ्गौ कद्रुपिङ्गलौ ॥** (अमर० कां० १ व० ५ श्लो० १६) कडार १, कपिल २, पिङ्ग ३, पिशङ्ग ४, कद्रु ५, पिङ्गल ६ ये वानर के से रङ्ग के नाम हैं ॥१६॥ और दो वेदों का वक्ता हो तथा पूरी आयुभर सौ वर्ष तक जीवित रहे। तो वह पुरुष अपनी स्त्री से "दध्योदन" को अर्थात् दही के साथ भात को बनवाकर और उसमें घी मिलाकर वे दोनों पति–पत्नी भोजन करे तब वे दोनों अवश्य ही वैसे पुत्र को उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं। यहाँ "ओदन" शब्द भात वाचक है। क्योंकि लिखा है–**भिस्सास्त्री भक्तमन्धोऽन्नमोदनोऽस्त्री सदीदिविः ॥** (अमरकोश कां० २ व० ९ श्लो० ४८) भिस्सा १, भक्त २, अन्धस ३, अन्न ४ ओदन ५, दीदिवि ६ ये भात के नाम हैं ॥४८॥ ऐसा प्रतिपादन किया गया है ॥१५॥

अथ य इच्छेत् पुत्रो मे श्यामो लोहिताक्षो जायेत त्रीन्वेदाननुब्रुवीत सर्वमायुरियादित्युदौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै ॥१६॥

अन्वयार्थ–(अथ) और (यः) जो पुरुष (इति) ऐसा (इच्छेत्) चाहता हो कि (मे) मेरा (पुत्रः) पुत्र (श्यामः) श्याम वर्गा का (लोहिताक्षः) रक्ताक्ष (जायेत्) उत्पन्न

हो और (त्रीन्) तीन (वेदान्) वेदों को (अनुब्रुवीत) अध्ययन करे तथा (सर्वम्) संपूर्ण सौ वर्ष तक (आयुः) आयु को (इयात्) प्राप्त करे तो वह पुरुष (उदौदनम्) जल में भात को (पाचयित्वा) अपनी स्त्री से बनवा कर (सर्पिष्मन्तम्) और उसमें घी मिलाकर (अश्नीयाताम्) वे दोनों दम्पति उस शुद्धौदन को भोजन करें, तब वे दोनों अवश्य ही वैसे (जनयितवै) पुत्र को जन्म देने में (ईश्वरौ) समर्थ होवेंगे ॥ १६ ॥

विशेषार्थ–और जो कोई ऐसा चाहता हो कि मेरा पुत्र श्यामवर्रा का और रक्तनयन उत्पन्न हो । यहाँ "श्याम" शब्द काला वाचक है और "लोहित" शब्द लालवर्रा वाचक है। क्योकि लिखा है–**कृष्णे नीलासितश्याम कालश्यामलमेचकाः॥** (अमर० कां० १, व० ५, श्लो० १४)कृष्णा १, नील २, असित ३, श्याम ४, काल ५, श्यामल ६, मेचक ७, ये काले वर्रा के नाम हैं ॥१४॥ **रोहितो लोहितो रक्तः ॥** (अमर० कां० १, व० ५, श्लो० १५) रोहित १, लोहित २, रक्त ३ ये लाल वर्रा के नाम हैं ॥१५॥ और तीनों वेदों का वक्ता हो । तथा पूरी आयुभर सौ वर्ष तक जीवित रहे । तो वह पुरुष अपनी पत्नी से जल में "शुद्धौदन" को अर्थात् भात को बनवाकर और उसमें घी मिलाकर वे दोनों दम्पति उस शुद्धौदन को भोजन करे तब वे दोनों अवश्य ही वैसे पुत्र को उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं । यहाँ "उद" शब्द का प्रयोग दूध आदि अन्य प्रसङ्गों की निवृत्ति के लिये है ॥१६॥

अथ य इच्छेत् दुहिता मे पण्डिता जायेत सर्वमायुरियादिति तिलौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै ॥१७॥

अन्वयार्थ–(अथ) और (यः) जो पुरुष (इति) ऐसा (इच्छेत्) चाहता हो कि (मे) मेरी (दुहिता) पुत्री (पण्डिता) लौकिक विषय में विदुषी (जायेत) उत्पन्न हो और (सर्वम्) संपूर्ण सौ वर्ष तक (आयुः) आयु को (इयात्) प्राप्त करे तो वह पुरुष (तिलोदनम्) तिल के साथ भात को (पाचयित्वा) अपनी भार्या से बनवा कर (सर्पिष्मन्तम्) और उसमें घी मिला कर (अश्नीयाताम्) वे दोनो दम्पति उस तिल चावल की खिचड़ी को भोजन करें, तब वे दोनो अवश्य ही वैसी (जनयितवै) पुत्री को जन्म देने में (ईश्वरौ) समर्थ होवेंगे ॥१७॥

विशेषार्थ–और जो कोई ऐसा चाहता हो कि मेरी पुत्री लौकिक विषय में पण्डिता उत्पन्न हो । लौकिक विषय में निपुरा होना ही पुत्री का पाण्डित्य है और पूरी आयुभर सौ वर्ष तक वह विदुषी पुत्री जीवित रहे तो वह पुरुष अपनी पत्नी से तिल और

चावल की खिचड़ी को बनवाकर उसमें घी मिलाकर वे दोनों दम्पति उस "तिलौदन" को भोजन करें तब वे दोनों अवश्य ही उक्तयोग्यता वाली दुहिता को उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं ॥१७॥

अथ य इच्छेत् पुत्रो मे पण्डितो विजिगीथः समितिंगमः शुश्रूषितां वाचं भाषिता जायेत सर्वान्वेदाननुब्रुवीत सर्वमायुरियादिति मांसौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवा औक्षेरााावाऽर्षभेण वा ॥१८॥

अन्वयार्थ—(अथ) और (यः) जो पुरुष (इति) ऐसा (इच्छेत्) चाहता है कि (मे) मेरा (पुत्रः) पुत्र (विजिगीथः) सब प्रकार से प्रसिद्ध (पण्डितः) पण्डित (समितिंगमः)वेदवादियों की सभा में जाने वाला (शुश्रूषिताम्) सुनने में प्रिय रमणीय माननीय अर्थ से युक्त (वाचम्) वाणी का (भाषिता) बोलने वाला (जायेत) उत्पन्न हो (वा) और (सर्वान्) सम्पूर्ण (वेदान्) वेदों को (अनुब्रुवीत) अध्ययन करे तथा (सर्वम्) संपूर्ण सौ वर्ष तक (आयुः) आयु को (इयात्) प्राप्त करे तो वह पुरुष (मांसौदनम्) अपनी स्त्री से उड़द ओषधि के गूदा के साथ भात को (पाचयित्वा)बनवा कर और (औक्षेरा) उक्षन् नामक ओषधि के गूदा के साथ (वा) अथवा (आर्षभेरा) ऋषभ नामक ओषधी के गूदा के साथ (सर्पिष्मन्तम्) उसमें घी मिला कर (अश्नीयाताम्) वे दोनों दम्पति उसको भोजन करें तब वे दोनो अवश्य ही (जययितवै) उक्त योग्यता वाले पुत्र को जन्म देने में (ईश्वरौ) समर्थ होवेंगे ॥१८॥

विशेषार्थ—और जो कोई ऐसा चाहता हो कि— मेरा पुत्र नाना प्रकार से प्रख्यात पण्डित, वेदवादियों की सभा में जाने वाला, सुनने में प्रिय, रमणीय, माननीय अर्थ से युक्त वाणी बोलनेवाला उत्पन्न हो । पण्डित के विषय में लिखा है—**यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः । ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥** (गी० अ० ४ श्लो० १९) जिसके समस्त कर्म कामना और संकल्प से रहित हैं उस ज्ञानाग्नि द्वारा दग्ध हुए कर्म वाले पुरुष को बुधजन पण्डित कहते हैं । इस समिति शब्द की व्युत्पत्ति अनेक प्रकार से होती हैं। जैसे कि—"सम्यग् यन्ति याम् " जिस स्थान में चारों ओर से मनुष्य आकर बैठें उसे समिति कहते हैं । अथवा "सम्यक् साधुवेषेरा इतिर्गमनं यस्यां सा" जिस स्थान में साधु वेष बनाकर जाता है उसे समिति कहते हैं । अथवा "स + मिति" । मिति=मान तोलन" जो स्थान जाँच के लिये हो

अर्थात् ''मित्या सह वर्तते'' न्याय से सकल पदार्थों की परीक्षा होती है जिस स्थान में वह समिति है । अथवा ''सम्+इति'' इति नाम है समाप्ति का । जहाँ धार्मिक राजकीय पुरुष बैठकर सकल व्यवहारों की न्याय के द्वारा समाप्ति करते हों उसे समिति कहते हैं । और संपूर्ण ऋग्, साम अथर्ववेदों का वक्ता हो । तथा पूरी आयुभर सौ वर्ष तक जीवित रहे । तो वह पुरुष अपनी धर्मपत्नी से उड़द ओषधि के गूदे के साथ भात को बनवाकर और बल वीर्यवर्द्धक ''उक्षन्'' नामक ओषधि के गूदे के साथ अथवा ''ऋषभ'' नामक ओषधि के गूदे के साथ घी मिलाकर वे दोनों दम्पति उस को भोजन करें तब वे दोनों अवश्य ही ऊक्त योग्यता वाले पुत्र को उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं । इस श्रुति में ओषधि के गूदे को ''मांस'' कहते हैं। और उससे मिश्रित भात को यहाँ ''मांसौदन'' कहा गया है। क्योंकि मांस शब्द का यौगिक अर्थ यही होता है कि–''मनः सीदत्यस्मिन् माननीयं वा शास्त्रैः'' जिससे मन प्रसन्न हो और जो शास्त्रों से माननीय हो उसे मांस कहते हैं । अब यह सन्देह होता है कि–किस ओषधि के मांस यानी गूदा के साथ चावल को पत्नी से पकवाना चाहिये। इसका समाधान यह है कि–इससे पहले तृतीय श्रीमन्थब्राह्मण की तेरहवीं कण्डिका में–**तिलमाषाः ॥** (बृ० उ० अ० ६ ब्रा० ३ कां० १३) तिल और उड़द॥१३॥ ऐसा वर्णन आया है । और यहाँ पुत्रमन्थ ब्राह्मण की सत्रहवीं १७ कण्डिका में तिलौदन शब्द आया है । अतः अठारहवीं कण्डिका में तिल के बाद ''माष'' शब्द का आना अनिवार्य है । इस से यह सिद्ध हो गया कि–माष नामक ओषधि के मांस यानी गूदा के साथ चावल को पत्नी से पकवाना चाहिये । माष का ही अर्थ उड़द होता है । माष अन्न ओषधि है। क्योंकि लिखा है– **ओषध्यः फलपाकान्ता बहुपुष्पफलोपगाः ॥** (मनु० अ० १ श्लो० ४६) जो बहुत फूल, फल से युक्त हो और फल पक जाने पर नष्ट हो जाते हों वे ही धान,यव, माष आदिक ओषधि हैं ॥ ४६॥ और भी अन्यत्र लिखा हैं–**ओषध्यः फलपाकान्ताः स्युः ॥** (अमर० कां० २ व० ४ श्लो० ६) फल कर पकने पर नष्ट होने वाले धान, यव, माष आदि का नाम ओषधि है ॥६॥ पशुमांस भोजियों ने जो यहाँ ''मांसौदन'' शब्द में पशुमांस अर्थ करके पुत्रोत्पन्न करने के लिये उसे स्त्री के लिये अशन की आज्ञा दी वह वैद्यकशास्त्र से विरुद्ध है । क्योंकि मांस भक्षण गर्भोपघातक है । इसी से चरकसंहिता में स्पष्ट लिखा है कि–न **रक्तानि वासांसि विभृयान्नमदकराणि च न यानमधिरोहेत् न मांसमश्नीयात्॥** (चरकसंहि० श० ४ । १८) गर्भधारण की इच्छा वाली स्त्री लालवस्त्रों को न धारण करे और मद करने वाली वस्तु को न सेवन करे तथा घोड़ा, हाथी आदि यान पर न चढ़े और मांस को न भोजन करे ॥१८॥ इससे सिद्ध हो गया कि यहाँ मांस शब्द का पशुमांस में तात्पर्य

नहीं है किन्तु ओषधि के मांस यानी गूदा में तात्पर्य है। यदि यह कोई दुराग्रही कहे कि–ओषधि, वनस्पतियों में मांस शब्द का व्यवहार नहीं देखा जाता है , तो यह कहना ठीक नहीं है । क्योंकि सुश्रुतसंहिता में लिखा है–**चूतफले पक्वे केशरमांसास्थिमज्जानः पृथक् पृथक् दृश्यन्ते ॥** (सुश्रुतसं० श० ३ । ३२) आम के फल पक जानेपर केशर, मांस, हड्डी, मज्जा अलग अलग दीखते हैं ॥३२॥ इससे सिद्ध हो गया कि–ओषधि वनस्पतियों में भी मांस शब्द का व्यवहार होता है । "उक्ष सेचने" धातु से उक्षन् बनता है । और उक्षन् शब्द से ही "औक्ष" शब्द निष्पन्न होता है । उक्षन् नामक ओषधि के गूदे को यहाँ "औक्ष" समझना चाहिये। "उक्षन्" शब्द का कोश में दो प्रकार के अर्थ मिलते हैं। कलकत्ते से प्रकाशित "वाचस्पत्य" नामक बृहत् संस्कृताभिधान में इसे अष्टवर्गान्तर्गत "ऋषभ" नामक ओषधि का पर्याय माना गया है–"ऋषभ ओषधौ च" प्रसिद्ध अंग्रेज विद्वान् सरमोनियर विलियम्सने अपने बृहत् संस्कृत– अंग्रेजी कोष में इसे "सोम" नामक पौधे का पर्याय माना है । और "ऋषभ" शब्द से "आर्षभ" शब्द निष्पन्न होता है । ऋषभ के विषय में लिखा है–**काकोली क्षीरकाकोली जीवकर्षभक मुद्गपर्णीमाषपर्णी मेदा महामेदा च्छिन्नरुहा कर्कटशृङ्गी तुगाक्षीरी पद्मक प्रपौण्डरीकर्द्धि बृद्धि मृद्धिका जीवन्त्यो मधुकं चेति ॥** (सुश्रुतसंहि० सूत्रस्था० अध्या० ३८ श्लो० ३५) **काकोल्यादिरयं पित्तशोणितानिलनाशनः । जीवनो बृंहणो बृष्यः स्तन्यश्लेष्मकरस्तथा ॥३६॥** काकोली १, क्षीरकाकोली २, जीवक ३, ऋषभक ४, मुद्गपर्णी ५, माषपर्णी ६, मेदा ७, महामेदा ८, गिलोय ९, काकड़ा शृङ्गी १०, वंशलोचन ११, पद्माख १२, श्वेतकमल १३, ऋद्धि १४, वृद्धि १५, द्राक्षा १६, स्वर्णजीवन्ती १७ और मुलहठी १८ ॥ ३५॥ यह काकोल्यादिगण पित्तरक्त–वायु का नाशक है और जीव, बृंहण, बृष्य दूध एवं कफवर्धक है ॥३६॥ यहाँ ऋषभ के स्थान में स्वार्थ में 'क' प्रत्यय होकर ऋषभक शब्द हुआ है–**जीवकर्षभकौ मेदा महामेदा काकोली क्षीरकाकोली मुद्गमाषपर्ण्यौ जीवन्ती मुधकमिति दशेमानि जीवनीयानि भवन्ति ॥** (चरकसंहि० सूत्रस्था० अध्या० ४ सू० १३) जीवक १, ऋषभ २, मेदा ३, महामेदा ४, काकोली ५, क्षीरकाकोली ६, मुद्गपर्णी ७, माषपर्णी ८, जीवन्ती ९, मुलहठी १० इन दस–ओषधियों से जीवनीय गण होता है ॥ १३॥ **जीवकर्षभक काकोली क्षीरकाकोली मुद्गपर्णी माषपर्णी मेदा बृद्धरुहा जटिला कुलिङ्ग इति दशेमानि शुक्रंजननानि भवन्ति ॥** (चरक संहि सूत्रस्था० अध्या० ४ सू० १९) जीवक १, ऋषभक २, काकोली ३ क्षीरकाकोली ४, मुद्गपर्णी ५, माषपर्णी ६, मेदा ७, शतावरी ८, जटामांसी ९, उच्चटाभेद १० इन दस–ओषधियों को शुक्र जनकगण कहा जाता है॥१९॥ **जीवकर्षभकौ मेदां जीवन्तीं सशतावरीम् ॥** (चरकसं० चिकित्सास्था०

अध्या० १ श्लो० ४२) जीवक १, ऋषभक २, मेदा ३, जीवन्ती ४, शतावरी ५ यह पञ्चमूल है ।।४२।। **अभीरु वीरा जीवन्ती जीवकर्षभकैः स्मृतम्। जीवनाख्यं च चक्षुष्यं वृष्यं पित्तानिलापहम् ॥** (अष्टाङ्गहृदय० सूत्रस्था० अध्या० ६ श्लो० १६८) सितावर १, क्षीरकाकोली २, जीवन्ती ३, जीवक ४, और ऋषभक ५ इन पाँचो की जड़ को जीवन पञ्चमूल कहते हैं । यह नेत्रपक्ष हितकर वृष्य और पित्तवात विनाशक है ।।१६८।। **जीवन्ती काकोल्यौमेदेद्वेमुद्ग माषपर्ण्यौ च ॥ ऋषभक-जीवक-मधुकं चेति गणो जीवनीयाख्यः ॥** (अष्टाङ्गाहृद० सूत्रस्था० अध्या० १५ श्लो० ८) जीवन्ती १ काकोली २, क्षीरकाकोली ३ मेदा ४, महामेदा ५, मुद्गपर्णी ६, माषपर्णी ७ ऋषभक ८, जीवक ९ और मुलहठी १० ये दस औषध जीवनीय गरा कहलाते हैं।।८।। **मेदे चतस्रः परिर्ान्यो जीवन्ती जीवकर्षभौ ॥** (अष्टाङ्ग हृद० सूत्रस्था० अध्या० १० श्लो० २३) मेदा १, महामेदा २, शालपर्णी ३, पृष्टपर्णी ४, मुद्गपर्णी ५, माषपर्णी ६ जीवन्ती ७, जीवक ८, और ऋषभ ९ ये मधुर वर्ग के द्रव्य हैं।।२३।। **ऋषभो मधुः शीतो गर्भसन्धानकारकः । शुक्रधातुकफानां च कारको बलदायकः। वृष्यः पुष्टिकरः प्रोक्तः पित्तरक्तातिसारजित् । रक्तरुक् कृशतावातज्वरदाहक्षयापहः ॥** (निघण्टुरत्नाकर० अष्टवर्गप्रकरण०) ऋषभ औषध मधुर, शीतल, गर्भ संधान करने वाला और वीर्य, धातु तथा कफ का वर्द्धक और बलदायक है । और वृष्य तथा पुष्टिकर्ता और पित्त, रक्त तथा अतिसार को जीतने वाला कहा गया है । और रक्तरोग तथा कृशता और वात ज्वरदाह और क्षयरोग का नाशक होता है—**काकोली क्षीरकाकोली जीवकर्षभकौ तथा । मेदा चान्या महामेदा जीवन्ती मधुकं तथा ॥** (शार्ङ्गधरसंहि० मध्यखराड० अध्याय० ६ श्लो० १७) **मुद्ग परार्ी माषपर्णी जीवनीयो गणस्त्वयम्। जीवनीयो गराः स्वादुर्गर्भसन्धानकृद् गुरुः॥१८॥ स्तन्यकृद् बृंहणो बृष्यः स्निग्धःशीतस्तृषापहः रक्तपित्तं क्षतं शोषं ज्वरदाहानिलाञ्जयेत्॥१९॥** काकोली १, क्षीरकाकोली २ जीवक ३, ऋषभक ६, जीवन्ती ७, और मुलहठी ८ ।।१७।। मुंगवन ९ और मसवन १० इनको जीवनीय गरा कहते हैं। यह जीवनीय गरा स्वादिष्ट गर्भस्थापन करने वाला, भारी है ।।१८।। और दूध लानेवाला; शरीर को पुष्ट करने वाला, वीर्य को बढ़ाने वाला, चिकना, शीतल, तृषा, रक्त, पित्त, क्षयरोग, मुख का सूखना , ज्वरदाह और बातरोगों को नष्ट करता है ।।१९।। **द्वे मेदे द्वे च काकोल्यौ जीवकर्षभकौ तथा । ऋद्धिबृद्धी च तैः सर्वैरष्टवर्ग उदाहृतः ॥** शार्ङ्गधरसंहि० मध्यखण्ड० अध्या० ६ श्लो० २०) **अष्टवर्गो बुधैः प्रोक्तो जीवनीयसमो गुणैः॥२१॥** मेदा १, महामेदा २, काकोली ३, क्षीरकाकोली ४, जीवक ५, ऋषभक ६, ऋद्धि ७, और वृद्धि ८ ये आठ अष्टवर्ग कहलाते हैं।।२०।। विद्वानों ने जीवनीयगण के समान ही अष्टवर्ग का गुण बतलाया है।।२१।। **जीवकर्षभकौ**

मेदकाकोल्यौ ऋद्धिवृद्धिके। अष्टवर्गोऽष्टभिर्द्रव्यैः कथितश्चरकादिभिः॥ (भावप्रकाश० पूर्वखण्ड–प्रकरा० ५ श्लो० १३) **अष्टवर्गो हिमः स्वादुः वृंहराःशुक्रलो गुरुः। भग्नसन्धानकृत्कामबलासबलवर्द्धनः। वातपित्तास्रतृड्दाहज्वरमेहक्षयापहः॥ ११४॥** जीवक १, ऋषभ २, मेदा ३, महामेदा ४, काकोली ५, क्षीरकाकोली ६, ऋद्धि ७, और वृद्धि ८ इन सब औषधियों के योग को चरक आदि मुनियों ने अष्टवर्ग कहा है।।११३।। अष्टवर्ग शीतल, स्वादु, धातुओं का वर्द्धक वीर्यवर्द्धक, भारी टूटे को जोड़ने वाला, काम, बल तथा कफ का वर्धक और वात, रक्त, पित्त, तृषा, दाह, ज्वर, प्रमेह तथा क्षयरोग का नाशक होता है।।११४।। **जीवकर्षभकौ ज्ञेयौ हिमाद्रिशिखरोद्भवौ। रसोनकन्दवत्कन्दी निःसारौ सूक्ष्मपत्रकौ ॥** भावप्रकाश० पूर्वखं० प्रकरा० ५ श्लो० ११५) जीवकः कूर्चकाकार ऋषभो बृषशृङ्गवत्। **जीवको मधुरः शृङ्गी ह्रस्वांगः कूर्चशीर्षकः ॥११६॥ ऋषभो बृषभो धीरो विषाणीन्द्राक्ष इत्यापि। जीवकर्षभकौ बल्यौ शीतौ शुक्रकफप्रदौ। मधुरौ पित्तदाहास्रकार्श्यवातक्षयापहौ॥११७॥** जीवक और ऋषभक ये दोनों हिमालय पर्वत के शिखर पर उत्पन्न होते हैं। इनका कन्द लहसुन के समान, पत्ते छोटे तथा भीतर से खाली होते हैं।।११५।। जीवक का आकार कूची के समान होता है और ऋषभ का आकार बैल के सींग के समान होता है । जीवक १, मधुर २,शृङ्ग ३, ह्रस्वांग ४, और कूर्चशीर्षक ५ ये जीवक के नाम हैं।।११६।। ऋषभ १, वृषभ २, घी ३, विषाणी ४, और इन्द्राक्ष ५ ये ऋषभ के नाम हैं । जीवक और ऋषभ ये दोनों कन्द बलकारक, शीतल. वीर्य तथा कफ का वर्द्धक, मधुर और पित्त दाह, रुधिरदोष, दुर्बलता वात तथा क्षयरोग का नाशक है ।।११७।। इन प्रमाणों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि "ऋषभ" नाम की एक ओषधि विशेष है।।१८।।

अथाभिप्रातरेव स्थालीपाकावृताऽऽज्यं चेष्टित्वा स्थालीपाकस्योपघातं जुहोत्यग्नये स्वाहाऽनुमतये स्वाहा देवाय सवित्रे सत्यप्रसवाय स्वाहेति। हुत्वोद्धृत्यप्राश्नाति प्राश्येतरस्याः प्रयच्छति प्रक्षाल्य पाणीउदपात्रं पूरयित्वा तेनैनां त्रिरभ्युक्षत्यु "त्तिष्ठातो विश्वावसोऽन्यामिच्छ प्रपूर्व्यासं जायां पत्या सहेति"॥१९॥

अन्वयार्थ–(अथ) तदनन्तर (प्रातः) रजोधर्म के दिन से चौथे दिन प्रातः काल (एव) ही सन्ध्योपासनादि नित्य कर्मानुष्ठान करके (स्थलीपाकावृता) स्त्री के कूटे हुए चावलों को लेकर स्थालीपाक की विधि से (आज्यम) घृत को (चेष्टित्वा) संस्कार

करके चरु पकाकर उसका भी संस्कार करके (स्थालीपाकस्य) बटलोही में पकाये हुए अन्न में से थोड़ा (उपघातम्) समीप में आगे लेकर (इति) इन वक्ष्यमाराा मन्त्रों से (जुहोति) हवन करे (अग्नये) अग्निदेव के लिये (स्वाहा) यह पहली आहुति देता हूँ (अनुमतये) अनुमति के लिये (स्वाहा) यह दूसरी आहुति देता हूँ (सत्यप्रसवाय) सत्य–प्रब्रह्म नारायराा से उत्पन्न होने वाले (सवित्रे) सविता (देवाय) देव के लिये (स्वाहा) यह तीसरी आहुति देता हूँ (हुत्वा) यह तीन आहुति देकर (उद्धृत्य) स्थाली में बचे हुए चरु को एक पवित्र पात्र में निकालकर (प्राश्नाति) पति स्वयं भोजन करे (प्राश्य) खाकर उसी उच्छिष्ट चरु को (इतरस्याः) अपनी पत्नी के लिये (प्रयच्छति) देवे तब (पाराी) दोनों हाथों को (प्रक्षाल्य) अच्छी तरह जल से धोकर (उद्पात्रम्) जलपात्र को जल से (पूरयित्वा) भरकर (तेन) उसी जल से (एनाम) इस अपनी धर्मपत्नी को (इति) इस वक्ष्यमाराा मन्त्र का पाठ करते हुए (त्रिः) तीन बार (अभ्युक्षति) अच्छे प्रकार सींचे वह मन्त्र आगे बतलाया जाता है (विश्वावसो) हे विश्वावसो गन्धर्व तू (अतः) इस मेरी भार्या के यहाँ से (उत्तिष्ठ) उठो (पत्या) अपने पति के (सह) साथ क्रीडा करती हुई (अन्याम्) अन्यान्य (प्रपूर्व्याम्) पूर्ण युवती स्त्री को (इच्छ) तू इच्छा करो मैं (जायाम्) अपनी भार्या को (सम्) सम्यक् प्रकार से प्राप्त करता हूँ ॥१९॥

विशेषार्थ–अब पाक सामग्री और विधि कह के, किस दिन यह विधि करे इसके लिये आगे का ग्रन्थ आरम्भ किया जाता है कि–रजोधर्म के दिन से चतुर्थ दिवस प्रातः काल ही सन्ध्या वन्दनादि कर्म से निवृत्त हो कर पत्नी के कूटे हूए चावलों को लेकर स्थालीपाकविधि से घी का संस्कार करके, चरु पकाकर , उसका भी संस्कार करके, बटलोही में बनाये हुए चरु में से थोड़ा समीप में आगे लेकर वक्ष्यमाराा मन्त्रों से तीन आहुतियाँ दे । वे मन्त्र इस प्रकार हैं "१ अग्नये स्वाहा" अग्निदेव के निमित मैं यह आहुति देता हूँ" ऐसा कहकर पहली आहुति अग्नि में दे। अग्नि देवता है। क्योंकि लिखा है–**अग्निर्देवता॥** (यजु० अ० १४ मं० २०) अग्नि देवता है।।२०।। "२ अनुमतये स्वाहा" "अनुमति के निमित्त मैं यह आहुति देता हूँ" ऐसा कहकर दूसरी आहुति अग्नि में दे। अनुमति के विषय में लिखा है–**कलाहीने सानुमतिः॥** (अमर० कां० १ व० ४ श्लो० ८)जिस पूर्णामासी में प्रतिपदा के योग से चन्द्रमा की कला हीन हो उसका नाम अनुमति है ॥८।तथा " ३ देवाय सवित्रे सत्यप्रसवाय स्वाहा" "सत्य–परब्रह्म नारायराा से उत्पन्न होनेवाले सूर्य देव के निमित्त मैं यह आहुति देता हूँ" ऐसा कहकर तीसरी आहुति अग्नि में दे। परब्रह्म नारायराा से आदित्य उत्पन्न होते हैं। यह लिखा है–**नारायणाद्द्वादशादित्याः॥** (नारायणोप० श्रु० १) नारायराा से बारह

आदित्य उत्पन्न होते हैं॥१॥ **सूर्यो देवता॥** (यजु० अ० १४ मं० २०) सूर्य देवता है॥२०॥ इस प्रकार तीन आहुति देकर स्थाली में बचे हुए चरु को एक पवित्र पात्र में निकाल कर पति स्वयं भोजन करे। यहाँ "स्थाली" शब्द बटलोही वाचक है । क्योंकि लिखा है—**पिठरः स्थाल्यूखाकुण्डम्॥** (अमर० कां० २ व० ९ श्लो० ३१) पिठर १, स्थाली २, उखा ३, कुण्ड ४ ये बटलोही के नाम हैं॥३१॥ पति भोजन करके उसी उच्छिष्ट अन्न को अपनी धर्मपत्नी के लिये खाने को देवे । तत्पश्चात् दोनों हाथों को धोकर शुद्ध आचमन करके जलपात्र को जल से भर कर उसी जल से अपनी धर्मपत्नी का निम्नलिखित मन्त्र पढ़ता हुआ तीन बार अभिषेक करे। अभिषेक का मन्त्र इस प्रकार है "उत्तिष्ठातो विश्वावसोऽन्यामिच्छ प्रपूर्व्यां सं जायां पत्या सह" अब इस मन्त्र का अर्थ तबललाया जाता है कि—"हे विश्वावसो गन्धर्व! तू इस मेरी धर्मपत्नी के पास से उठो, मैं पुत्रोत्पन्न करने के लिये अपनी पत्नी को सम्यक् प्रकार से प्राप्त करता हूँ " इस मन्त्र का पाठ एक ही बार करना चाहिए । यहाँ सारी विधि अपने गृह्यसूत्र के अनुसार करनी चाहिये ॥१९॥

अथैनामभिपद्यतेऽमोऽहमस्मि सा त्वं सा त्वमस्यमोऽहं सामाहमस्मि ऋक् त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वं तावेहि संरभावहै सह रेतो दधावहै पुंसे पुत्राय वित्तय इति॥२०॥

अन्वयार्थ— (अथ) अभिषेक करने के बाद रात्रि समय शयन काल में (इति) इस वक्ष्यमाराा मन्त्र को पढ़कर (एनाम्) इस अपनी भार्या को (अभिपद्यते) अच्छी तरह आलिङ्गन करे यह आगे मन्त्र है। (अहम्) मैं (अमः) प्राराा (अस्मि) हूँ और (त्वम्) तू (सा) वह वाराी है (त्वम्) तू (सा) वह वाणी (असि) है (अहम्) मैं (अमः) प्राराा हूँ और (अहम्) मैं (साम) सामवेद (अस्मि) हूँ (त्वम्) तू (ऋक्) ऋग्वेद है तथा (अहम्) मैं (द्यौः) आकाश हूँ (त्वम्)तू (पृथिवी) पृथ्वी है (एहि) हे प्रिये आओ (तौ) हम दोनों दम्पति (संरभावहै) एक दूसरे का आलिङ्गन करें (पुंसे) पुरुषत्वविशिष्ट (पुत्राय) पुत्र की (वित्तये) प्राप्ति के लिय (सह) हम दोनों मिलकर एक साथ (रेतः) रेत (दधावहै) धाराा करें ॥२०॥

विशेषार्थ— पति अभिषेक करने के पश्चात् रात्रि समय शयनकाल में "अमोऽहमस्मि सा त्वं सा त्वमस्यमोऽहं सामाहमस्मि ऋक्त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वं तावेहि संरभावहै सहरेतो दधावहै पुंसे पुत्राय वित्तये" इस मन्त्र को पढ़कर अपनी धर्मपत्नी का अच्छी तरह आलिङ्गन करे । अब आलिङ्गन के मन्त्र का अर्थ बतलाया जाता है । "हे प्रिये ! मै प्राराा हूँ और तुम प्राणरूप मेरे अधीन वाक् हो। इसी को पुन

करने के लिये पुनः कहा जाता है कि–हे देवि ! मै प्राग हूँ और तुम प्राणरूप मेरे अधीन वाक् हो । मैं सामवेद हूँ और तुम सामवेद का आधाररूप ऋग्वेद हो । सामवेद के विषय में लिखा है –**गीतिषु सामाख्या ॥** पूर्वमी० अ० २ पा० १ सू० ३६) गान में सामवेद नाम होता है ।।३६।। **सहस्रसंख्यया जाताः शाखाः साम्नः परन्तप ॥** (मुक्तिकोप० अध्याय १ श्रु० १३) हे परन्तप महावीर ! सामवेद की हजार शाखाएँ हैं ।।१३।। और ऋग्वेद के विषय में लिखा है–**तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था ॥** (पूर्वमी० अ० २ पा० १ सू० ३५) जिसमें अर्थवश से पाद की व्यवस्था होती है उसी को ऋग्वेद कहते हैं।।३५।। **ऋग्वेदस्य तु शाखाः स्युरेकविंशतिसंख्यकाः ।** (मुक्तिकोप० अ० १ श्रु० १२) हे महावीर ! ऋग्वेद की इक्कीस शाखाएँ हैं ।।१२।। और मैं वर्षारूप बीजप्रद आकाश हूँ तथा तुम बीज को धारग करनेवाली पृथ्वी हो। अतएवं हे प्रिये ! आओ हम दोनों दम्पति परस्पर मिलकर उद्योग करें। हम दोनों मिलकर एक साथ वीर्य धारग करें जिससे हमें पुरुषत्वविशिष्ट सन्तान का लाभ हो"।।२०।।

अथास्या ऊरू विहापयति "विजिहीथां द्यावापृथिवी" इति तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखं संधाय त्रिरेनामनुलोमामनुमार्ष्टि। "विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु। आसिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते। गर्भं धेहि सिनीवाली गर्भं धेहि पृथुष्टुके। गर्भं ते अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजौ"।।२१।।

अन्वयार्थ–(अथ) आलिङ्गन के पश्चात् (अस्याः) इस धर्मपत्नी की (ऊरू) दोनो जाँघों को (इति) इस वक्ष्यमाग मन्त्र को पढ़ते हुए पति (विहापयति) एक दूसरे से अलग करे और कहे कि (द्यावापृथिवी) हे ऊरू स्वरूप आकाश और पृथ्वी (विजिहीथाम्) तुम दोनों विलग होवो इसके बाद अपनी भार्या की (तस्याम्) उस योनि में (अर्थम्) गमनशील जननेन्द्रिय को (निष्ठाय) स्थापित करके और (मुखेन) उस पत्नी के मुख में (मुखम्) अपने मुख को (संधाय) मिलाकर (एनाम्) इस अपनी भार्या को (अनुलोमाम्) अनुलोम क्रम से यानी केशादि पादान्त समस्त शरीर को (त्रिः) तीन बार (अनुमार्ष्टि) हाथ से मार्जन करे, उस मार्जन समय में आगे वक्ष्यमाग मन्त्र का पाठ करे (विष्णुः) सर्वव्यापी नारायग भगवान् (ते) तेरी (योनिम्) जननेन्द्रिय को (कल्पयतु) पुत्रोत्पादन में समर्थ बनावें (त्वष्टा) सूर्यदेव (रूपाणि) तेरे रूपों को (पिंशतु) दर्शनीय सुन्दर बनावें (प्रजापतिः) प्रजापतिदेव तेरे वदन को (आसिञ्चतु) जल से अच्छी तरह सिक्त करें और (धाता)ब्रह्मा तेरे (गर्भम्) गर्भ को (दधातु) धारग

करने के लिये पुनः कहा जाता है कि–हे देवि ! मै प्राग्रा हूँ और तुम प्राणरूप मेरे अधीन वाक् हो । मैं सामवेद हूँ और तुम सामवेद का आधाररूप ऋग्वेद हो । सामवेद के विषय में लिखा है –**गीतिषु सामाख्या ॥** पूर्वमी० अ० २ पा० १ सू० ३६) गान में सामवेद नाम होता है ।।३६।। **सहस्रसंख्यया जाताः शाखाः साम्नः परन्तप ॥** (मुक्तिकोप० अध्याय १ श्रु० १३) हे परन्तप महावीर ! सामवेद की हजार शाखाएँ हैं ।।१३।। और ऋग्वेद के विषय में लिखा है–**तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था ॥** (पूर्वमी० अ० २ पा० १ सू० ३५) जिसमें अर्थवश से पाद की व्यवस्था होती है उसी को ऋग्वेद कहते हैं।।३५।। **ऋग्वेदस्य तु शाखाः स्युरेकविंशतिसंख्यकाः ।** (मुक्तिकोप० अ० १ श्रु० १२) हे महावीर ! ऋग्वेद की इक्कीस शाखाएँ हैं ।।१२।। और मैं वर्षारूप बीजप्रद आकाश हूँ तथा तुम बीज को धारग्रा करनेवाली पृथ्वी हो। अतएवं हे प्रिये ! आओ हम दोनों दम्पति परस्पर मिलकर उद्योग करें। हम दोनों मिलकर एक साथ वीर्य धारग्रा करें जिससे हमें पुरुषत्वविशिष्ट सन्तान का लाभ हो"।।२०।।

अथास्या ऊरू विहापयति "विजिहीथां द्यावापृथिवी" इति तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखं संधाय त्रिरेनामनुलोमामनुमार्ष्टि। "विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु। आसिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते। गर्भं धेहि सिनीवाली गर्भं धेहि पृथुष्टु के। गर्भं ते अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजौ"।।२१।।

अन्वयार्थ–(अथ) आलिङ्गन के पश्चात् (अस्याः) इस धर्मपत्नी की (ऊरू) दोनो जाँघों को (इति) इस वक्ष्यमाग्रा मन्त्र को पढ़ते हुए पति (विहापयति) एक दूसरे से अलग करे और कहे कि (द्यावापृथिवी) हे ऊरू स्वरूप आकाश और पृथ्वी (विजिहीथाम्) तुम दोनों विलग होवो इसके बाद अपनी भार्या की (तस्याम्) उस योनि में (अर्थम्) गमनशील जननेन्द्रिय को (निष्ठाय) स्थापित करके और (मुखेन) उस पत्नी के मुख में (मुखम्) अपने मुख को (संधाय) मिलाकर (एनाम्) इस अपनी भार्या को (अनुलोमाम्) अनुलोम क्रम से यानी केशादि पादान्त समस्त शरीर को (त्रिः) तीन बार (अनुमार्ष्टि) हाथ से मार्जन करे, उस मार्जन समय में आगे वक्ष्यमाग्रा मन्त्र का पाठ करे (विष्णुः) सर्वव्यापी नारायग्रा भगवान् (ते) तेरी (योनिम्) जननेन्द्रिय को (कल्पयतु) पुत्रोत्पादन में समर्थ बनावें (त्वष्टा) सूर्यदेव (रूपाणि) तेरे रूपों को (पिंशतु) दर्शनीय सुन्दर बनावें (प्रजापतिः) प्रजापतिदेव तेरे वदन को (आसिञ्चतु) जल से अच्छी तरह सिक्त करें और (धाता)ब्रह्मा तेरे (गर्भम्) गर्भ को (दधातु) धारग्रा

हैं।।६।। "हे शोभायमान केशान्विते! श्रीपति के अनुग्रह से प्रसन्नचित्ता होकर तुम गर्भ को धारण करो। हे वहुस्तुते प्रिये! श्रीमन्नारायण की कृपा से प्रीति पूर्वक हृष्ट मन होकर तुम गर्भ को धारण करो। और कमल की माला धारण करने वाले दोनों अश्विनीकुमारदेव तेरे गर्भ को अक्षत, अनुपहत, अच्युत रखकर अच्छी तरह पोषण करें यानी बढ़ावें"। यहाँ "पुष्कर" शब्द कमल वाचक तथा "स्रज्" शब्द माला वाचक है। क्योंकि लिखा है–**विसप्रसूनराजीव पुष्काराम्भोरुहाणि च ॥** (अमर० कां० १ व० १० श्लो० ४१) विसप्रसून १, राजीव २, पुष्कर ३, अम्भोरुह ४ ये कमल के नाम हैं।।४१।। **माल्यंमालास्रजौ मूर्ध्नि ॥** (अमर० कां० २ व० ६ श्लो० १३५) माल्य १, माला २ स्रज् ३ ये सिर पर धारण करने योग्य माला के नाम हैं।।१३५।। और "अश्विनौ" पद अश्विनी कुमार वाचक है। क्योंकि लिखा है–**नासत्यावश्विनौ दस्रवाश्विनेयौ च ताम्वुभौ॥** (अमर० कां० १ व० १ श्लो० ५१) नासत्य १, अश्विन् २, दस्र ३, आश्विनेय ४ ये अश्विनी कुमार के नाम हैं।।५१।। इस प्रकार प्रतिपादन किया गया है।।२१।।

हिरणमयी अरणी याभ्यां निर्मन्थतामश्विनौ। तं ते गर्भं हवामहे दशमे मासि सूतवे । यथाऽग्निगर्भा पृथिवी यथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी । वायुर्दिशां यथा गर्भ एवं गर्भं दधामि तेऽसाविति।।२२।।

अन्वयार्थ–(हिरण्मयी) प्राचीनकाल में ज्योतिर्मयी (अरणी) दो अरणियाँ थीं (अश्विनौ) देववैद्य अश्विनीकुमारों ने (याभ्याम्) जिन दो अरणियों से पहले अमृतरूप गर्भ को (निर्मन्थताम्) मन्थन करके प्रकट किया (तम्) उस अमृतरूप (गर्भम्) गर्भ को (ते) तेरी कुक्षि में (हवामहे) हम स्थापित करते हैं (दशमे) दसवें (मासि) महीने में (सूतये) सन्तान होने के लिये (पृथिवी) पृथ्वी (यथा) जैसे (अग्निगर्भा) अग्नि से गर्भवती है और (द्यौः) आकाश (यथा) जैसे (दिशाम्) पूर्वादि दिशाओं का (गर्भः) है (एवम्) वैसे ही (इति) इस पुत्ररूप (गर्भम्) गर्भ को (ते) तेरी कुक्षि में (दधामि) मैं स्थापित करता हूँ (असौ) अन्त में यह अमुक देवी है ऐसा कहकर अपनी पत्नी का नामोच्चारण करना चाहिये।।२२।।

विशेषार्थ–पूर्वकाल में तेजोमयी दो अरणियाँ थी। जिनअरणियों से देववैद्य अश्विनी कुमारों ने मन्थन किया । उस मन्थनसे अमृतरूप गर्भ प्रकट हुआ। अरणि के विषय में है–**निर्मन्थ्य दारुणि त्वरणिर्द्वयोः॥** (अमर० कां० २ व० ७ श्लो० १९) जिस लकड़ी को मथ के अग्नि निकालते हैं उसका ही नाम अरणि है।।१९।। **अश्वत्थो**

यः शमीगर्भः प्रशस्तोर्वीसमुद्भवः। तस्य या प्राङ्मुखी शाखा उदीचीचोर्ध्वगापि वा ॥ अरणीतन्मयी ज्ञेया तन्मध्ये चोत्तरारणिः ॥ (धर्मशास्त्र०) प्रशस्त भूमि में उत्पन्न जो शमीगर्भ पीपल का वृक्ष है । उस वृक्ष की जो पूरब मुखकी या उत्तर मुख की या ऊपर मुख की शाखा है। उसी शुष्क शाखा की "अरणी" होती है ऐसा जानना चाहिये । और उसी शुष्क पीपल वृक्ष की शाखा के मध्यकाष्ठ में "उत्तरारणि" होती है ऐसा जानना चाहिये–**यदत्र सारवत्काष्ठमोबिलीति प्रशस्यते ॥** उस शुष्क पीपल वृक्ष की शाखा का जो सारवाला काठ है उसी की "ओबिली" प्रशस्त कही गई है–**संसक्तमूलो यः शम्याः स शमीगर्भ उच्यते । अभावे त्वशमीगर्भादाहरेदविलम्बितः॥ चतुर्विंशाङ्गुला दीर्घाविस्तारेण षडङ्गुला । चतुरङ्गुलमुत्सेधा अरणिर्याज्ञिकैः स्मृता॥** शमी का जो संसक्त मूल है उसी को शमीगर्भ कहते हैं। शमीगर्भ काष्ठ के अभाव में अन्य काष्ठ को अरणि बनाने के लिये ग्रहण करें। चौबीस अंगुल लम्बी और छः अङ्गुल चौड़ी तथा चार अङ्गुल ऊंची अरणि होती है ऐसा याज्ञिक लोग कहते हैं–**मूलादष्टाङ्गुलंत्यक्त्वा ह्यग्राच्च द्वादशाङ्गुलम् । अन्तरं देवयोनिः स्यात्तत्र मथ्यो हुताशनः॥** मूल से आठ अंगुल बराकर और अग्रभाग से बारह अंगुल बराकर मध्य में चार देवयोनि स्थान है वहाँ ही अग्निमन्थन करना चाहिये–**मूर्धाक्षिकर्णवक्त्राणि कन्धरा चापि पञ्चमी। अङ्गुष्टामात्रं हृदयं त्र्यङ्गुष्ठमुदरं तथा॥ एकाङ्गुष्ठ कटिर्ज्ञेया द्वौ वस्ते द्वौंच गुह्यके। ऊरूजङ्घे च पादौ च एष्वेकैकं यथाक्रमम्॥ अरण्यवयवा ह्येते याज्ञिकैः परिकीर्तिताः। यद्गुह्यमिति हि प्रोक्तं देवयोनिः स उच्यते॥ तस्यां यो जायते बह्निः सः कल्याणकृदुच्यते। प्रथमे मन्थने ह्येष नियमो नोत्तरेषुच॥** मस्तक १, नेत्र २, कान ३, मुख ४, और पाँचवी कन्धा ५ ये सब अरणि में एक अङ्गुष्ठमात्र अवयव हैं और दो अंगुल वक्षःस्थल कहा गया है । तथा हृदय एक अंगुष्ट और उदर तीन अंगुष्ठ, कटि एक अंगुष्ठ तथा गुदामार्ग दो अंगुष्ठ और योनि दो अंगुष्ठमात्र जानना चाहिये और दोनों ऊरु, दोनों जंघे, दोनों पैरों को यथाक्रम से एक एक अंगुष्ठमात्र जानना चाहिये। इस प्रकार अरणि का अवयव याज्ञिक लोगों ने कहा है। जो निश्चय करके गुह्य योनि कही गई है वही देवयोनि है ऐसा कहा जाता है । उस देवयोनि में जो अग्नि उत्पन्न होती है वही कल्याण करने वाली कही गयी है। प्रथम अग्नि मन्थन में यह नियम है इसके बाद यह नियम नहीं कहा गया है –**अष्टाङ्गुलः प्रमन्थः स्याच्चात्रं स्याद् द्वादशाङ्गुलम् । ओबिली द्वादशैवस्यादेतन्मन्थनयंत्रकम् ॥** प्रमन्थ आठ अंगुल का तथा चात्र बारह अंगुल का और ओबिली भी बारह अंगुल की होनी चाहिये। यह मन्थन यन्त्र है, ऐसा याज्ञिक लोग कहते हैं– **गोवालैःशणसंमिश्रैः त्रिवृद्वृत्तमनंशकम्। व्यासप्रमाणं नेत्रं स्यात्तेन मथ्यो हुताशनः। चात्रवुध्ने प्रमन्थाग्रं**

गाढं कृत्वा विचक्षणैः॥ (आह्निकसू०) सन से मिला हुआ गोबाल की रस्सी चिक्कन बनाकर उसको तिगुना भाँजकर व्यासप्रमाण बनावे उसी को "नेत्र" कहते हैं॥ उसी नेत्र से चात्रबुध्न छिद्र में प्रमन्थ के अग्रभाग को गाढ़ स्थापन करके बुद्धिमान पुरुष अग्निमन्थन करें॥ हे रम्भोरु! दसवें मास में सन्तान होने के लिये उस अमृतरूप गर्भ को हम तेरे जठर में स्थापित करते हैं। जैसे अग्नि में पृथ्वी गर्भवती है और जैसे आकाश परमैश्वर्य युक्त सूर्य से गर्भवती है , तथा दिशाएँ जैसे वायु के द्वारा गर्भवती हैं– वैसे ही हे वरारोहे! मैं तेरी कुक्षि में इस पुत्र रूप गर्भ को स्थापित करता हूँ । यों कहकर गर्भाधान करे और "असौ" पद के द्वारा यह सूचित किया गया है कि अन्त में अपनी धर्मपत्नी का नामोच्चारण करना चाहिये॥२२॥

सोष्यन्तीमद्भिरभ्युक्षति। "यथा वायुः पुष्करिणीं समिङ्गयति सर्वतः। एवा ते गर्भ एजतु सहावैतु जरायुणा। इन्द्रस्यायं व्रजः कृतः सार्गलः सपरिश्रयः। तमिन्द्र निर्जहि गर्भेण सावरां सहेति"॥२३॥

अन्वयार्थ–(सोष्यन्तीम्) प्रसवकाल में प्रसव करने वाली भार्या को (इति) इस वक्ष्यमाण मन्त्र को पढ़कर (अद्भिः) जल से (अभ्युक्षति) पति अभिषेचन करे मन्त्र ये हैं (यथा) जैसे (वायुः) वायु (पुष्करिणीम्) चौकोने तालाब को (सर्वतः) सब ओर से (समिङ्गयति) चञ्चल कर देती है (एवा) वैसे ही (ते) तेरा (गर्भः) गर्भ (एजतु) अपने स्थान से चलायमान होवे और (जरायुणा) गर्भ वेष्टन चर्म के (सह) साथ (अवैतु) बाहर निकल आवे (इन्द्रस्य) जीवात्मा के लिये (अयम्) यह योनिरूप (व्रजः) मार्ग (सार्गलः) निरोध के सहित और (सपरिश्रयः) चारो ओर वेष्टन के सहित (कृतः) परमात्मा ने बनाया है (इन्द्र) हे जीवात्मन् (तम्) उस मार्ग को प्राप्त कर (निर्जहि) तू बाहर निकल जा और पश्चात् (गर्भेण) गर्भ के (सह) साथ (सावराम्) मांशपेशी को भी तू बाहर निकालो ॥२३॥

विशेषार्थ–प्रसवकाल में प्रसवोन्मुखीभार्या को देखकर आगे कहे जाने वाले "यथा वायुः" इत्यादि मन्त्र पढ़कर सुख पूर्वक प्रसव होने के लिये जल से अभिषिक्त करे। अब आगे मन्त्र बतलाया जाता है कि–"जैसे वायु पुष्करिणी को सब ओर से हिला देती है। यहाँ "पुष्करिणी" शब्द चौकोने तालाब का वाचक है। क्योंकि लिखा है–**पुष्करिण्यां तु खातं स्यात्॥** (अमर० कां० २ व० १० श्लो० २७) पुष्करिणी १, खात २ ये चौकोने तालाब के नाम हैं॥२७॥ "वैसे ही तुम्हारा गर्भ भी अपने स्थान

से खिसक कर गर्भवेष्टन चर्मके साथ यानी जेर के साथ बाहर कुक्षि से निकल आवे। यहाँ "जरायु" शब्द गर्भस्थान वाचक है। क्योंकि लिखा है–**गर्भाशयो जरायुः स्यात्॥** (अमर० कां० २ व० ६ श्लो० ३८) गर्भाशय १, जरायु २ ये गर्भ स्थान के नाम हैं।।३८।। "परब्रह्म नारायरा ने जीवात्मा के लिये यह योनि मार्ग अर्गला सहित और चारो ओर वेष्टन सहित बनाया है। यहाँ "व्रज" शब्द मार्ग वाचक और "अर्गल" शब्द किवाड़ों के निरोधक– डण्डेला वाचक है। क्योंकि लिखा है–**गोष्ठाध्वनिवहा व्रजाः॥** (अमर० कां० ३ व० ३ श्लो० ३०) गोशाला तथा मार्ग और समूह में व्रज शब्द का प्रयोग होता है।।३०।। **तद्विष्कम्भोऽर्गलं नामना॥** (अमर० कां० २ व० ३ श्लो० १७) किवाड़ों के डराडेले का नाम अर्गल है ।।१७।। "हे जीवात्मन ! तुम उस योनिरूप मार्ग को प्राप्त कर माँ के पेट से बाहर निकल जा और पश्चात् गर्भ के साथ मांसपेशी को भी बाहर निकालो"।।२३।।

जातेऽग्निमुपसमाधायाङ्क आधाय कंसे पृषदाज्यं संनीय पृषदाज्यस्योपघातं जुहोति। अस्मिन् सहस्रं पुष्यासमेधमानः स्वे गृहे। अस्योपसन्द्यां माच्छैत्सीत् प्रजया च पशुभिश्च स्वाहा। मयि प्रारााँस्त्वयिमनसा जुहोमि स्वाहा। यत्कर्मराात्यरीरिचंयद्वान्यूनमिहाकरवम्। अग्निष्टत्स्विष्टकृद्विद्वान् सर्वं स्विष्टं सुहुतं करोतु नः स्वाहेति॥२४॥

अन्वयार्थ–(जाते) पुत्र के जन्म हो जाने पर पिता (अग्निम्) अग्नि) को (उपसमाधाय) समीप में शास्त्रानुसार स्थापन करके (अङ्के) पुत्र को अपनी गोद में (आधाय) लेकर (कंसे) कांस के कटोरे में (पृषदाज्यम्) दधि मिश्रित घृत को (संनीय) रखकर (पृषदाज्यस्य) दही मिले हुए घी का (उपधातम्) थोड़ा–थोड़ा सा अंश लेकर (इति) इन वक्ष्यमरा मन्त्रों से (जुहोति) अग्नि में होम करे मन्त्र ये हैं (अस्मिन्) इस (स्वे) अपने (गृहे) घर में (एधमानः) पुत्ररूप से वृद्धि को प्राप्त हुआ मैं (सहस्त्रम्) हजारों मनुष्यों को (पुष्यासम्) पोषरा करनेवाला होऊँ (च) और (अस्य) इस मेरे पुत्र के (उपसन्द्याम्) गृह में (प्रजया) सन्तति (च) और (पशुभिः) गौ, भैंस, घोड़ा, हाथी, आदि पशुओं के साथ धन–सम्पत्ति का कभी (माच्छैत्सीत) उच्छेद नहो (स्वाहा) इस निमित्त यह पहली आहुति मैं देता हूँ और (मयि) मुझ पिता में (प्राणान्) जो प्रारा हैं उन प्राणों को (त्वयि) तुझ पुत्र में (मनसा) मन से (जुहोमि)मैं दे रहा हूँ (स्वाहा) इस निमित्त यह दूसरी आहूति मैं देता हूँ (कर्मणा) कर्म के द्वारा (यत्)

जो मैंने (अत्यरीरिचम्) अधिक कर्म किया है (वा) अथवा (इह) इस कर्म में (यत्) जो (न्यूनम्) न्यून यानी त्रुटि (अकरवम्) मैंने की है (स्विष्टकृत्) परमशोभन इष्टदेव (विद्वान्) सब कुछ जानेवाला परमज्ञानी (अग्निः)अग्नि के समान देदीप्यमान परमात्मा (नः) हमारे (तत्) उस (सर्वम् समस्त न्यूनातिरिक्त कर्म को (स्विष्टम्) शोभनेष्टि युक्त और (सुहुतम्) सुहुत (करोतु) कर दें (स्वाहा) इस निमित्त यह तीसरी आहुति मैं देता हूँ।।२४।।

विशेषार्थ–इस कण्डिका की व्याख्या से पहले गर्भाधान होने के बाद जो द्विजातियों के संस्कार होते हैं उसका संक्षेप से यहाँ कर्मठों के आनन्द के लिये दिग्दर्शन कराया जाता है। कृपयाभागवत लोग अवलोकन करें। **अथ पुंसवनम्।।** (पारस्करगृ० कां० १ कं० १४ सू० १) **पुरा स्पन्दत इति मासे द्वितीये तृतीये वा।।२।। यदहः पुंसा नक्षत्रेरा चन्द्रमा युज्येत तदहरुपवास्याप्लाव्याहते वाससी परिधायन्यग्रोधावरोहा ञ्छुङ्गाँ श्च निशायामुदपेषं पिष्ट्वा पूर्ववदासेचनं "हिरण्यगर्भोऽद्भ्यः संभृत" इत्येताभ्याम्।।३।।** अब गर्भाधान संस्कार के बाद पुंसवन नाम से प्रसिद्ध दूसरे संस्कार को कहते हैं।।१।। सञ्चालन से पहले गर्भाधान से दूसरे अथवा तीसरे महीने में यह पुंसवन संस्कार करे।।२।। जिस रोज चन्द्रमा पुरुष वाची नक्षत्र से युक्त हो उस रोज स्त्री को उपवास कराकर तथा स्नान कराकर नया वस्त्र पहनावे और पति वट वृक्ष की बरोह और टुसाओं को लाकर रात को जल के साथ पीस के पहले गर्भाधान में कही हुई विधि से "हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।सदाधारपृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम।।" (यजु० अ० १३ मं० ४) **अद्भ्यः सम्भृतः पृथिव्यै रसाञ्च विश्वकर्मराः समवर्तताग्रे। तस्य त्वष्टा विदधद्रूपमेति तन्मर्त्यस्य देवत्वमाजानमग्रे।।** (यजु० अ० ३१ मं० १७) इन दोनों मन्त्रों को पढ़ते हुए स्त्री के दाहिनी नासिक में नास देवे।।३।। **अथ सीमन्तोन्नयनम्।।** (पारस्करगृ० कां० १ कं० १५ सू० १) **पुंसवनवत्।।२।। प्रथमगर्भे मासेषष्ठेऽष्टमे वा।।३।। तिलमुद्ग मिश्रं स्थालीपाकं श्रपयित्वा प्रजापतेर्हुत्वा पश्चादग्नेर्भद्रपीठ उपविष्टायां युग्मेन सटालुग्रप्सेनौदुम्बरेरा त्रिभिश्चदर्भपिञ्जुलैस्त्र्येण्या शलल्या वीरतरशङ्कुना पूर्णचात्रेरा च सीमन्त मूर्ध्वम्विनयति भूर्भुवः स्वरिति।।४।। प्रतिमहाव्याहृतिभिर्वा।।५।। त्रिवृतमाबध्नाति अयमूर्जावतो वृक्ष उर्ज्जीव फलिनी भवेति।।६।। अथाह वीणागाथिनौ राजानं सङ्गायेतां यो वाऽप्यन्यवीरतर इति।।७।।** पुंसवन संस्कार के पश्चात् अब सीमन्तोन्नयनसंस्कार को कहता हूँ।।१।। यह सीमन्तोन्नयनसंस्कार पुंसवनसंस्कार के समान स्त्री को उपवासादि कराकर पुरुषवाची नक्षत्रों में ही करवाना चाहिये।।२।। यह सीमन्तोन्नयनसंस्कार पहले गर्भ में छठवें अथवा आठवें महीने में करना चाहिये।।३।। पूर्वोक्त तिथि वार नक्षत्रों

में प्रातः समय स्त्री पुरुष स्नान कर सन्ध्योपासनादि नित्यकर्म समाप्त कर इस कार्य को आरम्भ करें। तिल, मूँग मिले हुए चावल को स्थाली में पका कर प्रजापति देवता को आहुति प्रदान करे। अग्नि के पश्चिम कोमल पीढ़े पर बैठी हुई स्त्री की मांग को दो कच्चे मिले हुए गूलर के फलों से तथा तीन कुशा की रस्सियों से और तीन जगह सफेद हो ऐसे साहील के काँटों से तथा पीपल की खूँटी से और सूत से भरे हुए टेकुए से "भूर्भुवः स्वः" इन मन्त्रों को पढ़ता हुआ उपर को झाड़े।।४।। अथवा हर एक व्याहृति से अलग अलग झाड़े।।५।। सब केशों को झाड़ कर तीन भाग करके चोटी गूँथ कर "अयमूर्जावतो वृक्ष उर्ज्जीव फलिनी भव" इस मन्त्र को पढ़ते हुए अच्छी तरह से बाँध देवे।।६।। चोटी बान्धने के पश्चात्! कहे कि हे वीणा बजाने वाले और गाने वाले! राजाओं के सुचरित्रों को सम्यक् प्रकार से गान करो अथवा जो दूसरा भी वीर से वीर हो तो उसका भी चरित्र गान करो।।७।। अब आगे प्रस्तुत प्रकृत कण्डिका का अर्थ बतलाया जाता है कि–पुत्र उत्पन्न होने पर पिता शास्त्रानुसार अग्नि को स्थापन करके, नवजात शिशु को गोद में लेकर और कांस के कटोरे में दधि मिश्रित घृत को रख कर, दही को घी में मिला कर उसका थोड़ा-थोड़ा सा अंश लेकर "अस्मिन् सहस्रम्" इत्यादि मन्त्र को पढ़ते हुए अग्नि में आहुति दे। यहाँ "पृषदाज्य" शब्द दधिमिश्रित घृत वाचक है क्योंकि लिखा है–**पृषदाज्यं सदध्याज्ये।।** (अमर० कां० १ व० ७ श्लो० २४) दही घी मिले हुए का नाम पृषदाज्य है।।२४।। अब आगे मन्त्र का अर्थ बतलाया जाता है। "अपने इस घर में पुत्ररूप से वृद्धि को प्राप्त होता हुआ मैं सहस्रों मनुष्यों का एकमात्र पोषण करने वाला होऊँ। इस मेरे अपत्य के गृह में संतति और गौ, भैंस, घोड़ा, हाथी आदि पशुओं के साथ धन सम्पत्ति का कभी विच्छेद न हो। इस निमित्त यह पहली आहुति मैं देता हूँ" इस मन्त्र को पढ़कर प्रथम आहुति देवे। "मुझ पिता में जो प्राण हैं उन प्राणों को तुझ में मैं मन ही मन दे रहा हूँ, इस निमित्त यह दूसरी आहुति मैं देता हूँ" इस मन्त्र को पढ़कर द्वितीय आहुति देवे। "मैंने प्रधान कर्म करने के साथ साथ जो कुछ अधिक कर्म कर डाला है अथवा इस आवश्यक कर्म में भी जो न्यून यानी त्रुटि मैंने कर दी है। हमारे उस सम्पूर्ण अतिरिक्त और न्यून कर्म को परम शोभन इष्टप्रद सब कुछ जानने वाले परम ज्ञानी परब्रह्म नारायण नयूनातिरिक्त दोष से रहित यानी शोभनेष्टियुक्त और सुहुत कर दें। इस निमित्त यह तीसरी आहुति मैं देता हूँ" इस मन्त्र को पढ़कर तृतीय आहुति देवे। इस कण्डिका में "अग्नि" शब्द परब्रह्म नारायण वाचक है क्योंकि लिखा है–**इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।।** (ऋग्वे० म० १ सू० १६ मं० ४६) इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य गरुड, गरुत्मान्,

दीप्तिमान्, यम, वायु, सत् इत्यादि अनेक प्रकार से एक नारायरा को विप्रगरा कहते हैं।।४६।। **तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः॥** (यजु॰ अ॰ ३२ मं॰ १) वही नारायरा निश्चय करके अग्नि हैं वही सूर्य हैं, वही वायु हैं और वही निश्चय करके चन्द्रमा हैं।।१।। **स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट्। स एव विष्णुः स प्राणः स कालोऽग्निः स चन्द्रमाः॥** (कैवल्यो॰ श्रु॰ ८) वही नारायरा ब्रह्मा है वही शिव है वही इन्द्र है, वही अक्षर परमात्मा है, वही निश्चय करके विष्णु है, वही प्रारा है, वही काल है, वही अग्नि है और वही चन्द्रमा है।।८।। **वायुर्यमोऽग्निर्व रुणो शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च॥** (गी॰ अ॰ ११ श्लो॰ ३९) इन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि अग्नि, परब्रह्म नारायरा को ही कहते हैं। और अन्यत्र लिखा है **जातस्य कुमारस्याच्छिन्नायां नाड्यां मेधाजननायुष्ये करोति॥** (पारस्क॰ कां॰ १ कं॰ १६ सू॰ ३) बालक के उत्पन्न हो जाने पर नाल बिना काटे मेधा जनन और आयुष्य कर्मों को करे।।३।। इस प्रकार प्रतिपादन किया गया है। ग्रन्थ के विस्तार के भय से अधिक यहाँ मैं नही लिखता हूँ।।२४।।

अथास्य दक्षिरां कर्णमभिनिधाय वाग्वागिति त्रिः। अथ दधि मधु घृतं संनीयानन्तर्हितेन जातरूपेरा प्राशयति। भूस्ते दधामि भुवस्ते दधामि स्वस्ते दधामि भूर्भुवः स्वः सर्वं त्वयि दधामीति।।२५।।

अन्वयार्थ–(अथ) हवन के पश्चात् पिता (अस्य) इस नवजात सन्तान के (दक्षिराम्) दाहिने (करार्म्) कान को (अभिनिधाय) अपने मुख की ओर करके इस पुत्र के दाहिने कान में (वाक्) वाक् (वाक्) वाक् वाक् (इति)इस प्रकार (त्रिः) तीन बार जपकरे (अथ) तदनन्तर (दधि) दही (मधु) मधु और (घृतम्) घी को कांस के कटोरे में (सन्नीय) अच्छी तरह मिला कर (अनन्तर्हितेन) अव्यवहित (जातरूपेरा) सोने के चमस से (इति) इन अगले मन्त्रों को पढ़कर (प्राशयति) पिता बालक को चार बार चटावे ये मन्त्र हैं (ते) तुझमें (भूः) भूलोक की (दधामि) स्थापना मैं करता हूँ ऐसा कहकर प्रथम बार चटावे और (ते) तुझमें (भुवः) भुवर्लोक की (दधामि) स्थापना मैं करता हूँ ऐसा कहकर द्वितीय बार चटावे तथा (ते) तुझमें (स्वः) स्वर्लोक की (दधामि) स्थापना करता हूँ ऐसा कह कर तृतीय बार चटावे और (त्वयि) तुझमें (सर्वम्) सम्पूर्रा (भूः) भूलोक को (तथा)और (भुवः) भुवर्लोक को और (स्वः) स्वर्लोक को (दधामि) मैं स्थापन करता हूँ ऐसा कहकर चतुर्थ बार चटावे।।२५।।

विशेषार्थ–होम करने के बाद पिता नवजात बालक के दाहिने कान में अपना मुख लगाकर "वाक् वाक् वाक्" ऐसा तीन बार जप करे। तीन बार जप करने का तात्पर्य यह है कि तेरी बुद्धि में वेदत्रयी रूप वाणी प्रवेश करे। तदनन्तर दही, मधु और घी को कांसे के कटोरे में मिलाकर दूसरे द्रव्य के व्यवधान से रहित सोने के चमस से "भूस्ते दधामि" मै तुझमें भूर्लोक की स्थापना करता हूँ" इस मन्त्र को पढकर प्रथम बार पुत्र को चटावे १। और "भुवस्ते दधामि" मैं तुम में भुवर्लोक की स्थापना करता हूँ" इस मन्त्र को पढ़कर द्वितीय बार पुत्र को चटावे २। तथा "स्वस्ते दधामि" " मैं तुझमें स्वर्लोक की स्थापना करता हूँ "इस मन्त्र को पढ़कर तृतीय बार पुत्र को चटावे। और 'भूर्भुवः स्वः सर्वं त्त्वयि दधाभि' "मैं तुझमें समस्त भूर्लोक तथा भुवर्लोक और स्वर्लोक की स्थापना करता हूँ" इस मन्त्र को पढ़कर चतुर्थबार पुत्र को चटावे ४ यहाँ "जातरूप" शब्द सुवर्ण वाचक है। क्योंकि लिखा है–**चामीकरं जातरूपं महारजतकाञ्चने॥** (अमर॰ कां॰ २ व॰ ९ श्लो॰ ९५) चामीकर १, जातरूप २, महारजत ३, काम्चन ४ ये सोने के नाम हैं।।९५।। और अन्यत्र लिखा है–**अनामिकया सुवर्णान्तर्हितया मधुघृते प्राशयति घृतं वा भूस्त्वयि दधामि भुवस्त्वयि दधामि स्वस्त्वयि दधामि भूर्भुवः स्वः सर्वं त्वयि दधामीति॥** (पारस्क॰ कां॰ १ कं॰ १६ सू॰ ४) सोने से ढंकी हुई अनामिका अंगुलि से मधु और घृत को अथवा केवल घृत को "भूस्त्वयि दधामि" इस मन्त्र को पढ़ते हुए प्रथम बार बालक को पिता चटावे। और "भुवस्त्वयि इधामि" इस मन्त्र को पढ़ते हुए द्वितीय बार बालक को चटावे। तथा "स्वस्त्वयि दधामि" इस मन्त्र को पढ़ते हुए तृतीय बार बालक को चटावे। और "भूर्भुवः स्वः सर्वं त्वयि दधामि" इस मन्त्र को पढ़ते हुए चतुर्थ बार बालक को चटावे। इसी कर्म को मेधाजनन कहते हैं।।४।। **अथास्यायुष्यङ्करोति॥** (पारस्क॰ कां॰ १ कं॰ १६ सू॰ ५) नाभ्यान्दक्षिणे वा कर्णो जपति।।६।। मेधाजनन के पश्चात् अब इस बालक के निमित्त आशीर्वादक मन्त्रों का जपकरे।।५।। इन वक्ष्यमारा "अग्निरायुष्मान्" इत्यादि मन्त्रों को बालक के नाभि के समीप अथवा दाहिने कान में पिता जपकरे।।६।। इस प्रकार स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है।।२५।।

अथास्य नाम करोति वेदोऽसीति..तदस्य तद् गुह्यमेव नाम भवति॥२६॥

अन्वयार्थ– (अथ) इसके बाद (अस्य) इस बालक का (नाम) नाम पिता (करोति) करे (वेदः) वेद (असि) तू हैं (इति) ऐसा नाम करे (तत्) उस कारण से (अस्य) उस बालक का (तत्) वह यह वेद (गुह्यम्) अत्यन्त गोपनीय (नाम)

नाम (एव) ही (भवति) होता है।।२६।।

विशेषार्थ–इसके बाद पिता उस पुत्र का "तुम वेद हो " इस प्रकार बोलकर "नामकरण" करे–'वेद' यह नाम रखे। उस बालक का वेद यह नाम अत्यन्त गोपनीय होता है। इस गुप्त नाम को सर्व साधारण में प्रकट नहीं करना चाहिये। यहाँ 'गुह्य' शब्द का अर्थ छिपानेयोग्य होता है। क्योंकि लिखा है–**रहस्योपस्थयोर्गुह्यम्।।** (अमर० कां० ३ व० ३ श्लो १५५) छिपाने योग्य में और उपस्थेन्द्रिय में गुह्य शब्द का प्रयोग होता है।।१५४।। इस प्रकार प्रतिपादन किया गया है।।२६।।

अथैनं मात्रे प्रदाय स्तनं प्रयच्छति। "यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूर्यो रत्नधा वसुविद्यः सुदत्रः। येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि सरस्वति तमिह धातवे करि"ति।।२७।।

अन्वयार्थ– (अथ) गुह्य नाम रखने के बाद पिता (एनम्) अपनी गोद में स्थित इस बालक को (मात्रे) माता की गोद में (प्रदाय) देकर (इति) इस वक्ष्यमाण मन्त्र को पढ़ते हुए (स्तनम्) स्तन्य (प्रयच्छति) प्रदान करे अब मन्त्र बतलाया जाता है (सरस्वति) हे सरस्वति (ते) तुम्हारा (यः) जो (स्तनः) पयोधर (शशयः) दूध का अक्षयभण्डार है तथा (यः) जो (मयोभूः) पोषण का आधार है और (यः) जो (रत्नधाः) रत्नों की खान है तथा (यः) जो (वसुविद्) संपूर्ण धनराशि का ज्ञाता है और (सुदत्रः) उदारदानी है तथा (येन) जिसस्तन से (विश्वा) समस्त (वार्याणि) वरणीय पदार्थों को (पुष्यसि) पोषण करती हो तुम (धातवे) इस सत्पुत्र के जीवन धारणार्थ (तम्) उस स्तन को (इस) मेरी भार्या में (अकः) प्रविष्ट कर दो।।२७।।

विशेषार्थ–नवजात शिशु का "वेद" ऐसा गुह्य नाम रखने के बाद अपनी गोद से पुत्र को उसी माता की गोद मे देकर "यस्तेस्तनः" इत्यादि मन्त्र पढ़ते हुए पिता अपनी भार्या का स्तन बालक के मुह में दे। अब आगे मन्त्र का अर्थ बतलाया जाता है। "हे सरस्वति! तुम्हारा जो स्तन दूध का अक्षय भण्डार तथा पोषण का आधार है, जो रत्नों की खान है तथा सम्पूर्ण धन राशि का ज्ञाता और उदार दानी है तथा जिसके द्वारा तुम समस्त वरणीय पदार्थों का पोषण करती हो, इस सत्पुत्र के जीवन धारणार्थ उस स्तन को तुम मेरी पत्नी के शरीर में प्रविष्ट कर दो" यही मेरी प्रार्थना है। और अन्यत्र लिखा है–**अथास्यै दक्षिणां स्तनम्प्रक्षाल्य प्रयच्छतीमंस्तनमिति।।** (पारस्करगृ० कां० १ कं० १६ सू० २०) **यस्ते स्तन इत्युत्तरमेताभ्याम्।।२१।।** अब बालक की माता के दाहिने स्तनको धोकर पिता "इमं स्तनमूर्जस्वन्तन्धयापाम्प्रपीनमग्ने

सरिरस्यमद्ध्ये। उत्सञ्जुषस्व मधुमन्तमर्वन्त्समुद्रियं सदनमाविशस्व'' इस मन्त्र को पढ़ते हुए बालक को पीने को देवे॥२०॥ और ''यस्तेस्तन: शशयो यो मयोभू र्यो रत्नधावसुविद्य: सुदत्र:। येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि सरस्वति तमिह धातवे क:'' इस मन्त्र को पढ़ते हुए बायें स्तन को भी धोकर बालक को पिलावे॥२१॥ इस प्रकार स्पष्ट वर्णन किया गया है॥२७॥

अथास्य मातरमभिमन्त्रयते। ''इलाऽसिमैत्रावरुणी वीरे वीरमजीजनत्। सा त्वं वीरवती भव याऽस्मान् वीरवतोऽकरदिति। तं वा एतमाहुरतिपिता बताभूरतिपितामहो बताभू: परमां बत काष्ठां प्रापच्छ्रिया यशसाब्रह्मवर्चसेन य एवंविदो ब्राह्मणस्य पुत्रो जायत इति॥२८॥

॥ इति षष्ठाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम्॥

अन्वयार्थ–(अथ) पुत्र के मुंह में स्तन प्रदान करने के बाद (अस्य) पिता इस बालक की (मातरम्) माता को (इति) इस वक्ष्यमाण मन्त्र से (अभिमन्त्रयते) अभिमन्त्रित करे अब आगे मन्त्र बतलाया जाता है कि हे देवी (इला) तू स्तुति करने योग्य (मैत्रावरुणी) वसिष्ठपत्नी अरुन्धती (असि) है (वीरे) हे दुष्ट कुमार्गियों को कँपानेवाली पतिव्रते (वीरम्) अपने वीर पुत्र को (अजीजनत्) उत्पन्न किया है (सा) वह (त्वम्) तुम (वीरवती) अपनी सन्तान से प्रशस्त वीर यानी शूरवाली (भव) होवो (या) जिसने (अस्मान्) हमको (वीरवत:) वीर पुत्र वाला (अकरत्) बनया है (वै) निश्चय करके (तम्) उस (एतम्) इस सन्तान को देखकर (बत) आश्चर्य से (आहु:) कहते हैं कि (अतिपिता) तू अपने पिता के सब गुणों को अतिक्रमण करके (अभू:) महोत्कृष्ट गुणशाली हुआ है और (बत) आश्चर्य है कि (अतिपितामह:) तू अपने पितामह से भी बढ़कर श्रेष्ठ (अभू:) हुआ है (बत) आश्चर्य की बात है कि यह बालक (श्रिया) संपत्ति से तथा (यशसा) कीर्ति से और (ब्रह्मवर्चसेन) ब्रह्मतेज से (परमाम्) चरम (काष्ठाम्) सीमा को (प्रापत्) पहुंच गया है (एवंविद:) इस प्रकार विशिष्ट ज्ञान सम्पन्न (ब्राह्मणस्य) ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण के (य:) जो (पुत्र:) पुत्र (जायते) उत्पन्न होता है उससे पिता भी इसी प्रकार स्तुत्य होता है॥२८॥

विशेषार्थ–नवजात शिशु के मुख में स्तन पिलाने के बाद पिता इस जातक की माता को ''इलासि'' इत्यादि मन्त्र द्वारा अभिमन्त्रित करे अर्थात् प्रशंसा करे। वह यह आगे मन्त्र बतलाया जाता है। हे वरारोहे! तू ''स्तुति करने योग्य इला यानी पृथ्वी

है। जैसे पृथ्वी नाना औषधियों को पैदाकर सब जीवों की रक्षा कर रही है वैसे ही तुम भी सन्तान को उत्पन्न कर पोषरा करने वाली है। यहाँ "इला" शब्द पृथ्वी वाचक है। क्योंकि लिखा है–**गोभूवाचस्त्विडा इला:॥** (अमरकोश कां० ३ व० ३ श्लो० ४२) गौ, पृथ्वी और वाराी तथा नाडी वाचक इला शब्द है॥४२॥ "और तू मेरे गृह में वसिष्ठमहर्षि की पत्नी पतिव्रता साक्षात् अरुन्धती है। तथा "हे वीरे! हे दुष्ट दुराचारी कुमार्गियों को कँपाकर दूर करने वाली प्रिये! "वि+ईर" इन दो शब्दों से "विशेषेरा ईरयति दुष्यान्" इस व्युत्पत्ति के द्वारा सम्बोधन में "वीरे" पद निष्पन्न होता है। "तूने वीर शूर पुत्र को जन्म देकर हमें वीर पुत्र का पिता बनाया है अतः तू अपनी सन्तान से प्रशस्त वीरवती हो। यहाँ "वीर" शब्द शूरवाचक है। क्योंकि लिखा है–**शूरोवीरश्च विक्रान्तः॥** (अमर० कां० २ व ८ श्लो० ७७) शूर १, वीर २, विक्रान्त ३ ये शूर के नाम हैं।७७॥ अब इस प्रकार मन्त्र सहित गर्भाधानादि कर्म करने से कौन फल होता है सो बतलाया जाता है। उस सन्तान को देखकर सब कोई आश्चर्य से कहते हैं कि तू सचमुच अपने पिता के सब शुभ गुणों को अतिक्रमरा करके महोत्कृष्ट गुराशाली हुआ है। इसी प्रकार आश्चर्य से कहते हैं कि–तू निःसन्देह अपने पितामह से भी बढ़कर श्रेष्ठ हुआं है। यहाँ "बत" शब्द आश्चर्यवाचक है। क्योंकि लिखा है–खेदानुकम्पा संतोषविस्मयामन्त्रणे बत॥ (अमर० कां० ३ व० ३ श्लो० २४४) खेद १, दया २, सन्तोष ३, आश्चर्य ४, आमन्त्ररा ५, में बत शब्द का प्रयोग होता है॥२४४॥ आश्चर्य की बात है कि–इस प्रकार के विशिष्टज्ञानसम्पन्न ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मरा को जो पुत्र उत्पन्न होता है वह लक्ष्मी से तथा कीर्ति से और ब्रह्मतेज से सर्वोच्च स्थिति को प्राप्त कर लेता है। और उस पुत्र से पिता भी स्तुत्य हो जाता है। यहाँ "श्री" शब्द सम्पत्ति वाचक है। क्योंकि लिखा है– **संपत्तिः श्रीश्चलक्ष्मीश्च॥** (अमर० कां० २ व० ८ श्लो० ८२) सम्पत्ति १, श्री २, लक्ष्मी ३ ये सम्पत्ति के नाम हैं॥८२॥ ब्रह्मवर्चस के विषय में लिखा है–**स्याद्ब्रह्मवर्चसं वृत्ताध्ययनर्द्धिः॥** अमर० कां० २ व० ७ श्लो० ३८) सदाचार पालन और वेदाभ्यास करने से जो तेज होता है उसका नाम ब्रह्मवर्चस है॥३८॥ और अन्यत्र भी लिखा है–**अथास्य मातरमभिमंत्रयत "इडाऽसि मैत्रावरुराी वीरे वीरमजीजनथा:। सा त्वं वीरवती भव याऽस्मान्वीरवतोऽकरदिति॥** (पारस्क० कां० १ कं० १६ सू० १९) इसके बाद बालक की माता को "इडाऽसि मैत्रावरुणी वीरेवीरमजीजनत्। सा त्वं वीरवती भव याऽस्मान्वीरवतोऽकरत्" इस मन्त्र से पिता अभिमन्त्रित करे॥१९॥ यहाँ पर "बृहदारण्यकोपनिषद्" के षष्ठ अध्याय का चतुर्थ पुत्रमन्थ ब्राह्मरा समाप्त हो गया॥२८॥

॥ अथ पञ्चमं ब्राह्मराम् ॥

अथ वंशः। पौतिमाषीपुत्रः कात्यायनीपुत्रात् कात्यायनीपुत्रो गौतमीपुत्राद् गौतमीपुत्रो भारद्वाजीपुत्राद् भारद्वाजीपुत्रः पाराशरीपुत्रात् पाराशरीपुत्र औपस्वस्थीपुत्रादौपस्वस्थीपुत्रः पाराशरीपुत्रात् पाराशरीपुत्रः कात्यायनीपुत्रात् कात्यायनीपुत्रः कौशिकीपुत्रात् कौशिकीपुत्र आलम्बीपुत्राच्च वैयाघ्रपदीपुत्राच्च वैयाघ्रपदीपुत्रः काण्वीपुत्राच्च कापीपुत्राच्च कापीपुत्रः॥१॥

अन्वयार्थ—(अथ) अब (वंशः) समस्त प्रवचन का वंश बतलाया जाता है। स्त्री की प्रधानता होने से गुरावान पुत्र होता है—ऐसा प्रसङ्ग है। इससे यहाँ माता के नाम के साथ वंश कहा जाता है (पौतिमाषीपुत्रः) पौतिमाषीपुत्र ने (कात्यायनीपुत्रात्) कात्यायनीपुत्र से विद्या प्राप्त की और (कात्यायनीपुत्रः) कात्यायनीपुत्र ने (गौतमीपुत्रात्) गौतमीपुत्र से विद्या प्राप्त की तथा (गौतमीपुत्रः) गौतमीपुत्र ने (भारद्वाजीपुत्रात्) भारद्वाजीपुत्र से विद्या प्राप्त की और (भारद्वाजीपुत्रः) भारद्वाजीपुत्र ने (पाराशरीपुत्रात्) पाराशरीपुत्र से विद्या प्राप्त की तथा (पाराशरीपुत्रः) पाराशरीपुत्र ने (औपस्वस्थीपुत्रात्) औपस्वस्थीपुत्र से विद्या प्राप्त की और (औपस्वस्थीपुत्रः) औपस्वस्थीपुत्र ने (पाराशरीपुत्रात्) पाराशरीपुत्र से विद्या प्राप्त की तथा (पाराशरीपुत्रः) पाराशरीपुत्र ने (कात्यायनीपुत्रात्) कात्यायनीपुत्र से विद्या प्राप्त की और (कात्यायनीपुत्रः) कात्यायनीपुत्र ने (कौशिकीपुत्रात्) कौशिकीपुत्र से विद्या प्राप्त की तथा (कौशिकीपुत्रः) कौशिकीपुत्र ने (आलम्बीपुत्रात्) आलम्बीपुत्र से (च) और (वैयाघ्रपदीपुत्रात्) वैयाघ्रपदीपुत्र से विद्या प्राप्त की (च) और (वैयाघ्रपदीपुत्रः) वैयाघ्रपदीपुत्र ने (काण्वीपुत्रात्) काण्वीपुत्र से (च) तथा (कापीपुत्रात्) कापीपुत्र से विद्या प्राप्त की (च) और (कापीपुत्रः) कापीपुत्र ने आगे की कण्डिका में वक्ष्यमारा आत्रेयी पुत्र से विद्या प्राप्त की॥१॥

विशेषार्थ—अब यह समस्त कही हुई विद्या किस परम्परा से आई है इस विषय का वर्रान किया जाता है। यहाँ माता के नाम के साथ आचार्य परम्परा का उल्लेख किया जाता है। क्योंकि अव्यवहित पूर्व में स्त्री की ही प्रशंसा की गयी है। और स्त्री की प्रधानता होने से ही गुणवान पुत्र होता है। यहाँ प्रथमान्त पद से शिष्य का निर्देश किया गया है। और पञ्चम्यन्त पद से आचार्य का निर्देश किया गया है। पौतिमाषीपुत्र ने कात्यायनीपुत्र से इस अध्यात्मविद्या को प्राप्त किया है। और कात्यायनीपुत्र ने गौतमीपुत्र से इस विद्या को प्राप्त किया है। तथा गौतमीपुत्र ने भारद्वाजीपुत्र से इस विद्या को

प्राप्त किया है। और भारद्वाजीपुत्र ने पाराशरीपुत्र से इस विद्या को प्राप्त किया है। तथा पाराशरीपुत्र ने औपस्वस्थीपुत्र से इस विद्या को प्राप्त किया है। और औपस्वस्थीपुत्र ने पाराशरीपुत्र से इस विद्या को प्राप्त किया है। तथा पाराशरीपुत्र ने कात्यायनीपुत्र से इस विद्या को प्राप्त किया है। और कात्यायनीपुत्र ने कौशिकीपुत्र से इस विद्या को प्राप्त किया है। तथा कौशिकीपुत्र ने आलम्बी पुत्र से और वैयाघ्रपदीपुत्र से इस विद्या को प्राप्त किया है। और वैयाघ्रपदीपुत्र ने काण्वीपुत्र से तथा कापीपुत्र से इस विद्या को प्राप्त किया। और इस प्रथम कण्डिका मे जो "कापीपुत्रः" यह पद है इसका आगे द्वितीय कण्डिका में स्थित "आत्रेयीपुत्रात्" इस पद के साथ अन्वय होता है। इससे यह अर्थ होता है कि–कापीपुत्र ने आत्रेयीपुत्र से इस विद्या को प्राप्त किया॥१॥

आत्रेयीपुत्रादात्रेयीपुत्रो गौतमीपुत्राद् गौतमीपुत्रो भारद्वाजीपुत्राद् भारद्वाजीपुत्रः पाराशरीपुत्रात् पाराशरीपुत्रो वात्सीपुत्राद्वात्सीपुत्रः पाराशरीपुत्रात्पाराशरी पुत्रो वार्कारुणीपुत्राद् वार्कारुणीपुत्रो वार्कारुणीपुत्राद् वार्कारुणीपुत्रआर्तभागीपुत्रादार्तभागीपुत्रः शौङ्गीपुत्राच्छौङ्गीपुत्रः सांकृतीपुत्रात्सांकृतीपुत्र आलम्बायनी पुत्रादालम्बायनीपुत्र आलम्बीपुत्रादालम्बीपुत्रो जायन्तीपुत्राज्जायन्तीपुत्रो माण्डूकायनीपुत्रान्माण्डूकायनीपुत्रः शाण्डिलीपुत्राच्छाण्डिलीपुत्रो राथीतरीपुत्राद्राथीतरीपुत्रो भालुकीपुत्राद्भालुकीपुत्रः क्रौञ्चिकीपुत्रात्क्रौञ्चिकीपुत्रो वैदभृतीपुत्राद्वैदभृतीपुत्रः कार्शकेयीपुत्रात्कार्शकेयीपुत्रः प्राचीनयोगीपुत्रात्प्राचीनयोगीपुत्रः सांजीवीपुत्रात् सांजीवीपुत्रः प्राश्नीपुत्रात् प्राश्नीपुत्र आसुरायरादासुरायरा आसुरेरासुरिः॥२॥

अन्वयार्थ–कापीपुत्र ने (आत्रेयीपुत्रात्) आत्रेयीपुत्र से विद्या प्राप्त की और (आत्रेयीपुत्रः) आत्रेयीपुत्र ने (गौतमीपुत्रात्) गौतमीपुत्र से विद्या प्राप्त की तथा (गौतमीपुत्रः) गौतमीपुत्र ने (भारद्वाजीपुत्रात्) भारद्वाजीपुत्र से विद्या प्राप्त की और (भारद्वाजीपुत्रः) भारद्वाजीपुत्र ने (पाराशरीपुत्रात्) पाराशरीपुत्र से विद्या प्राप्त की तथा (पाराशरीपुत्रः) पाराशरीपुत्र ने (वात्सीपुत्रात्) वात्सीपुत्र से विद्या प्राप्त की और (वात्सीपुत्रः) वात्सीपुत्र ने (पाराशरीपुत्रात्) पाराशरीपुत्र से विद्या प्राप्त की तथा

(पाराशरीपुत्रः) पाराशरीपुत्र ने (वार्कारुणीपुत्रात्) वार्कारुणीपुत्र से विद्या प्राप्त की और (वार्कारुणीपुत्रः) वार्कारुणीपुत्र ने (वार्कारुणीपुत्रात्) वार्कारुणीपुत्र से विद्या प्राप्त की तथा (वार्कारुणीपुत्रः) वार्कारुणीपुत्र ने (आर्तभागीपुत्रात्) आर्तभागीपुत्र से विद्या प्राप्त की और (आर्तभागीपुत्रः) आर्तभागीपुत्र ने (शौङ्गीपुत्रात्) शौङ्गीपुत्र से विद्या प्राप्त की तथा (शौङ्गीपुत्रः) शौङ्गीपुत्र ने (सांकृतीपुत्रात्) सांकृतीपुत्र से विद्या प्राप्त की और(सांकृतीपुत्रः) सांकृतीपुत्र ने (आलम्बायनीपुत्रात्) आलम्बायनीपुत्र से विद्या प्राप्त की तथा (आलम्बायनीपुत्रः) आलम्बायनीपुत्र ने (आलम्बीपुत्रात्) आलम्बीपुत्र से विद्या प्राप्त की और (आलम्बीपुत्रः) आलम्बीपुत्र ने (जायन्तीपुत्रात्) जायन्तीपुत्र से विद्या प्राप्त की तथा (जायन्तीपुत्रः) जायन्ती पुत्र ने (माण्डूकायनीपुत्रात्) माण्डूकायनीपुत्र से विद्या प्राप्त की और (माण्डूकायनीपुत्रः) माण्डूकायनी पुत्र ने (शाण्डिलीपुत्रात्) शाण्डिलीपुत्र से विद्या प्राप्त की तथा (शाण्डिलीपुत्रः) शाण्डिलीपुत्र ने (राथीतरीपुत्रात्) राथीतरीपुत्र से विद्या प्राप्त की और (राथीतरीपुत्रः) राथीतरीपुत्र ने (भालुकीपुत्रात्) भालुकीपुत्र से विद्या प्राप्त की तथा (भालुकीपुत्रः) भालुकीपुत्र ने (क्रौञ्चिकीपुत्रात्) क्रौञ्चिकीपुत्र से विद्या प्राप्त की और (क्रौञ्चिकीपुत्रः) क्रौञ्चिकीपुत्र ने (वैदभृतीपुत्रात्) वैदभृतीपुत्र से विद्या प्राप्त की तथा (वैदभृतीपुत्रः) वैदभृतीपुत्र ने (कार्शकेयीपुत्रात्) कार्शकेयीपुत्र से विद्या प्राप्त की और (कार्शकेयीपुत्रः) कार्शकेयीपुत्र ने (प्राचीनयोगीपुत्रात्) प्राचीनयोगीपुत्र से विद्या प्राप्त की तथा (प्राचीनयोगीपुत्रः) प्राचीनयोगीपुत्र ने (साञ्जीवीपुत्रात्) सांजीवीपुत्र से विद्या प्राप्त की और (साञ्जीवीपुत्रः) साञ्जीवीपुत्र ने (प्राश्नीपुत्रात्) प्राश्नीपुत्र से विद्या प्राप्त की तथा (प्राश्नीपुत्रः) प्राश्नीपुत्र ने (आसुरायणात्) आसुरायण से विद्या प्राप्त की और (आसुरायणः) आसुरायण ने (आसुरेः) आसुरि से विद्या प्राप्त की तथा (आसुरिः) आसुरि ने आगे की कण्डिका में वक्ष्यमाण याज्ञवल्क्य से विद्या प्राप्त की॥२॥

विशेषार्थ–प्रथम कण्डिका के अन्त में स्थित "कापीपुत्र" इस पद का द्वितीय कण्डिका के आदि में स्थित "आत्रेयीपुत्रात्" इस पद के साथ अन्वय होता है। इससे यह अर्थ होता है कि–कापीपुत्र ने आत्रेयी पुत्र से इस अध्यात्मविद्या को प्राप्त किया है। और आत्रेयी पुत्र ने गौतमी पुत्र से इस विद्या को प्राप्त किया है। तथा गौतमीपुत्र ने भारद्वाजीपुत्र से इस विद्या को प्राप्त किया है। और भारद्वाजीपुत्र ने पाराशरीपुत्र से इस विद्या को प्राप्त किया है। तथा पाराशरीपुत्र ने वात्सीपुत्र से इस विद्या को प्राप्त किया है। और वात्सीपुत्र ने पाराशरीपुत्र से इस विद्या को प्राप्त किया है। तथा पाराशरीपुत्र ने वार्कारुणीपुत्र से इस विद्या को प्राप्त किया है और वार्कारुणीपुत्र ने वार्कारुणीपुत्र से इस विद्या को प्राप्त किया है। तथा वार्कारुणीपुत्र ने आर्तभागी पुत्र से इस विद्या

को प्राप्त किया है। और अर्तभागीपुत्र ने शौङ्गीपुत्र से इस विद्या को प्राप्त किया है। तथा शौङ्गीपुत्र ने सांकृतीपुत्र से इस विद्या को प्राप्त किया है। और सांकृतीपुत्र ने आलम्बायनीपुत्र से इस विद्या को प्राप्त किया है। तथा आलम्बायनीपुत्र ने आलम्बीपुत्र से इस विद्या को प्राप्त किया है। और आलम्बीपुत्र ने जायन्तीपुत्र से इस विद्या को प्राप्त किया है। तथा जायन्तीपुत्र ने माण्डूकायनीपुत्र से इस विद्या को प्राप्त किया है। और माण्डूकायनीपुत्र ने शाण्डिलीपुत्र से इस विद्या को प्राप्त किया है। तथा शाण्डिलीपुत्र ने राथीतरीपुत्र से इस विद्या को प्राप्त किया है। और राथीतरीपुत्र ने भालुकीपुत्र से इस विद्या को प्राप्त किया है। तथा भालुकीपुत्र ने क्रौञ्चिकीपुत्र से इस विद्या को प्राप्त किया है। और कौञ्चिकीपुत्र ने वैदभृतीपुत्र से इस विद्या को प्राप्त किया है। तथा वैदभृतीपुत्र ने कार्शकेयीपुत्र से इस विद्या को प्राप्त किया है। और कार्शकेयीपुत्र ने प्राचीनयोगी पुत्र से इस विद्या को प्राप्त किया है। तथा प्राचीनयोगीपुत्र ने सांजीवीपुत्र पुत्र से इस विद्या को प्राप्त किया है। और सांजीवीपुत्र ने प्राश्नीपुत्र से इस विद्या को प्राप्त किया है। तथा प्राश्नीपुत्र ने आसुरायरा से इस विद्या को प्राप्त किया है। और आसुरायरा ने आसुरि से इस विद्या को प्राप्त किया है। और इस द्वितीय कण्डिका में जो "आसुरिः" यह पद है इसका आगे तृतीय कण्डिका में स्थित "याज्ञावल्क्यात्" इस पद के साथ अन्वय होता है इससे यह अर्थ होता है कि—आसुरिने याज्ञवल्क्य से इम विद्या को प्राप्त किया।।२।।

याज्ञावल्क्याद्याज्ञवल्क्य उद्दालकादुद्दालकोऽरुणादरुरा उपवेशेरुपवेशिः कुश्रेः कुश्रिर्वाजश्रवसो वाजश्रवा जिह्वावतो बाध्योगाज्जिह्वावान् बाध्योगोऽसिताद्वार्षगणा दसितो वार्षगणो हरितात्कश्यपाद्धरितः कश्यपः शिल्पात्कश्यपाच्छिल्पः कश्यपः कश्यपान्नैध्रुवेः कश्यपो नैध्रुविर्वाचो वागम्भिण्यादम्भिण्य आदित्यादादित्यानीमानि शुक्लानि यजूँषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येनाऽऽख्यायन्ते।।३।।

अन्वयार्थ—आसुरि ने (याज्ञवल्क्यात्) याज्ञवल्क्य से विद्या प्राप्त की और (याज्ञवल्क्यः) याज्ञवल्क्य ने (उद्दालकात्) उद्दालक से विद्या प्राप्त की तथा (उद्दालकः) उद्दालक ने (अरुणात्) अरुरा से विद्या प्राप्त की और (अरुराः) अरुरा ने (उपवेशेः) उपवेशि से विद्या प्राप्त की तथा (उपवेशिः) उपवेशिने (कुश्रेः) कुश्रि से विद्या प्राप्त की और (कुश्रिः) कुश्रि ने (वाजश्रवसः) वाजश्रवा से विद्या प्राप्त

की तथा (वाजश्रवा) वाजश्रवा ने (जिह्वावतः) जिह्वावान् (बाध्योगात्) बाध्योग से विद्या प्राप्त की और (जिह्वावान्) जिह्वावान् (बाध्योगः) बाध्योग ने (असितात्) असित (वार्षगणात्) वार्षगरा से विद्या प्राप्त की तथा (असितः) असित (वार्षगराः) वार्षगरा ने (हरितात्) हरित (कश्यपात्) कश्यप से विद्या प्राप्त की और (हरितः) हरित (कश्यपः) कश्यप ने (शिल्पात्) शिल्प (कश्यपात्) कश्यप से विद्या प्राप्त की (शिल्पः) शिल्प (कश्यपः) कश्यप ने (कश्यपात्) कश्यप (नैध्रुवेः) नैध्रुवि से विद्या प्राप्त की और (कश्यपः) कश्यप (नैध्रुविः) नैध्रुविने (वाचः) वाक् से विद्या प्राप्त की तथा (वाक्) वाक् ने (अम्भिण्यात्) अम्भिण्य से विद्या प्राप्त की और (अम्भिण्यः) अम्भिण्य ने (आदित्यात्) आदित्य से विद्या प्राप्त की (आदित्यानि) आदित्य से प्राप्त हुई (इमानि) ये (शुक्लानि) शुक्ल (यजूंषि) यजुः श्रुतियाँ (वाजसनेयेन) वाजसनेय (याज्ञवल्क्येन) याज्ञवल्क्य द्वारा (आख्यायन्ते) प्रसिद्ध की गयी हैं॥३॥

विशेषार्थ–द्वितीय कण्डिका के अन्त में स्थित "आसुरिः" इस पद की तृतीय कण्डिका के आदि में स्थित "याज्ञवल्क्यात्) इस पद के साथ अन्वय होता है। इससे यह अर्थ होता है कि–आसुरि महर्षि ने याज्ञवल्क्य महर्षि से इस अध्यात्मविद्या को प्राप्त किया है। और याज्ञवल्क्य महर्षि ने उद्दालक महर्षि से इस विद्या को प्राप्त किया है। तथा उद्दालक महर्षि ने ग्ररुरा महर्षि से इस विद्या को प्राप्त किया है। और ग्ररुरा महर्षि ने उपवेशि महर्षि से इस विद्या को प्राप्त किया है। तथा उपवेशि महर्षि ने कुश्रि महर्षि से इस विद्या को प्राप्त किया है। और कुश्रि महर्षि ने वाजश्रवा महर्षि से इस विद्या को प्राप्त किया है। तथा वाजश्रवा महर्षि ने जिह्वावान् बाध्योग महर्षि से इस विद्या को प्राप्त किया है। और जिह्वावान् बाध्योग महर्षि ने असित वार्षगरा महर्षि से इस विद्या को प्राप्त किया है। तथा असितवर्षगण महर्षि ने हरित कश्यप महर्षि से इस विद्या को प्राप्त किया है। और हरित कश्यप महर्षि ने शिल्पकश्यप महर्षि से इस विद्या को प्राप्त किया है। तथा शिल्प कश्यप महर्षि ने कश्यप नैध्रुवि महर्षि से इस विद्या को प्राप्त किया है। और कश्यप नैध्रुवि महर्षि ने वाक् महर्षि से इस विद्या को प्राप्त किया है। तथा वाक् महर्षि ने आम्भिण्य महर्षि से इस विद्या को प्राप्त किया है। और आम्भिण्य महर्षि ने ग्रादित्य से इस विद्या को प्राप्त किया है। आदित्य से प्राप्त ये शुक्लयजुः हैं। वाजसनेय याज्ञवल्क्य के नाम से प्रकट किये जाते हैं। शुक्लयजुर्वेद के विषय में लिखा है–**शुक्लानि यजूंषि भगवान् याज्ञवल्क्यो यतः प्राप तं विवस्वन्तं त्रयीमयमर्चिष्मन्तमभिध्याय॥** (सर्वानुक्रम० अ० १ सू० १) भगवान् याज्ञवल्क्य महर्षि ने जिससे शुक्लयजुर्वेद को प्राप्त किया है उस त्रयीमय किरण वाले

सूर्य भगवान् को अच्छी तरह ध्यान करके॥१॥ **यजूंषि तेषामथ यज्ञवल्क्यो ह्ययातयामानि रवेरवाप॥** (भागवत) याज्ञवल्क्य महर्षि ने उन वेदों में से शुद्ध शुक्लयजुर्वेद को सूर्य भगवान से प्राप्त किया--**शाखास्तत्र शिखाकारा दशपञ्चाथ शुक्लगाः॥** (बृहन्ना०) उसमें शुक्लयजुर्वेद के शिखाकार "जबाल १, बौधेय २, काण्व ३, माध्यन्दिन ४, शापेय ५, स्थापायनीय ६, कपोल ७, पाराडरवत्स ८, आवटिक ९, परमावटिक १०, पाराशर ११, वैणेय १२, वैधेय १३, वैनतेय १४, वैजवस् १५ ये पन्द्रह शाखाएँ हैं"॥३॥

सामानमासांजीवीपुत्रात् सांजीवीपुत्रो माण्डूकायनेर्माण्डूकायनि र्माण्डव्यान्माण्डव्यः कौत्सात्कौत्सोमाहित्थेर्माहित्थि र्वामकक्षायणाद्वामकक्षायराः शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यो वात्स्याद्वात्स्यः कुश्रेः कुश्रिर्यज्ञवचसो राजस्तम्बायनाद यज्ञवचाराजस्तम्बायनस्तुरात्कावषेयात् तुरः कावषेयः ब्रह्म प्रजापतेः प्रजापतिर्ब्रह्मणो ब्रह्म सवयम्भु। ब्रहारो नमः॥४॥

॥ इति षष्ठाध्याये पञ्चमं ब्राह्मराम् ॥

॥ इति बृहदारण्यकोपनिषदि षष्ठोऽध्यायः॥

॥ इति बृहदारण्यकोपनिषद् समाप्ता॥

अन्वयार्थ--(आ) परब्रह्म नारायरा से लेकर (सांजीवीपुत्रात्) द्वितीय कण्डिका में कहे हुए सांजीवी पुत्रपर्यन्त यह आचार्य परम्परा (सामानम्) एक समान है आगे निम्नांङ्कित क्रम से जानना चाहिये (सांजीवीपुत्रः) सांजीवीपुत्र ने (माण्डूकायनेः) माण्डूकायनि से विद्या प्राप्त की और (माण्डूकायनिः) माण्डूकायनि ने (माण्डव्यात्) माण्डल्य से विद्या प्राप्त की तथा (माण्डव्यः) माराडव्य ने (कौत्सात्) कौत्स से विद्या प्राप्त की और (कौत्सः) कौत्स ने (माहित्थेः) माहित्थि से विद्या प्राप्त की तथा (माहित्थिः) माहित्थि ने (वामकक्षायणात्) वामकक्षायण से विद्या प्राप्त की और (वामकक्षायणः) वामकक्षायण ने (शाण्डिल्यात्) शारिडल्य से विद्या प्राप्त की तथा (शाण्डिल्यः) शाण्डिल्य ने (वात्स्यात्) वात्स्य से विद्या प्राप्त की और (वात्स्यः) वात्स्य ने (कुश्रेः) कुश्रि से विद्या प्राप्त की तथा (कुश्रिः) कुश्रि ने (यज्ञवचसः) यज्ञवचा (राजस्तम्बायनात्) राजस्तम्बायन से विद्या प्राप्त की (यज्ञवचा) यज्ञवचा (राजस्तम्बायनः) राजस्तम्बायन ने (तुरात्) तुर (कावषेयात्) कावषेय से विद्या प्राप्त

की तथा (तुरः) तुर (कावषेयः) कावषेय ने (प्रजापतेः) चतुर्मुख ब्रह्मा से विद्या प्राप्त की और (प्रजापतिः) चतुर्मुख ब्रह्मा ने (ब्रह्मणः) परब्रह्म नारायण से विद्या प्राप्त की (ब्रह्म) वह परब्रह्म नारायण सर्वज्ञ होने से (स्वयम्भु) स्वयं विद्या प्रवर्तक आचार्य होता है (ब्रह्मणे) उस सर्वगुरु परब्रह्म नारायण के लिये (नमः) नमस्कार है॥४॥

विशेषार्थ—परब्रह्म नारायण से लेकर सांजीवीपुत्र तक यह गुरुपरम्परा एक समान है। आगे पुनः इस निम्नलिखित क्रम से जानना चाहिये। सांजीवीपुत्र ने माण्डूकायनि महर्षि से विद्या प्राप्त की है। और माण्डूकायनि महर्षि ने माण्डव्य महर्षि से विद्या को प्राप्त किया है। तथा माण्डव्य महर्षि ने कौत्स महर्षि से विद्या को प्राप्त किया है। और कौत्स महर्षि ने माहित्थि महर्षि से विद्या प्राप्त की है। तथा माहित्थि महर्षि ने वामकक्षायण महर्षि से विद्या को प्राप्त किया है। और वामकक्षायण महर्षि ने शाण्डिल्य महर्षि से विद्या को प्राप्त किया है। तथा शाण्डिल्य महर्षि ने वात्स्य महर्षि से विद्या को प्राप्त किया है। और वात्स्य महर्षि ने कुश्रि महर्षि से विद्या को प्राप्त किया है। तथा कुश्रि महर्षि ने यज्ञवचा राजस्तम्बायन महर्षि से विद्या को प्राप्त किया है। और यज्ञवचा राजस्तम्बायन महर्षि ने तुर कावषेय महर्षि से विद्या को प्राप्त किया है। तथा तुर कावषेय महर्षि ने चतुर्मुख ब्रह्मा से विद्या को प्राप्त किया है। यहाँ ''प्रजापति'' शब्द ब्रह्मा वाचक है। क्योंकि लिखा है—**स्रष्टा प्रजापतिर्वेधा विधाता विश्वसृड्विधिः॥** (अमर॰ कां॰ १ व॰ १ श्लो॰ १७) स्रष्टृ १, प्रजापति २, वेधस् ३, विधातृ ४, विश्वसृज् ५, विधि ६ ये चतुर्मुख ब्रह्मा के नाम हैं॥१७॥ और चतुर्मुख ब्रह्मा ने परब्रह्म—नारायण से विद्या को प्राप्त किया है। क्योंकि लिखा है—**यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै॥** (श्वेताश्व॰ उ॰ अ॰ ६ श्रु॰ १८) जो नारायण निश्चय ही सब से पहले ब्रह्मा को उत्पन्न करता है और जो निश्चय ही उस ब्रह्मा के लिये समस्तवेदों को उपदेश देता है॥१८॥ और अन्यत्र भी लिखा है—**वेदमध्यापयद्विधिम्॥** (सिद्धान्तकौ॰) जिस नारायण ने ब्रह्मा को वेद पढ़ाया। वे परब्रह्म नारायण सर्वज्ञ होने से स्वयं विद्या प्रवर्तक आचार्य होते हैं। यहाँ ''ब्रह्म'' पद परब्रह्म नारायण वाचक है। क्योंकि लिखा है—**ब्रह्म ब्रह्मविवर्धनः॥** (महाभार॰ अनुशास॰ विष्णुसहस्रना॰ श्लो ८४) ब्रह्मन् १, ब्रह्मविवर्धन २ ये नारायण के नाम हैं॥८४॥ इस प्रकार परब्रह्म नारायण से लेकर अस्मदाचार्य पर्यन्त यह गुरुपरम्परा फैली हुई है। क्योंकि लिखा है—**लक्ष्मीनाथसमारम्भां यतिराजसुमध्यमाम्। अस्मदाचार्यपर्यन्तां व[illegible] गुरुपरम्पराम्॥** लक्ष्मीनाथ यानी नारायण से प्रारम्भ होने वाली तथा यतिराज—श्रीभाष्यकारमध्य वाली और अस्मदाचार्य पर्यन्त वाली गुरुपरम्परा को मैं वन्दना करता हूँ'' सर्वगुरु उस परब्रह्म नारायण के लिये मैं नमस्कार करता हूँ। इस प्रकार कह कर इस रहस्य में चरमोपाय आचार्याभिमान प्रतिपादन किया गया है। और नित्य अनुसन्धान करनेयोग्य गुरुपरम्परा

का उपदेश किया गया है। ''बृहदारण्यकोपनिषद्'' के षष्ठ अध्याय के प्रथम ब्राह्मण में चौदह कण्डिका है तथा द्वितीय ब्राह्मण में सोलह कण्डिका है और तृतीय ब्राह्मण में तेरह कण्डिका हैं तथा चतुर्थ ब्राह्मण में अट्ठाईस कण्डिकाएँ हैं और पंचम ब्राह्मण में चार कण्डिकाएँ हैं। इस प्रकार सब परिगणन करने से ''बृहदारण्यकोपनिषद्'' के छठवें अध्याय में पचहत्तर कण्डिकाएँ हैं। यहाँ ''बृहदारण्यकोपनिषद्'' के षष्ठ अध्याय का पञ्चम वंशब्राह्मण और षष्ठ अध्याय समाप्त हो गया। इस उपनिषद् के प्रथम और द्वितीय तथा चतुर्थ अध्याय मे छः छः ब्राह्मण हैं और तृतीय अध्याय में नव ब्राह्मण हैं तथा पञ्चम अध्याय में पन्द्रह ब्राह्मण हैं और षष्ठ अध्याय में पाँच ब्राह्मण हैं। इस प्रकार परिगणन करने से ''बृहदारण्यकोपषिद्'' में सैंतालिस ब्राह्मण हैं और उस उपनिषद् में चार सौ तैंतालिस कण्डिकाएँ हैं। यहाँ ''बृहदारण्यकोपनिषद्'' समाप्त हो गया।।४।।

श्रीवत्सवंशकलशोदधिपूर्णचन्द्रं
श्रीकृष्णसूरिपदपङ्कजभृङ्गराजम्।
श्रीरङ्गवेङ्कटगुरूत्तमलब्धबोधं
भक्त्या भजामि गुरुवर्यमनन्तसूरिम्।।

इति श्रीमद्वेदमार्गप्रतिष्ठापनाचार्य वेदान्तप्रवर्तकाचार्य श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य सत्सम्प्रदायाचार्य जगद्गुरु भगवदनन्तपादीय श्रीमद्विष्वक्सेनाचार्य त्रिदण्डिस्वामिविरचिता ''गूढार्थदीपिका'' समाख्या शुक्लयजुर्वेदीय काण्वशाखान्तर्गता ''बृहदारण्यकोपनिषद्'' भाषाव्याख्या समाप्ता।

